हिन्दी समिति ग्रंथमाला :: संख्या—२१०

प्राचीन भारत का
राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास

(२०० ई० पू० से ३०० ई० तक के शुंग-सातवाहन युग के इतिहास का संक्षिप्त परिचय)

लेखक
हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०
(भू० पू० अध्यक्ष, इतिहास विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार)
निदेशक, प्रकाशन विभाग,
गोविन्द वल्लभ पंत कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, पन्तनगर

●

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशकीय

इतिहास अतीत का लेखा-जोखा है। उसमें हम प्राचीन संस्कृति और रीति-रिवाजों के साथ-साथ देश और जाति के उत्थान और पतन की कहानी भी पढ़ते है। भारत को अपने प्राचीन इतिहास और संस्कृति पर गर्व और गौरव है। इसका अतीत स्वर्ण पृष्ठो से समलंकृत है। राष्ट्र के विकास और समुदय के लिए उसका अध्ययन आवश्यक है। अब तक जो इतिहास-ग्रन्थ उपलब्ध हैं अथवा विदेशी शासन की दृष्टि से लिखे गये थे, उनमे तथ्यों और घटनाओ का चित्रण और मूल्यांकन उचित रूप मे नही हो सका है, यदि हम यह कहें तो अन्यथा न होगा।

हिन्दी समिति ने अपनी प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत इस ओर भी ध्यान दिया और विभिन्न कालों और युगो के इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखवाने का निर्णय किया। प्रस्तुत पुस्तक "प्राचीन भारत का राजनीतिक एव सास्कृतिक इतिहास" उसी दिशा मे एक प्रयत्न है। इसमें २०० ई० पू० से २०० ई० तक के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वृत्तो और घटनाओं का अकन है। शुग-सातवाहन युग हमारे इतिहास का असाधारण अध्याय है। इस अध्याय के अनेक घटनाक्रम ऐसे हैं, जिनका अध्ययन और ज्ञान प्रत्येक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मौर्य साम्राज्य के अन्तिम चरण से लेकर गुप्त साम्राज्य के स्वर्णिम काल तक के इतिहास मे ऐसे अनेक पृष्ठ हैं, जो विचारोत्तेजक और महनीय समाग्री प्रस्तुत करते है। उन शताब्दियो मे जो राजनीतिक गतिविधियाँ घटित हुई, वे विशेष उल्लेखनीय है। इसी युग में विदेशी जातियों के आक्रमणों ने भी हमे प्रभावित किया। यही नही, इस देश ने आक्रामकों को भी इसी भूमि मे आत्मसात् करने का जो प्रयास किया, वह एक जीवन्त गाथा है। साथ ही, इसी युग मे हम अपनी सास्कृतिक वैजयन्ती अन्य देशों मे भी फहराने में सफल हुए। इसके अतिरिक्त इस स्वर्ण युग मे ही हम अपनी कला, साहित्य और सस्कृति को सँवारने के साथ-साथ राजनीतिक क्षमता की वृद्धि एवं आर्थिक सम्पन्नता की सृष्टि करने मे भी समर्थ हुए। अत इस युग की कहानी रोचक और रोमाचक है।

इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री हरिदत्त वेदालकार अपने विषय के प्रसिद्ध लेखक हैं। उन्होंने बडे श्रम और मनोयोग से इस युग की घटनाओं का संकलन और विवेचन किया है। हमे विश्वास है, इस ग्रन्थ से हमारे पाठक सन्तुष्ट होंगे और छात्र एवं अध्यापकों को अपने अध्ययन और शोध के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि उपलब्ध होगी।

शरद पूर्णिमा
सं० २०२६

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव, हिन्दी समिति

प्रस्तावना

●

इस पुस्तक मे प्राचीन भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण युग का प्रामाणिक एव सक्षिप्त परिचय सरल और सुबोध रूप मे प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया गया है। यह पुस्तक प्रधान रूप से प्राचीन इतिहास मे अभिरुचि रखने वाले सामान्य पाठको एव उच्च कक्षाओं मे इस विषय का अध्ययन करने वाले छात्रो की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए लिखी गयी है, ताकि इससे पाठको को इस युग का सजीव परिचय मिल सके।

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय मे इस युग के महत्त्व और सामान्य विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए इस युग के इतिहास-लेखन की कठिनाइयो का एवं जटिल तिथिक्रम का उल्लेख किया गया है। दूसरे अध्याय मे शुग वश का तथा उत्तरी भारत के २०० ई० तक के अन्य राज्यो का वर्णन है। इस युग का श्रीगणेश मगध की राजगद्दी पर पुष्यमित्र शुग के बैठने से होता है। यह अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ का वध करके पाटलिपुत्र के सिहासन पर बैठा था। प्राचीन भारतीय इतिहास मे एक ब्राह्मण के राज्यारोहण का यह पहला उदाहरण था। इस सैनिक क्रान्ति की तुलना कुछ ऐतिहासिको ने इगलैण्ड मे क्रामवैल द्वारा चार्ल्स प्रथम के वध से की है। शुग वश के तिथिक्रम पर प्रकाश डालने के बाद इस युग के यूनानी आक्रमणो, अश्वमेध यज्ञ, बौद्ध धर्म के दमन की समस्याओ पर प्रकाश डालते हुए शुग वश के अन्य राजाओ का वर्णन किया गया है। शुग वश के बाद कण्व वश, अयोध्या, पचाल, मथुरा, कौशाम्बी और पजाब के विभिन्न राज्यों, औदुम्बर, कुणिन्द, यौधेयो का परिचय देने के बाद कलिग के खारवेल के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे अध्याय मे यवनों के आक्रमणो का वर्णन है। इसमे पहले बैक्ट्रिया मे शासन करने वाले यूनानी राज्य का परिचय दिया गया है और बाद मे भारत पर आक्रमण करने वाले, उत्तर-पश्चिमी भारत और पजाब के विभिन्न प्रदेशों पर शासन करने वाले राजाओ का परिचय दिया गया है, अन्त मे भारत और यूनान के सास्कृतिक आदान-प्रदान पर प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय मे शक पहलवो के आक्रमणो और शासन का तथा पाँचवें अध्याय मे कुषाण साम्राज्य के उत्थान और पतन का वर्णन है। इस अध्याय के अन्त मे कुषाण साम्राज्य के पतन के कारणो की मीमासा की गयी है और भारतीय सस्कृति में कुषाणो की देन का उल्लेख किया गया है। छठे अध्याय में कुषाणोत्तर भारत का और सातवें अध्याय मे पश्चिमी भारत के शक

क्षत्रपों का परिचय दिया गया है। आठवें अध्याय में इस युग में दक्षिण में शासन करने वाले सुप्रसिद्ध सातवाहन वंश के साम्राज्य का विवेचन किया गया है तथा नवें अध्याय में सातवाहनों के पश्चात् २०० से ३०० ई० के बीच में दक्षिण भारत में शासन करने वाले वाकाटकों, आभीरों, इक्ष्वाकुओं और बृहत्फलायनों का परिचय दिया गया है। दसवें अध्याय में दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध तीन राज्यों—पांड्य, चोल तथा केरल के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध के पहले दस अध्यायों में इस युग के राजनीतिक इतिहास का विवेचन किया गया है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के अन्तिम सात अध्यायों में इस युग के सांस्कृतिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें अध्याय में इस युग के साहित्यिक विकास का तथा संस्कृत, प्राकृत, तामिल, बौद्ध और जैन वाङ्मय का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। बारहवें अध्याय में इस युग की शासन पद्धति और राजनीतिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। तेरहवें अध्याय में धार्मिक दशा का, इस युग में हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों में विकसित होने वाले वैष्णव, शैव, महायान आदि विभिन्न सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। चौदहवें अध्याय में इस युग की कला का वर्णन है। भारहुत, साँची, बुद्धगया के स्तूपों का संक्षिप्त परिचय देने के बाद पर्वतीय चैत्यों और विहारों की कला पर प्रकाश डाला गया है। आन्ध्र प्रदेश के अमरावती और नागार्जुनी-कोण्डा की कला का वर्णन करने के बाद मथुरा की कुषाण कला और गन्धार कला का विवेचन करते हुए बुद्ध की मूर्ति के विकास को स्पष्ट किया गया है और इन कलाओं पर विदेशी प्रभाव की मीमांसा की गयी है। पन्द्रहवें अध्याय में शुंग, सातवाहन युग की आर्थिक दशा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सोलहवें अध्याय में इस युग की सामाजिक दशा का विवेचन है और सत्रहवें अध्याय में इस समय विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर प्रकाश डाला गया है।

इस पुस्तक में सर्वत्र मल्लिनाथ की 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' की प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए सब विषयों का विवेचन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है। प्रत्येक अध्याय से सम्बद्ध सहायक एवं प्रामाणिक ग्रन्थों की विस्तृत सूची पुस्तक के अन्त में दी गयी है। यह पुस्तक सामान्य पाठकों के लिए लिखी गयी है, अतः इसको पाद-टिप्पणियों से बहुत अधिक बोझिल नहीं बनाया गया है। इसमें प्रयुक्त संक्षिप्त संकेतों की सूची को पाठकों की सुविधा के लिए आरम्भ में ही दे दिया गया है। पुस्तक के विषय को स्पष्ट बनाने के लिए इसमें अनेक मानचित्र, रेखाचित्र तथा अन्य

चित्र भी दिये गये है। प्राचीन इस युग की भूमि एवं वास्तुकला के चित्रों के लिए लेखक भारतीय पुरातत्व विभाग का आभारी है इस बात का प्रयत्न किया गया है कि जटिल एवं क्लिष्ट विषयो का स्पष्टीकरण यथासम्भव चित्रों की सहायता से किया जाय। पुस्तक के अन्तमे इस युग की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का तिथिक्रम भी दिया गया है और जिन तिथियो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है उन तिथियो को कोष्ठको के भीतर दिखाया गया है। भारत के विभिन्न प्रदेशो मे और भारत से बाहर के देशो मे होने वाली समसामयिक घटनाओ की भी एक सारणी दी गयी है। इस प्रकार इस पुस्तक को यथासम्भव उपयोगी, रोचक और उपादेय बनाने का पूरा प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक के प्रणयन मे अनेक सस्थाओ और व्यक्तियो से बहुमूल्य सहायता मिली है। मै इन सबका बहुत आभारी हूँ। हिन्दी समिति ने भारतीय इतिहास के बीस खण्डो मे लेखन तथा प्रकाशन की अपनी विशाल योजना मे मुझे इस खण्ड को लिखने का जो कार्यभार सौपा था उसके लिए मै समिति का अत्यन्त आभारी हूँ। इसकी पाण्डुलिपि तैयार करने मे मेरे छात्र श्री श्यामनारायण, और श्री योगानन्द ने तथा पडित जयप्रकाश जी ने और सौ० सुधामयी आनन्द ने बडा सहयोग दिया है। इनके बिना इसकी पाण्डुलिपि का तैयार हो सकना सम्भव नही था। इस पुस्तक के मुद्रण मे प्रेस से बहुमूल्य सहयोग मिला है। यह पुस्तक लेखक के निवास स्थान से बहुत दूर प्रयाग मे छपी है, इसमे मुद्रण की तथा प्रतीको की अशुद्धियों का रह जाना संभव है। लेखक उनके लिए क्षमाप्रार्थी है और उन सब विद्वानों का आभारी होगा जो इसके अगले सस्करण को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अपने सुझाव भेजने की कृपा करेंगे। यदि इस पुस्तक के अध्ययन से प्राचीन भारतीय इतिहास को अन्धयुग समझे जाने वाले--शुग-सातवाहन युग मे पाठको का अनुराग और अभिरुचि बढ सकी तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

—हरिदत्त वेदालंकार

विषय-सूची

* * *

चित्र-सूची

संक्षिप्त संकेत-सूची

अर्थ०	कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र
अ० भा० ओ० रि० ई०	अनल्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट
अ० हि० आ० क०	अर्ली हिस्ट्री आफ आन्ध्र कण्ट्री
आ० स० रि०	आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट (एन्युअल रिपोर्ट)
आ० स० वे० ई०	आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया
आ० स० मा० इ०	आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ साउथ इण्डिया
इं० हि० क्वा०	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली
इण्डि० एण्टि०	इण्डियन एण्टिक्वेरी
ए० इ० यू०	एज आफ इम्पीरियल यूनिटी
एपि० इण्डि०, ए० इ०	एपिग्राफिया इण्डिया
कै० हि० इ०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया प्रथम खण्ड
ज० रा० ए० सो०	जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी
ज० न्यू० सो० इ०	जर्नल आफ न्युमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इण्डिया
ज० ए० सो० ब०	जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल
ज० ब्रा० ब्रा०रा० ए० सो०	जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी
ज० बि० ओ० र० सो०	जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
ज० इ० हि०	जर्नल आफ इण्डियन हिस्ट्री
ज० रा० ए० सो० बं०	जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल
ज० यू० पी० हि० सो०	जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी
न्यू० स०	न्युमिस्मैटिक सप्लिमेण्ट
पा० टे० सो०	पाली टेक्ट सोसायटी
पो० हि० ए० इ०	पोलिटिकल हिस्टरी आफ एशेण्ट इण्डिया
प्रो० इ० हि० कां०	प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस
प्रो० ओ० कां०	प्रोसीडिंग्स आफ आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेन्स
बा० ग०	बाम्बे गजेटियर
मनु०	मनुस्मृति
मत्स्य०	मत्स्य पुराण
म० भा०	महाभारत
मे० आ० स० इ०	मेमायर्स आफ आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंण्डिया
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
शि० ले०	शिला लेख
शुक्र०	शुक्रस्मृति
स्त० ले०	स्तम्भ लेख
से० इ०	सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स

प्रथम अध्याय
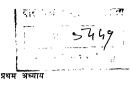
अवतरणिका

सामान्य विशेषतायें

शुग-सातवाहन युग प्राचीन भारत के इतिहास मे असाधारण महत्व रखता है। मौर्य साम्राज्य के पतन से गुप्त साम्राज्य के अभ्युत्थान तक की पाँच शताब्दियाँ अपनी कई विशेषताओ के कारण उल्लेखनीय है। इस युग की **पहली** विशेषता राजनीतिक एकता का अभाव था। मौर्य सम्राटो ने वर्तमान भारत के बहुत बड़े भूभाग पर अपना एकच्छत्र शासन स्थापित किया, समूचे भारत मे एक जैसी शासन-परम्परा का प्रवर्तन किया, यह मौर्ययुग की बडी विशेषता थी; किन्तु मौर्य सम्राटों का शासन समाप्त होते ही यह राजनीतिक एकता छिन्नभिन्न हो गई, अगली आधी सहस्राब्दी मे हिमालय से समुद्रपर्यन्त समस्त भूभाग को अपने अधिकार मे रखने वाली किसी प्रबल राजनीतिक सत्ता का आविर्भाव नही हुआ। गुप्त सम्राटो ने चौथी शताब्दी ई० मे भारत के विभिन्न भागो को जीत कर पुन अपने एकच्छत्र शासन द्वारा इसे राजनीतिक एकता प्रदान की। इस प्रकार यह युग राजनीतिक विघटन का युग है। इस समय उत्तरी और दक्षिणी भारत के विविध प्रदेशो मे विभिन्न शक्तियाँ शासन करती रही। उत्तरी भारत मे मौर्यो के पतन के बाद शुग वश का उत्कर्ष हुआ तथा दक्षिणी भारत मे सबसे बडी और सुदीर्घकाल तक शासन करने वाली शक्ति सातवाहनवशी राजा थे। अतः इस शुग-सातवाहन युग को राजनीतिक विघटन (Political disintegration) के युग का नाम दिया जाता है।

इस युग की **दूसरी** विशेषता विदेशी जातियो के आक्रमण थे। दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ में यवनो (Greeks) ने मौर्य एव शुग साम्राज्य पर प्रबल आक्रमण किए। कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा कि समूचे उत्तरी भारत पर उनका शासन स्थापित हो जायगा। किन्तु शुग राजाओ के प्रबल प्रतिरोध के कारण यूनानियो को पीछे हटना पड़ा। फिर भी उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और पजाब के कुछ भागो पर इनका शासन १५० वर्ष तक पहली शताब्दी ई० पूर्व के मध्य-भाग तक बना रहा। मारत के साथ सम्बन्ध रखने वाले इन हिन्द-यूनानियों (Indo-

Greeks) का यह आक्रमण सिकन्दर के आक्रमण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था। इसका भारत पर गहरा प्रभाव पडा। इसने अनेक विदेशी जातियो के लिए भारत पर आक्रमण का मार्ग प्रशस्त किया, विदेशी शासन की यह परम्परा दूसरी शताब्दी ई० के अन्त तक उत्तर पश्चिमी भारत मे बनी रही।

यूनानियो के बाद इस युग मे भारत पर आक्रमण करने वाली दूसरी जाति शक तथा तीसरी जाति पहलव थी। शक पहलवो ने यूनानी शासन का अन्त करके अपने नवीन राज्यो की स्थापना की। उत्तर पश्चिमी भारत मे पहली शताब्दी ई० पू० मे हिन्द-यूनानियो का स्थान शको ने ग्रहण किया। शको के बाद इस प्रदेश पर ईरान से आने वाले पहलव राजाओ का शासन स्थापित हुआ। ये पहली शताब्दी ई० मे भारत के उत्तर पश्चिमी भाग पर शासन करते रहे। इस युग मे आक्रमण करने वाली चौथी जाति कुषाण थी। इसका उत्कर्ष पहली शताब्दी ई० से हुआ। इस वश का सबसे प्रतापी और यशस्वी राजा कनिष्क (७८–१०१ ई०) था, इसका साम्राज्य मध्य एशिया मे बैक्ट्रिया के प्रदेश से भारत मे बिहार तक विस्तीर्ण था। ऐसा साम्राज्य इससे पहले कभी स्थापित नही हुआ था। मौर्यों के साम्राज्य की सीमा हिन्दूकुश पर्वतमाला तक ही थी, किन्तु यह उसे भी लॉघ कर मध्य एशिया के बहुत बड़े भाग में फैला हुआ था। रूसी विद्वानो द्वारा की गई खुदाइयो से कुषाण कला के अवशेष आमू नदी की निचली घाटी मे ख्वारिज्म तक पाये गये है। उपर्युक्त चार जातियो के विदेशी आक्रमणो के कारण दूसरी शताब्दी ईस्वी के अन्तिम भाग तक उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, पजाब, सिन्ध, काठियावाड़ के प्रदेशो मे तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय तक मालवा मे विदेशी जातियो की सत्ता बनी रही। १७६ ई० मे वासुदेव द्वितीय की मृत्यु होने के बाद ही यौधेयो, आर्जुनायनो आदि पजाब के गणराज्यो ने भारत को विदेशी शासन की दासता से मुक्त किया।

तीसरी विशेषता विदेशी आक्रान्ताओ का भारतीयकरण और भारतीय सस्कृति के रग मे रगा जाना है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक सुप्रसिद्ध कविता में भारत को महामानवता का समुद्र बताते हुए कहा है —"किसी को भी ज्ञात नहीं है कि किसके आह्वान पर मानव जाति की कितनी धारायें दुर्वार वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आईं और इस महासमुद्र मे मिल कर खो गई—समय समय पर जो लोग रण की धारा बहाते हुए, उन्माद और उत्साह मे विजय के गीत गाते हुए रेगिस्तानों और पर्वतो को लाँघ कर इस देश मे आये थे, उनका अब कोई भी पृथक् अस्तित्व नहीं है। वे सब के सब मेरे भीतर विद्यमान है, मुझसे कोई भी दूर नही है। मेरे रक्त मे

सबका स्वर ध्वनित हो रहा है।"[1]। यह बात इस युग के सम्बन्ध मे बहुत ही अधिक सत्य प्रतीत होती है। इस समय भारत पर यूनानियों, शको, पहलवों और कुषाणो ने हमले किये। इन सब विदेशी जातियो ने भारत के कुछ भागो को जीत कर उन पर अपना शासन स्थापित किया, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से विजय प्राप्त करने वाली ये जातियाँ भारतीय संस्कृति से पराजित हुई, शीघ्र ही अपना पृथक् अस्तित्व खोकर भारतीय बन गईं। इन्होने भारतीय संस्कृति और सभ्यता को स्वीकार कर लिया। इन जातियों मे यूनानी सबसे अधिक सुसस्कृत जाति थी, इन्हें भी भारतीय धर्म ने आकृष्ट किया। यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने वैष्णव धर्म का उपासक बनकर विदिशा मे गरुड़ध्वज स्थापित किया, मिनान्डर ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। इसी प्रकार शको, पहलवो और कुषाणो के आरम्भिक शासको के नाम विदेशी ढग के थे, किन्तु कुछ समय तक यहाँ शासन करने के बाद ये लोग भारतीय नाम और उपाधियाँ धारण करने लगे, शैव, बौद्ध और वैष्णव धर्मो के अनुयायी बने।

चौथी विशेषता इस युग मे भारतीय सस्कृति का विदेशो मे प्रसार था। तीसरी बौद्ध महासभा के बाद अशोक के समय मे इस कार्य का श्रीगणेश हुआ था। इस समय कुषाणो के साम्राज्य ने इसमे बहुत बड़ा योगदान दिया। इनका साम्राज्य भारत और मध्य एशिया मे फैला हुआ था। कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था, इसे प्रबल प्रोत्साहन दिया था। उससे पहले एक कुषाण नरेश चीनी सम्राट को २ ई० मे बौद्ध ग्रन्थो की भेट भेज चुका था। पहली शताब्दी ई० मे मध्य एशिया होते हुए बौद्ध धर्म और भारतीय सस्कृति चीन पहुँची और यहाँ से कोरिया, जापान, मगोलिया, मन्चूरिया मे उसका प्रसार हुआ। इसी समय दक्षिणी भारत के

---

१. एई भारतेर महामानवेर सागरतीरे ।।

केह नहि जाने, कार आह्वाने, मानुषेर धारा ।
दुर्वार स्रोते एलो कोथा हते, समुद्रे हलो हारा।।

हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्राविड़ चीन।
शक हूण दल, पाठान मोगल एक देहे हलो लीन ।।

रण धारा वाहि, जय गान गाहि उन्माद कलरवे ।
भेदि मरुपथ गिरिपर्वत यारा एसिछिलो सबे ।।

तारा मोर मझि सबाई विराजे केहो नहे-नहे दूर ।
आमार शोणिते रयेछे ध्वनित तारि विचित्र सुर ।।

बन्दरगाहों से व्यापारी और धर्मदूत दक्षिणपूर्वी एशिया के प्रदेशों में जाने लगे, यहाँ भारतीय सस्कृति और धर्म का आलोक पहुँचने लगा।

पांचवीं विशेषता इस युग में भारतीय साहित्य का सर्वांगीण विकास था। इस समय न केवल सस्कृत साहित्य मे अपितु प्राकृत एव तामिल साहित्य मे अनेक अमर कृतियो का निर्माण हुआ। सस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकाव्य वाल्मीकि रामायण और महाभारत में कई अश इस युग मे जोड़े गए है। हिन्दू आचार विचार पर गहरा प्रभाव डालने वाली सुप्रसिद्ध मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रणयन इसी समय हुआ। सस्कृत नाटकों की पहली रचनाए इस युग से मिलने लगती है। अश्वघोष, भास और शूद्रक इस युग की विभूति है। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ--चरक और सुश्रुत इस युग की देन है। इसी समय वात्स्यायन ने कामसूत्र की रचना की। व्याकरण के क्षेत्र मे पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखा गया पतंजलि का महाभाष्य सस्कृत वाङमय का एक देदीप्यमान रत्न है। बौद्धो ने अपने धर्मग्रन्थो की पुरानी भाषा पालि का परित्याग करके सस्कृत मे अपने साहित्य की रचना की। महायान सम्प्रदाय के दिव्यावदान, ललितविस्तर जातकमाला, अवदानशतक आदि ग्रन्थ इसी समय लिखे गये। बौद्ध एव जैन साहित्य के साथ साथ प्राकृत के साहित्य का भी विकास हुआ। प्राकृत मे गाथासप्तशती और बृहत्कथा जैसे ग्रन्थो की रचना हुई। इस प्रकार इस युग को सस्कृत साहित्य मे पतजलि जैसे वैयाकरण, भास और शूद्रक जैसे नाटककार, अश्वघोष जैसे कवि, नागार्जुन जैसे दार्शनिक, वात्स्यायन जैसे कामशास्त्र-विशेषज्ञ, चरक और सुश्रुत जैसे आयुर्वेदज्ञ उत्पन्न करने का श्रेय है और दक्षिण भारत मे इसी समय तामिल वाङमय का गौरवपूर्ण विकास हुआ।

इस युग की **छठी** विशेषता धार्मिक विकास की है। इस युग का श्रीगणेश पुष्यमित्र द्वारा की गई सैनिक एवं धार्मिक क्रान्ति से हुआ था। मौर्य राजाओ ने बौद्ध धर्म को प्रबल सरक्षण प्रदान किया था। उस समय प्राचीन वैदिक धर्म कुछ दब गया था, अत. वैदिक धर्मावलम्बी मौर्य शासन को अच्छा नही समझते थे। उनकी दृष्टि में मौर्य वृषल (शूद्र) थे, वे देवमूर्तियो को बेच बेच कर अपने राज्यकोश की वृद्धि कर रहे थे। इसलिये जब ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने मौर्य वश के सम्राट् का वध किया तो वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मणो मे अपूर्व उल्लास की लहर दौड़ गई। इस समय सम्भवत' दसो दिशाए वैदिक ऋचाओ के गान से गूज उठीं, गगन मण्डल यज्ञ-धूम से सुवासित होने लगा। वैदिक यज्ञो की विलुप्त प्राचीन परम्परा का पुनरुद्धार हुआ। राजा अश्वमेध आदि वैदिक यज्ञ करने में गौरव अनुभव करने लगे। इस समय

न केवल उत्तर भारत में शुग राजाओ ने, अपितु दक्षिण मे सातवाहन राजाओं ने अश्वमेध, वाजपेय आदि विभिन्न श्रौत यज्ञ किये। इसीलिये इस युग को कुछ विद्वानो ने **अश्वमेध-पुनरुद्धार का युग** कहा है। इस समय भक्ति-प्रधान सम्प्रदायों का अभ्युदय और प्राबल्य हुआ, वैष्णव और शैव धर्मों में भक्ति और प्रसाद के सिद्धातों को महत्व दिया जाने लगा। बौद्ध धर्म भी भक्ति आन्दोलन से प्रभावित हुआ। इसमे महायान सम्प्रदाय का महत्वपूर्ण विकास हुआ। भक्ति आन्दोलन प्रबल होने पर मूतिपूजा का विकास होना स्वाभाविक था। वैदिक धर्म यज्ञप्रधान था, उसमे देवता की उपासना यज्ञो द्वारा की जाती थी। किन्तु भक्तिवाद मे भगवान की पूजा उनकी मूर्ति पर फल, धूप, दीप, नैवेद्य, पत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत और बलि द्वारा की जाने लगी। इस युग मे वासुदेव, बलराम आदि वैष्णव देवताओ की, पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि यक्षो की तथा नागदेवताओ की पूजा प्रचलित हुई। बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय का विकास होने पर बुद्ध एव बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगी। यह इस युग की बहुत बडी देन थी। इस समय भारत मे विलक्षण धार्मिक सहिष्णुता थी। हिन्दू धर्म मे वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर आदि विभिन्न सम्प्रदायो का विकास हुआ। इसके साथ ही बौद्ध एव शैव धर्मो के विभिन्न सम्प्रदायों का विलक्षण विकास हुआ।

कला के क्षेत्र मे अद्भुत विकास इस युग की **सातवीं** विशेषता है। भारहुत, साची, बुद्ध गया, नागार्जुनीकोंडा जैसे सुप्रसिद्ध स्तूप इस युग की देन है। इस समय प्रस्तर-शिल्प और स्थापत्य कला का अभूतपूर्व विकास हुआ। पहले भवन-निर्माण एव मूर्तिकला मे लकडी के माध्यम का ही अधिक प्रयोग होता था। मौर्य युग से पत्थर का प्रयोग आरम्भ हो गया था, इस युग मे यह पराकाष्ठा पर पहुँच गया। बडी सख्या मे स्तूपो, मूर्तियो, तोरणवेदिकाओ का निर्माण होने लगा। पहाड़ो की शिलाओ को काट कर विहारो, चैत्यो, सघारामो के निर्माण (Rockcut Architecture) का एक नवीन आन्दोलन सारे देश मे प्रचलित हुआ। मौर्य युग मे अशोक के समय गया के पास बराबर नामक पहाडी मे कुछ सादी गुफाएं बनाई गई थी। उस समय यह आन्दोलन केवल मगध तक ही सीमित था। शुंग युग मे समूचे भारत के पहाड़ो में सुन्दर कलापूर्ण विशाल गुहाएं काटने का एक आन्दोलन सौराष्ट्र से कलिंग तक और मगध से महाराष्ट्र तक फैल गया। इसके परिणामस्वरूप उदयगिरि और खण्डगिरि की गुहाएं, महाराष्ट्र, नासिक, कार्ले, कन्हेरी के चैत्य और विहार बने। इस युग की कला की एक अन्य बड़ी देन बुद्ध की मूर्ति का निर्माण था। इस युग के पूर्वार्द्ध में भारहुत,

साँची और बुद्ध गया में हमे बुद्ध की मूर्ति कहीं नही दिखाई देती है। इन्हें सर्वत्र छत्र, चरणपादुका, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष आदि के प्रतीको से प्रकट किया जाता था, किन्तु इस युग के उत्तरार्द्ध में मथुरा और गन्धार के कलाकारों ने बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण करके भारतीय कला मे एक महान क्रान्ति का श्रीगणेश किया। बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ हिन्दू और जैन धर्म के विभिन्न देवी देवताओ की, यक्षों, यक्षणियों और नागों की प्रतिमाओ का निर्माण प्रचुर सख्या मे किया गया। भारहुत और साची के स्तूप यद्यपि बौद्ध धर्म की प्रेरणा के परिणाम हैं, किन्तु इन पर बुद्ध के जीवन मे सम्बद्ध कथाओं के अकन के साथ साथ उस समय साधारण जनता द्वारा पूजे जाने वाले यक्ष, नाग एवं देवी देवताओ को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। मौर्य युग में कला राज्याश्रय मे फलने फूलने वाली थी, शिल्पियो ने अशोक के आदेश से भव्य कलाकृतियो का निर्माण किया था। किन्तु शुग युग मे स्थापत्य एवं मूर्तिकला ने राज-दरबार के वातावरण से मुक्त होकर स्वतत्र रूप से अपना विकास किया था।

इस युग की **आठवीं** विशेषता शासन पद्धति के क्षेत्र मे नवीन परम्पराओ का श्रीगणेश था। मौर्य युग मे शासक अपने लिये राजा की उपाधि धारण करना पर्याप्त समझते थे। चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे शक्तिशाली शासक केवल राजा कहलाने से सन्तुष्ट थे। किन्तु कनिष्क आदि कुषाण वशी राजाओ ने महाराज, राजाधिराज, देवपुत्र आदि की गौरवपूर्ण, लम्बी और बडी उपाधियाँ धारण करनी शुरू की। इस समय राजाओ को देवता समझने की भावना का विचार प्रबल हुआ। कुछ कुषाण मुद्राओ मे राजाओ की दिव्यता को सूचित करने के लिये उन्हें देवलोक का प्रतीक समझे जाने वाले बादलो से निकलता हुआ दिखाया गया है। शक, कुषाण राजाओ की एक निराली विशेषता राजा और युवराज के, पिता तथा पुत्र के सम्मिलित रूप से शासन करने की या द्वैराज्य की पद्धति थी। शको मे पिता महाक्षत्रप और पुत्र क्षत्रप की उपाधि धारण करता था और दोनों अपने नाम से सिक्के चलवाते थे। इस समय भारत मे राजतन्त्रो के अतिरिक्त अनेक गणराज्य थे। कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद यौधेय, कुणिन्द, आर्जुनायन, मालव आदि अनेक गणतत्रो का उत्कर्ष हुआ। इनकी शासनपद्धति पर महाभारत मे सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इनमे वर्तमान समय के गणतंत्रो की भाँति दलबन्दी, फूट आदि के कई बडे दोष थे, फिर भी इन गण-राज्यों ने उस समय बडी उत्कट देशभक्ति का प्रदर्शन किया, विदेशी आक्रमणो का वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया, कुषाणो के साम्राज्य का उन्मूलन करने और भारत-भूमि को विदेशी शासन की दासता से मुक्त कराने का सराहनीय कार्य किया।

इस युग की **नवीं** विशेषता सामाजिक क्षेत्र मे विदेशों से आने वाली जातियों को अपने समाज का अंग बना लेना था। यवन, शक, पहलव, कुषाण आदि विदेशी जातियों के भारत पर आक्रमणों के कारण तथा बडी संख्या मे इनके यहाँ बस जाने से प्राचीन परम्परागत सामाजिक जीवन मे बडी हलचल का पैदा होना स्वाभाविक था। इससे तत्कालीन संस्कृति को एक बडा खतरा पैदा हो गया था। इसीलिये कुछ पुराणों में बडे निराशापूर्ण स्वर मे भविष्यवाणियाँ करते हुए यह कहा गया था कि यवनो ने भारत के समाज मे बडा क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है, इसके परिणामस्वरूप आर्य-अनार्य का और वर्णाश्रम धर्म का भेद लुप्त हो गया है, शीघ्र ही घोर कलियुग आने वाला है। फिर भी ऐसे सामाजिक सकट के समय मे हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ। इस समय विदेशी आक्रमणों के सम्पर्क से उत्पन्न समस्याओं के समाधान का सफल प्रयास किया गया। इसका परिचय हमे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा महाभारत मे मिलता है। इनमे विदेशी जातियों के सम्पर्क से प्रभावित होने वाली नवीन सामाजिक व्यवस्था के विस्तृत नियमो का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। इस समय के शास्त्रकारो और समाज के नेताओ ने विदेशी जातियो को जिस शीघ्रता और सरलता के साथ अपने समाज मे आत्मसात् कर लिया, विदेशियों को हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का उपासक बना लिया, वह वास्तव मे भारतीय इतिहास का एक अतीव आश्चर्यजनक तथ्य है।

इस युग की **दसवीं** विशेषता आर्थिक दृष्टि से इसकी असाधारण समृद्धि थी। ईसा से पहले की और बाद की दो शताब्दियो में भारत के विदेशी समुद्री व्यापार का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। विदेशो मे भारतीय माल की माग बहुत थी, इसे पूरा करने के लिये विभिन्न उद्योग-धन्धो मे विलक्षण प्रगति हुई। कारीगरो और व्यापारियो के श्रेणी, निगम आदि विभिन्न सगठनो का विकास हुआ। रोमन साम्राज्य मे भारत के सुगन्धित द्रव्यो, बहुमूल्य रत्नो, मलमल और मसालो की मांग बहुत बढ गई थी, अत भारत दूसरे देशो को अधिक माल भेजता था और बाहर से कम माल मंगवाता था। इसके परिणामस्वरूप यहाँ से निर्यात की जाने वाली वस्तुओ का मूल्य आयात की जाने वाली वस्तुओं के मूल्य से अधिक होता था। इस मूल्य को चुकाने के लिये रोमन साम्राज्य को तथा अन्य देशो को बहुत बडी मात्रा मे स्वर्ण-मुद्राये और सोना भेजना पडता था। यह तथ्य इस बात से पुष्ट होता है कि दक्षिणी भारत के विभिन्न स्थानों से रोमन सम्राटों की स्वर्ण-मुद्राये बहुत बड़ी संख्या मे उपलब्ध हुई है। इस समय भारत के अनुकूल व्यापारिक

सन्तुलन (Favourable Balance of Trade) के कारण दूसरे देशों का सोना भारत की ओर बहा चला आ रहा था। इससे भारत सोने की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध होने लगा। सम्भवतः इसकी प्रचुरता और विदेशी व्यापार की आवश्यकताओ के कारण इस युग मे सर्वप्रथम कुषाण सम्राटो ने स्वर्ण मुद्राओ का प्रचलन आरम्भ किया। इससे पहले भारत मे चादी और ताँबे के सिक्को का ही अधिक प्रचलन था। इस समय व्यापार के कारण भारत मे अभूतपूर्व समृद्धि का स्वर्णयुग आया। उपर्युक्त विशेषताओ के कारण शुग-सातवाहन युग प्राचीन भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान और महत्व रखता है। किन्तु इसके अध्ययन मे कुछ बड़ी कठिनाइयाँ भी हैं।

अन्धयुग—पहली बडी कठिनाई इस युग की प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का शोचनीय अभाव है। स्मिथ ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया" मे कुषाणोत्तर भारत को **भारतीय इतिहास का अन्धयुग** कहा था। उनके शब्दो मे "कुषाण तथा आन्ध्र राजवशो की लगभग २२०–२३० ई० मे समाप्ति से लेकर गुप्त राजवश के अभ्युदय के बीच का लगभग एक शताब्दी का समय समूचे भारतीय इतिहास मे अधिकतम अन्धकारपूर्ण है"।[१] प्रामाणिक सामग्री के अभाव के अतिरिक्त इस युग की दूसरी बड़ी कठिनाई तिथिक्रम विषयक वाद-विवाद है। इस युग मे विक्रम सवत् और शक सवत् का आरम्भ ५८ ई० पू० मे तथा ७८ ई० मे हुआ। विद्वानो ने सुप्रसिद्ध विक्रम सवत् के सम्बन्ध मे पिछले १५० वर्षों में बडा ऊहापोह किया है, किन्तु वे अब तक किसी सर्वसम्मत निष्कर्ष पर नही पहुच सके है। अभी तक इस समस्या का पूरी तरह हल नही हो सका है कि विक्रम सवत् को चलाने वाले विक्रमादित्य की ऐतिहासिक अनुश्रुति मे कहाँ तक सत्य है। इसी प्रकार का उग्र विवाद शक सवत् के सम्बन्ध मे भी है। कुषाण वश के सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क के तिथिक्रम का निर्णय करने के लिये अब तक १९१२, १९६० तथा १९६८ मे विद्वानों की तीन विचार-गोष्ठियां और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हो चुके है, किन्तु इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हो सका है। कनिंघम, फ्लीट और केनेडी जैसे पुराने पुरातत्वज्ञ कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि ५८ ई० पू० मानते थे। दूसरा पक्ष फर्ग्युसन, ओल्डनवर्ग आदि विद्वानों का है जो कनिष्क की तिथि पहली शताब्दी में ७८ ई० मानता है और इसे शक संवत् का प्रवर्तक समझता है। तीसरा पक्ष दूसरी शताब्दी ईस्वी मानने

१. स्मिथ–अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, चतुर्थ संस्करण १९६२, पृ० २९२।

वालों का है। स्मिथ के मतानुसार कनिष्क ने १२० ई० मे शासन आरम्भ किया था, कोनौ के मतानुसार १२५ ई० के बाद ही वह गद्दी पर बैठा था और कनिष्क का संवत् १२८-२९ ई० से आरम्भ होता है। घिर्शमान ने बेग्राम की खुदाइयों के आधार पर कनिष्क के राज्यकाल का आरम्भ १५५ ई० मे माना है। चौथा पक्ष तीसरी शताब्दी ई० का मत मानने वाले विद्वानो का है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार के मतानुसार कनिष्क २४८ ई० मे तथा सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के मतानुसार २८७ ई० मे राजगद्दी पर बैठा था। इसी प्रकार का उग्र वादविवाद सातवाहनो के तथा नहपान के तिथिक्रम के सम्बन्ध मे है। इन कारणो से सातवाहन युग का इतिहास बड़ा जटिल और विवादग्रस्त है। यहाँ इन शुष्क ऐतिहासिक विवादो के विस्तार मे न जाते हुए अधिकाश विद्वानो द्वारा माने गये मतों को प्रामाणिक समझते हुए इस युग के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का अगले अध्यायो मे विवेचन किया जायगा।

द्वितीय अयाध्य

शुंग वंश तथा उत्तरी भारत के अन्य राज्य

(लगभग १८४ ई० पू०–२०० ई०)

शुग राजाओं का महत्व—शुग वश भारतवर्ष के इतिहास मे सामान्य रूप मे तथा मध्य भारत के इतिहास मे विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इस समय भारत पर यूनानियो (यवनो) के प्रबल आक्रमण हो रहे थे, कुछ समय तक ऐसा प्रतीत होने लगा था कि समूचे उत्तर भारत पर इनका शासन स्थापित हो जायगा, किन्तु शुग राजाओ के प्रबल प्रतिरोध के कारण यवनो को पीछे हटने के लिये विवश होना पडा। इस समय हिन्दू धर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ। भागवत धर्म दूर-दूर तक फैल गया और विदेशी यवनो को भी वह अपने प्रबल आकर्षण से मुग्ध करने लगा, वे विदेशी होते हुए भी वैष्णव धर्म को स्वीकार करने लगे और विष्णु की उपासना के लिए गरुडध्वज स्थापित करने लगे। भारतीय कला और साहित्य के क्षेत्र मे इस युग की तुलना गुप्तकाल के स्वर्णयुग से की जा सकती है। इसी समय साची स्तूप के विश्वविख्यात तोरणो का निर्माण हुआ, भारहुत के सुप्रसिद्ध स्तूप की कलाकृतियो का सृजन किया गया, साहित्य के क्षेत्र मे पाणिनि की अष्टाध्यायी पर पतजलि ने अपना महाभाष्य इसी युग मे लिखा। इस युग की एक अन्य विशेषता यह भी है कि मौर्यों के समय से चली आने वाली राजनीतिक एकता इस समय विच्छिन्न हो गयी और देश के विभिन्न भागों मे अनेक शक्तिया प्रबल होने लगी।

शुंग वंश के ऐतिहासिक साधन—शुग युग पर प्रकाश डालने वाली ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मात्रा मे उपलब्ध होती है। तत्कालीन इतिहास के प्रधान साहित्यिक स्रोत-गार्गीसहिता, पतंजलि का महाभाष्य, कालिदास का मालविकाग्निमित्र, बाण का हर्षचरित और बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान है। इस युग के आरम्भिक भाग पर प्रकाश डालने वाले अभिलेख और मुद्राये नहीं मिलती हैं, किन्तु इस वंश के पिछले राजाओ के इतिहास के सम्बन्ध मे अयोध्या, विदिशा (भिलसा) और भारहुत से कुछ अभिलेख मिले हैं तथा कौशाम्बी, अयोध्या, अहिच्छत्र और मथुरा से काफी संख्या मे मुद्राये उपलब्ध

हुई है; किन्तु मुद्राओं की साक्षी बडी अपूर्ण और अनिश्चित है। यहां इन सब के आधार पर शुंग वंश का सक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

शुंग वंश की स्थापना—पुराणो के मतानुसार मौर्यवंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ को उसके सेनानी पुष्यमित्र ने तलवार के घाट उतारते हुए अपने नवीन राजवश की, स्थापना की। 'पुष्यमित्रस्तु सेनानी समुद्घृत्य बृहद्रथम्'—पुराणो के इस वर्णन की पुष्टि सुप्रसिद्ध सस्कृत गद्यलेखक बाण ने अपने हर्षचरित मे की है। उसके कथनानुसार दुष्ट सेनापति पुष्यमित्र ने सैनिक प्रदर्शन के बहाने सेना को परेड के लिये एकत्र किया और उसके सामने ही कम बुद्धि रखने वाले (प्रज्ञादुर्बल) अपने स्वामी बृहद्रथ को मरवा डाला।[1] इस प्रकार सारी सेना के सामने राजा की हत्या कराने के पीछे सभवत: कोई पूर्व निर्धारित योजना अथवा षड्यन्त्र था। इसके सफल होने का एक बडा कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय जनता मौर्यवश के पिछले निर्बल राजाओ के कुशासन से ऊब चुकी थी, क्योकि वे पाटलिपुत्र तक भारतभूमि को पदाक्रान्त करने वाले यवनो से अपने देश की रक्षा नही कर सके थे। संभवत: यह एक सैनिक क्रान्ति थी। विदेशी आक्रमणो से सत्रस्त तथा आन्तरिक अशान्ति और अव्यवस्था से पीडित जनता ने सुदृढ शासन की आशा दिलाने वाले सेनानी पुष्यमित्र का स्वागत किया होगा।

पुष्यमित्र का तिथिक्रम और वंश—पुराणो के मतानुसार मौर्यवश ने १३७ वर्ष तक राज्य किया। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण की तिथि ३२२ ई० पू० मानी जाती है, अत पुष्यमित्र द्वारा की गई सैनिक क्रान्ति से मौर्यवश का अन्त (३२२–१३७) = १८५ या १८४ ई० पू० के पूर्व के लगभग हुआ होगा। इसी समय पुष्यमित्र मगध की राजगद्दी पर बैठा होगा। पुष्यमित्र का शासनकाल पुराणो मे सामान्य रूप से ३६ वर्ष का माना गया है,[2] अतः पुष्यमित्र के पाटलिपुत्र पर शासन करने की तिथि १८४ ई० पू० से १४८ ई० पू० मानी जाती है।

---

१. हर्षचरित पृष्ठ १९९—प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यो बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।

२. किन्तु वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में पुष्यमित्र के राज्यकाल की अवधि ६० वर्ष बताई गई है। श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने ३६ और ६० वर्ष के दो विभिन्न शासन-कालों के विरोध का समन्वय करने के लिए यह माना है कि ६० वर्ष की अवधि में वस्तुत: दो पृथक् प्रकार के शासन-कालों को सम्मिलित कर लिया गया है, पहला काल मौर्यों की अधीनता में विदिशा के

बृहद्रथ की हत्या करके शुगवश की स्थापना करने वाले पुष्यमित्र के बारे में हमें बहुत ही कम प्रामाणिक जानकारी है। पुराणो ने पुष्यमित्र को शुगवशी बताया है। प्राचीन परम्परा के अनुसार शुगवंश ब्राह्मण वर्ण से सम्बद्ध था। वैदिक साहित्य मे अनेक शुगवशी ब्राह्मण आचार्यों का उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद् (६। १।३४) मे शौगीपुत्र नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२।१३।५) और पाणिनि की अष्टाध्यायी (४।१।१७) के अनुसार शुग भरद्वाज गोत्र के ब्राह्मण होते थे। अत. पुराणो की साक्षी के अनुसार पुष्यमित्र शुगवंशी ब्राह्मण प्रतीत होता है, किन्तु इस विषय मे कुछ अन्य मत भी विद्वानो ने उपस्थित किये है।

पहले मत के अनुसार श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने कालिदास के मतानुसार पुष्यमित्र को बैम्बिक वश का माना है।[1] इस मत का आधार मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अक का एक श्लोक है जिसमे राजा अग्निमित्र को बैम्बिक कुलोत्पन्न होने के कारण इस कुल के आचार का पालन करने वाला बताया गया है।[2] बैम्बिक शब्द को भारहुत अभिलेखो मे वर्णित बिम्बिका नदी से मिलाया गया है। श्री एच० ए० शाह ने यह मत रखा है कि बैम्बिक वश बिम्बिसार के कुल से सम्बन्ध रखता था। श्री राय-चौधरी ने इस सम्बन्ध मे यह भी लिखा है कि पुष्यमित्र और उसके वशजो के साथ शुग शब्द का प्रयोग केवल पुराणो मे ही किया गया है, इसका प्रयोग दिव्यावदान, मालविकाग्निमित्र और हर्षचरित में नही किया गया है, अत उन्होने यह भी सभा-वना प्रकट की है कि पुराणो ने शायद शुगो मे दो प्रकार के राजाओ को—बैम्बिक वंश के पुष्यमित्र को तथा वस्तुतः शुगवश से सम्बन्ध रखने वाले पिछले राजाओं

राज्यपाल के रूप में उसका शासन है, इस समय तक वह समूचे साम्राज्य का वास्तविक शासक और सर्वेसर्वा बन चुका था। दूसरा काल बृहद्रथ की हत्या के बाद कानूनी तौर से मगध साम्राज्य का सम्राट् बनना था। (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली खण्ड १, पृ० ९१)। जैन अनुश्रुति में मेरुतुग ने पुष्यमित्र का शासन केवल ३० वर्ष माना है (इंडि० एं० १९१४, पृष्ठ ११८)। स्टेन कोनो के मतानुसार पुष्यमित्र ने ३० वर्ष तक मालवा मे तथा छः वर्ष पाटलिपुत्र में इस प्रकार कुल छत्तीस वर्ष तक अपना शासन किया।

१. इण्डियन कलचर, खण्ड तीन, पृष्ठ ७३६।

२. मालविकाग्निमित्र ४।१४, दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम्।

को सम्मिलित कर लिया है।[1] किन्तु इस मत को मानने में एक बड़ी आपत्ति बैम्बिक शब्द के अर्थ का निश्चित न होना है। आप्टे ने बैम्बिक का अर्थ एक बीरप्रेमी व्यक्ति किया है, यह एक विशेष नाम भी हो सकता है। पुष्यमित्र के एक वंशज घनदेव ने अपने अभिलेख में बैम्बिक वश का कोई उल्लेख नही किया है, अतः यह मत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता है। **दूसरा** मत श्री हरप्रसाद शास्त्री ने यह रखा है कि शुगवशी राजाओं के नामों के अन्त में मित्र शब्द आता है, यह सम्भवतः ईरान मे मित्र (मिथ्र) अथवा सूर्य की उपासना करने वाले राजाओं से ग्रहण किया गया था।[2] पारसियो मे मिथ्र की उपासना करने का बड़ा प्रचार था, अतः वे अपने नामों के अन्त मे मित्र शब्द का प्रयोग किया करते थे। बाद मे हरप्रसाद शास्त्री ने स्वयमेव अपने मत का परित्याग कर दिया और पुष्यमित्र को ब्राह्मण माना। **तीसरा** मत दिव्यावदान का है। इसमें पुष्यमित्र को मौर्य कहा गया है। मौर्य राजा शूद्र (वृषल) समझे जाते थे। हर्षचरित मे पुष्यमित्र के लिये अनार्य शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके आधार पर भी पुष्यमित्र को शूद्र माना जाता है, किन्तु यह सत्य नही प्रतीत होता है क्योकि बाण ने उपर्युक्त प्रसंग में अनार्य शब्द का प्रयोग जाति के अर्थ मे न करके दुष्ट के अर्थ मे किया है। दिव्यावदान मे संभवत. मौर्य राजाओं का वर्णन करते हुए मूल से उनकी सूची मे पुष्यमित्र की गणना कर ली गई है। **चौथा** मत पुष्यमित्र के कश्यप गोत्र का ब्राह्मण होने का है।[3] श्री जायसवाल ने इस विषय मे हरिवंश पुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है, इसमे आकस्मिक रूप से उदय होने वाले (औद्भिज) तथा कलियुग मे पुनः अश्वमेध की परिपाटी पुनरुज्जीवित करने वाले किसी कश्यपगोत्री ब्राह्मण सेनानी का उल्लेख किया गया है। श्री जायसवाल ने इस सेनानी का समीकरण पुष्यमित्र शुग के साथ किया है, क्योकि वह क्रान्ति द्वारा सहसा राजगद्दी पर बैठा था और उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। किन्तु इस श्लोक मे पुष्यमित्र का स्पष्ट नामोल्लेख न होने के कारण इसकी प्रामाणिकता निर्विवाद नही है। अत. पुष्यमित्र को पहले मतानुसार शुगवशी ब्राह्मण ही मानना उचित प्रतीत होता है।

---

१. राय चौधरी पो० हि० ए० इ० पृ० ३०७।

२. ज० रा० ए० बं० १९१२ पृ० २८७।

३. हरिवंश पुराण (भविष्य २–४०)

औद्भिज्जो भविता कश्चित् सेनानी काश्यपो द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे पुन. प्रत्याहरिष्यति ॥

विदर्भ का युद्ध—मालविकाग्निमित्र से हमे यह ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र के वंश की स्थापना के साथ-साथ विदर्भ या बरार के प्रदेश में एक नए राज्य की स्थापना हुई। अग्निमित्र के अमात्य ने इसे '**अचिराधिष्ठित**' अर्थात् अभी हाल में स्थापित हुआ राज्य कहा है और इसके राजा की तुलना एक ऐसे पेड़ से की है जो अभी हाल मे रोपा जाने के कारण सुदृढ़ नही है (नवसंरोपणशिथिलस्तरुः)। विदर्भ का राजा मौर्य राजा के सचिव का बहनोई होने के कारण पुष्यमित्र के कुल का स्वाभाविक शत्रु (प्रकृत्यमित्र) कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम मौर्यवंशी राजा बृहद्रथ के शासनकाल मे मगध साम्राज्य मे दो दल थे, एक दल का नेता राजा का मन्त्री या सचिव था, दूसरे दल का नेता राजा का सेनापति पुष्यमित्र था। मन्त्रीदल के पक्षपातियो ने यज्ञसेन को विदर्भ का शासक बनवाया और सेनापति के दल वालो के प्रभाव से पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का राज्यपाल बनाया गया। जब राजधानी मे सेनापति ने अपना षड्यन्त्र रचा और राजा की हत्या करते हुए उसके मन्त्री को बदी बनाया तो स्वाभाविक रूप से विदर्भ मे यज्ञसेन ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की, इसीलिए उसे कालिदास ने अपने नाटक मे अचिराधिष्ठितराज्य और प्रकृत्यमित्र कहा है। इसी समय अग्निमित्र का पक्षपाती और यज्ञसेन का एक भाई कुमार माधवसेन गुप्त रूप से विदिशा जा रहा था, इसे यज्ञसेन के अन्तपाल (सीमारक्षक) ने पकड लिया, अग्निमित्र ने इसे छोड़ने की माँग की। विदर्भ का राजा इसे इस शर्त पर छोडने को तैयार था कि वह इसके बदले मे उसके सम्बन्धी तथा मौर्य साम्राज्य के मन्त्री को बन्धनमुक्त कर दे। इस माँग से क्रुद्ध होकर विदिशा के शासक अग्निमित्र ने अपने साले वीरसेन को विदर्भ पर चढाई करने का आदेश दिया। इस संघर्ष मे यज्ञसेन पराजित हुआ, माधवसेन को बधनमुक्त किया गया और विदर्भ का राज्य इन दोनो भाइयो में बाँट दिया गया, वरदा नदी (वर्धा नदी) दोनो राज्यो की नवीन सीमा निश्चित की गई। दोनो ने पुष्यमित्र वंश की सर्वोच्च सत्ता एव प्रभुता को स्वीकार किया।

कुछ विद्वानो के मतानुसार यज्ञसेन की अपेक्षा पुष्यमित्र का अधिक भीषण शत्रु कलिग का राजा था। डा० स्मिथ ने यह माना है[1] कि कलिगराज खारवेल ने पुष्यमित्र को हराया था और इस घटना का उल्लेख हाथीगुम्फा के शिलालेख मे मिलता

---

१. स्मिथ—आक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया पृ० ५८, स्टेन कोनो तथा जायसवाल का भी यही मत है।

है, इसमें वर्णित **बहसतिमित** नामक राजा वस्तुतः पुष्यमित्र ही है क्योंकि बृहस्पति का सम्बन्ध पुष्यमित्र और तिष्य नक्षत्रों से है।[1] श्री दुब्रेउइल ने भी खारवेल को पुष्यमित्र का शत्रु माना है। किन्तु डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने यह सिद्ध किया है कि हाथीगुम्फा अभिलेख मे जिन छः अक्षरो को बहसतिमित पढ़ा गया है, वह ठीक नहीं है, इन्हें दूसरे ढग से भी पढ़ा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि खारवेल ने वस्तुतः पुष्यमित्र को हराया था तो उसने उसके नाम का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए पुष्य नक्षत्र से सम्बन्ध रखने वाले बृहस्पति के नाम से गौण रूप मे उसका क्यों उल्लेख किया?[2] इसके साथ ही हाथीगुम्फा अभिलेख की तिथि भी विवादग्रस्त है। पहले विद्वान् इसे दूसरी शताब्दी ईस्वी मानते थे, किन्तु अब इस लेख की लिपि के आधार पर इसे पहली शताब्दी ई० पू० का माना जाता है। इस प्रकार खारवेल पुष्यमित्र (१८५–१४८ ई० पू०) से लगभग १०० वर्ष बाद हुआ और उसे पुष्यमित्र का शत्रु नहीं माना जा सकता है।

यवन आक्रमण—पुष्यमित्र के राज्यकाल की एक महत्वपूर्ण घटना यूनानियों (यवनो) का आक्रमण है। इसकी सूचना हमे कई प्रकार के प्रमाणो से प्राप्त होती है। पहला प्रमाण पतजलि का महाभाष्य है। पतजलि पुष्यमित्र के राजपुरोहित थे। यह बात उनके उस वचन से सूचित होती है जिसमे उन्होंने पुष्यमित्र का यज्ञ कराने का उल्लेख किया है।[4] पतजलि ने पाणिनि के अनद्यतन लङ् लकार के प्रयोग को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित दो उदाहरण दिये है—(क) अरुणद् यवन साकेतम् अर्थात् यूनानियो ने अयोध्या पर घेरा डाला, (ख) अरुणद् यवनो माध्यमिकाम् अर्थात् यवनों ने माध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नगरी नामक स्थान) पर घेरा डाला। यह लकार भूतकाल की ऐसी प्रसिद्ध घटना के लिये प्रयुक्त किया जाता है कि जो आँखो के सामने न हुई हो (परोक्ष), किन्तु यदि कोई उसे देखना चाहता तो वह उसे देख सकता था। इस लकार के प्रयोग को स्पष्ट करने के लिये ही पतजलि ने उपर्युक्त उदाहरण दिये हैं। इनसे यही सूचित होता है कि यह यवन आक्रमण पतंजलि

---

१. इण्डियन एण्टीक्वरी, १९१९ पृष्ठ १८९।

२. दिनेशचन्द्र सरकार सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स पृ० २१४, खारवेल की तिथि पर आगे (पृ० ४१–४३) विचार किया गया है।

३. पाणिनि-इह पुष्यमित्रं याजयामः। इस ओर सर्वप्रथम श्री रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने इ० एं०, १८७९ पृ० ३०० में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था। यह प्रयोग वर्तमान काल के ऐसे प्रयोग को सूचित करता है जो प्रारम्भ हो चुका है, किन्तु पूरा नहीं हुआ है।

के जीवन काल में हुआ था। उन्होंने इस आक्रमण को स्वयमेव नहीं देखा था, किन्तु यदि वे इसे देखना चाहते तो साकेत और माध्यमिका में जाकर स्वयं देख सकते थे।

दूसरा प्रमाण गार्गी संहिता का है। इस संहिता का एक भाग युगपुराण है। इस ग्रन्थ का समय पहली शताब्दी ई० पू० समझा जाता है। इसमें यूनानी आक्रमणों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि दुष्ट एवं वीर यूनानी (यवन) साकेत, पांचाल और मथुरा पर आक्रमण करते हुए कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) तक पहुँच गये और वहाँ पाटलिपुत्र के चारो ओर बने मिट्टी के परकोटे तक उनके पहुँचने पर सब लोग बहुत घबरा गये।[1] तीसरा प्रमाण मालविकाग्निमित्र का है। इसमें पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन है। इसका अश्व घूमते घूमते सिन्धु नदी[2] के दक्षिण तट पर पहुँचा (सिन्धोर्दक्षिणरोधसि)। यहाँ इसे यवनों ने पकड़ लिया। इसके परिणामस्वरूप

---

१. ततः साकेतमाक्रम्य पांचालान् मथुरां तथा ।
यवनाः दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम् ॥
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते ।
म्राकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशय : ॥

२. इस सिन्धु नदी की सही स्थिति के बारे में विद्वानों में प्रबल मतभेद है। कनिंघम, स्मिथ, स्टेन कोनो तथा एलन इस नदी को मध्यभारत की एक नदी समझते हैं। रैप्सन ने (कै० हि० इं०, खं १, पृ० ४६६) लिखा है कि इसे या तो यवनों द्वारा घेरी जाने वाली माध्यमिका नगरी (चित्तौड़) से सौ मील की दूरी पर बहने वाली चम्बल (चर्मण्वती) नदी की सहायक काली सिन्ध मानना चाहिये अथवा यमुना नदी की एक सहायक सिन्धु नदी समझना चाहिये। इस विषय में दूसरा मत डा० रमेशचन्द्र मजूमदार का है। उन्होंने इसे उत्तर पश्चिमी भारत की सुप्रसिद्ध सिन्धु नदी मानने के लिये प्रबल तर्क उपस्थित किये हैं (इं० हि० क्वा० खं० १, पृ० २१४)। कनिंघम ने इसे उत्तर पश्चिमी भारत की सिन्धु नदी न मानने के पक्ष का समर्थन इस आधार पर किया था कि यह नदी उत्तर से दक्षिण दिशा की ओर बहती है, अतः इसका कोई दक्षिणी किनारा नहीं है, अतः कालिदास का दक्षिणी तट (दक्षिण रोधसि) का वर्णन निरर्थक है। इस आपत्ति का समाधान यह किया जाता है कि यहाँ दक्षिण शब्द दिशावाची नहीं, किन्तु नदी बहने की दिशा की ओर मुंह किये व्यक्ति के दांये हाथ वाले तट को सूचित करता है। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि चम्बल की सहायक नदी काली सिन्ध की बहने की दिशा भी उत्तर-दक्षिण है। कनिंघम की आपत्ति का एक समाधान यह भी हो सकता

युद्ध छिड़ गया, इसमें पुष्यमित्र शुंग के पौत्र वसुमित्र ने यवनों को पराजित किया और यज्ञीय अश्व को छुड़ा लिया। इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर पुष्यमित्र शुग के समय में भारत पर यवन आक्रमण होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नही है। किन्तु यह आक्रमण कब हुआ और इस यवन आक्रान्ता का क्या नाम था, इस विषय में विद्वानों मे प्रबल मतभेद है, क्योंकि उपर्युक्त सभी ग्रन्थों मे कहीं भी यूनानी आक्रमण-कारी का कोई नाम नही दिया गया है।

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक टार्न (ग्री. बै. इं. पृ. १३२–३) के मतानुसार यह यूनानी आक्रमण पुष्यमित्र के गद्दी पर बैठने के बाद १८० ई० पूर्व में हुआ और १२ वर्ष बाद १६८ ई० पू० में जब यूनानियो के मूलदेश बैक्ट्रिया में राजगद्दी के लिये गृहयुद्ध छिड़ा तब वे यहाँ से वापिस स्वदेश लौट गए। इस विषय पर विस्तृत विचार तीसरे अध्याय मे होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि १६८ ई० पू० मे यूनानियो के वापिस लौटने के हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं हैं। पुष्यमित्र के समय किस यूनानी राजा ने आक्रमण किया, इस विषय मे भी पर्याप्त मतभेद है। रैप्सन, स्मिथ और गोल्डस्टुकर यह मानते हैं कि इस यवन आक्रमण का नेता मिनान्डर था क्योकि इस यूनानी राजा की मुद्राए भारतवर्ष के विभिन्न स्थानो में पाई गई है। दूसरा मत श्री रामकृष्ण गोपाल भडारकर, श्री राय चौधरी तथा श्री काशीप्रसाद जायसवाल का है। इनके मतानुसार यवन आक्रान्ता हिन्द-यूनानी राजा डेमेट्रियस था। इसमें कोई सन्देह नही कि इस राजा ने भारत पर आक्रमण किया था, किन्तु हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही है कि जिसके आधार पर यह कहा

है कि सिन्धु नदी के उत्तर से दक्षिण को ओर बहने पर भी यह असंभव नहीं है कि किसी स्थान पर यह नदी कोई बड़ा मोड़ लेकर अपने बहने की दिशा में कुछ परिवर्तन कर लेती हो और ऐसे स्थान पर इसके दक्षिणी किनारे का प्रयोग सार्थक हो। इसे चम्बल की सहायक काली सिन्ध न मानने के सम्बन्ध में यह युक्ति दी जाती है कि अग्निमित्र की रानी धारिणी विदिशा में इस नदी के बहुत पास रह रही थी, किन्तु उसे अपने पुत्र वसुमित्र के यवनों के साथ संघर्ष का समाचार पुष्यमित्र द्वारा संभवतः पाटलिपुत्र से भेजा जाता है। धारिणी इस नाटक में अपने पुत्र से अगाधप्रेम करने वाली तथा उसकी कुशलता के लिये देवी देवताओं की पूजा करने वाली बताई गई है। यदि उसका पुत्र मध्य भारत में उसके निकट होता तो वह अपने दूतों द्वारा सीधा ही उसका समाचार मँगवाती रहती, उसे यह समाचार पुष्यमित्र से न मँगवाना पड़ता।

जा सके कि वह पाटलिपुत्र तक पहुचा था। उसकी मुद्राए पजाब मे व्यास नदी के पूर्व मे नहीं मिलती है। इससे स्पष्ट है कि उसका प्रभाव-क्षेत्र और राज्य-विस्तार इस नदी के पश्चिम तक ही था। श्री जायसवाल तथा स्टैन कोनौ के मतानुसार हाथीगुम्फा अभिलेख मे यवन राजा डिमेट्रियस का डिमित के नाम से उल्लेख है। इसमे कहा गया है कि जब खारवेल ने मगध पर आक्रमण किया तब यूनानी राजा डिमित मथुरा भाग गया।[1] इस विषय में यह स्मरणीय है कि इस अभिलेख मे डिमित शब्द का पाठ बहुत सदिग्ध है और यह राजा डिमेट्रियस नही हो सकता क्योंकि उसका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्ध है और खारवेल का समय अब इसके १०० वर्ष बाद पहली शताब्दी ई० पू० माना जाता है।

उपर्युक्त कठिनाइयो से बचने के लिये श्री एन० एन० घोष ने यह मत प्रकट किया है कि भारत पर एक नही, किन्तु दो यूनानी आक्रमण हुए। पहले आक्रमण का नेता डेमेट्रियस था और दूसरे का मिनान्डर। पहला आक्रमण पुष्यमित्र शुग के शासन-काल के आरम्भ मे हुआ और दूसरा आक्रमण उसके शासनकाल के अन्त मे। मालविकाग्निमित्र मे यूनानियो के साथ जिस सघर्ष का वर्णन है वह सभवतः दूसरे आक्रमण के सम्बन्ध मे है। किन्तु दो यवन आक्रमणो को प्रतिपादित करने वाले इस मत मे कई दोष है। कोई भी विदेशी या भारतीय ग्रन्थ पुष्यमित्र शुग के समय मे दो यूनानी आक्रमणो का वर्णन नही करते है। सभवत मालविकाग्निमित्र, गार्गी-संहिता और पतजलि एक ही आक्रमण की घटनाओ का उल्लेख करते है। इस विषय मे पुष्यमित्र द्वारा अयोध्या अभिलेख मे दो अश्वमेघ यज्ञ करने के उल्लेख से दो यूनानी आक्रमणो की कल्पना को पुष्ट नही किया जा सकता, क्योकि यह वर्णन कही भी स्पष्ट रूप से नही मिलता है कि पहला यज्ञ पाटलिपुत्र मे अपने वश की स्थापना के समय तथा दूसरा यज्ञ यवनो को हराने के उपलक्ष मे किया गया था। किन्तु इस विषय मे टॉर्न महोदय का मत यह है कि पुष्यमित्र शुग के जीवनकाल मे एक ही यूनानी आक्रमण हुआ था। इसका नेता डिमेट्रियस था और वह अपने साथ अपने भाई अपोलोडोटस तथा अपने सेनापति मिनान्डर को लाया था। यह स्वय व्यास नदी (*Hyphasis*) तक आया। इस के बाद उसने अपने भाई अपोलोडोटस को दक्षिण पश्चिमी भारत की विजय के लिये और मिनान्डर को पूर्वी भारत की विजय के लिये भेजा।

---

१. खारवेल का अभिलेख, दिनेशचन्द्र सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स—मधुर अपयातो यवनरा (ज) (डिमित) ।

अश्वमेध-यज्ञ, हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान—पुष्यमित्र विदर्भ की विजय के बाद और यवनों के लौट जाने के पश्चात् उत्तरी भारत का एकछत्र सम्राट् बन गया। उसने अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा करने के लिये वैदिक-युग से राजकीय गरिमा और दिग्विजय का प्रतीक समझे जाने वाले अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न किया। मालविकाग्निमित्र मे इस यज्ञ के किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। अयोध्या से पाये गए धनदेव के अभिलेख मे सेनापति पुष्यमित्र को दो बार अश्वमेघ यज्ञ करनेवाला बताया गया है।[1] अपना दूसरा अश्वमेघ यज्ञ पुष्यमित्र ने सभवत· वृद्धावस्था मे किया था। मालविकाग्निमित्र से यह ज्ञात होता है कि इस समय उसका पोता वसुमित्र तरुण हो चुका था और वह १०० राजकुमारो के साथ यज्ञीय अश्व की रक्षा कर रहा था। इस घोड़े को कुछ यवन सैनिको ने पकड़ लिया। सभवत ये मिनान्डर के सैनिक थे। वसुमित्र ने यूनानियो को युद्ध मे हराया और अश्वमेघ यज्ञ सफलतापूर्वक सम्पन्न किया गया। इस यज्ञ का किया जाना अनेक विद्वानो की दृष्टि मे हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान का सूचक था। अशोक द्वारा बौद्धधर्म को राजसरक्षण और प्रबल प्रोत्साहन देने से इस मत का बड़ा उत्कर्ष और प्रसार हुआ था। कुछ समय तक इसके सम्मुख हिन्दूधर्म दबा रहा, किन्तु पिछले मौर्य राजाओं की निर्बल, दब्बू और विदेशी आक्रमणो से देश की रक्षा करने मे असमर्थ नीति के कारण बौद्धधर्म बहुत बदनाम हो गया। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। पुष्यमित्र ने इस वश को समाप्त करके बौद्धो के राज्यसरक्षण का अन्त कर दिया और हिन्दूधर्म को प्रबल प्रोत्साहन दिया। वैदिक काल के यज्ञो की परम्परा को बौद्धो ने नष्ट कर दिया था, अब इसका पुनरुद्धार पुष्यमित्र की नवीन नीति का एक अग था। इसीलिये हरिवशपुराण मे सेनानी पुष्यमित्र को ही कलियुग मे अश्वमेघ यज्ञ की परम्परा को पुन आरम्भ करने वाला बताया गया है। हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान करने के कारण बौद्ध पुष्यमित्र से बहुत रुष्ट थे। अत. बौद्ध साहित्य मे ऐसे अनेक वर्णन मिलते हैं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि पुष्यमित्र ने बौद्धो का भीषण दमन किया था।

बौद्धधर्म का दमन—दिव्यावदान के मतानुसार पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का कट्टर विरोधी था, उसने बौद्धो पर प्रबल अत्याचार किये। अपने ब्राह्मण पुरोहित के परामर्श पर उसने बौद्ध-मत के समूलोन्मूलन का निश्चय किया। पहले उसने

---

१. अयोध्या प्रस्तर अभिलेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका खण्ड, ५, भाग १ पृ० ९९, वि० च० से० इं० पृ० १०४---कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिन. सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन।

पाटलिपुत्र के सुप्रसिद्ध महान् बौद्ध-मठ कुक्कुटाराम का विध्वंस करने का निश्चय किया। उसने तीन बार इसे नष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु तीनो बार उसे यहाँ दिल दहलाने वाला भीषण सिहनाद सुनाई दिया और वह भयभीत होकर वापिस लौट आया। इसके बाद उसने अपनी सेना को बौद्ध स्तूपो को नष्ट करने का, मठो को जलाने का और बौद्ध-भिक्षुओ को मारने का आदेश दिया, मध्यदेश मे इन्हें नष्ट-भ्रष्ट करता हुआ वह शाकल (स्यालकोट) तक पहुचा। यहाँ उसने यह घोषणा की कि जो व्यक्ति मुझे एक बौद्ध भिक्षु का सिर लाकर देगा, मै उसे पारितोषिक के रूप मे १०० दीनार दूगा (यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याह दीनारशत दास्यामि)। इस प्रकार उत्तर पश्चिमी भारत में बौद्धधर्म पर भीषण अत्याचार करता हुआ वह दक्षिणी भारत की ओर चला गया, किन्तु इस समय तक उसके पापो का घड़ा भर गया था, अतः यहाँ वह एक यक्ष क्रिमिश द्वारा एक बड़े पत्थर से मार डाला गया। इस विषय मे दूसरा प्रमाण बौद्ध ऐतिहासिक तारानाथ का है। उसने लिखा है कि पुष्यमित्र शुग ने बहुत बड़ी सख्या मे बौद्धो का वध करवाया तथा उनके स्तूपों और मठों को नष्ट किया।

किन्तु इन दोनो लेखकों की साक्षी निम्न कारणों से विश्वसनीय नही प्रतीत होती है। इन ग्रन्थो के लेखक बौद्ध हैं। वे ब्राह्मण वर्ण और हिन्दूधर्म के प्रति अच्छी भावना नहीं रखते थे। बौद्ध लेखको ने अशोक जैसे अपने धर्म के प्रबल समर्थक के चरित्र को भी इस मत को स्वीकार करने से पहले अत्यन्त कृष्णरूप मे चित्रित किया है, अत: उनके लिये यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे हिन्दूधर्म को प्रबल संरक्षण प्रदान करने वाले पुष्यमित्र को बदनाम करने का प्रयत्न करे और उसके भीषण अत्याचारों के कल्पित किस्सों का बखान करे। दिव्यावदान पुष्यमित्र के काफी समय बाद लिखा गया, उसमे पुष्यमित्र को मौर्यवंशी राजा बताने जैसे कई भ्रान्तिपूर्ण वर्णन किये गये हैं। शाकल मे पुष्यमित्र की उपर्युक्त घोषणा सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होती है। उस समय इस नगर पर मिनान्डर का अधिकार था, दूसरे राजा के देश में, विशेष रूप से बौद्ध राजा के प्रदेश मे जाकर ऐसी बौद्ध विरोधी घोषणा करना पुष्यमित्र के लिये सभव ही न था। यह बात इसलिये भी अप्रामाणिक प्रतीत होती है कि पुष्यमित्र के समय दीनार की मुद्रा प्रचलित ही नही थी, अतः इस मुद्रा के रूप मे इनाम देने की बात कोरी गप्प प्रतीत होती है। तारानाथ भी बहुत बाद का लेखक है, उसकी साक्षी विश्वसनीय नही प्रतीत होती।

अतः यह स्पष्ट है कि बौद्ध लेखको ने पुष्यमित्र के अत्याचारो के सम्बन्ध

मे अत्यधिक अतिरंजित और अप्रामाणिक वर्णन लिखे है। यह सभव है कि पुष्यमित्र की हिन्दूधर्म की समर्थक नवीन नीति के कारण कुछ बौद्ध भिक्षुओ को कष्ट उठाना पड़ा हो, किन्तु व्यापक रूप से बौद्धो पर भीषण अत्याचार करने की बात कपोल-कल्पना प्रतीत होती है। यह सभवत. ऐसे मस्तिष्को की उपज थी जो मौर्यवंश की समाप्ति के बाद बौद्ध-धर्म के राज्याश्रय से वचित होने से तथा हिन्दूधर्म को राज्याश्रय प्राप्त होने से अत्यन्त असन्तुष्ट और रुष्ट थे तथा हिंसाप्रधान वैदिक यज्ञो के पुनराहरण की नवीन प्रवृत्ति को बुरा समझते थे।

फिर भी यह सम्भव है कि बौद्धो का इस समय कुछ दमन किया गया हो, इसका एक कारण राजनीतिक था। भारतीय बौद्धो को स्वाभाविक रूप से यह बात बुरी लगने वाली थी कि पुष्यमित्र ने उनके धर्म को प्रबल सरक्षण देने वाले मौर्य वश को समाप्त कर दिया था। अत नवीन वश के प्रति उनकी भक्ति और आस्था सदिग्ध थी। सभवत वे पजाब मे रहने वाले तथा बौद्ध मत को स्वीकार करने वाले विदेश के यूनानी आक्रान्ताओ का साथ दे रहे थे और पंचमागी दल (Fifth Column) का कार्य कर रहे थे। ऐसे देशद्रोही देश की सुरक्षा के लिये भीषण भय का कारण बन सकते थे, इन्हें कडा दण्ड देना पुष्यमित्र के लिये सर्वथा स्वाभाविक था। इस विषय मे श्री जायसवाल ने यह सत्य ही लिखा है कि "इस सम्बन्ध मे यह बात महत्वपूर्ण है कि मिनान्डर के नगर शाकल मे ही पुष्यमित्र ने अपनी यह घोषणा की थी कि वह प्रत्येक बौद्ध भिक्षु का सिर लाने पर सौ दीनार देगा। बौद्ध-धर्म को यह कडा दण्ड इसलिये दिया गया था कि वह इस समय यूनानियो के साथ मिल गया था।"[१] किन्तु जिन प्रदेशो मे बौद्धो द्वारा इस प्रकार देशद्रोही बनकर शत्रुओं के साथ मिलने और राज्य को खतरा पहुचाने की सभावना नहीं थी, वहाँ पुष्यमित्र ने बौद्धो पर कोई अत्याचार नही किया। बौद्ध धर्म के अनेक उत्कृष्ट स्मारक सांची और भारहुत के स्तूप न केवल इस समय मे बनते रहे, किन्तु उन्हें राज्य की ओर से संरक्षण भी मिलता रहा। इन स्तूपो की सुन्दर मूर्तियो वाली वेदिकाएं यहाँ खुदे अभिलेखो के अनुसार शुग राजाओं के समय मे ही बनी थी।[२] पुष्यमित्र के साम्राज्य में हिमालय से नर्मदा नदी तक उत्तरी भारत का अधिकांश प्रदेश सम्मिलित था। उसके प्रमुख नगर पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा विदिशा थे। यदि दिव्यावदान और तारानाथ की साक्षी प्रामाणिक मानी जाय तो जालन्धर और शाकल भी पुष्यमित्र के शासन मे थे।

---

१. जर्नल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, १६१८, पृ० २६३।
२. वही।

दिव्यावदान से यह सूचित होता है कि सम्राट पाटलिपुत्र में रहा करता था। मालविकाग्निमित्र में यह कहा गया है कि विदिशा में उसका पुत्र पिता के प्रतिनिधि और राज्यपाल (गोप्ता) के रूप में शासन करता था।[1] अयोध्या अभिलेख से प्रकट होता है कि सम्राट का एक अन्य सम्बन्धी कोसल या अयोध्या के प्रदेश का राज्यपाल हुआ करता था। अग्निमित्र की रानी का एक निचली जाति वाला भाई (वर्णावर भ्राता) वीरसेन था। इसे नर्मदा नदी के तीर पर साम्राज्य की दक्षिणी सीमा की रक्षा के लिये अन्तपाल के रूप में नियुक्त किया गया था।[2]

पुष्यमित्र के समय में मौर्ययुग की शासन-पद्धति चलती रही। राजकुमारों को प्रान्तों का शासक नियुक्त किया जाता था। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक था, अयोध्या में सभवत इसी प्रकार राजवश से सम्बद्ध व्यक्ति शासन करते थे, यह परिणाम धनदेव के अयोध्या अभिलेख से निकाला जा सकता है। राजकुमारों को सेनापति का कार्य भी सौपा जाता था। वसुमित्र अश्वमेध-यज्ञ के अश्व की रक्षा करने वाली सेना का सेनानी था। इस समय मौर्य युग की भांति अमात्य परिषद् भी होती थी। राजा के आदेश सेनापतियों तक पहुचाने का कार्य मन्त्रिपरिषद् किया करती थी। अग्निमित्र ने वीरसेन के पास अपना आदेश पहुचाने का कार्य मन्त्रिपरिषद को सौपा था।[3] विदर्भ के नये राज्य की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद् ने मालविकाग्निमित्र (५।१४) में राजा को महत्वपूर्ण सलाह दी है।[4] अन्यत्र राजा द्वारा अपना निर्णय अमात्यपरिषद् में घोषित करने का वर्णन है।[5] यह अशोक के छठे अभिलेख में वर्णित परिषद् से मिलती है। पुराणों के मतानुसार पुष्यमित्र ने ३६ वर्ष तक शासन किया। अत १४८ ई० पू० में उसका शासन समाप्त हो गया।

पुष्यमित्र के बाद १४८ ई० पू० में उसका पुत्र अग्निमित्र गद्दी पर बैठा।

---

१. माल० ५।२०।

२. वही अंक, अत्थि देवि वण्णावरो भादा वीरसेणो णाम सोभाट्टिणां अन्तपालडुग्गो णभादातीरे ठाविदे।

३. मालविकाग्निमित्र अंक ५, तेन हि मन्त्रिपरिषदं ब्रूहि सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यतामेव क्रियतामिति।

४. वही, मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्।

५. वही, देव एवममात्यपरिषदो विज्ञापयामि।

अग्निमित्र मालविकाग्निमित्र से हमे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र के राज्य-काल मे अग्निमित्र विदिशा अथवा पूर्वी मालवा का शासक था। नाटक मे यद्यपि उसे राजा का पद दिया गया है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही समझना चाहिये कि वह स्वतन्त्र शासक था। फिर भी उसके पिता ने उसे प्रशासनविषयक मामलो मे पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रखी थी। यह इस बात से स्पष्ट है कि विदर्भ के राजा के साथ लडाई छेडते समय उसने अपने पिता से कोई निर्देश या सलाह नही ली थी। अग्निमित्र ने आठ वर्ष तक शासन किया, किन्तु हमे उसके राज्यकाल की घटनाओ का कोई ज्ञान नही है। अग्निमित्र के शासनकाल के कोई अभिलेख या मुद्राए नही मिली है। पचाल (वर्तमान रुहेलखण्ड) के विभिन्न स्थानो मे प्राप्त दूसरी शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी लिपि मे अग्निमित्र के लेख वाली मुद्राओ को कुछ विद्वान् अग्निमित्र की समझते है।[1] अग्निमित्र के बाद सात वर्ष तक सुज्येष्ठ ने शासन किया। मुद्राशास्त्री कौशाम्बी से प्राप्त जेठमित्र के लेख वाली मुद्राओं के राजा से इसे भिन्न समझते है। इसके बाद १३३ ई० पू० मे वसुमित्र या सुमित्र राजगद्दी पर बैठा। मालविकाग्निमित्र

१ जे० एलन—ब्रिटिश म्यूजियम कायन केटेलोग आफ एन्शेण्ट इन्डिया, पृ० १२०, १२१। कनिघम (का० ए० इं० पृ० ७६) ने दो कारणों के आधार पर पंचाल प्रदेश में पायी जाने वाली मुद्राओं के अग्निमित्र से शुगवशी अग्निमित्र को भिन्न माना था—(१) पंचाल देश की मुद्राओ पर मित्र नामधारी अनेक राजाओं के नाम मिलते हैं (देखिये नीचे), किन्तु पुराणों में इस प्रकार का एक ही नाम अग्निमित्र मिलता है। (२) ये मुद्रायें उत्तरी पंचाल राज्य की सीमा से बाहर बहुत कम पायी जाती हैं। श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने इन दोनों युक्तियों को दोषपूर्ण माना है (पो० हि० ए० इं० पृ० ३२६–७)। जायसवाल ने यह प्रदर्शित किया है कि अग्निमित्र के अतिरिक्त मुद्राओं वाले कई नाम पुराणों में शुग और कण्व राजाओं की सूची में मिलते हैं। सिक्कों का घोष शुंग वंश का सातवां राजा घोष है। मुद्राओ का भूमिमित्र कण्व वंश का एक राजा है। यदि ये नाम पुराणों में नहीं मिलते तो ये ऐसे राजाओं के नाम हैं, जो वसुदेव कण्व के बाद भी स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे। दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ये मुद्रायें पंचाल देश की सीमाओं से बाहर अवध के बस्ती जिले में तथा पाटलिपुत्र में भी मिली हैं। ब्रह्ममित्र तथा इन्द्रमित्र के नाम बुद्धगया के दो वेदिकास्तम्भों पर मिलते हैं। अभी तक इस प्रश्न पर विद्वानों में कोई सहमति नहीं हो पायी है।

के उपर्युक्त वर्णन के अनुसार इसने पुष्यमित्र के यज्ञीय अश्व की रक्षा की थी और यवनो को हराया था, किन्तु राजगद्दी पर बैठने के बाद यह भोग-विलास मे डूब गया, और इस कारण साम्राज्य का ह्रास होने लगा। बाण ने हर्षचरित मे यह बताया है कि वसुमित्र सगीत और नृत्य का बहुत शौकीन था। जब वह एक सगीत-गोष्ठी का आनन्द ले रहा था तब मूलदेव ने उसकी हत्या कर दी। यह मूलदेव सभवतः वही राजा है जिसकी मुद्राए अयोध्या मे मिली है और जो उपर्युक्त अयोध्या अभिलेख मे वर्णित कोसल देश के राजा धनदेव का पूर्वज था। मूलदेव को कोसल या अयोध्या के स्वतन्त्र राज्य का सस्थापक समझा जा सकता है। यह शुग साम्राज्य से स्वतन्त्र होने वाला पहला राज्य था। इस साम्राज्य से कोसल के पृथक् हो जाने पर मगध के पश्चिमी प्रदेशो मे शुगो का प्रभुत्व शिथिल हो गया। सभवत इसी समय पचाल, कौशाम्बी और मथुरा के वे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए, जिनकी मुद्राएँ हमे प्रचुर सख्या मे मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन राज्यो की स्थापना शुग साम्राज्य की ओर से इन प्रदेशो मे शासन करने वाले शुग राजकुमारो ने केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने पर की, और अपनी स्वतन्त्र प्रभुसत्ता को प्रदर्शित करने के लिये उन्होने अपनी मुद्राए ढालना शुरू किया। अब शुग साम्राज्य केवल मगध तक और मध्य भारत के प्रदेशो तक ही सीमित रह गया। पुराणो के अनुसार सुमित्र या वसुमित्र का शासन-काल १० वर्ष का था। अत उसके शासन की समाप्ति १२३ ई० पू० मे हुई।

पुराणों की सूची के अनुसार अगले तीन राजा आन्ध्रक, पुलिन्दक और घोष थे। ये तीनों शुंगवंश से सम्बद्ध नही प्रतीत होते है। वसुमित्र की हत्या के बाद उत्पन्न अव्यवस्था और गडबडी का लाभ उठाते हुए सभवत. आध्रक ने मगध पर हमला किया। इसके परिणामस्वरूप कुछ समय तक पाटलिपुत्र मे इसका शासन स्थापित हो गया। पुलिन्दक भी सभवतः इसी प्रकार का राजा था। पुराणो में वर्णित घोष संभवत पंचाल देश का ही राजा है जिसकी ताम्रमुद्राए मिली हैं। इन तीनों नामो का शुगवश के साथ सम्बन्ध न होना इस बात से भी प्रकट होता है कि इनके शासनकाल को शुगो के राज्यकाल मे सम्मिलित करने पर तिथिक्रम में बडी गड-बड़ी पैदा हो जाती है। पुराणों मे शुगवश के राज्य करने की अवधि ११२ वर्ष बताई गई है। किन्तु यदि हम इन तीनो राजाओ के शासन की अवधि को इसमे जोड़ दें तो इनका शासनकाल १२० वर्ष बैठता है। यदि इसमे से इन तीन राजाओ के आठ वर्ष के शासन-काल को हम निकाल दें तो यह अवधि ११२ वर्ष ही रह जायगी। अतः वसुमित्र के बाद हमें उसका अगला उत्तराधिकारी वज्रमित्र को ही मनाना चाहिये,

आधक को नहीं। वज्रमित्र के नौ वर्ष के शासनकाल की घटनाओं का हमें कोई ज्ञान नही है। इसके बाद इसका उत्तराधिकारी भागवत ११४ ई० पू० में राजगद्दी पर बैठा।

मध्यभारत मे भिलसा मे एक प्रस्तर-स्तम्भ के टुकड़े पर भागवत के शासन-काल के बारहवे वर्ष का ब्राह्मी लिपि में लिखा हुआ लेख मिला है। इसमें गौतमीपुत्र नामक एक व्यक्ति द्वारा विष्णु की उपासना के लिये एक ध्वज स्थापित करने का उल्लेख है। इस अभिलेख में वर्णित राजा पुराणों के शुगवंशी भागवत से अभिन्न प्रतीत होता है। भिलसा से दो मील की दूरी पर बेसनगर मे गरुडस्तम्भ पर एक अन्य लेख मिलता है। यह राजा भागभद्र के शासनकाल के चौदहवें वर्ष में लिखा गया था। इसमे तक्षशिला के यूनानी राजा एन्टिअल्किडस (Antialkidas) के राजदूत हेलियोडोरस द्वारा विष्णु की पूजा के लिये गरुडध्वज स्थापित करने का वर्णन है। यद्यपि बेसनगर के भागभद्र और शुग राजा भागवत के नामो में अन्तर है, तथापि ये दोनो एक ही प्रतीत होते है। यूनानी राजदूत का बेसनगर का अभिलेख कई दृष्टियो से ऐतिहासिक महत्व रखता है। यह न केवल इस बात को सूचित करता है कि पजाब के हिन्द-यूनानी राजाओ तथा शुगो में प्रीतिपूर्ण घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध थे, अपितु यह भारतीय संस्कृति के उस मम्मोहक आकर्षण को भी सूचित करता है जिससे प्रभावित होकर यूनानियो जैसी सभ्य जातिया भारत के देवी-देवताओ की उपासक बन रही थी और भारतीय सस्कृति को अपना रही थी। भागवत ने ३२ वर्ष की सुदीर्घ अवधि तक शासन किया। उसके बाद ८२ ई० पू० में देवभूति गद्दी पर बैठा।

हर्षचरित से हमें यह ज्ञात होता है कि एक शुग राजा अत्यन्त विषयी, कामुक और सदैव स्त्रियों की सगति मे रहने वाला था। इसकी हत्या इसके मत्री वसुदेव की प्रेरणा से उसकी एक दासी की पुत्री ने की।[1] पुराणो में भी देवभूति के विलासी होने और ब्राह्मण मत्री के हाथो मारे जाने का वर्णन मिलता है। अत यह परिणाम निकाला जा सकता है कि बाण के वर्णन में जिस शुग राजा का उल्लेख है वह देवभूति ही था। अपने स्वामी की हत्या करने के बाद वसुदेव गद्दी पर बैठा और कण्ववश का शासन प्रारम्भ हुआ। पुराणो मे देवभूति का शासनकाल दस वर्ष बताया गया है, अत ७२ ई० पू० में पुष्यमित्र द्वारा स्थापित शुग राजवंश की समाप्ति हो

---

१. हर्षचरित पृ० २६९—अतिस्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यवसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यंजनया वीतजीवितमकारयत्। मि० पुराण—अमात्यो वसुदेवस्तु बाल्याद् व्यसनिनं नृपम्। तथोत्पाद्य....शुंगेषु भविता नृपः॥

गई। शुगवंश के शासन की समाप्ति का प्रधान कारण इसके अन्तिम राजाओं की विषयासक्ति, नैतिक अध पतन और लम्पटता प्रतीत होता है। यद्यपि मगध मे शुंगो का शासन समाप्त हो गया, फिर भी संभवत मध्यभारत में उनका शासन देर तक बना रहा, क्योंकि पुराणो मे यह कहा गया है कि वसुदेव कण्व शुगो के साथ शासन करेगा और आन्ध्र राजा कण्वो की तथा शुगो की शेष शक्ति का विध्वस करेगे। संभवत यहा इस बात का सकेत है कि मगध मे शुंगो का शासन निर्मूल होने पर भी इनकी शासन-सत्ता विदिशा में उस समय तक बनी रही जब तक आंध्रो ने यहां आकर इनके शासन को समाप्त नही कर दिया।

कण्ववंश

वसुदेव द्वारा स्थापित राजवश कण्व या काण्वायन के नाम से प्रसिद्ध है। शुगो की भांति कण्व भी ब्राह्मण थे। कण्ववंश ब्राह्मण पुरोहितो का एक सुप्रतिष्ठित और प्राचीनतम परिवार समझा जाता था। ऋग्वेद (७-५५-४) मे कण्व के वंशज काण्वायन का उल्लेख मिलता है।[1] पुराणों मे इस वश के राजाओं को शुगभृत्य भी कहा गया है। इन्हें यह नाम देने का कारण सभवत यह था कि राजा बनने से पहले ये शुग राजाओं के मंत्री और सेवक रहे होंगे। वसुदेव ने अपने स्वामी को मारकर जिस राज्य को प्राप्त किया, वह शुग राज्य की अपेक्षा बहुत छोटा था, क्योकि इस समय पजाब पर यूनानियो का शासन था। मगध के पश्चिम मे गगा के मैदान के बडे भाग मे मित्र नामधारी विभिन्न राजा शासन करने लगे थे, किन्तु विदिशा पर अभी तक शुंगो का प्रभुत्व बना हुआ था। अत कण्वो का शासन केवल मगध के प्रदेश तक ही सीमित था। कण्ववश ने ४५ वर्ष तक ७२ ई० पू० से २७ ई० पू० तक शासन किया।

कण्ववश के सस्थापक वसुदेव का ९ वर्ष का राज्यकाल ७२ से ६३ ई० पू० तक माना जाता है। उसके बाद उसका पुत्र भूमिमित्र गद्दी पर बैठा। इसका शासन १४ वर्ष का था। पंचाल देश के विभिन्न प्रदेशों से भूमिमित्र नाम रखने वाले राजा के अनेक सिक्के मिले है, किन्तु मुद्राशास्त्री इन्हें इस काण्व राजा की मुद्राएं मानने के लिये तैयार नही है। भूमिमित्र ने पुराणों के मतानुसार १४ वर्ष तक अर्थात् ६३ ई० पू० मे ४९ ई० पू० तक शासन किया। उसके बाद उसका बेटा नारायण ४९ ई० पू० से ३७ ई० पू० तक शासन करता रहा। इस वंश का अगला और अन्तिम राजा नारायण का पुत्र सुशर्मा था। इसके १० वर्ष के शासन के बाद आंध्रों ने २७ ई० पू० मे काण्वायन वंश का

---

1. वैदिक इन्डेक्स, खण्ड १ पृ० १४७।

अन्त करते हुए मगध मे अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इस प्रकार पुराणों के मतानुनुसार कण्व या काण्वायन वश ने केवल ४५ वर्ष तक शासन किया। इन्होंने पुष्यमित्र शुग द्वारा प्रवर्तित हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान और पुनरुद्धार की नीति का अनुसरण किया। हमे इस कण्व वश की किसी भी महत्वपूर्ण घटना का ज्ञान नही है। इसके बाद ईसा की पहली तीन शताब्दियो मे मगध के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली कोई भी सामग्री अभी तक ज्ञात नही है। इस समय की एक मिट्टी की मुहर से यह सूचित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० मे मगध के राजा का वैवाहिक सम्बन्ध पश्चिमी क्षत्रपो के साथ हुआ था। यह मुहर महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिह तथा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेन (२००–२२२ ई०) की पुत्री महादेवी प्रभुदामा की है। संभवत इसी अज्ञात और अस्पष्ट युग मे गुप्तो और लिच्छवियो का गठबन्धन हुआ। इसके परिणामस्वरूप चौथी शताब्दी ई० के आरम्भ मे गुप्त साम्राज्य की स्थापना हुई।

उत्तर प्रदेश तथा पंजाब के लघु राज्य (१२३ ई० पू०–२०० ई०)

मौर्यों ने भारतवर्ष के एक बड़े भाग मे राजनीतिक एकता की स्थापना पहली बार की थी। समूचा देश एक शासन-सूत्र मे आबद्ध किया गया था। किन्तु यह एकता शुग वश के समय मे शनै शनै समाप्त होने लगी। पुष्यमित्र के शासन के बाद भारत में यूनानी आक्रमणो से तथा केन्द्रीय शक्ति के निर्बल हो जाने से प्रान्तीय शासको को विद्रोह करने का और स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का स्वर्ण अवसर मिल गया था। पजाब मे रावी नदी तक का सारा प्रदेश मिनान्डर के अधिकार में चला गया। अयोध्या कौशाम्बी, मथुरा और अहिच्छत्र मे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। इनका परिचय हमे प्रधान रूप से मुद्राओ से मिलता है। इनमे से अनेक राजाओ के नामो के अन्त मे मित्र शब्द आता है। इसके आधार पर यह सभावना प्रकट की गयी है कि इनका सम्बन्ध पुष्यमित्र आदि शुगवशी राजाओ के साथ था। किन्तु इनके शुग वश का उत्तराधिकारी होने के निश्चित प्रमाण हमारे पास नही है। इस विषय मे यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अयोध्या के शासक निश्चित रूप से पुष्यमित्र के वशज थे, किन्तु उनके नामो के अन्त मे मित्र के स्थान पर देव शब्द आता था। अब यहाँ इन राज्यो का सक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

१—अयोध्या

हर्षचरित मे बाण ने यह लिखा है कि मूलदेव ने शुग सम्राट सुमित्र की हत्या की थी। पहिले यह बताया जा चुका है कि यह सुमित्र मालविकाग्निमित्र

में वर्णित पुष्यमित्र का का पोता वसुमित्र है। इसका वध करने वाले मूलदेव की मुद्रायें अयोध्या मे पायी गयी है, अतः यह अनुमान किया गया है कि सुमित्र को मारने के बाद **मूलदेव** ने अपने को कोसल देश का स्वतन्त्र शासक घोषित किया और एक नवीन राजवश की स्थापना की। सभवत इस वंश से सम्बन्ध रखने वाले अन्य राजा वायुदेव, विशाखदेव और **धनदेव** थे। इन राजाओ की, मूलदेव की मुद्राओ से गहरा साम्य रखने वाली मुद्राये उपलब्ध हुई है। धनदेव की मुद्राये सभवत· अयोध्या से प्राप्त एक अभिलेख मे वर्णित कौशिकी के बेटे उसी धन ..नामक राजा की है जिसने इसमे अपने को सेनापति पुष्यमित्र की वशपरम्परा मे छठा राजा बताया है। इस अभिलेख मे इस राजा द्वारा अपने पिता **फल्गुदेव** की पुण्यस्मृति मे एक स्मारक (केतन) बनाने का वर्णन है।[1] इस प्रकार यह अभिलेख मुद्राओ द्वारा ज्ञात नामो मे एक नये नाम की वृद्धि करता है। पचाल देश की पुरानी मुद्राओ मे फल्गुनिमित नामक राजा का नाम मिलता है, कुछ विद्वानों ने इसका सम्बन्ध फल्गुदेव से जोडना चाहा है। किन्तु अधिकांश मुद्राशास्त्री इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं, क्योकि उनकी सम्मति मे **फल्गुनिमित** की मुद्राये पचाल देश मे भी पायी जाती है, अत· यह विशुद्ध रूप से पचाल देश का स्थानीय राजा प्रतीत होता है। पुष्यमित्र और फल्गुदेव मे चार पीढी का अन्तर होने से इसका शासनकाल लगभग ६८ ई० पू० माना जाता है। मुद्राओ की लिपि से भी इस राजा की यही तिथि प्रतीत होनी है। धनदेव की मुद्राए कौशाम्बी मे भी पायी गयी है, किन्तु इससे यह परिणाम निकालना ठीक नही है कि धनदेव कौशाम्बी का भी शासक था, क्योकि मुद्राये व्यापारिक प्रयोजनो से प्राय· अपने मूल राज्यो से बाहर भी ले जायी जाती थी।

इसी वश के एक अन्य राजा **इन्द्राग्निमित्र** की मुद्रायें भी मिली हैं। इस राजा की पत्नी कुरंगी द्वारा बुद्धगया में एक दान देने का अभिलेख मिला है। इसमे इस राजा को कौशिकीपुत्र कहा गया है। यही बात अयोध्या-अभिलेख मे धनदेव के लिये कही गयी है। अतः ऐतिहासिको ने इन्द्राग्निमित्र को धनदेव का छोटा या बड़ा भाई माना है।

---

१. हि० च० से इं० पृ० ६५—कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण।

अयोध्या प्रस्तर अभिलेख—धर्मराज्ञा पितु· फल्गुदेवस्य केतनं कारितम्।

यहाँ केतन का अर्थ दिवंगत पिता की स्मृति को सुरक्षित बनाने के लिये कोई भवन अथवा श्मशान भूमि में बनाया जाने वाला ध्वजस्तम्भ है।

इसी काल की लिपि वाले **नरदत्त** और शिवदत्त के सिक्के भी कोसल से मिले हैं। किन्तु इनका सम्बन्ध अयोध्या के शुग राजाओ से नहीं प्रतीत होता है। ये सम्भवतः मथुरा के स्थानीय राजवश से सम्बन्ध रखते थे।

मूलदेव से प्रारम्भ होने वाले अयोध्या के आरम्भिक राजाओं की मुद्राये पहली शताब्दी ई० पू० की समाप्ति के बाद मिलना बन्द हो जाती हैं और फिर ये मुद्राये दूसरी शताब्दी ईसवी के अन्तिम भाग मे ही मिलती हैं। इसका यह कारण प्रतीत होता है कि अयोध्या का प्रदेश पहली शताब्दी ई० में कुषाणों के हाथ में चला गया। वे यहाँ एक शताब्दी तक या इससे अधिक समय तक शासन करते रहे। कुषाणों की शक्ति क्षीण होने पर यहाँ के स्थानीय राजा पुनः स्वतन्त्र हो गये और दूसरी शताब्दी ई० के अन्त से इनके सिक्के हमें पुन· मिलने लगते हैं। इन पर निम्नलिखित राजाओ के नाम उपलब्ध होते हैं—**सत्यमित्र, आर्यमित्र, विजयमित्र, देवमित्र, अजवर्मा**। दूसरी शताब्दी ई० के इन **मित्र राजाओं** का पहली शताब्दी ई० पू० के उपर्युक्त शुग राजाओ से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है, क्योकि अयोध्या के पुराने शुग राजाओ का उन्मूलन कुषाणो ने कर दिया होगा। गुप्तवंशी राजाओ के आरम्भिक प्रदेशो मे साकेत अथवा कोसल की गणना की गयी है। अतः यह प्रतीत होता है कि दूसरी शताब्दी ईसवी के मित्र राजाओ की समाप्ति गुप्त राजाओं की नवीन शक्ति ने की होगी।

२—पंचाल

उत्तर प्रदेश के वर्तमान रुहेलखण्ड के डिवीजन मे प्राचीन पचाल राज्य था। इसकी राजधानी अहिच्छत्र की पहचान बरेली जिले के रामनगर से की गई है। पहली शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० तक इस राज्य की मुद्राये रामनगर, आवला, बस्ती और बदायू से बहुत बड़ी मात्रा मे उपलब्ध हुई है। इन सिक्को पर निम्नलिखित नाम पाये जाते है—**भद्रघोष, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, जयमित्र, फाल्गुनीमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, वरुणमित्र** तथा **प्रजापतिमित्र**। इलाहाबाद जिले मे कौशाम्बी के निकट पभोसा गाँव की एक गुहा से प्राप्त अभिलेख से हमे अहिछत्र के तीन अन्य राजाओ के नाम ज्ञात होते है।[1] ये राजा **वंगपाल, भागवत** और **आषाढ़सेन** हैं। श्री रैप्सन ने **पभोसा अभिलेख** का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० माना है और उनके मतानुसार आषाढसेन शुग राजाओ का सामन्त था। किन्तु

१. बि० ब० से० इ० पृ० ९७।

श्री दिनेशचन्द्र सरकार (से० इ० पृ० ९७) आदि आधुनिक विद्वान् लिपिशास्त्र के आधार पर इस अभिलेख का समय पहली शताब्दी ई० पू० का अन्तिम भाग ही मानते है। पभोसा की गुहा के बाहर और इसके अन्दर दो अभिलेख है। इनमे से गुहा के बाहर वालेलेख मे आषाढ़सेन को बृहस्पतिमित्र का मामा कहा गया है। यह सभवत: वही राजा है जिसकी पहली शताब्दी ई० पू० की लिपि वाली अनेक मुद्राएं कौशाम्बी से मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि अहिच्छत्रा और कौशाम्बी के राजाओ मे वैवाहिक सम्बन्ध थे। उपर्युक्त लेख मे आषाढसेन के दो पूर्वज राजाओ **शौनकायनिपुत्र बगपाल** का तथा **पेवणिपुत्र भागवत** का भी उल्लेख है। सभवत आरम्भ मे बगपाल इस प्रदेश मे शुग राजाओं की ओर से राज्यपाल रहा होगा और शुगो की शक्ति क्षीण होने पर वह स्वतन्त्र राजा बन बैठा। हमे अभी तक निश्चित रूप से यह ज्ञात नही है कि बगपाल और आषाढसेन का मुद्राओं से प्राप्त होने वाले राजाओ के साथ क्या सम्बन्ध था। कनिष्क के समय मे पचाल के प्रदेश मे कुषाण शक्ति का विस्तार हुआ, इसके साथ ही सभवत. मित्रवशी राजाओ का अन्त हो गया।

३—मथुरा

मुद्राओ से हमे दूसरी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य तक मथुरा के प्रदेश पर शासन करने वाले दो राजवशो की सत्ता का ज्ञान होता है। पहले राजवश मे निम्नलिखित नाम मिलते है—**ब्रह्ममित्र**, **दृढ़मित्र**, **सूर्यमित्र** तथा **विष्णुमित्र**। इन सब राजाओं के नाम के अन्त मे मित्र शब्द आता है, अत हम इसे मित्रवश कह सकते है। गया से प्राप्त एक अभिलेख मे ब्रह्ममित्र नामक राजा का वर्णन है, किन्तु यह सभवत मथुरा के राजा से भिन्न था। इन राजाओ के सम्बन्ध मे हमे इसके अतिरिक्त अन्य किसी बात का ज्ञान नही है कि इनमे से एक राजा कौशाम्बी के बृहस्पतिमित्र की कन्या यशोमती का पति था।

दूसरे वश के राजाओ के नाम निम्नलिखित है—**पुरुषदत्त**, **उत्तमदत्त**, **रामदत्त**, **शेषदत्त तथा भवदत्त**। इन्हें **दत्त राजवश** का कहा जा सकता है। इनके सम्बन्ध मे मुद्राओ के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की कोई सामग्री उपलब्ध नही होती है। श्री जायसवाल के मतानुसार इनका सम्बन्ध नागवश से था।[1] किन्तु इस विषय मे उन्होने कोई पुष्ट प्रमाण नही प्रस्तुत किये है। रैप्सन के मतानुसार ये राजा शुगो के सामन्त थे। एलन ने भी इस मत का समर्थन किया है, किन्तु यह इसलिये प्रामाणिक

१. **जायसवाल—हिस्टरी आफ इण्डिया (१५०–३५० ई०), पृ० १२,१३।**

नही प्रतीत होता है कि ये राजा उस समय के है जब शुग साम्राज्य यूनानी आक्रमणों के दबाव से तथा आतरिक कलहो से विघटित हो रहा था। वस्तुतः अग्निमित्र के बाद शुग साम्राज्य समाप्त हो गया था। इन राजाओ द्वारा अपनी मुद्रायें ढालना इनके स्वतन्त्र होने का प्रबल प्रमाण है। ७५ ई० पू० मे शको ने मथुरा पर अधिकार कर लिया और इस प्रदेश पर अगले ढाई सौ वर्ष तक अर्थात् कुषाण साम्राज्य की समाप्ति तक विदेशी प्रभुता बनी रही।

४—कौशाम्बी

अशोक के समय मे कौशाम्बी मौर्य साम्राज्य का एक प्रान्त था। शुग साम्राज्य के आरम्भिक काल मे यह उसका एक अग बना रहा, किन्तु दूसरी शताब्दी ई० पू० में यह शुग प्रभुता से मुक्त हो गया। अशोककालीन ब्राह्मी मे **वहसतिमितस्स** के लेख वाली अनेक मुद्राए कौशाम्बी से मिली है। कुछ विद्वानों ने इसे **बृहस्पति अर्थात् पुष्यमित्र शुग माना है क्योंकि बृहस्पति पुष्य नक्षत्र का अधिपति होता है।** यह बात यथार्थ नही प्रतीत होती है, क्योंकि मुद्राओ पर राजाओ के पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग कही नही दृष्टिगोचर होता है। मोरा से प्राप्त एक ईट पर लिखे अभिलेख से हमे यह ज्ञात होता है कि इसकी लड़की यशोमती का विवाह मथुरा के एक राजा से हुआ था। इसके अतिरिक्त हमे बृहस्पति प्रथम के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञान नही है।

इसके बाद हमे एक दूसरे बृहस्पति की मुद्राए मिलती है। यह सभवतः पभोसा अभिलेख मे वर्णित अहिच्छत्र के राजा आषाढसेन का मामा था। रैप्सन के मतानुसार यह शुगसम्राट **ऊदाक** का सामन्त था। किन्तु पभोसा अभिलेख मे ऊदाक से पहले कोई सम्मानसूचक उपाधि न होने से इसे राजा मानना उचित नही प्रतीत होता है। श्री बरुआ के मतानुसार ऊदाक किसी स्थान का नाम है। उपर्युक्त मत को मानने मे एक बडी आपत्ति यह भी है कि यदि इसे व्यक्तिवाची नाम मानते हुए इसे शुगो का सामन्त स्वीकार किया जाय तो इसने अपने नाम की मुद्राए क्यों चलाई ? इसके द्वारा सिक्के चलाना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि यह कौशाम्बी का स्वतन्त्र राजा था।

कौशाम्बी के कुछ अन्य राजाओ के नाम भी हमे मुद्राओ से ज्ञात होते है। ये नाम इस प्रकार हैं—**ज्येष्ठमित्र, प्रौष्ठमित्र, वरुणमित्र** और **पुष्पश्री**। वरुणमित्र का नाम कौशाम्बी के एक अभिलेख में भी मिलता है।

अश्वघोष और पवन (पर्वत) नामक दो अन्य राजाओ की मुद्राएं कौशाम्बी से

मिली हैं। सारनाथ मे अशोकस्तम्भ पर एक छोटा सा लेख ब्राह्मी अक्षरों में मिला है, यह अश्वघोष के राज्यकाल के चौदहवे वर्ष में लिखा गया था। इसकी लिपि अश्वघोष की मुद्राओं से मिलती है। यदि यह अभिलेख तथा मुद्राएं एक ही राजा की मानी जायें तो इससे यह सूचित होता है कि उन दिनो वाराणसी कौशाम्बी के राज्य में सम्मिलित थी। यह अश्वघोष संभवतः कौशाम्बी का अन्तिम राजा था, इसके बाद इस पर कनिष्क की प्रभुता स्थापित हो गई।

५—आर्जुनायन गणराज्य

यह एक अत्यन्त प्राचीन गणराज्य था। पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है। इस राज्य के निवासी अपने को महाभारत के सुप्रसिद्ध वीर अर्जुन का वंशज समझते थे। इनका आरम्भिक इतिहास अज्ञात है। दूसरी तथा पहली शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी लिपि मे इनके कई सिक्के उपलब्ध हुए है। इनके उपलब्धि स्थानों से यह सूचित होता है कि इस राज्य के प्रदेश मथुरा के दक्षिण-पश्चिम मे, पूर्व मे आगरा से पश्चिम में जयपुर तक फैले हुए थे। इस प्रकार इनका राज्य जिस प्रदेश मे विस्तीर्ण था उसे प्राचीन काल मे मत्स्य देश कहते थे। इनकी मुद्राओं पर अंकित लेख से यह ज्ञात होता है कि इन्होने पिछले शुग राजाओ के समय मे अपना स्वाधीन राज्य स्थापित किया था। इनकी मुद्राए पहली शताब्दी ई० पू० के बाद मिलनी बन्द हो जाती हैं, अतः इससे यह परिणाम निकालना समुचित प्रतीत होता है कि ७५ ई० के लगभग मथुरा के आसपास के प्रदेश को जीतने वाले शको ने इनके प्रदेश पर अधिकार कर लिया था।

पंजाब के विभिन्न राज्य (१४०--७५ ई० पू०)

पुष्यमित्र के समय मे पजाब शुग साम्राज्य का अग था, किन्तु उसके बाद उसके उत्तराधिकारी इसे अपने साम्राज्य मे नही रख सके। मिनान्डर के नेतृत्व में यूनानियो ने रावी नदी के प्रदेश तक इस पर अधिकार कर लिया। पिछले शुग राजा साम्राज्य के दूरवर्ती प्रदेशो पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने मे समर्थ नही थे, इनकी दुर्बलता का लाभ उठाते हुए रावी तथा यमुना नदी के मध्यवर्ती प्रदेश मे रहने वाली क्षत्रिय जातियो ने अपने स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिये। पहले ये सभी जातिया मौर्य साम्राज्य के अधीन थी। इस समय ईसा से पूर्व की दो शताब्दियो मे इनकी स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता का परिचय हमें इनकी मुद्राओ से प्राप्त होता है। **इनके प्रमुख राज्य निम्नलिखित थे—**

(**क**) **औदुम्बर**—रावी तथा व्यास नदियो की उपरली घाटियो में औदुम्बर जाति का राज्य था। इनकी मुद्राएं गुरुदासपुर जिले के पठानकोट नामक स्थान से तथा कांगड़ा जिले के ज्वालामुखी और हमीरपुर नामक स्थानो से मिली हैं। कुछ मुद्राएं होशियारपुर जिले से भी मिली है। किन्तु यह जिला कुणिन्दो के प्रदेश मे था। औदुम्बर मुद्राओ पर पहली शताब्दी ई० पू० की ब्राह्मी और खरोष्ट्री लिपियों मे लेख पाये जाते हैं और इन पर निम्नलिखित शासको के नाम मिलते है—**शिवदास, रुद्रदास, महादेव, धरघोष** तथा **रुद्रवर्मा**। इनमे महादेव एक प्रतापी राजा था और उसने मथुरा के उत्तमदत्त का पराभव किया था। यह तथ्य हमे उत्तमदेव की ऐसी मुद्राओ से सूचित होता है जिन पर महादेव ने अपनी मुद्रा का चिन्ह पुनः अंकित किया है।

(**ख**) **कुणिन्द**—व्यास और यमुना नदी की उपरली घाटियो मे शिवालिक पर्वत-माला के साथ-साथ कुणिन्दो का राज्य था। इनकी मुद्राए कागड़ा जिले के ज्वालामुखी नामक स्थान से, हमीरपुर तहसील के टप्पामेवा से तथा लुधियाना जिले मे सुनेत से मिली हैं। बृहत्संहिता, विष्णुपुराण और महाभारत मे कुणिन्दो के इसी प्रदेश में बसे होने का वर्णन मिलता है। कुणिन्दो के सिक्को के लेख प्राकृत भाषा मे मिलते है। इनकी रजत मुद्राओ पर पुरोभाग मे ब्राह्मी मे तथा पृष्ठभाग मे खरोष्ट्री लिपि मे लेख पाये जाते है, किन्तु ताम्र-मुद्राओ पर केवल ब्राह्मी लिपि के ही लेख है। ताम्र मुद्राए प्रधान रूप से स्थानीय व्यवहार के लिये बनाई जाती थी, अत इन पर ब्राह्मी लिपि का एकमात्र प्रयोग यह सूचित करता है कि उन दिनो कुणिन्द राज्य मे इसी लिपि का प्रचलन था। रजत मुद्राए दूसरे देशों के साथ व्यापार के लिये बनाई जाती थी, अतः इन पर खरोष्ट्री लेख पाये जाते है, क्योकि उस समय उत्तर-पश्चिमी पंजाब मे इसी लिपि का प्रचलन था। एलन का यह मत है कि कुणिन्दो की रजत मुद्राए पिछले यूनानी राजाओ के अर्धद्रम्मों (Hemidrachms) के नमूने पर बनाई गई थी। यूनानी मुद्राओ का अनुकरण संभवत: पश्चिमी राज्यो के साथ व्यापार को सुविधाजनक बनाने की दृष्टि से किया जाता था। इन मुद्राओं पर पहली शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध मे शासन करने वाले एक राजा **अमोघभूति** का नाम मिलता है। इसके बाद कुणिन्दो के सिक्के मिलने बन्द हो जाते है। मथुरा के शको ने कुणिन्दो को इस समय पराभूत कर लिया था। दूसरी शताब्दी ई० की समाप्ति पर कुषाण साम्राज्य का विघटन होने पर कुणिन्द स्वतन्त्र हो गये और इनके सिक्के पुनः मिलने लगते हैं।

(ग) **त्रिगर्तः**—रावी और सतलज नदियो के बीच वर्तमान जालन्धर डिवीजन का प्रदेश प्राचीन काल मे त्रिगर्त कहलाता था। यहाँ के लोग प्राचीनकाल से अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध थे। पाणिनि ने अपने एक सूत्र (५।३।१६) मे इनका उल्लेख किया है। दूसरी शताब्दी ई० पू० मे इनके स्वतन्त्र गणराज्य की सत्ता इनकी एक मुद्रा से सूचित होती है जिस पर ब्राह्मी अक्षरो मे **त्रकत नपदस** का लेख है।

(घ) **यौधेय**—यह प्राचीन भारत की सुप्रसिद्ध वीर क्षत्रिय जाति थी। पाणिनि ने दो सूत्रो (४।१।१७६,५।३।११७) मे इनका उल्लेख किया है। ये लुधियाना, अम्बाला, करनाल, रोहतक और हिसार जिलो मे सतलुज तथा यमुना नदी के मध्यवर्ती प्रदेश मे रहा करते थे। इनकी प्राचीनतम मुद्राये दूसरी तथा पहली शताब्दी ई० पू० की हैं। इनसे यह सूचित होता है कि इस समय तक यौधेय स्वतन्त्र हो चुके थे। कुछ सिक्को पर **बहुधनके** (वहुधान्यके) का लेख है। इससे यह सूचित होता है कि उन दिनों यह गणराज्य धनधान्य की दृष्टि से बडा समृद्ध था। इनकी मुद्राए इस समूचे समय में मिलती है और इस बात को सूचित करती है कि उन्होने शको के हमलों का मुकाबला किया और अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखी। रोहतक के निकट खोखराकोट नामक स्थान से यौधेय मुद्राओ के साचे बडी मात्रा मे मिले है। हरयाणा मे भिवानी के समीप नौरंगाबाद नामक प्राचीन नगर से भी यौधेयो की "यौधेयाना बहुधान्यके" वाली मुद्राओ के ठप्पे (Moulds) बड़ी संख्या मे पिछले दिनो प्राप्त हुए है। ये ठप्पे अब गुरुकुल झज्जर (रोहतक) के पुरातत्त्व सग्रहालय मे सुरक्षित है। यह स्थान खोखराकोट से केवल २०–२५ मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है। इतने निकट के दो स्थानों पर इन साचो का मिलना बडा विस्मयजनक है। ये साचे ई० सन् के आरम्भ के है। इनसे यह ज्ञात होता है कि पहली शताब्दी मे ये दोनो स्थान यौधेय गणराज्य के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। कुषाणो के विदेशी शासन की पराधीनता से भारत को मुक्त कराने के सराहनीय प्रयास मे यौधेयो ने महत्वपूर्ण भाग लिया। उसका उल्लेख आगे छठे अध्याय मे किया जायगा।

(ङ) **अगस्त्य**—यौधेयो के निकट इनके पश्चिम मे एक अन्य गणराज्य था। इसकी राजधानी अग्रोदक थी। इस स्थान की पहचान पजाब के हिसार जिले के अगरोहा नामक स्थान से की गई है। यहाँ के सिक्को पर प्राकृत मे अगाच का लेख मिलता है, यह समवत सस्कृत के अगस्त्य या अगत्य का प्राकृत रूपान्तर है। कुछ विद्वानों ने इसे सस्कृत के आग्रेय शब्द से निकालने का प्रयत्न किया है।

कलिंग के महामेघवाहन

कलिंग पूर्वी भारत का एक महत्वपूर्ण राज्य था।[1] अशोक ने अपने शासनकाल के आठवें वर्ष में एक भीषण एवं रक्तरंजित युद्ध के बाद कलिंग को जीत कर मौर्य साम्राज्य में मिलाया था। किन्तु उसके निर्बल उत्तराधिकारी इस सुदूरवर्ती प्रान्त को देर तक अपने अधिकार मे न रख सके। प्लिनी ने प्रथम श० ई० में इसके सम्बन्ध मे लिखा था—"कलिंग नामक जन-जातियाँ समुद्र-तट के निकटतम भाग में रहती हैं, इनकी राजधानी पार्थलिस (Parthalis) सभवत **तोसली** का विकृत रूपान्तर है। इनके राजा के पास ६० हजार पैदल सैनिक, १००० घुड़-सवार और ७०० हाथी हैं।" हमे यह ज्ञात नही है कि प्लिनी ने यह वर्णन किस आधार पर लिखा है, किन्तु इस मे कोई सन्देह नही कि अशोक के बाद कलिग पर चेदिवशी महामेघवाहनो की शक्तिशाली प्रभुता स्थापित हुई। चेदिवश का वर्णन पुराणो और महाभारत मे मिलता है। ये लोग ऐल अथवा चन्द्रवश के थे। आधुनिक बुन्देलखण्ड इनका मूल स्थान होने से चेदिप्रदेश कहलाता था। सभवतः बुन्देलखण्ड से दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ) होते हुए चेदिवशी राजा कलिग पहुँचे थे। उड़ीसा मे एक ऐसी अनुश्रुति है कि ऐलवंश पहले कोसल से ही खण्डगिरि (धौली) मे आया था।[2]

हमे इस बात का ज्ञान नही है कि अशोक के बाद चेदिवश ने कलिग में अपनी शासन-सत्ता का विस्तार किस प्रकार किया, किन्तु आगे बताये जाने वाले खार-

---

१. कलिंग की राजनीतिक सीमायें बदलती रही है। सामान्य रूप से इसे कई बार गंगा के मुहाने से गोदावरी के मुहाने तक का समुद्रतटीय प्रदेश समझा जाता था। विशेष रूप से, इसमें पुरी, कटक तथा गंजाम के जिले सम्मिलित थे। मौर्यों के समय कलिंग राजनीतिक दृष्टि से दो हिस्सों में बँटा हुआ था, एक की राजधानी तोसली (भुवनेश्वर के निकट धौली) तथा दूसरे की समापा (जौगढ़, जि० गंजाम) थी। खारवेल के समय में इसमें पुरी, कटक, गजाम जिलों के अतिरिक्त विजगापट्टम जिले का कुछ भाग सम्मिलित था। कालिदास ने रघुवंश में कटक और पुरी जिलों के लिये उत्कल शब्द का प्रयोग करते हुए कलिंग नरेश को गंजाम जिले के महेन्द्र पर्वत का स्वामी बताया है। पांचवीं श० ई० के एक अभिलेख में महानदी से कृष्णा नदी के बीच के प्रदेश को कलिंग कहा गया है। वि० ज्यो० ए० मि० ई० पृ० ८४।

२. ज० बि० ओ० रि० सो० १६१७ पृ० ४८२।

वेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से यह प्रकट होता है कि ये आर्य राजा थे, यहाँ इनके वंश का प्रवर्तक महामेघवाहन नामक राजा था। खारवेल इससे तीसरी पीढ़ी में हुआ। किन्तु यह बात निश्चित रूप से कहना कठिन है कि खारवेल महामेघवाहन का पोता था। उदयगिरि पर्वत की मंचपुरी गुहा की निचली मजिल आर्य महामेघवाहन वशी कलिग नरेश वक्रदेव ने खुदवाई थी।[1] इस गुहा की उपरली मजिल इस वंश के तीसरे राजा खारवेल की पटरानी ने उत्कीर्ण करायी थी। निचली मजिल को यदि उपरली मजिल से बाद का माना जाय तो यह मानना असभव नहीं होगा कि महामेघवाहन के बाद इसकी दूसरी पीढी मे वक्रदेव हुआ और उसका पुत्र कलिग का प्रतापी राजा खारवेल था।

राजा खारवेल का एक अभिलेख अशोकोत्तर ब्राह्मी लिपि मे पुरी जिले के भुवनेश्वर नामक स्थान से ३ मील की दूरी पर उदयगिरि पहाड़ी की एक गुहा (हाथीगुम्फा) से मिला है। इससे यह प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के बाद महामेघवाहन ने कलिग को मौर्यों के प्रभाव से मुक्त करते हुए एक स्वतन्त्र वश की स्थापना की। इस वश को हाथीगुम्फा लेख मे चेति (चेदि) कहा गया है और खारवेल को सुप्रसिद्ध चन्द्रवश का तथा राजर्षि वसु का वशज बताया गया है। यह समवत· कुरु के पुत्र सुधन्वा की चौथी पीढ़ी मे होने वाला तथा चेदिदेश के विजेता हो जाने के कारण चैद्योपरिचर वसु नामक राजा ही है। खारवेल के इतिहास का प्रधान साधन हाथीगुम्फा अभिलेख है। इसकी तिथि का प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। आगे इस पर प्रकाश डाला जायगा। श्री काशीप्रसाद जायसवाल तथा स्टेन कोनो इस अभिलेख का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्घ मानते है। किन्तु श्री हेमचन्द्रराय चौधरी, श्री रमाप्रसाद चन्दा तथा श्री बेनीमाधव बरुआ इसका समय २५ ई० पू० समझते है। लिपिशास्त्र के आधार पर इस अभिलेख को दूसरी श० ई० पू० का और पहली श० ई० पू० से बाद का नही माना जा सकता है। श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने इसे पहली शताब्दी ई० पू० का ही माना है। इस अभिलेख में खारवेल के व्यक्तित्व और शासनकाल की घटनाओ का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसकी एक विशेषता यह है कि इसमे खारवेल के शासन के समय मे प्रतिवर्ष की घटनाओ का, उसके आक्रमणो और प्रजाहित के लिये किये गये कार्यों का वर्णन किया गया है। इस अभिलेख के कुछ पाठो के बारे मे विद्वानो मे प्रबल

---

१. इ० हि० प्र० खं० १४ पृ० १५६, इस राजा के नाम को वकदेव, कुदेप या कदम्प भी पढ़ा गया है।

मतभेद है। इससे खारवेल के विषय मे निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य मालूम पड़ते है।

कलिगाधिपति खारवेल ने अपने इस अभिलेख का आरम्भ अर्हतो और सिद्धों के प्रति प्रणाम से किया है। खारवेल का जन्म चेदिराज वंश मे हुआ था। बचपन में उसे उन सब विषयो की शिक्षा दी गई थी जिन विषयो का ज्ञान प्राप्त करना उस समय के राजकुमारो के लिये आवश्यक समझा जाता था। ये विषय निम्नलिखित थे—लेखनकला तथा मुद्राओ का ज्ञान (रूप), हिसाब-किताब एव लेखा, कानूनी व्यवहार और प्रशासन। अपने जीवन के पहले वर्ष उसने खेलकूद मे तथा इन विद्याओं में प्रवीणता पाने मे बिताये। १५ वर्ष की अवस्था मे वह युवराज नियुक्त हुआ। युवराज रहते हुए उसने ९ वर्ष तक शासन-कार्य मे भाग लिया। २४ वर्ष की आयु होने पर कलिग के महाराज के रूप मे उसका राज्याभिषेक किया गया। उसने **कलिंगाधिपति कलिग चक्रवर्ती** की उपाधियाँ धारण की। इसी समय सभवत उसने ललाक वंश के राजा हस्तिसिंह के प्रपौत्र की कन्या से विवाह किया। खारवेल जैनधर्म का परम भक्त था। उसने अपने को भिक्षुराज कहा है। किन्तु जैन होते हुए भी वह अशोक की भांति सभी धार्मिक सम्प्रदायो का स मान करता था। अपने शासनकाल के प्रथम वर्ष मे उसने एक तूफान से नष्ट हुई अपनी राजधानी कलिगनगर मे विभिन्न प्रकार की मरम्मत (प्रतिसंस्कार) के कार्य किये। इस तूफान से राजधानी के प्रमुख द्वार और प्राचीर टूट गये थे, उसने इन्हें ठीक करवाया। राजधानी को सुन्दर बनाने के लिये खारवेल ने शीतल जल वाले और सीढियो से युक्त जलाशयों का निर्माण किया, उद्यान बनवाये। इसके बाद ३५ लाख मुद्राएं खर्च करके उसने जनता के मनोविनोद का प्रबन्ध करवाया। इस प्रकार **प्रथम वर्ष** मे उसने अपने अगले वर्षों के लिये आवश्यक सैनिक तैयारी करते हुए भी जनता को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयास किया। अपने शासन के **दूसरे वर्ष** में उसने सातवाहन राजा शातकर्णि को नगण्य समझते हुए (अगणयित्वा) अपनी एक विशाल सेना पश्चिम दिशा मे भेजी। यह सेना **कन्हवेणा** नदी तक पहुँच गई और इसने **असिक** नगर को आतंकित किया। इस नदी और नगर की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे प्रबल मतभेद है। श्री रैप्सन और बरुआ का यह मत है कि यहाँ कन्हवेणा नदी वैनगंगा और उसकी सहायक नदी कन्हन को सूचित करती है। किन्तु जायसवाल इसे कृष्णा नदी मानते है। इसी प्रकार श्री जायसवाल यहाँ असिक के स्थान पर मुसिक का पाठ मानते है और इस नगर को कृष्णा तथा मूसी नदियो के सगम का समीपवर्ती समझते हैं। इस प्रकरण में खारवेल की सेना के शातकर्णि के साथ संघर्ष का कोई उल्लेख नही है, इससे यह

प्रतीत होता है कि दोनों राजाओ में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे और खारवेल की सेना शातकर्णि के राज्य में से होती हुई कृष्णा नदी पर असिक या मुसिक नगर तक चली गई।

इसके बाद अपने शासन के **चौथे वर्ष** खारवेल ने **भोजकों और रठिकों** पर **आक्रमण** किया। भोजक नगर का शासन करने वाले बड़े सरदार थे और रठिक पूर्वी खानदेश और अहमदनगर के मराठी भाषाभाषी प्रदेशो के सरदार थे। उसने इन्हें युद्ध मे परास्त करते हुए अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। इस युद्ध के प्रसंग मे विद्याधरो की राजधानी (**विजाधराधिवास**) का उल्लेख किया गया है। गुप्तवशी कुमारगुप्त के समय के मथुरा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि विद्याधर जैनियो की एक शाखा थी। सभवत: जैन धर्मावलम्बी खारवेल ने विद्याधर सम्प्रदाय के जैनियों की सुरक्षा के लिये ही यह आक्रमण किया था। इस लेख मे विद्याधरो की एक राजधानी का वर्णन है, शायद यह स्थान जैनियो का एक बडा तीर्थ था। इसे भोजको और रठिको से कुछ खतरा पैदा हो गया था, कट्टर जैन होने के कारण खारवेल इस तीर्थ की रक्षा करना अपना पवित्र कर्त्तव्य और विशेष उत्तरदायित्व समझता था।

अपने शासन के पाचवे वर्ष मे उसने **तनसुलि** नामक स्थान से अपनी राजधानी तक एक नहर का जीर्णोद्धार कराया। इस नहर को नन्दराज ने ३०० वर्ष पहले (नन्दराज सिनस सत आ .   ) बनवाया था। अभिलेख मे वर्णित इस नन्द राजा के सम्बन्ध मे ऐतिहासिको में तीव्र मतभेद है कि क्या यह मगध का सुप्रसिद्ध महापद्मनन्द था अथवा कलिंग का कोई पुराना राजा था। इसके बाद खारवेल ने प्रजा को सुखी रखने के लिये अनेक कार्य किये। उसने राजधानी मे रहने वाले लोगो को अनेक प्रकार की सुविधाए दी तथा ग्रामीण जनता के कल्याण के लिये करों मे छूट दी। इन कार्यों के लिये राजकोष से कई लाख मुद्राए व्यय की गई। श्री जायसवाल ने इसी प्रसग मे खारवेल द्वारा राजसूय यज्ञ के करने का वर्णन किया है, किन्तु श्री बरुआ यहाँ **राजसूय** के स्थान पर **राजसिक्यं** (अर्थात् राज्यश्री या उस की समृद्धि को बढ़ाना) का पाठ शुद्ध मानते हैं।

दक्षिण मे विजय प्राप्त करने तथा अपनी स्थिति सुदृढ करने के बाद अपने शासन के **आठवें** वर्ष मे उसने उत्तर भारत की ओर ध्यान दिया और इस प्रदेश पर पहला आक्रमण किया। उस की सेनाएं गया जिले मे बराबर की पहाड़ियो (गोरथगिरि) से होकर गुजरी, उन्होने यहाँ के दुर्गों को नष्ट किया और इसके बाद राजगृह पर घेरा डाला। इस दुष्कर कर्म के करने से उसकी कीर्ति चारो ओर फैल गई। एक

यूनानी राजा उसकी सेना के आगमन के डर से भयभीत होकर मथुरा भाग गया। कुछ ऐतिहासिको के मतानुसार यह विजेता **डिमेट्रियस** था। वह बैक्ट्रिया में यूक्रेटाइडीज के आक्रमण से भयभीत होकर वापिस लौट गया। इस मत का आधार **डिमित** शब्द का पाठ है। वस्तुत यहाँ यवनराज का शब्द स्पष्ट है, किन्तु डिमित या दिमित का पाठ सदिग्ध है। श्री दिनेशचन्द्र सरकार का मत है कि यदि यहाँ दिमित के पाठ को सही मान लिया जाय तो भी यह यूनानी राजा दूसरी ई० पू० के पूर्वार्द्ध मे होने वाला डेमेट्रियस नही हो सकता, क्योकि खारवेल के इस लेख को पहली शताब्दी ई० पू० का समझा जाता है। यह सभवत मथुरा का कोई अन्य यूनानी राजा होगा।

अपने शासन के **दसवें** वर्ष मे खारवेल ने भारतवर्ष पर अर्थात् उत्तरी भारत पर दूसरी बार आक्रमण किया, किन्तु इसमे उसे कोई बडी सफलता नही मिली। अगले वर्ष उसने अपनी सेनाओ का मुह दक्षिण की ओर मोड दिया और **पीथुन्ड** नामक राजा की राजधानी को जीत कर वहाँ "गधो से हल चलवा दिया" (पीथुड गदभ नगलेन कासयति, गर्दभलागलेन कर्षयति)। यह स्थान टाल्मी द्वारा वर्णित पितुन्द्र नामक स्थान है जो आध्र के मछलीपट्टन प्रदेश मे अवस्थित राज्य की राजधानी थी। इसी वर्ष उसने तमिल देश के राजाओ के एक सघ (**त्रमिरदेशसंघात**) की शक्ति को भग किया।

उत्तर भारत पर दो बार आक्रमण करने के बाद भी उसे सतुष्टि न हुई थी। अत अपने शासनकाल के **बारहवे** वर्ष मे उसने पुन उत्तरापथ के राजाओं पर चढाई की, मगधवासियो के हृदय मे भय उत्पन्न कर दिया। अपने हाथियो और घोडो को गगा नदी का पानी पिलाया (हथस गगाय पाययति)।[1] मगध का राजा बृहस्पति उसकी चरणवन्दना करने के लिये विवश हुआ। मगध की विशाल लूटपाट के साथ वह स्वदेश लौटा। इस समय वह एक ऐसी जैनमूर्ति भी ले गया जिसे ३०० वर्ष पहले राजा नन्द कलिग से छीन कर ले गया था।[2] इसी वर्ष पाण्डच देश के राजा को भी सभवत उसने हराया तथा इस राजा ने उसे बहुमूल्य मुक्ता-मणियो और रत्नो के हार भेजे।

---

१. श्री जायसवाल यहाँ हथीसुगगीय का पाठ मानते हैं। उनके मतानुसार यहाँ मुद्राराक्षस में वर्णित मौर्यों के गंगातट पर बने राजमहल सुगांग पर खारवेल के अधिकार का वर्णन है। यह अर्थ जायसवाल के पाठ के अनुसार किया गया है।

२. जायसवाल ने यहाँ 'कलिगजिन' अर्थात् कलिंग देश की जैन मूर्ति का पाठ माना है, किन्तु बरुआ ने 'कलिंगजिन' के स्थान पर 'कलिंगजन' का पाठ मानते हुए इसका अर्थ कलिंग की प्रजा किया है।

खारवेल सदैव अपनी प्रजा के कल्याण तथा हितचिन्ता मे लगा रहता था। उसने प्रजा की सुख-सुविधा के लिये लाखों रुपया व्यय किया। वह संगीतशास्त्र का उत्तम ज्ञाता (**गंधर्ववेदबुधः**) था। जनता के मनोविनोद के लिये वह मल्लयुद्धो (खव) का तथा नृत्यो और संगीत-गोष्ठियो का अपनी राजधानी मे आयोजन किया करता था। उसने सिंचाई के लिये ३०० वर्ष पुरानी एक नहर का जीर्णोद्धार करवाया। अपने निवास के लिये महाविजयप्रासाद नामक भव्य भवन का उसने निर्माण कराया था।

खारवेल जैन धर्म का परम भक्त था। उसने तथा उसकी रानी ने जैन धर्म को प्रबल सरक्षण प्रदान किया था। जैन साधुओं को उदारतापूर्वक अनेक प्रकार के दान दिये, उनके सुखपूर्वक निवास के लिये गुहाए बनवाई, उन्हें रेशमी वस्त्र प्रदान किये। उनके खान-पान के लिये सुचारु व्यवस्था की। हाथीगुम्फा अभिलेख का प्रधान प्रयोजन यह था कि कुमारी पर्वत (उदयगिरि) के शिखर पर भिक्षुओ के निवास-गृह बनवाने का तथा जैन साधुओं की सभाओ के लिये एक विशाल मण्डप बनाने का उल्लेख किया जाय। यह मूर्तियो के चौसट चौखटो से अलकृत किया गया था। इसके बनवाने मे राजा ने ७५ लाख मुद्राए व्यय की थी। जैन धर्म का परम भक्त होते हुए भी वह अशोक की तरह अन्य धार्मिक सप्रदायो के प्रति सहिष्णुता की नीति रखता था। इसी-लिये उपर्युक्त लेख मे उसको सभी सम्प्रदायों के प्रति समान दृष्टि रखने वाला (सर्वपार्षदपूजक) अर्थात् सब धार्मिक मतों का आदर करने वाला तथा सब सम्प्रदायो के देवालयों की मरम्मत करवाने वाला (**सबदेवायतनसकारकारको, सर्वदेवायतनप्रति-संस्कारकारक**) कहा गया है।

खारवेल का अभ्युत्थान एक अत्यन्त भास्वर धूमकेतु की भाति था। वह अपनी विजयो और कार्यों से बिजली की चमक की भाति हमारी दृष्टि को चौधिया कर क्षण भर में ही लुप्त हो जाता है। हमे उससे पहले या बाद के राजाओं की प्रामाणिक जानकारी नहीं है। इसमे कोई सन्देह नही कि वह अपने युग का एक प्रतापी राजा था, उसे हाथी-गुम्फा अभिलेख मे कभी न पराजित होने वाली सेना और राज्य से सम्पन्न (**अपतिहत चक्रवाहनबलो**) बताया गया है। उसकी रानी ने अभिलेख मे उसे कलिंगचक्रवर्ती कहा है। संभवत उसने महाविजय की उपाधि धारण की थी। इसमे कोई सन्देह नही कि वह विलक्षण प्रतिभा रखने वाला सैनिक नेता और प्रजावत्सल शासक था। उसके समय में कलिग देश अपनी कीर्ति और वैभव के चरम शिखर पर पहुंच गया।

खारवेल की तिथि—यह भारतीय इतिहास का एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न है। श्री जायसवाल, स्टेन कोनो, डुब्रेउइल आदि पुराने ऐतिहासिक इसका समय कई कारणो

के आधार पर दूसरी शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्द्ध समझते थे। **पहला** कारण खारवेल के अभिलेख की १२वी पंक्ति मे वर्णित बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र से अभिन्न समझना था। पुष्यमित्र का काल १८५ से १४८ ई० पूर्व है, अतः खारवेल को इसका समकालीन माना जाता था। किन्तु पहले यह बताया जा चुका है कि बृहस्पतिमित्र को ज्योतिष के आधार पर पुष्यमित्र मानना युक्तियुक्त नही है। श्री दिनेशचन्द्र सरकार बहमतिमित्र का सस्कृत रूपान्तर बृहस्पतिमित्र नही किन्तु बृहत्स्वातिमित्र समझते है तथा इसे पभोसा अभिलेखो मे वर्णित पहली श० ई० पू० मे होने वाले आषाढसेन का मानजा तथा मथुरा के निकट पाये गये मोरा अभिलेख मे वर्णित यशोमती का पिता समझते है। वे इसका कोई भी सम्बन्ध पुष्यमित्र से नही मानते है। अतः इसके आधार पर खारवेल को दूसरी श० ई० पू० के पूर्वार्द्ध का मानने का मत ठीक नही समझते है। **दूसरा** कारण श्री दुउ ब्रेइल के मतानुसार इस अभिलेख की १६वी पंक्ति में मौर्य संवत् का निर्देश है। इस पंक्ति का पाठ इनके मतानुसार **मुरियकल-वोछिन** है। इससे पहले इनके तथा जायसवाल के मतानुसार **पान तरीय सतसह सेठि** का पाठ है, इन दोनो को मिलाकर ये विद्वान् इस पंक्ति का अर्थ मौर्यकाल का १६५वा वर्ष करते है। पुराने पुरातत्वज्ञ प्रिन्सेप, भगवान इन्द्रजी, स्टेन कोनो ने यहाँ मुरिय (मौर्य) का पाठ माना था, अतः इसके आधार पर इसे मौर्य के साथ सम्बद्ध करना सर्वथा स्वाभाविक था। किन्तु आधुनिक विद्वान् श्री बरुआ तथा दिनेश-चन्द्र सरकार इसमे सही पाठ **मुरियकल** (मौर्यकाल) नही, अपितु **मुखियकल वोछिनं** (मुख्यकलावच्छिन्न) अर्थात् गीत-नृत्य-वादन आदि मुख्य ललित कलाओं से युक्त करते है और इससे पहले **पान तरीय** के शब्दो का सम्बन्ध इससे नही किन्तु पिछले वाक्य से मानते है। इस प्रकार इनके मतानुसार इसमे मौर्यकाल के किसी संवत् का कोई निर्देश नही है। इनके मत के अनुसार उपर्युक्त भ्रान्तिपूर्ण पाठ के आधार पर खारवेल की तिथि निश्चित नही की जा सकती है।

तीसरा कारण इस लेख में वर्णित यवनराज दिमित को १९० से १६५ ई० पू० मे शासन करने वाले हिन्द-यूनानी राजा डेमेट्रियस से अभिन्न तथा समकालीन समझना था। पहले यह बताया जा चुका है कि हाथीगुम्फा के अभिलेख मे दिमित का पाठ बहुत ही सदिग्ध है और इसके आधार पर खारवेल की तिथि को निश्चित नही किया जा सकता है।

इस समय खारवेल की तिथि कई युक्तियों के आधार पर पहली शताब्दी ई० पू० मानी जाती है। पहली युक्ति लिपिशास्त्र की है। हाथीगुम्फा अभिलेख की

लिपि हेलियोडोरस के बेसनगर स्तम्भ लेख की लिपि से निश्चित रूप से बाद की है। बेसनगर अभिलेख का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। इसके अतिरिक्त हाथीगुम्फा अभिलेख की लिपि को नानाघाट के अभिलेखो की लिपि से भी अर्वाचीन समझा जाता है। श्री चन्दा के मतानुसार नानाघाट के लेखो की लिपि पहली शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध से पहले की नही हो सकती है, क्योकि इसमे व, प द, च के अक्षरो के चिन्ह अशोककाल की लिपि से परवर्ती विकास को एव त्रिकोणाकार होने की प्रवृत्ति को सूचित करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हाथीगुम्फा अभिलेख पहली श० ई० के नानाघाट के लेखो के बाद का है। अत हाथीगुम्फा अभिलेख का समय इसके बाद पहली शती ई० पू० का समझा जाता है। इस अभिलेख की छठी पक्ति इस प्रकार है--**पंचमे च दानी वसे नंदराज तिवससत ओघाटित तनमुलियवाटा पणाडि नगरं पवेसयति**, अर्थात् राजा ने अपने शासनकाल के पाँचवे वर्ष मे उस नहर को राजधानी तक पहुँचाया जिसे नन्द राजा ने ३०० वर्ष पहले खुदवाया था। यहाँ **तिव-ससत** (त्रिवर्ष शत) का अर्थ अब तक सभी विद्वान् तीन सौ वर्ष समझते है। किन्तु जायसवाल ने नन्दराज का अर्थ नन्दिवर्धन किया है ताकि खारवेल पुष्यमित्र का सम-कालीन हो सके। इस मत मे बडी आपत्ति यह है कि नन्दिवर्धन शिशुनागवशी राजा था, कलिंग के साथ उसका कोई सम्बन्ध न था, अत अधिकाश विद्वान् नन्दराज को महापद्मनन्द समझते है। यह नन्दवश का राजा है, इस वश का उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त ने ३२२ ई० पू० मे मौर्यवश की स्थापना की। पुराणो के मतानुसार महापद्म के बाद उसके आठ पुत्रो ने १२ वर्ष तक शासन किया। अत महापद्म का समय कम से कम ३२२+१२=३३४ ई० पू० होगा। अत नन्दराज के ३०० वर्ष बाद नहर के जीर्णोद्धार की घटना ३४ ई० पू० मे हुई होगी। इस प्रकार खारवेल का राज्य पहली श० ई० पू० ही बैठता है। इसका समर्थन इस अभिलेख की काव्यशैली से भी होता है। मूर्तिकला की साक्षी भी इसी तिथि को पुष्ट करती है। यहाँ मचपुरी गुहा मे खोदी गई मूर्तियो की कला शुंग युग मे बनाये गए भारहुत के स्तूप की मूर्तियो से काफी बाद की प्रतीत होती है। **तीसरी** युक्ति उपर्युक्त अभिलेख मे नन्द-राज के द्वारा ३०० वर्ष पहले बनवाई नहर के जीर्णोद्धार की है। श्री नगेन्द्रनाथ घोष के मतानुसार ३०० की संख्या को बिलकुल शाब्दिक अर्थ मे न लेते हुए इसमे १४, १५ वर्ष जोडने चाहिये। अतः नहर १९ ई० पू० मे बनी होगी। इस समय खारवेल को गद्दी पर बैठे ५ वर्ष हो चुके थे। वह चौबीस वर्ष की आयु में राजगद्दी पर बैठा था, अतः इस समय उसकी आयु २९ वर्ष की होगी। अत १९ ई० पू० को आधार मानते हुए खारवेल का तिथिक्रम निम्नलिखित रूप मे निश्चित किया जा सकता है--

(क) जन्मकाल १९ + २९ = ४८ ई० पू०
(ख) युवराज बनना ४८ – १५ = ३३ ई० पू०
(ग) राज्यारोहण ४८ – २४ = २४ ई० पू०

इसके अनुसार खारवेल को नन्द के ३०० वर्ष बाद होना चाहिये। नन्द राजा चौथी शताब्दी ई० पू० में शासन करते थे। इनके ३०० वर्ष बाद खारवेल का काल पहली श० ई० पू० ही समुचित प्रतीत होता है। **चौथी** युक्ति खारवेल द्वारा महाराज की उपाधि का प्रयोग है। महाराजाधिराज की भाति यह उपाधि भारत में विदेशी शासकों ने लोकप्रिय बनाई थी। इसका सर्वप्रथम प्रयोग हिन्द-यूनानी राजाओ ने दूसरी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध मे किया था। कलिंग भारत के पूर्वी तट पर था और यहाँ विदेशी प्रभाव पहुँचने मे काफी समय लग जाता था। इस दृष्टि से भी खारवेल का समय पहली श० ई० पू० ही मानना उचित प्रतीत होता है।

खारवेल के बाद महामेघवाहन वश का इतिहास अज्ञात है। उदयगिरि पर्वत मे वडरव नामक राजकुमार द्वारा एक-दो गुहाए खुदवाने का वर्णन मिलता है। किन्तु हमे यह पता नही है कि यह खारवेल का पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। ऐसा प्रतीत होता है कि खारवेल के बाद कलिग अनेक छोटे राज्यो मे बट गया और राजनीतिक दृष्टि से इसका कोई महत्व नही रहा। किन्तु इस देश की जनता ने समुद्र पार के देशों मे भारतीय सस्कृति का प्रसार करने मे बडा गौरवपूर्ण भाग लिया। यद्यपि पेरिप्लस द्वारा लगभग ७०–८० ई० मे लिखे गए वर्णन मे कलिग के राज्य का कोई वर्णन नही है, किन्तु टालमी ने कलिग के एक ऐसे नगर का उल्लेख किया है जहाँ से जहाज समुद्र-तट को छोडकर खुले समुद्र के लिये रवाना हुआ करते थे। इस नगर को पलोरा कहते है। यह वर्तमान चिकाकोल के निकट है। यहाँ से समुद्रयात्रा करने वाले कलिंग-वासियो ने दक्षिण-पूर्वी एशिया मे भारतीय सस्कृति का प्रसार किया था। अन्तिम अध्याय मे कलिगवासियो द्वारा बृहत्तर भारत के निर्माण के कार्य का उल्लेख किया जायगा।

तीसरा अध्याय

यवनों के आक्रमण तथा हिन्द-यूनानी राज्य

मौर्योत्तर युग के इतिहास की एक बडी विशेषता इस देश पर यूनानियों के हमले थे। भारत पर पहला यूनानी आक्रमण सिकन्दर ने किया था, किन्तु भारतीय इतिहास पर उसका कोई बडा प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडा। अत: भारतीय साहित्य मे उसका कोई उल्लेख नही मिलता है। फिर भी इस हमले का अप्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि इससे भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर अफगानिस्तान के उत्तरी भाग बल्ख के प्रदेश में बैक्ट्रिया (ई० बाख्त्री, सं० बाल्हीक) में यूनानी राज्य स्थापित हो गया और मौर्य साम्राज्य के पिछले निर्बल राजाओ के समय मे यहाँ के यूनानी राजाओं ने भारत पर हमले करने शुरू कर दिये। कुछ समय पश्चात् उन्होने पश्चिमोत्तर भारत मे यूनानी राज्य स्थापित किये, अत: इन्हें हिन्द-यूनानी (Indo Greek) राज्य कहा जाता है। यूनानियो का यह दूसरा आक्रमण पहले आक्रमण की अपेक्षा भारतीय इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। इस आक्रमण के परिणाम-स्वरूप भारत में न केवल यूनानियो का, अपितु अन्य अनेक विदेशी जातियो—शकों, पहलवो और कुषाणो का प्रवेश हुआ। ईसा से पहले की और बाद की शताब्दियों मे उत्तर-पश्चिमी भारत के बहुत बडे भाग पर इनका शासन स्थापित हुआ। तीन-चार शताब्दी तक भारत का यह भाग विदेशी शासन की दासता में बना रहा। किन्तु ये आक्रान्ता बाहर से आने वाले कोई विदेशी विजेता नही थे। कुछ समय बाद वे इसी देश के निवासी बन गये, वे यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को अपना-कर भारतीयो. मे इतने अधिक घुल-मिल गये कि उनकी कोई पृथक् सत्ता न रही। इन विदेशी आक्रान्ताओ मे केवल यूनानी ही अत्यन्त सुसंस्कृत और सभ्य थे। किन्तु वे भी यहाँ के प्रदेश को जीतने के बाद भारतीय संस्कृति का अनुसरण करने लगे और भारतीय तथा यूनानी संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करने लगी।

यवनों के साथ सम्पर्क—यवनो के साथ भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना था। भारतीय साहित्य में यवन शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से विदेशियो के वाचक म्लेच्छ शब्द के पर्याय के रूप मे किया जाता है, किन्तु आरम्भ मे इसका प्रयोग केवल यूनानियों के लिये किया जाता था। संभवत. यह शब्द भारतीयों ने ईरानियो

के माध्यम से ग्रहण किया था। पुरानी ईरानी भाषा में आयोनियन यूनानियो (Ionian Greeks) के लिये और बाद मे सभी यूनानियो के लिये यौन (yauna) शब्द का प्रयोग होता था। इसी से संस्कृत का यवन और प्राकृत का योन शब्द निकला प्रतीत होता है। पाणिनि ने पाँचवी शताब्दी ई० पू० में अष्टाध्यायी (४।१।४९) मे यवनो की लिपि **यवनानी** का निर्देश किया है। ईरानी सम्राट दारा प्रथम (५२२-४८६ ई० पू०) के समय से भारतीय और यूनानी एक दूसरे के साथ सपर्क मे आने लगे, क्योकि उसके साम्राज्य के पश्चिमी भाग मे यूनानी रहते थे और पूर्व मे उसके साम्राज्य की सीमा सिन्धु नदी थी। एक ही साम्राज्य के प्रजाजन होने के कारण दोनो एक दूसरे के सम्पर्क मे आने लगे। छठी शताब्दी ई० पू० के अन्त मे दारा ने अपने सेनापति स्काइलैक्स (Scylax of Caryanda) को पजाब की नदियो से ईरान तक का रास्ता ढूढने के लिये भेजा था। ४७९ ई०पू० मे प्लेटिया (Plataea) मे ईरानियो और यूनानियो मे जो सुप्रसिद्ध युद्ध हुआ था उसमे भारतीय धनुर्धरो की सेना ने भी भाग लिया था। इस समय अनेक यूनानी और भारतीय अधिकारी सभवत: ईरानी सम्राटो की सेवा करते हुए एक दूसरे के साथ सपर्क मे आने लगे थे। व्यापार द्वारा इस सम्पर्क मे वृद्धि होने लगी।

३२७ से ३२५ ई० पू० मे सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिमी भारत की विजय की। उसने अपने नाम से विभिन्न स्थानो पर सिकन्दरिया नामक कई नगरो की स्थापना की। इनमे चरीकर के निकट की सिकन्दरिया (Alexandria sub-caucasum), कन्धार के निकट की सिकन्दरिया, चनाब और सिन्धु नदी के सगम के निकट की सिकन्दरिया प्रसिद्ध है। ये उसके आक्रमणो को सफल बनाने के लिये तथा सेना के पृष्ट भाग को सुरक्षित रखने के लिये बनाई गई सैनिक छावनियाँ थी। इनमे अनेक यूनानी सैनिक रहा करते थे। इस प्रकार के इन सैनिक अड्डो द्वारा भारत-भूमि मे सर्वप्रथम यूनानी लोगो का बसना शुरू हुआ।

यद्यपि इतिहास मे सिकन्दर को उसके आक्रमणों के कारण बड़ी प्रसिद्धि मिली है, किन्तु भारतीय इतिहास की दृष्टि से इसका प्रभाव परवर्ती यूनानी आक्रमणों की तुलना मे नगण्य सा प्रतीत होता है। सिकन्दर के वापिस लौटते ही उसके द्वारा जीते गये लगभग सभी भारतीय प्रदेश स्वतन्त्र हो गये। जब ३०५ ई० पू० मे सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने इन प्रदेशो को चन्द्रगुप्त मौर्य से छीनना चाहा तो वह इसमे सफल न हो सका। उसे चन्द्रगुप्त से सन्धि करने के लिये बाधित

होना पड़ा, उसने हिरात, कन्धार और काबुल की राजधानियो वाले तीन प्रान्त—एरिया (Aria), आर्कोसिया (Arachosia) तथा परौपेमिसदी (Paropamisadae) अर्थात् काबुल-घाटी के प्रदेश चन्द्रगुप्त को प्रदान किये। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य की सीमा हिन्दूकुश पर्वतमाला बन गई, इसके उत्तर मे बैक्ट्रिया का यूनानी राज्य सिकन्दर के उत्तराधिकारी के पास बना रहा। मौर्योत्तर युग मे भारत पर यूनानी आक्रमण इसी राज्य से होते रहे, अत. इसकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होना आवश्यक है।

बैक्ट्रिया का राज्य—भौगोलिक स्थिति और महत्व

हिन्दूकुश पर्वतमाला के उत्तर मे आक्सस अथवा आमू (वंक्षु) नदी की उपजाऊ घाटी मे बैक्ट्रिया (बाख्त्री) का राज्य बसा हुआ था। इसकी सीमाए दक्षिण और पूर्व मे हिन्दूकुश पर्वतमाला, उत्तर मे वक्षु नदी, पश्चिम मे एरिया और मार्गियाना अर्थात् हिरात और मर्व के प्रदेश थे। बैक्ट्रिया की राजधानी बैक्ट्रा (प्राचीन ईरानी बाख्त्री या बख्त्री, वर्तमान बलख)[1] थी। यह अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण असाधारण महत्व रखती थी। यहाँ पश्चिमी जगत से चीन और भारत जाने वाले अनेक व्यापारिक मार्गों का संगम होता था। यह ईरान की पूर्वोत्तर सीमा पर थी और यहाँ से ताशकुर्गन, काशगर तथा कूचा होकर तथा यारकन्द और खोतन होकर चीन जाने वाले व्यापारिक पथ आरम्भ होते थे। (देखिये सलग्न मानचित्र)। बलख से बामियाँ के दर्रे से होते हुए एक मार्ग भारत को जाता था। युआन च्वाग इसी मार्ग से सातवी शताब्दी मे भारत आया था। इन मार्गो के अतिरिक्त यहाँ पश्चिम के दो महामार्ग आमू नदी का जल-मार्ग और एण्टियोक से आने वाला स्थल मार्ग मिलता था। बलख के व्यापार से बीसियों नगर समृद्ध हो रहे थे। अत. इसे **नगरों की जननी** (Mother of Cities) कहा जाता था। वक्षु नदी के उस पार सीर (Syr) नदी तक का चट्टानी प्रदेश बैक्ट्रिया को मध्य एशिया के उन प्रदेशो से पृथक् करता था जहाँ शक और अन्य बर्बर जातियाँ अपनी खानाबदोश या घुमक्कड़ दशा मे रहा करती थी और जिन जातियो ने भविष्य मे बैक्ट्रिया और भारत पर हमले करके इनके इतिहास पर भारी प्रभाव डाला था। पश्चिम मे करमानिया की मरुभूमि उस दिशा से आने वाले आक्रान्ताओ से बैक्ट्रिया की रक्षा करती थी। आमू, एरियस तथा अन्य नदियों के कारण बैक्ट्रिया का प्रदेश

१. आजकल बलख का स्थान 'मजारे शरीफ' ने ले लिया है। चंगेज खाँ ने १३वीं शताब्दी में बलख का पूर्णरूप से विध्वंस कर दिया था।

उस समय बड़ा सस्य-श्यामल और उर्वर था। जैतून, अनाज, फलो, बढ़िया घोड़ों और भेड़ों के लिये इसकी बड़ी ख्याति थी। पौराणिक साहित्य में इसे बाल्हीक देश कहा गया है। यह मध्य एशिया, भारत और चीन के तथा पश्चिमी एशिया और पूर्वी यूरोप के बीच मे केन्द्रीय स्थिति रखने के कारण उस समय पूर्व और पश्चिम के व्यापार का महान केन्द्र था, और इस कारण यहाँ अत्यधिक समृद्धि-शाली अनेक नगर बसे हुए थे और इसे एक हजार नगरो वाला बैक्ट्रिया राज्य कहा जाता था। ईरान के हखामनी राजा इसकी सामरिक और व्यापारिक महत्ता का अनुभव करते हुए यहाँ का शासन राजवंश से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को ही सौपा करते थे। जब सिकन्दर ने ईरान को हराकर इस प्रदेश पर अपना शासन स्थापित किया तब उसे भारत पर आक्रमण करने के लिये एक आधार के रूप मे इस प्रदेश की महत्ता प्रतीत हुई। उसने अपना प्रभुत्व दृढ करने के लिये बैक्ट्रिया का राजा कहलाने वाले डेरियस तृतीय के एक भाई की कन्या रुखसाना (Roscana) से विवाह किया। इस विवाह द्वारा सिकन्दर इस देश के अभिमानी ईरानियो को सतुष्ट करना चाहता था। उसने अपने सेनापतियों और सैनिको को भी नर्वाविजित प्रदेशो मे विवाह करने की और बस जाने की प्रेरणा दी। इस कारण यहाँ सिकन्दर के अनेक अनुयायी बस गये। यहाँ की शक, ईरानी और यूनानी जनता सेल्यूकस वशी साम्राज्य के अधीन बने रहने वाले एक यूनानी क्षत्रप या राज्यपाल की अधीनता मे रहने लगी।

उन दिनो बैक्ट्रिया के राज्य मे न केवल आमू नदी के दक्षिण और हिन्दूकुश पर्वत के उत्तर का प्रदेश सम्मिलित था, अपितु इसमें दक्षिणी सुग्ध (Sogdiana) अर्थात् समरकन्द का प्रदेश भी था। समरकन्द के उत्तर के पहाड वस्तुत आमू और सीर नदियो के दोआब--सुग्ध को प्राकृतिक दृष्टि से दो भागो मे बाँटते थे। उन पहाडो के दक्षिण का भाग आमू नदी की घाटी का हिस्सा था। आमू नदी बैक्ट्रिया का प्राण थी, इसका अधिकतम सदुपयोग करते हुए नहरो द्वारा इस प्रदेश को इतना अधिक सस्य-श्यामल बनाया गया था कि यूनानी उसे ईरान की बहुमूल्य भूमि (Jewel of Iran) कहते थे। इस प्रदेश की अधिष्ठात्री देवी अनाहिता (Anahita, Anaitis) को एक प्राचीन वर्णन मे सहस्र भुजाओ वाली और हजार नहरो वाली कहा गया है।[1] यह वस्तुतः पहाड़ों से निकल कर अराल सागर मे मिलने वाली, अपने मे सैकडों धाराओ को सम्मिलित करने वाली आमू नदी को देवी का रूप प्रदान करना था। जिस प्रकार मिस्र नील नदी की देन है, उसी

---

१. टार्न—दी ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इन्डिया, पृ० १०१।

प्रकार बैक्ट्रिया आमू का वरदान था। प्राचीन काल में यह न केवल अपनी उपज के लिये अपितु खनिज सम्पति के लिये भी प्रसिद्ध था। बदख्शां में लाल मणि की, सुग्ध (यमगान) में लाजवर्द (Hapis lazuli) की, अन्दराब तथा वखां मे चांदी की खाने थी। सुग्ध प्राचीन काल से सोने की प्राप्ति का एक प्रधान स्रोत था। यह मूल्यवान् धातु कुछ तो जरफ्शां आदि नदियो मे पायी जाती थी, किन्तु अधिकांश सोना अल्ताई पर्वत की खानो से तथा साइबेरिया से आया करता था। ईरानी साम्राज्य के लिये सुवर्ण प्राप्ति का एक बड़ा स्रोत बैक्ट्रिया था। इसके अतिरिक्त इसके महत्व का एक अन्य कारण इसका व्यापारिक केन्द्र होना था। पहले यह बताया जा चुका है कि इसकी राजधानी बैक्ट्रा या बलख पश्चिम से मध्य एशिया होकर चीन जाने वाले तथा भारत जाने वाले मार्गों पर बहुत बड़ी मण्डी और अत्यन्त समृद्ध नगरी थी।

हिन्द-यूनानी सत्ता के प्रसार के मार्ग—भारत की दृष्टि से बैक्ट्रिया के प्रदेश का सामरिक महत्व यह था कि सिकन्दर के बाद अनेक यवन, शक और कुषाण राजाओ ने इसे भारत पर आक्रमण करने का आधार बनाया। यद्यपि भारत और बैक्ट्रिया के बीच मे हिन्दूकुश पर्वतमाला के ऊँचे शिखर थे, तथापि इन्होंने दोनो ओर के आवा-गमन मे कोई बड़ी बाधा नही डाली। अनेक सेनापति, व्यापारी, यायावर (फिरन्दर) जन जातियाँ, धर्मपिपासु तीर्थयात्री इस पर्वतमाला को पार कर आते जाते रहते थे। सिकन्दर ने बैक्ट्रा से काबुल घाटी तक की यात्रा ग्यारह दिन मे की थी। बैक्ट्रिया से हिन्दूकुश पर्वतमालाओ को पार करने वाले तीन प्रधान मार्ग थे। हिन्द-यूनानी राजाओ ने भारत पर हमला करने के लिये इन मार्गों का प्रयोग किया। ये तीनो मार्ग हिन्दूकुश पर्वत को पार करने के बाद काबुल से ५० मील ऊपर चरीकर या बेग्राम (कापिशी) नामक स्थान पर मिलते थे। यह स्थान पजकोरा तथा घोरबन्द नदियो के सगम के निकट है। सिकन्दर को यह स्थान इतना पसन्द आया था कि उसने इनके सगम पर दायी ओर सिकन्दरिया का नगर बसाया था, उसकी बायी ओर कापिशी नगरी (बेग्राम) थी। यहाँ उत्तर की ओर से आने वाले तीन प्रधान मार्ग निम्नलिखित थे—

(१) **बामियाँ का मार्ग**—यह दक्षिणी पश्चिमी मार्ग सबसे अधिक सुगम और प्रचलित था। यह बलख शहर से पहले बलख नदी के साथ साथ ऊपर चढ़ते हुए बन्दे अमीर और नील दर्रे से अथवा वक और अकरोवत दर्रों के मार्ग से बामियाँ नदी की घाटी मे पहुँचता था, बामियाँ से शिबर दर्रा पार करके घोरबन्द नदी की

घाटी में उतर जाता था और सिकन्दरिया पहुँचता था। सातवी शताब्दी ई० मे चीनी यात्री युआन च्वांग और तेरहवी ई० शताब्दी में चगेज खा इसी मार्ग से आया था। इस रास्ते के दर्रे कम ऊंचे हैं, किन्तु यह रास्ता अधिक लम्बा है। फ्रेंच विद्वान फूशे का मत है कि हिन्द-यूनानी इस मार्ग का अधिक प्रयोग करते थे। बार्रो नामक प्राचीन लेखक के कथनानुसार इस मार्ग द्वारा बलख से कापिशी तक पहुचने मे सात दिन लगते थे।

(२) **खावक दर्रे का मार्ग**—यह उत्तर-पूर्वी मार्ग बलख से दक्षिण में आते हुए हिन्दूकुश को खावक दर्रे (११,६४० फुट) से पार करता है। सिकन्दर (३२८ ई० पू०) तथा तैमूर (१३९८ ई०) ने भारत पर आक्रमण के समय इस मार्ग का प्रयोग किया था। यह मार्ग हिन्दूकुश को लाँघने के बाद पजशीर नदी के साथ-साथ बेग्राम पहुँचता था। यह बदख्शां जाने के लिये अच्छा था, किन्तु बलख से आने के लिये बहुत लम्बा पड़ता था।

(३) **कावशां दर्रे का मार्ग**—यह केन्द्रीय मार्ग सबसे छोटा है, किन्तु अधिक ऊँचाई के कारण सबसे विकट है। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार सिकन्दर एक बार इस मार्ग से आया था।

हिन्दूकुश को पार करने वाले उपर्युक्त सभी मार्ग सिकन्दरिया या बेग्राम मे मिलते है। बेग्राम का पुराना नाम कापिशी था। यह कपिश देश की राजधानी थी, यह अब काफिरिस्तान कहलाता है। उन दिनो यहाँ उत्पन्न होने वाली अंगूरो से बनी कापिशायनी मदिरा बहुत प्रसिद्ध थी। पाणिनि ने पाचवी श० ई० पू० में अपनी अष्टाध्यायी (४–२–२९) मे इसका उल्लेख किया है। कापिशी से हिन्द-यूनानी राजाओ ने अपनी सत्ता का प्रसार तीन मार्गों से किया। **पहला** मार्ग पश्चिम मे हिरात के सस्य-श्यामल प्रदेश की ओर जाता था। यह उन दिनों एरिया (Aria) कहलाता था। **दूसरा** मार्ग काबुल और गजनी होते हुए अरगन्दाब (सरस्वती) नदी के तट पर बसे कन्धार (एलेक्जेड्रोपोलिस) पहुँचता था। यह प्रदेश उन दिनो अर्खोसया (Archosia) कहलाता था। डेमेट्रियस इस रास्ते से आया था। उसने अपने नाम से डेमिट्रियस नामक नगर बसाया था। कन्धार से भारत के सिंध प्रान्त मे प्रवेश का एक सुगम मार्ग मूला दर्रे का था, इसे पार कर यह मार्ग चमन, पिशीन तथा क्वेटा और सिबी होकर जाता था। शक इसी मार्ग से भारत आये थे। **तीसरा** मार्ग पूर्व दिशा मे काबुल (कुभा) नदी के साथ-साथ पश्चिमी गन्धार की राजधानी

पुष्कलावती (स्वात और काबुल के सगम पर चारसद्दा) पहुँचता था। उस समय यह एक महत्वपूर्ण यूनानी नगर था। यहाँ से ओहिन्द के निकट सिन्ध नदी पार कर यह मार्ग पूर्वी गन्धार की राजधानी तक्षशिला मे आता था। कनिष्क ने खैबर दर्रे के मार्ग का महत्व अनुभव करते हुए पुरुषपुर (पेशावर) मे राजधानी बनाई थी।

यवन साम्राज्य का विस्तार

बैक्ट्रिया के यवन राजाओ ने बलख से उपर्युक्त मार्गों से आगे बढते हुए अफगानिस्तान और भारत मे तीनों दिशाओ मे अपनी शक्ति का प्रसार किया। इनकी विजयो का सुन्दर वर्णन एक प्राचीन लेखक स्ट्रैबो ने पार्थिया के एक इतिहास लेखक अपोलोडोटस के शब्दो मे इस प्रकार किया है—"बैक्ट्रिया में विद्रोह करने वाले यूनानी इस देश की उर्वरता के कारण अन्य लोगो से इतने अधिक शक्तिशाली हो गये थे कि वे एरियाना (Ariana) और भारत के स्वामी बन गये। इन राजाओ मे विशेषत. मिनान्डर उल्लेखनीय है। उसने यदि वस्तुत पूर्व मे **हिपेनिस** नदी को पार किया था और **ईसामस** नदी तक पहुँचा था तो उसने सिकन्दर की अपेक्षा भी अधिक देशो को जीता था। इन विजयो मे कुछ तो मिनान्डर द्वारा और कुछ बैक्ट्रिया के राजा यूथीडीमस के पुत्र डेमेट्रियस द्वारा की गई थी। इन यूनानी राजाओं का प्रमुख अधिकार केवल **पतलेने** (Patelene) पर ही नही अपितु **सरोस्टोस** तथा **सीजांडस** पर हुआ जिसमे समुद्र-तट का शेष भाग सम्मिलित है। उनके साम्राज्य का विस्तार **सेरेस** और **फ्रेनी** तक हुआ।[1]" इससे स्पष्ट है कि बैक्ट्रियन राजाओ का साम्राज्य-विस्तार हिन्दूकुश पर्वत को लाघ कर दक्षिणी अफगानिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पजाब, सिध, काठियावाड और पूर्व मे चीनी तुर्किस्तान की पामीर पर्वतमाला तक हुआ। उपर्युक्त वर्णन मे इस साम्राज्य की पूर्वी सीमा सेरेस और फ्रेनी बताई गई है। इनकी सही पहचान के सम्बन्ध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद रहा है। किन्तु आजकल सेरेस को चीनी तुर्किस्तान मे **सूले** या काशगर का प्रदेश और फ्रेनी को प्यूली या ताशकुरगान के निकटवर्ती प्रदेश समझा जाता है।[2] भारत मे सिकन्दर व्यास नदी तक ही आया था। स्ट्रैबो ने उपर्युक्त यूनानी राजाओ के साम्राज्य-विस्तार को सिकन्दर की विजयों से भी अधिक बताया है, क्योकि मिनान्डर **हिपेनिस** अथवा व्यास को पार करके पूर्व से **ईसामस** नदी तक पहुँचा था। इसे पहले रैपसन ने यमुना नदी माना था। किन्तु

---

१. **मिक्रिन्डल—एशेण्ट इण्डिया, पृ० १००–१।**

२. **प्रवधकिशोर नारायण—इन्डोग्रीक्स, पृ० १७०–७१।**

आजकल इसे **इक्षुमती** अथवा पश्चिमी उत्तर प्रदेश की काली नदी समझा जाता है। **सरोस्टोस** संभवतः सौराष्ट्र या दक्षिणी काठियावाड़ का प्रदेश है और **सीर्जडिस** संभवतः सागर द्वीप अथवा कच्छ का प्रदेश है।

यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि सिकन्दर से भी अधिक विशाल साम्राज्य स्थापित करने वाले इन यूनानी राजाओ के सम्बन्ध मे हमे विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी देने वाले साधन बहुत कम मिलते हैं। इसका प्रधान साधन केवल इनकी मुद्रायें है। अब तक ३९ यूनानी राजाओ और दो रानियो के सिक्के मिले हैं। इनके विषय मे अन्य कोई साधन न होने के कारण इनके इतिहास का निर्माण इन सिक्को के ही आधार पर किया गया है। अत. इसमे अनेक तीव्र विवाद और जटिल समस्याये अब तक बनी हुई है।

बैक्ट्रिया सिकन्दर की मृत्यु के बाद सेल्यूकस द्वारा सीरिया मे स्थापित यूनानी साम्राज्य का एक अग था। इसके पश्चिम मे इसी साम्राज्य का दूसरा प्रदेश पार्थिया था। यह कैस्पियन सागर के दक्षिण पूर्वी किनारे और खुरासान मे फैला हुआ था। सिकन्दर की मृत्यु के उपरान्त ये दोनो प्रदेश उसके सेनापति सेल्यूकस द्वारा स्थापित साम्राज्य (Seleucid Empire) मे सम्मिलित थे। २५० ई० पू० के लगभग इन दोनो देशो ने सीरिया के सेल्यूकसवशी सम्राटो के विरुद्ध विद्रोह किया।[1] पार्थिया मे विद्रोह का नेता अरसक था और बैक्ट्रिया मे यूनानी राज्यपाल डियोडेटस। इस समय सेल्यूकसवशी साम्राज्य का सम्राट् एण्टिओकस द्वितीय (२६१–२४६ ई० पू०) था। किन्तु यह तथा इसके उत्तराधिकारी सेल्यूकस द्वितीय (२४६–२२६ ई० पू०) तथा सेल्यूकस तृतीय (२२६– २२३ ई० पू०) इतने शक्तिशाली न थे कि वे इन विद्रोहो का दमन कर सकते। अगले सम्राट् एण्टिओकस तृतीय महान् (२२३–१८७ ई० पू०) ने पार्थिया और बैक्ट्रिया के प्रान्तो को पुन जीतने का प्रयत्न किया। वह एक बड़ी सेना लेकर २१२ ई० पू० मे यहाँ आया, किन्तु उसे इस कार्य में निराश होकर वापिस लौटना पडा। उसने इन दोनो देशो की स्वतत्रता को स्वीकार किया।

बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने का श्रेय डियोडोटस **प्रथम को** दिया जाता है। यह सभवत पहले सेल्यूकसवशी राजाओ की ओर से बैक्ट्रिया और सुग्ध (Sogdiana) का राज्यपाल था। २४८ ई० पू० के लगभग इसने

---

१. कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया खं० १, पृ० ५४३।

विद्रोह करके स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। जस्टिन के मतानुसार इसने पार्थिया के शासक अरसक के साथ शत्रुतापूर्ण नीति बनाये रखी, किन्तु इसके पुत्र डियोडोटस द्वितीय ने अपने पिता की विदेश नीति में परिवर्तन करते हुए पार्थिया के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये। इसके परिणामस्वरूप पार्थिया पर जब सेल्यूकस द्वितीय ने २४० से २३५ ई० पू० के बीच मे आक्रमण किया तो वह बैक्ट्रिया की ओर से निश्चिन्त होकर अपनी सारी शक्ति इस संघर्ष में लगा सका। उसने सेल्यूकस के प्रयत्नो को विफल बनाया। इस प्रकार न केवल पार्थिया की, अपितु बैक्ट्रिया की भी रक्षा की। इससे यह स्पष्ट है कि डियोडोटस द्वितीय की विदेश नीति बड़ी सफल रही। इस राजा के अन्त के सम्बन्ध में हमे कुछ निश्चित ज्ञान नही है, क्योकि पोलिबियस के मतानुसार २१२ ई० पू० मे जब एण्टिओकस तृतीय पार्थिया और बैक्ट्रिया को अपने साम्राज्य मे मिलाने के उद्देश्य से सेना लेकर इस प्रदेश में आया तो बैक्ट्रिया पर यूथीडीमस शासन कर रहा था।

एण्टिओकस ने राजधानी बैक्ट्रा पर घेरा डाल दिया। यूथीडीमस ने इससे परेशान होकर अपनी ओर से सधि-वार्ता के लिये एलियास नामक व्यक्ति को राजदूत बनाकर भेजा। इसने आक्रान्ता को यह समझाने का प्रयत्न किया कि यूथीडीमस विद्रोही नही है। अन्य व्यक्तियो ने विद्रोह किया था और वह विद्रोहियो को कड़ा दण्ड देने के बाद ही राजा बना है। इसके साथ ही उसने इस बात पर भी बल दिया कि सुग्ध देश की पर्वतमाला के दूसरी ओर रहने वाली शक आदि बर्बर जातियाँ सदैव इस देश पर हमला करने को उत्सुक रहती है। बैक्ट्रिया इनका प्रबल प्रतिरोध करता रहता है। यदि बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया गया तो बर्बर खानाबदोश जातियो के हमलो की बाढ़ को रोकने वाला राज्य समाप्त हो जायगा, ऐण्टिओकस पर नई मुसीबतो के बादल घिर आयेगे। एण्टिओकस को सभवतः यह युक्ति समझ मे आ गई। इसके साथ ही उपर्युक्त राजदूत के साथ-साथ अपने पिता के प्रतिनिधि के' रूप मे भेजे गये सौम्य और सुन्दर डिमेट्रियस के व्यवहार से एण्टिओकस इतना प्रसन्न हुआ कि उसने न केवल उसके पिता की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया, अपितु बैक्ट्रिया के राजकुमार के साथ अपनी कन्या के विवाह का वचन दिया।

इसके बाद **एण्टिओकस** हिन्दूकुश पर्वत को पार करके काबुल की घाटी में चला आया। उस समय यहाँ **पोलिबियस** के कथनानुसार काबुल नदी की घाटी में भारतीयो का राजा **सोफागसेनस** शासन कर रहा था। इस राजा की भारतीय ग्रन्थों में कोई चर्चा नहीं है। यदि इसके यूनानी नाम का भारतीय रूप **सुभगसेन** समझा

जाय तो इस विषय मे यही कहा जा सकता है कि यह समवतः तिब्बत के मध्य-युगीन इतिहास लेखक तारानाथ द्वारा वर्णित गन्धार प्रदेश के राजा तथा अशोक के प्रपौत्र वीरसेन के वश से सबद्ध था। ऐण्टिओकस को इस समय अपनी राजधानी से निकले हुए बहुत समय हो गया था। पार्थिया और बैक्ट्रिया के साथ युद्धो में उसे कोई बड़ी सफलता नही मिली थी। उसके सीरिया के साम्राज्य को रोम की बढती हुई नवीन शक्ति से बडा खतरा पैदा हो गया था, अत उसे स्वदेश लौटना आवश्यक हो गया। उसने इस भारतीय राजा की नाम मात्र की वश्यता को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार किया और इससे युद्धोपयोगी कुछ हाथी लेकर वह सीरिया वापिस लौट गया। इससे यह स्पष्ट है कि बैक्ट्रिया को अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करने का एण्टिओकस का प्रयास विफल हो गया और इसे दक्षिण और पूर्व दिशा मे बढ़ने का स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रकार डियोडोटस प्रथम और द्वितीय ने बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। उन्होंने अपनी मुद्राओ पर जिस यूनानी देवता ज्यूस (Zeus) का चित्र अकित किया था, वह उनके नाम के सर्वथा अनुरूप था, क्योकि उनके यूनानी नाम का शब्दार्थ ज्यूस देवता का दान है। सुप्रसिद्ध विद्वान् ट्रेवर ने यह कल्पना की है कि सेल्यूकसवशी राजाओ से सम्बन्ध विच्छिन्न करने के बाद डियोडोटस ने सबसे बडे यूनानी देवता ज्यूस से सहायता पाने की दृष्टि से उसकी मूर्ति अपनी मुद्राओं पर अकित की। वज्रधारी ज्यूस की मूर्ति को अपने सिक्को पर प्रदर्शित करने का आशय सम्भवत अपने शत्रुओ को उसकी शक्ति से आतकित करना भी रहा होगा।

बैक्ट्रिया के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का श्रेय यदि डियोडोटस प्रथम (२५६–२४८ ई० पू०) और डियोडोटस द्वितीय (२४८–२३५ ई० पू०) को है तो इस राज्य के विस्तार और सुदृढ बनाने का श्रेय यूथीडीमस प्रथम (२३५–२०८ ई० पू०) तथा उसके पुत्र डिमेट्रियस प्रथम (२००–१९५ ई० पू०) को है। पोलिबियस के मतानुसार पश्चिमी एशिया में यूथीडीमस मैग्नेशिया नामक स्थान का रहने वाला था। वह समवत डियोडोटस द्वितीय के समय का कोई उच्च सेनापति रहा होगा, कनिघम के मतानुसार वह एरिया तथा मार्गियाना का राज्यपाल या क्षत्रप था। पोलिबियस के मतानुसार उसने काफी रक्तपात के बाद और डियोडोटस द्वितीय को मारने के बाद गद्दी प्राप्त की थी। टार्न ने यह मत प्रकट किया है कि यूथीडीमस सीरिया के साम्राज्य का समर्थक था। इसीलिये वह डियोडोटस द्वितीय की पार्थियन लोगों के साथ मित्रता स्थापित करने की नीति को पसन्द नहीं करता था। उसमे वैयक्तिक महत्वाकांक्षा भी कम नही थी। इन सब कारणो से उसने

बैक्ट्रिया की राजगद्दी पर उस समय अधिकार किया जिस समय भारत में अशोक की मृत्यु हुई थी। यूथीडीमस ने सभवत: अशोक के निर्बल उत्तराधिकारियो का लाभ उठाते हुए मौर्य साम्राज्य के सुदूरवर्ती प्रदेशों को अपने राज्य मे मिलाना शुरू किया। उस समय मौर्य साम्राज्य मे हिन्दूकुश पर्वत तक का तथा कन्धार का प्रदेश सम्मिलित था। यह बात कन्धार मे पाये गये अशोक के एक द्विभाषी अभिलेख से सूचित होती है। यूथीडिमस ने बैक्ट्रिया के अपने राज्य में पहले मौर्य साम्राज्य मे सम्मिलित अफगानिस्तान के आर्कोसिया (कन्धार) और ड्रगियाना के प्रान्तो को भी सम्मिलित किया, क्योकि इन स्थानो से इसके सिक्के बडी मात्रा मे पाये गये है। इसमे पहले बैक्ट्रिया के अतिरिक्त सुग्ध (Sogdiana), एरिया (हिरात) तथा मार्गियाना (मर्व) के प्रदेश उसके राज्य मे सम्मिलित थे।

२०८ ई० पू० मे सीरिया के सम्राट् एण्टिओकस तृतीय ने सिकन्दर के साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशो को जीतने का प्रयत्न किया। पार्थिया के राजा अर्तबानस प्रथम को हराने के बाद वह बैक्ट्रिया की ओर मुडा। यूथीडीमस ने पहले इसे एरियस (हरीरुद) नदी को पार करने से रोकना चाहा, किन्तु एण्टिओकस की सेना ने इसे रात के समय बडी चतुराई से पार कर लिया और यूओडिमस को अपनी राजधानी बैक्ट्रा मे वापिस लौटना पडा। यहाँ दो वर्ष तक वह एण्टिओकस के घेरे का प्रतिरोध करता रहा किन्तु अन्त मे दोनों पक्षो ने समझौता करना उचित समझा। एण्टिओकस तृतीय के २०६ ई० पू० मे सीरिया वापिस लौट जाने के बाद यूथीडीमस ने अधिक दिनो तक शासन नही किया। टार्न ने अपने ग्रन्थ मे उसकी मृत्यु १८९ ई० पू० में मानी है, किन्तु श्री अवध किशोर नारायण ने मुद्राओ की साक्षी के आधार पर २०० ई० पू० मे उसका देहावसान माना है, क्योकि यदि वह २३५ ई० पू० मे बैक्ट्रिया की गद्दी पर बैठा तो २०८ ई० पू० मे एण्टिओकस के साथ लडाई के समय मे उसकी आयु ५० वर्ष या इससे अधिक होगी। अपनी मुद्राओ मे वह ६० वर्ष से अधिक आयु का नही प्रतीत होता है। अत उसके देहावसान की तिथि अब २०० ई० पू० मानी जाती है।

डिमेट्रियस––यूथीडीमस के बाद उसका बेटा डिमेट्रियस गद्दी पर बैठा। पहले यह हिन्द-यूनानी राजाओ मे बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था। टार्न ने यह लिखा था कि डिमेट्रियस ने सीर (Jaxertes) नदी से खम्भात की खाडी तक तथा ईरान की मरुभूमि से गगा नदी के मध्य भाग तक के विस्तृत प्रदेश पर शासन किया। इस राजा को भारत पर चढाई करने और पाटलिपुत्र तक यूनानी सेनाये भेजने का

श्रेय दिया जाता था। यह कल्पना प्रधान रूप से द्विभाषीय अर्थात् यूनानी और खरोष्ट्री भाषा तथा लिपि वाले सिक्कों के आधार पर की गई थी। किन्तु नवीन अनुसन्धान और गवेषणा के परिणामस्वरूप अब यह माना जाने लगा है कि डिमेट्रियस नाम के दो राजा हुए।[1] पहले राजा डिमेट्रियस प्रथम ने २०० से १८५ ई० पू० तक शासन किया और दूसरे डिमेट्रियस ने १८० से १६५ ई० पू० तक शासन किया। इन दोनों के बीच में यूथीडीमस द्वितीय ने २०० से १९० ई० पू० तक तथा एण्टिओकस प्रथम ने १९० से १८० ई० पू० तक शासन किया। द्विभाषी सिक्के डिमेट्रियस द्वितीय द्वारा जारी किये गये थे। इन सिक्कों को डिमेट्रियस प्रथम के सिक्कों से पृथक् करने वाली एक विशेषता यह भी है कि इनमें राजा ने अविजेय का अर्थ देने वाली यूनानी उपाधि अनिकेतोस (Aniketos) तथा खरोष्ट्री में अपतिहत (अप्रतिहत) की उपाधि धारण की है। इसके द्विभाषी सिक्के दो प्रकार के है—ताँबे की चौकोर मुद्रा तथा चाँदी के पचद्रम्म (Pentadrchm)। यदि इन सिक्कों को डिमेट्रियस द्वितीय का माना जाय तो डिमेट्रियस प्रथम के हमें कोई भी सिक्के बेग्राम में अथवा काबुल घाटी के अन्य स्थानों से उपलब्ध नहीं होते है। गजनी के निकट मीरजका की विशाल मुद्रानिधि में भी इसका कोई भी सिक्का नहीं पाया गया है। अतः काबुल की घाटी पर इसका शासन स्थापित हुआ हो ऐसी सम्भावना बहुत कम प्रतीत होती है। टार्न ने यह कल्पना की है कि डिमेट्रियस ने गन्धार प्रदेश की विजय की थी, किन्तु तक्षशिला की खुदाई में पाये गये ५१९ सिक्कों में केवल एक त्रिशूलधारी ताम्रमुद्रा डिमेट्रियस की है और यह भी सम्भवतः दूसरे डिमेट्रियस की प्रतीत होती है। गन्धार के अन्य स्थानों से बहुत बड़ी मात्रा में हिन्द-यूनानी राजाओं के सिक्के मिले है, किन्तु इनमें एक भी सिक्का डिमेट्रियस प्रथम का नहीं है।

डिमेट्रियस के बारे में टार्न (पृ० ५२) ने यह कल्पना की है कि उसने न केवल गन्धार की विजय की थी, अपितु तक्षशिला से आगे बढते हुए दो दिशाओं में अपनी सेनाओं को भेजा था, एक तो सिंध नदी के साथ दक्षिण दिशा में और दूसरी पूर्व दिशा में गंगा की घाटी की ओर। उसका उद्देश्य मौर्यों के विशाल साम्राज्य का पुनरुद्धार करना, समस्त उत्तरी भारत को यूनानी शासन में लाना और अशोक की भाँति इसका सम्राट् बनना था, क्योंकि टार्न के मतानुसार डिमेट्रियस का सम्बन्ध सीरिया के सेल्यूकस वंश से था, और सेल्यूकस का सम्बन्ध मौर्य वंश से था, क्योंकि उसने

१. अवधकिशोर नारायण—दी इण्डोग्रीक्स, पृ० २९–३०।

चन्द्रगुप्त को अपनी कन्या दी थी।[1] अतः डिमेट्रियस अपने को मौर्य वंश का उत्तराधिकारी समझता था। उसने अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिये अपने दो सेनापतियों–अपोलोडोटस और मिनान्डर को सिंध की तथा उत्तरी भारत की विजय का कार्य सौंपा और उन्होंने यह कार्य बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। टार्न ने यह कल्पना जस्टिन और स्ट्रैबो के वर्णनों के तथा भारतीय साहित्य के कुछ प्रमाणो के आधार पर की है। किन्तु नवीन अनुसन्धान से ये प्रमाण सर्वथा निराधार सिद्ध हुए है। भारतीय प्रमाणों में पहला प्रमाण सिन्ध मे डिमेट्रियस के नाम पर बसाये गये नगर डिमेट्रियास या दत्तामित्री का है। यह कहा जाता है कि महाभारत मे सौवीर (सिन्ध प्रान्त) मे एक यवनाधिप का और दत्तामित्र नामक राजा का उल्लेख है और इसकी राजधानी दत्तामित्री का भी भारतीय साहित्य मे वर्णन आता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि महाभारत के जिन श्लोको मे यह वर्णन मिलता है, वे श्लोक पूना के सशोधित सस्करण मे मूल पाठ का भाग न समझ कर प्रक्षिप्त समझे गये है। इन श्लोकों मे दत्तामित्र किसी यूनानी राजा का नाम नही, किन्तु सौवीर के राजा सुमित्र का एक विशेषण है।[2] यवनाधिप का वास्तविक नाम वित्तल है। ये श्लोक वस्तुत. महाभारत मे बाद मे मिलाये गये है और इन्हें डिमेट्रियस और दत्तामित्र की अभिन्नता सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण नही माना जा सकता है। इसी प्रकार दत्तामित्री नगरी के साथ डिमेट्रियस का सम्बन्ध जोड़ना भी ठीक नही है। सर्वप्रथम श्री देवदत्त रामकृष्ण भडारकर ने यह लिखा था कि पतजलि ने दात्तामित्र नामक नगर का उल्लेख किया है, किन्तु जान्स्टन ने यह प्रदर्शित किया है कि महाभाष्य मे पाणिनि के सूत्र ४–२–७६ की व्याख्या मे इसका कोई भी उल्लेख नही है। नासिक के एक लेख मे उत्तरी भारत के दातामिति नामक नगर का निर्देश है। किन्तु भारतीय दृष्टि से सिन्ध भारत के उत्तरी भाग मे नही, अपितु पश्चिमी भाग मे गिना जाता है।

श्री जायसवाल के मतानुसार युगपुराण में डिमेट्रियस का उल्लेख **धर्ममीत के** नाम से तथा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे **डिमित** के नाम से मिलता है। टार्न के मतानुसार यहाँ धर्ममीत या धर्ममित्र का विशेषण बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योकि भारतीय

---

१. अवधकिशोर नारायण–दी इन्डोग्रीक्स पृ०, ३४ से ४४।

२. अतीव बलसंपन्नः सदा मानी कुरुन्प्रति। वित्तलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता। दत्तमित्रमिति ख्यातं संग्रामकृतनिश्चयम्। सुमित्रं नाम सौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः॥ महाभ० पूना सं० खं० १, परिशिस्ट १, पृ० ६२७-२६।

उसे वस्तुतः विदेशी विजेता न समझ कर उन्हें न्याय प्रदान करने वाला शासक समझते थे। इसके अतिरिक्त एक विलुप्त संस्कृत ग्रन्थ के तिब्बती अनुवाद में धर्ममित्र नामक एक स्थान का उल्लेख है जो उसके मतानुसार सुग्ध प्रदेश का डिमेट्रियस अथवा आधुनिक तरमित या तिरमिज नामक नगर है। किन्तु यह कल्पना इसलिये ठीक नही प्रतीत होती है कि फ्रेन्च विद्वान् पी० कोर्दियर (P. Cordier) के मतानुसार तुखवार देशवासी धर्ममित्र का पाठ बड़ा विवादास्पद है। यदि इस पाठ को शुद्ध भी मान लिया जाय तब भी डिमेट्रियस का निर्देश यहाँ ठीक नही प्रतीत होता है। इसी प्रकार हाथीगुम्फा अभिलेख मे वर्णित डिमित भी यवनराज डिमेट्रियस नही हो सकता है, क्योंकि यहाँ डिमित का पाठ बहुत ही संदिग्ध है तथा इस अभिलेख का समय डिमेट्रियस के समय से लगभग एक शताब्दी मे भी अधिक समय बाद का है। इसी प्रकार बेस-नगर से प्राप्त एक मुहर मे उल्लिखित **तिमित्र** भी डिमेट्रियस से कोई सम्बन्ध नही रखता है। शुग राजाओ के नाम के अन्त मे प्राय: मित्र शब्द आता है। यह संभवतः इसी प्रकार का मित्र नामधारी कोई व्यक्ति रहा होगा। मिलिन्दप्रश्न के देवमन्तिय नामधारी राजा का भी इस डिमेट्रियस मे कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता है, क्योंकि डिमेट्रियस यूनानियो मे एक सामान्य नाम हुआ करता था।

इस प्रकार डिमेट्रियस की भारत-विजय की कल्पना सर्वथा निराधार और अप्रामाणिक प्रतीत होती है। इसमे कोई सदेह नही है कि डिमेट्रियस के समय में बैक्ट्रिया के राज्य की शक्ति मे पर्याप्त वृद्धि हुई। निस्सन्देह, उस समय मौर्य साम्राज्य का ह्रास और शिथिलता इसे काबुल और सिन्धु नदी की घाटियो की विजय करने का प्रलोभन दे रही थी। किन्तु इसके साथ ही बैक्ट्रिया के राज्य को उत्तर की बर्बर जातियो से तथा पश्चिम के पार्थिया राज्य से बहुत बडा खतरा था। जस्टिन के मतानुसार इनके अपने प्रदेश मे ही अनेक असन्तुष्ट तत्व विद्यमान थे। इन सब खतरो को देखते हुए डिमेट्रियस के लिये अपने राज्य की सुरक्षा के हेतु यह अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य था कि वह भारत की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार न करे। टार्न ने उसे जितने बडे विशाल प्रदेश पर विजय करने का श्रेय दिया है, उसके लिये उसके पास सिकन्दर की अपेक्षा अधिक बडी सेना, शक्ति तथा सैनिक प्रतिभा होना आवश्यक था।[1]

एण्टीमेकस –इसी समय का एक अन्य महत्त्वपूर्ण राजा एण्टिमेकस प्रथम है। इसका यूथीडीमस के वंश से कोई सम्बन्ध नही प्रतीत होता है। वस्तुतः उन दिनो

१. **अवधकिशोर नारायण--दी इन्डोग्रीक्स।**

हिन्द-यूनानी राजाओ मे किसी एक परिवार का शासन नही था, अपितु विभिन्न परिवार अनेक छोटे-छोटे स्थानो पर स्वतन्त्र रूप से शासन कर रहे थे। एण्टिमेकस के बारे में ट्रेवर की यह कल्पना है कि उसने पूर्वी बैक्ट्रिया अर्थात् बदख्शा मे अपना राज्य स्थापित किया। यही कारण है कि इस प्रदेश में अवस्थित कुन्दूज नामक स्थान मे प्राप्त मुद्रानिधि मे एण्टिमेकस के सिक्के डिमेट्रियस सिक्को की अपेक्षा अधिक सख्या मे मिले है और उसके दो अतीव दुर्लभ स्मारक मैडल भी प्राप्त हुए हैं। सभवत इस प्रदेश से ही उसने काबुल तथा सिन्धु नदी की उपरली घाटी पर हमले किये और कपिश राज्य के कुछ हिस्सो पर अधिकार कर लिया। यह पहला यूनानी राजा था जिसने भारतीय आदर्श पर चौकोर सिक्के बनवाये। आजकल इसे हिन्दूकुश को पार करके दक्षिण की ओर बढने वाला पहला राजा माना जाता है। यह अधेड उम्र मे राजगद्दी पर बैठा था। डिमेट्रियस प्रथम की मृत्यु के बाद सभवत बैक्ट्रिया का प्रदेश उसके राज्य मे सम्मिलित हो गया और पश्चिम मे उसने मार्गियाना (मर्व) के प्रदेश पर अपनी सत्ता विस्तीर्ण की, क्योकि यहाँ पर इसके सिक्के पाये गये है।

एण्टिमेकस के कुछ सिक्को पर यूनानी देवता पोसीडोन (Poseidon) की मूर्ति बनी है। यह नदियो का रक्षक तथा समुद्र का अधिष्ठाता देवता है और इस मूर्ति के आधार पर गार्डनर, कनिघम और रालिन्सन ने यह कल्पना की है कि ये मुद्राए किसी नौयुद्ध मे प्राप्त विजय की स्मृति मे जारी की गई होगी। यह युद्ध सभवत सिन्धु नदी पर हुआ होगा। टार्न के मतानुसार एण्टिमेकस का भारत के साथ कोई सम्बन्ध न था, अत यह युद्ध आमू नदी पर शक लोगो के साथ सघर्ष में प्राप्त विजय का सूचक है। किन्तु बर्न ने अनेक यूनानी उदाहरणो से यह प्रदर्शित किया है कि पोसीडोन इस समय न केवल समुद्र का अपितु वनस्पतियो को पुष्पित-पल्लवित करने वाला और बढाने वाला तथा वसन्त ऋतु का देवता था। वह लगभग भूमि माता अथवा (Demeter) के समकक्ष देवता था और उसकी पूजा समुद्र से दूरवर्ती पहाडो और मरुस्थलीय प्रदेशो के राजा भी किया करते थे। वह न केवल जल देने वाला, अपितु घोडो की रक्षा करने वाला देवता समझा जाता था। बैक्ट्रिया अपने घोडो के लिये पुराने जमाने से बहुत प्रसिद्ध था। अत इस दृष्टि से भी पोसीडोन की मूर्ति एन्टीमेकस के सिक्को पर अकित की जा सकती थी। उसके लिये किसी नौयुद्ध मे विजय प्राप्त करना आवश्यक न था।

एण्टीमेकस की एक नवीनता अपने नाम के साथ भगवान् का अर्थ देने

वाली थियोस (Theos) की उपाधि धारण करना था। उससे पहले किसी भी यूनानी या पार्थियन राजा ने यह उपाधि सरकारी रूप से धारण नहीं की थी। टार्न ने इस पर व्यंग्य करते हुए यह लिखा है कि बडे राजा अपने को भगवान् समझा करते है, किन्तु इस छोटे राजा ने अपने को स्वयमेव भगवान् कहना उचित समझा। कुषाण राजा भी अपने को दैवीय समझते थे और उन्होने देवपुत्र की उपाधि धारण की थी। यह सभव है कि पूर्वी बैक्ट्रिया या बदख्शा से अपना शासन आरम्भ करने वाले कुषाणों को राजा की दिव्यता का यह विचार यहाँ की स्थानीय परम्परा से प्राप्त हुआ हो और एन्टीमेकस ने भी इस विचार को अपने से पहले यहाँ प्रचलित स्थानीय परम्परा से ग्रहण किया हो। इससे उसे यहाँ बडी लोकप्रियता मिली होगी, डियोडोटस तथा यूथीडीमस के विभिन्न दलों का समर्थन भी उसे प्राप्त हुआ होगा। उसके सिक्को से यह ज्ञात होता है कि उसने १० वर्ष से अधिक शासन नही किया, अत उसकी मृत्यु १८० ई० पू० मे हुई होगी। यदि उसे अधिक समय तक शासन करने का समय मिलता तो वह समूची काबुल घाटी पर अधिकार कर लेता और द्विभाषी सिक्को को अवश्य जारी करता। ये दोनो कार्य उसके उत्तराधिकारी डिमेट्रियस द्वितीय (१८०–१६५ ई० पू०) ने किये।

डिमेट्रियस द्वितीय (१८०–१६५ ई० पू०)—यह सभवत. डिमेट्रियस प्रथम का पुत्र या पौत्र प्रतीत होता है। उसने सर्वप्रथम यूनानी और खरोष्ट्री लिपि वाली मुद्राये प्रचलित की। इनसे यह सूचित होता है कि खरोष्ट्री लिपि वाले प्रदेशो मे उसका शासन अच्छी तरह से जम गया था, अपने प्रजाजनो की सुविधा के लिये उसने अपने चाँदी के सिक्के पर दो नई बाते की, इसके पुरोभाग और पृष्ठ भाग मे लेख लिखवाना शुरू किया, यूनानी नामो और उपाधियो को भारतीय भाषा मे लिखा जाने लगा तथा मुद्राओ के भार मे भी कुछ परिवर्तन किये गये। उसके चाँदी के द्विभाषी सिक्कोपर वज्र के साथ खडे हुए ज्यूस देवता की मूर्ति है। डिमेट्रियस के कुछ सिक्को पर यूनानी देवी पल्लास (Pallas) की मूर्ति भी है। किन्तु ये सिक्के काबुल घाटी पर अधिकार करने से पहले के है और उन्हें हिन्दूकुश से उत्तर के प्रदेशो मे प्रचलन के लिये बनाया गया था। जिस समय हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण मे डिमेट्रियस अपनी शासन-सत्ता का विस्तार कर रहा था, उसी समय एक अन्य व्यक्ति यूक्रेटाईडीज ने हिन्दूकुश के उत्तर मे अपनी सत्ता सुदृढ करनी आरम्भ की।

यूक्रेटाईडीज प्रथम—इसका शासन-काल १७१ से १५५ ई० पू० तक माना

गया है। जस्टिन के मतानुसार पार्थिया का राजा मिथ्रदात और यूक्रेटाईडीज एक ही समय पर राजगद्दी पर बैठे थे और दोनों बड़े महत्वपूर्ण राजा थे। यूक्रेटाईडीज ने सुग्ध, एरिया, अर्खोसिया, द्रगियाना और भारत में अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। उसने अपनी बहुत छोटी सेना के साथ डिमेट्रियस द्वितीय का मुकाबला किया और उसे पराम्त किया। स्ट्रैबो के मतानुसार वह बैक्ट्रिया के एक हजार नगरों का स्वामी था, डिमेट्रियस की मृत्यु के बाद उसने उसके भारतीय प्रदेशों—काबुल नदी की घाटी, गन्धार, एरिया, अर्खोसिया और द्रगियाना पर अधिकार कर लिया। यूक्रेटाईडीज ने इन सब प्रदेशों को जीतने के बाद महान् का अर्थ देने वाली **मेगास** (Megas) की उपाधि धारण की और स्वर्ण मुद्राएं भी प्रचलित की। यूथीडीमस प्रथम के बाद मिनान्डर के अतिरिक्त यही एकमात्र ऐसा राजा है जिसने सोने के सिक्के चलाये थे। इनमें बीस स्टेटर का सोने का मैडल (Medallion) सम्भवत प्राचीन काल का सबसे बड़ा सोने का सिक्का था।

उसकी ताम्रमुद्राओं में से एक मुद्रा पर **कापिशी के नगर देवता** की मूर्ति बनी हुई है और **कापिशिये नगर देवता** का लेख है। उन दिनों कापिशी बेग्राम का नाम था। यह राज्य हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण में फैला हुआ था। ये मुद्रायें उसके काबुल की घाटी पर अधिकार को सूचित करती है। पहले इस मुद्रा पर अंकित चित्र को सिंहासन पर बैठे हुए यूनानी देवता ज्यूस की मूर्ति समझा जाता था। किन्तु बाद में इसमें कई कारणों से सन्देह किया जाने लगा। ज्यूस (Zeus) को प्रायः देवताओं का राजा होने के कारण अपने विशेष अस्त्र वज्र के साथ अथवा छत्र के साथ एवं अन्य विशेषताओं के साथ दिखाया जाता है। किन्तु इस मूर्ति को केवल कापिशी का नगर देवता कहा गया है और इसके साथ पर्वत तथा हाथी के सिर के दो प्रतीकात्मक चिह्न है। ऐसे चिह्न ज्यूस की मुद्राओं में अन्यत्र नहीं मिलते है। अतः इस विषय में विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनायें की है। चार्ल्स मेसन ने इसे एक देवी की मूर्ति बताया था। श्री जे० एन० बनर्जी के मतानुसार यह इन्द्र की मूर्ति है। यह बात चीनी यात्री युआन च्वांग के विवरण से पुष्ट होती है। उसके मतानुसार कपिश देश की राजधानी के दक्षिण-पश्चिम में पी-लो-शो-लो नामक पर्वत था। इस नगरी की अधिष्ठात्री देवी हाथी के रूप में थी और इस पर्वत का नाम उस देवी के नाम के आधार पर रखा गया था। उपर्युक्त चीनी नाम का संस्कृत रूपान्तर पीलुसार अर्थात् हाथी जैसा सुदृढ (सभवत हाथी जैसा आकार वाला) समझा जाता है। भारतीय परम्परा के अनुसार इन्द्र देवताओं का राजा है। उसका वाहन ऐरावत हाथी है। इन्द्र अनेक पर्वतों से भी सम्बन्ध रखता है। अतः यह बात

असंभव नही प्रतीत होती है कि यूनानी ओलम्पिया पर्वत पर रहने वाले अपने देवराज ज्यूस को इन्द्र से अभिन्न समझे। श्री बनर्जी के मतानुसार कापिशी नगरी की देवता के रूप मे इन्द्र की मूर्ति उसके वाहन ऐरावत के और पर्वत के साथ बनी हुई है। किन्तु ह्वाइटहेड ने इसे ज्यूस की मूर्ति न मानकर नगरदेवता की ही मूर्ति माना है।

यूक्रेटाईडीज के सिक्को पर **रजस, महारजस, रजतिरजस** अर्थात् राजा, महाराज और राजाधिराज की उपाधियाँ यूनानी और प्राकृत भाषा में उसके चाँदी और ताँबे के सिक्को पर मिलती है। ये उपाधियाँ ईरान के पार्थियन राजाओ से ली गई प्रतीत होती है। इनसे यह सूचित होता है कि इसका सम्बन्ध ईरान के पार्थियन राजाओ से भी था। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि मिथ्रदात प्रथम ने इसके कुछ सिक्को का अनुकरण किया है। स्ट्रैबो ने पार्थियनों के साथ इसके सघर्ष का वर्णन करते हुए यह बताया है कि पार्थियनो ने पहले यूक्रेटाईडीज को हरा कर बैक्ट्रिया के एक हिस्से को अपने राज्य का अग बनाया और इसके बाद शको को हराया। अन्यत्र स्ट्रैबो ने यह कहा है कि पार्थियनो ने यूक्रेटाईडीज से दो प्रान्त छीन लिये। मैकडानल्ड के मतानुसार ये प्रान्त एरिया और अर्खोसिया थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मिथ्रदात ने यूक्रेटाईडीज से इन प्रान्तो को छीनने के बाद उसकी मुद्राओ का अनुकरण किया और यूक्रेटाईडीज ने अपने भारतीय प्रदेशो मे पार्थियन उपाधि को धारण किया।

यूक्रेटाईडीज के वश के सम्बन्ध मे प्राचीन लेखकों ने कोई निश्चित बात नही लिखी है। आधुनिक विद्वानो ने मुद्राओ के आधार पर इस विषय मे कई प्रकार के परिणाम निकाले है। इसके कुछ सिक्को पर एक ओर यूक्रेटाईडीज का मुकुट एव शिरस्त्राण वाला शीर्ष बना हुआ है। इस पर बेसिलियस, मेगास अर्थात् महान् राजा यूक्रेटाईडीज का लेख है। दूसरी ओर नर-नारी की सयुक्त मूर्ति है और इनके नाम हेलियोक्लीज तथा लाओदिके है। हेलियोक्लीज का सिर नगा है और लाओदिके मुकुटमडित है। इस विषय मे मुद्राशास्त्रियो ने चार विभिन्न प्रकार की कल्पनाये की है—(१) पहली कल्पना कनिघम और गार्डनर की है। इनके मतानुसार ये दोनो यूक्रेटाईडीज के माता-पिता है। (२) एक अन्य विद्वान् वानसलेट (Vonsaelet) इन्हें उसके पुत्र और पुत्रवधू मानता है। उसका यह विचार है कि एन्टिओकस तृतीय की जिस कन्या का विवाह डिमैट्रियस से हुआ था, उसकी कन्या लाओदिके थी। इस राजकन्या का विवाह हेलियोक्लीज के साथ हुआ। इस घटना की स्मृति के उपलक्ष्य में यूक्रेटाईडीज ने इन सिक्को को प्रचलित करवाया था। (३) तीसरा मत उपर्युक्त दोनों मतों का समन्वय करते हुए यह कहता है कि

लाओदिके यूक्रेटाईडीज की माता तथा डिमेट्रियस की लड़की थी। यदि इस मत को मान लिया जाय तो हमे यह असम्भव स्थिति भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि यूक्रे-टाईडीज अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी डिमेट्रियस का पोता था, अतः अधिकांश विद्वानो ने इस कल्पना को स्वीकार नही किया है। (४) टार्न ने यह कल्पना की है कि यूक्रेटाईडीज सीरिया के यूनानी सम्राट् एन्टियोकस एपिफेन्स चतुर्थ (१७५ से १६४ ई० पू०) का मातृपक्ष की ओर से भाई लगता था। उसने पश्चिम में रोमन लोगों द्वारा जीते जाने वाले प्रदेशो की क्षतिपूर्ति मध्य एशिया मे इस वश के प्रभाव को बढाकर और इसके साम्राज्य को विस्तीर्ण करके पूरी करने का प्रयास किया। इस प्रकार उसका सेल्यूकसवशी सीरियन सम्राटो से गहरा सम्बन्ध था। इस कल्पना की पुष्टि यूक्रेटाईडीज की मुद्राओ पर मिलने वाली कुछ ऐसी विशेष-ताओं के आधार पर की गई है, जो सेल्यूकसवशी राजाओ की विशेषता समझी जाती है। इनमे उसकी मुद्राओं का विशेष किनारा (Reel and Bead Bordcı) तथा शिरस्त्राण पर वृषभ (Bull) के कान और सीग के निशान है। इनके आधार पर टार्न ने यह परिणाम निकाला है कि वह एन्टिओकस चतुर्थ का वस्तुत ममेरा या मौसेरा भाई था, और बैक्ट्रिया और भारत मे सेल्यूकस के लुप्त साम्राज्य को पुनरुद्धार करने का प्रयास कर रहा था, किन्तु १६४ ई० पू० मे एन्टिओकस की मृत्यु हो जाने के बाद उसे स्वतन्त्र रूप से अपने साम्राज्य को बढाने का अवसर मिला। किन्तु मैकडोनाल्ड ने इस विषय मे यह बात सत्य कही है कि इन विषयो मे हम यथार्थ ऐतिहासिक जगत मे न रहते हुए कल्पना-लोक मे विचरण करने लगते है। अत हम उसके वश के विषय मे निश्चित रूप से कुछ नही जानते है।

यहाँ इसकी मुद्राओ के आधार पर ही कुछ सामान्य बाते कहना समुचित प्रतीत होता है। यूक्रेटाईडीज की चाँदी और ताँबे की मुद्राये प्रचुर मात्रा मे तथा सोने की मुद्राए अल्प मात्रा मे मिली है। इनके सूक्ष्म अध्ययन से निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिणाम निकाले गये है—

(१) पहला परिणाम उसकी स्वर्ण-मुद्राओ के आधार पर टार्न ने यह निकाला है कि उसने बैक्ट्रिया को पूरी तरह जीतने के बाद इस विजय की स्मृति को चिरस्थायी और सुरक्षित बनाने के लिये अपनी स्वर्ण मुद्राए प्रचलित की। यह इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल के यूनानी जगत मे अब तक सबसे बडी स्वर्ण मुद्रा इसी राजा की मिली है। यह २० स्टेटर (Stateı) की यूनानी मुद्रा है। इसका एक नमूना पेरिस मे सुरक्षित है, किन्तु इस प्रकार की स्वर्ण-मुद्राओ के उदाहरण बहुत ही कम मिलते है। मैक-

डोनाल्ड ने इसके बारे मे यह सत्य ही लिखा है कि प्राचीन काल के किसी अन्य राजा या नगर ने समृद्धि का इतना अधिक आडम्बरपूर्ण प्रदर्शन नही किया है।

(२) सिक्को पर उसने यूनानी भाषा मे **महान राजा** (Basileous Megalou) की उपाधि धारण की है। इस उपाधि के आधार पर यह कल्पना की गई है कि उसने सभवत. यह उपाधि एन्टिओकस तृतीय के सिक्को के आधार पर उसकी भाँति सेल्यूकस के पूर्वी साम्राज्य को जीतने के लिये की थी। टार्न ने (पृ० २०७-८) इस कल्पना को पूर्णतः सत्य न मानते हुए इसे केवल विजय का स्मारक ही माना है। पुराने जमाने मे सोने के सिक्के चलाना स्वतन्त्रता की घोषणा करना हुआ करता था। क्या इन सिक्को को चला कर यूक्रेटाईडीज ने एन्टिओकस चतुर्थ के आधिपत्य से मुक्त होने की घोषणा की थी ? यह प्रश्न अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है।

(३) उपर्युक्त सोने के सिक्के पर तथा इसके चाँदी के सिक्को पर यूनानी देवगाथा मे प्रसिद्ध बृहस्पति के दो जुड़वा भाइयो की **युगल मूर्ति** (Dioscuri) को सूचित करने वाले दो घुडसवारो के चित्र बने हुए हैं। ये सेल्यूकस वशी राजाओ का विशिष्ट चिह्न समझे जाते है। सर्वप्रथम इन भाइयो के शीर्षमात्र की युगल मूर्तियाँ सेल्यूकस प्रथम की मुद्राओ पर मिलती है, परन्तु इनकी पूरी मूर्तियाँ एन्टिओकस द्वितीय की तथा उसके पुत्र सेल्यूकस द्वितीय की मुद्राओ पर पाई जाती है और ये निश्चित रूप से इन दो राजाओ द्वारा मिस्र के टालमी राजाओ के विरुद्ध प्राप्त की गई सफलताओ को सूचित करती है। यूक्रेटाईडीज के सिक्को की युगल मूर्ति की एक विशेषता यह भी है कि इसमे दोनो घोड़े सरपट चाल से (Galloping) दौडते हुए दिखाये गये है, जब कि उसके दादा सेल्यूकस द्वितीय के सिक्को मे ये घोडे पिछले दो पैरो पर खडे होने (Prancing) की दशा मे अकित है। यूनानी साहित्य मे बृहस्पति के पुत्र—दोनो जुड़वा भाई (Dioscuri) वैदिक साहित्य के अश्विनीकुमारो की तरह मनुष्यो को सकटो से उबारने वाले अथवा त्राता (Soter) थे। यूक्रेटाईडीज द्वारा अपने सिक्को पर इन युगल मूर्तियो को अकित करवाने का अभिप्राय टार्न के मतानुसार पूर्वी देशो के यूनानियो को इस बात का निमन्त्रण देना था कि वे सेल्यूकस वश के पूर्वी साम्राज्य को यूथीडीमस के वशजो की प्रभुता से मुक्त करने मे उसको सहयोग दे क्योंकि वह उनके अत्याचारपूर्ण शासन से उन्हें मुक्त कराने आया है। इसके साथ ही ये युगल मूर्तियाँ सभवत. यूक्रेटाईडीज और एन्टिओकस के भी प्रतीक थे, जो पश्चिम और पूर्व में एक साथ सेल्यूकस वश के विदेशी प्रभुता मे गये हुए प्रदेशो को पुनः स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न कर रहे थे (टार्न पृ० २०४–२०६)।

(४) मुद्राओ के आधार पर इस राज्य के साम्राज्य की सीमाओं का भी निर्धारण किया गया है। हिन्दूकुश पर्वत को पार करके यूक्रेटाईडीज ने जिस मारतीय प्रदेश पर विजय प्राप्त की थी, वह सभवत सिन्धु नदी तक विस्तीर्ण कपिश और गन्धार का प्रदेश था। कपिश प्रदेश पर उसकी विजय की सूचना हमे उसके तांबे के चौकोर द्विभाषी सिक्को से मिलती है, इनमे एक ओर सिहासनासीन ज्यूस की मूर्ति है और खरोष्ट्री मे कापिशी के नगर देवता का उल्लेख है। यह मुद्रा कई दृष्टियो से विशेष महत्व रखती है। एण्टिओकस चतुर्थ ने अपनी मुद्राओं के एक विशिष्ट प्रकार मे इसी तरह ज्यूस की राजसिहासन पर बैठी हुई मूर्ति अंकित करवाई थी। यूक्रेटाईडीज द्वारा इसका अनुसरण करना सूचित करता है कि वह अभी तक अपने आपको एण्टिओकस का स्वामिभक्त सामन्त समझता था। इस मुद्रा से यह भी सूचित होता है कि उन दिनो भारत के विभिन्न नगर अपनी रक्षा करने वाले विशेष देवताओ की पूजा करते थे और अपनी मुद्राओ पर इन देवताओ को अकित किया करते थे। पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती का विशेष चिह्न शिव का नन्दी था। इसी प्रकार कपिश देश का विशेष चिह्न उसका हस्ती देवता था जो कापिशी के निकट पीलुसार नामक पर्वत पर रहा करता था। हाथी की मूर्ति एण्टिओकस की मुद्राओ पर भी है। यूक्रेटाईडीज ने इसमे पीलुसार पर्वत को सूचित करने के लिये पर्वत का चिह्न भी अकित करवाया है।

उसके भारतीय प्रदेश के द्विभाषी सिक्को पर खरोष्ट्री मे **रजस, महरजस, महतकस, एवुक्रतिदस** (राज्ञ महाधिराजस्य, महत एवुक्रतिदस्य) का लेख है। इसकी तुलना इसी राजा के एक दुर्लभ चौकोर तॉबे के सिक्के से की जा सकती है जिस पर यूनान की विजया देवी (Nike) की मूर्ति के साथ उपर्युक्त लेख **महरजस रजतिरजस एवुक्रतिदस** के रूप मे है। इसमे रजतिरज यूनानी के Basileus Basileon का प्राकृत अनुवाद है। ऐसा लेख बाद मे शक और पार्थियन राजाओ के सिक्को पर भी पाया जाता है, किन्तु किसी यूनानी राजा के सिक्के पर यह इसरूप मे पहली बार मिलता है। भारतीय भाषा के प्रयोग के अतिरिक्त यूक्रेटाईडीज ने भारतीय तोल वाले सिक्को को भी बनवाना शुरू किया, क्योंकि इसके कुछ सिक्को मे यूनानी तोल का अनुसरण नही किया गया, किन्तु उसके उत्तराधिकारियो के समय मे यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल हुई।

उससे पहले सभवत कपिश प्रदेश मे अपोलोडोटस का शासन था। यह बात इस तथ्य से सूचित होती है कि अपोलोडोटस के कई सिक्को पर यूक्रेटाईडीज

ने अपनी मुद्रा के चिह्नों को अंकित करवाया है। ये सिक्के **कविसिय नगरदेवता** के लेख से अंकित हैं और इस बात को सूचित करते हैं कि इसने कपिश देश (वर्तमान काफिरिस्तान एव घोरबन्द पंजशीर नदियों की घाटी के प्रदेश) की राजधानी कापिशी पर शासन करने वाले अपोलोडोटस को हराया था। संभवतः अपोलोडोटस डिमेट्रियस के वश का था और टार्न के मतानुसार उसका भाई था।

यूक्रेटाईडीज को डिमेट्रियस के वश के कुछ अन्य राजाओ, सम्भवतः एगेथोक्लीज और पेन्टेलियोन (Pantaleon) से भी लड़ना पड़ा। इन राजाओ का ज्ञान हमें केवल इनके सिक्को से ही होता है। हमारे पास इस बात को जानने का कोई अन्य साधन नही है कि ये किन प्रदेशो मे शासन करते थे और इनका डिमेट्रियस के साथ क्या सम्बन्ध था।

भारत मे यूक्रेटाईडीज ने कहाँ तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया, यह बात निश्चित रूप से कहना कठिन है। विजया देवी की मूर्ति से अंकित शैली वाले उसके सिक्के झेलम तक पाये गये है और इसके आधार पर कुछ मुद्राशास्त्रियो ने यह कल्पना की है कि इसका राज्य इस नदी तक भारत मे विस्तीर्ण था। किन्तु इस कल्पना का समर्थन करने के लिये हमारे पास कोई अन्य निश्चित प्रमाण नही है और यह समझा जाता है कि इसका राज्य सिन्धु नदी तक ही सीमित था, इसके पूर्व मे उसके राज्य का विस्तार नही हुआ। वस्तुतः गन्धार प्रदेश मे उसका शासन सिन्धु नदी के पूर्व तक ही था। शायद उसने सिन्धु नदी को पार नही किया था। मार्शल ने लिखा है कि इस राजा द्वारा सिन्धु नदी को पार करने तथा तक्षशिला पर शासन करने के सम्बन्ध मे हमारे पास कोई स्पष्ट प्रमाण नही है। तक्षशिला मे अब तक उसके केवल चार ही सिक्के मिले है।

यूक्रेटाईडीज का अन्त बडी दुखपूर्ण रीति से हुआ। वह १५५ ई० पू० मे स्वदेश लौटा। बैक्ट्रिया वापिस आने पर, जस्टिन के मतानुसार उसे उसके उस कृतघ्न पुत्र ने मार डाला, जिसे उसने अपने साथ शासन करने वाला राजा बनाया था। उसकी हत्या करने वाला कौन था, इस विषय मे ऐतिहासिको मे तीव्र मत-भेद है। टार्न के मतानुसार यूक्रेटाईडीज की हत्या डिमेट्रियस प्रथम के पुत्र ने की, किन्तु कई अन्य ऐतिहासिको —बर्न, एलथीन और जिन्कीन्स ने टार्न के इस मत को स्वीकार नही किया। श्री ए० के० नारायण ने यह प्रदर्शित किया है कि यूक्रेटाईडीज की हत्या करने वाला उसका पुत्र प्लेटो था[1]। प्लेटो के कई प्रकार के सिक्के

१. **अवधकिशोर नारायण—दी इन्डोग्रीक्स**, पृ० ७०–३।

मिलते हैं, इनमे चार घोड़ो वाले रथ (Qudriga) पर आरूढ़ सूर्य शैली के सिक्के उल्लेखनीय है। इन मुद्राओ पर अंकित उसके सिर की आकृति यूक्रेटाईडीज के शीर्ष से गहरा सादृश्य रखती है। सभवत. प्लेटो यूक्रेटाईडीज प्रथम का सबसे बड़ा लडका था। पिता ने हिन्दूकुश के दक्षिण मे काबुल नदी की घाटी एव उसके आसपास के प्रदेशो को विजय करने के लिये प्रस्थान करने से पहले ही उसे अपने साथ सयुक्त रूप से शासन करने वाला राजा बना दिया था। प्लेटो ने एपीफेन्स (Epiphanes) की उपाधि धारण की थी। इससे यह सूचित होता है कि वह अत्यन्त महत्वाकाक्षी था और जल्दी ही राजगद्दी पर बैठना चाहता था। उसमे इतना धैर्य नही था कि वह अपने पिता के स्वाभाविक देहावसान की प्रतीक्षा कर सके। जस्टिन ने लिखा है कि उसने अपने पिता की हत्या करके अपने रथ को उसके रक्तरञ्जित शरीर पर चलाया। इसका सम्बन्ध कुछ विद्वानो ने उसके सिक्को पर बने चार घोड़ो से खीचे जाने वाले रथ पर बैठे सूर्य देवता से जोड़ा है। इस विषय में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि प्लेटो के बाद किसी राजा ने इस प्रकार रथारूढ़ सूर्य देवता की मूर्ति अंकित नही करवाई। इसका कारण शायद यह था कि इस प्रकार का मुद्राप्रकार पितृघाती प्लेटो के साथ सम्बन्ध होने के कारण बहुत बदनाम हो गया। श्री ए० के० नारायण ने इस सम्बन्ध मे यह भी सुझाव दिया है कि प्लेटो अपनी पितृहत्या के दुष्कार्य से इतना अधिक अलोकप्रिय और बदनाम हो गया कि उसे उसके भाई हेलिओक्लीज प्रथम (१५५–१४० ई० पू०) ने मरवा डाला और इसके बाद उसने डिकेओम की उपाधि धारण की। इसकी पुष्टि इस बात से की गई है कि प्लेटो की मुद्रायें बहुत कम मिलती है। यह इस बात को सूचित करती है कि उसका शासन एकदम किसी विशेष कारण से समाप्त हो गया। जस्टिन ने यह भी लिखा है कि पार्थिया बैक्ट्रिया के दो प्रान्तो मे गहरी दिलचस्पी रखता था और उसने उन्हे अपने राज्य का अग बना लिया। यह बात उसने अपने पिता की हत्या करने वाले पुत्र के प्रसग मे इस ढग से लिखी है कि मानो उसने एक शत्रु की हत्या की थी। इससे यह सूचित होता है कि प्लेटो की महत्वाकाक्षा को उद्दीप्त करने वाला पार्थिया था। उसके उभाड़ने से प्लेटो ने राजगद्दी पाने के प्रलोभन में अपने पिता की हत्या की। किन्तु उसे इसका मूल्य शीघ्र ही चुकाना पडा और पार्थिया ने तापुरिया और ट्रंक्सीयाना (Traxiana) नामक प्रान्तो को बैक्ट्रिया से छीन लिया। इन्हें छीनने वाला पार्थियन राजा मिथ्रदात प्रथम था।

यूक्रेटाईडीज की आकस्मिक मृत्यु से बडी जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो गई। इसने भारत मे शासन करने वाले एक अतीव प्रसिद्ध यवन राजा को अपने राज्य

के विस्तार का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। यह मिनान्डर अथवा पाली साहित्य का मिलिन्द नामक राजा है।

मिनान्डर—यह प्राचीन काल का एक अतीव महत्वपूर्ण हिन्द-यूनानी राजा था। इसका वर्णन न केवल स्ट्रेबो, प्लूटार्क, ट्रोगस तथा जस्टिन ने किया है, अपितु उसे पाली के आरम्भिक बौद्ध साहित्य मे भी बड़ा महत्व दिया गया है। एक पाली ग्रन्थ **मिलिन्दपन्हो** (मिलिन्दप्रश्न) में शाकल के प्रतापी यवन राजा मिलिन्द तथा सुप्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु नागसेन का वार्तालाप है, इसमे मिलिन्द द्वारा पूछे गये बौद्ध धर्म और दर्शन के जटिल प्रश्नों का नागसेन ने बडा सुन्दर और सन्तोषजनक समाधान किया है। इससे प्रभावित होकर मिलिन्द बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेता है। सभी विद्वान् इस मिलिन्द को हिन्द-यूनानी राजा मिनान्डर से अभिन्न समझते हैं।

मिलिन्दप्रश्न मे दिये गये वर्णन के अनुसार मिलिन्द का जन्म अलसन्द द्वीप के कालसी नामक ग्राम मे हुआ था, यह उसकी राजधानी शाकल से दो सौ योजन की दूरी पर था। कालसी की आधुनिक स्थिति को निश्चित रूप से बताना कठिन है, किन्तु अलसन्द द्वीप हिन्दूकुश पर्वत की जड़ मे सिकन्दर द्वारा अपनी भारत विजय-यात्रा मे बसाई गई सिकन्दरिया की नगरी थी। महावश मे इसे योन अर्थात् यूनानियो की अलसन्द नगरी कहा गया है। कनिघम ने इस सिकन्दरिया की पहचान आधुनिक चरीकर नामक स्थान से की है, यह पजशीर और काबुल नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश मे सामरिक महत्व रखने वाले स्थान पर अवस्थित है। इस प्रकार यह स्थान द्वीप अर्थात् दो नदियों से घिरा हुआ प्रदेश था। रैप्सन ने यह भी प्रदर्शित किया है कि चरीकर से शाकल अर्थात् स्यालकोट लगभग दो सौ योजन अथवा पाँच सौ मील की दूरी पर था। इसमे एक योजन को ढाई मील के बराबर माना गया है। मिलिन्दप्रश्न से यह भी ज्ञात होता है कि यह राजा यूनानी दरबारियों की एक बड़ी सख्या के साथ बौद्ध भिक्षु नागसेन के पास जाया करता था, यह सख्या प्रायः पाच सौ बताई जाती है। राजा के साथ रहने वाले यूनानियो में **देवमन्तिय** तथा **अनन्तकाय** के नाम उल्लेखनीय है। ये डिमेट्रियस और ऐन्टिओकस के यूनानी नामो के भारतीय रूपान्तर प्रतीत होते है। इस ग्रन्थ के अनुसार मिलिन्द बुद्ध के परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद हुआ था।

मिनान्डर की वशपरम्परा तथा यूथीडीमस के राजवंश के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में हमें निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञान नही है। ऐसा प्रतीत होता

है कि वह सामान्य कुल मे उत्पन्न हुआ था। इस बात की सम्भावना बहुत अधिक है कि उसका विवाह यूथीडीमस द्वारा प्रवर्तित राजवश मे उत्पन्न हुई कन्या से हुआ था। रैप्सन ने विभिन्न मुद्राओं के गम्भीर अध्ययन के आधार पर यह कल्पना की है कि मिनान्डर ने डिमेट्रियस की पुत्री तथा एगेथोक्लीज की बहन ऐथोक्लिया से विवाह किया था और उसका पुत्र स्ट्रेटो प्रथम मिनान्डर की मृत्यु के समय अभी नाबालिग था, अपने बेटे की नाबालिगी मे ऐगेथोक्लिया ने उसकी सरक्षिका के रूप मे कुछ समय तक शासन किया। यह परिणाम मिनान्डर, ऐगेथोक्लिया और स्ट्रेटो प्रथम के कुछ विशेष मुद्राप्रकारो के गम्भीर अध्ययन के आधार पर निकाला गया है। ताँबे के कुछ चौकोर सिक्को के पुरोभाग मे राजमुकुट धारण किये एक नारी का धड (Bust) और पृष्ठ भाग मे पखो वाली तथा माला और ताड की शाखा धारण करने वाली विजया देवी (Nike) की मूर्ति है। इस धड को पहले पल्लास ऐथीन नामक यूनानी देवी की मूर्ति समझा जाता था। किन्तु रैप्सन के विचार मे विजया देवी की मूर्ति सम्भवत निकेईया नामक नगरी (वर्तमान झेलम) की देवता की थी। ये सिक्के इस स्थान की टकसाल मे ढाले गये थे। इनके दूसरी ओर की नारी पल्लास ऐथीन न होकर रानी की प्रतिमा थी, क्योकि इस पर अकित मूर्ति की शकल रानी ऐगेथाक्लिया के नाम से अकित सिक्को पर बनी रानी की मूर्ति से बिल्कुल मिलती है। इस आधार पर यह कल्पना की गई है कि मिनान्डर के सिक्को पर उसकी रानी ऐगेथाक्लिया की मूर्ति बनी है। इसी प्रकार ताँबे के कुछ चौकोर सिक्को पर ऐगेथोक्लिया और स्ट्रेटो की मूर्तियां एक ओर बनी है और दूसरी ओर एक चट्टान पर अपने डण्डे के साथ घुटने पर विश्राम करते हुए नग्न हिराक्लीज की मूर्ति है। यह यूथीडीमस वशीय राजाओ की मुद्राओ का विशिष्ट प्रकार था। स्ट्रेटो की मुद्राओं पर इसका बना होना इस राजवश से इसके सम्बन्ध को सूचित करता है। इन सिक्को के पृष्ठ भाग मे **महारजस त्रातरस ध्रमिकस त्रतस** का लेख है। रैप्सन के मतानुसार ये सिक्के स्ट्रेटो की उस दशा को सूचित करते है जब वह नाबालिग था। ब्रिटिश म्यूजियम की एक महत्वपूर्ण मुद्रा मे स्ट्रेटो तथा ऐगेथोक्लिया की युगल मूर्तियां बनी हुई है। इनके पुरोभाग पर **बसीलिओस स्ट्रेटोनास कोई ऐगेथोक्लियास** का लेख अकित है और पृष्ठ भाग मे पल्लास ऐथीन की मूर्ति के साथ **महारजस त्रातरस ध्रमिकस त्रतस** का लेख है। यह इस बात को सूचित करता है कि स्ट्रेटो को बडे होने पर भी अपनी माता के सरक्षण की आवश्यकता थी और वह अभी तक राजकीय कार्यो की देखभाल कर रही थी। इस मुद्रा की तुलना लाहौर सग्रहालय मे विद्यमान स्ट्रेटो के एक अन्य सिक्के से की गई है जिस पर केवल राजा

की तरुण मूर्ति पुरोभाग पर **बेसिलिओस सोटेरोस डिकाईओ स्ट्रेटोनोस** के यूनानी लेख के साथ अंकित है और पृष्ठ भाग मे प्राकृत में लेख तथा ऐथीन की मूर्ति है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि स्ट्रेटो अब बालिग हो चुका था और उसे अपनी माता के संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि व्हाईटहैड ने रैप्सन की इस कल्पना को चुनौती देते हुए यह लिखा है कि इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि ऐगेथोक्लिया मिनान्डर की रानी और स्ट्रेटो प्रथम की जननी थी, फिर भी आजकल अधिकाश विद्वान् रैप्सन की इस कल्पना को यथार्थ मानते है।

मिनान्डर का शासन-काल भी ऐतिहासिकों मे उग्र विवाद का विषय बना हुआ है। सामान्य रूप से इसका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य मे १५५ ई० पूर्व से १३० ई० पू० तक माना जाता है। किन्तु श्री दिनेशचन्द्र सरकार आदि कुछ विद्वान् मिनान्डर का समय ११५–९० ई० पूर्व मानते है। इसके राज्य का विस्तार उसके सिक्को से सूचित होता है। ये सिक्के काबुल की घाटी से यमुना नदी तक के प्रदेश मे तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अनेक जिलों मे उपलब्ध हुए है। पेरिप्लस के वर्णनानुसार पहली शताब्दी ईसवी मे काठियावाड़ मे उसकी मुद्राओ का प्रचलन था। आर्टेमिटा के एपोलोडोरस के वर्णनानुसार मिनान्डर ने पूर्व दिशा मे हिफेनिस नदी को पार किया था और वह ईसामस नदी तक पहुँचा था। **हिफेनिस** नदी सम्भवत. हिफेसिस या व्यास नदी है। ईसामस प्राकृत की इच्छुमयी अथवा संस्कृत की **इक्षुमती** का यूनानी रूपान्तर प्रतीत होता है। इस नदी की पहचान पचाल देश में बहने वाली आजकल की काली नदी से की जाती है, जो कुमाऊँ, रुहेलखण्ड और कन्नौज के प्रदेश मे बहती है।

पंजकोरा और स्वात नदी के संगम से पश्चिम में लगभग बीस मील की दूरी पर बाजौर के कबायली प्रदेश मे शिनकोट नामक स्थान से सेलखडी के बने हुए एक पात्र पर खरोष्ट्री के दो लेख मिले है। इनमे पहले लेख मे मिनान्डर के शासन-काल का वर्णन है। इस पात्र मे पूजा के लिये शाक्यमुनि बुद्ध के कुछ पवित्र अवशेष **वियकमित्र** नामक राजकुमार ने मिनान्डर के समय मे स्थापित किये थे। यह सम्भवत. इस यवन राजा का कोई सामन्त था। वियकमित्र के पुत्र या पौत्र **विजयमित्र** ने दूसरी बार इन अवशेषो की प्रतिष्ठा की। शिनकोट के इस अभिलेख से यह सूचित होता है कि मिनान्डर का शासन पेशावर के प्रदेश पर और सम्भवतः काबुल नदी की उपरली घाटी पर था। उस समय तक्षशिला तथा पुष्कलावती में कोई स्वतन्त्र राजा नहीं थे। इस प्रकार मुद्राओं तथा उपर्युक्त अभिलेख के आधार पर मिनान्डर के राज्य में निम्नलिखित प्रदेश सम्मिलित थे— अफगानिस्तान का मध्यवर्ती प्रदेश,

उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त, पजाब, सिन्ध, राजपूताना, काठियावाड तथा सम्भवतः पश्चिमी उत्तर प्रदेश का कुछ भाग।

मिनान्डर के अतिरिक्त किसी अन्य यूनानी राजा ने इतने अधिक विभिन्न प्रकार के सिक्के प्रचलित नही किये। उसके अधिकाश सिक्के सोने और ताँबे के है और इनमे तीस विभिन्न प्रकार या शैलियाँ पाई जाती है। उसकी मुद्राओ के एक मुख्य प्रकार के पुरोभाग मे उसकी आवक्ष मूर्ति मिलती है, इसका सिर कई बार शिरस्त्राण-युक्त होता है और कई बार मुकुट से सुशोभित होता है। कई सिक्को के पृष्ठ भाग पर **एथीन प्रोमेकस** की मूर्ति बनी हुई है। इन सिक्को पर प्राय यूनानी और प्राकृत मे **बेसीलिओस सोटेरोस मेनन्द्रो तथा महरजस त्रतरस मेनद्रस** के लेख मिलते हैं। कुछ रजत एव ताम्र मुद्राओ पर सोटेरोस के स्थान पर डिकाई का तथा प्राकृत मे त्रतरस के स्थान पर **ध्रमिकस** का लेख मिलता है। इन ताम्र मुद्राओ मे राजा की मूर्ति वृद्धावस्थापन्न व्यक्ति की है। इसमे यह परिणाम निकाला गया है कि राजा ने इस उपाधि को अपने शासन काल के अन्तिम भाग मे धारण किया था, फलत उसने बडी परिपक्व आयु मे बौद्ध धर्म ग्रहण किया था।

कुछ विद्वान् इन मुद्राओ के आधार पर मिलिन्दप्रश्न के इस कथन की पुष्टि करना चाहते है कि मिलिन्द ने बाद मे बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, किन्तु मिनान्डर की मुद्राओ के **ध्रमिकस** शब्द से यह कल्पना करना पुष्ट प्रमाण नही प्रतीत होता, क्योंकि इसके यूनानी पर्याय डिकाईओ का शब्द एगेथोक्लीज, हेलिओक्लीज और आरखेबियस की मुद्राओ पर भी मिलता है। मिनान्डर की कुछ वर्गाकार ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग पर आठ अरो वाला चक्र मिलता है। कुछ विद्वानो के मतानुसार यह बौद्धो के धर्मचक्र का एव उसके बौद्धधर्म ग्रहण करने का प्रतीक है। किन्तु इन मुद्राओ पर उसके रक्षक का अर्थ देने वाली **सोटेरोस** की यूनानी उपाधि है। टार्न इस चक्र का सम्बन्ध इन सिक्को के पृष्ठ भाग पर बनी ताड की शाखा के साथ जोडता है और इसे चक्रवर्ती राजा के अथवा सर्वोच्च शासक के शासन का चक्र मानता है। किन्तु यह आहत मुद्राओं पर पाये जाने वाले सूर्य को सूचित करने वाला चिह्न का भी एक रूप हो सकता है। मिनान्डर के सिक्को पर विभिन्न प्रकार के पशुओं की ऐसी मूर्तियाँ अंकित है, जिनकी सही व्याख्या करना बहुत कठिन है। उसकी मुद्राओ पर उल्लू, दो ककुद वाला ऊँट, बैल, सूअर और हाथी का सिर, घोडा, मछली आदि अनेक पशु पुरोभाग एव पृष्ठ भाग पर बने होते है।

मिनान्डर की राजधानी शाकल थी। इसकी पहचान अधिकांश विद्वानो ने

पश्चिमी पंजाब के सुप्रसिद्ध नगर स्यालकोट से की है। यहाँ उसने बड़ी योग्यता और न्यायपरायणता के साथ शासन किया और उसे अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त हुई। प्लूटार्क ने लिखा है कि वह अपने प्रजाजनो मे इतना अधिक लोकप्रिय था कि उसकी मृत्यु के बाद उसके अवशेष प्राप्त करने के लिये प्रजाजनो मे काफी संघर्ष हुआ। अन्त मे वे इन अवशेषो का बँटवारा करने के लिये सहमत हो गये। विदेशी होते हुए भी मिनान्डर ने भारतीय जनता के हृदय में जो उच्च स्थान प्राप्त किया उसका कारण उसकी उदारता, सहिष्णुता, न्यायप्रियता, सुशासन एव उत्कृष्ट राज्य-व्यवस्था थी। सम्भवत. वह यूनानी होते हुए भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति का अनन्य भक्त था। यद्यपि वह जन्म से विदेशी था, किन्तु कनिष्क की भाँति विचारो और धर्म की दृष्टि से वह विशुद्ध भारतीय था। बौद्ध धर्म की शिक्षाओ से प्रभावित होकर उसने तथागत के धर्म को स्वीकार किया था और बौद्ध परम्परा के अनुसार नागसेन के प्रभाव से वह अपने अन्तिम जीवन मे सन्यासी हो गया। उसने अपने पुत्र के लिये राजपाट छोडा, प्रव्रज्या ग्रहण की और अर्हत् बना। इस बौद्ध अनुश्रुति का समर्थन यूनानी इतिहास लेखक नही करते है। प्लूटार्क का कहना है कि राजा की मृत्यु एक सैनिक शिविर मे हुई। **मिलिन्दप्रश्न** मे मिनान्डर के चरित्र का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि वह विद्वान्, चतुर, बुद्धिमान् और योग्य व्यक्ति था। उसने विभिन्न कलाओ मे प्रवीणता प्राप्त की थी, वह श्रुति, स्मृति, न्याय, वैशेषिक, गणित शास्त्र, सगीत शास्त्र और युद्धकला मे निष्णात था। वाद-विवाद एव शास्त्रार्थ करने मे वह अजेय और अद्वितीय समझा जाता था।

मुद्राओ पर मिनान्डर एक तरुण तथा अधेड आयु के व्यक्ति के रूप मे दिखाया गया है। इससे यह सूचित होता है कि उसका शासन-काल काफी लम्बा था। काबुल से मथुरा तक विस्तृत प्रदेश मे उपलब्ध होने वाली मुद्राएँ भी इसी बात को प्रकट करती हैं। सम्भवत· उसकी मृत्यु १३० ई० पू० मे हुई। इसमें कोई सन्देह नही कि वह हिन्द-यूनानी राजाओ मे सबसे बडा तथा महत्वपूर्ण यवन राजा था। उसके समय मे इन राजाओ की शक्ति अपने चरम शिखर पर पहुँच गई थी। पश्चिम मे काबुल नदी की घाटी से पूर्व में यमुना नदी तक, उत्तर मे स्वात नदी की घाटी से दक्षिण में अर्खोसिया के प्रदेश तक उसकी प्रभुता विस्तीर्ण थी। कनिघम ने यह कल्पना की है कि भारत मे तथा हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण के प्रदेशों मे प्राप्त होने वाली सफलता

---

१. श्री ए० के० नारायण के मतानुसार यह स्यालकोट नहीं, अपितु बाजौर के कबायली प्रदेश में कोई स्थान था—दि इन्डोग्रीक्स, पृष्ठ १७२–७३

से प्रोत्साहित होकर उसने बैक्ट्रिया के राज्य को पुन प्राप्त करने की योजना बनाई। सम्भवत. इसीलिये उसने पार्थिया के विरुद्ध सघर्ष करने वाले सेल्यूकसवशी डिमेट्रियस द्वितीय की सहायता की। इसी कार्य के लिये पश्चिम की ओर जाते हुए एक सैनिक शिविर मे उसकी मृत्यु हो गई।

मिनान्डर के बाद के राजा—मीरजका तथा कुन्दूज मुद्रानिधियाँ—

यूक्रेटाईडीज और मिनान्डर की मृत्यु के बाद हिन्द-यूनानी राजाओ के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बहुत ही कम है। पुराणो मे केवल आठ यवन राजाओ का उल्लेख मात्र है। किन्तु इनके राज्यकाल पर प्रकाश डालने वाली कोई भी नई बात पुराणो मे नही मिलती है। इनका तिहास जानने का एकमात्र साधन मुद्राये ही है। मीरजका निधि तथा कुन्दूज निधि से इन यूनानी राजाओ के इतिहास पर नवीन प्रकाश पडा है। मीरजका निधि मे हिन्द-यूनानी राजाओ के २५०० सिक्के, शक पार्थियन राजाओ की ४००० मुद्राये और साढे पाँच हजार आहत मुद्राये तथा तक्षशिला की और यूनानी एक सौ पुरानी मुद्राये मिली है। यह सग्रह सिक्को की सख्या की दृष्टि से बडा महत्व रखता है। कुन्दूज उत्तरी अफगानिस्तान मे है। १९४८ मे यहाँ एक विशाल मुद्रा निधि प्राप्त हुई थी, इसके ६६५ सिक्के काबुल सग्रहालय मे है। इस मुद्रा-सग्रह की एक बडी विशेषता यह है कि इसमे प्लेटो, एमेन्तास आदि यूनानी राजाओं के कुछ सर्वथा नई शैली के सिक्के मिले है।

इनसे हिन्द-यूनानी राजाओ के इतिहास पर नया प्रकाश पडा है। इनसे इन राजाओ के सम्बन्ध मे मानी जाने वाली इस पुरानी धारणा मे कुछ परिवर्तन हो गया है कि हिन्द-यूनानी सत्ता इस समय दो राजवशों मे बँटी हुई थी। झेलम नदी के पश्चिम मे यूक्रेटाईडीज के वशज शासन करते थे और इस नदी के पूर्व मे यूथीडीमस के वश के राजाओ का शासन था। इसके स्थान पर अब उपर्युक्त मुद्रा-निधियो के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि उन दिनो एक ही समय मे यहाँ एक से अधिक राजाओ का शासन था। ये आपस मे एक दूसरे से लडते रहते थे और इनमे गृह-युद्ध चलता रहता था। यह स्थिति उस समय तक चलती रही जब तक विभिन्न प्रदेशो और विभिन्न समयो मे शको, पहलवो और कुषाणो ने इनकी सत्ता का विध्वस नहीं कर दिया।

मुद्राओ के विभिन्न प्रकारो के आधार पर १३० ई० पू० के बाद हिन्द-यूनानी राज्य को निम्नलिखित सात प्रदेशो मे बाँटा जाता है—(१) हिन्दूकुश के उत्तर मे बदख्शा का प्रदेश, (२) काबुल नदी की घाटी अथवा परोपेमीसदी (३), गजनी का प्रदेश अथवा

उत्तरी अर्खोसिया, (४) सिन्धु नदी के पश्चिम का प्रदेश अथवा पश्चिमी गन्धार, जिसकी मुख्य नगरी पुष्कलावती थी, (५) स्वात नदी की घाटी अथवा उद्यान, (६) सिन्धु नदी के पूर्व का प्रदेश, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, (७) झेलम नदी के पूर्व का तथा जम्मू और स्यालकोट का प्रदेश।

इन सात प्रदेशो मे शासन करने वाले विभिन्न यूनानी राजाओ को श्री ए० के० नारायण ने पाँच समूहो मे बाँटा है। यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायगा --

प्रदेशों के नाम	**विभिन्न प्रदेशों में शासन करने वाले राजसमूहों के नाम**			
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)
१--हिन्दूकुश पर्वत के उत्तर के प्रदेश	फिलोक्जीनस्	लिसियाम थियोफिलस	यूक्रेटाईडीज द्वितीय आर्खेबियस एन्टियलकिडस एमिन्तास हर्मियस	
२--काबुल नदी की घाटी	अपोल्लोडोटस	फिलोक्जीनस	लिसियास	आर्खेबियस प्यूकोलास हेलियोक्लीज द्वितीय एन्टियलकिडस एमिन्तास हर्मियस
३--गजनी का प्रदेश	स्ट्रेटो प्रथम अपोलोडोटस	एण्टिमेकस द्वितीय फिलोक्जीनस	जोइलस प्रथम लिसियास	आर्खेबियस एन्टियलकिडस
४--पश्चिमी गन्धार	स्ट्रेटो प्रथम अपोलोडोटस	एन्टिमेकस द्वितीय फिलोक्जीनस निसियास हिप्पोस्ट्रेटस	थियोफिलस	एन्टियलकिडस डियोमीडीज एमिन्तास हर्मियस अर्टिमिडोरस

५—स्वात नदी की घाटी	अपोलोडोटस	एन्टिमेकस द्वितीय	जोइलस प्रथम
६—तक्षशिला का प्रदेश	स्ट्रेटो प्रथम अपोलोडोटस	फिलोक्जीनस हिप्पोस्ट्रेटस	एन्टियलकिडस टेलीफस हर्मियस
७—जम्मू-स्य ल-कोट का प्रदेश	स्ट्रेटो प्रथम अपोलोडोटस जोइलस द्वितीय डियोनिसस अपोलोफेनस स्ट्रेटो द्वितीय		

यहाँ इस समय के कुछ प्रसिद्ध राजाओं का ही संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

स्ट्रेटो (Strato)—मिनान्डर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र स्ट्रेटो नाबालिग था, अत उसकी माता ऐगेथोक्लिया ने उसकी संरक्षिका के रूप मे कुछ समय तक शासन किया। सम्भवत यह शासन देर तक नही रहा। इसके बाद एक ऐसा मध्यवर्ती युग आया जिसमें वे दोनो शासन करते थे। इसकी सूचना उन सिक्को से मिलती है जिनमे ऐगेथोक्लिया तथा स्ट्रेटो की आवक्ष युगल मूर्तियाँ मिलती है, और ऐगेथोक्लिया के साथ रानी के शब्द को छोड दिया गया है, केवल पृष्ठ भाग पर स्ट्रेटो के बाद उसका नाम लिखा गया है। सम्भवत इससे यह सूचित होता है कि स्ट्रेटो इस समय बालिग हो रहा था, वह पूरी प्रभुता हस्तगत करने के लिये अधीर था, फिर भी इन सिक्को पर उसकी माता का चित्र यह प्रदर्शित करता है कि उसने पूरे अधिकार नही प्राप्त किये थे। इस प्रकार के सिक्के दुर्लभ है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थिति एक या दो वर्ष से अधिक अवधि तक नही रही। इसके बाद या तो ऐगेथोक्लिया की सहसा मृत्यु हो गई अथवा उसने अपने पुत्र के बालिग होने पर शासन के सम्पूर्ण अधिकार उसको सौंप दिये।

स्ट्रेटो के सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि उसका शासन-काल बहुत लम्बा

था, क्योंकि उसके कई सिक्कों में वह बहुत बूढ़ा दिखाया गया है। रैप्सन ने इसकी विभिन्न अवस्थाओं के सिक्कों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कल्पना की थी कि इसका शासन-काल ७० वर्ष तक था।[1] इसमें सन्देह नहीं कि कुछ सिक्कों मे स्ट्रेटो ७० या ७५ वर्ष का प्रतीत होता है। किन्तु अन्य ऐतिहासिक इसके शासन-काल को ३५ वर्ष की अवधि से अधिक का नही मानते हैं। उनका यह कहना है कि इसके बाद अन्य राजाओं ने इसका राज्य छीन लिया, और जब इन राजाओ को नवागन्तुक शकों ने हराया तो स्ट्रेटो ने शकों का साथ देते हुए अपने राज्य को पुन: प्राप्त किया। इस प्रकार स्ट्रेटो का पहला शासन-काल १३० ई० पू० से ९५ ई० पूर्व तक तथा दूसरा शासन-काल ८० से ७५ ई० पूर्व तक था।[2]

मिनान्डर की मृत्यु के बाद कई कारणो से उसका राज्य क्षीण होने लगा। एक स्त्री के शासन और नाबालिग बेटे की परिस्थिति ने महत्वाकांक्षी सामन्तो को विद्रोह करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। आन्तरिक फूट से और बाह्य आक्रमणो से यह राज्य निर्बल होने लगा। इसी कारण इस समय एक ही समय में विभिन्न प्रदेशों पर अनेक व्यक्ति शासन करने लगे। यहाँ केवल कुछ प्रसिद्ध राजाओ का ही उल्लेख किया जायगा।

एण्टिअल्किडस—मिनान्डर के अतिरिक्त यही एकमात्र ऐसा यूनानी राजा है जिसका उल्लेख भारतीय साहित्य मे भी मिलता है। मध्य प्रदेश मे भोपाल के निकट प्राचीन विदिशा नगरी (बेसनगर) मे प्राप्त एक गरुडध्वज पर दूसरी शताब्दी ई० पूर्व की ब्राह्मी लिपि मे लिखे गये एक लेख मे यह बताया गया है कि काशीपुत्र भागभद्र राजा के शासन-काल के चौदहवें वर्ष मे महाराज एण्टिअल्किडस (अन्तलिकित) के राजदूत, तक्षशिला निवासी दियोन के पुत्र **हेलियोडोरस** ने यह गरुडध्वज स्थापित किया। अन्यत्र (अध्याय १२) यह बताया जायगा कि यह ब्राह्मी अभिलेख भारतीय धर्म के इतिहास में असाधारण महत्व रखता है और यह प्रदर्शित करता है कि विदेशी लोग भारतीय धर्मों को किस प्रकार ग्रहण कर रहे थे। किन्तु इसके साथ ही राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से भी इस अभिलेख का महत्व कम नहीं है। इससे यह सूचित होता है कि हिन्द-यूनानी राजा एण्टिअल्किडस मध्य प्रदेश के शुंग राजा भागभद्र का समकालीन था। दोनो राजाओ मे दौत्य सम्बन्ध थे। इस लेख से यह बात भी निश्चित होती है कि हेलियोडोरस की मातृभूमि तक्षशिला

१. कैं० हि० इं० ख० १।

२. **अवधकिशोर नारायण—दी इन्डोग्रीक्स**, पृ० १११।

एण्टिअल्किडस के राज्य में सम्मिलित थी। इसके सिक्को से यह प्रतीत होता है कि इसका शासन न केवल सिन्धु नदी के पूर्व में तक्षशिला के प्रदेश पर था, अपितु कपिश देश पर भी इसका शासन था। रैप्सन ने इसकी ताम्र मुद्राओ के आधार पर यह कल्पना की है कि तक्षशिला मे इसका शासन था। उपर्युक्त ब्राह्मी लेख मे मुद्राओं की यह साक्षी पुष्ट होती है। इसके कुछ सिक्के यूक्रेटाईडीज के कापिशी नगर देवता वाले सिक्को के अनुकरण पर बनाये गये है। इनमे कापिशी नगरी की देवी यूनानी देवराज ज्यूस के साथ दिखाई गई है। ज्यूस के आगे बढाये हुए बॉये हाथ में निके (Nike) या विजया देवी है और सिंहासन पर बैठे हुए देवता के सामने हाथी एक माला को देवी से छीन रहा है। एक दुर्लभ रजत मुद्रा में इन्द्र का अभिवादन करते हुए उसके हाथी ऐरावत को दिखाया गया है। इन सिक्कों से यह परिणाम निकाला गया है कि एण्टिअल्किडस का शासन कापिशी नगरी के प्रदेश अर्थात् काबुल नदी की उपरली घाटी से हिन्दूकुश पर्वतमाला तक विस्तीर्ण था। एण्टिअल्किडस के अधिकाश सिक्के यूनानी और प्राकृत भाषाओ मे मिलते है। प्राकृत मे इन मुद्राओ पर **महरजस जयधरस अन्तीग्र लिकितस** का लेख है। इस प्रकार शिलालेखो और मुद्राओं की साक्षी से यह स्पष्ट है कि उसका शासन हिन्दूकुश पर्वत से तक्षशिला के प्रदेश तक विस्तीर्ण था।

किन्तु प्रतीत होता है कि उसके शासन-काल के अन्तिम दिनो मे अपोलोडोटस नामक एक दूसरे यूनानी राजा ने उस पर हमला किया और उसने सिन्धु नदी से पश्चिम का समूचा प्रदेश उससे छीन लिया। इस समय झेलम नदी के पूर्व मे जम्मू तथा स्यालकोट के प्रदेश मे स्ट्रेटो का शासन था और एण्टिअल्किडस का राज्य केवल तक्षशिला के प्रदेश तक ही सीमित रह गया। उसे दोनो ओर से शत्रुओ का सामना करना पड रहा था। सम्भवत इस विषम परिस्थिति मे सहायता पाने के लिये उसने अपने राजदूत हेलियोडोरस को विदिशा भेजा। इस प्रसग में यह बात उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त स्तम्भ मे भागभद्र के लिये रक्षक का अर्थ देने वाली यूनानी उपाधि **सोटर** के भारतीय रूप **त्रातार** का प्रयोग किया गया है। भारतीय राजा के लिये ऐसी यूनानी उपाधि सम्भवत उसको हेलियोडोरस ने प्रदान की थी। इस विषय मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि यह यूनानी उपाधि एण्टिल्किडस ने अथवा उसके पूर्ववर्ती राजाओ ने धारण नही की थी। सम्भवत भागभद्र ने एण्टिअल्किडस के बुरे दिनो मे उसकी रक्षा की थी। अत उसके यूनानी राजदूत ने भागभद्र के लिये इस उपाधि का प्रयोग किया। किन्तु शीघ्र ही एण्टिअल्किडस को तक्षशिला से भी वचित होना पडा, या तो भागभद्र ने उसकी

पूरी सहायता नही की अथवा यह सहायता उसके शत्रुओ की प्रगति को रोकने में पर्याप्त नहीं सिद्ध हुई।

हर्मियस—यह अन्तिम महत्वपूर्ण हिन्द-यूनानी राजा था। वस्तुतः इस समय विभिन्न यूनानी राजा आपस मे लडकर अपनी शक्ति क्षीण कर रहे थे। इस प्रकार वे विदेशी आक्रान्ताओ को भारत पर आक्रमण करने का स्वर्ण अवसर प्रदान कर रहे थे। इस समय शक लोगों ने शनैः-शनैः पजाब, सिन्ध, अर्खोसिया और जिड्रोशिया के प्रदेश जीत लिये थे। अगले अध्यायो मे इनके राज्य-विस्तार की प्रक्रिया का वर्णन किया जायगा। उससे यह स्पष्ट होगा कि शक सिकन्दर आदि अन्य आक्रान्ताओ की भाँति भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से नही आये, अपितु उन्होने बिलोचिस्तान से सिन्ध के प्रदेश पर अधिकार किया और यहाँ से वे उत्तर मे पजाब की ओर बढने लगे। इस प्रकार उन्होने हिन्द-यूनानी राजाओ के प्रदेश पर दक्षिण की ओर मे तथा पूर्व की ओर से हमला किया। टार्न का यह मत है कि हर्मियस को न केवल पूर्व और दक्षिण दिशा से शको के आक्रमणों का सामना करना पड रहा था, अपितु अपने राज्य की दक्षिण-पश्चिमी सीमा से पार्थियनो के तथा उत्तर से युइचि लोगो के हमलो से भी अपनी रक्षा करनी पड़ रही थी। इस प्रकार हर्मियस चारो ओर से बर्बर आक्रान्ताओ से घिरा हुआ था। उसके लिये अपने छोटे से राज्य की रक्षा देर तक करना कठिन प्रतीत होता था।

सम्भवत इस जटिल परिस्थिति मे चारो ओर से हमला करने वाले शत्रुओ को रोकने के लिये विभिन्न यूनानी राज्यो मे एकीकरण का और सघ बनाने का विचार प्रबल हुआ। यूथीडीमस तथा यूक्रेटाईडीज राजवशो के जो राजा अब तक एक दूसरे के उग्र विरोधी और प्रबल शत्रु थे, उन्होने अपनी शत्रुता का परित्याग करके एकता के सूत्र मे आबद्ध होने का प्रयत्न किया। इन परस्पर विरोधी राजवशो के एकीकरण की सूचना हमे हर्मियस तथा उसकी रानी केलिओपे की संयुक्त मुद्राओ से मिलती है। इन मुद्राओ के पुरोभाग मे राजा-रानी की आवक्ष युगल मूर्तियाँ अंकित है और **बेसिलिओस सोटेरोस हरमईउस केलीओपीस** का लेख है तथा पृष्ठ भाग मे राजा घोडे पर सवार है और प्राकृत मे **महरजस त्रतरस हेरमयस कलियपय** का लेख है। किन्तु इस एकीकरण का भी हर्मियस को कोई लाभ नही प्राप्त हुआ, शत्रुओ ने इस यूनानी राज्य को समाप्त कर दिया।

हर्मियस के सिक्को से यह प्रतीत होता है कि उसके शासन-काल के प्रारम्भिक भाग मे उसके राज्य में बड़ी समृद्धि थी। इस समय के चाँदी के सिक्कों में दूसरी

घटिया धातुओ का मिश्रण बहुत ही कम पाया जाता है। इन सिक्कों पर राजा की मुकुट-मण्डित आवक्ष मूर्ति बनी हुई है, पुरोभाग मे **बेसि लब्रोस सोटेरोस हरमईओ** का लेख है और पृष्ठ भाग मे सिंहासन पर आसीन ज्यूस देवता की मूर्ति है और प्राकृत भाषा तथा खरोष्ट्री लिपि मे यूनानी लेख का अनुवाद है। धीरे-धीरे रजत मुद्राओं मे मिश्रण की मात्रा बढ़ती जाती है और अन्त मे ताँबे के सिक्के मिलते है जिनमे यूनानी सोटेरोस शब्द को स्टीरोस्सु के विकृत रूप मे लिखा गया है और प्राकृत मे दूसरी ओर इनका अनुवाद महतस किया गया है। रैप्सन के मतानुसार ये सिक्के पार्थियनो ने प्रचलित किये थे और बाद मे इन सिक्को का स्थान कुजुल कदफिसस के विभिन्न सिक्को ने ले लिया।

कुछ सिक्को पर हर्मियस और कुषाण राजा कदफिसस के नाम साथ-साथ पाये जाते है। इन सिक्को के आधार पर हर्मियस के राज्य की समाप्ति के बारे में कई की कल्पनाये की गई है। पहले यह माना जाता था कि दोनो राजाओ ने मिलकर ये सिक्के प्रचलित किये थे और हर्मियस के एकदम बाद उसके राज्य पर कुजूल कदफिसस ने शासन किया, उसने इस प्रकार के सिक्के विशेष उद्देश्य से प्रचलित किये। यह उद्देश्य इस प्रदेश के यूनानियो को यह बताना था कि वह यूनानी राजा हर्मियस का वास्तविक उत्तराधिकारी है। अत उसने जनमत को अपने पक्ष मे करने के लिये और अपनी सत्ता सुदृढ करने के लिये ऐसे सिक्को का प्रचलन किया। इस प्रकार ये सिक्के उसकी प्रचार मुद्राये (Propaganda coins) थी।

किन्तु बाद मे थामस ने इस विषय मे यह सुझाव दिया था कि हर्मियस और कुषाण राजा कुजुल कदफिसस के शासन-कालो के बीच मे एक ऐसा मध्यवर्ती युग भी था जिसमे काबुल नदी की घाटी पर पहलवो का शासन स्थापित हो चुका था। थामस के इस मत को पहले मत का प्रतिपादन करने वाले रैप्सन ने भी मान लिया, टार्न और मार्शल भी ऐसा ही मानते है। चीनी इतिहासो से भी इस बात की पुष्टि होती है। इनके अनुसार काबुल पर युइचि लोगों का अधिकार पहले नही था। यहाँ अनूहमी (पार्थिया) के पहलव लोगो का शासन था। इन्हें हराने के बाद ही कुषाणो ने पहली बार काबुल पर अधिकार किया। इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दूकुश के दक्षिण मे हर्मियस के राज्य पर पहलवो ने अधिकार किया। सम्भवत इसमे पूर्व हर्मियस को हिन्दूकुश के उत्तर के प्रदेश युइचि लोगो को देने पडे। वहाँ अपना शासन स्थापित करने के बाद कुजुल ने जब काबुल नदी की घाटी पहलवो से छीनी तो उसने यहा बसे यूनानियो का समर्थन पाने के लिये उनके

अन्तिम राजा हर्मियस के सिक्को पर अपना नाम अंकित करवाया। इस विषय में बेखोपर का एक अन्य मत यह भी है कि यूनानी सिक्के उन दिनों सर्वत्र प्रचलित थे, अत. कुजुल ने व्यापार की सुविधा के लिये इन्ही सिक्को को प्रचलित रखना अधिक अच्छा समझा।

हर्मियस के सिक्के बहुत बड़ी मात्रा में और विशाल प्रदेश में मिलते हैं। इनके आधार पर यहाँ तक कल्पना की गई है कि हर्मियस का राज्य झेलम नदी तक विस्तीर्ण था। किन्तु यह बात सत्य नहीं प्रतीत होती है। आजकल सब विद्वान् सामान्य रूप से यह स्वीकार करते है कि उसका शासन काबुल नदी की समूची घाटी (Parapamisadae) मे तथा हिन्दूकुश पर्वत के उपर के कुछ प्रदेशो मे था। गजनी के निकट मीरज़का निधि मे हर्मियस के एक हजार सिक्के मिले हैं। अतः इसमे कोई सन्देह नहीं कि उसका शासन काबुल की घाटी के साथ-साथ अर्खोसिया के उपरले प्रदेश मे भी था। किन्तु तक्षशिला अथवा पूर्वी गन्धार में उसके शासन के पुष्ट प्रमाण नही मिलते है। तक्षशिला की खुदाई मे उसकी कोई भी रजत मुद्रा नही मिली है। यहाँ से उसके ताँबे के २६३ सिक्के अवश्य मिले है, इनमे राजा की आवक्ष मूर्ति के साथ विजया देवी (निके) की मूर्ति बनी हुई है। एक ओर यूनानी मे लेख है तथा दूसरी ओर प्राकृत मे **महरजस रजरजस महतस हेरमयस** का लेख है। केलियोपे के साथ उसकी युगल मूर्ति वाले सिक्को के आधार पर यह कल्पना की गई है कि यह हिप्पोस्ट्रेटस नामक राजा के वश की एक राजकुमारी थी। जब हिप्पोस्ट्रेटस पर गन्धार मे एजेस प्रथम ने शासन किया तो इस खतरे से बचने के लिये सम्भवतः हर्मियस ने हिप्पोस्ट्रेटस से सन्धि कर ली और इस सम्बन्ध को अपने वश की कन्या का हर्मियस के साथ विवाह करके सम्पुष्ट किया। रैप्सन का यह विचार है कि हर्मियस ने काफी लम्बे समय तक शासन किया। उसने यह कल्पना हर्मियस के सिक्को पर बने हुए उसके चित्रों से की है। इन सिक्कों में हमे वह तरुणाई से वृद्धावस्था तक के विभिन्न रूपो में दिखाई देता है। उसने कम से कम बीस वर्ष तक शासन किया होगा और उसके शासन की समाप्ति ५५ ई० पूर्व मे हुई होगी।

काबुल घाटी (पेरोपेमीसदी) के हिन्द-यूनानी राज्य का अन्त करने वाले कुषाण नही, अपितु पह्लव थे। रैप्सन के मतानुसार इस बात की पुष्टि उन सिक्को से होती है जो पह्लव राजा स्पलिरिस (Spalivisos) ने काबुल के यूनानी राजाओ की शैली के अनुसार प्रचलित किये थे और जिन पर सिहासन पर बैठी हुई ज्यूस की मूर्ति बनी हुई है। जिस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुगल सम्राट्

शाह आलम के नाम से अनेक वर्षों तक रुपये ढालती रही, उसी प्रकार यूनानी शासन समाप्त करने पर भी पहलव राजा यहाँ यूनानी ढग की पुरानी मुद्राओ को चलाते रहे। रैप्सन के इस कथन के आधार पर टार्न ने यह कल्पना की थी कि काबुल नदी की घाटी मे हर्मियस के यूनानी राज्य का विजेता पहलव राजा स्पलिरिस है, किन्तु वर्तमान ऐतिहासिक इस विषय मे मार्शल की उस कल्पना को अधिक सत्य समझते है जिसके अनुसार एज़ेस प्रथम ने ही हर्मियस के पतन के बाद काबुल की घाटी को अपने राज्य का अग बनाया।

एजेस के सिक्के काबुल नदी की घाटी की अपेक्षा गजनी और गन्धार के प्रदेशो मे अधिक मिलते है। इससे यह सूचित होता है कि एजेस ने काबुल की घाटी मे उतने अधिक लम्बे समय तक शासन नही किया जितने लम्बे समय तक उसने यह शासन अर्वोसिया और गन्धार मे किया। अतः यह कल्पना की जाती है कि ५५ ई० पूर्व मे हर्मियस की मृत्यु के बाद ही एजेस प्रथम ने काबुल की घाटी को जीता। यह घटना उसके राज्यकाल के अन्तिम वर्षों मे हुई। एजेस ने गन्धार पर विजय करने के बाद ही काबुल की घाटी का प्रदेश (पैरोपेमीसदी) जीता था। गन्धार की विजय ७० ई० पूर्व मे हुई थी। इस परिस्थिति के आधार पर यह परिणाम भी निकाला गया है कि हर्मियस ने अपनी सत्ता गजनी मे सुदृढ की और यहाँ से वह गन्धार की ओर बढा। मीरजका निधि मे तथा गजनी मे हजारो की मात्रा मे मिलने वाले इसके सिक्कों से यह प्रतीत होता है कि एजेस ने गजनी मे कुर्रम की घाटी के रास्ते से आगे बढते हुए गन्धार पर अधिकार किया। इस प्रकार इसने हर्मियस के राज्य को दक्षिण की ओर से कुतरना शुरू किया और उसे केवल काबुल नदी की घाटी तक ही सीमित कर दिया। एजेस प्रथम ने हर्मियस द्वारा शासित काबुल घाटी पर अधिकार करने से पहले दक्षिण मे गजनी पर और पूर्व मे गन्धार पर अधिकार कर लिया, क्योंकि इसके बाद वह सडासी चाल (Pincer movement) द्वारा काबुल की घाटी को आसानी से ले सकता था। इसके बाद काबुल की घाटी का यूनानी राज्य चारो ओर से विरोधी शत्रुओ के प्रबल प्रवाह मे अकेला छोटा सा टापू मात्र रह गया।

हर्मियस अन्तिम हिन्द-यूनानी राजा था। उसके राज्य की समाप्ति के साथ दो सौ वर्षों की हिन्द-यूनानी राजाओ की परम्परा का लोप हो जाता है, जिसमें उन्तालीस राजाओ और दो रानियो ने शासन किया था। इस राजवश की स्थापना करने वाले महत्वाकाक्षी और साहसी व्यक्ति थे। उस समय भारत में एक सुदृढ

केन्द्रीय शक्ति का अभाव था, अत उन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया; किन्तु जब उनसे भी अधिक साहसी और शूरवीर नवीन जनजातियाँ इतिहास के रंगमच पर उतरीं, उन्होने यूनानी राज्यो को चारों ओर से घेर लिया तो आपस मे ही गृहयुद्ध करके अपनी शक्ति क्षीण करने वाले यूनानी राजा इनका देर तक मुकाबला नही कर सके। यूनानियो का शासन समाप्त होने के बाद वे भी अन्य विदेशी जातियो के समान भारतीय जनता के महासमुद्र मे विलीन हो गए और उनकी कोई पृथक् सत्ता नही रही।

यूनानी शासन का प्रभाव

उत्तर-पश्चिमी भारत मे हिन्द-यूनानी राजाओ का शासन स्थापित होने से भारतीय और यूनानी सस्कृतियो में सम्पर्क स्थापित हुआ। इससे पहले सिकन्दर के आक्रमण के समय मे भारत और यूनान का प्रत्यक्ष सम्पर्क हुआ था। किन्तु उसका आक्रमण भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। वह भारत मे केवल उन्नीस मास ही रहा, इस अल्पकाल मे वह तथा उसके साथी निरन्तर युद्धो मे सलग्न रहे अत- दोनो जातियो मे प्रत्यक्ष सम्पर्क होने पर भी इसका कोई बडा प्रभाव नही पड़ा। किन्तु हिन्द-यूनानी राजा लगभग दो सौ वर्ष तक उत्तर पश्चिमी भारत मे शासक बने रहे, इससे यूनानियो और भारतीयो मे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ। दोनो ने एक दूसरे पर बहुत प्रभाव डाले, दोनो मे सास्कृतिक आदान-प्रदान हुआ। यह दोहरी प्रक्रिया थी। यह समझ लेना भ्रान्ति होगी कि केवल यूनान ने विजेता होने के कारण भारत पर अधिक प्रभाव डाला। वस्तुत. विजेता होते हुए भी यूनानियो ने भारतीय सस्कृति के अनेक तत्व ग्रहण किये। यहाँ विभिन्न क्षेत्रो मे दोनो देशो के सास्कृतिक आदान प्रदान का सक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

साहित्य--इस क्षेत्र मे यूनानियो और भारतीयो ने एक दूसरे की भाषा से कई शब्द ग्रहण किये।[1] यूनानियो का भारतीयो के साथ प्रधान सम्पर्क सैनिक क्षेत्र से आरम्भ हुआ था, अत यूनानियो ने कैम्प, सेना और सेनापतिवाची भारतीय शब्दो को ग्रहण किया। दूसरी ओर भारतीयो ने भी यूनानियो से अनेक शब्द ग्रहण किये। इनमे कुछ शब्द तो अब हमारी भाषा मे इतने अधिक प्रचलित हो गये है कि हम इस बात की कल्पना भी नही कर सकते है कि ये शब्द हमने किसी दूसरी भाषा से ग्रहण किए होगे। संस्कृत मे यूनानी भाषा से आये कुछ शब्द ये हैं--कलम,

१. टार्न-दी ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एन्ड इन्डिया, पृष्ठ ३७७।

पुस्तक, खलीन (घोड़े की लगाम)। सस्कृत का सुरग यूनानी के सिरिक्स (Soivirnx) का भारतीय रूपान्तर है। यह इस बात को सूचित करता है कि सुरक्षित दुर्गों को जीतने के बारे मे कुछ बाते भारतीयो ने यूनानियो से सीखी होगी। सस्कृत मे ऊँट का एक पर्याय क्रमेलक है। यह शब्द यूनानी से आया है और इसके सम्बन्ध मे कुछ प्रश्नो का समाधान नही हो सका है। संस्कृत में ऊँट के लिये उष्ट्र शब्द पहले से ही विद्यमान था। अत क्रमेलक शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार के ऊँट के लिये ही आरम्भ में हुआ होगा। ऊँट दो ककुद वाले (Two humped) और एक ककुद वाले होते है। हिन्द-यूनानी राजाओ के सिक्को पर मिनान्डर से कुषाण राजाओ की मुद्राओ तक दो ककुद वाले ऊँट का ही चित्र मिलता है। इसे बैक्ट्रिया का ऊँट (Bactrian Camel) भी कहा जाता है। किन्तु टार्न ने यह लिखा है कि बैक्ट्रिया मे यूनानी लोग जिस ईरानी ऊँट का प्रयोग करते थे वह एक ककुद वाला ही होता था।[1] क्रमेलक शब्द से यह सूचित होता है कि यह भारत मे न पाये जाने वाले एक नये प्रकार के ऊँट के लिये प्रयुक्त होता था। ककुद वाले ऊँट के सिक्को से भी यही बात सूचित होती है। किन्तु बैक्ट्रिया मे इस प्रकार के ऊँट के न पाये जाने के कारण यह बात समझ मे नही आती है कि इस शब्द का प्रयोग यूनानियो से भारतीयो ने किस प्रकार के ऊँट के लिये ग्रहण किया।

श्रीमती रीस डेविडस ने प्लेटो की रिपब्लिक के आदर्श राज्य कल्पना की तुलना मिलिन्द प्रश्न मे दिये गये आदर्श बौद्ध नगर से करते हुए यह कहा है कि भारतीय साहित्य मे आदर्श नगर का यही एकमात्र वर्णन है और सम्भवत इसके लेखक को ऐसा वर्णन करने की प्रेरणा प्लेटो की पुस्तक पढने के बाद मिली होगी। टार्न (पृ० ३७९) ने यह लिखा है कि इसके लिये हमे प्लेटो तक जाने की जरूरत नही है। चौथी और तीसरी शताब्दियो के यूनानी साहित्य मे ऐसे अनेक वर्णन लिखे गये थे। मिलिन्द-प्रश्न का आदर्श नगर का वर्णन यूनानी आदर्श राज्य (यूटोपिया) से बहुत कम साम्य रखता है, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। इसकी अपेक्षा **सुखावती व्यूह** के अमिताभ के स्वर्ग का वर्णन अधिक आकर्षक और रोचक है तथा उस पर किसी विदेशी प्रभाव का प्रमाण नही मिलता है।

एक यूनानी अलकारशास्त्री डियोक्रिसोतोम (Diochrysotom) ने लिखा है कि भारतीयो के पास होमर के ग्रन्थों का भारतीय भाषा में किया गया

१. टार्न—दी इन्डोग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इन्डिया, पृष्ठ ३७९।

एक अनुवाद था। टार्न ने इसे कोरी गप्प माना है, क्योंकि अब तक लैटिन के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा मे यूनानी साहित्य के अनुवाद नही मिले हैं। डियो के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह भी कल्पना की गई है कि भारत मे दोहा नामक प्रसिद्ध छन्द का विकास यूनानी भाषा के एक छन्द हैक्सामीटर (Hexameter) से हुआ। जैकोबी ने इस मत की स्थापना की है। किन्तु यह मत यथार्थ नहीं प्रतीत होता, क्योकि दोहे का प्रयोग अपभ्रश तथा हिन्दी आदि भाषाओं मे मिलता है, किन्तु प्राचीन सस्कृत और पाली साहित्य मे कही नही मिलता। कीथ ने इस बात को भी भली भाँति प्रदर्शित किया है कि दोहे का विकास स्वतन्त्र रूप से भारत में हुआ है और उसके लिये विदेशी प्रभाव को मानने की आवश्यकता नही है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ यूनानी भारतीय ग्रन्थो से, विशेषत महाभारत से अवश्य परिचित थे। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है, क्योकि यूनानी सामान्य रूप से एशियाई लोगो के साहित्य मे कोई दिलचस्पी नही रखते थे। फिर भी हेलियोडोरस का स्तम्भलेख यूनानियो द्वारा महाभारत के अध्ययन को सूचित करता है। इस लेख मे एण्टियलकिडस नामक यूनानी राजा के दूत, भागवत धर्म के अनुयायी दियोन के पुत्र हेलियोडोरस ने विदिशा मे गरुड़ध्वज स्थापित करने का उल्लेख करने के बाद अन्त मे यह लिखा है कि तीन बातो को अपने जीवन मे ढालने से मनुष्य स्वर्ग तथा अमृतत्व प्राप्त करता है और ये तीन बाते दम (सयम), त्याग और अप्रमाद हैं। इस सदर्भ की तुलना महाभारत मे पाये जाने वाले एक श्लोक से की जाती है।[2] इसके आधार पर यह कहा जाता है कि हेलियोडोरस न केवल विष्णु का उपासक था, अपितु महाभारत का प्रेमी और अध्येता था। टार्न ने इस बात की सम्भावना प्रकट की है कि यह श्लोक सम्भवत उसके किसी भारतीय सहायक या लेखक द्वारा भी लिखवाया हुआ हो सकता है। किन्तु हमारे पास यूनानियो के महाभारत से परिचय के कुछ अन्य प्रमाण भी हैं। टालमी तथा डियोनिसियस (Dionysius) के ग्रन्थ मे पाण्डव-पाण्डु का नाम मिलता है, यह महाभारत मे वर्णित पाण्डवो से सम्बद्ध है। इसके आधार पर यह कल्पना की जाती है कि टालमी और डियोनिसियस दोनो ने इस नाम को एक ऐसे यूनानी व्यक्ति की रचना से ग्रहण किया है जिसने महाभारत को पढा था।

नाटको के सम्बन्ध में पहले कुछ लेखको ने, विशेषत. वेबर महोदय ने यह मत

---

१. कीथ—ए हिस्टरी आफ् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३७०–१।
२. हि० ग्र० से० इं०।

रखा था कि संस्कृत नाटकों का आविर्भाव यूनानी नाटकों से हुआ है क्योंकि इन दोनों में अनेक सादृश्य पाये जाते हैं। यूनानी नाटकों में एक पात्र में पैरासाईट होता है। इसी प्रकार संस्कृत नाटकों में विदूषक होता है। यूनानी नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगमंच पर एक समय में पाँच से अधिक पात्र नहीं आते हैं, यही नियम संस्कृत नाट्यशास्त्र में भी है। यूनानी नाटकों में रंगमंच पर मृत्यु, अग्नि-काण्ड आदि के दृश्य दिखाना वर्जित था, भारतीय नाटकों में भी इसी परम्परा का अनुसरण किया जाता है। भारतीय नाटकों का यवनिका शब्द स्पष्ट रूप से यूनान के साथ सम्बन्ध को सूचित करता है। किन्तु इस विषय की अधिक विवेचना होने पर वेबर की उपर्युक्त कल्पना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई और यह ज्ञात हुआ कि भारतीय तथा यूनानी नाटकों में कई मौलिक भेद हैं। यूनानी नाटक प्रायः दुःखान्त होते थे और भारतीय नाटक सुखान्त। यूनानी नाटकों में मुख्य रूप से गद्य का प्रयोग होता था और भारतीय नाटकों में गद्य एवं पद्य दोनों का। यूनानी नाटकों में यवनिका का प्रयोग ही नहीं होता था। इस प्रकार के अन्य अनेक मौलिक मतभेदों के कारण अब भारतीय नाटकों पर यूनानी नाटकों के प्रभाव की कल्पना को अप्रामाणिक समझा जाता है।[1]

इसी प्रकार कथा साहित्य में भी पहले भारत को यूनान का ऋणी माना जाता था। हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि में वर्णित विभिन्न पशु-पक्षियों की कहानियों पर यूनानी लेखकों का प्रभाव बताया जाता था। किन्तु इस विषय में विद्वानों के गम्भीर अध्ययन एवं अनुशीलन से अब यह माना जाता है कि न तो यूनान ने भारत से और न ही भारत ने यूनान से कथा साहित्य को ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में हमें प्रत्येक कथा के विकास को अलग-अलग रूप में देखना चाहिये। किसी कथा की उत्पत्ति भारत में या चीन में हो सकती है और इसके बाद वह यूनान में पहुंच सकती है। इसी प्रकार यूनान, बेबिलोन, मिस्र और ईरान में उत्पन्न होने वाली कहानियाँ लोकप्रिय होकर अनेक रूप धारण करते हुए भारत पहुँच सकती है।[2]

विज्ञान—भारतीय और यूनानी चिकित्साशास्त्र में विन्टरनिट्ज ने कई समानताओं का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि चिकित्साशास्त्र के

---

१ **विन्टरनिट्ज—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, तृतीय खण्ड, पृष्ठ १७५; कीथ—ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७५।**

२ **विण्टरनिट्ज—वही पुस्तक खण्ड ३, पृष्ठ २६४–३११; कीथ—वही पुस्तक अध्याय २७।**

क्षेत्र में भारत यूनान का ऋणी है।[1] चरक ने वैद्य के आचरण के विषय में जिन नियमो का निर्देश किया है, वे यूनान के सुप्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री हिप्पोक्रेटस (Hippocrate) के नियमो से बहुत मिलते है। किन्तु कीथ का मत है कि इस विषय मे निश्चित रूप से कोई परिणाम निकालना सम्भव नही है। ज्योतिष के क्षेत्र में यूनान का प्रभाव निर्विवाद है। बृहत्सहिता मे लिखा है कि यद्यपि यूनानी म्लेच्छ है, तथापि ज्योतिष मे प्रवीण होने के कारण वे ऋषियो की भाँति पूजनीय है।[2] सस्कृत में ज्योतिष के अनेक शब्द केन्द्र, होरा आदि यूनानी भाषा से ग्रहण किये गये है। भारतीय ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तो मे दो अर्थात् रोमक सिद्धान्त और पौलिश सिद्धान्तो के नाम से ही यह स्पष्ट है कि ये यूनानियो से ग्रहण किये गये है।

धर्म--धार्मिक क्षेत्र मे भारत का यूनानियो पर काफी प्रभाव पडा। विजेता होते हुए भी यूनानियो ने विभिन्न भारतीय धर्म ग्रहण किये। हेलियोडोरस के स्तम्भ-लेख मे यह स्पष्ट है कि वह विष्णु का उपासक था और उनकी पूजा के लिये उसने गरुडध्वज स्थापित किया था। मिलिन्दप्रश्न से यह स्पष्ट है कि मिनान्डर ने यूनानी राजा होते हुए भी बौद्ध धर्म अगीकार किया। दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के उद्यान (स्वात नदी की घाटी) के एक लेख मे यह प्रतीत होता है कि मेरीडार्क थियोडोरस नामक एक यूनानी अधिकारी ने भगवान् बुद्ध के अवशेषो की स्थापना की थी। बेसनगर से प्राप्त एक मुहर मे तिमित्र नामक व्यक्ति का उल्लेख है। श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा है कि इसमे एक वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान का वर्णन है।[3] कुछ यूनानी सम्भवत जैनधर्म के भी अनुयायी थे। टार्न ने यह लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के तिथिक्रम के सम्बन्ध मे सूचना देने वाला ट्रोगस नामक यूनानी स्रोत यदि वास्तव मे जैन नही था तो जैनधर्म के सिद्धान्तो मे उसकी कुछ दिलचस्पी अवश्य थी। ४२ ई० पू० मे स्वात के प्रदेश मे थियोडोरस ने एक जलाशय सब प्राणियो के लिये बनवाया था। इसके लेख से यह प्रतीत होता है कि वह निश्चित रूप से बौद्ध था। एक अन्य यूनानी शासक (Meridarkh) ने प्राचीन तक्षशिला के निकट अपने माता-पिता की स्मृति के लिये बुद्ध के पवित्र अवशेषो पर एक स्तूप अपनी पत्नी के साथ मिलकर बनवाया था।

---

१. विण्टरनिट्ज तृतीय, खण्ड पृ० ५५४।

२. म्लेच्छा हियवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किम्पुनर्दैवविद् द्विजः॥

३. आर्कियोलाजीकल सर्वे आफ इन्डिया १९१४-१५, पृष्ठ ७७।

पेशावर सग्रहालय में एक प्रस्तर-मूर्ति मे दो पहलवान कुश्ती लडते हुए दिखाये गये हैं और उनके नीचे खरोष्ट्री मे मिनान्डर का लेख है। यह सम्भवत मिनान्डर नामधारी यूनानी पहलवान द्वारा आराधना के लिये चढाई गई भेंट है।

यूनानियों का भारतीयकरण (Indianisation)—उपर्युक्त सभी उदाहरण इस बात को सूचित करते है कि उस समय यूनानी भारतीय धर्म और परम्पराओ को ग्रहण कर रहे थे। साथ ही वे यहाँ के आचार-विचार को तथा जीवन की पद्धति और परम्पराओ को भारतीयो से ग्रहण कर रहे थे और इस प्रकार उनमे भारतीयकरण की प्रक्रिया तेजी से चालू हो गई थी। टार्न ने यह मत प्रकट किया है कि यह भारतीयकरण की प्रक्रिया पहली शताब्दी ई० पू० मे प्रारम्भ हो गई थी। किन्तु इस प्रक्रिया ने यूनानियो और भारतीयो के अन्तर्जातीय विवाहो पर कोई प्रभाव नही डाला, क्योकि यूनानी अपनी सभ्यता और सस्कृति पर गर्व करते थे और उन्होने अपने को यूनानी बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया होगा। फिर भी भारतीय धर्म का आकर्षण उनके लिये बहुत प्रबल था। इससे प्रभावित होकर वे शनै शनै भारतीय सस्कृति को स्वीकार कर रहे थे। इसके अतिरिक्त उनके भारतीयकरण का एक अन्य बडा कारण यह था कि जब यूनानी भारत मे बस गये, उनकी नई पीढियाँ भारतीय वातावरण और प्रभाव मे रहने लगी तो वे स्वयमेव भारतीय बन गई। इसे आधुनिक भारत के ब्रिटिश बच्चो के उदाहरण से समझा जा सकता है। अँगरेज ब्रिटिश युग मे प्राय अपने बच्चो का पालन-पोषण भारत मे नही करते थे, वे उन्हें विलायत भेज दिया करते थे। इसका कारण जलवायु न होकर यह आशका थी कि यदि उनका भारत मे पालन-पोषण हुआ तो वे बचपन की अत्यधिक प्रभाव ग्रहण करने वाली आयु मे भारतीयो की आदते सीख लेगे और शनै शनै भारतीय बन जायेगे। इससे बचने के लिये और अपने बच्चो को पूरा अंग्रेज बनाने के लिये उन्हें विलायत भेजा जाता था। यूनानियो ने ऐसी कोई व्यवस्था नही की। अत कुछ ही पीढियो मे उन पर निरन्तर पडने वाले भारतीय प्रभाव के कारण उनका भारतीयकरण हो गया, इस प्रकार भारत मे विदेशी यूनानियो का पूर्ण लोप हो गया। वे वातावरण के प्रभाव से भारतीय बन गये। यूनानियो के भारतीय समाज का अग बन जाने का प्रधान कारण भारतीयकरण की उपर्युक्त प्रक्रिया थी।

मुद्राकला—इस क्षेत्र में बैक्ट्रिया के यूनानियो ने भारत को बहुत बडी देन दी और उनका बहुत प्रभाव पडा। बैक्ट्रिया मे मुद्रा ढालने की कला अपने चरम उत्कर्ष पर पहुची हुई थी। उसके आरम्भिक स्वतन्त्र राजाओ के सिक्के प्राचीन जगत

की सुन्दरतम मुद्रायें समझी जाती हैं। इनकी बडी विशेषता यह है कि इन मुद्राओ पर राजाओ की मूर्तियों का चित्रण बड़ी कुशलता और सफलता के साथ किया गया है। भारत में यूनानियों के बसने पर उनका यह मुद्रा-निर्माण कौशल काफी क्षीण हो गया। फिर भी इस मुद्राकला ने भारत के तत्कालीन गणराज्यो की मुद्राओं पर काफी प्रभाव डाला। कुणिन्द और औदुम्बर गणो की अनेक मुद्राये अपोलोडोटस की मुद्राओ के आदर्श पर बनाई गई है। इस समय यूनानियों ने भी भारतीय मुद्रा-पद्धति की कुछ बातों को ग्रहण करने मे सकोच नही किया। पेण्टेलियोन और एगेथो-क्लीज के सिक्के इस बात को भली भाँति प्रदर्शित करते है। यूनानियो ने चाँदी की मुद्राओ में और विशेषत ताम्र मुद्राओ मे भारतीय परम्परा का अनुसरण किया।

मूर्तिकला--हिन्द-यूनानी राजाओ के समय मे गन्धार प्रदेश मे एक विशेष प्रकार की मूर्तिकला का विकास हुआ, इसे इस प्रदेश के आधार पर गान्धार कला कहा जाता है। आगे चलकर इस कला का विस्तृत विवेचन होगा। इस प्रसग में यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि कुछ विद्वानो ने इस कला मे बुद्ध की मूर्ति को पहली बार बनाने का श्रेय यूनानी कलाकारो को दिया है। यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है कि बुद्ध की मूर्ति पहले गन्धार प्रदेश मे बनाई गई अथवा मथुरा मे, और गान्धार कला ने मथुरा कला पर क्या प्रभाव डाला। किन्तु इस विषय में यह बात लगभग निश्चित प्रतीत होती है कि ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियो मे दोनो स्थानों मे बुद्ध की मूर्ति का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ। भारतीय कला के क्षेत्र मे यह एक महान् क्रान्ति थी। बुद्ध का निर्वाण होने के पाँच सौ वर्ष बाद तक उनकी कोई मूर्त्ति नही बनी थी। साँची, भारहुत और बुद्धगया मे बौद्ध धर्म से सम्बद्ध दृश्यो को अंकित करते हुए बुद्ध की मूर्ति कही भी नही बनाई गई थी। उन्हें सर्वत्र धर्मचक्र, चरणचिह्न, बोधि-वृक्ष, राजसिंहासन तथा कमण्डलु आदि के प्रतीको से अभिव्यक्त किया गया था। बुद्ध की मूर्ति बनाने की परम्परा प्राचीन मूर्तिकला में प्रचलित नहीं थी। टार्न के मता-नुसार इस विषय मे नवीन क्रान्ति करने का श्रेय किसी अज्ञात यूनानी शिल्पी को है, क्योंकि पहली बुद्ध मूर्तियाँ हमे गन्धार प्रदेश मे उपलब्ध होती है। टार्न (पृष्ठ ४०५-६) ने यह सिद्ध किया है कि गन्धार मे बुद्ध की मूर्ति मथुरा की अपेक्षा एक या दो शताब्दी पहले से ही बनाई जाने लगी थी। उन दिनो मथुरा उत्तर-पश्चिमी भारत से गगा की घाटी की ओर जाने वाले महामार्ग पर एक महत्वपूर्ण स्थान था। अत उस पर उत्तर-पश्चिमी भारत में बनाई जाने वाली मूर्तियो का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यूनानियों ने अपने उपास्य देवता बुद्ध की मूर्ति यूनानी आदर्श के अनुसार बनाई थी। वे देवताओं का चित्रण सुन्दर मनुष्यो के रूप में किया करते थे, अतः यूनानी

कलाकारों ने बुद्ध की मूर्तियाँ अपने सुप्रसिद्ध देवता अपोलो के आधार पर बनाई थी और इनमे बुद्ध की भारतीय मूर्तियो की आध्यात्मिक अभिव्यजना का नितान्त अभाव है। मूर्तिकला की दृष्टि से गन्धार प्रदेश का भारतीय मूर्तिकला पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा। टार्न के शब्दो मे "बुद्ध की मूर्ति बनाने का विचार भारत से नही किन्तु यूनान से प्रादुर्भूत हुआ। यूनानियो का भारत पर यह एक बहुत बडा प्रभाव है। किन्तु उन्होने यह कार्य जान बूझ कर नही किया, अपितु यह एक सयोग का परिणाम मात्र था।"[१] आगे चौदहवें अध्याय मे टार्न के इस मत की आलोचना की जायगी। फिर भी यूनानियो द्वारा गन्धार मे विकसित मूर्तिकला भारतीय कला के क्षेत्र मे विशिष्ट महत्व रखती है।

उपसंहार

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि हिन्द-यूनानी राजाओ ने भारत की सस्कृति पर कुछ क्षेत्रो मे तत्कालीन और अस्थायी प्रभाव डाला। किन्तु यूनान का मूर्तिकला के अतिरिक्त कोई बडा स्थायी प्रभाव नही पडा। इसके तत्कालीन प्रभाव निम्नलिखित थे—इन राजाओ के समय मे पश्चिम के साथ व्यापार को प्रोत्साहन मिला, उत्तर-पश्चिमी भारत मे बूकेफल (Bucaphala), डिमेट्रियोस जैसे कुछ नगर यूनानी आदर्श पर स्थापित हुए, यूनानी भाषा और यूनानी शासन-पद्धति कुछ समय तक लोकप्रिय हुई, इन राजाओं ने मुद्राओ के क्षेत्र मे एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया, राजाओ की मूर्तियो से अकित गोलाकार तथा यूनानी एव खरोष्ट्री लिपियां मे राजा के नाम और उपाधि का उल्लेख इन मुद्राओ की प्रधान विशेषताये थी। इनका अनुसरण इनके बाद आने वाले शक, पहलव तथा कुषाण शासकोने किया। भारत ने कलम, पुस्तक, सुरग आदि शब्द यूनानियो से ग्रहण किये। ज्योतिष के क्षेत्र मे भी भारतीयो ने यूनान से कुछ सीखा। किन्तु काव्य, नाटक, कथा साहित्य के क्षेत्र मे यूनान का कोई बडा प्रभाव नही पडा। किन्तु इसी समय यूनानी भारतीय धर्म और सस्कृति से आकृष्ट और प्रभावित हुए। इसका सर्वोत्तम उदाहरण मिनान्डर और हेलियोडोरस है। टार्न (पृ० ४०८) के मतानुसार बुद्ध की मूर्ति के अतिरिक्त यूनानी शासन का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नही पडा। "यदि यूनानी न आते तो भी भारत का इतिहास वैसा ही होता जैसा कि उनके आने पर हुआ।"[२]

---

१. टार्न—दी ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृष्ठ ४०८।
२. टार्न—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ४०८।

हिन्द-यूनानी राजाओं की वंशावली और कालक्रम

निम्नलिखित वशावली और तालिका श्री अ० कि० नारायण की पुस्तक 'दी इण्डोग्रीक्स' के आधार पर है। इसमे सभी तिथियाँ आनुमानिक (हाईपोतिथिटिकल) है। ये सभी तिथियाँ ईसा पूर्व की है।

- एण्टीमेकस प्रथम (१९० – १८०)
- डिमेट्रियस द्वितीय (१८० – १६५)
  - मिनान्डर = एगेथोक्लिया (१५५–१३०)
    - स्ट्रेटो प्रथम (१३० – ९५)
    - अपोलोडोटस (११५–९५)
    - जोइलस द्वितीय
    - डियोनिसीयस (९५–८०)
    - अपोलोफेन्स
    - स्ट्रेटो द्वितीय स्ट्रेटो प्रथम के साथ सयुक्त शासक (८० – ७५)
  - एण्टीमेकस द्वितीय (१३० – १२५)
    - फिलोक्जेनस (१२५ – ११५)
    - निसीयास (९५ – ८५)
    - हिपोस्ट्रेटस् (८५– ७०)
    - केलियोप

- यूथीडीमस प्रथम (२३५–२००)
  - डिमेट्रियस प्रथम (२००–१८५)
    - पेन्टलियोन (१८५–१७५)
    - एगेथोक्लीज (१८०–१६५)
  - यूथीडीमस (२००–१९०)

- यूक्रेटाईडीज प्रथम (१७१–१५५)
  - प्लेटो (१५५–)
  - हेलियोक्लीज प्रथम (१५५–१४०)
    - यूक्रेटाईडीज द्वितीय (१४०–)

यूक्रेटाईडीज द्वितीय
(१४०–)
पैन्टलियोन
(१८५–१७५)
एगेथोक्लीज
(१८०–१६५)
आर्खेवियस
(१३०–१२०)
एगेथोक्लिया
जोइलस प्रथम
(–१२५)
हेलियोक्लीज द्वितीय
(१२०–११५)
एण्टियलकिडस
(११५–१००)
लिसियास
(१२०–११०)
डियोमिडीज
(९५–८५)
टेलीफस
(९५–८०)
थियोफिलस
(–८५)
एमिन्तास (८५–७५)
केलियोप = हर्मियस (७५–५५)
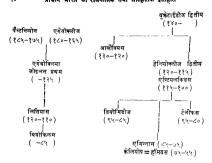
चौथा अध्याय

शक तथा पहलव

यूनानियो के बाद भारत पर शको और पहलवो के हमले हुए । बैक्ट्रिया के यूनानी राज्य का अन्त मध्य एशिया की फिरन्दर या यायावर जातियो ने किया था। ये सभवतः शक और युइचि या युइशि जातियाँ थी।[1] पुराने यूनानी तथा रोमन

[1]. प्राचीन काल में कारपेथियन पर्वतमाला तथा दोन नदी के मध्य में बसा हुआ योरोपियन तथा एशियाई रूस का प्रदेश सीथिया (Scythia) कहलाता था, क्योंकि यहां साइथ (Scyth) नामक एक असभ्य एवं खानाबदोश जाति बसी हुई थी । ७वीं शताब्दी ई० पू० में इसने पश्चिमी एशिया पर हमला किया था । यह शकों की एक शाखा थी, अतः अंग्रेजी में शकों को सीथियन (Scythian) कहा जाता है । युइचि अथवा युइशि की पहचान कुछ विद्वानों ने महाभारत (सभापर्व २४।२५) में वर्णित ऋषिक से की है (जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, ख० २, पृ० ८३५) । पुराणों में युइशि राजवंश को तुखार भी कहा गया है। तुखार वस्तुत युइशियों के पश्चिम में रहने वाली जाति थी। तकलामकान मरुभूमि के उत्तर में विद्यमान कूचा आदि बस्तियों की पुरानी भाषा को आधुनिक विद्वानो ने तुखारी या कूची का नाम दिया है, यहाँ पहले तुखार जाति रहती थी । तकलामकान की दक्षिणी बस्तियों में प्रमुख खोतन थी, यहाँ की पुरानी भाषा खोतन देशी (Khotanese) थी, यह ईरान के उत्तर-पूर्वी प्रान्त सुग्ध ((Sogdiana) की भाषा से मिलती थी। सभवतः युइशि लोगों की यही मातृभाषा थी। तुखार शायद शुरू में तकलामकान की दक्षिणी बस्तियों— निया तथा चर्चन नदियों के काँठों में रहते थे, बाद में युइशियों के दबाव से वे इस मरुभूमि के उत्तर की बस्तियों—तुरफान, कूचा, अक्सू में चले गये युइशियों के प्रवास का भी यही मार्ग प्रतीत होता है, क्योंकि जिस भाषा को विद्वान् तुखारी कहते हैं, उसका नाम अपने लेखों में आर्शी है, यह स्पष्टतः ऋषिक से सम्बद्ध है । ऋषिकों ने जब तुखारों को जीता तो यह नाम उनकी भाषा के साथ जुड़ गया । बाद में ये जातियां सुग्ध में तथा सीरपार के प्रदेश में बस गईं । स्ट्रैबो ने लिखा है कि यहां रहने वाली असि, आसियान, तुखार और सकरौल

साहित्य में शको को Sacal, Sacarabui, Sacaraucal--आदि विभिन्न नामो से पुकारा जाता था। प्राचीन चीनी ग्रन्थों मे इन्हे सै कहा गया है। शको ने युइचि जाति को इस बात के लिये बाधित किया कि वे बैक्ट्रिया की सीमा पर अपनी बस्ती को छोड कर आगे बढे और यूनानियो के राज्य का अन्त करे। शनै-शनै शको ने समचे उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लिया। किन्तु शीघ्र ही इन्हें पहलवों[1] से पराजित होना पड़ा। इस अध्याय मे पहले शको के और बाद मे पहलवो के आक्रमणो तथा राज्य-विस्तार का वर्णन किया जायगा।

इस काल के इतिहास के परिचय के लिये मूल प्रामाणिक स्रोतो की बहुत कमी है। भारतीय साहित्य मे इन जातियो का नामोल्लेख मात्र मिलता है, इनके राज्य-विस्तार का कोई विशेष वर्णन उपलब्ध नही होता है। यूनानी और चीनी इतिहास इनके विषय मे भारतीय साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रकाश डालते है। किन्तु वे भी इनके आरम्भिक इतिहास का सामान्य रूप मे ही प्रतिपादन करते है, शको तथा पहलवो के भारत पर आक्रमण और अधिकार का विशेष वर्णन नही करते है। एक ईसाई दन्तकथा पहलव राजा गोण्डोफर्नीस तथा उसके भाई के बारे मे कुछ बातो का निर्देश करती है, किन्तु शक-पहलवो के इतिहास पर प्रधान रूप मे प्रकाश डालने वाली सामग्री उनकी मुद्राये तथा अभिलेख ही है।

शकों का प्रारम्भिक इतिहास--शको का प्राचीनतम वर्णन ईरानी सम्राट डेरियस (दारा) प्रथम के कीलकाकृति (Cunciform) अभिलेखो मे मिलता है।

नामक जंगली फिरन्दर जातियों ने यूनानियो से बाख्त्री का राज्य छीना। फ्रेंच विद्वान् मार्क्वार्ट ने असि और ऋषिक को एक ही माना है। आगे यह बताया जायगा कि असि या युइशि ताहिया के राजा बन गये। ताहिया बलख के चारो ओर का प्रदेश था, यही अरब लेखकों का तुखारिस्तान है। बाद में समूचा पामीर, बदख्शां और बलख का प्रदेश तुखार देश कहलाने लगा।

1. पहलव पार्थव या पार्थियन को सूचित करता है। पार्थिया (पार्थिया से संबंध रखने वाला) प्राचीन ईरान का एक प्रान्त था, यह कैस्पियन सागर के दक्षिण-पूर्व में अपने अश्वारोही धनुर्धारी योद्धाओं के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध देश था। यहाँ के अर्सक नामक नेता ने.. ईरान में एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की। इस समय ईरान की भाषा पहलवी थी। पहलव इसी से सम्बद्ध प्रतीत होते है। वासिष्ठी पुत्र पुलुमावि के तथा रुद्रदामा के लेखों में पहलव शब्द का प्रयोग ईरानियो के लिए हुआ है।

नक्शयेरुस्तम के अभिलेखो मे ईरानी सम्राट् की वशवर्ती जातियो मे तीन प्रकार के शकों का उल्लेख किया गया है। प्राचीन काल मे एशिया और यूरोप मे बसे हुए शको की निम्नलिखित तीन शाखायें थी---(१) **शका तिग्रखौदा** (नुकीली टोपी पहनने वाले शक)--हिराडोटस (७।६४) ने लिखा है कि ये अपने पड़ोसी बैक्ट्रियनो के साथ ईरानी सम्राट् जरक्सीज की सेना मे यूनान पर चढ़ाई के समय सम्मिलित हुए थे, अत. इन शको का मूल निवास-स्थान (जक्सर्टीज) सीर नदी का कांठा या अथवा सुग्ध देश (Sogdiana) प्रतीत होता है। (२) **शका हौमवर्का**— ये ईरान मे हेलमन्द नदी की घाटी मे द्रगियाना (Drangiana) के प्रान्त मे बसे हुए थे। इस प्रदेश को इनके नाम से शकस्थान तथा बाद मे ईरानी मे सिजिस्तान कहा जाने लगा, आजकल इसे सीस्तान कहा जाता है। (३) **शका तर-दरया** (समुद्र पार के शक)--ये कृष्णसागर के उस पार सीथिया या दक्षिणी रूस मे रहने वाले शक थे। ८ वी शताब्दी ई० पूर्व से शक जातियाँ सभवत मध्य एशिया से आकर इन प्रदेशो मे बस रही थी। पहले ईरान के हखामनी सम्राटो के अभ्युदय और बाद मे मेसिडोनियन, सीरियन और बैक्ट्रियन यूनानियो के राज्य-विस्तार के कारण ये शक जातियाँ दबी रही। किन्तु जब बैक्ट्रिया के यूनानियो मे आन्तरिक युद्ध आरम्भ हो गये तो इन जातियो को अपने राज्य-विस्तार का स्वर्ण अवसर मिला। सुग्ध के शको ने बैक्ट्रिया तथा द्रगियाना के यूनानी राज्यो को जीत लिया।

मध्य एशिया की उथलपुथल--दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य मे मध्य एशिया की जातियो मे एक बडी उथलपुथल और हलचल पैदा हुई।[1] इस कारण

---

१. सुप्रसिद्ध एतिहासिक टायनबी ने यह बताया है कि यूरोप तथा एशिया के विशाल वृक्षहीन तथा घास वाले मैदानों (Steppes) के प्रदेशो में ६०० वर्ष का एक चक्र चलता है, इसमे क्रमश. इन प्रदेशो के जलवायु मे आर्द्रता और शुष्कता बढ़ती घटती रहती है, आर्द्रता बढ़ने के साथ वर्षा अधिक होती है, जमीन की पैदावार बढ़ जाती है और आबादी घनी होने लगती है, इसके बाद वर्षा कम होने से सूखा पड़ता है, पैदावार घटती है, अनाज और चारे की कमी से यहाँ की फिरन्दर जातियां अन्न की खोज मे दूसरे देशो की ओर जाती है और उन पर हमले करती हैं। मध्य एशिया की फिरन्दर जगली जातियां इस आर्थिक कारण से विवश होकर सभ्य जातियो पर आक्रमण करती रही है (ए स्टडी आफ हिस्टरी खण्ड ३ पृ० ३९५ अनु०)। उदाहरणार्थ, चीन की ह्वांगहो नदी के उपजाऊ प्रदेश मे बसे हुए राज्य पर मंगोलिया मे बसी हियंगनू (हूण) आदि फिरन्दर जातियां इसी कारण

अनेक जातियाँ एक दूसरे पर हमला करते हुए आगे बढ़ने लगी। इस हलचल में प्रधान भाग लेने वाली जातियाँ हियगनू, वूसुन, युइचि, सै-वॉग और ताहिया की जनता थी। इनकी हलचल चीन के सीमान्त प्रदेश से शुरू हुई थी, अतः इनका प्रधान परिचय हमे चीनी इतिहासो से मिलता है। इनके भ्रमणो और आक्रमणो का वर्णन करने वाले तीन प्रधान चीनी ग्रन्थ कालक्रम से निम्नलिखित है —

१—शुमाचियेन (९० ई० पू०) द्वारा लिखित सीयुकी या शी-की का अध्याय १२३, इसमे चीनी सम्राट् द्वारा पश्चिमी देशो मे मित्रो की खोज के लिये भेजे गये एक चीनी राजदूत चॉग-कियेन के कार्यों का विवरण है।

२—पान-कू (मृत्युकाल ९२ ई०) द्वारा लिखित त्सिएन-हान-शू—इसमे आरम्भिक हानवश का २०६ ई० पूर्व से २४ ई० तक का इतिहास है।

३—फन—ये का हो-हान-शू—इसमे पिछले हानवश का २५ ई० से २२० ई० तक का इतिहास है। इन इतिहासो से मध्य एशिया की जातियो के पर्यटनो, प्रवासो और आक्रमणो पर जो प्रकाश पड़ता है वह निम्नलिखित है। यहाँ इन जातियो की भौगोलिक स्थिति के वर्णन के साथ इसका विवेचन किया जायगा।

१७६ ई० पूर्व मे हियगनू नामक जाति के राजा माओतुन ने चीनी सम्राट् को यह सन्देश भेजा कि उसने युइचि जाति को परास्त कर दिया है। हियगनू चीन के उत्तर मे मगोलिया मे रहने वाली एक बर्बर जाति थी। इसी को बाद मे हूण कहा जाने लगा। यह जाति चीन पर हमले किया करती थी। चीन की दीवार बन जाने पर ये हमले रुक गये, इससे ससार के इतिहास मे एक नवीन चक्र चला। हियंगनू या हूण अब चीन पर आक्रमण करने मे असमर्थ होकर पश्चिम मे बसी अन्य जातियो पर हमले करने लगे, ये जातियाँ अपने बचाव के लिये आगे बढते हुए दूसरी जातियो पर हमले करने लगी। इस प्रकार चीन की सीमा पर शुरू हुई उथल-पुथल का प्रभाव एक ओर भारत की सीमा तक और दूसरी ओर यूरोप तक पहुचा। इसे समझने के लिये मध्य एशिया की अन्य जातियो की स्थिति को भी समझ लेना

हमले करती रहती थीं। इनको रोकने के लिये चीनी सम्राट् शी- ह्वाग- ती (२४६–२१० ई० पू०) ने चीन की सुप्रसिद्ध दीवार का निर्माण कराया था। इससे ये फिरन्दर जातियाँ चीन के बदले अन्य उपजाऊ नदियों की घाटियों में बसी जातियो पर हमले करने लगीं। संभवत. इसी कारण दूसरी शताब्दी ई० पू० में मध्य एशिया मे विभिन्न जातियो की हलचल और प्रवास प्रारम्भ हुए।

चाहिये। इस समय चीन के कानसू प्रान्त के पश्चिमी छोर पर तकलामकान मरु-भूमि के सीमान्त पर युइचि (ऋषिक) जाति रहती थी। ये लोग हियंगनू जाति के सब से बड़े शत्रु थे। १७६ ई० पूर्व में हियंगनू जाति के राजा ने चीन के सम्राट् के पास जब युइचि लोगों पर विजय का समाचार भेजा था, उस समय युइशि तुनह्वांग और किलीयेन के मध्यवर्ती प्रदेश मे रहते थे। अपनी हार के बाद वे थियानशान पर्वत के दक्षिणी ढाल के साथ-साथ पश्चिम की ओर चले। १६५ ई० पूर्व में हियंगनू राजा लाओचांग ने उन्हें दूसरी बार करारी हार दी और उनके राजा को मार कर उसकी खोपड़ी का प्याला बना लिया। विधवा रानी के नेतृत्व मे अपने ढोर-डंगरो को हाँकते हुए युइशि लोग थियानशान पर्वत पार कर ईली नदी की घाटी मे इसिक-कुल झील पर आधुनिक कुलजा के प्रदेश मे जा पहुँचे। यहाँ उनकी वुसुन नामक जाति से टक्कर हुई। वुसुन के राजा को उन्होने मार डाला। यहाँ से उनकी एक शाखा—छोटे युइचि सीधे दक्षिण मे जाकर बस गये। किन्तु बडे युइचि पश्चिम में आगे बढ़ते चले गए और उन्होने सीर नदी के कांठे मे शक जाति के सै-वाग पर हमला किया। सै (शक जाति) के कबीले तितर-बितर हो गये और उनका राजा दक्षिण में किपिन या कपिश देश को चला गया। १२६ ई० पूर्व के लगभग चीनी राजदूत चांग-किएन ने युइचि लोगो को आमू नदी के उत्तर में बसा हुआ पाया था।

उपर्युक्त चीनी इतिहासों मे ५० वर्षों की घटनाओ का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है। इनमे वर्णित सै-वाग शक राजा प्रतीत होते है क्योकि चीनी भाषा के वाग शब्द को शक भाषा के स्वामीवाची मुरुण्ड शब्द का अनुवाद समझा जाता है और ईसवी सन् की आरम्भिक शताब्दियो के अनेक ब्राह्मी और खरोष्ट्री अभिलेखो मे मुरुण्ड शब्द का प्रयोग राजा या स्वामी के लिये हुआ है। सुग्घ प्रदेश मे बसे हुए शको को युइचियो के आक्रमण के कारण वहाँ से हटना पड़ा था और युइचि लोगो के पश्चिम मे बढ़ने का कारण हियंगनू लोगो का दबाव था। युइचि लोगो ने तावान (आधुनिक फर-गाना) होते हुए ताहिया की जनता पर हमला किया और उन्हें अपना वशवर्ती बनाया। ताहिया को अधिकाश विद्वान् बैक्ट्रिया राज्य की स्थानीय जनता समझते हैं। इसमें यहाँ के मूल निवासी ईरानी और कुछ यूनानी भी सम्मिलित थे। शको ने बैक्ट्रिया में यूनानी शासन का अन्त किया और इनके बाद यहाँ युइचि जाति की प्रभुता स्थापित हुई। इसी जाति ने बाद में उत्तरी भारत पर शासन स्थापित किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पहले हियंगनू (हूण) जाति ने युइचि लोगो पर हमले करके उन्हें पश्चिम की ओर जाने के लिये विवश किया। युइचि लोगो ने शक (सै-वांग) लोगो

पर दबाव डाला और शको ने बैक्ट्रिया के यूनानी राज्य का अन्त किया। इस प्रकार चीन की सीमा पर होने वाली हलचल का प्रभाव भारत की सीमा पर पडने लगा।

शको का भारत के साथ सम्बन्ध दूसरी शताब्दी ई० पूर्व से ही आरम्भ हो चुका था। महाभाष्य मे पतजलि ने पाणिनि के एक सूत्र "शूद्राणामनिरवसितानाम्" (२-४-१०) की टीका करते हुए शको का उल्लेख किया है। ईरान के साथ लगी भारत की पश्चिमी सीमा पर शको की पुरानी बस्तियाँ थी, और समवत इन्ही के साथ भारतीयो का पहला सम्पर्क स्थापित हुआ था। पुराणो मे और जैन साहित्य मे कई बार इनका उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि रामायण (४।४२।१२) मे शकों की बस्तियां उत्तर दिशा मे यवनो और काम्बोजो के साथ बताई गई है। महाभारत (२।३२।१७) मे शको को पहलवो, बर्बरो, किरातो और यवनो के साथ मद्रदेश की राजधानी शाकल के उत्तर-पश्चिम का निवासी बताया गया है। हरिवश पुराण (१४।१६) मे यह बताया गया है कि शक अपने सिर के आधे भाग को मुडित रखते थे जब कि यवन और काम्बोज समूचे सिर को मुडवाते थे और पहलव मूछ और दाढी रखते थे। एक मध्यकालीन जैन ग्रन्थ **कालकाचार्य कथानक** मे यह कथा दी गई है कि एक जैन आचार्य कालक मालव देश के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचार मे तग आकर उज्जैन से चला गया, वह **पारसकुल** या पार्श्वकुल (फारस) पहुच गया और वही **सगकुल** (शक कुल) मे रहने लगा। वहां का सब से बड़ा राजा (**परमसामी**--परम स्वामी) साढाणुसाहि--साहानुसाहि (अर्थात् राजाओ का राजा) कहलाता था। साहानुसाहि ने शक **साहियो** (सरदारो) के पास अपने दूत द्वारा एक कटारी भेजी और कहला भेजा कि यदि उन्हें अपने परिवार बचाने हो तो अपने सिर काट भेजे, नही तो लडाई मे सामने आये। कालक ने उनसे कहा---क्यो अपने को मरवाते हो, चलो हिन्दुगदेस (सिन्ध) चले। उन ९६ शक साहियो ने कालक की सलाह मान ली और अपनी सेना सहित भारत चले आये। सिन्ध से वे सुराष्ट्र पहुचे, यहाँ एक शक राजवश स्थापित हुआ। फिर दक्षिण गुजरात के राजाओ की मदद से उन्होने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। युद्ध मे गर्दभिल्ल हारा और बन्दी बना लिया गया। श्री जायसवाल के मतानुसार उपर्युक्त कथानक का साहानुसाहि ईरान का राजा मिथ्रदात (१२३-८८ ई० पू०) था। इस समय शको का ईरान के पार्थव सम्राटो के साथ उग्र सघर्ष चल रहा था। पार्थव राजा फ्रावत द्वितीय शको से लडता हुआ मारा गया था। १२८ ई०पू० उसके उत्तराधिकारी अर्तबान ने जब तुखारो पर चढ़ाई की तो शको ने उसके राज्य मे घुसकर उसे उजाडा, लूटमार की और फिर

अपने प्रदेश शकस्थान में वापिस आ गये। तुखारो ने १२३ ई० पू० मे अर्तबान को मार डाला। अर्तबान के उत्तराधिकारी मिथ्रदात द्वितीय (१२३-८८ ई० पू०) ने तुखारों और शकों का पूरी तरह दमन किया। यह पहला पार्थव राजा था, जिसने पुराने हखामनी राजाओं की राजाधिराज की पदवी (**क्षायथियानां क्षायथिय**) धारण की। श्री जायसवाल काल्काचार्य-कथानक के **साहानुसाहि** (राजाधिराज) को मिथ्रदात मानते हैं और यह कहते है कि उसने शक सरदारों के पास कटारी इसलिये भेजी थी कि उन्हें अर्तबान को मारने का दण्ड दिया जाय। अतएव शको ने पार्थव सम्राट् के प्रकोप से बचने के लिये भारत का प्रवास किया। युद्ध मे गर्दभिल्ल हारा और बन्दी बनाया गया तथा मालवा मे शक राजा शासन करने लगे। इस कथानक के आधार पर स्टेन कोनौ ने यह कल्पना की है कि शको ने पहली शताब्दी ईसवी पूर्व के पूर्वार्द्ध मे काठियावाड़ और मालवा की विजय की। उपर्युक्त कथानक मे यह भी बताया गया है कि बाद मे विक्रमादित्य ने शको का उन्मूलन करके विक्रम सवत् की स्थापना की। इस कथानक की प्रामाणिकता को पुष्ट करने वाले अन्य पुरातत्वीय प्रमाण नही है, फिर भी यह समव है कि इस कथानक की शकों द्वारा पश्चिमी और मध्यभारत मे विजय करने और अपनी बस्तियाँ बसाने की अनुश्रुति सत्य हो। उत्तर भारत मे भी सभवत शको की कुछ ऐसी बस्तियाँ थी। इनका सकेत कई खरोष्ट्री लेखो मे मिलता है। चीनी लेखक भी हमे यह बताते है कि एक शक राजा ने **किपिन** मे अपना शासन स्थापित किया। किपिन की स्थिति के सम्बन्ध मे विद्वानों मे बडा मतभेद है। फ्रेंच विद्वान् सिल्व्या लेवी और शावान्नेस इसे कश्मीर मानते है।[1]

---

१. किपिन के सम्बन्ध मे यह माना जाता है कि चीनी इतिहास के विभिन्न युगों में यह विभिन्न प्रदेश सूचित करता रहा है और ये सब प्रदेश एक दूसरे से जुड़े हुए थे। शिरातोरी के मतानुसार हानयुग (२०७ ई० पू०-२२० ई०) में यह गन्धार को सूचित करता था, छ राजवंशों के समय कश्मीर को तथा तांगवंश के समय (६१८-९०७ ई०) कपिश देश को। फ्रांके के मत में किपिन में आधुनिक कश्मीर का उत्तर-पश्चिमी भाग, स्वात नदी की घाटी अथवा उद्यान का प्रदेश था। टार्न (पृ० ४६९-७०) इसे काबुल के पुराने नाम कोफेन का रूपान्तर मानते हैं। इस प्रकार उन्होंने इस प्रदेश को काबुल नदी की घाटी माना है, जिसे चीनी काओ-फू कहते थे। किन्तु अन्य विद्वानों ने यह मत नहीं माना है। श्री अवध-किशोर नारायण (दी इंडोग्रीक्स, पृ० १३६) ने इसे स्वात नदी की घाटी तथा इसके आसपास का प्रदेश माना है।

किन्तु अन्य विद्वानों के मतानुसार यह कपिश अथवा वर्तमान समय का काफिरिस्तान का प्रदेश है। कपिश के पूर्व और दक्षिण-पूर्व से मिलने वाले शकों के कुछ अभिलेख भी इस बात को पुष्ट करते है।[1]

शकों के भारत प्रवेश और आक्रमण के मार्ग

भारत के अधिकाश आक्रामक सिकन्दर के समय से हिन्दूकुश पर्वत को पार करने के बाद काबुल नदी और खैबर दर्रे के मार्ग से भारत मे आते रहे है। किन्तु शक इसका अपवाद थे। इनके सम्बन्ध मे यह समझा जाता है कि ये पहले सीस्तान से बिलोचिस्तान (जिड्रोसिया) मे प्रविष्ट हुए और वहाँ से क्वेटा के निकट बोलान दर्रे के मार्ग से सिन्ध नदी की घाटी मे प्रविष्ट हुए। यह परिणाम मुद्राओं के आधार पर निकाला गया है, क्योंकि भारत के आरम्भिक शक शासकों के सिक्के कन्धार और उत्तरी बिलोचिस्तान के प्रदेश मे और पंजाब मे मिले है। किन्तु ये सिक्के काबुल नदी की उपरली घाटी मे बिल्कुल नही पाये गये है। कुछ आरम्भिक शक शासक हिप्पोस्ट्रेटस जैसे हिन्द-यूनानी राजाओं के समकालीन भी थे और इन राजाओं की मुद्राओं का शक राजाओं ने अनुकरण किया था। तत्कालीन मुद्राये यह सूचित करती है कि उन दिनों काबुल घाटी के यूनानी राज्य पर हर्मियस का शासन था और वह काबुल के मार्ग से शकों के भारत आने मे एक प्रबल बाधक था। इससे पूर्व ही बैक्ट्रिया पर अधिकार करने के बाद शक जाति का प्रवाह पूर्व दिशा में यूनानी राज्यों से तथा पश्चिम दिशा मे ईरान के पार्थियन राजाओं से अवरुद्ध होने के कारण सीधा दक्षिण दिशा की ओर बढ रहा था। यहाँ से शक लोग सिन्धु नदी के निचले भाग अर्थात् वर्तमान सिन्ध प्रान्त मे पहुचे। उन दिनों यहाँ शक इतनी अधिक सख्या मे बसे या उनका शासन इतना सुदृढ तथा दीर्घकालीन रहा कि उस प्रदेश को पेरिप्लस ने इन्डो-सीथिया अर्थात् भारतीय शक-स्थान का नाम दिया है। सिन्ध से इन्होंने काठियावाड और गुजरात मे तथा मालवा और उज्जयिनी मे प्रवेश किया। यहाँ से ये मथुरा और पंजाब की ओर बढे। अधिकाश विद्वान् रैप्सन, थामस और कनिघम के इस मत को स्वीकार करते हुए शकों के भारत मे प्रवेश का मार्ग

---

१. ये लेख निम्नलिखित है—(क) हजारा जिले (प्राचीन उरशा प्रदेश) की अग्रोर (अत्युग्रपुर) दून में औघी के इलाके के शाहरोर गाँव से प्राप्त दो पंक्तियों का खरोष्ठी लेख। इसमें राजा दामिजद शक का नाम तथा ६० संवत् पढ़ा जाता है। (ख–ग) हजारा जिले की सुप्रसिद्ध पुरानी बस्ती मानसेरा से तथा अटक जिले के फतेहगंज के पास माहजिदा गांव से ६८ संवत् के लेख मिले हैं।

बोलान का दर्रा समझते है और यह मानते है कि शक पूर्वी ईरान से दक्षिणी अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान होते हुए भारत मे प्रविष्ट हुए ।

इस विषय मे दूसरा मत सर्वप्रथम गार्डनर ने रखा था कि शक भारत में कराकुरम के दर्रे से प्रविष्ट हुए। वे यहाँ से कश्मीर और पजाब होते हुए सिन्धु की घाटी मे पहुच गये और वहाँ से भारत के अन्य प्रदेशों मे फैले। भारतीय विद्वानो मे श्री प्रबोधचन्द्र बागची इस मत के प्रबल समर्थक है। इस मत का मुख्य आधार चीनी इतिहास हान-शू में पाया जाने वाला यह विवरण है कि युइचि लोगो द्वारा हमला किये जाने पर सै-वाग दक्षिण की ओर चले गये और उन्होने हियेन-तू (Hientu) अर्थात् झूलने वाला पुल (Hanging Bridge) पार किया। यह सिन्धु नदी के एक बहुत सकरे (Hanging Gorge) स्थान पर नदी को पार करने वाला भीषण पुल था जो वर्तमान दर्दिस्तान की सीमा के निकट स्कर्दू के कुछ पश्चिम मे था ।[1] इससे होते हुए शक लोग किपिन या

---

१. हियेन-तू का नाम सभवत स्कर्दू से रोगदो तक सौ मील के सिन्धु नदी के बहुत संकरे प्रदेश (Gorge) को सूचित करता है । इस प्रदेश में नदी को रस्सियों से बने पुल से पार किया जाता था, ये झूलती रहती थीं, अत. इसे झूलने वाले पुल के मार्ग का नाम दिया गया है । ऐसे पुलों पर रस्सियो को पकड़ कर धीरे-धीरे बड़े साहस के साथ नदी को पार करना होता है, क्योंकि रस्सी की पकड़ ढीली हो जाने से प्रबल वेग से बहती हुई नदी मे नीचे गिर जाने का भय होता है । फाहियान ने इस मार्ग का बड़ा सजीव वर्णन किया है । श्री प्रवध किशोर नारायण (इंडोग्रीक्स पृ० १३५) का यह मत है कि शकों की एक शाखा मध्य एशिया में इसी नदी के प्रदेश से पहले तेरेक (Terek) के दर्रे से काशगर पहुंची, वहां से बाईं ओर मुड़ कर यारकन्द गई, यहाँ से ताशकुर्गान तथा गिलगित के दर्रों से वे हियेनतू पहुंचे । वर्तमान समय में मध्य एशिया में भारतीय वस्तुओं की खोज के लिये आरेल स्टाइन इसी मार्ग से खोतन गये थे। उनके 'एशेण्ट खोतन' के पहले दो अध्यायों (पृ० १-४६) में इस मार्ग का वर्णन है । इस मार्ग की दुर्गमता और कठिनता के बावजूद इससे सैनिक आक्रमण होने के दो ऐतिहासिक उदाहरण है। ४४५ ई० में तु-यु-तुन जाति के राजा ने दक्षिण में किपिन पर आक्रमण किया था । ७४७ ई० में चीनी सेनापति काओ हसियेन चिह ने यासीन और गिलगित के प्रदेशों पर सफलतापूर्वक चढ़ाई की थी । स्टाइन का यह कहना है कि वह १० हजार सैनिकों को लेकर काशगर

कश्मीर मे आये और यहाँ से भारत के दूसरे भागो मे फैल गये। फ्रेंच विद्वान् शावन्नेसने हियेनतू की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उनका यह कहना है कि यह बखाँ से सिन्धु नदी की घाटी मे बोलोर और यासीन के रास्ते से कश्मीर मे आने का मार्ग है। इन दोनो मतो का आधार किपिन (Kipin) को कश्मीर मानना है। इस पर अनेक आपत्तियाँ उठाई गई है। इनमे प्रधान आपत्ति यह है कि काराकुरम दर्रे और यासीन घाटी के मार्ग अत्यधिक दुर्गम और कठिन हैं। इनमे फाहियान जैसे कुछ धर्मपिपासु यात्री और धनलोलुप व्यापारी भले ही आ जाये किन्तु बडी सेनाये इन विकट मार्गो से नही आ सकती है। इसके साथ ही किपिन नाम वाले देश की अब स्थिति भी बडी विवादास्पद है। रैप्सन ने इस मत पर सन्देह प्रकट करते हुए यह सत्य ही लिखा है कि इस प्रदेश मे भौगोलिक कठिनाइयाँ इतनी अधिक है कि इस बात की कल्पना करना सभव नही है कि उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राज्यो को तथा पजाब को जीतने के लिये पर्याप्त सैन्य-समूह द्वारा इस प्रदेश पर आक्रमण किये जा सकते है।

भारत पर आक्रमण करने वाले शको की विभिन्न शाखाये

ऐतिहासिको ने मुद्राओ तथा कुछ खरोष्ठी और ब्राह्मी अभिलेखो के आधार पर भारत पर हमला करने वाले शको की दो शाखाये मानी है। पहली शाखा तक्षशिला पर शासन करने वाले शक राजाओ, मोअ (Maues) आदि की है और दूसरी शाखा कन्धार (Archosia), बिलोचिस्तान (Gedrosia) और सीस्तान (द्रगि-

से रवाना हुआ था। पामीर पर्वतमाला पार करने के बाद उसने बरगोहिल तथा दरकोट के दर्रों से कश्मीर में प्रवेश किया। श्री नारायण ने यह लिखा है (पृ० १३७) कि साहसी सेनापतियों के लिये इस मार्ग का प्रयोग कठिन नहीं है। भाषा की दृष्टि से इली नदी से हियेनतू तक का प्रदेश शक भाषाभाषी है, राजनीतिक दृष्टि से भी इसी मार्ग से आना ठीक था, क्योंकि बैक्ट्रिया में उनके विरोधी यूनानी उनका रास्ता रोके हुए थे। अतः उनके लिये अपनी भाषा बोलने वाले समान जातीय लोगों के प्रदेश में से होकर आना सुगम था। अत मध्य एशिया से शकों की एक शाखा (चीनी साहित्य के सै-वांग) सीधे दक्षिणी मार्ग से भारत आयी। शको की दूसरी शाखा शकस्थान में बसी हुई थी। यह पार्थियनो से सम्मिश्रित होती हुई बिलोचिस्तान के मार्ग से भारत आयी। युइचि अथवा तुखार लोगों ने काबुल नदी की घाटी के मार्ग से भारत में प्रवेश किया। इन तीनों ने विभिन्न समयों में विभिन्न स्थानों पर हिन्द-यूनानी राज्यों को नष्ट किया।

थाना) के प्रदेशो मे शासन करने वाली वनान या वोनोनीस (Vonones) और उसके साथियो की है । तक्षशिला के शासक मोअ और उसके उत्तराधिकारी एजेस (Azes) आदि का तथा वनान के पारस्परिक सम्बन्ध का हमे कोई निश्चित ज्ञान नही है। स्मिथ ने इनकी मुद्राओ के आधार पर यह मत स्थापित किया था कि ये शक जाति के न होकर पार्थियन या ईरानी जाति के है । उदाहरणार्थ, उसने यह कहा था कि वोनोनीस का नाम ईरानी है और इस नाम को धारण करने वाले दो शासक वोनोनीस प्रथम (राज्यकाल ८–१२ ई०) और वोनोनीस द्वितीय (लगभग ५१ ई०) पार्थिया के राजवश मे हुए थे। इन राजाओ के सिक्को की उपाधि **बेसिलिओस बेसिलियोन** (Basileos Beseleon, राजाओ के राजा) ईरानी राजाओ की शाही उपाधि **क्षायथियानां क्षायथीय** का अनुकरण मात्र है। ४०० ई० मे एक रोमन ऐतिहासिक ओरोसियस (Orosius) ने लिखा कि **मिथ्रदात** प्रथम (१७१–१३६ ई० पू०) ने पूर्व मे **हिडास्पस** (Hydaspes) अर्थात् झेलम नदी तक के प्रदेश को जीता था। १३६ ई० पू० मे उसकी मृत्यु के बाद सभवत. उसके एक पार्थियन सरदार मोएस (Maues) ने पजाब मे तथा वोनोनीस ने कन्धार और बिलोचिस्तान मे अपना शासन स्थापित किया और ईरानी सम्राटो के प्रति नाममात्र की अधीनता प्रदर्शित की।

किन्तु स्मिथ के इस मत को अन्य विद्वान् स्वीकार नही करते है, क्योकि मिथ्रदात प्रथम द्वारा उत्तर-पश्चिमी भारत की विजय का हमारे पास कोई ठोस ऐतिहासिक प्रमाण नही है । वोनोनीस के नामो और मुद्राओ पर पार्थियन प्रभाव अवश्य है, किन्तु यह पूर्वी ईरान मे शको के पार्थियनो के साथ सुदीर्घ काल तक घनिष्ठ सम्पर्क मे रहने का परिणाम है। थामस ने इन राजाओ के तथा क्षत्रपो के सिक्को पर पाये जाने वाले विभिन्न नामो का भाषाशास्त्रीय अध्ययन करने के बाद यह परिणाम निकाला है कि ये पार्थियन नही, किन्तु शक जाति के थे। कन्धार और सिन्धु नदी की घाटी के शको का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि इन दोनो मे भेद करना काफी कठिन कार्य है। अब यहाँ इन दोनो शक शाखाओ का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा।

वोनोनीस तथा उसके उत्तराधिकारी

ईरान के पार्थियन वशी राजा मिथ्रदात प्रथम (१७१–१३६ ई० पू०) ने पूर्वी ईरान और उसके समीप के कुछ भारतीय प्रदेशो को जीता था। किन्तु ये दजला (Tligris) नदी पर वर्तमान बगदाद के निकट बसे हुए इस साम्राज्य की

राजधानी टेसीफोन से इतनी अधिक दूरी पर थे कि इन पर पार्थियन सम्राटों का प्रभावशाली नियन्त्रण देर तक नहीं रह सका। इसी समय मध्य एशिया में युइचि जाति के दबाव और आक्रमण से बैक्ट्रिया के शक हिरात की ओर तथा वहाँ से शकस्थान (सीस्तान) की ओर बढ़ने लगे। ये प्रदेश पार्थिया के राज्य में थे, अतः पार्थियन राजाओं को शकों का प्रवाह रोकने की विकट चेष्टा करनी पड़ी। पार्थियन राजा फ्रावत द्वितीय शकों से लड़ता हुआ मारा गया (१२८ ई० पू०)। इसके उत्तराधिकारी अर्तबान को तुखारों ने मार डाला (१२३ ई० पू०)। साम्राज्य के पूर्वी भाग में कुछ शक और पार्थियन जातियों का मिश्रण रखने वाले सरदारों ने अपने स्वतन्त्र अथवा अर्ध स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये।

पूर्वी ईरान में इस प्रकार शासन करने वाला स्थानीय शासक वनान या वोनोनीस (Vonones) नामक व्यक्ति था। इसने **महाराजाधिराज** की उपाधि धारण की। यह उपाधि पहले ईरानी सम्राट मिथ्रदात द्वितीय (१२३–८८ ई० पू०) ने धारण की थी, अतः वनान संभवतः इस सम्राट के बाद होने वाला द्रंगियाना या सीस्तान के प्रदेश का शासक था। वनान का कुल पार्थियन है किन्तु संभवतः शक स्त्रियों से उत्पन्न होने वाले उसके भाइयों में शक जाति का अंश अधिक था। वनान दक्षिणी अफगानिस्तान का शासक था उसने अपने राज्य के पूर्वी भागों के शासन के लिये अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर रखे थे। वनान के शासन की एक विशेषता उसके सिक्कों से यह सूचित होती है कि वह महाराजाधिराज होता हुआ भी विभिन्न प्रान्तों में नियुक्त अपने राजप्रतिनिधियों के साथ शासन किया करता था, क्योंकि उसके सिक्कों में एक ओर तो यूनानी में इसका नाम है और पृष्ठ भाग में खरोष्ठी में इसके राजप्रतिनिधियों का नाम उत्कीर्ण है। कई बार ऐसे दो प्रतिनिधियों का नाम दिया गया है। इनमें से बड़े प्रतिनिधि का नाम मुद्रा के पुरोभाग पर और छोटे का नाम पृष्ठ भाग पर दिया गया है। वनान ने अपने भाई **स्पलहोर** (Spalahora) के साथ और अपने भतीजे **स्पलगदम** (Spalagdam) के साथ संयुक्त रूप में शासन किया। **स्पलहोर** और उसके बेटे ने संभवतः दक्षिणी अफगानिस्तान पर शासन किया। एक अन्य शासक स्पलिरिस (Spalirises) की आरम्भिक मुद्राओं में कोई भी राजकीय पदवी नहीं लगाई गई है। स्पलिरिस तथा अय नामक शासक वनान के प्रतिनिधि रूप में दक्षिणी अफगानिस्तान में और पूर्वी ईरान में शासन कर रहे थे। वोनोनीस या वनान की कुछ मुद्राओं पर स्पलिरिस का नाम दूसरी बार अंकित किया गया है। इससे यह सूचित होता है कि जब वनान वृद्ध हो गया तो संभवतः उसके छोटे भाई स्पलिरिस ने उससे राज्य छीन लिया तथा

स्पलिरिस और स्पलगदम की कुछ मुद्राओ को पुन अपने नाम से अंकित किया। इससे यह सूचित होता है कि ये दोनो वनान के प्रति अपनी राजभक्ति रखते थे और राजगद्दी को जबरदस्ती हड़पने वाले का प्रभुत्व स्वीकार नही करना चाहते थे। सभवतः इन घटनाओ का लाभ उठाकर भारत में एक शक शासक मोअ या मोग स्वतन्त्र हो गया। श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने वनान के विषय मे यह मत रखा है कि उसने ईरानी सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप मे ५८ ई० पू० मे अपना शासन आरम्भ किया।[1] इसके बाद वह स्वतन्त्र हो गया और उसके शासन का अन्त सभवत १८ ई० पूर्व मे हुआ। उसके बाद पूर्वी ईरान का शासक उसका सगा या सौतेला भाई स्पलिरिस (१८-१ ई० पू०) उसके बाद राजा बना।

मोअ तथा उसके उत्तराधिकारी

तक्षशिला पर शासन करने वाले मोअ, मोग या मोएस (Maues) का परिचय हमें कुछ अभिलेखो और मुद्राओ से मिलता है। दुर्भाग्यवश इन अभिलेखो मे जिस सवत् का प्रयोग किया गया है, उस सवत् के बारे मे विद्वानो मे अत्यधिक

---

१. श्री दिनेशचन्द्र सरकार (ए० इं० यू०) के मतानुसार यह घटना ५८ ई० पू० में हुई, वनान ने इस महत्वपूर्ण घटना की स्मृति में एक संवत् चलाया, शक भारत आते समय इस सवत् को अपने साथ लेते आये। मोअ आदि शक राजाओ के अभिलेखों मे जिस संवत् का प्रयोग है, वह यही संवत् है। बाद में इसी को विक्रम सवत् कहा जाने लगा। इस मत की पुष्टि निम्न-लिखित युक्तियों के आधार पर की जाती है। अशोक आदि प्राचीन भारतीय राजा अपने शिलालेखो में किसी प्रकार के संवत् का प्रयोग नहीं करते हैं, अपितु अपने राज्यकाल के वर्षों का उल्लेख करते है, अत संवत् की पद्धति प्राचीन भारत में लोकप्रिय नहीं थी। इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय शकों तथा कुशाणो को है। इनके लेखों में सर्वप्रथम संवतो का प्रचुर प्रयोग मिलता है। शक ईरान के उस प्रदेश से आये थे, जहाँ ३१२ ई० पू० से आरम्भ होने वाला सेल्यूकस संवत् (Seleucid era) तथा २४८ ई० पू० से शुरू होने वाला पार्थियन या अर्सक संवत् (Parthian Arsacid) प्रचलित था। ये विश्व के प्राचीनतम संवत् थे। मोग के तक्षशिला वाले लेख में ७८ संवत् के पार्थियन महीने का उल्लेख उपर्युक्त कल्पना को पुष्ट करता है। शको के लिये ऐसा संवत् चलाना स्वाभाविक था। जैसे अर्सक ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करके नया संवत् चलाया, वैसे ही शकों ने ईरान की प्रभुता से मुक्त होने पर अपना संवत् चलाना ठीक समझा।

मतभेद है। इसलिये मोअ की तिथि अत्यन्त विवादास्पद है। उसके शासन **और घटनाओं** पर प्रकाश डालने वाले अभिलेखों में प्रथम स्थान तक्षशिला से प्राप्त **एक** ताम्रपत्र को दिया जाता है। इसमें यह बताया गया है कि संवत् ७८ में महाराज **मोग** के राज्य में **चुक्ष** (अटक जिले का चच प्रदेश) के क्षत्रप **लिअक कुसुलक** तथा उसके **पुत्र पतिक** ने तक्षशिला नगर में भगवान् शाक्यमुनि के पवित्र अवशेषों की प्रतिष्ठा **की** और एक संघाराम या बौद्धविहार बनवाया। नमक की पहाड़ियों में मैरा नामक एक छोटे गाँव के कुएं में खरोष्ट्री लिपि में एक लेख मिला था।[1] इसमें संवत् ५८ का प्रयोग है और मोअस (मोअ) का शब्द पढ़ा गया था। विद्वानों ने तक्ष-शिला के ताम्रपत्र के मोग तथा इस लेख के **मोअ** को एक ही माना है।

इन दोनों लेखों में प्रयुक्त संवत् कौन सा है, इस विषय पर विभिन्न विद्वानों ने कई प्रकार के मत प्रकट किये हैं। **पहला** मत फ्लीट का है। उसने इसे विक्रम संवत् माना है। इसके अनुसार ७८ संवत् का अर्थ २० ई० पूर्व है। किन्तु रैप्-सन ने इसे १५० ई० पूर्व से आरम्भ होने वाला एक संवत् माना है। उसका यह कहना है कि यह संवत् मिथ्रदात प्रथम द्वारा सीस्तान के प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिलाने की स्मृति में चलाया गया था। शक सीस्तान से भारत आते हुए वहाँ प्रच-लित इस संवत् को अपने साथ लेते आये थे। यह कल्पना इस बात से भी पुष्ट होती है कि इस लेख में एक पार्थियन महीने पेनीमोस (Peneemos) का उल्लेख है। रैप्सन के इस मत को यदि सही मान लिया जाये तो मोग का शासन-काल ७२ ई० पूर्व होगा। मार्शल और कोनो पहले रैप्सन के इस मत से सहमत नहीं थे, किन्तु बाद में वे इस मत के समर्थक हो गये, क्योंकि उनकी इस कल्पना की पुष्टि कलवन के ताम्रपत्र और तक्षशिला के कुछ खरोष्ट्री लेखों से हुई है। **तीसरा** मत टार्न (ग्री० इ० वै०) ने यह रखा है कि इसमें जिस संवत् का प्रयोग है वह शक संवत था और १५५ ई० पूर्व में उसे आरम्भ किया गया था। यह संवत् चलाने का कारण शायद यह था कि कुछ शक लोगों ने एक सबसे समृद्धतम और सुरक्षित प्रदेश-- शकस्थान (Drangiana) में ईरानी सम्राट् से सर्वथा स्वतन्त्र एक राज्य की स्थापना की थी। अतः टार्न के मतानुसार मोग का शासनकाल ७७ ई० पूर्व था। यह मत रैप्सन के मत से बहुत कुछ मिलता है।

चौथा मत श्री हेमचन्द्र राय चौधरी का है। उनके अनुसार मोग ने ३३ ई० पूर्व के बाद ही पंजाब और गन्धार में शासन किया। **पांचवाँ** मत श्री काशीप्रसाद जाय-

---

१ स्टे० का० इ० इं० पृ० १२।

सवाल का है। इनके कथनानुसार इसमें वर्णित संवत् १२० ई० पूर्व मे उस समय आरम्भ हुआ जब सीस्तान के शको ने मिथ्रदात द्वितीय के विरुद्ध विद्रोह किया। इस संवत् की दृष्टि से मोग का शासन-काल ४२ ई० पूर्व बैठता है। छठा मत हर्जफैल्ड का है। उसने विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए यह कहा है कि इनमे कोई भी सुदृढ प्रमाणो पर आधारित नही है, सिक्को के आधार पर उसने इस संवत् का समय ११० ई० पूर्व निश्चित किया। इस प्रकार मोग के शासन-काल के इस ताम्रपत्र का समय ३२ ई० पूर्व माना जाना चाहिये। उपर्युक्त मतो से यह स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वान् मोग का समय ७७ ई० पूर्व से २० ई० पूर्व के बीच मे मानते है।

उपर्युक्त विवेचन मोग के अभिलेखो के आधार पर किया गया है। इसके अतिरिक्त मोग की मुद्राये भी प्रचुर मात्रा मे मिली है। इन मुद्राओं मे कुछ मुद्राये हिन्द-यूनानी राजाओ के सिक्कों से गहरा सादृश्य रखती है। ये उसके आरम्भिक शासन की मुद्राये समझी जाती है। इस प्रकार की कुछ ताम्र मुद्राओ के एक प्रकार मे केवल पृष्ठभाग मे यूनानी मे लेख है और दूसरी ओर खरोष्ठी मे कोई लेख नही है। कुछ मुद्राओ पर दी गई मोग की उपाधि उसके ताम्रपत्र के लेख से नही मिलती है। अन्य सिक्को पर यूनानी और खरोष्ठी दोनो लिपियो मे लेख है और प्राकृत मे **रजतिरजस महतस मोग्रस** का लेख है। यह उपाधि पंजाब के अन्य शक शासको—एजेस प्रथम, एजिलिसेस और एजेस द्वितीय के सिक्को पर भी पायी जाती है। किन्तु इन सिक्कों के प्राकृत लेख मे थोडा परिवर्तन है, **रजतिरजस** के स्थान पर **महरजस रजरजस** का लेख है। बडी उपाधि वाली मुद्राये कालक्रम की दृष्टि से बाद की समझी जाती है और छोटी उपाधि वाली मुद्राये इसके शासन काल के आरम्भिक भाग की मानी जाती है। इसकी कुछ मुद्राओ पर डिमेट्रियस के सिक्को की भाति हाथी का सिर और Caduceus का चिह्न बना हुआ है। एक अन्य प्रकार की मुद्रा पर धनुर्बाणधारी अपोलो (Apollo) देवता की मूर्ति है। इस प्रकार की मुद्राओ को सर्वप्रथम अपोलोडोटस प्रथम ने आरम्भ किया था, स्ट्रेटो प्रथम ने भी इन्हें जारी रखा था। इसकी कुछ मुद्राओ पर कापिशी के नगर-देवता की मूर्तियाँ भी बनी हुई है। इससे यह सूचित होता है कि इस प्रदेश पर उसका शासन था। इसके साथ पुष्कलावती की वृष (Artemis and Bull) वाली ताँबे की गोल मुद्राये भी मिलती है। शक राजा अपने राज्य का विस्तार करते हुए विभिन्न प्रदेशो की स्थानीय शैली वाली मुद्राओ का ध्यान रखा करते थे और वहाँ की पुरानी परम्पराओ के अनुसार मुद्राओ को ढलवाते थे।

मोग की मुद्राओं के पुरोभाग मे प्राय उसकी मूर्ति के स्थान पर यूनानी देवी देवताओं की मूर्तियाँ मिलती है। टार्न के मतानुसार इन पर दो भारतीय देवताओ, शिव और बुद्ध की मूर्तियाँ पायी जाती है। बुद्ध की मूर्ति इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि यह सिक्को पर बुद्ध का सभवत प्राचीनतम चित्रण है।[1] मोग के कुछ चांदी और तांबे के सिक्को पर हमे घोडे की पीठ पर बैठे हुए अथवा दो घोडो के रथ (Biga) पर सवार उसकी मूर्ति के दर्शन होते है। ब्रिटिश म्यूजियम मे रयारूट राजा की कई रजत मुद्राये है। ये कई दृष्टियो से उल्लेखनीय है। इनमे यूनानी और खरोष्ठी भाषाओं मे उपाधियो के विस्तृत उल्लेख है और पुरोभाग मे रथ पर खडे हुए राजा ने दाये हाथ मे एक बरछा थाम रखा है, उसके सिर के चारो ओर प्रभामण्डल है और उसके आगे सारथि खडा हुआ है। इसके पृष्ठ भाग मे यूनानी देवता ज्यूस सिंहासन पर बैठा हुआ है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग मे तो कोई नवीनता नही है, किन्तु पुरोभाग मे बडी मौलिकता है। इससे पहले केवल प्लेटो के सिक्को पर ही चार घोडो वाले रथ (Quadriga) पर सूर्य देवता रथ पर दिखाया गया था, किन्तु मोअ की मुद्रा इससे सर्वथा भिन्न और नये प्रकार की है। इसके कुछ सिक्को पर पोसीडोन (Poseidon) या वरुण देवता की मूर्ति है। इससे पहले यद्यपि एन्टीमेकस थियोस की मुद्राओ पर यह मूर्ति मिलती है, किन्तु मोअ की मूर्ति कई अशो मे उससे भिन्न है। इस मुद्रा की व्याख्या करते हुए टार्न ने लिखा है[2] कि वरुण देवता की मूर्ति निश्चित रूप मे प्रतीकात्मक ढग से इस बात का सकेत करती है कि सिन्धु नदी पर हुई एक लडाई मे मोअ ने यूनानी बेडे पर प्रबल विजय प्राप्त की थी, इससे उसे इस नदी पर पूरा अधिकार और नियन्त्रण मिल गया था। तक्षशिला पर अधिकार करने के लिये उसका मार्ग प्रशस्त हो गया।

मोअ की मुद्राओ से कई परिणाम निकाले गये है। **पहला** परिणाम तो यह है कि उसका राज्य सिन्धु नदी के दोनो ओर पुष्कलावती से तक्षशिला तक फैला हुआ था। उसके राज्य मे चुक्ष या अटक जिले मे विद्यमान चच का बडा मैदान भी सम्मिलित था और इसमे उसकी ओर से लियक कुसुलुक नामक क्षत्रप शासन कर

१ टार्न—दी ग्रीक्स इन इडिया एण्ड बैक्ट्रिया, पृ० ४००, किन्तु कुमार स्वामी तथा वासुदेवशरण अग्रवाल (भारतीय कला) इसके सिक्कों पर बुद्ध की मूर्ति के चित्रण को सही नहीं मानते हैं।

२. टार्न—दी ग्रीक्स इन इंडिया एण्ड बैक्ट्रिया, पृष्ठ ३२२।

रहा था। कापिशी के नगरदेवता वाले सिक्को से यह स्पष्ट है कि इस प्रदेश पर भी उसका शासन था। **दूसरा** परिणाम यह है कि मोअ ने हिन्द-यूनानी राजाओ के सिक्को पर अपना नाम अंकित नही किया, यद्यपि कई हिन्द-यूनानी राजा उसके समकालीन थे। **तीसरा** परिणाम यह है कि उसके सिक्को पर भारत के अन्य शक तथा पार्थियन शासकों—व्नान आदि की भाति उसके साथ शासन करने वाले अन्य व्यक्तियो का कोई उल्लेख नही है। **चौथा** परिणाम गार्डनर ने यह निकाला है कि उसके सिक्को पर विभिन्न प्रकार की सुन्दर मूर्तियो की बहुसख्या वास्तव मे आश्चर्य-जनक है। सभवत उसने किन्ही ऐसे कलाकारो को सिक्के ढालने के लिये नियुक्त किया था जिन्होने इस विषय मे यूनानियो मे शिक्षा ली थी, किन्तु वे यूनानी परम्परा से बधे हुए नही थे, अत उन्होने कई सर्वथा नवीन प्रकार की मुद्राओ का भी निर्माण किया।[1] दो घोडो के रथ (Biga) वाली एक ऐसी मुद्रा का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

मोअ के उत्तराधिकारी—मुद्राओं की साक्षी से यह प्रतीत होता है कि मोअ के बाद उसका उत्तराधिकारी अय अथवा एजेस (Azes) था। यह वही अय है जिसका नाम हमे दक्षिणी अफगानिस्तान के एक शासक स्पलिरिष के साथ उपराजा के रूप मे मिलता है। शक प्रशासन की एक महत्वपूर्ण विशेषता सयुक्त शासन (Joint Rule) की थी, उसमे राजा एक उपराजा या राजप्रतिनिधि (Viceroy) के साथ शासन करता था और इन दोनो का नाम मुद्राओ पर अकित हुआ करता था। ऐसे उपराजा प्राय राजा के पुत्र हुआ करते थे। अत यह कल्पना की गई है कि अय प्रथम दक्षिणी अफगानिस्तान और पूर्वी ईरान के शासक स्पलिरिष का पुत्र और सभवत मोअ का जामाता रहा होगा। अय और उसके उत्तराधिकारियो की वशावली अत्यधिक विवादग्रस्त है। यहाँ श्री दिनेश-चन्द्र सरकार द्वारा प्रतिपादित निम्न वशावली और तिथिक्रम के आधार पर इनका वर्णन किया जायेगा।

१– मोअ या मोग (लगभग २० ई० पू० से २२ ई०)

२– अय प्रथम (एजेस) (लगभग ५ ई० पूर्व से ३० ई०)

३– अयिलिष (लगभग २८ से ४० ई०), सभवत सख्या दो का पुत्र।

---

१. गार्डनर–ब्रिटिश म्यूजियम कटेलाग (क्वाइन्ज आफ दी ग्रीक एण्ड सीथिक किंग्ज आफ बैक्ट्रिया एन्ड इंन्डिया) पृष्ठ ५७।

४—अय या अजेस द्वितीय (एजेस) (लगभग ३५ से ७९ ई०), संभवतः संख्या तीन का पुत्र।

उपर्युक्त वंशावली में यह मान लिया गया है कि अय प्रथम (Azes I) मोअ का दामाद था। किन्तु इस विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद है। कोनो का यह मत है कि मोअ शकवंशी था और इसका उत्तराधिकारी अय पह्लव वंश का था।[1] टार्न ने दोनों को शक जाति का माना है और यह कहा है कि अय प्रथम स्पलिरिष का पुत्र था। रैप्सन के मतानुसार मोअ, अय प्रथम और अयिलिष ये तीनों भारत के पहले तीन शक राजा थे। इनके समय में क्रमशः शकों की शक्ति का निरन्तर विस्तार होता चला गया।

उपर्युक्त वंशावली में अय नामक दो राजा माने गये हैं। यह कल्पना सिक्कों के आधार पर की गई है। अय नाम वाले राजा के सिक्के दो समूहों में बांटे गये हैं। पहले समूह के सिक्कों पर सुन्दर, शुद्ध और स्पष्ट यूनानी अक्षरों में लेख अंकित है और दूसरे समूह के सिक्कों के लेख बड़ी भ्रष्ट, दूषित और अशुद्ध यूनानी में हैं। विन्सेण्ट स्मिथ ने यह कल्पना की थी कि सुन्दर और शुद्ध लेख वाले सिक्के अय प्रथम के और दूषित लिपि वाले सिक्के अय द्वितीय के हैं। इस मत की पुष्टि कई कारणों के आधार पर की गई है। पहला कारण मार्शल द्वारा तक्षशिला में सिरकप की खुदाई है। यहाँ अय प्रथम के उत्कृष्ट कोटि के सिक्के, निकृष्ट कोटि के अय द्वितीय के सिक्कों की अपेक्षा निचले स्तर में पाये गये थे। दूसरा कारण इन सिक्कों पर सकार की आकृति है। श्री एन० जी० मजूमदार ने यह प्रदर्शित किया है कि अय प्रथम के सिक्कों पर पाये जाने वाले सकार की आकृति अय द्वितीय के सिक्कों के सकार की अपेक्षा लिपिशास्त्र की दृष्टि से अधिक प्राचीन

---

[1] दी ग्रीक्स इन इंडिया एण्ड बैक्ट्रिया, पृ० ३४६–४७; टार्न ५८ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले विक्रम संवत् का श्रेय इसी राजा को देता है, क्योंकि उसके मतानुसार उसने ३० ई० पूर्व में हिन्द-यूनानी राज्य के पंजाब और काबुल में शासन करने वाले दोनों राज्यों का अन्त करके एक प्राचीन शासन का समूलोन्मूलन किया। पहले उसने पंजाब के हिप्पोस्ट्रेटस पर एक जलयुद्ध में विजय पाई, यह परिणाम उसके त्रिशूलधारी वरुण की मूर्तियों वाले सिक्कों से निकाला गया है। काबुल के यूनानी राज्य को वह पहले ही जीत चुका था क्योंकि उसने कापिशी शैली के सिंहासनासीन ज्यूस की मूर्ति वाले सिक्के प्रचलित किये थे। अय के कुछ सिक्कों पर हरमियस की आकृति भी अंकित है।

है। तीसरा कारण यह है कि कुछ सिक्को से यह ज्ञात होता है कि इन्द्रवर्मा का पुत्र अश्पवर्मा प्रादेशिक शासक (Starategos) के रूप में अय की सेवा करता था और बाद मे वह गोण्डोफर्नीस (Gondophares) के शासन में उसकी सेवा करता रहा। दूसरे अय से पहले अयिलिष का शासन था। उससे पूर्व अय प्रथम ने राज्य किया था। यदि दो अय न माने जाये तो अश्पवर्मा का काल हमें बहुत लम्बा मानना पड़ेगा, अत इस समय सभी ऐतिहासिक दो अय मानते हैं।

अय प्रथम के सिक्को की कुछ बाते उल्लेखनीय है। इसके कुछ सिक्को पर पल्लास एथीन (Pallas Athene) नामक देवी की मूर्ति पृष्ठ भाग पर बनी हुई है। इस प्रकार की मुद्राये पूर्वी पजाब मे अधिक प्रचलित थी, अत यह समझा जाता है कि इसके समय मे शक राज्य का विस्तार पूर्वी पजाब मे भी हो चुका था। इसकी मुद्राओ के कुछ नये प्रकार उल्लेखनीय है। इनमे से एक में राजा दो ककुद (Two Humped) वाले ऊँट पर सवार है, दूसरे प्रकार मे एक भारतीय देवी को सिंह के अगले भाग के साथ दिखाया गया है। यह सभवतः सिंहवाहिनी उमा का चित्रण है। एक अन्य प्रकार के यूनानी देवता हरमीज (Hermes) को बायी ओर लम्बे-लम्बे डग भरते हुए दिखाया गया है। इस राजा की गोल और चौकोर ताम्र मुद्राये बहुत बडी सख्या मे मिली है।

अयिलिष को उपर्युक्त वशावली के अय प्रथम से भिन्न माना गया है। कुछ विद्वानो के मतानुसार ये दोनो एक ही व्यक्ति थे। थामस का यह कहना था कि अय (एजेस) अयिलिष (Azilises) का सक्षिप्त रूप है। कोनौ ने इस मत का खण्डन करते हुए यह कहा है कि अय और अयिलिष के नामो के सिक्के इतनी अधिक सख्या मे मिलते है और वे इतने अधिक लम्बे समय में होने वाले व्यक्तियों को प्रकट करते है कि अब अधिकाश व्यक्तियों का यह विचार है कि वे एक नही है। अयिलिष के सिक्को की कुछ विशेषताये उल्लेखनीय है। इसके कुछ सिक्के अय प्रथम के सिक्को से भी उत्कृष्ट कोटि के प्रतीत होते है। ये सिक्के यूनानी राजा हिप्पोस्ट्रेटस के सिक्को के साथ बहुधा पाये जाते है। व्हाईटहैड ने पुछ (कश्मीर) से मिले हुए ऐसे सिक्को का पजाब म्यूजियम की मुद्राओ की सूची मे उल्लेख किया है। ये सब सिक्के बिल्कुल नई हालत मे मिले थे और ऐसा प्रतीत होता था कि मानो टकसाल से अभी हाल मे बनकर आये है। इसी तरह हजारा की घाटी मे अयिलिष के ३२ सिक्को के साथ हिप्पोस्ट्रेटस के सात सिक्के मिले है। इनसे

यह प्रतीत होता है कि अयिलिष का शासन कश्मीर की सीमा तक पहुँचा हुआ था। अयिलिष के सिक्को के कई नये प्रकार उल्लेखनीय है। इनमे एक प्रकार अभिषेकलक्ष्मी का है। इसमे लक्ष्मी एक कमल के पुष्प पर खड़ी है, उसके दोनो ओर दो छोटे हाथी सूड उठाकर देवी का जल से अभिषेक कर रहे हैं। यह अभिप्राय प्राचीन एव मध्ययुगीन भारतीय कला मे बडा लोकप्रिय था, अनेक विदेशी और स्वदेशी राजाओं ने इसे अपनी मुद्राओं पर भी अकित किया था। अयिलिष की मुद्राओं पर कुछ देवताओ की मूर्तियाँ भी पाई जाती है, किन्तु इनकी सही पहचान अभी तक नही की जा सकी है। इसकी कुछ मुद्राओं पर घोड़ो पर सवार **युगल मूर्तियाँ** (Dioscuri) तथा खड़ी हुई युगल मूर्तियाँ सिहासनासीन अथवा खड़े हुए ज्यूस के साथ मिलती है। ये प्राय इसकी रजत मुद्राओ पर है। युगल मूर्तियो का चिह्न यूक्रेटाईडीज के वश का विशिष्ट चिह्न समझा जाता था, अत इसके आधार पर यह कल्पना की गई है कि इसका शासन उन सब प्रदेशों मे था जो पहले इस वश के अधिकार मे थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि अयिलिष के पुत्र अय द्वितीय के समय मे इस राज्य के बुरे दिन आ गये थे। इसका प्रतिस्पर्धी इन्डोपार्थियन (Indo-parthian) या पहलव वश गोण्डोफर्नीज के नेतृत्व मे प्रबल होने लगा था। इसका राज्य क्षीण होने के कारण इसके सिक्को मे चाँदी और ताँबे की मात्रा कम होने लगी और खोट बढने लगा। इसने ताबे और चाँदी के मिश्रित धातु के सिक्के भी चलाये। इसके सिक्को के बहुत ही कम प्रकार मिलते है और इन सिक्कों के प्राप्ति-स्थानो के आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि इसका राज्य केन्द्रीय और पश्चिमी पजाब के प्रदेश तक ही सीमित था। अपने राज्य के पश्चिमी प्रदेशों मे वह **अश्पवर्मा** नामक व्यक्ति के साथ शासन कर रहा था। इसकी सूचना हमे ताबे चाँदी के मिश्रण से बने वृत्ताकार सिक्कों से मिलती है जिनमे एक ओर अश्वारूढ राजा की और पल्लास की मूर्ति के साथ सही यूनानी मे लेख है और दूसरी ओर बहुत सुन्दर किन्तु पिछले काल की खरोष्ट्री लिपि मे यह लेख प्राकृत मे अकित है---"इन्द्रवर्मपुत्रस अश्पवर्मस स्ट्रेटेगस जयतस" अर्थात् इन्द्रवर्मा के पुत्र विजयी सेनापति अश्पवर्मा की मुद्रा। अश्पवर्मा अय द्वितीय तथा इण्डोपार्थियन राजा गोण्डोफर्नीस को जोडने वाली कडी था, अत अब उसका वर्णन किया जायगा।

इन्डो-पार्थियन अथवा पहलव राजा

अय द्वितीय के बाद अगला उल्लेखनीय राजा गोन्डोफर्नीज (Gondo phares or Gondophernes) है। इसका ईरानी नाम **विन्दफर्ण** अर्थात् कीर्ति (फर्न) को प्राप्त करने वाला है। सिक्को पर और अभिलेखो में इसका नाम **गदफर गुदफर या गुदफर्न या गुदुह्वर** के विभिन्न रूपो मे मिलता है। यह पहले पार्थिया के सम्राट विरिथग्न (Orthagnes) की अधीनता मे कन्धार का शासक था। विरिथग्न ईरानी शब्द है। डा० कोनौ इसे गोण्डोफर्नीज की उपाधि मात्र मानते है। सीस्तान से प्राप्त कुछ सिक्को पर इस राजा के गुदह्वर नाम के साथ यह उपाधि मिलती है। इस पहलवी शब्द का अर्थ विजेता है। कोनौ का कहना है कि यह पदवी गोण्डोफर्नीज ने पश्चिम के ईरानियो पर प्राप्त की गई किसी विजय के उपलक्ष्य मे धारण की होगी। ईरानी सम्राट के राजप्रतिनिधि (Viceroy) के रूप मे शासन करने मे उसके साथ एक अन्य व्यक्ति गुद या गुदन का नाम भी मिलता है। इसका नाम सम्राट आर्थेग्नीज (Orthagnes) की कुछ मुद्राओ पर भी पाया जाता है, जिनके आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि आर्थेग्नीज ने अय द्वितीय से कन्धार के प्रदेश को जीत लिया और उसने वहाँ कुछ गोल ताम्रमुद्राये प्रचलित की आरम्भ मे इन मुद्राओं मे उसके साथ गुदफर और गुदन के दोनो नाम मिलते है और बाद मे केवल गुदन का ही नाम मिलता है। आर्थेग्नीज की पहले प्रकार की मुद्राओ मे राजा को पार्थियन शैली का मुकुट धारण किये दिखाया गया है, और इसमे यूनानी भाषा मे **बेसिलियस बेसिलिओन मेगस आर्थेग्नोज** का लेख है और दूसरी ओर पखो वाली विजया देवी (Nike) की मूर्ति है। उसके हाथो मे खजूर की एक शाखा और माला है तथा खरोष्ट्री लिपि मे यह प्राकृत लेख है--**महर-जस रजतिरजस गुदफरस गुदन**। कनिघम ने इस लेख के अन्तिम शब्द को **गुदुफरसगुदन** पढा और इसका अर्थ गुदुफर का भाई किया था तथा इसे आर्थेग्नीज का विशेषण मानते हुए यह कहा था कि ईसाई परम्परा मे गोण्डोफर्नीज के गैडनम नामक जिस भाई का वर्णन है वह आर्थेग्नीज ही था। अन्य विद्वानो ने कनिघम के इस पाठ को तथा इस व्याख्या को स्वीकार नही किया है। दूसरे प्रकार की मुद्रायें पहले प्रकार से मिलती है। किन्तु उनके पृष्ठ भाग मे प्राकृत मे लेख इस प्रकार है--**रजस महतस गुदरन**। कुछ सिक्को पर गुदन का भी लेख है। इन दोनो शब्दो की व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। इसे राजा के नाम अथवा उपाधि का या जाति का सूचक पद माना गया है। व्हाईटहैड का यह सुझाव है कि यह उसका वैयक्तिक नाम

है। इस प्रकार का नाम चारसद्दा (पुष्कलावती) के निकट पलटू ढेरी की खुदाई से प्राप्त एक मूर्ति के आधारपीठ पर खरोष्ट्री मे अंकित गदस शब्द मे भी मिलता है। इन मुद्राओ से यह प्रतीत होता है कि गोण्डोफर्नीज पहले कन्धार (Arachosia) के पार्थियन राजा आर्थेग्नीज के साथ इस प्रदेश का सयुक्त शासक था। उसने जब अपने पडोस मे उत्तर-पश्चिमी भारत के शक राजाओ को दुरवस्था-पन्न पाया तो उन पर आक्रमण करके उन्हें जीत लिया। शक राजाओं के प्रान्तीय शासको ने भी उसे इस कार्य मे सहयोग प्रदान किया। अश्पवर्मा ने अय द्वितीय के स्थान पर अपने नये स्वामी गोण्डोफर्नीस की सेवा आरम्भ कर दी, यह बात कुछ सिक्कों से पुष्ट होती है।

सन्त थामस का कथानक--गोण्डोफर्नीज के विषय मे ईसाई जगत् मे यह किवदन्ती चिरकाल से चली आ रही है कि उसके राज्य काल मे ईसाई धर्म के प्रचार के लिये सत थामस भारतवर्ष आया था। इसका वर्णन हमे बाइबल के न्यू टैस्टामैण्ट के समान प्रामाणिक न समझे जाने वाले एक ग्रन्थ (Apocryphal Acts of Judas Thomas The Apostle) के सीरियाई (Syriac), यूनानी और लैटिन रूपो मे मिलता है। इन मे भारत के राजा का नाम विभिन्न रूपों मे गुदनफर, गोण्डोफोरोस (Goundophoros), गुण्डाफोरस और गण्डोफोरस के रूप मे मिलता है। पहले इस कथा की ऐतिहासिकता मे सन्देह प्रकट किया जाता था, किन्तु जब गोण्डोफर्नीज के सिक्के उत्तर-पश्चिमी भारत मे उपलब्ध हुए तो यह माना जाने लगा कि इस विषय की ईसाई दन्तकथाओ मे कुछ ऐतिहासिक सत्य का अश है। इन कथाओ का तीसरी शताब्दी ईसवी से प्रचलित एक रूप इस प्रकार मिलता है कि जेरूसलेम मे ईसाई धर्म प्रचार करने वाले सब शिष्य एकत्र हुए, इन्होने विदेशो में प्रचार करने का कार्य आपस मे बाँटने का निश्चय किया। लाटरी डालकर इस बात का निर्णय किया गया कि किस देश मे कौन सा व्यक्ति प्रचार करने जायगा। भारत मे ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य इस प्रकार थामस को सौपा गया। किन्तु वह इस कार्य के लिये तैयार न था। उसका यह कहना था कि "मै निर्बल हूँ, मुझमे यह कार्य करने की शक्ति नही है। मै यहूदी हूँ। मै भारतीयो को ईसाइयत की शिक्षा कैसे दे सकता हूँ।" जब थामस इस प्रकार तर्क कर रहा था तब रात्रि के समय एक बार स्वप्न मे भगवान् उसे यह कहते हुए दिखाई दिये कि "थामस, तुम घबराओ मत, क्योकि मेरी कृपा तुम पर सदैव बनी रहेगी।" किन्तु थामस इस से भी आश्वस्त न हुआ, वह यह कहता रहा कि "भगवान् जहाँ चाहेंगे वहाँ मै चला जाऊँगा, किन्तु

भारत नहीं जाऊंगा।" इसी समय वहाँ षवन नामक एक भारतीय व्यापारी आया। उसे राजा गुदनफर ने इसलिये भेजा था कि वह अपने साथ एक कुशल बढ़ई को लाये। भगवान ने थामस को उसका आदेश मानने की प्रेरणा की और उसे षवन के हाथ दास के रूप मे बिकवा दिया। इस प्रकार थामस को अपने स्वामी के साथ भारत आने के लिये विवश होना पड़ा। यहाँ आकर व्यापारी ने उसका परिचय राजा से कराया तथा राजा ने उसे राजमहल बनाने का कार्य सौपा। इसके लिये उसे बहुत बड़ी धनराशि प्रदान की गई, किन्तु उसने इसे महल बनाने मे न लगाकर दीन-दुखियो के परोपकार मे एव दान पुण्य के कार्य मे व्यय कर दिया। जब इतनी बड़ी राशि व्यय होने पर भी कोई महल नही बना तो राजा ने क्रुद्ध होकर थामस और व्यापारी को बन्दी बनाने का आदेश दिया। इस बीच मे राजा के भाई गैंड की मृत्यु हो गई, देवदूत जब उसे स्वर्ग ले गये तब उन्होने उसे वहाँ वह महल दिखाया जो थामस ने अपने शुभ कर्मों द्वारा बनाया था। इसे दिखाने के बाद गैंड को पुनरुज्जीवित कर दिया गया। इस चमत्कार से प्रभावित होकर दोनो भाई ईसाई बन गये। १८४८ मे फ्रेंच विद्वान् रीनो (Reinaud) ने सर्वप्रथम इस बात की ओर विद्वानो का ध्यान खीचा था कि भारतीय सिक्को का गोण्डोफर्नीज और ईसाई दन्तकथाओ का गुदनफर एक ही व्यक्ति है और इस पह्लव राजा के समय भारत मे ईसाइयत का प्रचार आरम्भ हुआ।

गोण्डोफर्नीज के समय का केवल एक ही खरोष्ट्री अभिलेख तख्ते-बाही नामक स्थान से मिला है। यह उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे (पेशावर जिले मे) मरदान से कुछ मील की दूरी पर है। इस लेख की शिला पर मसाले पीसे जाते थे, अत इसमे कुछ अक्षर घिस गये है, पूरा पाठ स्पष्ट नही है, फिर भी इससे यह ज्ञात होता है कि महाराज गुदुव्हर के राज्यकाल के छब्बीसवे वर्ष मे तथा १०३ सवत् मे माता पिता की पूजा और सम्मान के लिये वैशाख मास के कृष्ण पक्ष मे श्रद्धापूर्वक दान का कुछ पुण्य कार्य किया गया था।[१] इस लेख के गुदुव्हर को लगभग सभी विद्वानो ने मुद्राओ का गोण्डोफर्नीज माना है। इसमे वर्णित संवत् यदि विक्रम सवत् माना जाय तो इससे दो परिणाम निकलते हैं। गोण्डोफर्नीज ने अपना शासन १९ ई० मे आरम्भ किया था और वह ४५-४६ ई० मे भी गन्धार प्रदेश का शासन कर रहा था। इस लेख से यह भी स्पष्ट है कि उसने काफी लम्बे समय तक शासन किया। यह कल्पना प्रचुर संख्या मे प्राप्त उसकी

१. बि० ब० से० इं०, पृ० १२५-२६।

चाँदी की मुद्राओ से तथा चादी-ताँबे की मिश्रित धातु के सिक्को से भी पुष्ट होती है।

इसके सिक्को की कुछ विशेषताए उल्लेखनीय है। ब्रिटिश म्यूजियम मे इसकी एक ऐसी रजत मुद्रा है जिसके पुरोभाग मे राजा की आवक्ष मूर्ति ईरान के अरसक-वंशी राजाओ के मुकुट को धारण किये हुए है और पृष्ठभाग मे सिहासन पर बैठे राजा के हाथ में राजदण्ड है और विजया देवी (Nike) उसे पीछे की ओर से मुकुट पहना रही है। इस पर यूनानी मे अरसक वशी सिक्को की भाँति यह लेख है—Basileos Basileon Megas Gundopheres Autokrator । इस सिक्के की शैली पार्थियन ढग की है और यह माना जाता है कि इस प्रकार के सिक्के उसने अपने राज्यकाल के आरम्भ मे पूर्वी ईरान मे विद्यमान प्रदेशो के लिये प्रचलित किये होगे। इसके दूसरे प्रकार के सिक्के भारतीय प्रदेशो के लिये है, इस कारण ये भारतीय सिक्को की भाँति चौकोर है। ताँबे के इन सिक्को पर एक ओर अश्वारूढ राजा की मूर्त्ति और दूषित यूनानी मे लेख है, और दूसरी ओर खरोष्ट्री में निम्न लेख है—**प्रमिकस्स, अप्रतिहतस्स, देवव्रतस गुदुव्हरस**। इस लेख की पहली दो उपाधियाँ यूनानी राजाओ के सिक्को से ली गई है। अप्रतिहत की उपाधि यूनानी राजा लिसियस, आर्टेमिडोरस और फिलोक्जीनस के सिक्को पर पायी जाती है। इस विषय मे एक बड़ी मनोरजक कल्पना की गई है। तीसरी शताब्दी ई० के एक लेखक फिलोस्ट्रेटस ने अपनी पुस्तक **एपोलोनियस आफ टियाना** की जीवनी मे लिखा है कि जब वह ४४ ई० मे तक्षशिला आया तो यहाँ **फ्रओटोस** (Phraotes) नामक राजा शासन कर रहा था। हर्जफैल्ड ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह नाम गोण्डोफर्नीज की **अप्रतिहत** उपाधि का पार्थियन रूप था। चाँदी और ताँबे की मिश्रित धातु (Billon) से निर्मित गोलाकार सुन्दर सिक्को पर एक ओर इस राजा की अश्वारूढ मूर्ति ने तीन चोटी वाला अरसक शैली का राजमुकुट (Tiara) धारण कर रखा है और ग्रीक भाषा मे उसका नाम अकित है। दूसरी ओर दायी तरफ मुख किये हुए ज्यूस ने लम्बा राजदण्ड ले रखा है और बडे सुन्दर खरोष्ट्री अक्षरों मे यह लेख अकित है—"**महरज रजतिरज ब्रतर देवव्रत गुदुव्हरस**। इस सिक्के के यूनानी और प्राकृत लेखो मे राजा की उपाधियो मे कुछ अन्तर है। प्राकृत भाषा मे **देवव्रत** का शब्द ध्यान देने योग्य है। यह उपाधि इस राजा के अन्य भारतीय सिक्को पर भी पायी जाती है और इसकी व्याख्या हमे इस राजा के मिश्रित (Billon) धातु के उन गोलाकार सिक्को से मिलती है जिनके

पृष्ठभाग में त्रिशूलधारी शिव की मूर्त्ति है। इससे पहले शिव की ऐसी मानवाकार मूर्त्ति मोअ के कुछ सिक्कों में मिलती है। शिव को प्राचीन भारतीय साहित्य में देव कहा गया है। गोण्डोफर्नीज जब अपनी मुद्राओ मे **देवव्रत** की उपाधि धारण करता है तब संभवतः उसका उद्देश्य इस बात को प्रकट करना है कि उसने देव अर्थात् शिव की उपासना का व्रत ग्रहण कर लिया है।

गोण्डोफर्नीज की कुछ मुद्राएँ अन्य व्यक्तियो के साथ सयुक्त शासन को प्रकट करने के लिये प्रचलित की गई थी। इनमे एक मुद्रा पर एक ओर राजा अश्वारूढ है और दूसरी ओर बायी तरफ ज्यूस की मूर्त्ति है और खरोष्ठी मे यह लेख है—**इन्द्रवर्मपुत्रस स्त्रतेगस जयतस त्रतरस अश्पवर्मस**। इससे सूचित होता है कि इन्द्रवर्मा का पुत्र सेनापति अश्पवर्मा गोण्डोफर्नीज के राजप्रतिनिधि के रूप में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे शासन कर रहा था। पहले इसी व्यक्ति के अय द्वितीय के साथ सयुक्त शासन के सिक्के का निर्देश किया जा चुका है। इस प्रकार के कुछ अन्य सिक्को पर **महरजस महतरस त्रतरस देवव्रतस गुदुफरस ससस** अथवा **महरजस रजतिरजस देवव्रतस गुदुफरस ससस** के लेख मिलते है। इन सिक्को से यह सूचित होता है कि गोण्डोफर्नीज के साथ सयुक्त रूप मे शासन करने वाला एक अन्य व्यक्ति ससस भी था। इसके सम्बन्ध मे भी बहुत ऊहापोह किया गया है। कनिंघम इन्हें ससन के सिक्के मानते है क्योकि उनका यह मत था कि सासानी वश के सस्थापक अर्दशीर के पिता का नाम ससन था, इसी प्रकार का ईरानी नाम धारण करने वाला कोई व्यक्ति गोण्डोफर्नीज के साथ सयुक्त रूप से शासन कर रहा था। किन्तु अन्य विद्वान् इसे सस नामक राजा को सूचित करने वाला समझते है। इस कल्पना की सत्यता मार्शल द्वारा तक्षशिला की खुदाई मे प्राप्त किये गये चाँदी के कुछ ऐसे सिक्को से प्रमाणित हुई है जिनमे एक ओर पेकोरीस (Pacores) का चित्र अथवा सस का चित्र है और दूसरी ओर विजया देवी की मूर्त्ति तथा प्राकृत मे यह लेख है—**महरजस अश्पभ्रतपुत्रसत्रतरस ससस**। इन सिक्को से हमे यह ज्ञात होता है कि जिस प्रकार पहले इन्द्रवर्मा का पुत्र अश्पवर्मा गोण्डोफर्नीज का उपराज था उसी प्रकार बाद मे उसका भतीजा भी उसका सयुक्त शासक बना। सभवत कुछ समय पीछे उसने स्वतन्त्र रूप से भी शासन किया। ब्रिटिश म्यूजियम के कुछ अन्य सिक्को पर गोण्डोफर्नीज के साथ उसके भतीजे अवदग का भी नाम प्राकृत लेख मे इस प्रकार मिलता है—**गुदुफ-भ्रतपुत्रस महरजस त्रतरस अवदगसस**। रैप्सन ने इससे यह परिणाम निकाला है कि गोण्डोफर्नीज अपने भतीजे अब्दगसीस (Abdagases) के साथ सयुक्त रूप से शासन किया करता था।

मार्शल के मतानुसार गोण्डोफर्नीज के राज्य का चरम विस्तार होने पर उसके साम्राज्य में निम्नलिखित प्रदेश सम्मिलित थे—सीस्तान, सिन्ध (सभवतः कच्छ और काठियावाड), दक्षिणी और पश्चिमी पजाब, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त (इसमें अधिकाश कबायली प्रदेश सम्मिलित था) तथा दक्षिणी अफगानिस्तान। इस बात के भी कुछ प्रमाण है कि उसने सीस्तान के पश्चिम मे विद्यमान पार्थियन साम्राज्य के कुछ भागो को अपने राज्य मे मिलाया था। मार्शल के इस मत की पुष्टि मुद्राओ से होती है। गन्धार अथवा पेशावर जिले मे उसके शासन का परिचय हमे तख्ते-बाही के शिलालेख और अस्पवर्मा की मुद्राओ से मिलता है। अश्वारोही राजा के साथ ज्यूस या एथीन की खडी मूर्ति वाले सिक्के इस बात को सूचित करते है कि उसने पश्चिमी तथा पूर्वी पजाब का प्रदेश शको मे छीन लिया था। बेग्राम मे तथा काबुल नदी की घाटी के अन्य स्थानो मे गोण्डोफर्नीज के सिक्के प्रचुर मात्रा मे मिले है और वे इस बात को सूचित करते है कि उसने इन प्रदेशो को भी जीत लिया था। इसकी पुष्टि चीनी ऐतिहासिक फन-ये के इस वर्णन से होती है कि इस समय काबुल पर पार्थिया का शासन स्थापित हो गया था। सभवत उसने अन्तिम यूनानी राजा हर्मियस के शासन का अन्त किया था। इस विषय मे दो प्रकार की मुद्राए सुन्दर प्रकाश डालती है। पहले प्रकार की मुद्राओ के पुरोभाग पर हर्मियस की मुकुटमण्डित आवक्ष मूर्त्ति है और पृष्ठभाग के खरोष्ट्री लेख मे **कुजुलकदफिसस कुषाण यवुग** का नाम अकित है और दूसरे प्रकार के सिक्को के अग्रभाग मे हर्मियस की राजमुकुट मण्डित आवक्ष मूर्त्ति है तथा यूनानी लिपि मे **कुजुलकदफिसस कुषाण** का लेख है। पृष्ठ भाग का लेख पहले प्रकार की मुद्राओ जैसा है। इन सिक्को से यह परिणाम निकाला गया है कि यूनानी राजा हर्मियस और कुषाण सरदार कुजुलकदफिसस मे आपस मे कोई सन्धि हुई थी, सभवत इसका उद्देश्य पहलवो के हमले से अपनी रक्षा करना था। उपर्युक्त पहले प्रकार के ये सिक्के सूचित करते है कि पहले कुषाण सरदार उसका वशवर्ती शासक था और बाद मे यूनानी राजा ने उसको समानता का दर्जा देना स्वीकार किया, किन्तु यह मैत्रीसन्धि गोण्डोफर्नीज के आक्रमण से इनकी रक्षा नही कर सकी और काबुल का प्रदेश पहलव राज्य मे सम्मिलित हो गया। कोनो ने इस कल्पना की पुष्टि तख्ते-बाही के शिलालेख से भी की है। पहले यह बताया जा चुका है कि इस लेख की शिला पर मसाला पीसने से इसके कुछ अक्षर मिट चुके है। इस लेख की पाँचवी पक्ति मे '**एर्झुण कप- - - - - स**' का लेख है। कोनो के मतानुसार एर्झुण राजकुमार का अर्थ देने वाला खोतन की भाषा का शब्द है और कप के बाद और स से पहले मिटे हुए अक्षर को वह स

मानता है और इस प्रकार उसके मतानुसार यहाँ राजा राजकुमार कप का अर्थात् कुजुल कदफिसस का उल्लेख है। इस पाठ के आधार पर यह कल्पना भी की जाती है कि गोण्डोफर्नीज द्वारा काबुल की विजय कर लेने के बाद कुषाण नेता ने उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। दक्षिणी अफगानिस्तान अथवा कन्धार का प्रदेश गोण्डोफर्नीज के राज्य मे आरम्भ से ही था, सभवत सर्वप्रथम उसने इसके साथ लगे काबुल घाटी के प्रदेश को सबसे पहले जीता होगा, इसमे उसका उद्देश्य यह रहा होगा कि वह कुषाणों के हमले मे अपने राज्य को सुरक्षित बना सके। मार्शल और रैप्सन दोनो यह मानते है कि उसने सीस्तान के पश्चिम मे पार्थियन साम्राज्य के भी कुछ अशो को जीता। इसका समर्थन ब्रिटिश म्यूजियम मे विद्यमान गोण्डोफर्नीज की अरसकवशी (Arscid) शैली की कुछ रजत मुद्राओ के आधार पर किया जाता है। मार्शल के मतानुसार गोण्डोफर्नीज के साम्राज्य मे कच्छ और काठियावाड भी सम्मिलित थे। इसकी पुष्टि करते हुए मार्शल ने यह कहा है कि पेरिप्लस ने अपने वर्णन मे यह लिखा है कि सेन्डेनीज (Sandanes) का शासन बेरीगाजा (भडोच) और सुराष्ट्र के प्रदेशो पर था। मार्शल सेन्डेनीज को गोण्डोफर्नीज के चित्र और चिह्नो से अकित सिक्को पर पाये जाने वाले सपेदन (Sapedona) नामक व्यक्ति से अभिन्न समझता है और इस आधार पर कच्छ-काठियावाड को गोण्डोफर्नीज के साम्राज्य मे सम्मिलित करता है, किन्तु अन्य ऐतिहासिको के मतानुसार पेरिप्लस के समय मे बेरीगाजा अथवा भडोच का बन्दरगाह शक क्षत्रप नहपान के राज्य मे सम्मिलित था।

गोण्डोफर्नीज ने शक और पह्लव परम्परा के अनुसार अपने साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशो मे कुछ प्रान्तीय शासक नियुक्त किये थे। पूर्वी ईरान मे इस प्रकार का शासक उसका भतीजा अब्दगसीस (Abdagasas) और स्वात नदी की घाटी मे सेनापति अश्पवर्मा थे। रैप्सन ने इसके बारे मे यह कल्पना की है कि यह एक सैनिक अधिकार रखने वाला राज्यपाल (Military Governor) था, इसे सभवत बर्बर कुषाणो की निरन्तर बढती हुई शक्ति पर अकुश रखने का महत्वपूर्ण कार्य सौंपा गया था। इसी प्रकार का तीसरा उपराज अश्पवर्मा का उत्तराधिकारी **ससस** था। मार्शल के मतानुसार इस प्रकार का **चौथा** क्षत्रप या प्रान्तीय शासक **जिहोनियस** थी। इसे चुक्ष प्रदेश का शासन सौपा गया था और इसमे पुष्कलावती भी सम्मिलित था। पहले कुछ मुद्राओं पर **मनिगुलस छत्रपस जिहोनियस** का लेख मिला था। १९२७ ई० मे तक्षशिला में **जिहोणिक** का एक लेख मिला। यह लेख १३४ ई० का समझा जाता है और इसमे यह बताया गया है

कि महाराज मणिगुल का पुत्र जिहोणक चुक्ष नामक प्रदेश का शासक था। इसके दो अन्य क्षत्रप **सपेदन** और **सतवस्त्र** है। गोण्डोफर्नीज के चित्र और चिह्न वाले कुछ सिक्कों पर इन दोनो के नाम तथा **महाराज** और **राजाधिराज** की उपाधि मिलती है। मार्शल इन्हे कच्छ और सौराष्ट्र का क्षत्रप समझते है। इनकी उपाधि से यह स्पष्ट होता है कि ये लगभग स्वतन्त्र शासक थे और पहलव साम्राज्य अर्ध-स्वतन्त्र सामन्तो का एक शिथिल सगठन था, ये प्राय आपस मे लडते रहते थे। पेरिप्लस ने **इन्डोसीथिया** (सिन्ध प्रान्त) का वर्णन करते हुए लिखा है कि बारबेरिकम के सामने एक छोटा टापू है और इसके पृष्ठवर्ती स्थलीय प्रदेश मे सीथिया की राजधानी मिन्नगर है। यह पार्थियन राजाओ के अधिकार मे है जो सदैव एक दूसरे से लडते रहते है। गोण्डोफर्नीज ने अपने जीवन-काल मे अराजकता उत्पन्न करने वाली स्थितियों पर काफी नियन्त्रण रखा। किन्तु उसके आँख मूँदते ही पहलव साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

गोण्डोफर्नीज के उत्तराधिकारी––मुद्राओ की साक्षी मे यह प्रतीत होता है कि गोण्डोफर्नीज की मृत्यु के बाद उसका भतीजा अब्दगसीस गद्दी पर बैठा। उसके दो प्रकार के सिक्के मिलते है। पहले प्रकार के सिक्को पर उसके चाचा का नाम और चिह्न है तथा दूसरी ओर उसका नाम खरोष्ठी लिपि मे है और गोण्डोफर्नीज के साथ उसके सम्बन्ध को बताया गया है, किन्तु सिक्को पर उसके साथ महाराज तथा राजाधिराज (**महरजस रजतिरजस**) उपाधियाँ है। ये उपाधियाँ उसकी स्वतन्त्र सत्ता को सूचित करती है। इस प्रकार के सिक्को के प्राप्ति-स्थान के आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि उसका शासन सीस्तान और कन्धार मे था। ऐसे सिक्के बहुत कम सख्या मे मिले है और इसके आधार पर यह कहा जाता है कि उसने स्वतन्त्र रूप से बहुत ही कम समय तक शासन किया। इसके बाद कुछ समय तक **पकुर** (Pacores) इस साम्राज्य का शासक बना। इसकी एक ही प्रकार की गोल ताम्र मुद्रायें मिलती है। इन पर राजा की आवक्ष मूर्ति और विजया देवी की मूर्तियां है और यूनानी तथा खरोष्ठी लिपियो मे सम्राट की ये उपाधियाँ दी गई है––महाराज राजाधिराज महान् पकुर (**महरजस रजतिरजस महतस पकुरस**)। इन सिक्को की खरोष्ठी लिपि वक्राकार (Cursive) है और कनिष्क के सुई-विहार के लेख की लिपि से मिलती-जुलती है और इस बात को सूचित करती है कि इसके तथा कनिष्क के समय मे बहुत कम अन्तर था। इसका शासन-काल भी बहुत ही थोड़े समय तक रहा, क्योकि इसके सिक्के बहुत ही कम मात्रा मे मिलते

है। इसके बाद समवत सेनापति ससस ने तक्षशिला पर कुछ समय तक शासन किया। पहलव मा म्राज्य के क्षीण होने पर इन दिनो इम प्रदेश मे भीषण प्लेग फैली और इसमे तथा विभिन्न सामन्तों तथा क्षत्रपो के आपसी सघर्षो से जब पहलव साम्राज्य क्षीण हो रहा था उसी समय कुषाणो की नवीन शक्ति का अभ्युदय हुआ, शीघ्र ही उत्तर-पश्चिमी भारत के विभिन्न प्रदेश कुषाण साम्राज्य के अग बन गये। इसका अगले अध्याय मे वर्णन होगा।

शकों की शासन-व्यवस्था तथा क्षत्रप

शको के शासन की बडी देन सयुक्त शासन (Joint Rule) की पद्धति तथा क्षत्रपो द्वारा शासन की व्यवस्था थी। पहले यह बताया जा चुका है कि विभिन्न शक पहलव राजा राज्य के शासन के कार्य मे अपने पुत्रो, भतीजो आदि का सहयोग लिया करते थे। सिक्को पर सम्राट् के नाम के साथ ऐसे उपराजो (Vicesroys) या प्रान्तीय शासको के नाम भी अंकित किये जाते थे। इस प्रकार के सयुक्त शासन के प्रसिद्ध उदाहरण वनान (Vonones) द्वारा अपने भाई स्पलहोर तथा भतीजे स्पलदगम के साथ राज्य करने के तथा अस्पवर्मा के अय द्वितीय और गोण्डो-फर्नीज के साथ शासन करने के है। अब्दगसीस ने इसी प्रकार का शासन गोण्डोफर्नीज के साथ किया था। इसमे एक ही समय मे दो व्यक्ति राज्य करते थे, अत इसे **द्वैराज्य व्यवस्था** भी कह सकते है।[1]

शको के शासन की दूसरी विशेषता क्षत्रपो द्वारा शासन कराने की थी। शक ईरान से आये थे और वहां हखामनी (Achaemenian) सम्राटो के समय से साम्राज्य को विभिन्न प्रान्तो मे बाँटा जाता था, प्रत्येक प्रान्त पर एक शासक नियत किया जाता था जिसे **क्षथ्रपावन** कहते थे। यूनानी मे इसी को सेट्रप (Satrp) तथा ऐसे प्रान्त को सेट्रपी (Satrpy) कहा जाता था। भारत मे ये शासक क्षत्रप कहलाते थे। जो क्षत्रप अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली हो जाते थे वे महाक्षत्रप की उपाधि धारण करते थे। तक्षशिला के शक राजाओ के समय मे हमें ऐसे अनेक क्षत्रपो के नाम मिलते है। इनमे कुछ प्रमुख क्षत्रप निम्नलिखित है —

(१) शक साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी किनारे पर कापिशी मे एक क्षत्रप रहा करता था, कापिशी कपिश देश की राजधानी थी और इसमे वर्तमान काफिरिस्तान,

---

१. रैप्सन—एशेण्ट इंडिया, पृष्ठ १४१ और स्टेन कोनो, का० इं० इं० पृ० १५०–५१।

घोरबन्द और पजशीर नदियो की घाटियाँ सम्मिलित थी। एक अभिलेख मे कपिशा **के एक क्षत्रप** का वर्णन है। यह **ग्रनव्हयंक** का पुत्र था।

(२) पुष्कलावती प्रदेश को जीतने के बाद अय प्रथम ने सिन्धु नदी के **पश्चिमी प्रदेश** के शासन के लिये एक क्षत्रप नियुक्त किया। काबुल सग्रहालय **में** पुष्पपुर (पेशावर) के एक क्षत्रप **तिरव्हर्न** का नाम दिया गया है।

(३) स्वात नदी की घाटी सभवत मिनान्डर के समय से विजयमित्र या वियकमित्र वश के राजाओ के अधीन थी, यह बात हमे शिनकोट के लेख से **ज्ञात** होती है। अय द्वितीय का सेनापति अश्ववर्मा भी इसी प्रदेश का था।

(४) शाहगैर के अभिलेख मे **नमीजद या दमीजद** नामक राजा का उल्लेख मिलता है। यह भी सभवत इस लेख के प्राप्तिस्थान हजारा या उरशा का क्षत्रप रहा होगा।

(५) अटक जिले मे चुक्ष अथवा आधुनिक चच का विशाल मैदान भी शको का एक प्रान्त था। तक्षशिला के ७८ सवत् के एक ताम्र-दानपत्र मे यहाँ शासन करने वाले क्षत्रप **लिअक कुसुलक** का तथा उसके पुत्र महा दानपति **पतिक** का वर्णन है। बाद मे मथुरा के सिहशीर्ष अभिलेख मे हमे इसके महाक्षत्रप होने की भी सूचना मिलती है। मार्शल के मतानुसार चक्ष् का प्रान्त सिन्धु नदी के दोनो तटो पर था। इसमे पश्चिम की ओर पेशावर की घाटी तथा पूर्व की ओर हजारा, अटक और मियावाली जिलो के प्रदेश सम्मिलित थे।

(६) **अभिसारप्रस्थ**--पजाब मे प्राप्त ताँबे की एक मोहर के लेख मे अभिसारप्रस्थ के क्षत्रप **शिवसेन** का और इसी वश के एक अन्य क्षत्रप **शिवरक्षित** का वर्णन मिलता है।[1] इन शको के उपर्युक्त नाम यह सूचित करते है कि वे शैवधर्म को स्वीकार कर चुके थे।

मथुरा--मार्शल आदि कुछ विद्वानो ने यह कल्पना की कि शको ने मथुरा मे भी अपनी एक महत्वपूर्ण प्रान्तीय राजधानी बनाई थी और वहाँ एक क्षत्रप इसलिये रखा था कि वह इस दिशा मे सातवाहनो के राज्य विस्तार को रोक सके। मुद्राओ से ज्ञात होता है कि यहाँ के सबसे पुराने क्षत्रप हगान और हगामस थे। उनकी मुद्राओ की शैली और स्वरूप पचाल और मथुरा के राजाओ से मिलते हैं।

१ **स्टेन कोनो--का० इं० इं०, खण्ड २ पृष्ठ १०२-३।**

२. **मार्शल--टैक्सिला, खण्ड १, पृष्ठ ५५।**

ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों संयुक्त रूप से शासन करते थे और इन्होने मथुरा और आसपास के प्रदेशो पर शासन करने वाले गोमित्र और रामदत्त से इन प्रदेशो को छीना था। इसके बाद यहाँ राजुल नामक व्यक्ति महाक्षत्रप बना। इसके सिक्के स्ट्रेटो प्रथम तथा स्ट्रेटो द्वितीय के सिक्को के अनुकरण पर बनाये गये हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि इसने पहले इन यूनानी राजाओ से पूर्वी पजाब का प्रदेश छीना और बाद मे यह मथुरा का महाक्षत्रप बना। इस कल्पना की पुष्टि इसके सिक्को से होती है, क्योकि ये मथुरा और पूर्वी पजाब मे बहुत बडी सख्या मे पाये गये है। मथुरा में इसके कुछ विशुद्ध भारतीय शैली के सिक्के भी मिले है, जिनमे महाक्षत्रप रजुबुल (**महाक्षत्रपस रजुबुलस**) का लेख है। इसके मिश्रित (Billon) धातु वाले सिक्को के यूनानी लेखो मे तो **बेसिलियस बेसिलिओन** अर्थात् राजाधिराज की उपाधि है, किन्तु पृष्ठभाग मे उसे केवल क्षत्रप तथा अप्रतिचक्र कहा गया है। कोनो के मतानुसार मथुरा के सिहशीर्ष अभिलेख मे राजुल या रजुबुल के परिवार का इतिहास वर्णित है। इस लेख का युवराज खरेओस्त राजुल का श्वसुर था और उसने मोअ के बाद राजाधिराज की उपाधि प्राप्त की थी। यदि इस व्याख्या को सही माना जाये तो हमे यह स्वीकार करना पडेगा कि मोअ का साम्राज्य पूर्व मे मथुरा तक फैला हुआ था। किन्तु थामस का यह मत है कि खरेओस्त राजुल का पुत्र था। सभवत यह अपने पिता के जीवन-काल मे ही स्वर्गवासी हुआ, अत इसका भाई शोडास राजुल की मृत्यु के बाद महाक्षत्रप बना। कुछ सिक्को पर खरोष्ट्री मे **क्षत्रपस प्रखर ओसतस अरतस पुत्रस** का लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि खरे-ओस्त का अरत नामक एक पुत्र था और यह बाद मे क्षत्रप बना। शोडास के सिक्के और लेख केवल मथुरा से मिले है, अत. इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि अपने पिता की भाँति पूर्वी पजाब पर उसका शासन नही था। इसका कारण या तो पूर्वी पजाब मे यूनानी राज्य का पुनरुत्थान था अथवा मोअ द्वारा सारे पजाब को जीत लेना भी सभव है। **आमोहिनी दानपट्टिका** (Votive Tablet) के लेख में शोडास का महाक्षत्रप के रूप मे वर्णन है और इसमे ७२ सवत् का उल्लेख है। इसे यदि विक्रम सवत् समझा जाये तो इस लेख का समय १५ ई० होगा। इससे यह स्पष्ट है कि शोडास १५ ई० से पहले ही महाक्षत्रप बन गया था। **तरनदास** अथवा **भरनदास** नामक क्षत्रप की मुद्राओ में इसे महाक्षत्रप का पुत्र बताया गया है। कुछ विद्वानों ने यह कल्पना की है कि तरनदास समवत. शोडास का पुत्र था।

शक-पहलवो का सांस्कृतिक आदान-प्रदान

पिछले अध्याय मे यह बताया गया था कि भारत और यूनान दोनों ही अत्यन्त प्राचीन सस्कृति रखने वाले उच्च सभ्यतासम्पन्न देश थे। इनके पारस्परिक सम्पर्क का दोनो देशो पर प्रभाव पडा। यूनानियो की तुलना मे शक और पहलव अपनी कोई उच्च, विकसित या विशिष्ट सस्कृति नही रखते थे, अत वे यहाँ आकर यूनानियो और भारतीयो की सस्कृति से प्रभावित हुए। शको के आगमन से पूर्व उत्तर पश्चिमी भारत मे यूनानियो का राज्य था, अत उन पर यूनानियों का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। यह प्रभाव मुद्राओं के क्षेत्र मे विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। शकों और पहलवो ने हिन्द-यूनानी राजाओं की मुद्राओ का अनुकरण किया। जब वे यहाँ आये उस समय यूनानी मुद्राकला ह्रासोन्मुख थी। शको ने इसी का अनुसरण करते हुए अपने सिक्को पर यूनानी, खरोष्ठी और प्राकृत मे लेख अंकित करवाये, यूनानी और भारतीय मुद्राकारो की सहायता से अपनी चाँदी और ताँबे की तथा मिश्रित धातु की मुद्राये बनवाई। इन दोनों ने कोई भी स्वर्ण-मुद्रा नही प्रचलित की। इस समय का सामान्य जीवन और रहन-सहन बहुत सरल और स्वाभाविक थी। तक्षशिला के सिरकप नामक स्थान मे एक राजमहल की खुदाई हुई है, इसके प्राचीनतम भाग शक-पहलव युग के है। यह महल यद्यपि सामान्य घरो से अधिक बडे पैमाने पर बनाया गया था, किन्तु उसकी योजना तथा अलकरणो मे किसी प्रकार की विशालता, भव्यता या वैभवपूर्ण प्रदर्शन नही है। फिलोस्ट्रेटस के अपोलोनियस ने राजमहल मे किसी भव्य वास्तुकला के दर्शन नही किये थे। राजमहलो की अपेक्षा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के मन्दिर, विहार और स्तूप अधिक विशाल एव भव्य बनाये जाते थे। इसका सर्वोत्तम उदाहरण तक्षशिला मे जडियल का अग्नि-मन्दिर है।

यूनानियो की भाति शक पहलव भी कुछ समय बाद पूर्ण रूप से भारतीय बन गये और भारतीय जनता के महासमुद्र मे इस प्रकार विलीन हो गये कि हमे बाद मे उनकी कोई पृथक् सत्ता नही दिखाई देती है। उन्होने भारतीय सस्कृति और सभ्यता को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया। इनके नाम आरम्भ मे बिलकुल विदेशी ढग के थे, किन्तु पहली शताब्दी से ये लोग भारतीय नामो को ग्रहण करने लगे। फिर भी इनमे कुछ नाम इस काल तक ईरानी बने रहे। विजयमित्र और इन्द्रवर्मा विशुद्ध भारतीय नाम है, जब कि अप्पवर्मा और उसके भतीजे ससस का नाम विदेशी है। शक राजा इस समय भारतीय उपाधियाँ धारण कर रहे थे और शनै-शनै भारतीय धर्मो को स्वीकार कर रहे थे। पहले यह बताया जा चुका है कि मोअ की मुद्राओ पर शिव के चित्र पाये जाते है तथा गोण्डोफर्नीज ने **देवव्रत** अथवा शिव के उपासक की उपाधि धारण की थी।

पाँचवाँ अध्याय

कुषाण साम्राज्य का उत्थान और पतन

महत्व––पहलवों के बाद कुषाणो का विदेशी साम्राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत मे स्थापित हुआ। यह पहलव साम्राज्य की अपेक्षा तथा उससे पहले के हिन्द-यूनानी (इन्डो-ग्रीक) और शक साम्राज्यो की अपेक्षा अधिक विस्तृत था, भारतीय प्रदेश मे अधिक दूर तक फैला हुआ था। कुषाण साम्राज्य की कई विशेषतायें उल्लेखनीय है––(१) यह न केवल भारत में अपितु भारत की सीमाओ से परे मध्य एशिया मे काफी दूर तक फैला हुआ था। यद्यपि यह साम्राज्य लगभग सौ वर्ष तक ही बना रहा, फिर भी उत्तर भारत की दुर्गम और उत्तुग पर्वतमालाओं के आरपार दोनो ओर अपना शासन स्थापित करना बडे साहस, शौर्य, प्रशासनपटुता, राजनीतिज्ञता और सैनिक साधन-सम्पन्नता का कार्य था। यह कार्य कुषाणों जैसी फिरन्दर या घुमन्तू जाति के लिये वस्तुत. अभिमान का विषय है। यद्यपि कुछ समय बाद पश्चिम की ओर से सासानियो ने तथा पूर्व की ओर से भारतीयो ने इस साम्राज्य पर आक्रमण करके इसे जर्जर और क्षीण कर दिया, फिर भी कुछ स्थानों पर इस वश के राजा गुप्त-युग तक शासन करते रहे और अन्त मे समुद्रगुप्त ने इन्हें परामूत किया। (२) इनके साम्राज्य की दूसरी बडी विशेषता यह है कि इन्होने भारत का सम्बन्ध विदेशो से स्थापित किया। इनका साम्राज्य एक ओर चीन के साम्राज्य की और दूसरी ओर रोम के साम्राज्य की सीमा को छूता था। इन्होने इन दोनो सुप्रसिद्ध साम्राज्यों के साथ भारत के घनिष्ठ अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध एव सम्पर्क को बढाया, ये स्वयमेव जिन देशो मे जाते थे वहाँ की सस्कृतियों को ग्रहण कर लेते थे। अत इनके समय मे भारत विभिन्न देशो की सस्कृतियो के अनेक तत्त्वो से समृद्ध हुआ। (३) कुषाणों के शासनकाल मे मौर्यों के बाद पहली बार समूचे उत्तरी भारत को एकच्छत्र शासन मे लाने का सफल प्रयत्न हुआ। यह साम्राज्य अब तक स्थापित भारतीय साम्राज्यों की तुलना में इस दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय था कि इसमे न केवल भारत के, अपितु भारत से बाहर मध्य एशिया तक के प्रदेश सम्मिलित थे। अत इस समय बाह्य जगत से भारत का अधिक सम्पर्क स्थापित हुआ। इससे भारतीय सस्कृति और सभ्यता समृद्ध हुई। जिस प्रकार १६वी शताब्दी में यूरोपियन जातियों के सम्पर्क से भारत को

लाभ पहुँचा, यहाँ आलू, तम्बाकू, लीची, लुकाट, टमाटर आदि नवीन वस्तुओं का आगमन हुआ, उसी प्रकार इस समय चीन के सम्पर्क से यहाँ नाशपाती, आड़ू आदि कई नये प्रकार के फलों का उत्पादन आरम्भ हुआ। (४) इस युग में धर्म, साहित्य और मूर्तिकला के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुआ। इसी समय महायान बौद्ध धर्म का, गान्धार मूर्तिकला का और बुद्ध की प्रतिमा का आविर्भाव हुआ। एक ऐतिहासिक के शब्दों में "कुषाणों का युग महान् साहित्यिक क्रियाशीलता का युग है, यह बात अश्वघोष, नागार्जुन तथा अन्य लेखकों की कृतियों से प्रमाणित होती है। इस युग में बड़ी प्रबल धार्मिक हलचल और धर्मप्रचार विषयक क्रियाशीलता थी। इसी समय शैव धर्म की, महायान सम्प्रदाय की, मिहिर और वासुदेव कृष्ण की उपासनाओं का विकास हुआ। इसी युग में कश्यप मातंग (लगभग ६१-६७ ई०) बौद्ध धर्म को चीन में ले गये। कनिष्क के वंश ने मध्य और पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिये मार्ग प्रशस्त किया।"[1]

जाति—कुषाणों का युग भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण है, किन्तु इनकी जाति और तिथिक्रम के प्रश्न अत्यन्त जटिल है। कुषाणों को विभिन्न विद्वानों ने तुर्क, मंगोल, ईरानी अथवा शक जाति का माना है।[2] किन्तु इस समय अधिकांश ऐतिहासिकों का झुकाव इन्हें प्राचीन शक जाति का ही मानने की ओर है।[3] इन्हें तुखारी (Tokharian), तुखार या तुषार भी कहा जाता है। पुराणों में इनका इसी रूप में वर्णन हुआ है और वहां यह बताया गया है कि यवनों के बाद १४ तुषार राजा राज्य करेंगे। मत्स्यपुराण में इन्हें ७०० वर्ष तक राज्य करने वाला बताया गया है। यह संभवतः १०७ वर्ष होना चाहिये, क्योंकि वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में इनका समय १०५ वर्ष दिया गया है। रामायण और महाभारत में तथा दो बौद्ध ग्रन्थों—सद्धर्मस्मृत्युपस्थान तथा महामायूरी में इनका तुखारों के रूप में वर्णन किया गया है।

तिथिक्रम—इनके इतिहास की एक अन्य बड़ी जटिल समस्या तिथिक्रम की है। इस वंश के सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में प्रबल मतभेद है। सर्वप्रथम कनिंघम ने इस विषय में विक्रम संवत् के सिद्धान्त का प्रति-

१ राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्शेन्ट इण्डिया, पृ० ३९९–४००।

२. बी० एन० पुरी—इण्डिया अन्डर दी कुषाणाज, पृ० १–४।

३. कनिंघम—बुक आफ इण्डियन ईराज, पृ० ४२।

पादन करते हुए यह कहा था कि उसका राज्याभिषेक ५८ ई० पूर्व मे हुआ था।[1] फ्रेन्च विद्वान् सिलव्या लेवी ने कनिष्क का राज्यारोहण ५ ई० पूर्व मे माना है और बायर (Boyer) ने कहा है कि कनिष्क के सिहासन पर बैठने की तिथि ९० ई० से बाद की नही हो सकती है। डी० आर० भण्डारकर ने पहले इस तिथि को २७८ ई० और बाद में १२८ ई० माना था।[2] फर्ग्युसन, ओलडनबर्ग तथा राय चौधरी आदि विद्वान् कनिष्क को ७८ ई० मे आरम्भ होने वाले शक सवत् का प्रवर्तक मानते है। स्मिथ इसकी तिथि १२० ई०, मार्शल १२८ ई०, स्टेन कोनो १२५ ई०, घिर्शमान १४४ ई० और श्रीमती लोहुईजेन डी लिउव ७१ से ८६ ई० के बीच मे मानती है। १९१३ ई० मे सुप्रसिद्ध ऐतिहासिको ने पहली बार कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध मे रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका के स्तम्भो मे आयोजित एक वादविवाद मे भाग लिया था। इसके बाद इस विषय में दूसरी विचार-गोष्ठी स्कूल आफ ओरियन्टल स्टडीज द्वारा लन्दन में आयोजित हुई थी। सितम्बर-अक्तूबर १९६८ मे यूनेस्को द्वारा रूसी मध्य एशिया के दोशाम्बे (ताजिकिस्तान) मे विश्व के ऐतिहासिको की एक गोष्ठी का आयोजन किया गया था, इसमे भी कनिष्क की तिथि पर गम्भीर विचार किया गया था। किन्तु अभी तक तीन महासम्मेलनो के बाद भी इस विषय मे विद्वानो का कोई सर्वसम्मत निर्णय नही हो सका है और कनिष्क की तिथि ५८ ई० पूर्व से २७८ ई० तक मानी जाती है। यहाँ अधिकाश भारतीय विद्वानो द्वारा मानी गयी ७८ ई० की तिथि को स्वीकार किया गया है और आगे इसे मानने के कारण भी स्पष्ट किये जायेगे।

ऐतिहासिक स्रोत--कुषाण वश के ऐतिहासिक साधन शक पहलवो की अपेक्षा अधिक मात्रा मे मिलते है। साहित्यिक साधनो मे प्रधान रूप से चीनी इतिहास इनके आरम्भिक काल पर बहुमूल्य प्रकाश डालते है। पिछले अध्याय मे इनका निर्देश किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य मे भी इनका कुछ वर्णन मिलता है, किन्तु इनके इतिहास पर सबसे अधिक प्रकाश पुरातत्वीय सामग्री---मुद्राओ, अभिलेखों, मूर्तियो से और खुदाई मे प्राप्त प्राचीन स्मारको से पडता है। इसमे सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कनिष्क की तिथि की भाँति इस सामग्री की व्याख्या मे भी विद्वानो मे तीव्र

---

१. बी० एन० पुरी--इण्डिया अन्डर दी कुषाणाज, पृ० १-४।

२ डी० आर० भण्डारकर--जर्नल आफ दी बाम्बे ब्रांच आफ दी रायल ऐशियाटिक सोसाइटी १९०० ई०।

मतभेद है। यहाँ पहले चीनी इतिहासो के आधार पर कुषाणो के चीनी सीमा से भारत तक पहुँचने का और बाद में यहाँ साम्राज्य स्थापित करने का वर्णन किया जायगा।

युइचि जाति का प्रवास—चिरकाल से विद्वानो का यह मत है कि कुषाण वंश युइचि जाति की एक शाखा थी। यह जाति पहले ह्वाग हो (पीत नदी के पश्चिम) मे चीन के कानसू प्रान्त की सीमा पर बसी हुई थी। इस जाति ने पहले बैक्ट्रिया को जीता, शको को यहाँ से निकाला और अन्त मे भारत मे अपना साम्राज्य स्थापित किया। चीनी इतिहासो मे इनके सम्बन्ध मे जो वर्णन मिलते है, वे मुख्य रूप से तीन ग्रन्थो के आधार पर है। पहला और प्राचीनतम ग्रन्थ चीनी इतिहास के पिता समझे जाने वाले शुमाचियेन का है। इसने १२५ ई० पूर्व के आसपास युइचि प्रदेश की यात्रा करने वाले चीनी राजदूत चाग कियेन के विवरण के आधार पर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सीयुकी मे इनके प्रवास का निम्नलिखित वर्णन किया गया है—दूसरी शताब्दी ई० पूर्व मे युइचि लोग तुनह्वाग और कीलयेन अथवा थियानशान पर्वतमाला के मध्यवर्ती प्रदेश मे रहा करते थे। १६५ ई० पूर्व मे इन पर हियगनू नामक जाति ने हमला किया, इन्हें पूरी तरह पराजित करके अपने प्रदेश से पश्चिम की ओर नई जमीनो और चरागाहो की खोज मे जाने के लिये विवश किया। इस दिशा मे जाते हुए युइचि लोगो को एक अन्य यायावर जाति—वूसुन (Wu-Sun) से सघर्ष करना पडा। इन्होने इस जाति को हरा दिया और इनके राजा का वध कर दिया। इसके बाद युइचि पश्चिम की ओर बढते चले गए और उनकी शक (से या सोक) जाति से टक्कर हुई। शको को अपना देश छोडना पड़ा, वे दक्षिण मे कि-पिन देश की ओर चले गये। इसी बीच मे वूसुन जाति के मृत राजा का बेटा क्वेनमो जवान हो गया था। युइचि जाति के कट्टर शत्रु हियगनू लोगो के सहयोग से उसने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये युइचि लोगो पर हमला किया। उसने उनसे उनके नवीन प्रदेश छीन कर उन्हें ताहिया (Taina) या बैक्ट्रिया मे खदेड दिया। ताहिया के लोग यायावर जीवन छोड चुके थे, वे आमू नदी के उत्तरी तट पर बसे हुए थे। वे व्यापारी थे और युद्धकला मे निष्णात नही थे। उन्हे युइचि लोगो ने बडी जल्दी और सुगमता से जीत लिया तथा आमू नदी के उत्तर मे उन्होने अपनी राजधानी स्थापित की।

इसके बाद चीनी इतिहास मे इनका दूसरा वर्णन पानकू द्वारा लिखित प्रथम हानवश के इतिहास मे मिलता है। यह ग्रन्थ ९१ ई० पूर्व में लिखा गया था और इसमे तीन नई बाते कही गई हैं—(१) युइचि

लोगो की राजधानी कियेन-ची (त्वानशान) थी और किपिन इसकी दक्षिणी सीमा पर था। (२) युइचि लोगो ने अब अपने ढोर-डगरो के पीछे-पीछे फिरने वाले खानाबदोश जीवन को छोड़ दिया था। (३) युइचि राज्य इस समय पाँच छोटे राज्यो में (Hi-Houyabgous) बटा हुआ था । इनमे पहला राज्य हियोमी था और इसकी राजधानी होमी थी, दूसरा राज्य चौग मो था। इसकी राजधानी का भी यही नाम था। तीसरा राज्य कोई-सो-अग (Kouei-chouang) था। इसकी पहचान कुषाण राज्य से की जाती है और इसकी राजधानी हौ-सौ थी। चौथा राज्य हिथुन था तथा इसकी राजधानी पो-माओ (बामियाँ) थी, और पाँचवाँ राज्य काओफू (काबुल) था। ये पाँचो राज्य तायुइचि (महान् युइचि) के नियन्त्रण मे थे।

इस विषय मे प्रकाश डालने वाला तीसरा चीनी ग्रन्थ फन-ये का द्वितीय हानवश (२५–२२० ई०) का इतिहास है। इसमे यह बात और अधिक बताई गई है कि सौ वर्ष बाद को-ई-सो अग जाति के राजकुमार कीऔ-सीओ-कि-ओ (Kieoutrioukio) ने अन्य चार राज्यो के मुखिया सरदारो पर हमला करके उन्हे जीत लिया और अपने को कोई-सो-अग (कुषाण) राज्य का राजा बना लिया। इस राजा ने अन-सी (पार्थियन) लोगो के राज्य पर हमला किया, उसने काओ-फू (काबुल) के प्रदेश पर अधिकार कर लिया, उसने पो-ता और कि-पिन देशो का विध्वस किया और वह इन सब का स्वामी बन गया। इस राजा की मृत्यु ८० वर्ष की आयु मे हुई। इसके बाद उसका बेटा येन-काओ-चेन गद्दी पर बैठा, उसने तिएन-चौ (Tien-tchou) अर्थात् भारत को जीता, यहाँ युइचि जाति की ओर से शासन करने वाले सेनापतियो को नियुक्त किया। इस समय से युइचि शक्तिशाली हो गये। अन्य सभी देश उनके राजा के नाम इन्हे कुषाण कहने लगे, किन्तु हानवशी चीनी इन्हें इनके पुराने नाम से तायुइचि ही कहते रहे।[१]

कुषाण का अर्थ––उपर्युक्त चीनी इतिहासो के विवरणो मे कुछ मतभेद और असगतियाँ है। कुछ विद्वानो ने इन इतिहासो का और इनके आरम्भिक इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सभी प्रकार की सामाग्री का गम्भीर अनुशीलन किया है। इनमे अमेरिकन विद्वान् ओटोमाएचन हैलफेन (Otto Maenchen Helfen) ने इस विषय मे ये परिणाम निकाले है—कुषाण शब्द कुष या कुषी से बना है। युइचि और यूनानी लेखको का तुषार या तुखारी (Tochari) इसी शब्द के रूपान्तर है।

१. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी (सं० ६५, १९४५)––दी युइचि प्राब्लम रिएक्जामिण्ड।

चीनी अपने देश के उत्तर-पश्चिम मे रहने वाली जातियो को कुष या युइचि का नाम देते थे। कुष शब्द का अर्थ तुखारी भाषा मे कुलीन व्यक्ति होता है। शक इन्हें आरषि कहते थे। कुषाण युइचि जाति से सम्बन्ध रखते थे और शको के शासन में रहने के कारण वे उन से बहुत प्रभावित थे। ता-युइचि शब्द का अर्थ महान् चन्द्रवश है। कुषाणो मे चन्द्रमा बहुत ही लोकप्रिय देवता था। सलेनी (Salane), मोआ (Moa), मन, ओबेगे आदि चन्द्रमा वाची अनेक देवताओ का और द्वितीया के चन्द्रमा का चित्रण कुषाण मुद्राओ पर बहुत अधिक हुआ है। ऊपर युइचि लोगो के जिन पाँच राज्यो का वर्णन चीनी इतिहासो मे मिलता है उनकी पहचान मारक्वार्ट नामक विद्वान् ने निम्नलिखित रीति से की है— हिउमी (Hiumi), वर्तमान समय मे अफगानिस्तान का वखान प्रदेश है। सुअगमी चितराल है, कुई-सु-आग (Kuei-Suang) गन्धार के उत्तर का अथवा पेशावर जिले का प्रदेश है। हि-तुन पजशीर नदी पर परवान का इलाका है और काओ-फू काबुल के पास का किन्तु उससे पृथक् प्रदेश है। पिछले अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि पहली शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे काबुल पर पहलव राजा गोण्डोफर्नीज का अधिकार था। अत यह काबुल से पृथक् किन्तु इसका वशवर्ती प्रदेश था। फन-ये ने काओ-फू की जगह अपने वर्णन मे तुमी (Tu-mi) नामक राज्य का उल्लेख किया है। यह अधिक सही वर्णन है। किन्तु हमे तुमी की यथार्थ स्थिति का ज्ञान नही है।

उपर्युक्त चीनी विवरण मे वर्णित कियु-त्सियु-कियो कुषाण वश का पहला राजा कुजुल कदफिसस तथा येन-काओ-चेन इस वश का दूसरा राजा विम कदफिसस समझा जाता है। युइचियो के प्रवास और राज्य-स्थापना की घटनाओ का क्रम इस प्रकार माना जाता है—ये १६५ ई० पूर्व मे हियगनू लोगो से परास्त होकर पश्चिम की ओर चले। १६३ ई० पू० मे वुसुन जाति से तथा १६० ई० पू० मे शक जाति से इनका सघर्ष हुआ। स्मिथ के मतानुसार वुसुन जाति ने अपने मृत राजा का बदला लेने के लिये १४० ई० पू० मे इन्हें हराया और १३८ ई० पूर्व मे युइचि ताहिया या बैक्ट्रिया पहुँचे। स्मिथ ने इनकी ताहिया की विजय मे दो अवस्थाये मानी है। पहली दशा मे वे आमू नदी के उत्तर मे सुग्ध (Sogdiana) के प्रान्त मे बसे रहे और कुछ समय बाद वे आमू नदी पार करके बैक्ट्रिया के प्रान्त मे आ गये। उस समय यहाँ हेलियोक्लीज और स्पोलोडोटस मे उग्र सघर्ष चल रहा था। इसका लाभ उठाते हुए १३० ई० पूर्व मे इन्होने बैक्ट्रिया का यूनानी राज्य समाप्त कर दिया।

इसके बाद ये यहाँ बस गये और पाँच राज्यो मे विभक्त हो गये। इन्होने अपनी खाना-बदोश आदते छोड़ दी और सौ वर्ष बाद इनमे कुषाण राजा किउ-त्सियु-कियो प्रबल हुआ, उसने अन्य चार राज्यो को जीत लिया। यह कुजुल कदफिसस समझा जाता है। स्मिथ ने इसका राज्यारोहण ४५ ई० पूर्व मे माना है। किन्तु इसकी मुद्राओ पर रोमन सम्राट आगस्टस (२७ ई० पूर्व से १४ ई० तक) का स्पष्ट प्रभाव होने के कारण अन्य ऐतिहासिको ने इसका राज्यारोहण १० या १५ ई० मे माना है।[1]

कजुल कदफिसस

यह कुषाण वंश का पहला महत्वपूर्ण राजा है। इसके इतिहास पर सबसे अधिक प्रकाश उसके सिक्को से पडता है। इसके कुछ सिक्के ऐसे है, जिनमे एक ओर अन्तिम हिन्द-यूनानी राजा र्हमियस का नाम है। पहले यह बताया जा चुका है कि इन सिक्को के आधार पर यह कल्पना की गई है कि र्हमियस ने पहलव राजा गोन्डोफर्नीज के आक्रमणों से रक्षा के लिये कुषाणो से सन्धि की और अपने शासन मे उन्हें महत्वपूर्ण स्थान दिया, इसीलिये यूनानी राजा ने सिक्को पर अपने नाम के साथ कुजुल कदफिसस का नाम अकित करवाया। कुछ समय बाद या तो र्हमियस की मृत्यु स्वाभाविक रूप मे हो गई अथवा कुजुल ने शक्तिशाली होकर उसे राजगद्दी से हटा दिया। इसके बाद काबुल घाटी मे कुषाणो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। रैप्सन और टार्न ने इस कल्पना को नही माना है। उनका यह कहना है कि अन्तिम यूनानी शासक और प्रथम कुषाण राजा के बीच मे काफी बडा व्यवधान था। टार्न ने इस विषय मे यह मनोरजक कल्पना की है कि कुजुल ने अपने नवोदित साम्राज्य मे यूनानियो का सहयोग पाने के लिये कुछ समय तक उनके अन्तिम राजा र्हमियस के नाम के सिक्के चलाना राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी समझा। इसकी ताम्र मुद्राओ के अग्रभाग मे र्हमियस की आवक्ष मूर्ति तथा अशुद्ध यूनानी मे उसका नाम और पदवी लिखी मिलती है तथा दूसरी ओर पृष्ठ भाग मे हेराक्लीज की मूर्ति और खरोष्ट्री मे यह लेख है—**कुजुल कसस कुषनयवुगस ध्रमस्थिदस** (कुजुल-कसस्य कुषाण-यवुगस्य, कुषाणवशीय नायकस्य धर्मस्थितस्य)। कुजुल ने शीघ्र ही इन सिक्को के स्थान पर दूसरे प्रकार के भी सिक्के चलाये। इनमें एक ओर तो र्हमियस की आवक्ष मूर्ति है तथा कुजुल का अशुद्ध यूनानी मे नाम है और दूसरी ओर हिराक्लीज की मूर्ति के साथ खरोष्ट्री मे लेख है। इसके सिक्को पर कुजुल के कई प्रकार

१. भास्कर चटटोपाध्याय—दी एज आफ कुषाणाज, पृष्ठ ४–५।

के नाम—कुयुल, करकप, कुयुल कफस, कुयुलकऊ पाये जाते है। इसका बैक्ट्रिया के प्रदेश के साथ सम्बन्ध कुछ ऐसी ताम्र मुद्राओ से सूचित होता है जिनमें एक ओर वृष की मूर्ति और अस्पष्ट यूनानी लेख है और दूसरी तरफ दो ककुद वाले बैक्ट्रियन ऊँट के साथ खरोष्ट्री मे यह लेख है—**महरजस रजदिरजस कुयुल करकपस**। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने ये मुद्राये पार्थियन लोगो का प्रदेश जीतने के बाद प्रचलित की थी, क्योकि इनमे महाराज और राजाधिराज की उपाधि शक पहलवो से ग्रहण की गई प्रतीत होती है। रैप्सन इन्हें एक दूसरे कुषाण सरदार की मुद्राये समझता है। किन्तु अन्य विद्वान् ऐसा नही मानते है। अपने साम्राज्य मे वृद्धि होने पर उसने अन्य भी कई प्रकार की मुद्राये प्रचलित की। इन मुद्राओ पर उसका नाम तथा यवुग शब्द अकित है। कुषाण की व्युत्पत्ति पहले दी जा चुकी है। बैली के मतानुसार युइचि, कुष आदि शब्द तुखारी भाषा के एक ऐसे शब्द से निकले है जिसका अर्थ श्वेत, शुभ्र चन्द्रमा होता है। उसकी कुजुल उपाधि तक्षशिला के शक क्षत्रप कुसुलक के नाम से बहुत मिलती है। कुसुलक शब्द का अर्थ सम्भवत. बलवान् अथवा सुन्दर था। यवुग शब्द को राजकुमार का अर्थ देने वाला एक तुर्की शब्द समझा जाता है। उपर्युक्त सभी विशेषण एक ही राजा के है।

कुजुल के शासन के सम्बन्ध मे कई अभिलेख प्रकाश डालते है। पहले यह बताया जा चुका है कि गोण्डोफर्नीज के समय के **तख्तेवाही** के शिलालेख की पाँचवी पक्ति मे स्टेन कोनौ **एर्झण कपस** का पाठ मानता है और एर्झण शब्द को सस्कृत के कुमार का पर्याय समझते हुए इसमे वर्णित राजकुमार कप को कुजुल कदफिसस मानता है, क्योकि कई सिक्कों पर उसका नाम कप के रूप मे भी पाया जाता है। कोनौ का यह कहना है कि इस समय (४५ ई०) तक कुजुल एक राजकुमार की हैसियत रखता था, वह अन्य चार राज्यो को जीतकर प्रतापी राजा नही बना था। अन्य राज्यो को जीतने के चीनी वर्णनों की पुष्टि १२२ सवत् (६४ ई०) के **पंजतर** के शिलालेख से होती है। इसमे इसका वर्णन महाराज कुषाण (**महरय गुषन**) के रूप मे किया गया है। कोनौ का मत है कि उसने काबुल की घाटी को जीतने के बाद सिन्धु नदी पार की और तक्षशिला पर अधिकार किया। यहाँ सिरकप की खुदाई मे पहलव राजाओ के साथ उसकी मुद्राये पाई गई हैं और यहाँ से कुछ दूरी पर धर्मराजिका स्तूप से उपलब्ध **रजतपत्री अभिलेख** (Silver Scioll) में महाराज राजाधिराज देवपुत्र कुषाण (**महरज रजदिरज देवपुत्र कुषण**) का उल्लेख है। यह स्टेन कोनौ के मतानुसार प्रथम कुषाण राजा के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता।

कुजुल की मृत्यु चीनी इतिहासो के अनुसार ८० वर्ष की परिपक्व आयु मे हुई थी और इन इतिहासो में भारत की विजय का श्रेय उसके पुत्र को दिया गया है। अत. कई विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि उसका साम्राज्य सिन्धु नदी तक ही था। यदि उसने सिन्धु नदी पार करके भारत मे अपना राज्य-विस्तार किया तो इसका श्रेय उसके पुत्र को ही था। अपनी आयु अधिक हो जाने पर उसने सम्भवतः सैनिक विजयों का कठिन कार्य अपने पुत्र पर छोड़ दिया होगा।

कुजुल कदफिसस की मुद्राओ पर पाये जाने वाले दो विशेषण उल्लेखनीय है। पहला **धर्मस्थित** (ध्रम-थिदस) और दूसरा **सत्य धर्मस्थित** (सच ध्रम-थिद) है। इनका अर्थ धर्म मे अथवा सच्चे धर्म मे सुदृढ रूप से प्रतिष्ठित है और ये सिक्के इस बात को सूचित करते है कि वह शैव अथवा बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुका था तथा उसमे पूरी निष्ठा और भक्ति रखता था। कुछ मुद्राशास्त्रियो ने उसके एक सिक्के की मूर्ति को बुद्ध बताया है, किन्तु अन्य विद्वान् इसे शिव समझते हैं। इसके एक सिक्के पर रोमन प्रभाव भी पाया जाता है। इसके अग्रभाग मे राजमुकुट-मण्डित शीर्ष रोमन सम्राट आगस्टस अथवा उसके उत्तराधिकारी टाईबेरियस के शीर्ष के अनुकरण पर बनाया गया है। सम्भवत कुजुल कदफिसस की मृत्यु ६५ ई० मे हुई। इसके बाद इसका उत्तराधिकारी कुषाण वश का दूसरा सम्राट् विम कदफिसस गद्दी पर बैठा।

विम कदफिसस

इसका राज्यकाल ६४ से ७८ ई० माना जाता है। यह अपने वृद्ध पिता के राजकीय कार्यों मे चिरकाल से सहयोग दे रहा था, सम्भवत उसकी विजयो मे इसका महत्त्वपूर्ण भाग था। इसने गद्दी पर बैठते ही कुषाण राज्य का विस्तार आरम्भ कर दिया। चीनी इतिहासो मे भारत की विजय का श्रेय इसी राजा को दिया जाता है। इसने पंजाब को अपने शासनकाल के आरम्भ मे जीत लिया। मथुरा संग्रहालय मे इस नगर से नौ मील उत्तर मे अवस्थित **माट** नामक ग्राम के देवकुल से उपलब्ध मूर्ति के नीचे एक लेख में विम के नाम का उल्लेख है। यदि इसे श्री जायसवाल के मतानुसार विम कदफिसस समझा जाय[1] तो यह मानना पडेगा कि विम ने भारत में अपने राज्य का विस्तार मथुरा तक किया था। स्टेन कोनौ ने लद्दाख मे लेह से ५२ मील दूर **खलत्से**

१. जर्नल ग्राफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड ६, पृ० १२–२२— महाराज राजातिराज देवपुत्र कुषाण पुत्र शाहि वेम तक्षमा। तक्षमा ईरानी शब्द है और इसका अर्थ है बलशाली।

नामक स्थान मे फ्रान्के द्वारा उपलब्ध १८४ स० के एक प्रस्तर अभिलेख मे **महरजस उविम कवृथिसस** का पाठ माना है। यदि इस लेख मे वर्णित महाराज को विम **कदफिसस** से अभिन्न माना जाये तो कश्मीर के उत्तर मे लद्दाख मे भी हमे उसके **राज्य की** सत्ता स्वीकार करनी होगी। स्मिथ ने इसके राज्य-विस्तार का वर्णन **करते** हुए यह लिखा है कि कदफिसस द्वितीय के भारतीय प्रदेश गगा तक **और** सम्भवत. **दक्षिण** मे बनारस तक फैले हुए थे। उसका साम्राज्य पश्चिम मे पार्थिया की सीमा तक पहुचा हुआ था और इसमे वर्तमान समय के अफगानिस्तान, अफगान तुर्किस्तान, बुखारा के समूचे प्रदेश और रूसी तुर्किस्तान के कुछ अश सम्मिलित थे।[1]

भारत के साथ विम का सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ था। सम्भवत वह उन इने-गिने आरम्भिक विदेशी शासकों मे से है जो भारतीय धर्म और सस्कृति के रग मे पूरी तरह रग गये थे। जिस प्रकार हिन्द-यूनानी राजा मिनान्डर बौद्ध धर्म का परम भक्त था, उसी प्रकार यह कुषाण सम्राट पाशुपत शैव सम्प्रदाय का श्रद्धालु उपासक था। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यारोहण से पहले ही वह शिव का उपासक बन चुका था, क्योकि उसकी स्वर्ण एव ताम्र सभी प्रकार की मुद्राओ पर शैव धर्म के निश्चित चिह्न मिलते है। उसके सिक्को के पृष्ठ भाग मे प्राय त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति नन्दी सहित अथवा इसके बिना भी पाई जाती है। कुछ मुद्राओ मे त्रिशूल के स्थान पर परशु को भी प्रदर्शित किया गया है। मुद्राओ के अग्रभाग मे राजा को विभिन्न अवस्थाओ मे वेदी पर खडे हुए, आहुति देते हुए, आसन (मूढे) पर बैठे हुए और दो घोडो द्वारा खीचे जाने वाले रथ पर सवारी करते हुए दिखाया गया है। कई बार उसकी आवक्ष मूर्ति को अथवा पालथी मारकर बैठी हुई मूर्ति को बादलो से निकलते हुए दिखाया गया है। यह सम्भवत उसके दैवी स्वरूप की प्रतीकात्मक अभिव्यजना है। उसके सिक्को के अग्रभाग से यूनानी मे--**बेसिलियस बेसिलियोन सोटेर मेगस ओइमो कदफिसस** का लेख है और दूसरी ओर खरोष्ट्री मे कई बार तो **महरज रजदिरज विम कथफिसस** (महाराज राजाधिराज विमकदफिसस्य) का लेख है और कई बार उसकी उपाधियो का निम्नलिखित रूप मे बडा विस्तृत वर्णन है--**महरजस रजदिरजस सर्वलोग ईश्वरस महेश्वरस विमकथफिसस त्रतरस (महाराजस्य राजाधिराजस्य सर्वलोकेश्वरस्य माहेश्वरस्य विमकदफिससस्य त्रातु.)**। इसमे माहेश्वर का शब्द स्पष्ट रूप से यह बताता है कि वह महेश्वर अर्थात् शिव का भक्त एव शैवधर्मानुयायी था। इस उपाधि से यह भी सूचित होता है कि वह चीनी इतिहासो के अनुसार बडा

१. स्मिथ--ज० रा० ए० सो०, १९०३, पृ० ३१।

शक्तिशाली राजा था। मुद्राओ पर उसकी जो मूर्ति बनी हुई मिलती है उसमें वह शक्तिशाली व्यक्तित्व रखने वाला एक बडी आयु वाला व्यक्ति प्रतीत होता है।

इस प्रसग मे विम की मुद्राओ की कुछ विशेषताये उल्लेखनीय है।—**पहली** विशेषता विम द्वारा स्वर्णमुद्राओ का प्रचलन है। विम को इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उसने सर्वप्रथम व्यापक रूप से स्वर्ण-मुद्राओ का प्रचलन आरम्भ किया। उससे पहले दो शताब्दियो मे स्वर्ण मुद्राओ के दो तीन ही उदाहरण मिलते है। पहला उदाहरण यूक्रेटाईडीज का है और दूसरा मिनान्डर का है। इसके अतिरिक्त कनिघम को तक्षशिला मे भी एक स्वर्णमुद्रा मिली थी। इन अपवादो के अतिरिक्त पहले स्वर्णमुद्राओ का प्रचलन बिल्कुल नही था। विम ने स्वर्ण मुद्राओ की परम्परा आरम्भ की, जिसका अनुसरण न केवल उसके उत्तराधिकारियो ने किया, अपितु गुप्तवशी राजाओ ने भी स्वर्ण-मुद्राये प्रसारित की। विम के समय मे स्वर्ण-मुद्राओ के प्रचलन के कई कारण थे। पहला कारण उस समय के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे सोने के सिक्को की माँग थी। उन दिनो भारत का रोमन साम्राज्य और चीन के साथ वाणिज्य बढ रहा था। भारतीय वस्त्रो और मसालो की रोम मे बड़ी माँग थी। प्लिनी ने प्रथम शताब्दी ई० मे भारत और रोम के बढते हुए व्यापार का उल्लेख करते हुए इस बात पर आँसू बहाये है कि रोम के कुलीन व्यक्तियो के भोग-विलास के लिये रोम को स्वर्ण की बहुत बडी मात्रा भारत एव पूर्वी देशो को भेजनी पडती है। रोम भारत की इन वस्तुओ को अपनी स्वर्ण-मुद्राये देकर खरीदा करता था, अत भारत मे पहले पाँच रोमन सम्राटो की मुद्राये बहुत बड़ी सख्या मे मिलती है। पेरिप्लस ने बेरीगाजा (भडोच) मे विदेशो से भारत आने वाले सामान मे सोने और चाँदी को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। रोमन सिक्के दक्षिण भारत मे ही अधिक मिले है। उत्तर भारत मे इनके न मिलने का प्रधान कारण यह बताया जाता है कि रोमन व्यापार से प्राप्त होने वाले सिक्को को कुषाण सम्राट् गलवा देते थे और उससे अपने नए सिक्के ढलवा लिया करते थे। विम ने इस विषय मे रोमन सम्राटो का अनुसरण किया। यह कई बातो से स्पष्ट होता है। आरम्भिक रोमन सम्राटों की स्वर्ण-मुद्रा (Denarius Aureus) की जो भार पद्धति थी वही कुषाणो ने ग्रहण की। रोमन मुद्राओ की भाँति उनकी स्वर्ण-मुद्राओ की तौल १२४ ग्रेन रखी गयी। इन पर रोमन सम्राटो जैसी मूर्तियाँ अकित की गई और रोमन सिक्के दीनार उन दिनो भारत मे इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि सस्कृत मे स्वर्ण-मुद्रा के लिये दीनार शब्द का प्रयोग वैसे ही होने लगा जैसे पहले रजत-

मुद्रा के लिये यूनानियो के सिक्के ड्रैक्म (Drachm) के आधार पर चाँदी के सिक्को को द्रम्म कहा जाने लगा था।

विम द्वारा स्वर्ण-मुद्राये प्रचलित करने का दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि इससे पहले अय द्वितीय के समय मे और उसके बाद पहलव राजाओ के काल मे रजत-मुद्राओ मे खोट की मात्रा निरन्तर बढती चली जा रही थी। मिश्रित धातु (Billion) के सिक्को मे चाँदी की मात्रा घटकर २० प्रतिशत रह गई थी और ताँबे की मात्रा ८० प्रतिशत तक जा पहुँची थी, अत रजत-मुद्राओ मे जनता अपना विश्वास खो चुकी थी। इसलिये कुषाण राजाओ ने वैदेशिक व्यापार की आवश्यकताओ के लिये स्वर्ण-मुद्राओ का प्रचलन आवश्यक और उचित समझा और विम ने स्वर्ण-मुद्राओ के प्रचलन का श्रीगणेश किया।

विम की मुद्राओ की **दूसरी** बडी विशेषता यज्ञवेदी पर आहुति देते हुए राजा का चित्रण है। इस प्रकार की मुद्रा इससे पहले कोई नही मिलती है। विम ने सम्भवत ऐसी मुद्राओ का विचार अपने पडोसी पार्थियन साम्राज्य से ग्रहण किया था। अनेक पार्थियन सम्राटो की इस प्रकार की मुद्राये मिलती है। उदाहरणार्थ, **गौतरजीस** (४०-५१ ई०) की मुद्राओ मे राजा को शिरस्त्राण और मुकुट धारण किये हुए लम्बी सलवार और घुटने तक पहुचने वाले भारी वस्त्रो और भारी बूटो के साथ खडे और बाई ओर देखते हुए तथा दाये हाथ से एक छोटी वेदी पर कुछ आहुति देते हुए दिखाया गया है। ईरानी राजा अग्निपूजक पारसी धर्म के अनुयायी थे, अत उनके लिये इस प्रकार से अपने धर्मानुसार अग्नि की पूजा करते हुए अंकित किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। ये राजा सभवत शीतप्रधान देश के थे, अत इन्हें ऊनी वस्त्र धारण किये हुए दिखाया जाता है।[1] कुछ भारतीय विद्वानो का यह मत है कि विम ने सम्भवत किसी पार्थियन राजा पर विजय प्राप्त की थी और उसकी स्मृति मे इस प्रकार के सिक्के चलाये गये। यह बात सर्वथा सम्भव प्रतीत होती है कि विम ने किसी पार्थियन सम्राट को पराजित किया हो। रूस के तोपाराम काला प्रदेश से प्राप्त पुरातत्वीय साक्षी इसकी पुष्टि करती है।[2] यहाँ विम के कुछ सिक्के भी मिले है।

विम का वेदी पर आहुति देते हुए राजा की मुद्रा का प्रकार बड़ा लोकप्रिय हुआ। इन सिक्को मे हमे राजा लम्बा कोट और ऊँचे बूट पहने हुए दिखाई देता

१. भास्कर चट्टोपाध्याय—दी एज आफ दी कुषाणाज, पृ० ४५।
२. टाल्सटाय—दी माडर्न रिव्यू, दिसम्बर, १९५३।

है। यह वेश शीतप्रधान उत्तरी देशो मे प्रचलित होने के कारण **उदीच्य वेश** कहलाता है, यह भारतीय ढग से बैठकर हवनकुण्ड मे आहुति डालने की परिपाटी से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार के वेश की यह परम्परा विम से शुरू होती है और गुप्त सम्राटो की मुद्राओ तक हमे ऐसे वेश के दर्शन होते हैं।

विम की मुद्राओ की **तीसरी** विशेषता शिव की मूर्ति का चित्रण है। टार्न के मतानुसार मानवीय रूप मे मुद्राओ पर शिव का चित्रण सर्वप्रथम कुषाणो के समय मे ही मिलता है।[1] रैप्सन ने गोण्डोफर्नीज की एक मुद्रा पर और डा० जे० एन० बनर्जी ने मोअ की एक मुद्रा पर शिव का अंकित होना स्वीकार किया है।[2] किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि सर्वप्रथम व्यापक रूप से मुद्राओ पर शिव का अकन विम ने ही किया। यह उसके सभी प्रमुख प्रकारो पर किसी न किसी रूप मे पाया जाता है और इस बात को सूचित करता है कि उसने **माहेश्वर** की अर्थात् महेश या शिव के भक्त की जो उपाधि धारण की थी, वह सर्वथा सार्थक थी। शिव का चित्रण कुछ मुद्राओं को छोडकर प्राय. नदी के साथ किया गया है। उदाहरणार्थ उसके वेदी पर आहुति देने वाले प्रकार मे शिव गजारूढ तथा सिंहासनाधिष्ठित प्रकार मे नन्दी के आगे खडे है। कुछ अन्य प्रकारो मे शिव के साथ नन्दी को नही दिखाया गया है। शिव के शीर्ष मे कई बार ज्वालाये निकलती हुई दिखाई गई है। सम्भवत. ताण्डव नृत्य के समय ये उनकी बिखरी हुई जटाये है। शिव के जटाजूट को सिर के बीच मे शिखा के रूप मे दिखाया गया है अथवा एक उन्नतोदर पदार्थ के रूप मे इसका चित्रण किया गया है। शिव की दो भुजाओ मे त्रिशूल, कमण्डलु और बाघम्बर दिखाया गया है। कई जगह शिव अपना बायाँ हाथ नन्दी पर रखकर उस पर झुके हुए है। विम की एक ताम्रमुद्रा पर शिव को अनेक सिरो वाला (Polycephalus) दिखाया गया है।

विम की मुद्राओ की **चौथी** विशेषता यह है कि इससे पहले कुजुल कदफिसस की मुद्राओं पर हिराक्लीज (Heracles), ज्यूस (Zeus) और नाइके (Nike) आदि यूनानी देवताओ का चित्रण मिलता है। किन्तु विम की मुद्राओ पर भारतीय देवता शिव के सिवा किसी अन्य देवता का अकन नही किया गया है। विम ने महाराजाधिराज आदि पुरानी उपाधियो के अतिरिक्त **सर्वलोकेश्वर** और **महेश्वर** की नवीन उपाधियाँ भी धारण की। इसके अतिरिक्त नन्दीपाद का चिह्न भी

---

१. **टार्न—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृष्ठ ४०२।**

२. **बनर्जी—डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृष्ठ ११८–१२०।**

उसके सिक्को की बडी विशेषता है। उसने अपने सिक्को पर राजा के दैवी स्वरूप पर बल दिया, सभवत: इसीलिये उसे स्वर्ग के बादलो मे से निकलता हुआ दिखाया गया है। राजाओं की दिव्यता की यह अभिव्यक्ति विम की मुद्राओ में पहली बार मिलती है। यह हमे बादलो मे निकलने वाले यूनानी देवताओ का स्मरण कराती है। कई बार राजा के कन्धे मे निकलती हुई ज्वालाओ को भी प्रदर्शित किया गया है, ये भी सम्भवत. उसकी दिव्यता पर प्रकाश डालती है।

कनिष्क का तिथिक्रम

विम के बाद कुषाण वश का सबसे प्रसिद्ध और प्रतापी सम्राट् कनिष्क प्रथम गद्दी पर बैठा। यहा इसके राज्यारोहण का समय ७८ ई० माना गया है। पहले इस बात का सकेत किया जा चुका है कि कनिष्क की तिथि का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है और इस विषय मे ऐतिहासिको मे अनेक प्रकार के मत प्रचलित है। इनमे तीन मतो का अधिक प्रतिपादन होता रहा है। **पहला** मत कनिघम, फ्लीट और कैनेडी का है। इनके मतानुसार कनिष्क ५८ ई० पूर्व मे राजगद्दी पर बैठा था। **दूसरा** मत दूसरी शताब्दी ई० वाला है। इसके अनुसार विभिन्न विद्वान् दूसरी शताब्दी ई० के विभिन्न समयो मे इसके राज्यारोहण की तिथि मानते है। मार्शल, कोनौ और स्मिथ के मतानुसार इसने १२५–१२८ ईसवी के बीच मे अपना शासन आरम्भ किया। घिर्शमान ने इसका समय १४४ ई० माना है। **तीसरा** मत सर्वप्रथम फर्ग्युसन ने और उसके बाद ओल्डनबर्ग, रैप्सन, थामस, बनर्जी, राय चौधरी आदि विद्वानो ने रखा है। इनके अनुसार कनिष्क ७८ ई० मे राजगद्दी पर बैठा था। इन तीनो मतो मे से अन्तिम मत निम्नलिखित कारणो से ठीक प्रतीत होता है।

५८ ई० पूर्व मे कनिष्क के राज्यारोहण का मत फ्लीट और कैनेडी का है। इस मत के मानने मे कई बडी कठिनाइयाँ है। मुद्राओ के गम्भीर अध्ययन से हमे यह प्रतीत होता है कि कुजुल कदफिसस और विम कदफिसस के बाद कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव प्रथम नामक राजा हुए और कनिष्क के समय से एक सवत् आरम्भ हुआ। इन सब राजाओ के शासनकाल के विभिन्न वर्षों के अनेक अभिलेख इस बात की पुष्टि करते है। विम कदफिसस द्वितीय की मुद्राओ पर पहली शताब्दी ई० के रोमन सम्राटो का स्पष्ट प्रभाव है। यदि ५८ ई० पूर्व के सिद्धान्त को मान लिया जाय तो विम का समय ५८ ई० पूर्व से मानना पडेगा और उस दशा मे विम के सिक्को पर पहली शताब्दी ई० मे होने वाले रोमन सम्राटो के सिक्को के प्रभाव की कोई समुचित व्याख्या सम्भव नही है। इस आपत्ति को दूर करने के लिये एक मार्ग यह

है कि कुजुल कदफिसस और विम कदफिसस द्वितीय को कनिष्क आदि राजाओं के बाद मे होने वाला समझा जाय। किन्तु इस विषय मे मुद्राओ की साक्षी बडी स्पष्ट है और इसका खण्डन किसी प्रकार नही किया जा सकता है। दो लिपियो और दो भाषाओ के लेखो वाले सिक्को की परम्परा हिन्द-यूनानी राजाओ ने आरम्भ की थी। यह शक-पह्लव राजाओं के समय मे चलती रही और विम कदफिसस के समय तक प्रचलित रही। कनिष्क के समय में ही इस परम्परा को समाप्त किया गया और सिक्को पर केवल यूनानी लिपि में ही लेख लिखे जाने लगे। खरोष्ट्री और प्राकृत का सिक्कों पर प्रयोग बन्द कर दिया गया। हुविष्क और वासुदेव ने इस विषय मे कनिष्क का अनुसरण किया, अत. सिक्को की साक्षी से यह स्पष्ट है कि कनिष्क आदि राजा कुजुल और कदफिसस के बाद हुए।

दूसरी शताब्दी ई० का पक्ष मानने मे भी इसी प्रकार कुछ पुरातत्वीय और साहित्यिक आपत्तियाँ है। इस विषय मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि रुद्रदामा के १५० ई० के जूनागढ अभिलेख मे कुषाणों का कोई वर्णन नही है। यद्यपि इस लेख मे यह बताया गया है कि रुद्रदामा ने सिन्धु सौवीर प्रदेश को जीत लिया था और अपनी वीरता का अभिमान करने वाले यौधेयो (वीर-शब्द-जातोत्सेकविधेयानां यौधेयाना) का दर्प चूर्ण किया था। ये सतलुज नदी पर जोहियाबार मे लगभग उसी स्थान के आसपास रहते थे जहाँ से कनिष्क के राज्यकाल के ११वे वर्ष का **सुई विहार का अभिलेख** मिला है। यह प्रदेश उन दिनो कुषाण साम्राज्य का अग था, किन्तु रुद्रदामा ने अपने अभिलेख मे इसका कोई वर्णन नही किया है। यह बात वस्तुत आश्चर्यजनक है, अत. दूसरी शताब्दी ई० पूर्व मे कनिष्क को रखना उचित नही प्रतीत होता है।

कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि ७८ ई० मानने के पक्ष मे सबसे बडी युक्ति यह है कि कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियो के विभिन्न अभिलेखों मे एक विशेष सवत् का **प्रयोग** दिखाई देता है। यह निम्नलिखित रीति से स्पष्ट किया जा सकता है—

कनिष्क	वर्ष	१–२३
वासिष्क	,,	२४–२८
हुविष्क	,,	२८–६०
वासुदेव	,,	६७–९८

उपर्युक्त विभिन्न राजाओ के अभिलेखो से यह सूचित होता है कि कनिष्क ने

किसी नये सवत् का प्रवर्तन किया था। यह सवत् ७८ ई० से आरम्भ होने वाला **शक संवत्** ही प्रतीत होता है। यद्यपि हमारे पास इस बात के निश्चित प्रमाण नहीं हैं, फिर भी अधिकतम सम्भावना इसी कल्पना के सत्य होने की है। इस पर जो आपत्तियाँ की जाती है वे अधिक प्रबल नही प्रतीत होती है। **पहली** आपत्ति यह है कि कनिष्क कुषाण वशी था, उसके द्वारा चलाये गये सवत् को शकाब्द क्यो कहा गया ? यह आपत्ति उस समय तक बहुत बल रखती थी जब तक कुषाणो को मगोल या तुर्क जाति का समझा जाता था। किन्तु अब नवीन अनुसन्धानो से अनेक विद्वान् कुषाणो को शको की शाखा समझने लगे है। कनिष्क आदि के सिक्को पर जिस भाषा का प्रयोग है वह खोतनदेशीय शक भाषा से सम्बद्ध है। कुषाणो का शको के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क रहा था, अत. उनमे शको की विशेषताओ का आना स्वाभाविक था। इस विषय मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस सवत् को पाँचवी शताब्दी ई० के बाद के लेखो मे ही **शक नृप काल** कहा जाने लगा। इसका कारण सम्भवत यह था कि इस सवत् का प्रयोग पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो के राज्यकाल मे अधिक हुआ था, शायद आरम्भ मे शक क्षत्रप कुषाणो के वशवर्ती भी थे। शक राजाओ के साथ सम्बद्ध होने के कारण कनिष्क द्वारा प्रवर्तित सवत् को बाद मे शक सवत् कहा जाने लगा। इस मत पर **दूसरी** आपत्ति यह उठाई जाती है कि गोण्डोफर्नीज का शासन गन्धार प्रदेश मे ४५ ई० मे अवश्य था। यह बात हमे अन्य प्रमाणो से निश्चित रूप से ज्ञात है (देखिए ऊपर पृष्ठ ११३)। इसके बाद तथा कनिष्क के बीच मे कुजुल कदफिसस प्रथम के राज्यकाल के लिये हमे केवल २३ वर्ष ही उपलब्ध होते है जो इसके लिये सर्वथा अपर्याप्त और बहुत ही कम प्रतीत होते है। किन्तु यदि चीनी इतिहासो के इस वर्णन को ध्यान मे रखा जाय कि कुजुल कदफिसस की मृत्यु अस्सी वर्ष की आयु मे हुई थी तो हमे यह मानना पडेगा कि उसका पुत्र विम भी बहुत बडी आयु मे गद्दी पर बैठा होगा। इस दशा मे इन दोनों के राज्यकाल के लिये २३ वर्ष अपर्याप्त नही है। **तीसरी** आपत्ति तक्षशिला के चीर स्तूप मे प्राप्त वर्ष १३६ सवत् के एक **रजतपत्री लेख** (Silver Scroll) के आधार पर की जाती है। इसे विक्रम सवत् के आधार पर ७९ ई० का लेख माना जाता है और यह कहा जाता है कि यदि ७८ ई० मे कनिष्क ने कोई सवत् चलाया था तो इस लेख मे उसका कोई वर्णन क्यों नही है। इसमे केवल देवपुत्र की उपाधि का उल्लेख मात्र है। वस्तुत इस लेख में कुषाण सम्राट् के वैयक्तिक नाम का उल्लेख न होना कोई प्रबल आपत्ति नही है। प्राचीन

भारत में हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जिनमे राजा का नामोल्लेख न करके उसके वंश का वर्णन किया जाता था। जैसे कुमारगुप्त और बुधगुप्त के समय के अनेक लेखो मे इनके नाम का वर्णन न करते हुए इन्हें गुप्तनृप ही कहा गया है। उसी प्रकार तक्षशिला के उपर्युक्त लेख मे कुषाण सम्राट् का सामान्य उल्लेख मात्र है।

चौथी आपत्ति यह की जाती है कि यदि कनिष्क ने ७८ से १०१ ई० तक शासन किया तो वह संभवत· चीनी सेनापति पान चाओ से मध्य एशिया में हारने वाला राजा होना चाहिए। किन्तु चीनी इतिहासों में इसका कोई उल्लेख नही है। यह आपत्ति भी समुचित नही प्रतीत होती है, क्योकि ७ वी शताब्दी ई० मे चीनी यात्री युआन च्वाग ने कनिष्क के बारे में एक दन्तकथा का निर्देश करते हुए यह कहा है कि वह उत्तर मे विजय करना चाहता था, किन्तु इसमे उसे सफलता नहीं मिली।

पाँचवीं आपत्ति तिब्बती इतिहासो के आधार पर की जाती है कि इनके अनुसार कनिष्क ने १२० ई० मे शासन किया था। इस आपत्ति का समाधान करते हुए डा० राय चौधरी ने कहा है कि यह सम्भवत. इसी नाम का एक अन्य राजा है, जिसका ४१ सवत् अर्थात् ११९ ई० का एक प्रस्तर अभिलेख सिन्धु नदी के पास **आरा** नामक स्थान से उपलब्ध हुआ है। **छठी** आपत्ति चीनी इतिहासो के आधार पर की जाती है, जिनके अनुसार युइचि लोगो के राजा **पो-तियाओ** (Po-Tiao) ने २३० ई० मे चीनी सम्राट् के दरबार मे एक दूतमण्डल भेजा था। पो-तियाओ की पहचान कनिष्क के एक उत्तराधिकारी वासुदेव से की जाती है। वासुदेव के ६७ से ९८ कनिष्क सवत् के अभिलेख मिले है। अत· यह समझा जाता है कि वह कनिष्क से १०० वर्ष बाद हुआ था। अत कनिष्क का समय १३० ई० होना चाहिये। किन्तु यह युक्ति कई कारणों से ठीक नही प्रतीत होती है। पोतियाओ के साथ वासुदेव प्रथम की पहचान सुदृढ प्रमाणो पर आधारित नही है। वासुदेव नाम के कई राजा हुए है। यह उल्लेख सम्भवत किसी बाद के राजा का होगा। अत हमे इस सन्दिग्ध प्रमाण के आधार पर कनिष्क की तिथि पहली शताब्दी से दूसरी शताब्दी ई० मे लाना उचित नही प्रतीत होता है।

कनिष्क की तिथि के सम्बन्ध मे एक अन्य मत इसे तीसरी शताब्दी ई० मे मानने का है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार यह मानते है कि कनिष्क ने २४८ ई० में त्रैकूटक कलचुरिचेदि सवत् का प्रवर्तन किया। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर इसका राज्यारोहण २८७ ई० मे मानते है। तीसरी शताब्दी की ये दोनों तिथियाँ निम्नलिखित कारणों से उचित नही प्रतीत होती है--(१) कुषाणों के विभिन्न अभिलेखों से

यह स्पष्ट है कि वासुदेव ने कनिष्क के गद्दी पर बैठने के १०० वर्ष बाद शासन किया। वासुदेव के अनेक अभिलेख हमें मथुरा के प्रदेश से मिले है, वे इस बात को सूचित करते है कि उसने यहाँ शासन किया था। यदि मजूमदार की उपर्युक्त कल्पना को स्वीकार किया जाये और कनिष्क का राज्यारोहण २४८ ई० मे माना जाये तो हमे मथुरा पर वासुदेव का शासन ३५० ई० मे अथवा चौथी शताब्दी ई० के मध्य मे मानना पडेगा। किन्तु समुद्रगुप्त के अभिलेख से यह स्पष्ट है कि उसने इस प्रदेश के पुराने राजाओ का उन्मूलन करके यहाँ अपना शासन स्थापित किया था। ये राजा मथुरा और पद्मावती के नागवशी शासक थे। इनकी समाप्ति गुप्त सम्राटो ने की थी इसके निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण हैं। किन्तु यदि कनिष्क की तिथि २४८ मानी जाये तो वासुदेव को समुद्रगुप्तकालीन मानना पडेगा, जो किसी भी ऐतिहासिक प्रमाण से पुष्ट नही होता है। अत तीसरी शताब्दी मे कनिष्क के राज्यारोहण को किसी प्रकार नही माना जा सकता, उसके गद्दी पर बैठने की तिथि ७८ ई० को ही मानना समुचित प्रतीत होता है।

कनिष्क के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री पुष्कल मात्रा मे मिलती है। इसके चरित्र पर प्रकाश डालने वाले कुछ ग्रन्थ सस्कृत मे लिखे गये थे, बाद मे छठी शताब्दी ई० मे इनका चीनी मे अनुवाद हुआ। इनमे अश्वघोष का लिखा हुआ **सूत्रालंकार** नामक ग्रन्थ, तथा कुमारलात का **कल्पनामण्डितिका, संयुक्त रत्नपिटक, धर्मपिटक तथा निदानसूत्र** उल्लेखनीय है। कुछ तिब्बती ग्रन्थ भी कनिष्क के इतिहास पर प्रकाश डालते है। तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथ ने कनिष्क का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त पुरातत्वीय साक्षी मे कनिष्क के सवत् के दूसरे वर्ष का एक लेख **कोसम** (कौशाम्बी) से तथा तीसरे वर्ष का लेख **सारनाथ** से और ग्यारहवे वर्ष के लेख **सुई विहार** से तथा **जेदा** नामक स्थान से, १८वे वर्ष का लेख **माणिक्याला** से मिले है। इन अभिलेखो के अतिरिक्त मुद्राये भी कनिष्क के राज्य-विस्तार और शासन पर बहुमूल्य प्रकाश डालती है।

नवीन वंश—कनिष्क से कुषाणो की एक नई वशपरम्परा शुरू होती है। इस वंश के राजाओ के अन्त मे प्राय "ष्क" का पद आता है। ये विम कदफिसस के वश से कुछ भिन्न प्रतीत होते है। इस समय से कुषाणो के इतिहास मे कुछ नई प्रवृत्तियाँ शुरू होती है। अब सभी अभिलेखो मे एक निश्चित सवत् का उल्लेख मिलता है और ये अभिलेख इनके राज्य-विस्तार को भी सूचित करते है। चीनी इतिहासकार केवल कुजुल और विम कदफिसस का वर्णन करते हैं, किन्तु कनिष्क

के सम्बन्ध मे मौन है। किन्तु तिब्बती भाषा के इतिहास इस विषय मे हमे यह बताते है कि कनिष्क का सम्बन्ध मध्य एशिया के खोतन राज्य के शासको के साथ था और उसने उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की थी। तिब्बती इतिहासो के कथनानुसार खोतन के राजा विजयसिह के पुत्र विजयकीर्ति ने राजा कनिष्क के साथ भारत पर हमला किया और **सोकेद** (सोकत) को जीता । कुमारलात की **कल्पनामण्डितिका** मे यह कहा गया है कि किउ-सा के वश मे चेन-तन-किया-नि-च (T Chen-An-Kia-ni-ch) नामक राजा हुआ। उसने तुग-तियेन चु (लेवी के मतानुसार पूर्वी भारत) को जीता और देश मे शान्ति स्थापित की। उसकी शक्ति से चारो ओर आतक फैल गया। वह अपने देश को वापिस लौटा। इसका रास्ता चौड़े मैदान मे से होकर जाता था। लेवी के मतानुसार चेन-तन चन्दन अथवा खोतन का पुराना नाम है। कुछ लोग चेन-तन को काशगर का राजा मानते है, किंतु अन्य विद्वान् इसे खोतन का राजा समझते है। उनका यह कहना है कि इसका शासन पहले खोतन मे था, वहाँ से यह कश्मीर मे और कश्मीर से भारत मे आया। फ्लीट के इस मत को यदि माना जाय तो यह भी मानना पडेगा कि कनिष्क बडी (**ता**) युइचि जाति की शाखा से सम्बद्ध नही था, किन्तु खोतन मे बसी हुई छोटी (**सीआओ**) शाखा वाली युइचि जाति से सम्बद्ध था। अश्वघोष की चीनी जीवनी मे यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि कनिष्क सीआओ युइचि का राजा था। एक अन्य चीनी ग्रन्थ 'वेई-शू' मे यह लिखा है कि छोटी युइचि जाति की राजधानी पुरुषपुर या पेशावर थी। कोनौ के मतानुसार कनिष्क ने सर्वप्रथम पेशावर को अपनी राजधानी बनाया था।

उपर्युक्त तिब्बती और चीनी स्रोतो के आधार पर यह माना जाता है कि कनिष्क मध्य एशिया का रहने वाला था। उसने खोतन के राजा से सहायता प्राप्त करके उत्तरी भारत पर चढाई की। वह सम्भवत छोटी युइचि जाति से सम्बद्ध था और ताहिया मे रहने वाली बडी युइचि जाति से इसका सम्बन्ध नही था। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि कनिष्क ने मध्य एशिया से अपने राज्य का विस्तार आरम्भ किया। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत कुछ विद्वानो ने उसके शिलालेखो के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि उसने अपनी विजयो का श्रीगणेश उत्तर प्रदेश और पूर्वी भारत से किया।[1] उसका संवत् २ का लेख इलाहाबाद जिले के कोसम (कौशाम्बी) नामक स्थान से, सवत् ३ का लेख सारनाथ से, संवत्

१. **दिनशचन्द्र सरकार---एज ग्राफ इम्पीरियल यूनिटी ।**
सुधाकर चट्टोपाध्याय... ।

४ का लेख मथुरा से, संवत् ११ का सूई विहार (बहावलपुर) से और संवत् १८ का लेख जिला रावलपिंडी के माणिक्याला नामक स्थान से मिला है। इन सबसे उसकी विजयो का एक विशेष क्रम सूचित होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि उसने अपनी शक्ति का विस्तार अपने राज्यकाल के आरम्भ मे उत्तर प्रदेश से किया। यह बात उसके सिक्को के उपलब्धि-स्थानो से भी स्पष्ट है। सहेत-महेत (श्रावस्ती–गोण्डा) से १०५ कुषाण मुद्राये मिली है। आजमगढ जिले से कनिष्क और हुविष्क की सौ ताम्र मुद्राये पाई गई है। इसी प्रकार इस जिले के कई स्थानो से इन दोनो सम्राटो की अन्य मुद्राये भी मिली है। कुमारलात के ग्रन्थ मे उसकी पूर्वी भारत की विजय का वर्णन किया गया है। शायद उसने पश्चिमी बगाल पर भी चढ़ाई की हो, किन्तु अभी तक हमारे पास इसको प्रमाणित करने वाली पुष्ट साक्षी नही है।[1]

चीनी भाषा मे ४७२ ई० मे अनूदित एक सस्कृत ग्रन्थ **श्री धर्मपिटक सम्प्रदाय निदान** मे दिये गये वर्णन के अनुसार कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था। चीनी एव तिब्बती ग्रन्थो मे ऐसी अनुश्रुतियो का उल्लेख है कि पूर्वी भारत के अधिपति पाटलिपुत्र के राजा ने युइचि आक्रामक से परास्त होने पर उसका अनुग्रह प्राप्त करने और शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उसे नौ लाख स्वर्ण-मुद्राये देनी चाही। किन्तु इस विशाल स्वर्ण-राशि को एकत्र करने मे कठिनाई हुई। इसके बदले मे उसने बुद्ध का एक भिक्षापात्र, अश्वघोष नामक सुप्रसिद्ध विद्वान् और एक चमत्कारपूर्ण कार्य करने वाला मुर्गा उसे प्रदान किया। अश्वघोष को राजा अपने साथ कश्मीर ले गया, वहाँ इसने चतुर्थ बौद्ध महा-सभा के कार्यों मे प्रमुख भाग लिया। कनिष्क की महत्वाकाक्षा उत्तरी भारत पर विजय करने मे ही सन्तुष्ट नही हुई। उसने पार्थिया के साम्राज्य पर भी हमला किया और इसमे बड़ी सफलता प्राप्त की।

किन्तु उसके सबसे महत्वपूर्ण सैनिक अभियान उत्तर दिशा मे हुए। यहाँ उसने काशगर, यारकन्द और खोतन के प्रदेशो को जीता। उस समय कश्मीर के पूर्व मे और तिब्बत के उत्तर के प्रदेश मे चीनियो का शासन था। कनिष्क ने भारत और कश्मीर जीतने के बाद सम्भवत तागदुम्बाश पामीर के दर्रों से होते हुए अपनी एक बड़ी सेना सफलतापूर्वक मध्य एशिया मे भेजी और चीन के स्थानीय शासको को न केवल परास्त किया, अपितु उनसे अपनी सन्धि की शर्तें पालन करवाने के लिये

१. सुधाकर चट्टोपाध्याय....।

चीनी राजकुमारों को बन्धक (Hostage) के रूप में भी प्राप्त किया। एक पुराने लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि इन बन्धको मे एक व्यक्ति हान सम्राट् का लड़का था। किन्तु यह बात विश्वसनीय नही प्रतीत होती है। चीन के वशवर्ती जिस राजा को हराकर ये बन्धक प्राप्त किये गये थे वह स्मिथ के मतानुसार काशगर के पास ही किसी प्रदेश का राजा था। युआन च्वाग ने लिखा है कि इन चीनी राजकुमारो के साथ उनके पद के अनुरूप बड़ा सम्मानपूर्ण व्यवहार किया गया, उनके रहने के लिये गर्मी, सर्दी और बरसात के दिनो मे अलग-अलग स्थानो पर बौद्ध विहारो मे समुचित व्यवस्था की गई। गर्मियो मे उनको शीतल स्थान मे रखने की दृष्टि से कपिश देश (काफिरिस्तान की पहाड़ियो) मे शकोला नामक विहार काबुल के उत्तर मे विशेष रूप से उनके निवास के लिये बनाया गया था। वर्षा ऋतु मे वे सम्भवतः गन्धार में कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) मे रहा करते थे। शीत ऋतु में इन्हें पूर्वी पजाब के **चीनभुक्ति** नामक प्रदेश मे रखा जाता था। यह कहा जाता है कि इन राजकुमारो ने सर्वप्रथम चीनभुक्ति मे रहते हुए नाशपाती और आड़ू (Pear and Peach) के फलो की खेती आरम्भ की। इससे पहले ये फल भारत मे नही होते थे। ये राजकुमार चीन लौटते हुए बहुमूल्य मणियो का और सोने का एक बड़ा सग्रह कपिश देश मे दान करते गये। उन्होने यह कार्य अपने प्रति प्रदर्शित उत्तम व्यवहार और उदारता से प्रेरित होकर किया था। इनके साथ रहने वाले भिक्षुओ ने इनकी स्मृति सुरक्षित बनाने के लिये अपने संघारामो की दीवारो पर इन अतिथियो के चीनी वेश-भूषा मे चित्र बनाये। ६३० ई० मे युआन च्वाग जब कपिश देश के इस सघाराम मे आया था तो उस समय तक वहाँ के भिक्षु इन चीनियो को याद करते थे और उनके सम्मान मे उत्सव किया करते थे। ६३३–३४ ई० मे यह चीनी यात्री चीनभुक्ति मे भी रहा था।[1]

---

१. युआन च्वांग के जीवनीलेखक ने इन चीनी राजकुमारो द्वारा कपिश के शकोला संघाराम में छोड़ी गई स्वर्णनिधि के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक कथा लिखी है कि इस निधि को वहाँ वैश्रवण या कुबेर की मूर्ति के पांवो के तले गाड़ दिया गया था। एक अधार्मिक राजा ने इस निधि को हथियाने का प्रयत्न किया, किन्तु विभिन्न अपशकुनों से भयभीत होकर उसने अपना यह प्रयास छोड़ दिया। उसके भिक्षुओं ने इस निधि का संघाराम की मरम्मत के लिये प्रयोग करना चाहा, किन्तु वे भी उस समय होने वाले अपशकुनो से भयभीत हो गये। जब युआन च्वांग यहाँ पहुँचा तो भिक्षुओं ने उसे अपने प्रभाव से यहाँ के देवता

कनिष्क को उत्तरी प्रदेशो की विजय मे कुछ समय बाद पराजय का भी मुह देखना पड़ा। चीनी सम्राट हो-ति (८९-१०५ ई०) का एक सेनापति पान-चाओ इस समय मध्य एशिया मे विभिन्न प्रदेशो की विजय कर रहा था। इससे कनिष्क की टक्कर हुई और कनिष्क को सघर्ष मे हारना पड़ा। इस विषय मे कुछ पुराने ग्रन्थो में यह लिखा है कि कनिष्क ने एक महान् आक्रमणकारी सेना का सगठन किया। वह तागदुम्बाश पामीर (त्सुर्नालिग) के दर्रों तक पहुच गया और जब उसने अपनी विजय की योजना लोगो को बताई तो उसके युद्धो से परेशान व्यक्तियो ने उसका अन्त कर दिया।[१] कनिष्क को यह विफलता सम्भवत अपने शासन-काल के अन्त मे मिली थी। उसके अभिलेखो से यह ज्ञात होता है कि उसने तेईसवे वर्ष तक शासन किया था। उसको अपने राज्य के आरम्भिक काल मे बडी सफलता मिली थी। उसने अधिकाश उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया था।

युआन च्वाग के कथनानुसार जब कनिष्क गन्धार प्रदेश मे शासन कर रहा था तो उसने अपने पड़ोस के सभी देशो पर विजय प्राप्त की थी, उसने अपनी सेना द्वारा पामीर पर्वतमाला के पूर्व तक का प्रदेश जीता था। भारत मे उसके राज्य की सीमा पूर्व मे बिहार प्रान्त तक थी। उसका साम्राज्य बिहार से बैक्ट्रिया तक विस्तीर्ण था।

को सन्तुष्ट करके सघाराम की मरम्मत के लिये आवश्यक धनराशि प्राप्त करने की प्रेरणा की। चीनी यात्री ने धूप-दीप जलाकर देवता की उपासना की, उसे विश्वास दिलाया कि इस राशि का कोई दुरुपयोग नहीं होगा। इसके बाद मजदूरो को इस निधि को खोदने के काम में लगा दिया। इस बार देवता ने कोई बाधा नहीं डाली और ७-८ फुट की गहराई पर एक बड़े ताम्रपात्र में रखी हुई स्वर्णराशि और मुक्तामणियां प्राप्त हुईं, संघाराम की आवश्यक मरम्मत के बाद यह शेष धन-राशि पुनः पूर्व स्थान पर गाड़ दी गई। (स्मिथ—अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, पृष्ठ २७९)।

१. स्मिथ—अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, कुछ विद्वानो ने कनिष्क का समय दूसरी शताब्दी ई० मानते हुए मध्य एशिया में पान-चाओ के विरुद्ध सेना भेजने वाले राजा को विम कदफिसस इस युक्ति के आधार पर माना है कि यदि कनिष्क इस चीनी सेनापति का समकालीन होता तो चीनी ऐतिहासिक सुप्रसिद्ध व्यक्ति होने के कारण उसका अवश्य उल्लेख करते। किन्तु इस युक्ति में बहुत बल नहीं है, क्योकि चीनी ऐतिहासिकों ने विम कदफिसस का नाम येन-माओ-चेन के रूप में लिखा है। यदि वह वस्तुत. पान-चाओ का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी होता तो वे इस बात का अवश्य उल्लेख करते।

बौद्धस्तूप--कनिष्क ने अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) को बनाया। संभवतः इसकी स्थिति से यह सूचित होता है कि उसका साम्राज्य उत्तर और पश्चिम में दूर तक फैला हुआ था। यहाँ उसने एक सुप्रसिद्ध बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया था। यह तेरह मंजिलों में चार सौ फुट ऊँचा और नक्काशी दार लकड़ी का बना हुआ था। उस युग में यह एक महान् आश्चर्यजनक वस्तु समझा जाता था। छठी शताब्दी ई० के आरम्भ में भारत आने वाले चीनी यात्री सुग युन ने इसके बारे में यह लिखा था कि यह तीन बार अग्नि से नष्ट हुआ, किन्तु धर्मनिष्ठ राजाओं ने इसका पुनः निर्माण किया। सातवीं शताब्दी ई० में भारत आने वाले चीनी यात्री युआन च्वाग ने इसमें भगवान् बुद्ध के पवित्र अवशेषों का उल्लेख किया है। भारतीय पुरातत्व विभाग ने पेशावर के निकट **शाहजी की ढेरी** नामक टीले की खुदाई करवाई है। यहाँ से एक स्वर्णमयी धातुमंजूषा प्राप्त हुई है। इसमें खरोष्ट्री लिपि में एक लेख है जिसमें यह बताया गया है कि महाराज कनिष्क के शासन में यह विहार बनवाया गया है। कोनौ के मतानुसार इस लेख में कनिष्क के राज्यकाल के प्रथम वर्ष का भी उल्लेख है। किन्तु अन्य विद्वान् इस पाठ को सदिग्ध समझते है। सब विद्वान् शाहजी की ढेरी को कनिष्क के सुप्रसिद्ध स्तूप का ध्वसावशेष मानते हैं। यहाँ से प्राप्त अभिलेख से दो मनोरजक तथ्य सूचित होते है। पहला तो यह कि युआन च्वाग द्वारा वर्णित इस अनुश्रुति मे सत्यता है कि कनिष्क ने भगवान् बुद्ध के पवित्र अवशेषो पर पुरुषपुर मे एक महान् स्तूप बनवाया था और दूसरा यह है कि इस स्तूप के निर्माण-कार्य को कराने वाला (नव कर्मिक) एक यूनानी शिल्पी अगिसल (Agesilos) था। कनिष्क का यह स्तूप चिरकाल तक भारत आने वाले चीनी और अरब यात्रियो के आकर्षण का केन्द्र बना रहा।

चतुर्थ महासभा--कनिष्क ने चौथी बौद्ध महासभा (संगीति) का आयोजन किया था। चीनी, तिब्बती और मगोली लेखको ने इसका वर्णन विस्तारपूर्वक किया है, किन्तु लका के इतिहासों मे इसका कोई वर्णन नही मिलता है। यह कहा जाता है कि कनिष्क प्रतिदिन एक बौद्ध भिक्षु से अपने अवकाश के समय मे बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन किया करता था। उसे इन ग्रन्थो को पढते हुए इस बात से बड़ी परेशानी हुई कि इनमे विभिन्न सम्प्रदायो ने परस्पर विरोधी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है, अत उसने अपने गुरु पार्श्व से यह निवेदन किया कि बौद्ध ग्रन्थो का एक ऐसा प्रामाणिक भाष्य बनाया जाना चाहिये जिसकी सहायता से सब प्रकार के विरोधी विचार, सन्देह और शंकाये दूर की जा सके। पार्श्व ने राजा के सुझाव को

स्वीकार कर लिया और इस कार्य के लिये उस समय के सुप्रसिद्ध पाँच सौ विद्वानो को आमन्त्रित किया गया। राजा इस महासभा की बैठक अपनी राजधानी मे करवाना चाहता था। कुछ लोगो का सुझाव इसे मगध के राजगृह मे उस स्थान पर करवाने का था जहाँ पहली बौद्ध महासभा हुई थी। किन्तु अन्त मे इसे कश्मीर के सुरम्य वातावरण मे कुण्डलवन नामक विहार मे करने का निश्चय किया गया। वसुमित्र को इसका सभापति और अश्वघोष को उपसभापति बनाया गया। यहाँ पाँच सौ बौद्ध विद्वानो ने अपने पवित्र धर्मग्रन्थो का गम्भीर अनुशीलन करते हुए बौद्ध वाङ्मय के तीनो पिटको पर विस्तृत टीकाये **महाविभाषा** के नाम से लिखी। जब इन टीकाओ का कार्य पूरा हुआ तो इन्हें ताम्रपत्रो पर अंकित कराकर इसी प्रयोजन के लिये बनाये गये एक स्तूप के भीतर रख दिया गया। यह सम्भव है कि किसी दिन सयोगवश ये टीकाये श्रीनगर के निकट उपलब्ध हो जाये। यदि ये उपलब्ध हुई तो इनसे तत्कालीन बौद्ध धर्म पर बहुमूल्य प्रकाश पड सकेगा। चतुर्थ बौद्ध महासभा मे जिस बौद्ध धर्म की व्याख्या की गई थी वह महायान बौद्ध धर्म था।

अगले पृष्ठो मे यह बताया जायगा कि कनिष्क की मुद्राओ पर भी बुद्ध की मूर्ति खडी हुई अथवा बैठी हुई दोनो स्थितियो मे मिलती है, उस पर **सकउमो बोदो** अर्थात् शाक्यमुनि बुद्ध का या केवल **बोदो** (बुद्ध) का लेख मिलता है। उसके समय मे बुद्ध की प्रतिमा को व्यापक रूप से बनाया जाने लगा था। पेशावर मे शाहजी की ढेरी से उपलब्ध स्वर्णमजूषा पर हमे बुद्ध की सम्भवत एक प्राचीनतम मूर्ति मिलती है। कनिष्क ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये अशोक की भाँति बडे प्रबल प्रयत्न किए। इसीलिये तिब्बती, चीनी और मगोलियन अनुश्रुतियो मे उसे अशोक के समान महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। किन्तु बौद्ध धर्म का प्रबल पोषक होते हुए भी वह अन्य धर्मो के प्रति सहिष्णुता एव उदारता की दृष्टि रखता था। यह बात उसके सिक्को पर बनी हुई मूर्तियो से स्पष्ट होती है। आगे यह बताया जायगा कि उसके सिक्को पर ईरानी, यूनानी, रोमन और भारतीय धर्मो के विभिन्न देवी देवता पाये जाते है और इनमे अधिक सख्या ईरानी तथा पारसी देवी देवताओ की है।

मुद्रायें—कनिष्क के शासन की एक बड़ी विशेषता उसके द्वारा विभिन्न प्रकार की मुद्राओ का प्रचार और प्रसार था। कनिष्क से पहले किसी राजा ने इतने अधिक प्रकारो वाली विभिन्न शैलियो की मुद्राये प्रचलित नही की थी। कनिष्क के सिक्को पर भारत के देवी देवताओ में केवल शिव और बुद्ध की प्रतिमाये पाई जाती

है। यूनानी देवताओं में उसने हेलियोस (Helios, सूर्य), सलीन (Salene) तथा हेफेस्टोस की मूर्तियाँ अंकित करवाईं। ईरानी देवताओं में मिहिर (सूर्य), माओ (चन्द्रमा), मन-ओ बेगो (चन्द्रमा) और आतश (अग्नि देवता), फर्रो (अग्नि देवता), अरलगनो (अग्नि), ओदो (वात, वायु), लोहरस्प (विद्युत्), शाओ सो रो (समृद्धि-देवता), अहुरमज्दा (पारसियों का परमेश्वर), ननपओ, ननैय्या या नना (एक सीरियन देवी), अरदोक्षो (समृद्धि की प्रतीक ईरानी देवी) के चित्र पाये जाते हैं। इनकी पहचान इनके चित्रों के साथ यूनानी भाषा में लिखे हुए इनके नामों से की जाती है। यहाँ उपर्युक्त देवताओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

(क) **भारतीय देवता**—कनिष्क की मुद्राओं पर भारतीय देवताओं में शिव और बुद्ध का चित्रण है। शिव का चित्रण तो कनिष्क से पहले के राजाओं के सिक्कों पर भी मिलता है। इस विषय में टार्न का यह मत है कि इसका चित्रण पहली बार विम कदफिसस की मुद्राओं पर हुआ है।[1] रैप्सन ने यह माना है कि मानवाकार में शिव की मूर्ति सर्वप्रथम गोण्डोफर्नीज के सिक्कों पर मिलती है। किन्तु डा० बनर्जी ने शिव के सिक्के सर्वप्रथम चलाने का श्रेय मोअ को दिया है।[2] कनिष्क की मुद्राओं पर शिव की मूर्ति छ विभिन्न रूपों में मिलती है।[3] कुछ सिक्कों में उन्हें दो भुजाओं वाला दिखाया गया है, इनके दायें हाथ में त्रिशूल है, बायें हाथ में कमण्डलु। चार भुजाओं वाले आकार में चार हाथों में डमरू, हार, कमण्डलु, त्रिशूल और मृगचर्म अथवा वज्र और पाश दिखाये गये है।[4]

बुद्ध का चित्रण मानवाकार रूप में सर्वप्रथम कब शुरू हुआ, इस विषय में विद्वानों में तीव्र मतभेद है। टार्न के मतानुसार मोअ की मुद्राओं पर बुद्ध की मूर्ति सबसे पहले अंकित की गई थी।[5] किन्तु मार्शल ने इसका खण्डन किया है। स्मिथ ने विम कदफिसस की कुछ मुद्राओं पर बुद्ध की मूर्ति मानी है।[6] किन्तु अन्य विद्वान् ऐसा नही मानते। अतः निर्विवाद रूप से बुद्ध का सर्वप्रथम सुस्पष्ट अंकन कनिष्क की मुद्राओं पर हुआ है। इन सिक्कों पर बुद्ध (बोदो) चार विभिन्न प्रकार की मुद्राओं

१. टार्न—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० ४०२।
२. बनर्जी—डेवेलपमेन्ट ग्राफ हिन्दू ग्राइकनोग्राफी, पृ०११९-२०।
३. भास्कर चट्टोपाध्याय—दी एज ग्राफ कुषाणाज, पृ० १७१।
४. टार्न—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० ४००।
५. टैक्सिला—खण्ड १ पृ० ७९-८१।
६. जर्नल ग्राफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, १८९७, पृ० ३००।

और स्थितियो मे मिलते है। कुछ सिक्को मे वे खड़े हुए है। उनका मुख प्रभामण्डल से सुशोभित है। उनके बाँये हाथ मे भिक्षापात्र है और दायाँ हाथ **वरद मुद्रा** मे आशीर्वाद देते हुए दिखाया गया है। यह भक्तो को बुद्ध के द्वारा अपने सरक्षण से निश्चिन्तता और निर्भीकता प्रदान करने के आश्वासन का प्रतीक है। दूसरे प्रकार की मुद्राओ मे प्रभामण्डलयुक्त बुद्ध खड़े हुए हैं और उनका दायाँ हाथ किसी बात को समझाने वाली **व्याख्यान** मुद्रा मे है। तीसरा प्रकार ब्रिटिश म्यूजियम की एक मुद्रा मे पाया जाता है । इसमे बुद्ध बैठे हुए है, उनका दायाँ हाथ उनके वक्षस्थल पर है, वे कोई युक्ति करते हुए **वितर्क मुद्रा** मे दिखाये गये है और बाये हाथ मे अमृत-घट है। चौथे मे दोनो हाथ वक्षस्थल पर जुड़े हुए है और इसे **धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा** कहा जाता है। बुद्ध के बोधि-ज्ञान के प्रतीक उष्णीष (सिर पर ऊचा उठा हुआ माग) तथा ऊर्णा (भौओ के बीच मे उभार) इन मुद्राओ पर अकित नही किये गये है।

(ख) **यूनानी देवता**--इनमे हेलिओस (Helios) या सूर्य देवता का अकन कनिष्क की स्वर्ण एव ताम्र मुद्राओ पर हुआ है। पहले यह बताया जा चुका है कि यूनानी राजा प्लेटो ने अपने सिक्को पर चार घोडो वाले रथ (Ruadriga) पर आरूढ सूर्य का चित्रण किया था तथा यह बुद्धगया के वेदिका स्तम्भ पर इस प्रकार रथारूढ सूर्य देवता की मूर्ति से मिलता है। किन्तु कनिष्क की मुद्राओ मे सूर्य का चित्रण इस परम्परागत शैली मे सर्वथा भिन्न प्रकार से हुआ है। इसमे उसे प्रभामण्डल-युक्त चेहरे वाला तथा बाये हाथ मे लम्बा राजदण्ड लिये दिखाया गया है। इम प्रकार सूर्य की मूर्ति कनिष्क से पहले हिन्द-यूनानी राजा फिलोवजीनस के सिक्को पर मिलती है। **सलीन** (Salene) या चन्द्र देवता की मूर्ति स्वर्ण-मुद्राओ पर सूर्य देवता जैसी ही बनी हुई है, किन्तु इसका उससे भेद करने के लिये इसके कन्धो के पीछे दूज के चाद का चिह्न बना हुआ है। **हिफेस्टोस** (Hephastos) यूनानियो का अग्नि देवता था। कनिष्क की स्वर्ण-मुद्राओ पर इसे दाढी वाले पुरुष के रूप मे चिमटे के साथ दिखाया गया है।

(ग) **ईरानी देवता**--ईरानी देवताओ मे मिहिर (सूर्य) की मूर्ति दाये हाथ मे नापने के यन्त्र (Callipers) के साथ दिखाई गई है। यह सम्भवत इस बात को सूचित करता है कि सूर्य को समय के मापने का साधन समझा जाता था। माओ (Mao) ईरानियो का चन्द्र देवता था। जेन्दावस्ता मे इसका नाम मास

है जो संस्कृत से मिलता है और इस बात को सूचित करता है कि चन्द्रमा को भी समय के नापने का साधन समझा जाता था । इसके हाथ मे मिहिर की भाति नापने के यन्त्र (Callipers) दिखाये गये है । **मनाम्रो बेगो** (Manaobago) हाफमैन के मतानुसार पारसी धर्म का बहुमान या वोहुमनु नामक देवता था, यह सृष्टि मे सभी प्राणियो के जीवन का मूल तत्व और सभी उत्तम वस्तुओ का प्रतीक माना जाता था । इसकी चतुर्भुज मूर्ति के तीन हाथो मे अग्नि दिखाई गई है । कन्धो के पीछे दूज का चॉद बना है । इसकी तुलना वैदिक युग के सोम देवता से की जाती है । **प्राञश** ईरान का अग्नि देवता था । कनिष्क की मुद्राओ मे इसे एक दाढी वाले देवता के रूप मे दिखाया गया है । इसके दाये हाथ मे हार है और बायाँ हाथ कमर पर रखा है, साथ मे चिमटा भी है । **फरँरो** भी ईरान का अग्नि देवता था, किन्तु कनिघम ने इसकी तुलना पर्जन्य देवता से की है । इसके कुछ सिक्को पर इसके एक हाथ मे एक थैली है, कनिघम इसे अनाज के बीजो से भरी थैली मानते है । उनका यह कहना है कि पर्जन्य या बादल से अन्न उत्पन्न होता है, इसी को प्रतीक रूप मे थैली द्वारा सूचित किया गया है । **म्रोरलग्नो** को बैन्फी ने ईरानियो के युद्ध देवता वरेथ्रग्न था आधुनिक ईरान मे बहराम नामक वीर पुरुष से अभिन्न समझा है । वरेथ्रग्न का शब्दार्थ शत्रुओ का विध्वस करने वाला है और इसका सम्बन्ध सस्कृत के 'वृत्रघ्न' से है । इस देवता का चित्रण नर रूप मे मुकुट एव राजा जैसे वस्त्र और शिरस्त्राण पहने हुए कनिष्क के सोने के सिक्को पर किया गया है । इसके शिरस्त्राण पर एक पक्षी बैठा दिखाया गया है, इसके दायें हाथ मे बरछी और बॉये हाथ मे तलवार है।

ओ-म्रदो यह ईरान का वायु अथवा सस्कृत का वात देवता है । सिक्को पर एक दाढी वाले पुरुष के रूप मे इसे चित्रित किया जाता है। वायु के प्रभाव को दिखाने के लिये इसके बालो को उडते हुए दिखाया जाता है और यह अपने उड़ते वस्त्रो के आचल को अपने दोनो हाथो से थामे हुए चित्रित किया जाता है । **लोहरस्प** विद्युत देवता अथवा सस्कृत का 'अपानपात्' समझा जाता है । इसे घोडे पर सवार दिखाया जाता है । **म्रहुरमज्द** पारसियो का सबसे बड़ा देवता है । इसे दो सिर वाले घोडे पर सवार के रूप मे अकित किया गया है ।

ननाा—इस देवी की पूजा पूर्वी देशो मे अत्यन्त प्राचीन काल से होती थी। असीरिया मे इसे इस्तर (Ishtar), फिनिशिया मे अस्तरते (Astarte) और सीरिया में ननी (Nani) कहा जाता था । चौथी शताब्दी पूर्व मे ईरान मे इसकी

पूजा लोकप्रिय हुई। पारसी ग्रन्थों में इसे अनैतिस (Anaitis) के रूप में बहुत महत्व दिया गया। वर्तमान ईरान में इसे अनहिद (Anahid) कहा जाता है। यह सभवत अनाहित अर्थात् शुद्ध, पवित्र और निष्पाप देवी समझी जाती थी, उर्वरता की प्रतीक थी। गत तीसरे अध्याय (पृ० ४७) में यह बताया गया है कि यह आमू नदी की देवता मानी जाती थी। कई बार इसे शिव के साथ भी चित्रित किया गया है। उस समय इसे दुर्गा, अम्बिका या उमा का रूप समझा जाना चाहिये। नना का चित्रण कई रूपों में किया गया है। कई बार वह धनुष-बाण धारण किये हुए है, बायें हाथ में वह धनुष लिये हुए है और दायें हाथ से तरकश से बाण निकाल रही है। इस रूप में यह यूनानियों की उर्वरता और प्रेम की प्रतीक आरतेमिस (Artemis) नामक देवी से बहुत साम्य रखती है। इस देवी के कुछ सिक्कों पर बना दूज का चाँद चन्द्रमा के साथ इसके विशेष सम्बन्ध को सूचित करता है। कुषाण राजा चूंकि महान् चन्द्रवश (ता-यूइचि) के थे, अत इन्हे चन्द्रमा से सम्बन्ध रखने वाली देवी बहुत प्रिय थी। कनिष्क की स्वर्ण और ताम्र मुद्राओं पर इसके विभिन्न नाम नना (Nana), ननैया (Nanaia), ननपओ तथा ननो पाये जाते है। श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने इसकी तुलना बिलोचिस्तान में पूजी जाने वाली बीबी नानी से तथा कुल्लू घाटी की नैना देवी से की है (ए० इ० यू०, पृ० १४७)।

अरदोक्षो—यह ईरानियों की देवी थी। यह अहुरमज्दा की कन्या और अमेशस्पन्तो की बहन मानी जाती है। अपने भक्तों की पुकार पर यह उनकी सब प्रकार की सहायता करती है। प्राचीन काल के ईरानी महापुरुष यिम, जरथुस्त्र, कवविश्तास्प इसकी पूजा करते थे। इसने उन्हें उनकी सब अभीष्ट वस्तुयें—सम्पत्ति, विजय और सन्तान प्रदान की थी। इससे स्पष्ट है कि अरदोक्षो (Arodoksho) समृद्धि और सौभाग्य की देवी है। यह भारत की लक्ष्मी या श्री तथा यूनानी टाइखी (Tyche) या डिमिटर (Demeter) अर्थात् धान्य देवता नामक देवी से बहुत सादृश्य रखती है। कनिष्क की मुद्राओं पर यह प्रभामण्डलयुक्त तथा सिंहासन पर बैठी हुई देवी के रूप में दिखाई जाती है। इसके हाथों में **समृद्धिशृंग** (Cornucopia), हार, फूल अथवा गेहूँ का पौधा होता है। समृद्धिशृंग इस देवी की एक प्रधान विशेषता है। यह फलो, फलों तथा अनाज से भरा हुआ, समृद्धि का प्रतीक समझा जाने वाला बकरी का सींग होता था। गुप्त सम्राटों की मुद्राओं पर भी अरदोक्षो को एक हाथ में समृद्धिशृंग लिये हुए दिखाया गया है।

कनिष्क के साम्राज्य का प्रशासन--कनिष्क अपने विशाल साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध और संचालन क्षत्रपों और महाक्षत्रपों का दर्जा रखने वाले अनेक प्रान्तीय शासकों के माध्यम से किया करता था। इस विषय में उसने पहलवों और शकों के समय से चली आने वाली पुरानी परम्परा का अनुसरण किया था। उसके राज्यकाल के कुछ अभिलेखों में विभिन्न प्रान्तों में शासन करने वाले क्षत्रपों का उल्लेख है। तृतीय वर्ष के **सारनाथ** के अभिलेख में **भिक्षु बल** द्वारा बोधिसत्व की मूर्ति और छत्र यष्टि प्रतिष्ठापित करने की बात लिखी गई है। यह मूर्ति मथुरा के लाल पत्थर की है और यहाँ से बनारस भेजी गई प्रतीत होती है। इस मूर्ति पर अंकित अभिलेख में **महाक्षत्रप खरपल्लान** और **क्षत्रप वनस्पर** के नाम आये हैं।[1] ये दोनों संभवतः पिता पुत्र थे और कनिष्क के साम्राज्य के पूर्वी भाग का शासन कर रहे थे। उसके उत्तरी प्रान्त के शासकों का भी कुछ अभिलेखों में वर्णन मिलता है। **जेदा** का संवत् ११ (८९ ई०) का अभिलेख सिन्ध नदी के पश्चिमी तट पर ओहिन्द के पास जेदा नामक गाँव से मिला है।[2] यह सर्वास्तिवाद की वृद्धि के लिये खुदवाये गये एक कुएं के विषय में है। यह संभवतः तक्षशिला के ताम्रपत्र में वर्णित महाराज मोअ के चुक्ष प्रदेश के एक क्षत्रप लियक कुसुलुक का वंशज था। इसी प्रकार रावलपिंडी के निकट १८ वें वर्ष (९६ ई०) के माणिक्याला (जिला रावलपिंडी) के अभिलेख में **वेशपशि** नामक क्षत्रप का वर्णन है। इसी में **गुषण-वंश-वर्धक** दण्डनायक (सेनापति) **लल** का वर्णन किया गया है। यह भी सम्भवतः कोई क्षत्रप रहा होगा। कुछ विद्वानों ने यह भी कल्पना की है कि पश्चिमी भारत का क्षत्रप क्षहरात नहपान भी सम्भवतः उसका इसी प्रकार का प्रान्तीय शासक रहा होगा। पेरिप्लस ने अपने विवरण में लिखा है कि उस समय पश्चिमी भारत में माम्बरोस का शासन था। इसकी पहचान नहपान के साथ की जाती है। यह सम्भवतः अत्यधिक दूरवर्ती सामन्त होने के कारण अन्य क्षत्रपों की अपेक्षा मुद्रायें प्रचलित करने का विशेष अधिकार रखता था।

हमें इस बात का निश्चित ज्ञान नहीं है कि कनिष्क का अन्त किस प्रकार हुआ। विलुप्त संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवादों से यह प्रतीत होता है कि जूलियस सीजर और नेपोलियन की भांति कनिष्क का अन्त अतीव दुःखद रूप में हुआ। इन ग्रन्थों में यह कहा गया है कि कनिष्क का एक अत्यन्त चतुर मन्त्री **माठर** था। उसने

१. ए० इं० खण्ड ८, पृष्ठ १७६।
२. स्टेन कोनो--का० इं० इं० खण्ड २, संख्या ७५।

कनिष्क को यह परामर्श दिया कि वह समूचे भूमण्डल को जीतकर अपना वशवर्ती बनाये। राजा ने उसकी सलाह मानकर अपने योग्य सेनापतियों को बुलाया और विशाल सेना को एकत्र किया। इसके बाद उसने अपनी सेनाओं की सहायता से तीनों दिशायें जीत ली। केवल उत्तरी देश ही उसके हमलों से बचे रहे। अन्त में राजा ने इस दिशा में आक्रमण करने का निश्चय किया और तैयारी शुरू की। जनता सम्भवत. उसकी इन लडाइयों से ऊब चुकी थी। लोग यह कहने लगे कि राजा बड़ा लालची और क्रूर है, उसमें सन्तोष की मात्रा बिल्कुल नही है, वह चारों दिशाओं को जीतना चाहता है। हमारे सम्बन्धी सैनिक हमसे बहुत दूर सीमा प्रदेशों में लड रहे है। यह स्थिति असह्य है। हम सबको मिलकर इस राजा को समाप्त कर डालना चाहिये। उसके बाद ही हम सुखी रह सकते है। कुछ समय बाद जब राजा बीमार पड़ा तो लोगों ने उसे रजाई में ढक दिया, एक आदमी उस पर बैठ गया, राजा तत्काल उसी स्थान पर दिवंगत हो गया।

अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि कनिष्क ने २३ वर्ष तक शासन किया था। मथुरा जिले के **माट** नामक ग्राम के एक टीले से मिले ब्राह्मी अभिलेख मे किसी **पुण्य-वम** द्वारा बोधिसत्व की एक मूर्ति कनिष्क के २३वे संवत् की ग्रीष्म ऋतु मे स्थापित करने का वर्णन है। यह कनिष्क के राज्यकाल का अन्तिम अभिलेख है। इसके बाद संवत् २४ का **महाराज देवपुत्र शाही वासिष्क** का एक अभिलेख मथुरा के निकट **ईसापुर** गाँव से मिला है, और यह सूचित करता है कि उस समय कनिष्क का उत्तराधिकारी राजगद्दी पर बैठ चुका था। इस सम्बन्ध मे एक अभिलेख कनिष्क के संवत् २२ का साची से मिला है। इसमे **वसु कुषाण** नामक राजा के समय मे विद्यावती द्वारा बुद्ध की एक मूर्ति की स्थापना करने का वर्णन है। ऐतिहासिकों के सामने यह एक समस्या रही है कि जब कनिष्क के २३ संवत् तक के लेख मिलते है तो २२वे वर्ष मे यह वसु कुषाण नामक व्यक्ति कहाँ से आ गया। चूंकि इस वसु कुषाण के साथ केवल राजा शब्द का प्रयोग है और उसके साथ महाराज देवपुत्र आदि के विशेषण नही लगाये गये है, अत यह कल्पना की गई है कि वसु कुषाण सम्भवत कुषाण वंश का कोई राजकुमार होगा जो उस समय साची के प्रदेश मे राजा की ओर से शासन कर रहा था। कुछ विद्वान् वसु

१. सिलवया लेवी ने धर्मपिटक के चीनी अनुवादों के आधार पर उपर्युक्त वर्णन लिखा है। देखिये—इण्डियन एण्टीक्वेरी १९०३, पृ० ३८८, स्मिथ—अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, पृष्ठ २८५–८६।

कुषाण को कनिष्क के बाद गद्दी पर बैठने वाले वासिष्क का ही एक अन्य रूप समझते है। यदि यह सत्य है तो कनिष्क ने अपने राज्य के अन्तिम समय में अपने साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिमी भाग की व्यवस्था के लिये अपने पुत्र को साची मे नियुक्त किया होगा।

कनिष्क की एक मूर्ति मथुरा के निकट माट गॉव मे मिली है। इसका सिर नही है, किन्तु शेष वेषभूषा भली भाति दिखाई देती है। यह मूर्ति मथुरा सग्रहालय मे है। यह सभवत कुषाणवंशी राजाओ के उस देवकुल की होगी जिसमे राजाओ के मरने के बाद उनकी प्रतिमाये स्थापित की जाती थी। चौदहवे अध्याय मे इसका वर्णन किया जायगा।

कनिष्क के उत्तराधिकारी

वासिष्क (१०२-१०६ ई०)—यह सभवत कनिष्क का पुत्र था, पिता के जीवनकाल मे मध्य भारत के शासन की देखभाल कर रहा था। शिलालेखो से ज्ञात होता है कि इसका शासनकाल केवल चार वर्ष का ही था, क्योकि कनिष्क के सवत् २८ मे हमे हुविष्क के गद्दी पर बैठने की सूचना एक अभिलेख से मिलती है। वासिष्क का सबसे पहला लेख सवत् २४ (१०२ ई०) का है। यह मथुरा जिले से पाया गया है। इससे यह सूचित होता है कि इसका शासन मथुरा के आसपास के प्रदेशो पर था। **महाराज राजातिराज देवपुत्र शाहि वासिष्क** के शासनकाल मे सवत् २८ का एक ब्राह्मी लेख साची सग्रहालय मे विद्यमान बोधिसत्व मूर्ति के पादपीठ पर अकित है। इसमे वेर की पुत्री **मधुरिका** द्वारा धर्मदेव के सघागम मे बुद्ध की एक मूर्ति स्थापित करने का वर्णन है। इससे यह ज्ञात होता है कि वासिष्क का शासन साची के प्रदेश मे भी था। इसके बाद हमे वासिष्क का कोई लेख नही मिलता है। भारत के किसी अन्य प्रदेश मे भी इसका कोई लेख नही मिला है। इससे यह सूचित होता है कि कुषाण साम्राज्य के दूरवर्ती प्रदेशो पर अब उसका शासन और नियन्त्रण नही रहा था। किन्तु यदि राजतरगिणी (१। १६८) मे वर्णित हुष्क, जुष्क और कनिष्क नाम वाले तीन राजाओ में से जुष्क को वासिष्क समझा जाय तो हमे कश्मीर मे इसका शासन मानना पडेगा। कल्हण ने यह लिखा है कि जुष्क ने कश्मीर मे जुष्कपुर की तथा जयस्वामीपुर की स्थापना की थी। स्टाइन के मतानुसार जुष्कपुर वर्तमान जकर नामक स्थान है। कुछ इतिहासकार वासिष्क को आगे बताये जाने वाले आरा अभिलेख के कनिष्क द्वितीय के पिता वाझेष्क से अभिन्न समझते है। वासिष्क के नाम वाली सोने या ताँबे की

कोई मुद्रा नही मिलती। इससे यह सूचित होता है कि इसके समय में इसका **साम्राज्य क्षीण** होने लगा था। यद्यपि हमें इसकी क्षीणता के कारणों का कोई **प्रामाणिक** ज्ञान नही है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्षीणता क्षणिक थी, **क्योंकि** इसके अगले उत्तराधिकारी हुविष्क के समय में साम्राज्य पुनः उत्कर्ष **के** शिखर की ओर अग्रसर होने लगा था।

हुविष्क (१०६-१३८ ई०) -यह वासिष्क के बाद स० २८ (१०६ ई०) में गद्दी पर बैठा, क्योंकि स० २८ के देवपुत्र शाहि हुविष्क के शासनकाल के एक अभिलेख में **कनकसरुकुमान्** नामक व्यक्ति द्वारा ब्राह्मणों के लिये कई दान दिये जाने का वर्णन है। इसमें उसने अपने को **खरासहोरा** तथा **वकन** नामक प्रदेशों का शासक बताया है। वकन अफगानिस्तान का वखा अथवा वदख्शा का प्रदेश समझा जाता है। वदख्शा के शासक का मथुरा आकर दान करना यह सूचित करता है कि हुविष्क का शासन अफगानिस्तान जैसे दूरवर्ती प्रदेशों पर था। साची से भी हुविष्क के समय का सवत् २८ का लेख मिला है। इन सबसे १०६ ई० में उसके गद्दी पर बैठने की सूचना मिलती है। साची के अभिलेख में उसे केवल **देवपुत्रशाही** की उपाधि दी गई है और उसके साथ सम्राट की पदवी के सूचक महाराज राजाधिराज के पद नही लगाए गए है। ये उपाधियाँ सवत् ४१ से पहले के किसी लेख में नही मिलती है। अत डा० कोनो ने यह कल्पना की है कि इस समय कुषाणों का वास्तविक अधीश्वर हुविष्क के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति था, जो वदख्शा के प्रदेश में रहा करता था। किन्तु यह कल्पना यथार्थ नही प्रतीत होती है। उस समय सम्राट् की पदवियों के सम्बन्ध में कोई निश्चित सार्वभौम नियम नही थे जिनके आधार पर कोई परिणाम निकाला जा सके। **कनकसरुकुमान** के उपर्युक्त लेख में यह स्पष्ट है कि मथुरा में हुविष्क का शासन निर्विवाद रूप से था।

हुविष्क के ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों के अभिलेख मथुरा, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त **और** पूर्वी अफगानिस्तान से उपलब्ध हुए है। काबुल शहर से ३० मील पश्चिम में **वर्दक** या **खवत** नामक स्थान में एक स्तूप के खण्डहरों की खुदाई में ताँबे का एक भद्रघट मिला था। इस पर हुविष्क के राज्यकाल के ५१वे (१२९ ई०) वर्ष का एक लेख मिला है।[1] इसमें **वग्रमरेग** नामक व्यक्ति द्वारा वग्रमरेगविहार के एक स्तूप में भगवान् शाक्य मुनि के शरीर को प्रतिष्ठापित करने का वर्णन है और यह कहा गया है कि इस पुण्यकार्य (कुशलमूल) का लाभ महाराज राजाधिराज हुविष्क

१. **स्टेन कोनो—का० इं० इं० खण्ड २, पृ० १६६।**

को, उसके माता पिता को, उसके भाई हुष्थुन मरेग को तथा उसकी जाति के मित्रो और साथियो को प्राप्त हो। यह विहार महासाधिक सप्रदाय के आचार्यो का था। इससे न केवल अफगानिस्तान के सुदूरवर्ती प्रान्त पर हुविष्क के साम्राज्य की सत्ता सूचित होती है, अपितु यह भी ज्ञात होता है कि उन प्रान्तो की प्रजा की पारलौकिक कमाई मे से उसे अग्रभाग मिल रहा था और अफगानिस्तान मे शाक्यमुनि की पूजा होती थी। इस अभिलेख मे हुविष्क के साथ देवपुत्र का विशेषण नही है। किन्तु ५१वे (१२९ ई०) वर्ष का एक लेख मथुरा सग्रहालय की एव बौद्धमूर्ति के नीचे मिलता है, इसमे उसे महाराज देवपुत्र कहा गया है[1] (ए० इं० खण्ड १० पृ० १०५)। राजतरगिणी से हमे हुविष्क के कश्मीर मे शासन करने का प्रमाण मिलता है। कल्हण के कथनानुसार हुष्क अर्थात् हुविष्क जुष्क और कनिष्क का भाई था, उसने हुष्कपुर की स्थापना की थी। इसकी पहचान स्टाइन ने सामरिक महत्व रखने वाले स्थान बारामूला दर्रा (वराह मूल द्वार) के निकट उष्कुर नामक आधुनिक गाँव मे की है। बारामूला वितस्ता नदी (झेलम) के तट पर पश्चिम दिशा से कश्मीर के स्वाभाविक प्रवेशद्वार पर अवस्थित है। ७ वी शताब्दी मे चीनी यात्री युआनच्वाग ने हुष्कपुर में एक बौद्ध मठ का वर्णन किया है, अल्बेरूनी ने भी ऊष्कारा के रूप मे इसका उल्लेख किया है। आजकल यहाँ एक प्राचीन स्तूप के अवशेष पाये गये है। हुविष्क ने मथुरा मे अपने वश के देवकुल की भी मरम्मत करवायी थी। हुविष्क के स० २८ तथा स० ६० तक के अभिलेख मिले है, अत उसका राज्यकाल १०६ ई० से १३८ ई० तक समझा जाता है।

यह बडी समृद्धि का युग था। इसकी सूचना हमे हुविष्क द्वारा प्रचलित की गई स्वर्ण एवं ताम्र मुद्राओं से मिलती है। सोने के सिक्को के अग्रभाग मे सम्राट की आवक्ष मूर्ति है, इसमे हुविष्क ने रत्नजटित वस्त्र और ऊँची अथवा चपटे सिर वाली अलकृत शिरोभूषा धारण कर रखी है. उसके हाथ में साम्राज्य के शासन का सूचक राजदण्ड है। ताम्र मुद्राओ के पुरोभाग मे राजा को विभिन्न आसनो या स्थितियो मे दिखाया गया है, जैसे हाथी पर सवारी करते हुए, शय्या पर लेटे हुए। गजारूढ दशा मे उसकी मुद्राए अधिक सख्या मे मिलती है। हुविष्क की मुद्राओं के पृष्ठभाग मे कनिष्क के सिक्कों की भाँति विभिन्न धर्मों के देवी देवताओं का चित्रण किया गया है। इसकी मुद्राओं पर भारतीय और विदेशी देवता कनिष्क की तुलना मे अधिक सख्या मे मिलते है। कनिष्क के सिक्कों पर भारतीय देवताओं में केवल शिव और

१. स्टेन कोनौ—का० इं० इं० खण्ड, २ पृ० १६६।

बुद्ध का चित्रण है किन्तु हुविष्क के सिक्को पर हमे उमा (ओम्मो) उसके पुत्र स्कन्द (स्कन्दो) कुमार (कोमारो) विशाख (विजगो) महासेन (मासेनो) की मूर्तियाँ मिलती है, कई बार शिव के साथ उमा के स्थान पर नना नामक विदेशी देवी का चित्रण किया गया है। इसके सिक्को मे शिव को विभिन्न रूपो मे दिखाया गया है। कई बार उनको तीन सिरवाली मूर्ति के रूप मे तथा हाथो मे विभिन्न प्रकार की वस्तुए—वज्र, त्रिशूल, मृग, हार, दण्ड, चकरी लिये प्रदर्शित किया गया है। इनकी पत्नी उमा के हाथ मे कमल अथवा समृद्धि-शृग (Cornucopia) दिखाया गया है। ईरानी देवताओ मे मिहिर (सूर्य) माओ (चन्द्रमा), वात (वायु), लहरस्प (विद्युत्), वरेथ्रघ्न, आतश (अग्निदेवता), फर्रो (साम्राज्य की महत्ता की अधिष्ठात्री देवी), बहुमन, नना या ननशो, अरदोक्षो (समृद्धि की प्रतीक लक्ष्मी) के अतिरिक्त हुविष्क के सिक्को पर शकियर तथा औरनोम के चित्र मिलते है। यूनानी देवताओ मे हिराक्लीज तथा सिकन्दरिया मे पूजी जाने वाली देवी सिरापिस (Serapis) और रोम की नगरी को शरीरधारिणी देवी के रूप मे प्रकट करने वाली रियोन (Rion) या रोमा देवी (Roma) की भी मूर्ति मिलती है।

कनिष्क द्वितीय—हुविष्क के ही शासनकाल के ४१वे वर्ष (११९ ई०) का एक अभिलेख सिन्ध नदी के दक्षिणी तट पर अटक से १० मील नीचे आरा नाम के एक नाले मे मिला है। इसमे **महाराज राजाधिराज देवपुत्र कईसर वाझेष्क पुत्र कनिष्क** के राज्यकाल मे पोषपुरिपुत्र अर्थात् पेशावरियो के बेटे दशव्हर द्वारा एक कुआ खुदवाने का उल्लेख है। इसमे वाझेष्क की पहचान सब विद्वानो ने कनिष्क के उत्तराधिकारी वासिष्क से की है। हुविष्क, वासिष्क का उत्तराधिकारी था और उसने स० २८ से स० ६० तक शासन किया। उसके राज्यकाल मे स० ४१ मे कनिष्क कहाँ से आ गया, यह एक बडी जटिल समस्या है। विद्वानो ने इसका यह समाधान किया है कि यह सभवत कनिष्क द्वितीय था। आरा अभिलेख की उपर्युक्त उपाधियो से यह प्रतीत होता है कि वह एक स्वतन्त्र सम्राट था। ल्यूडर्स ने सर्वप्रथम इन उपाधियो की एक बडी विशेषता पर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया था कि ये उस समय के चार बडे देशो के राजाओ की उपाधियाँ थी। महाराज भारतवर्ष के सम्राटो की, राजाधिराज ईरानी सम्राटो की, देवपुत्र चीनी सम्राट की तथा कइसर (Caesar) जूलियस सीजर आदि रोमन शासको की पदवी थी। हुविष्क के राज्यकाल मे कनिष्क द्वितीय का उपर्युक्त महान् उपाधियो के साथ शासन करना ऐतिहासिको के लिए एक बड़ी पहेली रहा है। ल्यूडर्स ने इसका समाधान

इस प्रकार किया है कि वासिष्क की मृत्यु के बाद कुषाण साम्राज्य का बंटवारा उसके पुत्रों में हो गया। इसके अनुसार कनिष्क द्वितीय उत्तरी प्रदेशो पर शासन कर रहा था और हुविष्क भारतीय प्रदेशो का अधीश्वर था। बाद में हुविष्क उत्तरी प्रदेशो का भी स्वामी बन गया। यह बात हमें १२९ ई० के उपर्युक्त वर्दक अभिलेख से ज्ञात होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कनिष्क द्वितीय शीघ्र ही दिवगत हो गया। इसलिये हमें उसके शासन-काल के अन्य अभिलेख नही मिलते है। ल्यूडर्स की इस कल्पना पर यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि यदि कनिष्क हुविष्क के साथ सयुक्त रूप से शासन कर रहा था तो उसने इतनी गौरवपूर्ण उपाधियाँ क्यो धारण की। इसका कारण स्पष्ट है कि उस समय सयुक्त रूप से शासन करने वाले उपराज (Viceroys) प्रायः इस प्रकार की बडी-बडी उपाधियाँ धारण किया करते थे। पिछले अध्याय मे इस प्रकार की गौरवशाली पदवियाँ धारण करने वाले अयस प्रथम और अयिलिष का उल्लेख किया जा चुका है। कुषाण साम्राज्य के पश्चिम मे सासानी सम्राटो के प्रान्तीय शासक भी ऐसी गौरवपूर्ण उपाधियाँ धारण करते थे, अत. कनिष्क द्वितीय द्वारा इन उपाधियो का धारण करना तत्कालीन परिस्थितियो मे स्वाभाविक प्रतीत होता है। यदि इस कनिष्क को हुविष्क का भाई माना जाय तो राजतरगिणी मे वर्णित कनिष्क सभवत यही होगा। उसने कश्मीर की घाटी मे कनिष्कपुर नामक नगर की स्थापना की थी। इसकी शिनाख्त वर्तमान समय मे कनिसपुर नामक गाँव से की जाती है।

वासुदेव प्रथम--हुविष्क का उत्तराधिकारी वासुदेव था। किन्तु हमे वासुदेव के राज्यारोहण की निश्चित तिथि का ज्ञान अभी तक नही हो सका है। वह संभवत. १३८ ई० से १४२ ई० के बीच की अवधि मे किसी समय राजगद्दी पर बैठा, क्योकि हमे हुविष्क का अन्तिम लेख स० ६० अर्थात् १३८ ई० का मिलता है और उसके उत्तराधिकारी वासुदेव का पहला अभिलेख स० ७४ अर्थात् १४२ ई० का मिला है। इस नवीन कुषाण सम्राट का नाम भागवत-सप्रदाय के परम आराध्य श्री कृष्ण की पवित्र स्मृति मे रखा गया प्रतीत होता है, यह इस बात को सूचित करता है कि विदेशो से आने वाले कुषाण किस प्रकार भारतीय सस्कृति के गहरे रग मे रगे जा चुके थे। इसकी मुद्राओ से यह प्रकट होता है कि अभी इन सम्राटो की वेशभूषा पर विदेशी प्रभाव था, किंतु वे भारतीय धर्म के परम उपासक बन गये थे। वासुदेव के सिक्को पर कनिष्क और हुविष्क के सिक्को की भाँति विभिन्न धर्मों के देवी देवता प्रचुर सख्या में उपलब्ध नही होते है। इसकी मुद्राओ के पृष्ठ भाग पर केवल तीन ही देवता शिव, अरदोक्षो और नना पाये जाते है। इनमे पहले दो देवता अधिक संख्या मे उपलब्ध

होते है। वस्तुत. ये दोनो देवता उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भारत के मुद्राशास्त्र के इतिहास मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते है, क्योकि अगली कई शताब्दियो तक ये दोनां देवता विभिन्न वशो की मुद्राओ पर अकित किये जाते रहे। वासुदेव का नाम यद्यपि वैष्णव सप्रदाय का है तथापि उसके सिक्को पर शिव का ही प्राधान्य है। इसके सिक्को पर शिव निम्नलिखित तीन रूपो मे पाये जाते है-- (क) शिव नन्दी के आगे खडे है, इनके तीन मुख और दो भुजाये है, इनके दो हाथो मे माला और त्रिशूल है। (ख) नन्दी के आगे शिव के हाथ मे माला और त्रिशूल है, इसमे शिव का एक ही मुख है। (ग) इसमे शिव के तीन सिर और चार भुजाये है। दाये दो हाथो मे पाश और कमण्डलु तथा बाये दो हाथो मे त्रिशूल और बाघम्बर है, उनके पीछे नन्दी खडा है।

मथुरा संग्रहालय मे कुषाण युग की एक मूर्ति मे एक राजा अपने एक साथी के साथ शिवलिंग की ओर श्रद्धा-भक्ति से बढ रहा है। दोनो व्यक्तियो ने कुषाण वेश धारण कर रखा है, इनमे से एक सभवत वासुदेव प्रतीत होता है।[१]

वासुदेव के साम्राज्य की सीमाओ का हमे निश्चित ज्ञान नही है। उसका कोई भी अभिलेख खरोष्ठी लिपि मे अथवा उत्तर-पश्चिमी भारत मे नही मिला है, लगभग सभी लेख ब्राह्मी लिपि मे मथुरा और उसके आसपास के प्रदेशो से ही उपलब्ध हुए है। इससे यह सूचित होता है कि उत्तर-पश्चिमी भारत के अधिकाश प्रदेश वासुदेव के कुषाण साम्राज्य मे सम्मिलित नही थे और उसका शासन उत्तर प्रदेश तक ही सीमित था। इस समय के उत्तर-पश्चिमी भारत मे कुषाणो के साम्राज्य की क्षीणता पर प्रकाश डालने वाली कोई प्रामाणिक सामग्री नही मिलती, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने के कारण विभिन्न प्रान्तो के स्थानीय कुषाण शासक स्वतन्त्र राजा बन बैठे। कुषाण साम्राज्य की यह क्षीणता वासुदेव की स्वर्ण एव ताम्र मुद्राओ से भी सूचित होती है। कुछ स्वर्ण मुद्राएँ तो बहुत ही सुन्दर बनी हुई है, इनमे स्वर्ण की मात्रा और मानदण्ड इसके पूर्ववर्ती राजाओ जैसा है किन्तु अन्य सिक्को मे, विशेषत ताँबे के सिक्को मे पहले सिक्को जैसी सफाई और कला की उत्कृष्टता नही दिखाई देती है। वासुदेव के राज्यकाल का अन्तिम अभिलेख संवत् ९८ अर्थात् १७६ ई० का है। अत इसके शासन का की समाप्ति इसी के आसपास समझी जाती है। डा० अल्तेकर ने इसकी मृत्यु १८० ई० मे मानी है।[२]

---

१ जर्नल आफ इण्डिया सोसाइटी आफ आर्टस, खण्ड ४, १९३६, पृ० १३०।
२. अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज, पृ० १३।

कनिष्क तृतीय (१८०–२१०ई०)—वासुदेव प्रथम के बाद कुषाणो का क्रमबद्ध इतिहास जानने के साधन अभी तक प्राप्त नही हो सके है। इस विषय मे कोई निश्चित पुरातत्वीय अथवा ऐतिहासिक सामग्री नही है, केवल मुद्राओं के आधार पर कुछ अनुमान किये गये है। इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता मे सोने के कुछ खोट वाले (Debased) सिक्के हैं, इनके अग्रभाग मे वासुदेव की मुद्राओ जैसे चिह्न पाये जाते है, इन पर ब्राह्मी मे **शाम्रोनानोशाओ कनेष्को** का लेख है। इनके पृष्ठभाग मे वासुदेव की मुद्राओ की भाँति शिव और नन्दी बने हुए है। कुछ विद्वानो ने इन्हें कनिष्क तृतीय की मुद्राएँ समझा है और इसका शासनकाल १८० से २१० ई० माना है। किन्तु, इस विषय मे निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि यह राजा वासुदेव के बाद हुआ। इसके सिक्के पजाब, सीस्तान, अफगानिस्तान, कश्मीर और बैक्ट्रिया मे पाये गये है। इनसे यह सूचित होता है कि इसका राज्य इन सब प्रदेशो मे फैला हुआ था। दक्षिण पूर्व मे सम्भवत २०० ई० तक मथुरा इसके साम्राज्य मे बना रहा। किन्तु इसके बाद दक्षिण-पूर्वी पजाब और उत्तर प्रदेश यौधेयो तथा नागो के विद्रोह के कारण स्वतन्त्र हो गये। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

कनिष्क तृतीय अपने साम्राज्य का शासन राज्यपालो या क्षत्रपो की सहायता से करता था। डा० अल्तेकर के मतानुसार इन प्रान्तीय शासको के नाम उसके सिक्को के अग्रभाग पर ब्राह्मी अक्षरो मे सक्षेप मे लिखे हुए है।[1] ऐसे कुछ नाम वासु (देव), विरु (पाक्ष), मही (श्वर) या मही (धर) है। इनमे वासुदेव सम्भवत. वासुदेव द्वितीय का पुत्र और विरुपाक्ष और महीश्वर उसके भाई थे। कनिष्क तृतीय के साथ वासुदेव के नाम वाले सिक्के सीस्तान मे पाये गये है, अतः यह इस प्रदेश का राज्यपाल रहा होगा। विरूपाक्ष और महीश्वर के सिक्के पजाब और अफगानिस्तान मे मिले है, अत ये इनके शासक रहे होगे। इनके अतिरिक्त वि, सि, मृ के अक्षर कनिष्क तृतीय की कुछ मुद्राओ के अग्रभाग पर खडे हुए राजा की मूर्ति के बायीं ओर अकित है, ये भी सम्भवत कुछ अन्य प्रान्तीय शासको के नामो के पहले अक्षर है।

इनके अतिरिक्त कनिष्क तृतीय के सिक्को पर प, न, ग, चु, खु, थ, वै के अक्षर भी पाये जाते है। इनका महत्व और स्वरूप विद्वानो के लिये अभी तक रहस्य बना हुआ है। डा० अल्तेकर की यह कल्पना है कि इनमे से कुछ उन शहरो के पहले अक्षर है, जहाँ की टकसालो मे ये सिक्के प्रचलित किए गए थे, कुछ अक्षर उन प्रान्तो और जातियो के नामों के अक्षर हो सकते है, जिनमे ये सिक्के प्रचलित थे, जैसे प

१. **अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४-१६।**

पुरुषपुर का, न नगरहार (जलालाबाद) का, ग गन्धार का वाचक हो तथा चु और खु क्रमशः सिन्धु नदी की घाटी के उपरले तथा मध्य भाग मे रहने वाली जातियों—चुक्ष तथा क्षुद्रक के सूचक हो। कनिष्क तृतीय ने प्रधान रूप से दो प्रकार के सिक्के प्रचलित किये। पहला प्रकार वासुदेव प्रथम के सिक्को से मिलता है। इनके पृष्ठभाग पर शिव नन्दी के साथ खडे है। ये मुद्राये बैक्ट्रिया और अफगानिस्तान मे पायी जाती हैं। दूसरे प्रकार मे शिव के स्थान पर अरदोक्षो देवी है। ये सिक्के गन्धार, सीस्तान और पजाब मे पाये जाते है। कनिष्क तृतीय के सिक्को पर प्रान्तीय शासको के नामो का पाया जाना एक सर्वथा नवीन प्रवृत्ति को सूचित करता है। इससे पहले किसी सम्राट् ने अपने राज्यपालों को ऐसे कार्य की अनुमति नही दी थी। इससे यह स्पष्ट है कि कनिष्क तृतीय के शासन मे प्रान्तीय क्षत्रप प्रबल हो रहे थे, केन्द्रीय सत्ता निर्बल होने लगी थी, उसे क्षत्रपो को सन्तुष्ट करने के लिये उनके नामो के पहले अक्षर मुद्राओ पर अकित करने की अनुमति विवश होकर देनी पडी। अनेक महत्वाकाक्षी क्षत्रप केन्द्रीय सत्ता की निर्बलता का लाभ उठाते हुए स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। २१० ई० मे कनिष्क तृतीय की मृत्यु से उन्हें यह स्वर्ण अवसर मिल गया।

वासुदेव द्वितीय (२१०–२३० ई०)—कनिष्क तृतीय के बाद कुषाण वश का अगला महत्वपूर्ण राजा वासुदेव द्वितीय हुआ। श्री अल्तेकर ने इसका शासन-काल २१० से २३० ई० माना है। यह सम्भवत कनिष्क तृतीय का पुत्र और उसके जीवनकाल मे एक प्रान्त का शासक था। इसके इतिहास का एकमात्र स्रोत इसके सिक्के है। अत यहाँ पहले इनका वर्णन किया जायगा। वासुदेव द्वितीय की मुद्राओ के आधार पर डा० अल्तेकर ने यह परिणाम निकाला है कि इसके समय मे सभवतः इसके महत्वाकाक्षी प्रान्तीय शासको ने इसके साम्राज्य को आपस मे बाँट लिया था, जो इसके पिता के समय से ही अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाह रहे थे। वासुदेव द्वितीय की मुद्राये बडी दुर्लभ है। अफगानिस्तान और बैक्ट्रिया मे अधिक प्रचलित शैली शिव और नन्दी वाले प्रकार की है, अत. यह कल्पना की गई है कि इसका शासन केवल इन्ही प्रदेशो तक सीमित रह गया था।

इसके शासनकाल के अन्तिम वर्षों मे कुषाण साम्राज्य पर कई बडी विपत्तियों के बादल मडराने लगे। उस समय इस पर तीन प्रधान सकट थे। पहला सकट पूर्वी प्रदेशों के प्रान्तीय शासको का विद्रोह था, यौधेयो और नागो के प्रयत्नो से उत्तर प्रदेश पहले ही कुषाण साम्राज्य की वश्यता से मुक्त हो चुका था। अब पजाब भी

स्वतन्त्र हो गया। दूसरा संकट आमू नदी के उत्तर-पूर्व से हमला करने वाली जौअन-जौअन (Jouan Jouan) नामक जाति के आक्रमणो की आशंका थी। तीसरा सकट पश्चिमी दिशा से सासानी साम्राज्य का था। इस वश के महत्वाकाक्षी सम्राट् हखामनी सम्राटो के पुराने साम्राज्य और लुप्त वैभव का पुनरुद्धार करते हुए बैक्ट्रिया और सिन्धु घाटी के प्रदेश को अपने साम्राज्य का अग बनाना चाहते थे। इन सकटो से अपनी रक्षा करने के लिये वासुदेव ने चीन के सम्राट् से सहायता की याचना की। चीनी इतिहासो मे यह वर्णन मिलता है कि महान् कुषाणो के सम्राट पो-**तिम्राम्रो** ने चीनी सम्राट् से सहायता पाने हेतु उसके दरबार मे एक दूत-मण्डल भेजा। यह **पोतिया-म्रो ही** वासुदेव द्वितीय समझा जाता है। किन्तु कोई बाहरी सहायता इसकी रक्षा नही कर सकी। जौअन-जौअन जाति के साथ सघर्ष से कुषाणो की शक्ति क्षीण हुई, उनके राज्यकोष को समृद्ध करने वाले प्रदेश उनके हाथ से निकल गये, सासानी सम्राट अर्दशीर प्रथम (२११–२४१ ई०) ने इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए २३८ ई० मे बैक्ट्रिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उसने हखामनी सम्राटो की ६०० वर्ष पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए इस नये प्रान्त का शासक युवराज को बनाया तथा उसे अपने सिक्के चलाने की और इन पर **कुषाणशाह** (कुषाणो के राजा) की उपाधि अकित कराने की अनुमति दी। २५२ ई० के बाद इस उपाधि को **कुषाणशाहन-शाह** (कुषाणो के राजाओं का राजा) कहा जाने लगा।

सासानी सम्राटो ने जिस कुषाण राजा का पराभव किया, वह वासुदेव द्वितीय ही था। यह बात कुषाण-सासानी (Kushano-Sassanian) मुद्राओं के अध्ययन मे पुष्ट होती है। इनका अग्रभाग सासानी मुद्राओ जैसा है तथा पृष्ठभाग पर वासुदेव द्वितीय की कुषाण मुद्राओ जैसे शिव और नन्दी बने हुए है। सासानियो ने इस विषय मे शक-पह्लवो और कुषाणो की उस पुरानी परम्परा का अनुसरण किया, जिसके अनुसार विजेता **विजित** राजाओं द्वारा प्रचलित की गई मुद्राओं का ही अनुकरण करते थे। इसकी मुद्राओ के अग्रभाग मे वेदी पर आहुति देते हुए राजा की खडी मूर्ति है, किन्तु पृष्ठभाग मे शिव और नन्दी के स्थान पर आसीन मुद्रा मे अरदोक्षो है। इन मुद्राओं पर इस दृष्टि से कुछ चीनी प्रभाव बताया जाता है कि इनपर राजा का नाम वासु उसकी बाईं भुजा के नीचे ऊपर से नीचे की दिशा में पिछले कुषाण युग की ब्राह्मी मे लिखा पाया जाता है। एक अतीव दुर्लभ ताम्रमुद्रा मे समूचे अग्रभाग पर केवल वासु का नाम ऊपर से नीचे की दिशा मे लिखा हुआ है और इसके पृष्ठभाग मे वासुदेव प्रथम की मुद्राओ पर पाये जाने वाले विशिष्ट चिह्न बने है। कनिंघम का यह विचार था कि यह मुद्रा वासुदेव प्रथम की है, किन्तु इसकी

ब्राह्मी लिपि यह सूचित करती है कि यह वासुदेव प्रथम के समय से काफी बाद की अर्थात् वासुदेव द्वितीय की है। इसकी स्वर्ण मुद्राओं में हमें यूनानी लिपि का प्रयोग मिलता है। किन्तु इनके अक्षर बहुत ही भद्दे हैं और यह सूचित करते हैं कि इन्हें बनाने वाला सम्भवत यूनानी भाषा का अच्छा ज्ञाता नही था। इन सिक्को मे सोने की मात्रा बहुत घट गई है और यह इस बात को सूचित करती है कि इसके समय में आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। इसकी मुद्राओं पर रद, फ्री, ह आदि कई अक्षर पाये जाते हैं। श्री राखालदास बनर्जी तथा डा० अल्तेकर की यह कल्पना है कि ये नाम कुषाण साम्राज्य मे इस समय शासन करने वाले अधीनस्थ शासको के हैं। ये सिक्के बहुत थोड़ी मात्रा मे पंजाब और काबुल से मिले है, अत इसका शासन सम्भवत. इसी प्रदेश मे रहा होगा। वासुदेव द्वितीय के बाद हमे कुषाण राजाओं का कोई इतिहास ज्ञात नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके बाद यह साम्राज्य क्षीण हो गया।

साम्राज्य की क्षीणता के कारण

कुषाणों के विशाल और शक्तिशाली साम्राज्य का विलुप्त हो जाना इस युग की एक महत्वपूर्ण घटना है, किन्तु यह किन कारणो से सम्पन्न हुई, इसका हमे निश्चित ज्ञान नही है। इस विषय मे ऐतिहासिको ने अनेक कल्पनाये की है। पहली कल्पना श्री राखालदास बनर्जी की है। इनके मतानुसार कुषाणो की शक्ति का विध्वस गुप्त सम्राटो ने किया।[1] किन्तु उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वासुदेव प्रथम के शासनकाल के बाद दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध मे १७६ ई० से कुषाणो की शक्ति क्षीण होने लगी थी, गुप्तवश का अभ्युत्थान इसके १५० वर्ष बाद चौथी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुआ, अत. गुप्त सम्राटो को कुषाणो की शक्ति को क्षीण करने का श्रेय नही दिया जा सकता है। समुद्रगुप्त के प्रयागस्तम्भ अभिलेख से यह स्पष्ट है कि जब गुप्तो ने अपने साम्राज्य का विस्तार आरम्भ किया, उस समय तक उत्तरी भारत मे कुषाण साम्राज्य का शासन समाप्त हो चुका था।

दूसरी कल्पना डा० काशीप्रसाद जायसवाल की है कि कुषाणों के साम्राज्य के विध्वस की प्रक्रिया भारशिव राजाओ ने आरम्भ की तथा बाद मे प्रवरसेन प्रथम के नेतृत्व मे वाकाटको द्वारा इनकी शक्ति का समूलोन्मूलन किया गया।[2] किन्तु डा०

१. राखालदास बनर्जी—दी एज आफ गुप्ताज, पृ० ५।
२. जायसवाल—हिस्टरी आफ इण्डिया १५०–३५० ई०, पृ० ७।

अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने इस मत का खण्डन बड़े पुष्ट प्रमाणो से इस आधार पर किया है कि भारशिवों तथा वाकाटकों का कुषाणो से बहुत ही कम सम्बन्ध था।[1]

इस विषय मे **तीसरी** कल्पना डा० अल्तेकर की है कि कुषाणों को सतलुज नदी के पार धकेलने और उनके विदेशी शासन से भारत को स्वतन्त्र करने का श्रेय यौधेयो को है।[2] उनके मतानुसार यौधेयो ने यह कार्य कुणिन्दो और आर्जुनायनो के साथ मिलकर उनके सहयोग से किया। उनके मत का आधार यौधेय सिक्कों पर ब्राह्मी का लेख **यौधेय गणस्य जयः** तथा देवताओ के सेनापति कार्तिकेय की मूर्ति का चित्रण और एक मोहर (Seal) पर **जयमन्त्रधराणां यौधेयानाम्** का लेख, अर्थात् विजय प्राप्त करने के मन्त्र को धारण करने वाले यौधेयो का है। उनका यह कहना है कि यौधेयों के ये सिक्के उनकी विजयो को सूचित करते है और ये विजयें कुषाण राजाओ पर ही प्राप्त की गई होगी। कुणिन्दो और आर्जुनायनो के साथ उनकी मैत्री सन्धि की कल्पना इस आधार पर की गई है कि कुछ यौधेय मुद्राओ पर **द्वित्रिक** का लेख है। यह समवतः इस बात को सूचित करता है कि यौधेयो ने दो या तीन पड़ोसी गणराज्यो के साथ मिलकर कुषाण शक्ति का विध्वंस करने के लिये एक सघ बनाया था।

उपर्युक्त परिणाम विशुद्ध रूप से मुद्राओ की साक्षी के आधार पर निकाले गये हैं। कुषाण सम्राट कनिष्क तृतीय (लगमग १८०–२१० ई०) तथा वासुदेव द्वितीय (लगभग २१०–२४० ई०) की कोई भी मुद्रा सतलुज नदी के पूर्व मे नही पाई गई है। इससे यह स्पष्ट है कि यह प्रदेश उस समय उनके हाथ से निकल चुका था। दूसरी ओर हमे यौधेयो की कुषाणोत्तरकालीन मुद्रायें तीसरी-चौथी शताब्दी ई० की ब्राह्मी लिपि मे बहुत बडी सख्या मे मिलती है। ये यौधेयो की मातृभूमि सतलुज और यमुना नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश—सहारनपुर, देहरादून, दिल्ली, रोहतक, लुधियाना, कॉंगड़ा से बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुई है।[3] अत. यह स्पष्ट है कि इस प्रदेश पर तीसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध मे यौधेयो का शासन था, कुषाणो

१. अल्तेकर—जनरल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया, खण्ड ५, पृ० १२१–२४।

२. इण्डियन कल्चर, खण्ड १२, १९४५, पृ० ११९–१२२ तथा न्यू हिस्टरी आफ इण्डिया पीपल, खण्ड ६, पृ० २८।

३. कनिंघम—आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, खण्ड २, पृ० १४, ७७।

का उन्मूलन करके और उन्हें हटाकर ये उनके स्थान पर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे थे। सतलुज नदी पर बहावलपुर की रियासत का प्रदेश अब भी यौधेयो के नाम पर जोहिया बार कहलाता है। उस समय नवीन यौधेय गणराज्य मे पटियाला का तथा उत्तरी राजस्थान का भी बडा अश सम्मिलित था। बैक्ट्रिया से बिहार तक फैले विशाल साम्राज्य के अधीश्वर कुषाणो के विरुद्ध यौधेयो को यह सफलता अद्वितीय शूरवीरता और देशभक्ति के कारण ही मिली होगी। ऐसे महान् साम्राज्य पर विजय पाना असाधारण कार्य था, अत इसकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिये एक नये प्रकार की मुद्रा चलायी गयी।[१] इस मुद्रा को कुषाणमुद्रा का स्थान लेना था, अत तोल और सामान्य बनावट की दृष्टि से यह कुषाण सम्राटो की मुद्रा मे गहरा सादृश्य रखती है, किन्तु पुरानी मुद्राओ की विदेशी लिपियो--यूनानी और खरोष्ट्री के स्थान पर स्वदेशी राष्ट्रीय लिपि--ब्राह्मी का प्रयोग किया गया और इस पर अपनी महत्वपूर्ण विजय की घोषणा करते हुए **यौधेयगणस्य जय.** का लेख अकित किया गया। इस विजय मे उन्हें असुरो पर विजय पाने वाले देवताओ के सेनानी कार्तिकेय से बडी प्रेरणा मिली होगी। यह पहले से ही इस लडाकू जाति का अधिष्ठाता देवता माना जाता था (महाभारत २।३५।४), अब इसे नवीन मुद्राओ पर प्रधान स्थान दिया गया। इस विजय मे यौधेयो की प्रतिष्ठा मे बडी वृद्धि हुई। यह समझा जाने लगा कि उनके पास विजय पाने का कोई ऐसा जादू का मन्त्र है, जिसकी सहायता से बडी से बडी कठिनाई मे प्रबल प्रतापी शत्रु पर विजय पाई जा सकती है, अत उनकी मुहरो पर **यौधेयानां जयमन्त्रधराणाम्** का लेख लिखा जाने लगा।[२]

डा० दिनेशचन्द्र सरकार ने डा० अल्तेकर की उपर्युक्त कल्पना से असहमति प्रकट की है कि कुषाणो के साम्राज्य का उन्मूलन प्रधान रूप से यौधेयो ने किया। मुगल साम्राज्य से कुषाण साम्राज्य की तुलना करते हुए उन्होंने यह मत प्रकट किया है कि साम्राज्यो की क्षीणता के दो कारण होते है, केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता और प्रान्तीय एव स्थानीय शक्तियों का अभ्युत्थान। किसी बडे साम्राज्य के पतन का कारण किसी एक सामन्त के विरोध एव अभ्युदय के कारण नही होता, अपितु यह अनेक कारणो का परिणाम होता है, अत कुषाण साम्राज्य के पतन का एकमात्र श्रेय यौधेयो को नही दिया जाना चाहिये।[३]

---

१ एलन--कैटलाग आफ इण्डियन कायन्स, ख० १ भूमिका, पैरा १८४।

२. यौधेयो की एक ऐसी मुहर का वर्णन १८८४ ई० के प्रोसीडिंग्स आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल के पृ० १३६ पर है।

३. एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० १६८।

इसलिए यौधेयो के अतिरिक्त कुषाण साम्राज्य के पतन के कई कारण थे। **पहला** कारण केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता और वासुदेव प्रथम के बाद के उत्तराधिकारियो मे बल्ख से बिहार तक विस्तीर्ण साम्राज्य को बनाये रखने के लिये आवश्यक सामर्थ्य और गुणो का अभाव प्रतीत होता है। **दूसरा** कारण संयुक्त शासन (Joint Rule) की पद्धति थी। **तीसरा** बडा कारण ईरान के सासानी सम्राटो की शक्ति का प्रबल होना था। इन्होने पहले कुषाणो के मूलस्थान बल्ख, मर्व, समरकन्द को जीता, यहाँ इनके कुशाण-सासानी (Kushano-Sassanian) सिक्के पाये गये है, इनका अग्रभाग सासानी मुद्राओ से तथा पृष्ठ भाग 'कुषाण मुद्राओ मे मिलता है। इन मुद्राओ पर इन राजाओ ने 'कुषाणो के राजा' और 'कुषाण राजाओ के राजा की उपाधियाँ धारण की है। इनसे यह सूचित होता है कि इन प्रदेशो को जीतने के बाद भी इन्होने यहाँ कुषाणो का समूलोन्मूलन नही किया, अपितु उन पर अपना आधिपत्य ही स्थापित किया। कुषाणो के भारतीय प्रान्त--अफगानिस्तान, उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त, सीस्तान और सिन्ध २८४ ई० तक वरहन द्वितीय ने सासानी साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिये थे। उसने अपने युवराज वरहन तृतीय को सीस्तान का शासक बनाया था और उसे **शकानशाह** (शको के राजा) की उपाधि वाले सिक्के प्रचलित करने का अधिकार दिया था। अफगानिस्तान और सिन्धु घाटी मे अगले अस्सी वर्ष ३६० ई० तक सासानी सम्राटो का शासन बना रहा। यह बात जर्मन विद्वान् हर्जफैल्ड द्वारा पर्सिपोलिस मे खोजे गये अभिलेख मे तथा अन्य अनुसन्धानो से स्पष्ट है।[1]

अत कुषाण साम्राज्य के पतन और क्षीणता के कारण केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता, साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशो मे यौधेयो का तथा पश्चिमी प्रदेशो मे सासानी शक्ति का आविर्भाव था।

शाकवंश

सासानी हमलो के परिणामस्वरूप कुषाण साम्राज्य का विघटन हो जाने के बाद भी पंजाब मे कुछ छोटे कुषाण राज्य बचे रहे। पश्चिमी और मध्य पंजाब में इस प्रकार के तीन वंशो के शासन का परिचय हमे मिलता है। पहला वंश **शाक** पश्चिमी पंजाब मे शासन करता था। इसकी राजधानी पेशावर थी। यहाँ से इसके सिक्के बहुत बडी मात्रा में मिले है। ये सिक्के कनिष्क तृतीय और वासुदेव द्वितीय के सिक्को

१. अल्तेकर—गुप्त वाकाटक एज, पृ० १८।

से **इतने** अधिक मिलते है कि इस बात को कल्पना की जा सकती है कि वासुदेव द्वितीय के बाद इस वश ने शासन किया। इन सिक्को पर हमे **शयथ, सित और सेन** के नाम मिले हैं। ये सम्भवत इस वंश के राजाओ के पूरे या अधूरे नाम है। चार-अन्य व्यक्तियो के नामो के पहले अक्षर प्र, मि, भ्रि और भ मिले है। सम्भवत इन सात राजाओं के वश ने लगभग ३३० ई० तक शासन किया होगा।

इसी समय मध्य पंजाब मे शासन करने वाले दो अन्य वशो **शीलाद और गडहर** का भी ज्ञान हमे सिक्को से मिलता है। पहले वश के राजाओ के कुछ नाम--भद्र, बचारण और पामन और दूसरे वंश के राजाओ के नाम पेरय और किरद भी सिक्को से ज्ञात हुए है। ये दोनो वश केन्द्रीय पजाब मे समुद्रगुप्त के समय तक शासन करते रहे, क्योकि एक गडहर राजा ने अपनी मुद्रा पर समुद्रगुप्त का नाम अकित किया है।

कुषाणो का प्रभाव और देन

कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के माथ इस युग मे भारत पर चार शताब्दी से चली आने वाली विदेशी शासन की परम्परा समाप्त हो गई और इतनी लम्बी अवधि के बाद उत्तरी भारत पूर्ण रूप से स्वाधीन हुआ। कुषाणो का विदेशी शासन यूनानियो और शक-पहलवो के शासन की अपेक्षा अधिक समय तक रहा। इसका प्रभाव ज्यादा बडे क्षेत्र मे विस्तीर्ण हुआ। यह शासन पिछले दोनो शासनो की अपेक्षा अधिक सुदृढ और दीर्घकाल तक बना रहने वाला था, अत इसका भारत पर अधिक प्रभाव पडना सर्वथा स्वाभाविक था। हिन्द-यूनानी राजाओ का तथा शक पहलवो का अधिकाश समय परस्पर लडने भिडने मे ही बीता। उनका शासन केवल उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त और पंजाब तक ही था। किन्तु कुषाणो का शासन बिहार से बल्ख तक के विशाल प्रदेश पर था और वे यूनानियो की अपेक्षा यहाँ आने पर अधिक असभ्य और जगली दशा मे थे, अत उन्होंने यूनानियो की अपेक्षा भारतीय प्रभाव को अधिक मात्रा मे और बडी जल्दी ग्रहण किया। इनके समय में काफी समय तक राजनीतिक स्थिरता और शान्ति की ऐसी स्थिति बनी रही जो कलाओ के विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। इस समय कुषाण राजाओ ने भारतीय धर्म, कला और साहित्य को प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया। सस्कृत के पहले शिलालेख हमे इसी युग से मिलने लगते है। महायान सम्प्रदाय के रूप में बौद्ध धर्म को एक नया रूप मिला और कुषाणो के मध्य एशिया के साम्राज्य ने भारतीय संस्कृति को चीन-जापान तक पहुंचाने और विश्वव्यापी बनाने मे बड़ा भाग लिया। कुषाणो के सरक्षण मे इस समय गन्धार प्रदेश मे विकसित होने वाली कला भी भारतीय

संस्कृति के साथ-साथ मध्य एशिया और सुदूरपूर्व के देशों तक पहुंचने लगी। उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान का प्रदेश बौद्ध विहारों, सघारामो और चैत्यों से भर गया। यह बात हमे पाँचवी शताब्दी के आरम्भ मे आने वाले चीनी यात्री फाहियान के विवरण से विदित होती है। इस परम्परा का श्रीगणेश कुषाण युग मे कनिष्क के ४०० फुट ऊँचे १३ मंजिल वाले उस स्तूप से हुआ जो अगले हजार वर्ष तक अफगानिस्तान से भारत आने वाले यात्रियों को विस्मय विमुग्ध करता रहा। इसी समय मथुरा में एक नवीन कला शैली का आविर्भाव हुआ और यहाँ के शिल्पियों द्वारा तैयार की गई मूर्तियां दूर-दूर तक भेजी जाने लगी। श्रावस्ती और सारनाथ से हमें भिक्षु-बल द्वारा बनवाई हुई बुद्ध की मूर्तियाँ मिली है। आगे इनका यथास्थान विस्तृत वर्णन किया जायगा। इसी समय आयुर्वेद की बड़ी उन्नति हुई। सुप्रसिद्ध चरक सहिता का लेखक भारतीय परम्परा के अनुसार कनिष्क के राजदरबार का वैद्य माना जाता है। मुद्रा-निर्माण की दृष्टि से यह युग विशेष महत्व रखता है। इस समय कनिष्क और हुविष्क की मुद्राओ पर हमे देवी-देवताओ का जो वैविध्य दिखाई देता है वह 'न भूतो न भावी' था। स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन इसी युग से हुआ और मुद्राओं की जो शैलियाँ और प्रकार कुषाण सम्राटो ने चलाये थे, वे उनके शासन की समाप्ति के बाद भी कई सौ वर्ष तक चलते रहे। सुप्रसिद्ध गुप्तवशी सम्राटो ने कुषाणो के इन प्रकारो का, विशेषत वेदी पर आहुति देते हुए राजा की शैली का, सिंहासन पर आसीन देवी की शैली का और समृद्धिशृग हाथ मे लिये अरदोक्षो देवी का अनुसरण किया था। मुद्राओं पर गुप्त नरेशो की वेशभूषा भी कुषाण राजाओं की वेशभूषा से बहुत मिलती-जुलती है। कनिष्क तृतीय के सिक्को पर सिंहवाहिनी देवी का जो रूप मिलता है, वही हमे चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओ पर दिखाई देता है। तोल की दृष्टि से भी गुप्त मुद्राओ मे कुषाण मुद्राओं का अनुसरण किया गया। कुषाणों की बैठी हुई देवी की मूर्ति हमे कश्मीर के तथा मध्यकालीन चेदिवंश और गहडवाल वश के सिक्को पर और शहाबुद्दीन गोरी के सिक्को पर भी दिखाई देती है। इस प्रकार कुषाणो द्वारा प्रवर्तित लक्ष्मी देवी का अकन भी लगभग एक हजार वर्ष तक चलता रहा, अत सभी दृष्टियो से कुषाण युग का सास्कृतिक वैभव उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास में कुषाणो की अनेक महत्वपूर्ण देने है। पहली देन महायान धर्म का विकास है। कनिष्क द्वारा बुलवायी गई चतुर्थ बौद्ध महासभा के बाद बौद्ध धर्म ने एक नया रूप धारण किया, इसे उत्तरी बौद्ध धर्म भी कहा जाता है, क्योंकि अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, कोरिया और

जापान के उत्तरी देशो मे इसी रूप का प्रसार हुआ। **दूसरी** देन भारतीय सस्कृति का विश्वव्यापी प्रसार था। कुषाणों के बलख से बिहार तक फैले साम्राज्य ने भारतीयो को मध्य एशिया तक पहुचने मे सुविधा प्रदान की, कुषाण राजाओ के दूत पहली श० ई० पू० के अन्त मे बौद्ध धर्म की पोथियाँ चीनी सम्राट के दरबार मे ले गये, पहली शताब्दी ई० मे कश्यप मातग और धर्मरक्षित बुद्ध का सदेश चीन ले गये। **तीसरी** देन कला का अभूतपूर्व विकास था, बौद्धधर्म के प्रबल पोषक कुषाण सम्राट कनिष्क ने पेशावर मे तेरह मजिला स्तूप बनवाया, बुद्ध की मूर्तियाँ सर्वप्रथम इसी युग मे बननी आरम्भ हुई, कुषाण राजाओ ने इन्हें बहुत बडे पैमाने पर बनवाया, ये मूर्तियाँ बाद मे इतनी प्रचुर सख्या मे बनी कि अफगानिस्तान, मध्य एशिया आदि मे मूर्तियो को बुत कहा जाने लगा, जो बुद्ध का अपभ्रश है। इसी समय गन्धार कला का विकास हुआ। **चौथी** देन सस्कृत साहित्य की विलक्षण उन्नति है। इस समय मे हमे सस्कृत के अभिलेख मिलने लगते है, महायान धर्म का समचा साहित्य सस्कृत भाषा मे लिखा गया है। **पाँचवी** देन कुषाणो के शान्तिपूर्ण काल मे भारत के विदेशी व्यापार मे अभूतपूर्व वृद्धि थी। इस काल मे मानसूनी हवाओ की सहायता से जहाज समुद्री तट से दूर होकर बहुत कम समय मे अरब सागर के बीच अदन से सीधे दक्षिणी भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर आने लगे। रोमन साम्राज्य से भारत का व्यापार बढा, रोम मे भारतीय माल की माँग अधिक होने से उसका मूल्य चुकाने के लिये यहाँ सोना बहुत बडी मात्रा मे आने लगा। रोमन लेखक प्लिनी ने इस बात का रोना रोया था कि रोम को अपने फैशन के लिये भारत आदि पूर्वी देशो को दस करोड सेस्टर्स प्रति वर्ष देने पडते है। कुषाणो की **छठी** देन स्वर्ण मुद्राओ का चलाना था, रोम के साथ व्यापार से भारत मे सोना प्रभूत मात्रा मे आ रहा था अत कुषाणो ने सोने के सिक्को का प्रचलन आरम्भ किया, उन्होने मुद्राओ के जितने विभिन्न प्रकार प्रचलित किये उतने प्रकार उनसे पहले या बाद के किसी राजा ने नही प्रचलित किये थे। गुप्त-युग एव मध्य युग तक कुषाणो की मुद्रा-शैली का अनुसरण किया जाता रहा।

छठा अध्याय

कुषाणोत्तर उत्तरी भारत

अन्धयुग--१७६ ई० मे वासुदेव प्रथम की मृत्यु होने के बाद के समय को पहले भारतीय इतिहास का अन्धयुग कहा जाता था।[1] स्मिथ ने यह नाम इसलिये दिया था कि इसके बाद मे ३१९ ई० मे गुप्तो के अभ्युत्थान के समय तक की घटनाओ पर अन्धकार का आवरण पडा हुआ था और हमे इस काल के इतिहास का कोई ज्ञान नही था। किन्तु शनैः शनैः विद्वानो के अनवरत उद्योग से इस युग की घटनाएं प्रकाश मे आने लगी। सर्वप्रथम डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने इस पर आलोक डाला।[2] इसके बाद अन्य विद्वानो ने भी इस युग का अनुसन्धान किया और यह ज्ञात हुआ कि यह युग भारतीय इतिहास मे विदेशी शक्तियो से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उग्र सघर्ष का समय था। कुषाण यद्यपि भारतीय सस्कृति को ग्रहण करके भारतीय बन चुके थे, फिर भी उनकी राजधानी पेशावर मे भारतवर्ष के एक छोर पर थी, इसमे बैक्ट्रिया और सुग्ध (Sogdiana) जैसे विदेशी प्रान्त सम्मिलित थे। इस समय भारतीयो ने कुषाणो के विदेशी शासन के विरुद्ध जो संघर्ष किया, उसका परिचय हमे प्राचीन साहित्य एव शिलालेखो मे कही नही मिलता है, किन्तु उसकी एक झलक पुरानी मुद्राओ और अभिलेखो के गभीर अध्ययन के आधार पर डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर आदि विद्वानो ने प्रस्तुत की है।[3] इससे भारतीय इतिहास का अन्धयुग नवीन प्रकाश मे आलोकित हो उठा है तथा हमे यह ज्ञात हुआ है कि किस प्रकार यौधेयो, कुणिन्दो, मद्रो, आर्जुनायनो, मथुरा, पद्मावती, अहिच्छत्र और कान्तिपुरी के नागवंशी राजाओ तथा कौशाम्बी के मघ राजाओं ने कुषाण साम्राज्य के शक्तिशाली सगठन का अत किया। यहाँ इस विषय मे पहले डॉ० जायसवाल के मत का परिचय देने के बाद कुषाण साम्राज्य को क्षीण करने वाली शक्तियो का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

---

१ **स्मिथ—अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, पृष्ठ** २९०–९२ ।

२ **जायसवाल—हिस्टरी ऑफ इण्डिया, १५० ई०–३५० ई०, पृ० ४८ ।**

३. **अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज, पृ० २९, ३० ।**

जायसवाल की कल्पना—डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार कुषाणों के विदेशी शासन के विरुद्ध किये जाने वाले भारतीय स्वतन्त्रता के संघर्ष का नेतृत्व भारशिव वंश के राजाओ ने किया, उन्होने समूचे उत्तरी भारत को कुषाणों की दासता से मुक्त किया। ये भारशिव राजा नागवंश से सम्बन्ध रखते थे। इनकी राजधानी मिर्जापुर जिले मे कन्तित या कान्तिपुरी थी। वाकाटक वंश के राजाओ के लेखो मे इनका वर्णन मिलता है। ये शैव धर्म के अनुयायी थे। इनकी भारत विजय का बड़ा प्रमाण इन राजाओ द्वारा दस अश्वमेध यज्ञ करना था। काशी के दशाश्वमेघ घाट में इसकी क्षीण स्मृति विद्यमान है। ये पुराणो मे विदिशा के नागो के रूप मे वर्णित हैं। आरम्भ मे गुप्त, वाकाटक और पल्लव राजा इन भारशिवो के करद सामन्त और सेनापति थे। बाद मे भारशिव साम्राज्य के क्षीण होने पर इन्होने अपने स्वतन्त्र राज्य बना लिये। ये कुषाणो का सफलतापूर्वक प्रतिरोध इसलिये कर सके कि इनके पास अपार वैभव और अनन्त साधन सम्पत्ति थी। कुषाण साम्राज्य को समाप्त करने का श्रेय इन भारशिव राजाओ को है।

डॉ० अल्तेकर तथा डॉ० भंडारकर ने उपर्युक्त कल्पना पर अनेक प्रबल आपत्तियाँ करते हुए इसे सर्वथा निर्मूल सिद्ध किया है।[1] जायसवाल ने उपर्युक्त मत मे यह मान लिया है कि भारशिव पुराणो के नव नागवंश से अभिन्न है। इसका संस्थापक राजा नव था जिसकी राजधानी मिर्जापुर जिले मे कान्तिपुरी (आधुनिक कन्तित) थी। किन्तु उन्होने इस विषय मे ऐसा कोई भी प्रमाण उपस्थित नही किया जिससे यह सिद्ध हो कि नागवंशी राजाओ ने कभी कान्तिपुरी मे शासन किया था अथवा मुद्राओ से सूचित होने वाला राजा नव नागवंश मे संबद्ध है। इस राजा के सिक्के न तो कान्तिपुरी मे पाये जाते है और न ही उनका नागवंशी राजाओ की मुद्राओं मे कोई सादृश्य है। नागवंशी राजा अपनी मुद्राओ पर नाग की उपाधि का उल्लेख अवश्य करते है, यद्यपि इनका आकार बहुत ही छोटा है। किन्तु राजा नव की मुद्राओ का आकार बडा होते हुए भी उस पर नाग नाम का उल्लेख नही है। जायसवाल ने यह कल्पना की है कि नव के उत्तराधिकारी वीरसेन ने कान्तिपुरी, पद्मावती और मथुरा मे शासन करने वाले तीनो राजपरिवारो की स्थापना की थी। इसकी पुष्टि मे कोई भी असंदिग्ध ऐतिहासिक प्रमाण अब तक नही दिये गये है। इसमे कोई सन्देह नही कि उसकी मुद्राएं मथुरा मे पायी गई है किन्तु इसमे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वह एक स्वतन्त्र

---

१ **अल्तेकर—गुप्त वाकाटक एज, पृष्ठ २६-२७, भंडारकर—इंडियन कल्चर, खण्ड १, पृष्ठ ११४।**

नागवंशी राजा था। उसने पूर्वी पंजाब से कुषाणों का उन्मूलन किया, इस बात का कोई प्रमाण नही है, क्योंकि उसकी मुद्राएं यमुना से आगे कही नही मिलती हैं। वीरसेन के उत्तराधिकारी त्रय-नाग, हय-नाग और बहवृच नाग ने जायसवाल के मतानुसार कुषाणों पर इतने प्रबल प्रहार किये कि उन्हें अपनी रक्षा के लिये सासानी सम्राट् शापुर प्रथम से सहायता की याचना करनी पडी। किन्तु इस बात को पुष्ट करने के लिये एक भी ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नही किया गया है। जिन राजाओं के सैनिक आक्रमणो के फलस्वरूप पंजाब को विदेशी शासन से मुक्त होने का श्रेय दिया जाता है, उन राजाओं का कोई भी सिक्का पंजाब मे नही मिला है। इन सब प्रमाणों को उपस्थित करते हुए डॉ० अल्तेकर ने यह लिखा है कि कुषाण साम्राज्य के विघटन के प्रश्न पर विचार करते हुए हमे अपने मन से यह कल्पना बिल्कुल निकाल देनी चाहिए कि कान्तिपुरी के भारशिवो ने कुषाण साम्राज्य का उन्मूलन किया था। गगा के मैदान से कुषाण राजाओ के शासन के विलुप्त होने की समस्या का समाधान करने का एकमात्र उपाय तत्कालीन शासको की मुद्राओ और अभिलेखो का सूक्ष्म अनुशीलन है। यदि हम ऐसा करेगे तो हमे ज्ञात होगा कि तीसरी शताब्दी ई० मे स्वतन्त्र शासकों के रूप मे अपनी मुद्राओ के प्रचलन का श्रीगणेश करने वाले यौधेयो, कुणिन्दो, नागो, मालवो और मघो ने कुषाण राजाओ की शक्ति के समूलोन्मूलन करने मे भाग लिया। यौधेय इस कार्य मे अग्रणी थे। सभवत उन्हें अपने पडोसी गणराज्यो से भी सहायता मिली। यहाँ इन सबका सक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा। यहाँ पहले कुषाणोत्तर भारत के गणराज्यो का और तदनन्तर राजतन्त्रो का सक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

गणराज्य

यौधेय—पहले यह बताया जा चुका है कि यौधेय प्राचीन भारत का सुप्रसिद्ध गणराज्य था। यह बडी लडाकू तथा वीर जाति थी। यह बात इनके नाम से ही स्पष्ट है। यह नाम युद्ध करने का अर्थ देने वाली 'युध्' धातु से बनता है। यौधेय प्राचीन काल के बड़े विकट योद्धा थे। उन्होने सिकन्दर की सेना का डटकर मुकाबला किया था। पहले यह बताया जा चुका है कि सतलुज नदी के निचले हिस्से के दोनो ओर का प्रदेश जो आजकल जोहियाबार कहलाता है, वह प्राचीन यौधेय देश था। कनिंघम ने यह लिखा है कि जोहिया शब्द जोधिया का रूपान्तर है, यह सम्भवत यौधेय से बना है। उनके मतानुसार कुछ जोहिया पश्चिमी पंजाब की नमक की पहाड़ियो मे भी रहते है और यहाँ एक पर्वत का नाम जुध है। इसका नाम भी सम्भवतः यौधेयो के आधार पर ही पडा होगा।[1] यौधेयो की मुद्राएँ पूर्वी पंजाब में तथा सतलुज

१. कनिंघम—कायन्स आफ इंडिया, पृष्ठ ७६।

और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में मिली है। आरम्भ में इनके सिक्कों के दो बड़े ढेर सोनीपत से मिले थे, इसके अतिरिक्त सहारनपुर से मुलतान तक के प्रदेश में इनकी मुद्राएँ मिली है। देहरादून जिले में भी कुछ मुद्राएँ उपलब्ध हुई है। लुधियाना जिले से इनकी कुछ मिट्टी की मुहरें मिली है, रोहतक में इनके सिक्कों को तैयार करने वाले साँचे (Moulds) मिले है।[२] इन सिक्कों के उपलब्धि-स्थानों से यह सूचित होता है कि इनके शासन का केन्द्रीय स्थान पूर्वी पंजाब था, किन्तु इसके साथ ही उत्तर प्रदेश तथा राजपूताना के कुछ हिस्सों पर इनका प्रभुत्व था। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार कुषाण साम्राज्य के अभ्युदय से पूर्व यौधेय उत्तरी राजपूताना तथा दक्षिणी-पूर्वी पंजाब पर शासन कर रहे थे।[३] यह परिणाम महाभारत (२।३२।४) के कुछ श्लोकों के आधार पर निकाला गया है जिनमें रोहितक देश (रोहतक जिला) की मत्तमयूरक जाति का वर्णन है।

कनिष्क के समय में पहली शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में कुषाणों ने यौधेयों के प्रदेश को उनसे छीन कर उन्हें अपना वशवर्ती बनाया। बहावलपुर के निकट सुई विहार के अभिलेख से यह स्पष्ट है कि उस समय यौधेयों के मूल प्रदेश जोहिया-बार पर कुषाणों का प्रभुत्व था। कनिष्क और हुविष्क के समय से कुषाण शक्ति अपने उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुची हुई थी, अत लगभग आधी शताब्दी तक यौधेय कुषाणों से दबे रहे है और वे अपना सिर नही उठा सके। किन्तु यौधेयों जैसी स्वतन्त्रता-प्रेमी और योद्धा जाति देर तक विदेशी कुषाणों की दासता के पाश मे नही बधी रह सकी। ऐसा प्रतीत होता है कि १४५ ई० के लगभग उन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झडा उत्तर-पूर्वी राजपूताना मे खडा किया। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार इस विद्रोह को दबाने का कार्य एक महाक्षत्रप रुद्रदामा को सौपा गया। उसने कठोरतापूर्वक इनका दमन किया और इस कार्य पर गर्व प्रकाशपूर्वक उसके गिरनार (१५० ई०) के शिलालेख में यह अंकित है कि उसने समस्त क्षत्रियों मे अपनी वीरता के कारण प्रसिद्ध होने से अभिमान करने वाले यौधेयों को अपना वशवर्ती

---

१ जरनल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, खण्ड २, पृष्ठ १०६।

२ प्रोसिडिंग्स ऑफ दी न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया १६३६, तथा इसी सोसायटी का सिक्के ढालने के विषय में डॉ० बीरबल साहनी द्वारा लिखा गया मेमायर सं० ३ देखें।

३. दी वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ २८।

बनाया था। किन्तु रुद्रदामा की यह दर्पोक्ति सर्वांश मे सत्य सिद्ध नही हुई, वह यौधेयों की स्वतन्त्रता की भावनाओं को थोड़ी देर के लिये ही कुचल सका, क्योकि दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध मे उन्होने पुन. कुषाणो की दासता से मुक्त होने का सफल प्रयास किया। यद्यपि इस विषय मे हमारे पास प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट प्रमाणो की कोई साक्षी नही है, फिर भी मुद्राओं के तुलनात्मक और गम्भीर अध्ययन से जो बाते ज्ञात हुई है उनका पिछले अध्याय मे उल्लेख किया जा चुका है। उससे यह स्पष्ट है कि कुषाण साम्राज्य पर पहली जबर्दस्त चोट करने वाले यौधेय योद्धा ही थे। एलन ने इनकी मुद्राओ का अनुशीलन करके यह परिणाम निकाला है कि दूसरी शताब्दी ई० मे रुद्रदामा और कुषाणों के साथ सघर्ष का उनके आर्थिक साधनो पर अत्यधिक प्रभाव पडा। यही कारण है कि द्वितीय शताब्दी के उत्तरार्ध की उनकी मुद्राएं बहुत अच्छी नही है, इनका स्तर पहली मुद्राओ की अपेक्षा घटिया दर्जे का है।

यौधेयों की मुद्राओं को प्रधान रूप से तीन वर्गों मे बॉटा जाता है—(१) **पहले** वर्ग की मुद्राये पहली शताब्दी ई० पूर्व की है। इन पर प्राकृत का प्रभाव है और **यौधेयानां बहुधाञ्जके** का लेख है। ये मुद्राये बहुधान्यक नामक प्रदेश मे बनाई गई थी। उन दिनो सम्भवत अत्यधिक उर्वर और सम्यश्यामल होने के कारण इनके प्रदेश को बहुत अनाज पैदा करने वाला देश (बहुधान्यक) समझा जाता था। ये मुद्राये कुषाणो के शासन से पूर्व की है। (२) **दूसरे** वर्ग मे दूसरी तथा तीसरी शताब्दी ई० की ब्राह्मी लिपि के लेख वाली वे मुद्राये है जिन पर सस्कृत मे लेख है। इन पर देवताओं के सेनापति स्कन्द कुमार कार्तिकेय अथवा ब्रह्मण्य देव की मूर्ति अकित है। इन मुद्राओं को उनके नाम से प्रचलित किया गया है। इनका पूरा लेख इस प्रकार है—**भगवत. स्वामिनो ब्रह्मण्यदेवस्य कुमारस्य यौधेयानाम्**। इस प्रकार की मुद्राओ की शैली और प्रकार कुणिन्दो की मुद्राओ की शैली से अत्यधिक सादृश्य रखता है। इन पर षडानन स्कन्द की मूर्ति और कुछ सिक्को पर पृष्ठ भाग मे षडानना देवी की मूर्ति है।[1] इस देवी को स्कन्द की पत्नी षष्ठी अथवा देवसेना समझा जाता है। (३) **तीसरे** प्रकार की मुद्राओं पर कुषाणों का स्पष्ट प्रभाव है। ये तीसरी, चौथी शताब्दी ई० की है। इन मुद्राओ पर **यौधेयगणस्य जय:** का लेख अकित है और इन्ही मे से कुछ मुद्राओ पर द्वितृ अथवा त्रि के अक्षर भी बने हुए है। ये द्वितीय और तृतीय शब्दों का सक्षेप समझे जाते है। किन्तु इनकी व्याख्या के सम्बन्ध मे विद्वानो में

१. **जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, खण्ड ५, पृष्ठ २६।**

पर्याप्त मतभेद है। इस विषय मे पहला मत डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर का है कि ये अक्षर इस बात को सूचित करते हैं कि यौधेय गणराज्य ने आर्जुनायनों और कुणिन्दो के साथ मिलकर दो अथवा तीन राज्यो का एक सघ कुषाणो का सामना करने के लिये बनाया था। इस सघ को बनाने का यह उद्देश्य था कि ये सभी राज्य अपने सीमित साधनो को संयुक्त करके अपना ऐसा शक्तिशाली सगठन बना ले जिससे न केवल वे कुषाणो की तत्कालीन दासता से मुक्त हो सके, अपितु भविष्य मे भी विदेशी आक्रमणो का सफलतापूर्वक प्रतिरोध कर सके। महाभारत में यौधेय युधिष्ठिर के वशजों को और आर्जुनायन अर्जुन के वशजो को कहा गया है (महाभारत १। ९५।७५)। अत उन्हें अपने को पाण्डवो का वंशज समझना सर्वथा स्वाभाविक था। सम्भवत. समान वश से उत्पत्ति के इस विश्वास के कारण इनमे एक सघराज्य बनाने की भावना उत्पन्न हुई।[1]

दूसरी कल्पना यह है कि दो तथा तीन के शब्द यौधेय लोगो के दूसरे तथा तीसरे वर्गों को प्रकट करते हैं। सम्भवत उस समय यौधेय जाति कई भागो मे बटी हुई थी। महाभारत में वर्णित मत्तमयूरक इनका इसी प्रकार कोई एक भाग था। वर्तमान समय मे यौधेयो के प्रतिनिधि समझे जाने वाले जोहिये तीन उपजातियो मे बँटे हुए हैं— लगवीर (लकबीर), माधोवीर (मठेरा) तथा अदमवीर (अदमीरा)।[2] कनिघम ने इस विषय मे एक प्राचीन यूनानी लेखक क्विण्टस कर्टियस (Quintus Curtius) के आधार पर यह लिखा है कि प्राचीन काल मे सब्रेसी (Sabracae) या सम्ब्रेसी (Sambracae) नामक जाति मे कोई राजा नही होता था, किन्तु इनका नेतृत्व तीन सेनापति किया करते थे। यौधेयो के उपर्युक्त सिक्कों से यह स्पष्ट है कि ये तीन शाखाओ मे बँटे हुए थे। वागर का अर्थ योद्धा है और यह सम्भव है कि तीन योद्धा-जातियो के संघ को सयुक्त वागर या सम्बाग्री कहा गया हो। बागड़ देश में भटनेर का महान् दुर्ग है और बीकानेर के राजा को अकबर ने बागडी राव (बागड़ देश का राजा) कहा था। इसी प्रदेश मे भाटिया (भाटी) लोग रहते है। इस शब्द का मूल सस्कृत का योद्धावाची भट शब्द प्रतीत होता है, अत यह अनुमान करना अस्वाभाविक नही है कि जोहिया, बागडी और भाटी नामक तीन लडाकू जातियाँ यौधेय अथवा सम्बाग्री नामक जाति की शाखायें हो।[3]

---

१. अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ ३१-३२।

२. एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १६७।

३. कनिंघम—क्वायन्स आफ एशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ७६।

उपर्युक्त मुद्राओ के अतिरिक्त यौधेयो का एक खण्डित अभिलेख भरतपुर जिले के बयाना (विजयगढ़) नामक स्थान से मिला है। इसमें एक महाराज महा-सेनापति के यौधेय गण का अध्यक्ष (यौधेयगण पुरस्कृत) बनाये जाने का वर्णन है। विजयगढ़ अभिलेख तीसरी शताब्दी ई० का है। पिछले अध्याय (पृ०१६३) में यौधेयों की मिट्टी की मुहरो पर अंकित **यौधेयानां जयमन्त्रधराणाम्** के लेख का अभिप्राय स्पष्ट किया जा चुका है। यौधेय गणराज्य चौथी शताब्दी ई० के तृतीय चरण तक एक शक्तिशाली सगठन बना रहा। तीसरी-चौथी शताब्दी की ब्राह्मी लिपि में उनकी मुद्राएँ और मुहरे उत्तरी राजपूताना तथा दक्षिण-पूर्वी पजाब से मिली हैं तथा यह सूचित करती है कि इस सारे समय मे उनका एक प्रबल गणराज्य बना रहा। दुर्भाग्यवश, हमे उनके गणतन्त्रात्मक सगठन और प्रशासन की कोई जानकारी नही है। सम्भवत. यह यौधेयो, आर्जुनायनो और कुणिन्दो के तीन गणराज्यों का एक सघराज्य था। इसकी सभी इकाइयो को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी। इस संघ मे रहते हुए भी उनकी अपनी पृथक् सत्ता बनी हुई थी। शायद उस समय तीनो गणराज्यो की विभिन्न इकाइयो द्वारा चुने हुए राष्ट्रपतियो की एक परिषद् विदेश नीति विषयक मामलो का तथा सैनिक कार्यवाहियो का सचालन और नियत्रण करती थी। इनके राष्ट्रपति महाराज और महासेनापति की उपाधियाँ धारण किया करते थे। यौधेयो के गणराज्य का चौथी शताब्दी ई० मे समुद्रगुप्त ने अन्त कर दिया। इस समय से यह प्रदेश गुप्त साम्राज्य का अग बन गया और इनकी मुद्राएँ मिलनी बन्द हो जाती है।

आर्जुनायन—यह गणराज्य सुप्रसिद्ध पाण्डव अर्जुन को अथवा हैहयवशी अर्जुन को अपना वशप्रवर्तक महापुरुष माना करता था। इनका प्रदेश राजस्थान के भरत-पुर और अलवर के राज्य थे। आर्जुनायन यौधेयो की भाँति प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के मध्य भाग मे हिन्द-यूनानी राजाओ की सत्ता क्षीण होने पर प्रबल हुए, किन्तु इन पर शीघ्र ही कुषाणों ने प्रभुता स्थापित की। कुषाणो की प्रभुता क्षीण होने पर ये पुनः स्वतन्त्र हो गये। इन्होने सभवत' यौधेयो के साथ मिलकर कुषाणों के विरुद्ध विद्रोह करके अपना स्वतत्र राज्य स्थापित किया। यह राज्य चौथी शताब्दी ई०के मध्य तक फलता फूलता रहा। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे सम्राट् के करद राज्यो में इसका उल्लेख है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कुषाणोत्तर युग मे इस राज्य के कोई भी सिक्के नही मिलते हैं। इनके सिक्के केवल पहली शताब्दी ई० पूर्व की समाप्ति तक ही मिलते है। ये इस बात को सूचित करते है कि इन्हें इसके बाद शकों ने जीत लिया।

यद्यपि पहली शती ई० पूर्व के बाद के इनके कोई भी सिक्के नही मिलते, फिर भी समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे इनका उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इन्होने कुषाण-शक्ति के क्षीण होने पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली और सम्भवत: यौधेयों के साथ मिलकर उन्होंने कुषाणो को पजाब से बाहर धकेला था।

कुणिन्द—पहले यह बताया जा चुका है कि यमुना और सतलुज के बीच मे शिवालिक की पहाडियो मे तथा व्यास और सतलुज नदियो के उपरले भागो के मध्यवर्ती प्रदेश में कुणिन्द राज्य था और यहां उनके सिक्के मिले है। शको की प्रभुता का पजाब मे विस्तार होने पर इनके सिक्के मिलना बन्द हो जाता है। इसके बाद ये सिक्के हमे पुन तीसरी शताब्दी ई० से मिलने लगते है। इससे यह सूचित होता है कि कुषाण साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने पर ये पुन स्वतन्त्र हो गये। सम्भवत: इन्होने भी यौधेयो के साथ मिलकर कुषाणों को पूर्वी पजाब से बाहर निकाला। कुणिन्दो के कुषाणोत्तर सिक्को मे **महात्मा** तथा **भागवत** की उपाधि धारण करने वाले **छत्रेश्वर** नामक राजा के सिक्के विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पर **भगवत**. **छत्रेश्वर महात्मन** का लेख है। यह छत्रेश्वर सम्भवत शिव का कोई रूप था, अथवा कुणिन्दो की राजधानी का नाम छत्र था जिसका स्वामी होने के कारण उसे छत्रेश्वर की उपाधि दी गई। एक अन्य कल्पना यह भी है कि यह अहिच्छत्र जैसे किसी नाम का सक्षेप था। यह इस जाति का सरक्षक देवता भी हो सकता है। छत्रेश्वर वाले सिक्के यौधेयो के कार्तिकेय वाले सिक्को से बनावट और आकार प्रकार की दृष्टि से पर्याप्त सादृश्य रखते है।[१] इन सिक्को के घनिष्ठ साम्य के आधार पर ही डॉ० अल्तेकर ने यह कल्पना की कि ये समकालीन राज्य थे और इन्होने तीसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में एक दूसरे को सहयोग देते हुए कुषाणों के विरुद्ध विद्रोह मे सफलता प्राप्त की। यौधेयो की तुलना मे कुणिन्दो का राज्य बहुत ही छोटा था और ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त मे यह यौधेयो के राज्य मे मिल गया, क्योंकि हमे २५० ई० के बाद इनकी कोई मुद्राएँ नहीं मिलती और समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे वर्णित गणराज्यो मे इनका कोई उल्लेख नही है।

मालव—सिकन्दर के समय मे मालव रावी-सतलुज के दोआब मे रहते थे, इसके बाद सम्भवत विदेशी शक्ति के दबाव के कारण इन्हें अपना मूल स्थान

१ **रैप्सन—कैटेलाग, प्लेट २३, ११-१६ तथा प्लेट ३९, २२ तथा ४०,** १०-१४।

छोड़कर दक्षिण की ओर आगे बढ़ना पड़ा। ये पहली शताब्दी ई० के अन्त तक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप में अजमेर, टोंक तथा मेवाड़ के प्रदेश में बसे हुए थे। कुषाणों तथा पश्चिमी क्षत्रपों के अभ्युत्थान से इनको नया खतरा पैदा हो गया। एक शताब्दी तक ये बिल्कुल दबे रहे। पश्चिमी क्षत्रपों ने इन्हें हराकर इनका प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया।

किन्तु मालव स्वाधीनता प्रेमी उग्र योद्धा थे। उन्होंने अपने शासक क्षत्रपों को चैन से नहीं बैठने दिया। वे इनके विरुद्ध विद्रोह करते रहे तथा अपने विजेता क्षत्रपों के साथी उत्तमभद्रों पर हमले करते रहे। इनके हमलों से रक्षा करने के लिये उत्तमभद्रों के मित्र नहपान ने अपने जामाता उषवदात को भेजा था। मालव इसकी सेना के आगे नहीं टिक सके, उन्हें शकों की प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी। दूसरी शताब्दी ई० के अन्त तक वे शकों के अधीन बने रहे। इसी समय शक राज्य में जीवदामा तथा उसके चाचा रुद्रसिंह के बीच में राजगद्दी की प्राप्ति के लिये एक उग्र और लम्बा संघर्ष छिड़ गया। इसमें पश्चिमी क्षत्रपों की शक्ति बहुत क्षीण हुई, इसने मालवों को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। इस समय मालवों के एक नेता **श्रीसोम** ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया, २२५ ई० में उसने अपने गणराज्य की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए एक षष्ठी नामक यज्ञ किया। यह सूचना हमें **नान्दसा यूपस्तम्भ अभिलेख** से मिलती है।[1] इसमें इक्ष्वाकुओं जैसे प्रख्यात, मालव कुलोत्पन्न, विजय प्राप्त करने वाले जयसोम के पुत्र श्रीसोम का तथा इस राज्य के अन्य मुखियाओं का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि सोम के कार्यों द्वारा देश में स्वतन्त्रता और समृद्धि का पुनरागमन हुआ है। मालव इसके बाद समुद्रगुप्त के समय तक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप में बने रहे। यौधेयों की भाँति इनमें भी प्रशासन का कार्य जनता द्वारा चुने गये मुखिया या सरदार किया करते थे। इनके पद कई बार आनुवंशिक हो जाते थे। नान्दसा अभिलेख में यह बताया गया है कि श्रीसोम ने सार्वजनिक प्रशासन के पितृ-परम्परागत कार्य-भार को वहन किया। इस विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि इस लेख में श्रीसोम या उसके पिता या दादा के साथ महाराज या सेनापति जैसी कोई राजकीय या सैनिक पदवी नहीं लगायी गयी है। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार इससे यह सूचित होता है कि मालवों में गणतन्त्र की परम्परायें अत्यधिक प्रबल थीं। विदेशी शासन से मातृभूमि को मुक्त करने का महत्वपूर्ण कार्य सफलतापूर्वक करने वाले यशस्वी वीर पुरुष भी इस

---

१. **एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड २७, पृष्ठ २५२।**

बात का साहस नही कर सकते थे कि वे अपने नाम के साथ राजकीय पदवी लगायें। **इस लेख** का प्रधान प्रयोजन मालवो की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के महत्वपूर्ण कार्य की घोषणा **करना मात्र था**। तीसरी-चौथी शताब्दियो में मालव अपनी मुद्राएँ प्रचुर मात्रा में जारी करते रहे। राजस्थान मे इनकी राजधानी मालवनगर थी। इसकी पहचान जयपुर जिले के उनियारा मे नगर या कर्कोट नगर से की गई है।

इनकी मुद्राये दो वर्गों मे बाँटी जाती हैं—[1] (१) पहले वर्ग के सिक्को पर **मालवानां जय.** का लेख है और यह सम्भवत. कुषाणो के पतन के बाद का है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि इन्होने यौधेयो की भाँति कुषाणो की सत्ता का उन्मूलन करने मे कुछ भाग लिया था। (२) दूसरे वर्ग की मुद्राएँ लिपि के आधार पर दूसरी तथा तीसरी शताब्दी ई० की समझी जाती है। इनकी मुद्राओ पर **मजुप, मपोजय, मपय, मगोजय, मपक, पच, गजव, मरज** आदि के लेख है। अभी तक विद्वान् इन लेखो का वास्तविक अभिप्राय समझने मे समर्थ नही हुए है, एलन की यह कल्पना है कि ये किन्ही व्यक्तियो के नाम नही है, किन्तु **मालवानां जय.** के विभिन्न अक्षरो से बने हुए निरर्थक शब्द है। इस कल्पना का यह आधार है कि उपर्युक्त अधिकाश नामो के शुरू मे मकार का प्रयोग है और इसके अतिरिक्त जकार का भी प्रयोग अधिक मात्रा मे है।[2] किन्तु अन्य विद्वान् एलन की इस कल्पना से सहमत नही है। उनका यह मत है कि उपर्युक्त शब्द सम्भवत शक जाति से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियो के नामो के पहले अक्षर है।

मालवो का राज्य एक अन्य दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। इन्होने भारत मे सर्वप्रथम ५८ ई० पूर्व से आरम्भ होने वाले विक्रम सवत् का प्रयोग किया। कुछ विद्वानो के मतानुसार मालवो ने इस सवत को अपने इतिहास की किसी महत्वपूर्ण घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए आरम्भ किया था। यह घटना सम्भवत. राजपूताना मे इनके गणराज्य की स्थापना थी। इनके पजाब से राजस्थान आने का कारण सम्भवत हिन्द-यूनानी राजाओ द्वारा अथवा शको द्वारा पजाब पर अधिकार करने से उत्पन्न परिस्थितियाँ थी। इनसे विवश होकर जब ये राजस्थान मे बस गये तो इन्होने नया संवत् चलाया। किन्तु श्री दिनेशचन्द्र सरकार का यह मत है कि ५८ ई० पूर्व से आरम्भ होने वाले सवत् का प्रयोग सर्वप्रथम ईरान के शकस्थान (ट्रगियाना) में हुआ था। शक इसे वहाँ से अपने साथ पजाब मे लाये थे। उन्होने

१. **ऐलन—कैटेलाग, पृष्ठ** १०५।
२. **ऐलन—कैटेलाग, पृष्ठ** ५२।

इसे यहाँ प्रचलित किया था। मालव पंजाब से राजपूताना जाते हुए इसे अपने साथ ले गये। उन्होंने इस संवत् को अपने एक यशस्वी नेता कृत के नाम पर कृत संवत् का नाम दिया। सम्भवतः इस महापुरुष ने उन्हें विदेशी शासन की दासता से मुक्त कराया था।[1]

मालव लोगों को तीसरी-चौथी ई० में पश्चिमी क्षत्रपों की कार्दमक शाखा के साथ संघर्ष करना पड़ा था। चौथी शताब्दी में इन दोनों को गुप्त सम्राटों का वशवर्ती होना पड़ा। गुप्तों ने शक वंश को तो सर्वथा निर्मूल कर दिया, किन्तु मालव वंश की एक शाखा औलीकर गुप्त सम्राटों के सामन्तों के रूप में यहाँ देर तक शासन करती रही। इन औलीकर मालवों के कारण ही, विशेषतः इनके शक्तिशाली राजा यशोधर्मा के वीरतापूर्ण कृत्यों से और राज्य-विस्तार से मध्य तथा पश्चिमी भारत के एक बड़े भाग को मालवा का नाम दिया गया। यह प्रदेश आज तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अवन्ती (उज्जयिनी के आसपास का प्रदेश) तथा आकर या दशार्ण (विदिशा के चारों ओर का प्रदेश) सम्मिलित था। इस विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि मालवा प्रदेश के राजा गुप्तों के अधीन होते हुए भी गुप्त संवत् के स्थान पर कृत संवत् का प्रयोग करते रहे।

उत्तम भद्र—ये राजपूताना में मालवों के पड़ोसी थे, ये सम्भवतः अजमेर के निकट पुष्कर के समीपवर्ती प्रदेशों में रहा करते थे। इनका परिचय हमें केवल अभिलेखों में मिलता है। ये पश्चिमी क्षत्रपों के मित्र थे और इन्हें शक शासक नहपान के दामाद और राजप्रतिनिधि उषवदात (११९–२३ ई०) से मालवों के विरुद्ध युद्ध में सहायता मिली थी।

मद्र—समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में मद्रों का उल्लेख यह सूचित करता है कि उससे पहले इनका गणराज्य विद्यमान था। पहले यह बताया जा चुका है कि मद्र रावी और चनाब के दोआब में बसे हुए थे, इनकी राजधानी शाकल अथवा स्यालकोट थी। ऐसा प्रतीत होता है कि शकों के बाद केन्द्रीय पंजाब में उनके उत्तराधिकारी गडहरों की शासन-सत्ता को समाप्त करके चौथी शताब्दी ई० के आरम्भ में मद्रों ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया था। सम्भवतः इन्हें यौधेयों की सफलता ने अपना राज्य स्थापित करने की प्रेरणा दी होगी और प्रोत्साहित किया होगा। मद्रों के कोई सिक्के या अभिलेख अभी तक नहीं मिले हैं।

---

१. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ ६३, ६४।

औदुम्बर—मद्र देश के निकट ही गुरुदासपुर, कांगड़ा और होशियारपुर के जिलों में पहले औदुम्बर राज्य था। इस गणराज्य की प्राक्-कुषाणकालीन मुद्राएँ तो बड़ी संख्या में मिली है, किन्तु कुषाणोत्तर युग की कोई मुद्रा नहीं मिली है। डॉ० अल्तेकर ने इससे यह परिणाम निकाला है कि तीसरी-चौथी शताब्दी ई० मे औदुम्बर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित नहीं कर सके। सम्भवत उनका प्रदेश समीपवर्ती मद्र गणराज्य में ही इस समय सम्मिलित हो गया था।

कुलूत—ये काँगडा जिले की कुल्लू घाटी मे रहते थे। बृहत्संहिता और मुद्राराक्षस मे इनका उल्लेख मिलता है। कुलूत देश के राजा वीरयशा की तीसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध की मुद्राएँ मिली है। इस देश को भी सम्भवतः गुप्तों ने अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया था।

राजतन्त्रात्मक राज्य

कौशाम्बी—कुषाणो का साम्राज्य क्षीण होने पर उत्तरी भारत मे अनेक राजतन्त्रात्मक राज्यो का अभ्युदय हुआ। सम्भवत इस युग मे इस प्रकार का सबसे पहला राज्य कौशाम्बी का था। यहा कुषाणो के बाद **मघ वश** के राजाओ का शासन स्थापित हुआ। इनके अनेक अभिलेख कौशाम्बी तथा मध्य प्रदेश के बघेलखण्ड से मिले है, अत इस राजवश को कौशाम्बी और बघेलखण्ड का मघ राज्य कहा जाता है। इस वश के चार राजाओ के नामो के अन्त मे मघ शब्द आता है। इनके अभिलेखो मे एक सवत् का प्रयोग है। इस सवत् के बारे मे श्री एन० जी० मजूमदार और श्री कृष्णदेव का मत है कि यह २४८ ई० मे आरम्भ होने वाला चेदि सवत् है। श्री दयाराम साहनी के मतानुसार यह गुप्त सवत् है। मार्शल, कोनो और डॉ० मोतीचन्द्र ने इसे शक सवत् माना है। डॉ० अल्तेकर ने इस मत के समर्थन मे प्रबल प्रमाण उपस्थित किये है और अब अधिकाश विद्वान् इसी मत को मानते है।[1]

मघ राजाओ के अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि कौशाम्बी सम्भवत कुषाण साम्राज्य से पृथक् होकर स्वतन्त्र राज्य बन गया था। इस वश का पहला राजा भीमसेन था। इसने हुविष्क के समय मे १३० ई० मे बघेलखण्ड में स्वतन्त्र रूप से शासन शुरू कर दिया था। इसकी सूचना हमे इलाहाबाद के दक्षिण मे ४० मील की दूरी पर विद्यमान गिंजा नामक स्थान से मिले सवत् ५२ (१३० ई०) के एक

१. अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज, पृष्ठ ४१-४२।

लेख से मिलती है। इसमें इसे महाराज कहा गया है। इसी राजा का एक अन्य अभिलेख रीवा के बान्धवगढ नामक स्थान से मिला है और यह सूचित करता है कि उसका काफी बडे प्रदेश पर राज्य था। सम्भवत इनका मूल स्थान बान्धवगढ ही था, यहीं से इन्होंने अपने राज्य का विस्तार किया था। भीटा से प्राप्त एक मुहर में वासिष्ठीपुत्र भीमसेन नामक राजा का उल्लेख है।[1] इसे कई विद्वानों ने उपर्युक्त भीमसेन से अभिन्न माना है। उपर्युक्त अभिलेखो से यह सूचित होता है कि भीमसेन का शासन इलाहाबाद जिले तथा रीवा के कुछ भागो में था। भीमसेन की अभी तक कोई मुद्रा नही मिली है।

भीमसेन के बाद इस वंश का अगला राजा कौत्सीपुत्र पौठश्री है। बान्धवगढ में इसके सवत् ८६–८७ तथा ८८ (१६४, १६५ तथा १६६ ई०) के लेख तथा भीटा से मिली कुछ मुद्राओ पर "प्रष्ठश्रीय" का अस्पष्ट सा लेख मिलता है। यह सम्भवत इसी राजा को सूचित करता है। पौठश्री द्वारा मुद्राओ का प्रचलित करना इस बात को सूचित करता है कि इसने इस प्रदेश में अपनी सत्ता सुदृढ कर ली थी, यह कुषाण सम्राट् वासुदेव के आधिपत्य से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुका था। सम्भवत वासुदेव अपने साम्राज्य के पूर्वी भाग पर नियत्रण रखने में अब समर्थ नही रहा था।

पौठश्री के उत्तराधिकारी भद्रमघ के ८१, ८६, ८७ सवत् (१५९, १६४ और १६५ ई०) के लेख कौशाम्बी से मिले है और सवत् ९० (१६८ ई०) का एक लेख बान्धवगढ में मिला है।[2] इन सभी लेखो से यह ज्ञात होता है कि जिस समय कौत्सीपुत्र पौठश्री बघेलखण्ड में शासन कर रहा था उसी समय भद्रमघ कौशाम्बी का शासक था और बाद में सम्भवत वह बघेलखण्ड का भी शासक बन गया। एक ही समय में दो राजाओं द्वारा एक प्रदेश पर शासन करना वस्तुत. आश्चर्यजनक है और इसकी व्याख्या विभिन्न ऐतिहासिको ने विभिन्न प्रकार से की है। पहली व्याख्या डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार की है कि भद्रमघ सम्भवत भीमसेन का छोटा सौतेला भाई अथवा पौठश्री का बडा सौतेला भाई था। वह महाराज भीमसेन के बाद एकदम गद्दी पर बैठ गया। किन्तु पौष्ठश्री ने भद्रमघ की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करते हुए उसके राज्यकाल के अन्तिम भाग में इस राज्य के दक्षिणी भाग में अपने स्वतन्त्र राजा होने की घोषणा की और बाद में उसने कौशाम्बी के प्रदेश पर भी अपनी

---

१. **आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट, १९११, पृष्ठ १२।**

२. **एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड २४, पृष्ठ २५३, खण्ड १८, पृष्ठ १६० और खण्ड २३, पृष्ठ २४५।**

शासन-सत्ता का विस्तार किया। किन्तु श्री सरकार के इस मत को मानने मे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि भद्रमघ को बान्धवगढ के अभिलेख के भद्रदेव से अभिन्न समझा जाय तो अभिलेखीय प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि भद्रमघ पौठश्री के बाद भी जीवित रहा और उसने उसके मरने के बाद ही बान्धवगढ के प्रदेश पर अधिकार किया।[1] अत डॉ० अल्तेकर ने इस विषय मे दूसरी कल्पना यह की है कि भद्रमघ पौठश्री का पुत्र था। यद्यपि इस कल्पना मे यह दोष प्रतीत होता है कि जब पिता पौठश्री १६६ ई० तक बान्धवगढ मे शासन करता रहा तो १५९ ई० मे उसका पुत्र भद्रमघ कौशाम्बी मे किस प्रकार शासन कर रहा था। इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि युवराज भद्रमघ ने अपनी वीरता और कूट-नीति से कौशाम्बी के प्रदेश तक अपने पिता के राज्य को विस्तीर्ण किया था, अत. पिता ने अपने जीवनकाल मे ही उससे प्रसन्न होकर उसे कौशाम्बी मे स्वतन्त्र रूप से शासन करने की अनुमति दी थी।[2] प्राचीन साहित्य मे इस प्रकार युवराजो द्वारा अपने पिताओ के काल मे अभिलेख लिखवाने और महाराज की उपाधि धारण करने के अनेक उदाहरण मिलते है। पल्लव राजा विष्णुगोप वर्मा ने राजकुमार होते हुए अपने नाम से अभिलेख प्रकाशित करवाया था। गुप्त वश के युवराज गोविन्दगुप्त ने वैशाली पर शासन करते हुए महाराज की उपाधि धारण की थी। इसी प्रकार सम्भवत भद्रमघ भी अपने पिता के शासन-काल मे ही कौशाम्बी से इस राज्य के उत्तरी भाग की देखभाल कर रहा था। यह व्यवस्था सम्भवत नवीन स्वतन्त्रता प्राप्त करने वाले इस राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से की गई थी। पौठश्री की मृत्यु के बाद भद्रमघ ही समूचे राज्य पर शासन करने लगा। भद्रमघ की मुद्राएँ फतहपुर के मुद्रा-सग्रह मे मिली है।[3]

अगला शासक सम्भवत शिवमघ था। भीटा से प्राप्त एक मुहर मे **महाराज गौतमीपुत्र शिवमघस्य** का लेख है। यह सम्भवत इसी राजा की मुद्राएँ है। शिवमघ के बाद वैश्रवण गद्दी पर बैठा। इसका सवत् १०७ (१८५ ई०) का एक अभिलेख कोसम से मिला है।[4] यह शिवमघ की वशपरम्परा से भिन्न वश का

---

१ **एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी**, पृष्ठ १७६।

२. **अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज**, पृष्ठ १४०।

३. **जर्नल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, खण्ड** २, पृष्ठ ९५–१०८।

४. **एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड** २४, पृष्ठ १४६।

प्रतीत होता है क्योकि इसमे इसका पिता भद्रबल महासेनापति बताया गया है। वैश्रवण की मुद्राएँ भी फतहपुर मुद्रा-सग्रह मे मिली है। सम्भवत उसका शासन २०८ ई० से कुछ समय पहले समाप्त हो गया था, क्योंकि इस वर्ष का उसके उत्तराधिकारी का लेख मिला है।

वैश्रवण का उत्तराधिकारी भीमवर्मा था। इसकी तिथि का ज्ञान हमे कोसम से प्राप्त बुद्ध की एक प्रस्तर मूर्त्ति पर अकित लेख से होता है। इसमे सवत् १३० (२०८ ई०) का उल्लेख है।[1] भीमवर्मा के सिक्के भी फतहपुर की निधि मे मिले हैं, इनसे इसका मघवश के साथ निश्चित सम्बन्ध प्रतीत होता है। कौशाम्बी से प्राप्त सिक्को मे शतमघ और विजयमघ, पुरमघ, युगमघ तथा रुद्र नामक अन्य राजाओ के भी सिक्के मिले हैं। इनके बारे मे कोई तिथियुक्त अभिलेख अब तक नही मिला है। अत मघ वश की परम्परा मे इनका स्थान निश्चित करना बहुत कठिन है। सम्भवत ये कौशाम्बी के अतिम राजाओ मे से थे। रुद्र को समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे वर्णित रुद्रदेव नामक उस राजा से अभिन्न समझा जाता है, जिसका उन्मूलन समुद्रगुप्त ने किया था।

इस प्रसग मे भीटा की एक मुहर का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। इस मुहर पर यह लेख है—**श्री विन्ध्यवेध महाराजस्य माहेश्वर महा-सेनापति-सृष्ट-राज्यस्य वृषध्वजस्य गौतमीपुत्रस्य**। मार्शल के मतानुसार इसमे एक यशस्वी महाराज गौतमीपुत्र वृषध्वज का वर्णन है, जिसने विन्ध्य पर्वतमाला का वेधन (दुष्प्रवेश्य प्रदेशों का अवगाहन) किया था और अपना राज्य कार्त्तिकेय को समर्पित किया था।[1] यह मुहर सम्भवत तीसरी शताब्दी ई० की है। हमे यह ज्ञात नही है कि भीटा मे राज्य करने वाला यह कोई स्वतन्त्र राजा था अथवा बान्धवगढ के उपर्युक्त वंश मे सम्बद्ध था। यदि वह भीटा का राजा था तो हमे यह मानना पडेगा कि उसने दक्षिण मे विन्ध्य पर्वतमाला मे बहुत दूर तक अपने शासन का विस्तार करके **विन्ध्यवेध** की उपाधि धारण की थी। भीटा मे ही प्राप्त चौथी शताब्दी ई० की एक मुहर मे 'महाराज शंकरसिंह' का उल्लेख है। इसे श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने विन्ध्यवेध का उत्तराधिकारी माना है।[3] भीटा की मुहरो मे **महा-देवी रुद्रमती** और **महाश्वपति—महादण्डनायक विष्णुरक्षित** का भी नाम है।

१. इंडियन कलचर खण्ड ३, पृष्ठ १७७।
२. बैनर्जी—डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृष्ठ १४२।
३. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १७७।

ये सम्भवतः भीटा के राजाओं से सम्बद्ध थे। इस वंश का उन्मूलन गुप्त महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त ने किया होगा।

पद्मावती तथा मथुरा के नाग राजा—तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पुराने ग्वालियर राज्य में दो नागवंशी परिवार शासन कर रहे थे। एक की राजधानी मथुरा थी और दूसरे की पद्मावती। यह मथुरा से १२५ मील दक्षिण में ग्वालियर राज्य में आजकल पद्म-पवाया के नाम से प्रसिद्ध है। यह सम्भव है कि ये दोनों नागवंशी घराने एक दूसरे से कोई सम्बन्ध रखते हों, किन्तु हमारे पास इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। पुराणों के अनुसार गुप्तों से पहले नागवंशी राजाओं का शासन था। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में गुप्त-सम्राट् द्वारा उत्तर भारत के नाग नामधारी और इन वंशों से सम्बद्ध नागदत्त, नागसेन, गणपतिनाग और अच्युत नदी के उन्मूलन का वर्णन है। वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में यह बताया गया है कि पद्मावती में नौ नाग राजाओं ने तथा मथुरा में सात नाग राजाओं ने शासन किया।[1] विष्णुपुराण में कान्तिपुरी में शासन करने वाले एक तीसरे राजवंश का वर्णन है। इसकी राजधानी कान्तिपुरी थी,[2] जिसे श्री काशी-प्रसाद जायसवाल ने मिर्जापुर का कन्तित नामक स्थान माना है। यद्यपि कन्तित एक पुराना कसबा है, किन्तु यहाँ से नाग शासन का कोई अवशेष अथवा नागवंशी राजाओं की कोई मुद्रा नहीं मिली है। श्री जायसवाल ने यह मत प्रकट किया था कि कान्तिपुरी के नाग वाकाटक राजाओं के ताम्रपत्रों में वर्णित भारशिवों से अभिन्न हैं। इन ताम्रपत्रों में यह बताया गया है कि भारशिव वंश की स्थापना शिव की कृपा से हुई थी। उस वंश के राजाओं ने अपने कन्धों पर शिवलिंग धारण करके शिव को प्रसन्न किया था और इन्होंने राजसिंहासन अपने शस्त्रों के पराक्रम से प्राप्त किया था तथा गंगा के पवित्र जल से इस सिंहासन को पूत बनाया था। इससे श्री जायसवाल ने यह परिणाम निकाला है कि उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों से कुषाणों के शासन को समाप्त करने वाले भारशिव राजा ही थे। उनके मतानुसार सिक्कों से ज्ञात होने वाले नव, वीरसेन, हयनाग, त्रयनाग तथा बर्हिनाग कान्तिपुरी के भारशिव वंश से सम्बद्ध थे। किन्तु अन्य ऐतिहासिक इस मत से इस कारण सहमत नहीं हैं कि इन

---

१ नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं पद्मावतीं नृपा ।
मथुराञ्च पुरीं रम्यां नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै ।।

२ नव नागा पद्मावत्यां कान्तिपुर्यां मथुरायाम् ।
पार्जीटर—डाइनेस्टीज ऑफ कलि एज, पृष्ठ ५३ ।

राजाओ की कोई भी मुद्रा कन्तित से नही मिली है तथा भारशिव वश के अन्य कोई भी अवशेष मिर्जापुर जिले मे नही पाये गये है।

डॉ० अल्तेकर का यह मत है कि पद्मावती मे शासन करने वाले राजाओं का ही सम्भवत. दूसरा नाम भारशिव था। भारशिव शिवलिंग को अपने कन्धो पर धारण करते थे और शैव-धर्म के उपासक थे। पद्मावती के नाग राजाओं के सिक्को से भी हमे यह बात मालूम होती है। ये राजा अपनी मुद्राओ पर शिव के आयुध त्रिशूल तथा वाहन नन्दी को विशिष्ट स्थान दिया करते थे। भारशिवो के एक ही राजा भवनाग के नाम का हमे ज्ञान है। इसके अन्त मे आने वाला नाग पद यह सूचित करता है कि भारशिव नागवशी राजा थे। भवनाग की मुद्राएँ पद्मावती के अन्य नाग राजाओ के सिक्को के साथ मिली है। इन सिक्को की लिपि यह प्रदर्शित करती है कि भवनाग चौथी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे हुआ था। वाकाटक वश के इतिहास से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अत इस बात को लगभग निश्चित समझना चाहिये कि गगा तक के प्रदेश को जीतने वाले और अश्वमेध यज्ञ करने वाले भारशिव राजा पद्मावती के नागवशी राजाओं से भिन्न नही थे।[1]

पुराणो मे यह कहा गया है कि पद्मावती मे नौ नाग राजाओ ने शासन किया। किन्तु उन्होने न तो इनके नाम दिये है और न ही इनकी वशपरम्परा के किसी क्रम का वर्णन किया है। ३२५ ई० के लगभग गुप्तो का अभ्युदय होने से पूर्व पद्मावती के नौ राजाओ ने शासन किया था, अत इनका अभ्युत्थान सम्भवत दूसरी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध मे हुआ होगा और ये पहले कुषाणो के सामन्त रहे होगे। मुद्राओ से हमे दस नाग राजाओं के नामो का परिचय मिलता है। ये नाम इस प्रकार है—भीमनाग, विभुनाग, प्रभाकरनाग, स्कन्दनाग, बृहस्पतिनाग, व्याघ्रनाग, वसुनाग, देवनाग, भवनाग तथा गणपति नाग।

हर्षचरित में एक अन्य ग्यारहवे नाग राजा नागसेन का उल्लेख है तथा समुद्र-गुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे नागसेन के अतिरिक्त एक बारहवे नाग राजा नागदत्त का भी नाम मिलता है। पद्मावती और मथुरा मे केवल १२५ मील का अन्तर है, अत यह असम्भव नही कि उपर्युक्त राजाओ मे से कुछ मथुरा के नागवश से सम्बद्ध हों। गणपति नाग की मुद्राएँ पद्मावती की अपेक्षा मथुरा मे अधिक मिली है, अत यह सम्भवत: मथुरा के नाग वश से सम्बद्ध राजा प्रतीत होता है।

---

१ जरनल ऑफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया, खण्ड ५, पृष्ठ २१-२७।

इन राजाओ की वशपरम्परा का कोई निश्चित ज्ञान न होने के कारण यह कहना कठिन है कि इनमे कौन से राजा कुषाणो के सामन्त थे और किन राजाओं ने कुषाण सत्ता का गगा की घाटी से उन्मूलन करके दसअश्वमेध यज्ञ किये। सम्भवत. यह कार्य तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे उस समय हुआ जब गगा के मैदान में कुषाणो की सत्ता का ह्रास हो रहा था। इस समय दक्षिण मे कौशाम्बी के मघवशी राजा तथा उत्तर मे यौधेय कुषाण सत्ता से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहे थे, नागों अथवा भारशिवो ने भी उनके उदाहरण का अनुसरण किया होगा। चूकि कुषाण साम्राज्य पर यौधेय पहले ही प्रबल प्रहार कर चुके थे, अत नागो को मथुरा तक कुषाण सत्ता का अन्त करने मे और स्थानीय कुषाण शासको को पराजित करने मे कोई बड़ी कठिनाई नही हुई होगी। इस सफलता के बाद इन राजाओ ने दस अश्वमेध यज्ञ किये होंगे, किन्तु इन यज्ञों की सख्या से यह परिणाम निकालना ठीक नही है कि ये भारशिव अथवा नागवशी राजा बडे शक्तिशाली और प्रतापी थे, क्योकि इस समय अश्वमेध यज्ञ बहुत छोटे-छोटे राजा भी किया करते थे।[1] इस विषय मे सच्चाई केवल इतनी ही प्रतीत होती है कि कुषाणों को अपने साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तो मे इसलिए हाथ धोने पडे कि यौधेयो, मालवो और नागो ने सम्भवत एक ही समय मे कुषाण सत्ता के विरुद्ध विद्रोह किया था, इसमे प्रमुख भाग यौधेयो ने लिया था। इन सबके सम्मिलित प्रयत्नो से कुषाण साम्राज्य का अन्त हुआ था।

पद्मावती के नागवशी राजाओ मे हमे केवल भवनाग के सम्बन्ध मे ही कुछ बातो का निश्चित ज्ञान है। भवनाग ने लगभग ३०५ ई० से ३४० ई० तक शासन किया। ३०० ई० में उसकी कन्या का विवाह वाकाटक वश के युवराज गौतमी-पुत्र से हुआ। वाकाटक अभिलेखों मे सदैव इस बात का वर्णन किया जाता है कि भवनाग रुद्रसेन प्रथम का नाना था। राजवंशावलियो मे नाना का उल्लेख प्राय तभी किया जाता है जब वह अत्यन्त प्रसिद्ध शासक हो अथवा उसने कोई विशेष सहायता दी हो। इस विषय में दोनो ही कारण प्रतीत होते हैं। सौ वर्ष के शासन के बाद पद्मावती का नाग राज्य उस समय के अतीव प्रसिद्ध राजवंशों में गिना जाने लगा था। वाकाटक राजा प्रवरसेन ने सम्भवत: यह अनुभव किया होगा कि यदि वह अपने युवराज का विवाह इस वंश के भवनाग की कन्या से करेगा तो उसके वश को बडी

---

१ भण्डारकर—इण्डियन कलचर, खण्ड १, पृष्ठ ११४। विष्णुकुण्डी राजा माधववर्मा के बारे में यह कहा जाता है कि उसने ग्यारह अश्वमेध किये थे, कदम्ब राजा मयूर शर्मा ने १८ अश्वमेध यज्ञ किये थे, किन्तु ये बहुत ही छोटे राजा थे।

प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। भवनाग का दामाद गौतमीपुत्र अपने पिता से पहले ही दिवंगत हो गया। अतः गौतमीपुत्र का बेटा रुद्रसेन प्रथम गद्दी पर बैठा। उसे सिंहासन पर बैठते ही अनेक भीषण आपत्तियों का सामना करना पड़ा। इस समय भवनाग ने उसकी अत्यधिक सहायता की। ३४० ई० मे भवनाग की मृत्यु के समय नागवशी राजा वाकाटको को सहायता देकर अपनी प्रतिष्ठा और गौरव मे वृद्धि कर चुके थे। पद्मावती तथा मथुरा के दोनों राजघराने इस समय मथुरा, धौलपुर, आगरा, ग्वालियर, कानपुर, झाँसी तथा बाँदा के प्रदेशो पर शासन कर रहे थे।

चतुर्थ शताब्दी के मध्य मे नागसेन और गणपति नामक राजाओ का शासन था। हर्षचरित के मतानुसार नागसेन पद्मावती का शासक था और गणपति के सिक्के मथुरा मे प्रचुर मात्रा मे पाये गये है, अत वह सम्भवत मथुरा का शासक रहा होगा। इन दोनो को गुप्त सम्राटो की शक्ति का सामना करना पड़ा। समुद्रगुप्त ने इन दोनो का उन्मूलन करके इनके राज्य को अपने साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

नागवशी राजाओ के समय मे पद्मावती एक सुप्रसिद्ध नगरी थी। यह मध्यप्रदेश मे नरवर के समीप सिन्धु तथा पारा नदियो के सगम पर अवस्थित होने के कारण तीन ओर के आक्रमणो मे सुरक्षित थी। यहाँ अनेक भव्य राजप्रासाद और मदिर थे। यह उस समय सस्कृति और शिक्षा का एक सुप्रसिद्ध केन्द्र थी। यहाँ की खुदाई से यह पता लगा है कि दूसरी शताब्दी ई० से ही यह एक बडा स्थान बन गया था।[१] नागवश का शासन समाप्त होने पर भी इस नगरी की महत्ता पूर्ववत् बनी रही। भवभूति ने आठवी शताब्दी मे इस नगर का बडा भव्य वर्णन अपने सुप्रसिद्ध नाटक मालतीमाधव के चतुर्थ अक मे किया है। उस समय बरार जैसे दूरवर्ती प्रदेशो से मत्री अपने पुत्रो को उच्च शिक्षा के लिये इस नगरी मे भेजा करते थे।

चौथी शताब्दी ई० के मध्य मे अहिच्छत्र मे अच्युत नामक एक राजा का उत्कर्ष हुआ। इसकी मुद्राएँ कुछ नाग मुद्राओ से गहरा सादृश्य रखती है और डॉ० अल्तेकर के मतानुसार यह असम्भव नही है कि वह मथुरा के घराने से सम्बन्ध रखने वाला एक नाग राजा हो। उसने समुद्रगुप्त के राज्य के विस्तार का विरोध किया था। प्रयाग-प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त ने उसका उन्मूलन करके उसके राज्य को गुप्त साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया था। इसी प्रकार समुद्रगुप्त द्वारा परास्त किया गया आर्यावर्त का राजा नागदत्त भी सम्भवत एक नागवशी

---

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया---एनुअल रिपोर्ट (१९१५-१६) पृष्ठ १००।

राजा था। हमें इस बात का ज्ञान नहीं है कि उसका शासन किस प्रदेश मे था। डॉ० अल्तेकर के मतानुसार सम्भवत यह भी मथुरा के नागवशी राजघराने की किसी शाखा का सदस्य था और गगा-यमुना के दोआब के उत्तरी भाग मे शासन कर रहा था।

यद्यपि गुप्त सम्राटो का यह दावा था कि उन्होने सभी नागवशी राजाओ का समूलोन्मूलन किया, फिर भी इन राजघरानो के सदस्य गुप्त साम्राज्य का पतन होने तक गुप्त सम्राटो के सामन्त या पदाधिकारी बने रहे। समुद्रगुप्त ने स्वयमेव अपने पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह ३७० ई० मे एक नागराज की कन्या से किया था, इसके लगभग एक शताब्दी बाद सर्वनाग गगा-यमुना के दोआब मे गुप्त सम्राटो का प्रान्तीय शासक था।

बड़वा के मौखरि—नागवशी राजाओ की राजधानी पद्मावती से डेढ सौ मील पश्चिम भूतपूर्व कोटा राज्य के बडवा नामक स्थान मे तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे एक छोटा सा मौखरि राज्य था। २३९ ई० मे महासेनापति बल इस राज्य का शासक था और उसके तीन पुत्र उसे प्रशासन मे सहायता दे रहे थे। उसका महासेनापति का पद उसके सेनानी होने को नही, अपितु इस बात को प्रकट करता है कि वह एक बडा जागीरदार था, एक या दो जिलो पर शासन कर रहा था। बडवा के मौखरि सम्भवत उज्जयिनी के पश्चिमी क्षत्रपो के अथवा पद्मावती के नागवशी राजाओ के वशवर्त्ती सामन्त थे। ये वैदिक धर्म के परम भक्त थे। बल के तीन पुत्रो मे से प्रत्येक ने २३९ ई० मे **त्रिरात्र** नामक वैदिक यज्ञ किया था। इसकी स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए प्रस्तर के यूप-स्तम्भो का निर्माण किया गया था, इन पर अकित लेख से ही हमे इतना ज्ञान हो सका है। (एपिग्राफिया इडिका, २३, ४२-५२)। इनका आरम्भिक अथवा परवर्त्ती इतिहास बिल्कुल अज्ञात है, अत बाद मे दक्षिणी बिहार और कन्नौज मे प्रबल होने वाले मौखरि वश के साथ बडवा के मौखरियो के सम्बन्ध के बारे मे कोई बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती है।

देहरादून का शीलवर्मा—कुषाण साम्राज्य के ध्वसावशेषो पर वर्तमान देहरादून जिले मे पोण नामक एक व्यक्ति ने स्वतत्र राज्य स्थापित किया। इसकी छठी पीढी मे शीलवर्मा नामक राजा हुआ। इस राजा के ईंटो पर लिखे लेख देहरादून जिले के जगतपुर नामक स्थान से पाये गये है। इनसे यह ज्ञात होता है कि वार्षगण्य गोत्र मे उत्पन्न राजा शीलवर्मा युग अथवा **युगशैल** नामक एक स्थान

का शासक था। इसने चार अश्वमेध यज्ञ किये थे। चौथे अश्वमेध यज्ञ की वेदी के लिये चिनी गई ईंटो पर राजा ने अपने लेख अकित करवाये थे और इन्ही लेखो से हमे इस राजा का ज्ञान हुआ है।[1] सम्भवत. इस राज्य का सस्थापक कोई कुषाण या शक जाति का विदेशी व्यक्ति था। यह बात उसके पोण नाम से सूचित होती है। किन्तु छटी पीढी तक ये विदेशी पूर्ण रूप से भारतीय बन चुके थे, शीलवर्मा जैसे भारतीय नाम रखने लगे थे और वैदिक यज्ञो को करने मे गौरव का अनुभव करने लगे थे।

अयोध्या

यह राज्य कुषाणो के साम्राज्य मे सम्मिलित था। पहले इसके कनिष्क द्वारा जीते जाने तथा यहाँ से अश्वघोष के ले जाने का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ कुषाणोत्तर युग की कुछ ढली हुई मुद्राएं मिली है, वे यहा की पूर्व-वर्णित मुद्राओ से सर्वथा भिन्न है। इनमे प्राय. अग्रभाग मे वृष तथा पृष्ट भाग मे मुर्गे और स्तम्भ का चित्रण है। इन पर निम्नलिखित शासकों के नाम है——सत्यमित्र, आर्युमित्र, (समवत· आर्यमित्र), सघमित्र, विजयमित्र, देवमित्र, अजवर्मन तथा कुमुदसेन। इनमे केवल कुमुदसेन को ही राजा कहा गया है।

टॉल्मी के भूगोल (Geographika) से यह प्रतीत होता है कि १४० ई० मे यहाँ मुरुण्डो का शासन था। उसने यह लिखा है कि गगा नदी के दाये तट पर सरबोस नदी की घाटी मे **मरुण्डाई** (Marundai) का शासन था। टॉलमी की सरबोस नदी की पहचान सरयू नदी से अथवा वर्तमान युग की घाघरा नदी से की गई है और मरुण्डाई को मुरुण्ड माना गया है। समुद्रगुप्त ने अपने अभिलेख मे **शक मुरुण्ड** शब्द का उल्लेख किया है, इसे पश्चिमी क्षत्रपो का वाचक माना जाता है। मुरुण्ड वस्तुत. शक भाषा का शब्द है और इसका अर्थ स्वामी होता है।[2] टाल्मी द्वारा वर्णित मुरुण्ड जाति समवत कुषाणो से सबद्ध

---

१ इण्डियन आर्कियोलोजी, १९५३-५४, पृष्ठ ११—
सिद्धम्—

> युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैल-महीपतेः।
> इष्टका वार्षगण्यस्य नृपतेश्शीलवर्मण.॥
> नृपतेर्वार्षगण्यस्य पोण-षष्ठस्य धीमत.।
> चतुर्थस्याश्वमेधस्य चित्योऽयं शीलवर्मण·॥

२. ए० इं०, खण्ड १४, पृष्ठ २९२-९३।

कोई विदेशी जाति प्रतीत होती है। टॉलमी के ५० वर्ष बाद एक अन्य लेखक ओप्पियन (Oppien) ने भी गगा नदी के मैदान मे मरुण्डियन जाति का उल्लेख किया है।

जैन अनुश्रुतियो के अनुसार इस समय पाटलिपुत्र पर भी मुरुण्ड राजाओ का शासन था। प्रभावकचरित के पादलिप्त प्रबध की एक कथा मे यह बताया गया है कि पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के मुरुण्ड राजा की तीव्र शिरोवेदना की सफल चिकित्सा की थी।[1] आवश्यक बृहद् वृत्ति मे पाटलिपुत्र के एक मुरुण्ड राजा का उल्लेख है जिसने अपना एक दूत पुरिसपुर (पेशावर) के राजा के पास भेजा था। इस दूत को वहाँ बहुत अधिक बौद्ध भिक्षु दिखाई दिये, और जब कभी यह अपने घर से बाहर निकलता था तो इसे कोई न कोई बौद्ध भिक्षु दिखाई दे जाता था। वह इन्हें अपशकुन समझता था, इनसे बचना चाहता था। किन्तु उसे यह बताया गया कि वहाँ बौद्ध भिक्षु इतनी अधिक सख्या मे है कि वह इनके दर्शन से किसी भी प्रकार बच नही सकता है।

फ्रेंच विद्वान् लेवी ने चीनी ग्रन्थो के आधार पर यह प्रदर्शित किया है कि गुप्तो के अभ्युदय से ठीक पहले पाटलिपुत्र पर मुरुण्ड जाति का शासन था। चीनी इतिहासो के अनुसार वू राजवश (२२०–२७७ ई०) के शासन के समय मे फूनान (कम्बोडिया) के राजा फनचीन ने अपने एक सम्बन्धी सू-वू को राजदूत बनाकर भारत भेजा था। वह तक्कोल नदी के मुहाने से गुजरता हुआ और एक बडी खाडी मे से होता हुआ एक वर्ष के बाद तीन-चू (भारत की एक नदी, सभवत: गगा) के मुहाने पर पहुंचा और यहाँ से गगा नदी मे ७००० ली ऊपर चलने पर वह एक भारतीय राज्य मे पहुँचा। यहाँ उसका बहुत स्वागत किया गया। उसने इस देश के बारे मे यह कहा था कि यहाँ धर्म का प्रचार है, यहाँ की जनता सच्ची और ईमानदार है, भूमि अतीव उपजाऊ है। राजा की उपाधि मिऔ लौन (Meau loun) है। लेवी ने इसकी पहचान मुरुण्ड से की है और इस राजा की राजधानी को पाटलिपुत्र माना है। कनिघम ने उपर्युक्त चीनी इतिहास मे वर्णित राजधानी को पाटलिपुत्र ही समझा है, किन्तु अन्य विद्वानो ने ७००० ली की दूरी होने के कारण पाटलिपुत्र से भी और पश्चिम मे अवस्थित किसी नगर से इसकी पहचान करने का सुझाव दिया है।

---

१. मोहन लाल बी. झवेरी, निर्वाणकलिका, भूमिका पृष्ठ १०। पादलिप्त-प्रबन्ध, श्लोक संख्या ४४, ५६, ६१।

पुराणो मे यह वर्णन है कि गुप्तो के अभ्युत्थान से पहले मगध मे विश्वस्फाणि अथवा विश्वस्फूर्जि नामक राजा मगध पर शासन करता था। यह नाम इस बात को सूचित करता है कि इस नाम को धारण करने वाला कोई विदेशी अथवा मुरुण्ड जाति से सबध रखने वाला व्यक्ति था। इसके बारे मे यह कहा गया है कि उसने विभिन्न स्थानों पर अपनी ओर से शासन करने वाले व्यक्ति नियत किये थे, पुराने शासक परिवारो का अत किया और नवीन क्षत्रिय वश उत्पन्न किया। वायुपुराण की कुछ हस्तलिखित प्रतियो मे यह वर्णन मिलता है कि उसने अपने राज्य में कैवर्त्तो को प्रधानता दी थी, बाद मे उसने गगा मे कूदकर आत्महत्या कर ली थी।[1] पुराणों के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि विश्वस्फाणि का साम्राज्य काफी विस्तृत था। पश्चिम मे इसमे कान्यकुब्ज या कन्नौज तक का प्रदेश सम्मिलित था, क्योकि **सिंहासन-द्वात्रिंशिका** के जैन रूपान्तर के अनुसार यह नगर एक मुरुण्ड राजा के अधिकार में था। यह समवत मगध के मुरुण्ड राजा की ओर से इस प्रदेश का शासक रहा होगा। इसी प्रकार के अन्य शासक विश्वस्फाणि ने अपने साम्राज्य के अन्य भागो मे नियुक्त किये होगे।

---

१. **पार्जिटर—डाइनैस्टीज ऑफ कलि एज, पृष्ठ ५२।**

सातवाँ अध्याय

पश्चिमी भारत के क्षत्रप

उत्तरी भारत मे दूसरी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध मे कुषाणो का विदेशी शासन समाप्त हो गया, किन्तु पश्चिमी भारत मे ऐसा शासन क्षत्रप राजाओ के रूप मे चौथी शताब्दी ईसवी तक बना रहा। पहले यह बताया जा चुका है कि क्षत्रप शब्द प्रान्तीय शासक का अर्थ देने वाले ईरानी भाषा के क्षथ्रपावन का तथा यूनानी सैट्रप (Satrap) का भारतीय रूपान्तर है। ईरान के हखामनी (Achaemenid) सम्राटो ने अपने साम्राज्य को विभिन्न प्रान्तो मे बाँटकर इन पर क्षत्रपो द्वारा शासन कराने की परिपाटी का श्रीगणेश किया था। दारा प्रथम (Darius I) ने ईरानी साम्राज्य को जिन बीस प्रान्तो मे बाँटा था, उनमे सिन्धु नदी का भारतीय प्रदेश भी सम्मिलित था। ये क्षत्रप प्राय राजवश से सम्बद्ध तथा उच्च परिवारो के कुलीन व्यक्ति हुआ करते थे और राजा की ओर से अपने प्रदेश मे शासन करने का पूर्ण अधिकार रखते थे। केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने पर दूरवर्ती प्रान्तो के क्षत्रप प्राय स्वाधीन हो जाया करते थे। सैल्यूकस द्वारा स्थापित साम्राज्य मे बैक्ट्रिया और पार्थिया के क्षत्रपो ने इसी प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। चौथे अध्याय मे उत्तर-पश्चिमी भारत मे चुक्ष का और मथुरा के क्षत्रपो का उल्लेख किया जा चुका है। यूनानियो, शको तथा पह्लवो के समय मे क्षत्रपो द्वारा शासन की परम्परा भारत मे प्रचलित हुई और पश्चिमी भारत मे क्षत्रप गुप्त वश के आरम्भिक सम्राटो के समय तक शासन करते रहे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिमी भारत से इनके विदेशी शासन का अन्त किया।

पश्चिमी भारत मे विदेशी शक्ति का प्रथम उल्लेख हमे पहली शताब्दी ई० के पेरिप्लस के विवरण मे मिलता है। इसमे सिन्धु नदी की निचली घाटी को इन्दोसीथिया (Indoscythia) अर्थात् भारतीय शकस्थान कहा गया है। ईरान मे शको की एक बडी बस्ती हेल्मन्द नदी के प्रदेश मे थी, यह शकस्थान (आधुनिक सीस्तान) कहलाती थी। वहाँ से सम्भवत बोलान दर्रे मे होते हुए शक लोग ईसा की पहली शती मे सिन्ध मे आकर बस गये थे। यहाँ उनकी सत्ता इतनी सुदृढ थी कि

सिन्ध नदी की निचली घाटी ईरान के शकस्थान की भाँति भारतीय शकस्थान या शकद्वीप कहलाने लगी। इस शकस्थान की राजधानी मिन्नारिया अथवा मीननगर (Minnagar) सिन्धु नदी के तट पर समुद्र से कुछ दूरी पर बसी हुई थी, समुद्र-तट पर बर्बरक नाम का बन्दरगाह इसके समीप ही था। यहाँ के शासक क्षत्रप या महाक्षत्रप कहलाते थे। इसके बाद जब यहाँ से भारत के दूसरे पड़ोसी प्रान्तो में शको की राजसत्ता फैलने लगी, तब वहाँ भी उनके शासक क्षत्रप या महाक्षत्रप कहलाने लगे। इसका यह अर्थ था कि वे स्वाधीन राजा नही, प्रत्युत किसी राजा के अधीन प्रान्तीय शासक होते थे, सम्भवतः इनका अधिपति मीननगर का शक महाराज ही होता था। इस तरह भारत मे सिन्ध प्रान्त शको का अड्डा और आधार बन गया था। यहाँ से वे दूसरे प्रान्तो की ओर बढ़े और उनकी राजनीतिक सत्ता विस्तीर्ण होने लगी।

पहले यह बताया जा चुका है कि शक सिन्धु नदी की घाटी से काठियावाड़ और गुजरात होते हुए उज्जयिनी पहुँचे थे। कालकाचार्य के कथानक से यह बात स्पष्ट होती है। पहली शताब्दी ई० मे पश्चिमी भारत की स्थिति का वर्णन करते हुए पेरिप्लस मे यह लिखा गया है कि बरका (द्वारका) की खाड़ी से आगे बेरीगाजा (भड़ोच) की खाड़ी तथा एरियका (Ariaca) तथा टाल्मिका लरीके या लाट का समुद्रतट है। यहाँ से मम्बारस (अथवा नम्बेनोसि) तथा भारत का राज्य शुरू होता है। इसके भीतर का तथा सीथिया के साथ लगा हुआ प्रदेश आबीरिया (Abiria) अर्थात् आभीर कहलाता है तथा इसके समुद्र-तट को सिरेस्ट्रीन (Syrastrene) अर्थात् (सुराष्ट्र) कहते है। इससे यह स्पष्ट है कि उन दिनो पहली शती ई० मे यहाँ मम्बाहम का राज्य था। इसमे काठियावाड़, गुजरात और राजपूताना के कुछ भाग सम्मिलित थे। यह क्षत्रपो का राज्य था। इनके सिक्को और मुद्राओ से यह सूचित होता है कि यहाँ क्षत्रपो के दो वशो ने शासन किया। पहला क्षहरात वश था तथा दूसरा चष्टन द्वारा प्रवर्तित कार्दमक वंश। यहाँ इन दोनो का सक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

क्षहरात वंश

गुजरात और सौराष्ट्र के समुद्रतट से क्षहरात क्षत्रप भूमक के सिक्के बड़ी मात्रा मे मिले हैं। कई बार ये मालवा से तथा राजस्थान के अजमेर के प्रदेश से भी मिले हैं। भूमक के सिक्को की एक बडी विशेषता यह है कि इन सिक्कों पर खरोष्ट्री और ब्राह्मी दोनो लिपियो मे लेख मिले है। श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने इसके सिक्कों पर दो प्रकार की लिपियाँ पाये जाने से यह परिणाम निकाला है कि

इसके राज्य मे न केवल मालवा, गुजरात और काठियावाड के प्रदेश सम्मिलित थे, जहाँ ब्राह्मी लिपि का प्रचार था, अपितु पश्चिमी राजपूताना और सिन्ध के भी प्रदेश सम्मिलित थे, जहाँ खरोष्ट्री लिपि का प्रचार था। खरोष्ट्री लिपि के प्रयोग के आधार पर कुछ विद्वानो ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि क्षहरात वश का मूल स्थान उत्तरी भारत मे था।[1] भूमक के सिक्को पर अग्रभाग मे बाण, चक्र और वज्र के चिह्न बने होते है और पृष्ठभाग मे खरोष्ट्री और ब्राह्मी मे क्षहरातस क्षत्रप भूमक का लेख और धर्मचक्र सहित सिहशीर्ष बना होता है। इसकी मुद्राओ के चक्र और बाण के चिह्न स्पलिरिश (Spalirises) तथा अय के सिक्को का स्मरण कराते हैं, धर्मचक्र तथा सिहशीर्ष भूमक के मथुरा के साथ सम्बन्ध को सूचित करते हैं, जहाँ शको के समय का एक सिहशीर्ष अभिलेख पाया गया है। इस सादृश्य के आधार पर श्री जे० एन० बनर्जी ने यह कल्पना की है कि भूमक का सम्बन्ध कुषाणो से था। जिस समय कुषाणों ने उत्तरी और पश्चिमी भारत की विजय की तो उन्होने उसे अपने साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशो के प्रशासन का कार्य सौपा। इस विषय मे एक दूसरी कल्पना भूमक का सम्बन्ध पहलवो से जोड़ती है। इसके सिक्को के स्पलिरिश और अय (Azes) नामक पहलव राजाओ के सिक्को के साथ सादृश्य के आधार पर यह कल्पना भी की गई है कि सम्भवत यह पहले पहलव राजाओ की ओर से यहाँ शासन कर रहा था, बाद मे कुषाणो की सत्ता स्थापित होने पर यह उनकी ओर से इस प्रदेश का शासन करने लगा। भूमक के सिक्को से यह बात स्पष्ट है कि उसने अपने सिक्के क्षत्रप के रूप मे ही प्रचलित किये, इनमे नहपान की भाँति राजा अथवा महाक्षत्रप की किसी उपाधि का प्रयोग नही हुआ है।

भूमक का परिचय हमे सिक्को के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के ऐतिहासिक प्रमाण से नही मिलता है, अत हमे उसके शासन की किन्ही बातो का ज्ञान नही है। विद्वानो मे भूमक के सम्बन्ध मे कई प्रश्नों पर मतभेद है। पहला प्रश्न भूमक और नहपान के सम्बन्ध का है। सिल्व्या लेवी ने यह मत प्रकट किया था कि भूमक शब्द शकभाषा के **यसमोतिक** का भारतीय रूपान्तर है क्योकि शक भाषा मे **यसन** का अर्थ भूमि होता है, अत अभिलेखो में चष्टन के जिस पिता को यसमोतिक कहा गया है वह भूमक ही था और यह नहपान और चष्टन के बीच मे हुआ। किन्तु अन्य विद्वानो ने इस बात को स्वीकार नही किया। रैप्सन ने यह लिखा है कि मुद्राओ के प्रकार और बनावट से तथा मुद्राओ के लेखो के स्वरूप से इस बात मे

१. एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृष्ठ १७९।

कोई सन्देह नही रह जाता है कि भूमक नहपान से पहले हुआ था। भूमक का तिथिक्रम नहपान से सम्बद्ध और बड़ा विवादग्रस्त है। इसका आगे उल्लेख किया जायेगा।

नहपान—भूमक के उत्तराधिकारी नहपान के सम्बन्ध मे हमें ऐतिहासिक सामग्री अधिक मात्रा मे उपलब्ध होती है। उसकी चाँदी और ताँबे की अनेक मुद्राएँ मिली हैं। महाराष्ट्र में नासिक जिले के जोगलथम्बी नामक गाँव से मुद्राओ की एक बड़ी निधि मिली है, इसमें नहपान के ९२७० सिक्को को सातवाहन राजा गौतमी-पुत्र ने अपनी छाप से पुन· अंकित किया है। इन सिक्को के अतिरिक्त नासिक के निकट उसके समय से सम्बन्ध रखने वाले सात अभिलेख मिले है। इनमे से छः अभिलेख तो उसके जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) द्वारा दिये गये विभिन्न दानो के सम्बन्ध मे है तथा एक लेख उसके मत्री आयम का है। ये लेख ४१ से ४६ सवत् के है। इन लेखो के अतिरिक्त पेरिप्लस ने मम्बारस (Mambaras) अथवा नम्बेनोस (Nambanos) के नाम से जिस राजा का उल्लेख किया है, वह नहपान ही समझा जाता है। इन सब स्रोतो से इस राजा के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इनमे नहपान के जामाता उषवदात के अभिलेख इस युग के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास पर भी विशेष आलोक डालते है।

नासिक के पास गुहा सख्या १० के बरामदे की दीवार पर छत के नीचे उषवदात का एक लेख इस प्रकार है—"सिद्धि हो। राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनिक के पुत्र, तीन लाख गौओ का दान करने वाले, बरणासा नदी पर सुवर्णदान करने और तीर्थ (घाट) बनवाने वाले, देवताओ और ब्राह्मणो को १६ ग्राम दान देने वाले, समूचे बरस लाख ब्राह्मणो को खिलाने वाले, पुण्यतीर्थ प्रभास मे ब्राह्मणो को ८ भार्याएँ देने वाले (८ स्त्रियो के विवाह का खर्चा देने वाले), भरुकच्छ, दशपुर, गोवर्धन और शोरपारकग मे चतु शाल (चौकोर या चार कमरो वाला) वसथ (सराय) और प्रतिश्रय देने वाले, बगीचे-तालाब-कुएँ या बावडियाँ (उद-पान) बनवाने वाले, **ईबा**-पारदा-दमण-तापी करबेणा-दाहा-नुका (नाम की नदियो पर) नावो से पुण्यतर (मुफ्त पार उतारने का प्रबन्ध) करने वाले और इन नदियो के दोनो तीरो पर सभा और प्रपा (प्याऊ) बनवाने वाले, पीड़ित कबाड, गोवर्धन सुवर्णमुख तथा शोरपारग के रामतीर्थ पर की चरको की परिषदों को नानगोल ग्राम में बत्तीस हजार नारियल की पौध देने वाले धर्मात्मा उषवदात ने यह गुहा (लयण)

बनवाई और पानी जमा करने के ये स्थान बनवाए है।"[१] इसके बाद के लेख मे उषवदात उत्तम पुरुष के रूप मे कुछ अन्य घटनाओ का उल्लेख करता हुआ कहता है—"और भट्टारक (स्वामी) की आज्ञा पाकर वर्षा ऋतु मे मै मालवो द्वारा घेरे हुए उत्तम भद्रो को छुडाने गया हूँ और मालव मेरे पहुँचने के हल्ले (प्रनाद) या सेना की हुकार मात्र से ही भाग गये और उत्तमभद्र क्षत्रियो द्वारा बन्दी बनाए गए। इसके बाद मै पुष्कर तीर्थ मे गया, वहाँ मैने स्नान किया, ३००० गौए और एक ग्राम का दान दिया और इस (उषवदात) ने वाराहीपुत्र **अश्वभूति** नामक ब्राह्मण के हाथ मे चार हजार कार्षापणो के मूल्य से खरीदा खेत दिया कि इससे मेरी गुहा में रहने वाले चातुर्दिश भिक्षु-सघ को भोजन मिलता रहे।"

इस गुफा के बरामदे मे दाई ओर बाई कोठरियो के दरवाजो के ऊपर दो छोटे लेख इस प्रकार है—"सिद्धि हो, राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान की बेटी दीनिक के पुत्र उषवदात की पत्नी दक्षमित्रा (दखमित्रा) का दान यह कोठरी।" बाँयी कोठरी वाले इस लेख के नीचे उषवदात के दानो का एक महत्वपूर्ण लेख है। उसमे ४१, ४२ और ४५वे वर्ष का वर्णन है और इस गुफा के आँगन की दायी दीवार पर खण्डित लेख मे उषवदात के कुछ दानो का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उसके दान से उज्जयिनी मे समूचे बरस एक लाख ब्राह्मण भोजन पाते रहे। उसने तीन लाख गौए ब्राह्मणो को दान दी। पूना के पास कार्ले की गुहा मे उषवदात का तथा उसके पुत्र मित्र देवणक का भी एक दान उल्लिखित है। जुन्नर के लेख मे नहपान के अमात्य वत्सगोत्र वाले अयम का दान दर्ज है और उस लेख मे नहपान को महाक्षत्रप कहा गया है तथा सवत् ४६ का उल्लेख है।

उपर्युक्त अभिलेखो से उषवदात के राज्य-विस्तार, शासन-काल तथा तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक दशा पर बहुत अच्छा प्रकाश पडता है। इससे यह सूचित होता है कि नहपान के राज्य मे न केवल दक्षिणी गुजरात, भड़ोच से सोपारा तक के प्रदेश, नासिक और पूना जिले सम्मिलित थे, अपितु इसमे सुराष्ट्र, कुकुर, दक्षिणी राजपूताना, आकर (पूर्वी मालवा) तथा अवन्ति (पश्चिमी मालवा) और मध्य राजपूताना मे अजमेर के निकट पुष्कर तक के प्रदेश सम्मिलित थे। इनमे से अनेक प्रदेश उससे बाद मे सातवाहन राजा गौतमीपुत्र ने छीन लिये थे। पेरिप्लस के वर्णनानुसार नम्बेनोस अर्थात् नहपान के राज्य मे एरियका (Ariaca) अर्थात् अपरान्त अथवा उत्तरी कोकण का प्रदेश भी सम्मिलित था और यूनानी जहाज जो पहले सातवाहन

१. सरकार—से० इं०।

राजाओं के बन्दरगाह कल्याण मे जाया करते थे, वे अब भडोच के बन्दरगाहो मे जाने लगे थे। पेरिप्लस के कथनानुसार नहपान की राजधानी मीननगर थी। इस नाम वाले उस समय दो शहर थे, एक तो सिन्धु नदी के मुहाने पर था, दूसरा टाल्मी के मतानुसार बेरीगाजा से २ अश पूर्व मे और २ अश उत्तर मे था। ऐतिहासिको मे इस नगर की पहचान के सम्बन्ध मे पर्याप्त मतभेद है। डा० भण्डारकर के अनुसार यह आधुनिक मन्दसौर (प्राचीन दशपुर) था तथा जायसवाल इसे जैन अनुश्रुति के आधार पर नहपान की राजधानी भरुकच्छ मानते है। डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर के मतानुसार उपर्युक्त लेखो मे वर्णित शोरपारक (आधुनिक सोपारा), गोवर्धन (नासिक के निकट) और भरुकच्छ नहपान के साम्राज्य के विभिन्न जिलो के केन्द्रीय नगर थे।[1] इसी प्रकार के अन्य नगर जुन्नर, उज्जैन और चिखल्पद्र (सूरत जिले मे चिखली) थे।

नहपान का शासनकाल बडा समृद्धिपूर्ण था। पेरिप्लस के विवरण से यह ज्ञात होता है कि उस समय भारत और पश्चिमी देशो का व्यापार बडे उत्कर्ष पर था। उज्जैन (यूनानी–आजीन या Ogeno), पैठन (Paithan) और टेर (तगर) से भारतीय माल बेरीगाजा (भडोच) के बन्दरगाह मे पहुचता था। यहाँ राजा के लिए विदेशो से निम्नलिखित वस्तुओ का आयात होता था—चाँदी के बहु-मूल्य पात्र, अन्त पुर की सेवा के लिए लडके और लावण्यवती कुमारी कन्यायें, बढिया शराबे, बहुत बारीक कपडा और विभिन्न प्रकार की दवाए।[2] इससे यह सूचित होता है कि नहपान एक बडा भोगविलास-प्रेमी और फैशन पसन्द करने वाला शासक था। जैन अनुश्रुतियो से भी नहपान के अमित वैभव का परिचय मिलता है। **आवश्यक सूत्रनिर्युक्ति** नामक जैन ग्रन्थ की एक गाथा पर टीका करते हुए ७वी शताब्दी ईसवी के एक लेखक जिनदास गणी ने यह लिखा है –नरवाहन (नहपान) भरुकच्छ मे शासन करता था और (उसके पास अनन्त संपत्ति थी), वह पैठान (प्राचीन प्रतिष्ठान, आधुनिक पैठन) मे शासन करने वाले राजा शालवाहन का समकालीन राजा था और उसके पास बहुत बडी सेना थी।[3]

नहपान का अन्त सुखद नही हुआ। जैन लेखक जिनदास गणी ने लिखा है कि सातवाहन राजा नहपान की राजधानी भरुकच्छ पर प्राय हमले किया करता था और अन्त मे उसने नहपान को जीत लिया। इस अनुश्रुति की पुष्टि जोगलथम्बी

---

१. **इण्डियन एण्टीक्वेरी, १९१८, पृष्ठ ७८।**

२. **पेरिप्लस, शाफ का संस्करण, पृष्ठ ४२।**

३. **जर्नल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, खण्ड १६, १९३०, पृष्ठ २८८।**

नामक स्थान से मिली मुद्रा-निधि से और बालश्री के अभिलेख से होती है। इस लेख में गौतमीपुत्र को क्षहरात वश को समाप्त करने वाला कहा गया है और उसकी विजयों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस अभिलेख की पुष्टि जोगलथंबी नामक गॉव से प्राप्त मुद्राओ से होती हैं, जिनमे नहपान की ९२७० मुद्राओ पर गौतमीपुत्र ने अपना नाम अपनी विजय को सूचित करने के लिए पुनः अंकित करवाया है।

उषवदात के नासिक तथा पूना जिले मे कार्ले के गुहालेखो से हमे कई महत्वपूर्ण बाते ज्ञात होती हैं। वह नहपान की लडकी दक्षमित्रा का पति और अपने श्वशुर के साम्राज्य के दक्षिणी भाग का शासक था। गोवर्धन (नासिक) तथा मामाड (पूना) के जिले (आहार) उसके शासन मे निश्चित रूप से थे। सम्भवत दक्षिणी गुजरात और भडोच से सोपारा तक के उत्तरी कोकण तक के प्रदेश पर भी वह शासन करता था। उसके दानो के सम्बन्ध मे विभिन्न अभिलेखो मे निम्नलिखित स्थानो का वर्णन है—प्रभास (दक्षिणी काठियावाड), दशपुर (पश्चिमी माल्वा मे मदसौर), भृगुकच्छ (भडोच), शूर्पारक (थाना जिले मे सोपारा), कापूर आहार (कपूर, पुराना बडौदा राज्य), पुष्कर (अजमेर के निकट), चिखलपद्र (चिखली जिला सूरत)। इसके अतिरिक्त उषवदात के उपर्युक्त अभिलेखो मे निम्नलिखित नदियो का भी उल्लेख है—तापी (ताप्ती), बरनासा (चबल की सहायक बरनास नदी), पारदा (सूरत जिले की पर नदी), दमण (दमन के निकट दमनगगा), दाहनुका (थाना जिले की दाहानु नदी)। इन नामो पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि मालवा, काठियावाड, गुजरात, कोकण तथा महाराष्ट्र देश का उत्तरी भाग, राजपूताना के बडे हिस्से और सभवत सिन्धु नदी की घाटी का निचला अश नहपान के राज्य मे सम्मिलित थे।

नासिक के एक गुहालेख मे यह भी बताया गया है कि अपने स्वामी (भट्टारक) नहपान का आदेश पाकर उषवदात उत्तमभद्र नामक जाति की सहायता करने के लिए गया। इन्हें मालव नामक जाति ने घेर रखा था। उषवदात की सेना का हुकार सुनकर ही मालव भाग खडे हुए। इनकी रक्षा करने के बाद वह पुष्कर के पवित्र तीर्थ मे स्नान करने गया। ऐतिहासिको के मतानुसार ये राजस्थान के जयपुर प्रदेश मे बसे हुए मालव लोग थे। मूल अभिलेख मे केवल भट्टारक (स्वामी) शब्द का उल्लेख है और कोई नाम नही दिया गया है। यह स्वामी सम्भवतः क्षत्रप नहपान ही होगा। कुछ विद्वानों ने इसे कुषाण-सम्राट् भी माना है। इनमे से

कोई भी व्याख्या स्वीकार की जाये, किन्तु इस बात से इनकार नही किया जा सकता है कि अजमेर प्रदेश पर नहपान का शासन था।

नहपान और उसकी सतानो के नामो से यह सूचित होता है कि शक लोग किस प्रकार भारतीय प्रभाव को ग्रहण कर रहे थे। नहपान की व्युत्पत्ति दो ईरानी शब्दो से की जाती है। नह का अर्थ जनता और पन का अर्थ रक्षक है, इस प्रकार नहपान का अर्थ जनता का रक्षक है।[1] किन्तु इसकी पुत्री दक्षमित्रा का नाम विशुद्ध रूप से भारतीय है और इसके लडके मित्र देवणक का भी नाम भारतीय प्रतीत होता है। उषवदात के उपर्युक्त शिलालेखो से यह स्पष्ट है कि वह शक था, उसके पिता का नाम दीनिक था जो विशुद्ध रूप से ईरानी नाम है। किन्तु उसने भारतीय धर्म को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था, लाखो गौओ का दान किया था, धर्म-शालाए, कुए, तालाब और बावडियाँ बनवाई थी और गोवर्धन, प्रभाम आदि तीर्थों मे अनेक पुण्य कार्य किये, विभिन्न प्रकार के दान दिये। मालवो को हराने के बाद उसने पुष्कर के पवित्र जल मे स्नान किया था। यह उसके भारतीय संस्कृति मे दीक्षित होने का स्पष्ट प्रमाण है।

नहपान ने चाँदी और ताँबे की मुद्राए प्रचलित की। इनमे चाँदी की मुद्राएं आकार-प्रकार, भार और बनावट की दृष्टि से हिन्द-यूनानी राजाओ की अर्धद्रम्म (Hemidrachm) मुद्राओ मे गहरा सादृश्य रखती है।[2] इन मुद्राओ ने एक ऐसा आदर्श और मानदण्ड स्थापित किया जिसका अनुसरण उसके उत्तराधिकारी पश्चिमी क्षत्रप अगले २७५ वर्ष तक करते रहे और इसके बाद इस प्रदेश में गुप्त सम्राट् और त्रैकूटक भी इसी नमूने की मुद्राएं बनवाते रहे। सम्भवत यूनानियो की मुद्राओ से तथा रोमन साम्राज्य के सिक्को से अग्रभाग पर राजा का शीर्ष अंकित करवाने की पद्धति ग्रहण की गई थी। नहपान के सिक्कों पर यूनानी, ब्राह्मी और खरोष्ट्री मे लेख मिलते हैं। इन पर उसे केवल क्षहरातवशी राजा (**राजो क्षहरातस नहपानस**) कहा गया है, कही भी उसे क्षत्रप या महाक्षत्रप की उपाधि नही दी गई है। क्षत्रप की उपाधि उसे संवत् ४२ के तथा महाक्षत्रप की उपाधि सवत् ४६ के जुन्नर के अभिलेख मे दी गई है।

नहपान का तिथिक्रम अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है। नासिक के अभिलेखो मे

१. सत्यश्रवा—दी शकाज इन इण्डिया, पृष्ठ ६१। भारतीय साहित्य में नहपान के विभिन्न नाम नहवन, नरवाह, नरवाहन, निर्वाहन, नखवान, नखपान बताये जाते हैं।

२. रैप्सन—कैटेलाग आफ इण्डियन कायंस, भूमिका पृष्ठ १०८।

संवत् ४१, ४२ और ४५ का वर्णन है और अयम के जुन्नर अभिलेख मे सवत् ४६ की तिथि दी गई है। प्राय इसे ७८ ईसवी से शुरू होने वाला शक सवत् समझा जाता है। नहपान स्वयमेव एक ईरानी नाम है, वह जिस क्षहरात वश का समझा जाता है, उसे भी शक ही माना जाता है और उसका जामाता उषवदात अपने को स्पष्ट रूप से शक कहता है। अत नहपान के समय के उपर्युक्त अभिलेखो के संवत् को शक संवत् मानते हुए रैप्सन ने उसका राज्यकाल उपर्युक्त अभिलेखों के आधार पर शक सवत् ४१ से ४६ तक अर्थात् ११९ से १२४ ईसवी माना है। किन्तु राखालदास बैनर्जी तथा दुब्रे उइल का यह मत है कि नहपान के सवतो की तिथियाँ शक सवत् की नही हो सकती है, क्योकि यदि हम ऐसा माने तो हमे सवत् ४६ के तथा रुद्रदामा के सवत् ५२ के बीच मे ६ वर्षो के भीतर निम्नलिखित पाँच घटनाओ को मानना पडेगा—(१) नहपान के राज्य की समाप्ति, (२) क्षहरात वश का विध्वस, (३) चष्टन का क्षत्रप और महाक्षत्रप बनना, (४) जयदामा का क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के रूप मे शासन करना, (५) रुद्रदामा का राज्यारोहण तथा शासन आरम्भ करना। उपर्युक्त विद्वानो के मतानुसार ५ या ६ वर्ष के अल्प समय मे इतनी अधिक घटनाए घटित नही हो सकती है, इनके लिए पर्याप्त लम्बा समय चाहिए। अतः ये विद्वान् उपर्युक्त लेखो के सवत् को शकाब्द नही मानते है। इस तर्क का उत्तर देते हुए श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने (पोहि० पृ०४२२) यह सत्य ही लिखा है कि इन सब घटनाओ को ५ वर्ष की अवधि मे सीमित करने की हमे कोई आवश्यकता नही है, क्योंकि हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नही है जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि चष्टन के वश ने क्षहरातो के वश का विध्वस होने के बाद ही शासन करना आरम्भ किया था। यह सभव है कि चष्टन का वश पहले से ही कच्छ मे और उसके समीपवर्ती प्रदेशों मे शासन कर रहा हो, जैसा कि हमे सं० ५२ (१३० ई०) के अन्धौ के अभिलेख से प्रतीत होता है। यदि इस बात को मान लिया जाय कि जिस समय क्षहरात मालवा और महाराष्ट्र मे शासन कर रहा था उसी समय चष्टन का वश सुराष्ट्र के प्रदेश का अधिपति था, तो हमे उपर्युक्त घटनाओ को ५ वर्षो मे सीमित करने की आवश्यकता नही रहेगी। इस प्रकार राखालदास बनर्जी की उपर्युक्त आपत्ति सर्वथा निराधार प्रतीत होती है और नहपान का समय ११९ से १२४ ईसवी तक मानना उचित प्रतीत होता है।

कार्दमक वंश

पश्चिमी भारत में गौतमीपुत्र द्वारा क्षहरात वश का विध्वंस कर दिये जाने

के बाद क्षत्रपों की शक्ति का पुनरुत्थान उज्जैन के कार्दमक वंशी शक क्षत्रपों ने किया। इस वंश का प्रवर्तक और पहला महाक्षत्रप चष्टन यसमोतिक का पुत्र था। थामस के मतानुसार यह शक नाम है और इससे यह सूचित होता है कि चष्टन शक जाति का था। इस बात की पुष्टि हर्षचरित मे किए गए महाकवि बाण के एक वर्णन से होती है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा मारे जाने वाले चष्टन के वंशज को शक कहा गया है, अत: प्राय: सभी विद्वान् उज्जैन के क्षत्रप परिवार को शक जाति का समझते है। रैप्सन ने इस वंश को कार्दमक वंश कहा है क्योंकि रुद्रदामा की लड़की ने एक जगह कार्दमक राजाओ के वंश मे प्रादुर्भूत होने पर अभिमान प्रकट किया है।[1] कार्दमक वंश के नामकरण का संभवत: यह कारण है कि कार्दम नाम की एक नदी ईरान मे पाई जाती है। संभवत: इस वंश के मूल पुरुष इस नदी के निकटवर्ती प्रदेश मे रहते थे और वहाँ से भारत आये थे, अत: उन्हें कार्दमक वंशी राजा कहा गया है।[2]

चष्टन इस वंश का पहला महत्वपूर्ण राजा था। इसकी आरम्भिक मुद्राओ पर इसे केवल क्षत्रप कहा गया है, किन्तु बाद की मुद्राओ पर महाक्षत्रप की उपाधि अंकित है, इसके साथ ही राजा की उपाधि भी दोनो दशाओ के साथ दी गई है, किन्तु उसके पिता यसमोतिक के नाम के साथ हमें कोई राजकीय उपाधि नही मिलती है। हमें कार्दमको के आरम्भिक इतिहास का कोई ज्ञान नही है। किन्तु दिनेशचन्द्र सरकार ने यह कल्पना की है कि संभवत: चष्टन आरम्भ मे सिन्ध के प्रदेश मे कुषाणो के सामन्त के रूप मे शासन कर रहा था।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि नहपान की मृत्यु के बाद चष्टन को उसके स्थान मे कुषाण का सम्राटो ने अपने साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश का शासक बनाया और उसे यह निर्देश दिया गया कि वह सातवाहनो द्वारा नहपान से छीने गए प्रदेशो को पुन: जीतकर अपने राज्य का विस्तार करे।

चष्टन के राज्यकाल के सम्बन्ध मे हमें बहुत ही कम बातें निश्चित रूप से ज्ञात हैं। रैप्सन ने लिखा है कि चष्टन के क्षत्रप तथा महाक्षत्रप के रूप में राज्य करने के बारे मे हम इतनी ही बात कह सकते है कि उसके राज्यकाल मे ही संवत् ४६ से ७२ के बीच मे उसके पुत्र जयदामा ने उसके साथ क्षत्रप के रूप मे शासन किया।

---

१. **रैप्सन पूर्वोक्त पुस्तक पृष्ठ ११० ।**

२. **राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी आफ एंशैण्ट इंडिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० ४२२ ।**

३. **ए० ई० यू० ।**

उन दिनो शको मे द्वैराज्य शासन प्रणाली प्रचलित थी। शक शासक अपने पुत्रों को अपने शासनकाल में क्षत्रप बना दिया करते थे। संभवत वृद्धावस्था मे चष्टन ने महा-क्षत्रप बनने पर अपने पुत्र जयदामा को क्षत्रप बनाया, किन्तु यह शायद शीघ्र ही पिता के जीवनकाल मे दिवगत हुआ और पिता ने उसके स्थान पर उसके पुत्र रुद्रदामा को क्षत्रप बनाया। कच्छ में अन्धौ नामक स्थान से प्राप्त सवत् ५२ (१३० ईसवी) के एक अभिलेख मे यह बताया गया है कि राजा चष्टन अपने पौत्र राजा रुद्रदामा के साथ संयुक्त रूप से शासन कर रहा था।[1] इस लेख से यह स्पष्ट है कि नहपान की मृत्यु के ६ वर्ष के भीतर ही कार्दमक वश के शक सातवाहन साम्राज्य की सीमा पर पहुँच गये थे। टालमी ने १४० ई० मे लिखे गए अपने भूगोल मे यह बताया है कि उस समय उज्जयिनी (Ogene) पश्चिमी मालवा (अवन्ति) की राजधानी थी और यहां तियस्टेनीज (Tiastenes) नामक व्यक्ति शासन कर रहा था। यह नाम स्पष्ट रूप से चष्टन का यूनानी रूपान्तर है। टालमी ने अपने ग्रथ के लिए आवश्यक सामग्री कुछ वर्ष पहले ही एकत्र की होगी। इससे यह स्पष्ट है कि १४० ई० से कुछ वर्ष पहले ही चष्टन ने पश्चिमी मालवा पर अधिकार कर लिया होगा।

चष्टन द्वारा अपने राज्य-विस्तार की सूचना हमे रुद्रदामा के जूनागढ अभि-लेख से भी मिलती है। आगे इस अभिलेख का विस्तृत उल्लेख किया जाएगा। इससे यह स्पष्ट है कि रुद्रदामा के राज्य मे आकर, अवन्ति, अनूप, अपरात, सुराष्ट्र और आनर्त (काठियावाड का द्वारका प्रदेश) सम्मिलित थे। इन प्रदेशो पर उसने यह विजय सभवत अपने दादा चष्टन के राज्यकाल मे क्षत्रप के रूप मे कार्य करते हुए प्राप्त की होगी। सातवाहनो के साथ सघर्ष मे विजय का एक अन्य प्रमाण चष्टन की मुद्राओ से भी मिलता है। सातवाहनों की मुद्राओ पर त्रिकूट अथवा चैत्य (Three arched Symbol) की चोटी पर द्वितीया का चद्रमा बना होता था। यह चित्र हम चष्टन की रजत मुद्राओ पर पहली बार देखते है। यह उसने क्षत्रप की स्थिति मे ही अपनी मुद्राओ पर अंकित कराना शुरू कर दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि उसने अपने राज्यकाल के आरम्भ मे ही सातवाहनो पर विजय प्राप्त करके उनके विशिष्ट चिह्न त्रिकूट को अपनी मुद्राओ पर अकित कराना शुरू किया। बाद मे यह चिह्न न केवल उसके महाक्षत्रप के रूप मे प्रचारित उसकी

---

[1]—एपिग्राफिया इंडिका, खण्ड १६ पृ० २४—राजो चाष्टनसस्स ( ) भोतिकपुत्रस राज्ञो रुद्रदामस जयदामपुत्रस वर्षे द्विपंचाशे।

मुद्राओं पर मिलता है, अपितु पश्चिमी क्षत्रपों की सभी रजत मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर त्रिकूट का चिह्न तारे और दूज के चाँद के चिह्न के साथ मिलता है। चष्टन की मुद्राओं के अग्रभाग पर राजा की मूर्ति बनी हुई है और इसकी शिरोभूषा नहपान की मुद्राओं पर अंकित शिरोभूषा से मिलती है। चष्टन संभवतः एकमात्र ऐसा राजा है जिसके सिक्को पर तीन लिपियाँ—यूनानी, खरोष्ट्री और ब्राह्मी पाई जाती है। चष्टन के बाद खरोष्ट्री लिपि का प्रयोग बन्द हो गया, किन्तु यूनानी लेख मुद्राओं के अग्रभाग के चारो ओर के किनारो की सजावट के रूप में व्यवहृत किया जाता रहा है। इन मुद्राओ से यह स्पष्ट है कि अब सिक्को पर खरोष्ट्री और यूनानी लिपि का प्रयोग समाप्त हो रहा था तथा ब्राह्मी लिपि का व्यापक रूप से प्रचलन होने लगा था। यह इस बात को सूचित करता है कि ये शक राज्य धीरे-धीरे भारतीयता के रंग में रंगे जा रहे थे। श्री दिनेशचन्द्र सरकार के मतानुसार खरोष्ट्री लिपि के परित्याग का एक कारण कार्दमक राजाओं का खरोष्ट्री लिपि के क्षेत्र से ब्राह्मी लिपि वाले उज्जैन के प्रदेश मे आ जाना था।

चष्टन से आरम्भ होने वाले राजवंश ने चौथी शताब्दी ई० तक पश्चिमी भारत में अविच्छिन्न रूप से शासन किया। यह बात हमे इनकी मुद्राओं से ज्ञात होती है। चष्टन के प्रत्येक उत्तराधिकारी ने अपने सिक्को पर न केवल अपना, अपितु अपने पिता का क्षत्रप, महाक्षत्रप आदि उपाधियो के साथ उल्लेख किया है। इससे हम इन राजाओं की वंश परम्परा को बडी सुगमता से निश्चित कर सकते हैं। इस प्रकार चष्टन के उत्तराधिकारी अगले १७५ वर्ष तक पश्चिमी भारत पर शासन करते रहे। उस युग मे इतना लम्बा शासन बहुत कम राजवंशो ने किया था। चष्टन के राज्यकाल की अवधि के बाद मे केवल यही कहा जा सकता है कि वह १४०–१५० ई० के बीच मे किसी समय समाप्त हुआ होगा, क्योंकि टालमी ने १४० ई० मे उज्जयिनी मे उसके शासन करने की बात लिखी है और १५० ई० के जूनागढ अभिलेख से रुद्रदामा के राज्य करने की बात का ज्ञान होता है, अतः वह इससे पहले ही गद्दी पर बैठा होगा।

जयदामा—यह चष्टन का पुत्र था। इसने सम्भवतः अपने पिता के समय मे ही क्षत्रप के रूप मे शासन किया। इसकी मुद्राओं पर राजा और क्षत्रप की पुरानी उपाधियो के साथ-साथ स्वामी की एक नई उपाधि मिलती है। यह उपाधि इस वंश के आरम्भिक राजाओं के अभिलेखो मे तथा रुद्रदामा द्वितीय के समय से इस वंश के पिछले राजाओं के सिक्को पर भी मिलती है। इस समय से हमे क्षत्रप

राजाओं के भारतीय नाम मिलने लगते है। इसमे कुछ अपवाद घसद से तथा दाम[1] शब्द से समाप्त होने वाले नाम है। जयदामा की ताम्र मुद्रायें चौकोर है। इनके एक प्रकार मे अग्रभाग पर ककुद वाले बैल की मूर्ति है तथा पृष्ठ भाग पर छः मेहराब वाले चैत्य अथवा षट्कूट का चिह्न है।

रुद्रदामा (१४५–१७० ई०)—यह इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा है। इसके राज्यकाल का प्रामाणिक विवरण हमे इसके जूनागढ अभिलेख से तथा इसके सिक्को से मिलता है। इसका जूनागढ का अभिलेख सस्कृत भाषा में अब तक प्राप्त सबसे पुराना अभिलेख है। इसमे सुदर्शन नामक झील के जीर्णोद्धार के प्रसग मे राजा की प्रशस्ति करते हुए उसकी विजयों और शासन पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। सर्व-प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य ने गिरनार के पास सुदर्शन तालाब बनवाया था। इसके बाद अशोक ने उसके बाँध से सिचाई के लिए छोटी नहरे या नालियाँ निकलवाई थी। रुद्रदामा के समय भीषण वृष्टि के कारण इस तालाब के बाँध मे भारी दरार पड गई, सब पानी निकल जाने के कारण यह बाँध मरुभूमि के समान बन गया। किसानो को यह भय था कि इसके टूट जाने से उनकी फसले मारी जायेगी। अत प्रजा मे हाहाकार मच गया। जनता के इस भीषण कष्ट को दूर करने के लिए महाक्षत्रप रुद्रदामा ने अपने परामर्शदाता मत्रियो (**मतिसचिवों**) मे तथा कार्यकारी मत्रियो (**कर्मसचिवों**) से इस बाँध को ठीक करवाने को कहा, किन्तु बाँध मे दरार इतनी बडी थी कि वे लोग इसकी मरम्मत के कार्य के लिये सहमत नही हुए। जब इस बाँध के बचने की आशा नही रही तो प्रजा घबडा गई, किन्तु अपने राज्य के पौर-जानपदो के अनुग्रह के लिए राजा की तरफ से नियुक्त पहलववशी कुलैप के पुत्र अमात्य सुविशाख ने इस बाँध का पुनर्निर्माण करवाया। इस अभिलेख मे रुद्रदामा द्वारा निम्नलिखित प्रदेशो के जीतने का वर्णन है—पूर्व अपर आकर—अवन्ती (पूर्वी मालवा और पश्चिमी मालवा), अनूप (मालवा के दक्षिण मे नर्मदा नदी के तट पर निमाड जिले मे महेश्वर), निवृत, आनर्त (उत्तरी काठियावाड, राजधानी आनंदपुर), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड, राजधानी गिरनार), स्वभ्र (साबरमती का प्रदेश), मरु (मारवाड), कच्छ, सिन्धु (निचली सिन्ध घाटी का पश्चिमी प्रदेश), सौवीर (निचली सिन्ध नदी का पूर्वी प्रदेश), कुकुर (पश्चिमी मध्य भारत का भाग), निषाद (विध्याचल), अपरात (उत्तरी कोंकण) का पश्चिमी भाग और अरावली

१. स्टैन कोनौ के मतानुसार दाम शब्द ईरानी है। वह इसकी तुलना अवस्ता के स्थान अथवा उत्पत्तिवाची दाम शब्द से करता है।

पर्वतमाला का प्रदेश। इन प्रदेशो मे से सुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप और आकर तथा अवन्ती गौतमीपुत्र सातवाहन के साम्राज्य मे सम्मिलित थे, अतः ये प्रदेश रुद्रदामा ने इससे अथवा इसके किसी उत्तराधिकारी से छीने होगे। इसके अतिरिक्त रुद्रदामा ने इस बात का भी दावा किया है कि उसने दक्षिण-पूर्वी पजाब मे रहने वाले यौधेयो को बुरी तरह हराया था। इन यौधेयो को इस बात का बड़ा अभिमान था कि वे सब क्षत्रियो मे सबसे बड़े वीर योद्धा है (**सर्वक्षत्राविष्कृतवीर-शब्द-जा (तो) त्सेकाविधेयानां यौधेयानाम्**)। इस अभिलेख मे यह भी कहा गया है कि रुद्रदामा ने बहुत से ऐसे राजाओं को उनके राज्य पुन: प्रदान किए जिनसे ये राज्य पहले छीने जा चुके थे (**भ्रष्टराजप्रतिष्ठापक**)। ये सभवत. ऐसे सामत राज्य थे जो पहले नहपान के समय मे शासन कर रहे थे, इन्हें गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को हराने के बाद इनके राज्याधिकार से वचित कर दिया था। इस लेख मे रुद्रदामा के बारे मे यह भी कहा गया है कि उसने महाक्षत्रप की उपाधि अपने लिए स्वयमेव प्राप्त की थी (**स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनामा**)। इसके साथ ही इस लेख मे यह भी वर्णन है कि सब व्यक्तियो ने उसे अपनी रक्षा करने के लिए अपना स्वामी चुना था (**सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थम् पतित्वे वृतेन**)। इस विषय मे श्री हेमचन्द्र राय चौधरी का यह मत है कि सभवत. किसी शत्रु ने उसके वश की शक्ति को बुरी तरह नष्ट कर डाला था, उसने अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से तथा जनता के अनुरोध एव सहयोग से साम्राज्य का पुनर्निर्माण किया था।[1]

उपर्युक्त अभिलेख मे यह भी कहा गया है कि उसने दक्षिणापथपति शातकर्णी को दो बार खुली लडाई मे जीतकर भी निकट सबध के कारण उसे राज्याधिकार से वचित नही किया और इस प्रकार यश पाया। ऐतिहासिकों में इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद है कि यह दक्षिणापथपति कौन सा राजा था। इस सम्बन्ध मे प्रमुख मत निम्नलिखित है—(१) रैप्सन के मतानुसार यह वाशिष्टीपुत्र पुलुमायी है। कान्हेरी गुहा के एक खडित अभिलेख मे अमात्य सतेरक द्वारा एक पानीयभाजन (पोढी) दिये जाने का वर्णन है, इसमे वाशिष्ठीपुत्र श्री शातकर्णी की रानी के बारे मे कहा गया है कि वह (देवी) कार्दमक राजाओ के वश मे उत्पन्न महाक्षत्रप रु—की बेटी थी। यहाँ रु से रुद्र अर्थात् रुद्रदामा समझा जाता है। इस मत के अनुसार वाशिष्ठीपुत्र रुद्रदामा का दामाद और शत्रु था।[2] इस विषय मे दूसरा मत श्री देवदत्त रामकृष्ण

१. राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एशेण्ट इंडिया, पृष्ठ ४२५।

२. इंडियन ऐंटिक्वेरी, खण्ड १२, पृष्ठ २७३ तथा रैप्सन—केटेलाग आफ इंडियन कायन्स, आंध्राज, वेस्टर्न क्षत्रपाज, पृष्ठ ३८।

भंडारकर का है।[1] इसके अनुसार रुद्रदामा का प्रतिस्पर्धी गौतमीपुत्र ही था। इसका एक पुत्र वाशिष्ठीपुत्र शिव श्री शातकर्णी महाक्षत्रप रुद्रदामा का कान्हेरी अभिलेख में वर्णित दामाद था, इसीलिए इसे निकट संबध वाला बताया गया है। इस विषय में तीसरा मत श्री गोपालाचारी का है।[2] वे इस अभिलेख के शातकर्णी को पौराणिक वशावलियो मे वर्णित शिव श्री शातकर्णी का उत्तराधिकारी शिवमक (शिवस्कंद) शातकर्णी मानते हैं। यह सभवत शिव श्री शातकर्णी का भाई या भतीजा था। रुद्रदामा के दामाद के जटिल प्रश्न का समाधान अभी तक सतोषजनक रीति से नही हो सका है। किन्तु रैप्सन के मत पर आपत्ति करते हुए नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है कि यह सर्वथा असभव प्रतीत होता है कि जो पुलुमायी टालमी के मतानुसार चष्टन का समकालीन था, वह चष्टन के पोते की लड़की से विवाह करे।

गिरनार के उपर्युक्त अभिलेख से रुद्रदामा के वैयक्तिक चरित्र और शासन-प्रबन्ध पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। इसमे यह कहा गया है कि वह उच्च नैतिक आदर्शों और नियमो का पालन किया करता था। उसने युद्ध के अतिरिक्त मरते दम तक कभी किसी पुरुष का वध न करने की अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करके दिखाया था। वह शरणागत लोगो की रक्षा करने वाला था। उसने अपने प्रजाजनो को डाकुओ, जगली जानवरो और रोगो के भय से मुक्त किया। वह प्रजा के न्याय-कार्य को नियमित रूप से किया करता था, उसने शस्त्र एव शास्त्र—दोनो प्रकार की विद्याओ मे प्रवीणता प्राप्त की थी। वह व्याकरण (शब्द), राजनीतिशास्त्र (अर्थ), सगीत (गाधर्व), तर्कशास्त्र (न्याय) आदि विभिन्न विद्याओ मे पारगत था, घोडे, हाथी और रथ चलाने मे तथा तलवार ढाल आदि के युद्ध मे उसने अत्यन्त बल, स्फूर्ति एव सफाई दिखाई थी। उसके रूप का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि वह लम्बाई चौड़ाई ऊँचाई आदि सभी प्रकार के उत्तम लक्षणो और व्यजनो से युक्त तथा मनोमोहिनी मूर्ति वाला (**परमलक्षणव्यंजनैरुपेतः कान्तमूर्ति.**) था। शायद अपने अद्वितीय सौन्दर्य के कारण उसे राजकन्याओ के स्वयवरो मे अनेक मालाये पाने का सौभाग्य मिला था। उसके सिक्को पर बनी मूर्तियो से भी इस प्रशस्ति की पुष्टि होती है। इन सिक्को पर वह प्रसन्नचित्त और चुलबुले स्वभाव वाला, विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न और पराक्रमी पुरुष प्रतीत होता है। इस अभिलेख मे यह भी कहा गया है कि वह

१. **इंडियन ऐंटिक्वेरी, १६१८, पृष्ठ १५४–५५।**

२. **अर्ली हिस्टरी आफ दि आंध्र कंट्री, पृष्ठ ५४।**

अत्यधिक करो द्वारा प्रजा को पीड़ित नही करता था। उसने इस बाँध के पुनर्निर्माण का कार्य कर, बेगार (विष्टि) तथा सप्रेम भेट के नाम से अपनी प्रजा से लिये गए उपहार (प्रणय) आदि से प्रजा को पीड़ित किये बिना अपने ही कोष से बहुत बड़ा धन लगाकर किया। इसे थोड़े ही काल मे पहले से तीन गुनी मजबूती और लम्बाई चौड़ाई वाला बाँध बनवाया। यह पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर (सुदर्शनतर) रूप में बना था। उसके शासन-प्रबन्ध पर प्रकाश डालते हुए यह कहा गया है कि वह अपना शासन-प्रबन्ध परामर्श देने वाले मन्त्रियो (**मतिसचिवों**) तथा राजाज्ञाओ के अनुसार कार्य करने वाले कर्मचारियो (**कर्मसचिवों**) की सहायता से किया करता था।

इस अभिलेख से सुराष्ट्र के इतिहास पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है। जिस चट्टान पर यह लेख लिखा गया है वही अशोक का भी शिलालेख पाया गया है। रुद्रदामा के अभिलेख से यह स्पष्ट है कि इस प्रदेश में बाँध बनाकर सिचाई करने की ओर सबसे पहले मौर्य सम्राटो ने ध्यान दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय यहाँ पहला प्रान्तीय शासक (राष्ट्रिय) पुष्यगुप्त था, उसने इस बाँध को सबसे पहले बनवाया। उसके बाद अशोक के समय यहाँ के यूनानी प्रान्तीय शासक तुषास्प ने इसमें विभिन्न जल-प्रणालियाँ बनाकर अनेक सुधार किये। इसके बाद प्रबल वृष्टि और तूफान से इस बाँध के टूट जने पर रुद्रदामा के प्रान्तीय शासक पहलव जातीय सुविशाख ने इसकी मरम्मत करवाई। अशोक के समय यहाँ यूनानी व्यक्ति का तथा रुद्रदामा के समय पहलव जाति के व्यक्ति का प्रान्तीय शासक होना यह सूचित करता है कि इस प्रदेश मे विदेशियो को काफी ऊँचे पद दिये जाते थे। यह समवत. यहाँ विदेशियों के अधिक सख्या मे बसे होने के कारण था। इसीलिए यहाँ पहले यूनानी लिपि का प्रयोग होता था, किन्तु रुद्रदामा के समय से यूनानी लिपि का व्यवहार बन्द हो गया।

रुद्रदामा के साम्राज्य मे सिन्धु-सौवीर के सम्मिलित होने का वर्णन किया गया है। यह मुलतान से सिन्धु नदी के मुहाने तक का प्रदेश था। सुई विहार के अभिलेख से यह प्रतीत होता है कि यह कनिष्क के साम्राज्य में ८९ ई० मे सम्मिलित था। रुद्रदामा ने अपने अभिलेख मे कुषाणो का कोई वर्णन नही किया है। अतः समवत. उस समय तक यह प्रदेश कुषाणो के हाथ से निकल चुका था। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि रुद्रदामा का शासन उत्तर मे मुलतान तक और दक्षिण में नासिक और सोपारा तक था। वह समवत. सबसे बडा शक राजा था।

रुद्रदामा न केवल एक महान् विजेता और कुशल प्रशासक था, अपितु वह

संस्कृत भाषा का भी एक प्रबल पोषक था। वह स्वयमेव गद्य, पद्य और काव्यादि की रचना करने में प्रवीण था। जूनागढ़ का अभिलेख प्राचीन भारत में उपलब्ध सबसे पहला सस्कृत अभिलेख है। इससे पहले के सभी अभिलेख प्राकृत भाषा में मिलते है। यह लेख इस बात को सूचित करता है कि उस समय सस्कृत में गद्य-लेखन की काव्यशैली का पर्याप्त विकास हो चुका था।

रुद्रदामा प्रथम के समय पश्चिमी क्षत्रपो की शक्ति अपने उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुच चुकी थी। वह इस वश का सबसे अधिक प्रतापी और महान् सम्राट् था। उसने अपने प्रयत्न और पौरुष से कुछ वर्षों के भीतर ही मालवा, गुजरात, काठियावाड़, उत्तरी कोकण, पश्चिमी राजस्थान और सिन्ध मे अपनी सत्ता का विस्तार किया था और प्रजा के कल्याण के लिए सुदर्शन बाँध के जीर्णोद्धार जैसे बड़े कार्य प्रजा पर कोई विशेष कर लगाए बिना पूरे किए थे। उसने सस्कृत साहित्य को भी राजकीय सरक्षण प्रदान किया था। श्री अल्तेकर के मतानुसार रुद्रदामा का देहान्त १७० ई० के आसपास हुआ और उसका शासनकाल १४५ से १७० ई० तक था।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारी—दामजड़ (१७०–७५ ई०)—रुद्रदामा के बाद उसका पुत्र दमघ्सद अथवा दामजड गद्दी पर बैठा।[१] यह सभवत अपने पिता के शासन-काल मे उसकी अनेक लडाइयो मे भाग ले चुका था और इसने क्षत्रप के रूप मे प्रशासन भी किया था। यह रुद्रदामा के विशाल साम्राज्य पर शासन करता रहा, किन्तु इसका शासन-काल अधिक लम्बा नही था, क्योकि उसके महाक्षत्रप के रूप मे प्रचलित किए गए सिक्के अतीव दुर्लभ है। इन पर उसका जो चित्र है, उससे यह प्रतीत होता है कि राज्यारोहण के समय वह एक वृद्ध व्यक्ति था। उन दिनो इस वश मे यह परिपाटी थी कि पिता के जीवनकाल मे उसका पुत्र क्षत्रप के रूप मे अपने पिता के साथ सयुक्त रूप से शासन करता था और अपने नाम से सिक्के भी ढलवाता था। पिता की मृत्यु के बाद राजसिहासन पर बैठने के बाद वह महाक्षत्रप की उपाधि धारण करता था और इस उपाधि के साथ अपने सिक्के प्रचलित करवाता था। महाक्षत्रप के रूप मे दामजड के सिक्के कम होने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि उसने पाँच वर्ष से अधिक शासन नही किया होगा। उसका यह शासन-काल अतीव शान्ति और समृद्धि का समय था। उत्तर मे कुषाण सम्राटो की सत्ता

१. मुद्राओ पर रुद्रदामा के पुत्र का नाम विदेशी शक भाषा के रूप में दमघ्सद ही मिलता है। बाद में उसके उत्तराधिकारियों ने इस विदेशी नाम का भारतीयकरण दामजड़ के रूप में किया।

क्षीण होने के कारण इस समय क्षत्रपों को उत्तर से कोई खतरा नहीं था, दक्षिण में रुद्रदामा ने १५० ई० के लगभग सातवाहनों को करारी हार दी थी। पश्चिमी दिशा से भविष्य में क्षत्रपों को चुनौती देने वाले सासानी साम्राज्य का अभी तक अभ्युत्थान नही हुआ था, अतः दामजड़ १७५ ई० तक निर्विघ्न रीति से शासन करता रहा।

दामजड़ प्रथम के दो पुत्र जीवदामा और सत्यदामा थे। इनमें बड़ा भाई अपने पिता की मृत्यु के बाद १७५ ई० मे महाक्षत्रप बना और राजगद्दी पर बैठा। चूकि अपने पिता के समय मे क्षत्रप के रूप मे उसकी कोई भी मुद्रायें अभी तक नही मिली है, अतः यह अनुमान किया जाता है कि इस समय उसकी आयु बहुत कम थी और उसे प्रशासन का अधिक अनुभव नही था। उसका चाचा रुद्रसिह न केवल अधिक अनुभवी था, अपितु अधिक महत्वाकाक्षी था। वह पहले कुछ समय तक उसके प्रति अपनी राजभक्ति दिखाता रहा और क्षत्रप के रूप मे उसका वशवर्ती होकर शासन में भाग लेता रहा। किन्तु शीघ्र ही उसने गद्दी पाने के लिये एक षड्यंत्र किया और इसमे आभीरो से सहायता प्राप्त की। इनके नेता उस समय क्षत्रप सेनाओ मे सेनानी हुआ करते थे। इनकी सहायता से उसने अपने भतीजे को राजगद्दी से हटा दिया और स्वयमेव महाक्षत्रप बन गया। किन्तु रुद्रसिह भी गद्दी पर देर तक नही रह सका। उस समय नासिक में एक छोटे से राज्य पर शासन करने वाले ईश्वरदत्त नामक एक अन्य आभीर सेनानी ने उसे गद्दी से हटा दिया तथा १८८ ई० मे वह स्वयमेव महाक्षत्रप बन बैठा। रुद्रसिह प्रथम ने अब उसका वशवर्ती बन कर क्षत्रप का कार्य करना स्वीकार किया, किन्तु वह अन्दर ही अन्दर उसे गद्दी से हटाने का प्रयत्न करता रहा, दो वर्ष बाद १९१ ई० मे वह उसे सिहासनच्युत करके स्वयमेव महा-क्षत्रप के रूप में पुनः शासन करने लगा। १९७ ई० तक वह राज्य करता रहा।[1]

राजगद्दी के लिए चाचा-भतीजे मे होने वाले इस सघर्ष का पश्चिमी क्षत्रपों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। समवत इसी कारण यज्ञश्री सातकर्णी नामक महत्वा-कांक्षी सातवाहन राजा ने क्षत्रपो से उत्तरी कोकण का प्रदेश छीन लिया, क्योकि इस

१. रैप्सन ने क्षत्रप वंश मे ईश्वरदत्त का हस्तक्षेप २३६–३८ ई० में माना है, क्योंकि इन वर्षों में क्षत्रप राजाओं की कोई मुद्राएँ नहीं मिलतीं। किन्तु देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने अभिलेखों के आधार पर आभीरों के हस्तक्षेप को १७८–८० ई० में माना है (आ० स० इं० १९१३–१४, पृ० २२७–४५)।

राजा के सिक्के और लेख इस प्रदेश मे पाए जाते है। इसके अतिरिक्त उदयपुर और अजमेर के मालव लोग भी अपने राज्य-विस्तार का प्रयत्न करने लगे।

१९७ ई० मे हम पुन: जीवदामा को महाक्षत्रप के रूप मे शासन करता हुआ पाते हैं। सभवत. इस समय चाचा-भतीजे मे कुछ समझौता हो गया था, क्योकि रुद्रसिह के पुत्र रुद्रसेन को हम जीवदामा के राज्यकाल के अन्त मे क्षत्रप के रूप मे शासन करते हुए पाते है। श्री अल्तेकर के मतानुसार जीवदामा हुमायूँ की भाँति दूसरी बार राजगद्दी पर बैठने के बाद अधिक समय तक शासन नही कर सका और २०० ई० में उसका भतीजा रुद्रसेन महाक्षत्रप के रूप मे शासन करने लगा।

रुद्रसेन—(२००–२२२ ई०), **उत्तराधिकार की नवीन प्रणाली**—रुद्रसेन ने २२ वर्ष के लम्बे समय तक शासन किया। उसके दो भाई सघदामा और दामसेन तथा दो पुत्र पृथ्वीसेन तथा दामजड़ थे। इस समय उत्तराधिकार के लिए भीषण युद्ध हो सकता था, किन्तु पिछली पीढी के अनुभव से लाभ उठाते हुए पश्चिमी क्षत्रपो ने अब यह निश्चय किया कि उनमे राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे यह परिपाटी चलाई जाय कि एक राजा के मरने के बाद राजगद्दी उसके सबसे बड़े बेटे को न देकर पहले उसके छोटे भाइयो को उनकी आयु के क्रम से दी जाय। इस नियम के अनुसार रुद्रदामा के बाद उसके छोटे भाई सघदामा और दामसेन क्रम से गद्दी पर बैठे और अगली पीढी मे दामसेन के तीन पुत्रो ने क्रमश शासन किया। इनके एक पीढी बाद विश्वसेन का उत्तराधिकारी उसका भाई भर्तृदामा बना। इस व्यवस्था में कई बड़े लाभ थे। गद्दी पर योग्य एव अनुभवी शासक बैठते थे और जब सब भाइयो को गद्दी पर बैठने का अवसर दिया गया तो उनमे राजसिहासन को पाने के लिए युद्ध और विद्रोह करने की प्रवृत्ति कम हो गई। किन्तु इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह था कि बड़ा बेटा पिता के मरने पर राजगद्दी नही पाता था। फिर भी उसके मानसिक सतोष के लिए उसे क्षत्रप की उपाधि दी जाती थी और वह अपने चाचाओ के नीचे शासन का क्रियात्मक अनुभव प्राप्त करता था। प्राचीन भारतीय प्रशासन मे पश्चिमी क्षत्रपो की यह एक निराली देन और सर्वथा नवीन आविष्कार था।

रुद्रसेन प्रथम के समय मे मालवा, गुजरात, काठियावाड और पश्चिमी राजस्थान उसके शासन मे बने रहे। उत्तरी कोकण सातवाहनो ने इनसे पहले ही छीन लिया था, कुछ समय बाद यहाँ आभीरो ने एक स्वतन्त्र राज्य बनाया। ये पहले सातवाहनो के सामत रहे होगे, किन्तु बाद मे ये स्वतत्र शासक बन बैठे और दूसरी शताब्दी ई० मे उत्तरी कोकण और महाराष्ट्र पर शासन करते रहे।

इस समय उज्जयिनी में शासन करने वाले क्षत्रपों ने रुद्रदामा की भाँति संस्कृत भाषा और हिन्दू धर्म को प्रबल संरक्षण प्रदान किया, इससे इन राजाओ की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई। इस समय इस वंश का नाम और प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि अन्य राज्य उज्जयिनी की राजकन्याओं से विवाह करने के लिये उत्सुक रहते थे। आध्र प्रदेश मे २४० से २६५ ई० तक शासन करने वाले इक्ष्वाकु-वंशीय राजा वीर पुरुषदत्त की एक रानी रुद्रधर-भट्टारिका उज्जयिनी के शक परिवार की थी। यह सूचना हमे नागार्जुनीकोंडा के महाचैत्य मे इस रानी द्वारा दान किए गए एक प्रस्तरस्तम के लेख से मिलती है जिसमे महादेवी रुद्रधर भट्टारिका को उज्जयिनी के महाराज की लड़की (**उजेनिका महाराजबालिका**) कहा गया है।[1] यह राजकन्या समवतः रुद्रसेन प्रथम या द्वितीय की लड़की थी। अमरावती मे बुद्ध के चरणचिह्न की मूर्ति दान करने वाला एक शक योद्धा समवतः इस राजकन्या के साथ विवाह के बाद आध्र प्रदेश जाने वाले व्यक्तियो मे से था। रुद्रसेन की प्रभुदामा नामक एक बहिन की एक मुहर वैशाली मे मिली है।[2] डी० बी० स्पूनर द्वारा खुदाई मे प्राप्त की गई इस मुहर के ब्राह्मी लेख मे यह कहा गया है कि यह महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह की लड़की तथा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेन की बहिन महारानी प्रभुदामा की मुहर है (**राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसिंहस्य दुहितुः राज्यमहाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसेनस्य भगिन्या महादेव्याः प्रभुदामाया·**)। इसमे इस रानी के पति का नाम नही दिया गया है। श्री अल्तेकर के मतानुसार यह समवत. पूर्वी भारत का कोई ऐसा अब तक अज्ञात हिन्दू राजा है जिसने शक राजकन्या से विवाह किया था अथवा यह ऐसा भारतीय बना हुआ कुषाण राजा भी हो सकता है जो कुषाण साम्राज्य की समाप्ति के बाद मगध मे शासन करता हो।

सघदामा और दामसेन (२२२-२३८ ई०)

रुद्रसेन प्रथम के दो पुत्र पृथ्वीसेन और दामजड़ थे। किन्तु रुद्रसेन की मृत्यु के बाद क्षत्रपों के उत्तराधिकार के नियम के अनुसार राजगद्दी उसके छोटे भाई सघदामा को मिली। यद्यपि राज्यारोहण के समय उसकी आयु ४० वर्ष से अधिक नहीं थी, किन्तु गद्दी पर बैठने के डेढ वर्ष बाद ही हमे २२३ ई० मे गद्दी पर बैठने वाले तथा महाक्षत्रप के रूप मे शासन करने वाले उसके छोटे भाई दामसेन के सिक्के मिलने

---

१. ए० इ० खण्ड २०, पृष्ठ ४।

२. आ० स० इं० १९१३-१४, पृष्ठ १३६।

लगते है। सघदामा की इतनी जल्दी अकाल मृत्यु के बारे मे श्री अल्तेकर ने यह अटकल लगाई है कि वह समवत. अजमेर, उदयपुर के उन मालवो के साथ लड़ते हुए मारा गया, जिन्होने इस समय क्षत्रप शासन की दासता से मुक्ति पाने के लिये सफल सघर्ष किया था। इसका उल्लेख हमे २२६ ई० के नाँदसा यूप लेख से मिलता है। इसमे यद्यपि मालवो के शत्रुओ का नाम स्पष्ट रूप से नही बताया गया, किन्तु वे पश्चिमी क्षत्रपो के अतिरिक्त कोई नही हो सकते है क्योकि रुद्रदामा प्रथम के समय से यह प्रदेश उनके अधिकार मे था। मालवो का यह स्वातन्त्र्य-सघर्ष २२६ ई० मे समाप्त हो चुका था। यह समवत तीन चार वर्ष चला होगा, इसमे २२३ ई० मे सघदामा ने वीरगति पाई होगी। अजमेर और उदयपुर का प्रदेश क्षत्रपो के हाथ से निकल जाने पर सिन्ध सम्भवतः उनकी प्रभुता से मुक्त हो गया, क्योकि वे अजमेर के बिना सिन्ध पर नियत्रण नही रख सकते थे। सिन्ध का प्रदेश २८४ ई० मे ईरान के सासानी सम्राटो के अधिकार मे चला गया। उस समय सभवत यहाँ स्थानीय शक राजा शासन कर रहे होगे। इस प्रकार दामसेन के समय मे पश्चिमी क्षत्रपो का राज्य मालवा, गुजरात और काठियावाड तक ही सीमित रह गया, इस समय भी उज्जयिनी इसकी राजधानी थी। दामसेन के राज्यकाल के पहले १० वर्षो मे उसके दिवगत बड़े भाई रुद्रसेन प्रथम के दो पुत्र पृथ्वीसेन और दामजड क्षत्रपो के रूप मे शासन करते रहे, किन्तु उसके राज्य के अन्तिम चार वर्षों मे उसका अपना पुत्र वीरदामा क्षत्रप का कार्य करने लगा। संभवत यह अपने पिता के जीवनकाल मे ही दिवगत हो गया और दामसेन की मृत्यु के बाद उसका छोटा भाई यशोदामा २३८ ई० मे शासन करने लगा।

यशोदामा प्रथम, विजयसेन, दामजड़ तृतीय तथा रुद्रसेन द्वितीय (२३८-२७९)

यशोदामा ४० वर्ष की आयु मे राजगद्दी पर बैठा, किन्तु दो वर्ष बाद हम उसके छोटे भाई विजयसेन को महाक्षत्रप के रूप मे शासन करता हुआ पाते है, उसका शासनकाल २४० से २५० ई० तक है। यशोदामा की अकाल मृत्यु का कारण सभवत. उस समय की कोई राजनीतिक घटना होगी, इसका हमे कोई ज्ञान नही है। विजयसेन का शासनकाल बडा शान्तिपूर्ण और समृद्धिशाली था क्योंकि उसके सिक्के प्रचुर मात्रा मे गुजरात और काठियावाड के अनेक स्थानो से मिले है। विजयसेन के बाद उसका छोटा भाई दामजड़ २५० ई० मे गद्दी पर बैठा। उसने पॉच वर्ष तक शासन किया और उसका उत्तराधिकारी २२ वर्ष तक शासन करने वाला रुद्रसेन द्वितीय है। इस समय हमे क्षत्रपो की शासन-पद्धति मे एक बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है।

२३९ से २७५ ई० तक राज्य करने वाले महाक्षत्रप के साथ किसी अन्य क्षत्रप के कोई सिक्के नही मिलते हैं, समवत. उस समय यह प्रथा किन्ही कारणो से समाप्त कर दी गई। हमे इस परिवर्तन के कारणो का कोई ज्ञान नही है। २४० ई० के बाद से मालवा में प्रचलित पश्चिमी क्षत्रपो की ताम्र मुद्राएँ मिलनी बन्द हो जाती हैं। सभवत इसका कारण यह था कि मालवा अब शकों के हाथ से निकल गया था, इसे क्षत्रपों से छीनने वाला शायद वाकाटक वश का सस्थापक विन्ध्यशक्ति (२५५–२७५ ई०) था। २६६ ई० के लगभग हमें साँची मे स्वतन्त्र रूप से शासन करने वाले शक राजा श्रीधरवर्मा का ज्ञान एक अभिलेख से होता है। इस प्रकार क्षत्रपो के अधिकार से मालवा निकल जाने पर उन्हें अपनी राजधानी उज्जयिनी से काठियावाड मे गिरिनगर (जूनागढ़) ले जानी पडी होगी।

विश्वसिंह और भर्तृदामा (२७९ ई० से ३०४ ई०)––रुद्रसेन द्वितीय का सम्भवतः कोई छोटा भाई नही था, अत उसके बाद उसका सबसे बडा पुत्र विश्वसिंह २७९ ई० मे राजगद्दी पर बैठा। इसका शासन केवल ३ वर्ष तक ही रहा। २८२ ई० मे हम उसके भाई भर्तृदामा को महाक्षत्रप के रूप मे शासन करता हुआ पाते है, वह राज्यारोहण से पहले ४ वर्ष तक क्षत्रप के रूप मे शासन करता रहा। भर्तृदामा ने समवत ३०४ ई० तक राज्य किया और उसका पुत्र विश्वसेन २९४ ई० से उसके साथ क्षत्रप के रूप मे कार्य करने लगा। इन दोनो की मुद्राए गुजरात और काठियावाड मे प्रचुर मात्रा मे मिली है। इससे यह सूचित होता है कि यह इस वश का समृद्धिकाल था।

भर्तृदामा के शासनकाल मे २८४ ई० मे सासानी सम्राट वरहरन द्वितीय ने सीस्तान और सिन्ध के प्रदेश जीते और अपने भाई वरहून तृतीय को नये प्रदेश का राज्यपाल बनाया, उसे **शकानशाह** की उपाधि दी। इसका पश्चिमी क्षत्रपो पर अधिक प्रभाव नहीं पडा, क्योकि सिन्ध मे उनका शासन कई दशाब्दी पहले ही समाप्त हो चुका था। यहाँ उन दिनो स्थानीय शक सरदार शासन करते थे। अब ये इस विजय के बाद सासानी सम्राट् को अपना स्वामी मानने लगे। इस नवीन परिस्थिति मे भर्तृदामा ने ईरानी सम्राट के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना वांछनीय समझा, अत उसने वरहून तृतीय और नरसेह के बीच होने वाले गृहयुद्ध मे कोई भाग नही लिया, किन्तु जब नरसेह इस युद्ध मे सफल हुआ तो उसने उसे बधाई देने के लिए उसके पास अपने राजदूत भेजे।

नवीन शक वंश का अभ्युदय :––भर्तृदामा १७५ वर्ष तक चष्टन के समय से

अविच्छिन्न रूप से गुजरात और काठियावाड पर शासन करने वाले राजवंश का अन्तिम राजा था। ३०४ ई० के बाद हमें इसके सिक्के मिलने बन्द हो जाते है। इसके बाद उसका उत्तराधिकारी शासक उसके नीचे १० वर्ष तक क्षत्रप के रूप में कार्य करने वाला विश्वसेन नही बना, अपितु रुद्रसेन द्वितीय नामक एक व्यक्ति बना। सिक्को मे उसे राजा अथवा क्षत्रप के किसी भी राजकीय पद को न धारण करने वाले स्वामी जीवदामा का पुत्र बताया गया है, इससे यह स्पष्ट है कि अब चष्टन से चली आने वाली वशपरम्परा समाप्त हो गई। रुद्रसिह द्वितीय किसी अन्य शक शाखा का सदस्य था और उसने चष्टन की पुरानी वशपरम्परा को समाप्त करके सभवत उग्र सघर्ष के बाद राजगद्दी प्राप्त की थी। इस समय एक ऐसा राजनीतिक सकट आया, जिसके कारण लोग अपनी सम्पत्ति लेकर सुरक्षा पाने की दृष्टि से दूसरे प्रदेशो की ओर भागने लगे और बहुमूल्य मुद्राओ को जमीन मे गाडने लगे। यह बात हमे जूनागढ से उपलब्ध भर्तृदामा के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों मे ५२० सिक्को की दबी हुई एक निधि से ज्ञात होती है।[1]

रुद्रसिह ने शीघ्र ही राज्य पर अपना सुदृढ नियत्रण स्थापित किया, वह ३१६ ई० तक शासन करता रहा। उसके बाद यशोदामा ने ३३२ ई० तक शासन किया। किन्तु रुद्रसिह द्वितीय और यशोदामा द्वितीय ने महाक्षत्रप की उपाधि नही धारण की और हमे ३३२ से ३४८ ई० तक की अवधि की कोई भी क्षत्रप मुद्राए नही मिलती है। ३४८ ई० से हमे पुन एक नये शासक रुद्रसेन तृतीय की मुद्राये मिलती है। यह शासक ३८० ई० तक शासन करता रहा। इसके बाद उसके भानजे सिहसेन ने महाक्षत्रप के रूप मे शासन किया। उसके बाद रुद्रसेन चतुर्थ ३८८ ई० तक शासन करता रहा। इसका उत्तराधिकारी रुद्रसिह तृतीय ३८८ ई० मे राजगद्दी पर बैठा। गुप्त साम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसे हराकर गुजरात और काठियावाड के प्रदेश को गुप्त साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। इसका प्रमाण हमें तत्कालीन सिक्कों से मिलता है। गुप्त सम्राटो ने इस प्रदेश मे प्रचलित रजत मुद्राओ की शैली को यथापूर्व रखते हुए उस पर अपने प्रभुत्व की सूचना देने वाले गरुड के चिह्न को अंकित करवाया।

---

१. न्यू मिसमेटिक सप्लीमेंट, पृष्ठ ४७ ६७ तथा बा० गु० ए० पृष्ठ ५७।

पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों की वंशावली

क्षहरात वंश

भूमक
|
नहपान (११९ से १२४ ई०)
दक्षमित्रा, उषवदात (दीनिक का पुत्र)।

पश्चिमी क्षत्रप वंश—

यसमोतिक
|
(१) चष्टन
|
जयदामा
|
(२) रुद्रदामा १म (१३०–१५०)

(२) रुद्रदामा १म के पुत्र:
- (३) दामजद १म
  - सत्यदामा
  - (५) जीवदामा (१९७)
- (४) रुद्रसिंह १म (१८१–१८८, १९१–१९७)
  - (६) रुद्रसेन १म (२००–२२२)
    - पृथ्वीषेण
    - दामजद २य
      - वीरदामा
        - (१२) रुद्रसेन २य (२५५–२७७)
          - (१३) विश्वसिंह
          - (१४) भर्तृदामा (२८२–२९५)
            - (१५) विश्वसेन (क्ष०) (२९५–३०७)
      - (९) यशोदामा (२३८–२३९)
      - (१०) विजयसेन (२३९–२५०)
      - (११) दामजद ३य (२५१–२५५)
  - (७) संघदामा (२२२–२२३)
  - (८) दामसेन (२२३–२२६)

स्वामी जीवदामा
|
(१६) रुद्रसिंह २य (क्ष०)
(३०४–३१६)
|
(१७) यशोदामा २य (क्ष०)
(३१६–३३२)

(१८) स्वामी रुद्रदामा २ य
|
(१९) स्वामी रुद्रसेन ३य
(३४८–३५१)
(३६०–३७९)

कन्या
|
(२०) स्वामी सिंहसेन
(३८२)
|
(२१) स्वामी रुद्रसेन ४र्थ

(२२) स्वामी सत्यसिंह
|
(२३) स्वामी रुद्रसिंह ३य
(३८८)

आठवाँ अध्याय

सातवाहन साम्राज्य का उत्थान और पतन

सातवाहन वंश का महत्त्व--मौर्योत्तर युग मे जो राजनीतिक शक्तियाँ भारत मे प्रबल हुई, उनमे सातवाहनो द्वारा स्थापित साम्राज्य कई कारणो से अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। **पहला** कारण यह है कि यह साम्राज्य दक्षिण भारत मे पहला ऐसा साम्राज्य था जिसने उत्तर भारत के मौर्य साम्राज्य की परम्परा को कई प्रकार से दक्षिण भारत मे सुरक्षित बनाये रखा। जिस प्रकार उत्तर भारत में मौर्य साम्राज्य ने सर्वप्रथम सारे देश मे एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया, उसी प्रकार सातवाहनो ने दक्षिण भारत मे सबसे पुराना और पहला साम्राज्य स्थापित करते हुए इसके विभिन्न प्रदेशो को एकता के सूत्र मे आबद्ध किया। **दूसरा** कारण इस साम्राज्य का अन्य राज्यों की तुलना मे सुदीर्घ काल तक बना रहना है। मौर्य साम्राज्य का शासन-काल १३७ वर्ष, शुगो का ११२ वर्ष, काण्वो का ४५ वर्ष था, किन्तु इन सबकी तुलना मे सातवाहन साम्राज्य की परम्परा ४६० वर्ष तक अक्षुण्ण रूप से बनी रही। इसमे कोई सन्देह नही कि इन साढे चार शताब्दियो की सुदीर्घ अवधि मे इस राज्य की सीमाओ मे बडे परिवर्तन और उतार-चढाव होते रहे, इस पर भीषण विदेशी आक्रमण होते रहे, किन्तु यह इन सबका प्रतिरोध करने मे समर्थ हुआ और इसने अपने लुप्त वैभव और गौरव को पुन प्राप्त किया। **तीसरा** कारण इस साम्राज्य द्वारा विदेशी आक्रामको को दक्षिण में प्रवेश करने से सफलतापूर्वक रोकना है। पश्चिमी भारत मे विदेशी कुषाणो के अग्रदूत और सेनानी क्षत्रपो के साथ इनका संघर्ष लगभग एक शताब्दी तक चलता रहा, किन्तु अन्त में ये विदेशी आक्रामको का प्रतिरोध करने मे और उन्हें दक्षिण मे आगे बढने से रोकने मे सफल हुए। **चौथा** कारण सातवाहनो द्वारा दक्षिण मे स्थापित किए गए सुशासन, समृद्धि और शान्ति के काल मे विभिन्न कलाओ का अद्भुत विकास था। यह हमे कार्ले, भाजा आदि पहाड़ों को काटकर बनाये गए चैत्यो मे और पूर्वी तट पर अमरावती आदि के स्तूपो मे दिखाई देता है। **पाँचवाँ** कारण इस साम्राज्य के शान्तिपूर्ण काल मे व्यापार एवं उद्योग-धन्धो का विकास और विदेशो के साथ भारत के व्यापार में

अभूतपूर्व उन्नति और समृद्धि थी। इस समय रोमन साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार अपने चरम शिखर पर पहुच गया था। पश्चिमी तट के बन्दरगाहो से भारतीय मसाले, सुगन्धित पदार्थ, बढिया सूती वस्त्र विदेशो को भेजे जाते थे, इनके बदले मे पश्चिमी देशो से शराब, रोमन साम्राज्य की स्वर्ण मुद्राएं तथा अन्य बहुमूल्य सामग्री प्रभूत मात्रा मे भारत आ रही थी और इसे समृद्ध बना रही थी। **छठा** कारण इस समय प्राकृत साहित्य को सातवाहन राजाओ द्वारा प्रबल प्रोत्साहन दिया जाना है। काव्यमीमासा के लेखक राजशेखर के मतानुसार सातवाहन राजाओ ने यह नियम बना दिया था कि उनके महलो मे प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाय।[1] महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखी गई एक सुप्रसिद्ध रचना 'गाथा सप्तशती' है जो सातवाहन राजा हाल की कृति मानी जाती है। इस समय प्राकृत साहित्य का बडा उत्कर्ष हुआ। **सातवाँ** कारण इस समय समुद्री व्यापार और धर्म-प्रसार की भावना के कारण विदेशो मे भारतीय सस्कृति के प्रचार की प्रक्रिया का प्रोत्साहन था। सातवाहनो ने इसमे बडा सहयोग दिया। सातवाहनो का साम्राज्य तीन समुद्रो से घिरा हुआ था। इसके एक राजा गौतमीपुत्र सातकर्णी की माता बालश्री ने बडे अभिमानपूर्वक एक अभिलेख मे लिखा है कि--"उसके बेटे की सेना के घोडो ने तीन समुद्रो का पानी पिया है।" सातवाहन युग मे समुद्री सीमाओ को लाँघ कर भारत की सस्कृति का प्रसार जावा, सुमात्रा, मलाया आदि सुवर्णभूमि के प्रदेशो मे हुआ, दक्षिण-पूर्वी एशिया मे बृहत्तर भारत का निर्माण हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सातवाहनो ने प्राचीन भारत मे एक बडे गौरवशाली साम्राज्य का निर्माण किया। इसकी धुधली स्मृतियाँ पुरानी अनुश्रुतियो और दन्तकथाओ मे पाई जाती है। बौद्ध, जैन और ब्राह्मण ग्रन्थ इनका वर्णन करते है और इन्ही सातवाहनो के नाम पर शक सवत् को शालिवाहन सवत् का नाम दिया गया। शालिवाहन सातवाहन शब्द का ही एक परवर्ती रूपान्तर है।

सातवाहन वंश के इतिहास के मूलस्रोत--ऐतिहासिक दृष्टि से एक महत्व-पूर्ण वश होते हुए भी हमे इसकी प्रामाणिक जानकारी देने वाले साधन बहुत ही कम उपलब्ध होते हैं। सातवाहन वंश के तीस राजाओ ने दक्षिण भारत के बहुत बड़े भाग पर साढे चार सौ वर्ष तक शासन किया। किन्तु अभी उनके कार्यो पर प्रकाश डालने वाले केवल सात अभिलेख दक्खिनी पठार के पूर्वी भाग से और उन्नीस अभिलेख

१. काव्यमीमांसा, पृष्ठ ५०--श्रूयते हि कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा। तेन प्राकृतभाषात्मकमन्तःपुरमेवेति।

पश्चिमी भाग से मिले है। इन अभिलेखो मे प्राय बौद्ध धर्म के लिये दिये जाने वाले दानो का ही वर्णन मिलता है । ये सातवाहन युग के शासन-काल की महत्त्वपूर्ण समस्याओ पर कोई प्रकाश नही डालते है। सातवाहन साम्राज्य से सम्बद्ध पैठन, मास्की, कौण्डापुर आदि अनेक स्थानो की खुदाई की गई है। किन्तु इनसे भी अभी तक कोई उल्लेखनीय नवीन सामग्री नही प्राप्त हुई है। अभिलेखो के अतिरिक्त **दूसरा** महत्वपूर्ण साधन मुद्राओ का है। सातवाहन वश के सबध मे हमे सबसे अधिक जानकारी इनके सिक्को से मिली है। ये सिक्के दक्खिनी पठार मे और मध्य प्रदेश मे बहुत बड़ी मात्रा मे मिले है। सर्वश्री कनिघम, भगवानलाल इन्द्रजी, एफ० डब्लू० थामस और रैप्सन जैसे सुप्रसिद्ध मुद्राशास्त्रियो ने इनकी मुद्राओ का गम्भीर अध्ययन करके इस वश के इतिहास की अनेक जटिल समस्याओ का समाधान किया है। **तीसरा** स्रोत साहित्यिक ग्रन्थ है। इनमे प्रधान स्थान पुराणो की वशावलियो का है। आरम्भ मे ये वशावलियाँ प्रामाणिक और शुद्ध रही होगी, किन्तु बाद मे इनकी प्रतिलिपियाँ करते समय इनमे अनेक परिवर्तन होते रहे, अत इनके पाठ निरन्तर भ्रष्ट होते गये। इसका परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान समय मे उपलब्ध पुराणो मे इनके शासनकाल के बारे मे तथा शासको के नामो के सम्बन्ध मे बडे गम्भीर मत-भेद है, इनका समाधान करना सरल कार्य नही है। अत पुराणो की प्रामाणिकता केवल उसी हद तक विश्वसनीय है जहाँ तक इनका समर्थन अभिलेखो और मुद्राओ की साक्षी से होता है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' एक सातवाहन नरेश के दरबार मे लिखी गई थी, किन्तु अब उसका मूल रूप नष्ट हो चुका है, कथासरित्सागर आदि पिछले ग्रन्थो मे ही उसकी कुछ बाते उपलब्ध होती है। हाल के राज्यकाल की सैनिक विजयो का वर्णन करने वाले लीलावती नामक ग्रन्थ मे बहुत ही कम प्रामाणिक तथ्यो का निर्देश है। सातवाहन युग का इतिहास नाना प्रकार की पेचीदा उलझनो और समस्याओ से भरा हुआ है। ये उलझने इस कारण और भी अधिक बढ़ जाती है कि पुराणो मे दी गई इस वश के तीस राजाओ की नामावली में सख्या नौ से सोलह तक तथा अठारह से बाईस तक के राजाओ के बारे मे भी हमे अभी तक कुछ भी ज्ञान नही प्राप्त हो सका है। सातवाहन युग का तिथिक्रम एव उद्गम तथा इस वश के नाम की व्युत्पत्ति अत्यन्त विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। यहाँ इन विवादो के विस्तार मे न जाते हुए केवल ऐसे प्रश्नो और मतो का निर्देश किया जायगा जिन पर अधिकाश विद्वान् सहमत हो चुके है।

सातवाहन वंश का तिथिक्रम (२३५ ई० पूर्व से २२५ ई०)

सातवाहन वश के तिथिक्रम के दो प्रधान साधन पुराण और अभिलेख है। किन्तु इन दोनो मे पर्याप्त मतभेद है। विभिन्न पुराण सातवाहन राजाओं का शासन-काल विभिन्न प्रकार से देते हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार इस वश के शासन-काल की अवधि ४६० वर्ष, ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार ४५६ वर्ष, वायु पुराण के अनुसार ४११ वर्ष और विष्णु पुराण के अनुसार ३०० वर्ष है। अनेक विद्वानो ने पुराणो के इन विभिन्न वर्षों का समन्वय इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है कि ४६० वर्ष की अवधि सातवाहन राजवश की प्रधान शाखा के और उसकी अवान्तर शाखाओ या छोटे राजवशो के शासनकालो के सम्मिलित योगफल को सूचित करती हैं, तीन सौ वर्ष की अवधि विशुद्ध रूप से इनकी प्रधान शाखा के शासन-काल का समय है। मत्स्य पुराण की अवधि को यदि प्रामाणिक माना जाय तो इस वश का आरम्भ दो सौ पैतीस (२३५) ई० पूर्व में मानना पड़ेगा, क्योंकि इस वश की समाप्ति की अवधि कई प्रमाणों के आधार पर २२५ ई० निश्चित की गई है। यदि इस अवधि को स्वीकार किया जाय तो इस वश का शासन अशोक की मृत्यु के बाद आरम्भ हुआ था, ऐसा मानना पडेगा। स्मिथ, रैप्सन, नीलकठ शास्त्री और जायसवाल ऐसा ही मानते है।[1]

किन्तु इस विषय मे दूसरा पक्ष डा० हेमचन्द्र राय चौधरी तथा दिनेशचन्द्र सरकार का है। इनके मतानुसार इस वश के पहले राजा का राज्यकाल २३५ ई० पू० से नही अपितु इसके लगभग २०० वर्ष बाद ३० ई० पू० मे शुरू हुआ था। वे अपने मत की पुष्टि निम्नलिखित प्रमाणो के आधार पर करते है—(१) उनके मत मे पुराणों के वर्णनानुसार मौर्यवशी राजाओ ने १३७ वर्ष तक शासन किया, इसके बाद शुगो का शासन ११२ वर्ष तक रहा। इनके अतिम राजा देवभूति का वध करके उसके अमात्य वासुदेव ने काण्व वश की स्थापना की, इसके चार राजाओ ने ४५ वर्ष तक शासन किया। इनके अन्तिम राजा सुशर्मा को राजगद्दी मे हटाकर सिमुक ने आन्ध्र-वश अथवा सातवाहन वश की स्थापना की। यदि उपर्युक्त तिथिक्रम को स्वीकार किया जाय तो आन्ध्रवश की स्थापना मौर्य, शुग तथा काण्व वशो के सम्मिलित शासन-काल (१३७ + ११२ + ४५) अर्थात् २९४ वर्ष के बाद हुई। मौर्यवश की स्थापना ३२४ ई० पू० में हुई थी। अत आन्ध्रवश की स्थापना की तिथि ३० ई० पू० (३२४–२९४ ई० पू०) मानी जाती है। इसकी पुष्टि सिमुक का उल्लेख करने वाले नानाघाट,

१. स्मिथ—डी० आर० भण्डारकर इं० ए०, १९१८, पृ० ६६ ।

नासिक के अभिलेखो की पुरा लिपि (Paleography) के आधार पर की जाती है। पहले विद्वान् इन अभिलेखो को लिपि के आधार पर दूसरी शताब्दी ई० पू० का समझते थे। किन्तु अब हेलियोडोरस के बेसनगर के स्तम्भलेख के अक्षरो के साथ तुलना मे नानाघाट और नासिक के अभिलेखो के अक्षर अधिक विकसित और काफी समय बाद के अर्थात् पहली शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध के समझे जाते है। इस प्रकार विद्वानो के मतानुसार सिमुक का समय ३० ई० पू० के लगभग है।[1] यहाँ इन दोनों पक्षो मे से पहले पक्ष को माना गया है तथा इस वंश का समूचा तिथिक्रम श्री गोपालाचारी के अनुसार स्वीकार किया गया है, किन्तु पादटिप्पणियो मे अन्य विद्वानो द्वारा माने जाने वाले तिथिक्रम का भी उल्लेख किया गया है।

सातवाहनो का मूल स्थान—इनके मूल स्थान के बारे मे भी दो प्रकार के मत प्रचलित है। पहला और पुराना मत यह है कि इनका मूल स्थान कृष्णा और गोदावरी नदियो की निचली घाटियाँ अथवा दक्खिनी पठार का पूर्वी भाग था। इस मत को विन्सेण्ट स्मिथ और डॉ० भण्डारकर ने प्रतिपादित किया था। स्मिथ इनकी राजधानी श्रीकाकुलम् मानते थे और डॉ० भण्डारकर धान्यकटक। इस मत का प्रधान आधार आन्ध्र शब्द है। पुराणो मे सातवाहन वश के लिये आन्ध्र शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द का प्रथम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण (७।१८) में मिलता है, वहाँ आन्ध्र जाति का उल्लेख पुण्ड्, शबर, पुलिन्द तथा अन्य ऐसी दस्यु जातियो के साथ हुआ है जो आर्यावर्त से बाहर निवास करती थी। इस जाति का निवास-स्थान कृष्णा और गोदावरी नदियो की घाटियाँ थी। सोलह महाजनपदो के समय मे आन्ध्र जाति पूर्वी दक्खिन के उत्तरी हिस्से मे रहती थी और इसी कारण इस प्रदेश को आन्ध्र कहा जाने लगा। पुराणो मे सातवाहनो को आन्ध्र राजा कहा गया है। अत आन्ध्र जाति के सुप्रसिद्ध निवास-स्थान के आधार पर यह कल्पना करना स्वाभाविक था कि सातवाहनो का मूल निवास-स्थान पूर्वी दक्खिन का उत्तरी हिस्सा अथवा गोदावरी और कृष्णा नदी की निचली घाटियाँ होगी। श्रीकाकुलम् और धान्यकटक इसी प्रदेश मे अवस्थित है।

किन्तु बाद मे कई कारणो से तथा नई खोजो से उपर्युक्त मत भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत हुआ, इस वशका मूल स्थान गोदावरी नदी की उपरली घाटी अथवा दक्खिनी पठार का पश्चिमी भाग या महाराष्ट्र का प्रदेश माना जाने लगा। इस नवीन मत का समर्थन कई कारणो के आधार पर किया जाता है। **पहला कारण** अभिलेखीय साक्षी

---

१. **राय चौधरी, पो० हि०, दिनेशचन्द्र सरकार ए०, इं० यू० पृ० १९५–९६।**

है। सातवाहनो के अधिकाश लेख नासिक, कान्हेरी, कार्ली, नानाघाट आदि पश्चिमी भारत के स्थानों से मिले हैं, ऐसे लेखो की संख्या उन्नीस है, जबकि पूर्वी दक्खिन से मिलने वाले अभिलेखो की सख्या केवल सात है। पश्चिमी घाट मे कोकण से जुन्नर जाने वाले एक दर्रे–नानाघाट मे आरम्भिक सातवाहन राजाओ के एक **देवकुल**[1] के अवशेष और अभिलेख मिले है। यहाँ सातवाहन राजवश से सम्बद्ध कई व्यक्तियो की मूर्तियाँ बनी हुई थी, इन मूर्तियो के नीचे उनके नाम खुदे हुए थे। दुर्भाग्यवश इनकी मूर्त्तियां नष्ट हो चुकी है, केवल पैर तथा नीचे खुदे हुए नाम ही बचे हैं। इन नामो मे इस वंश के सस्थापक सिमुक तथा उसकी पुत्र वधू नायनिका के नाम हैं और इस बात को सूचित करते है कि इस वश के सस्थापको का इस प्रदेश से गहरा सम्बन्ध है। नासिक से मिले दो अभिलेखो मे सातवाहन वश के दूसरे राजा का उल्लेख है। आन्ध्र प्रदेश मे पाये जाने वाले अमरावती स्तूप पर तीसरी शताब्दी ई० पूर्व के बाद की पाँच शताब्दियो मे लिखे गए अनेक अभिलेख मिलते है। इनमें से किसी एक लेख मे भी किसी आरम्भिक सातवाहन राजा का उल्लेख नही है। भट्टिप्रोलू के अभिलेखो में भी सातवाहनो का कोई वर्णन नही है। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख मे सातकर्णी की उपेक्षा करते हुए **पश्चिम दिशा** मे सैनिक आक्रमण करने का उल्लेख है। यह वर्णन सातवाहन राजाओ का मूलस्थान पश्चिमी दक्खिन मानने से ही ठीक बैठता है, क्योकि आन्ध्र देश कलिंग के दक्षिण मे है।

मुद्राओ की साक्षी से भी सातवाहनो के मूल स्थान के पश्चिमी भारत मे होने की पुष्टि होती है। पुराणो की वशावली के अनुसार तीसरे राजा की दो मुद्राये और इसी राजा के समीपवर्ती राजाओ की अन्य आठ मुद्राये पश्चिमी भारत से मिली है। आठवे राजा आपीलक से पूर्ववर्ती एक राजा की आयताकार मुद्रा को औरगाबाद में खरीदा गया था। इसी जिले मे सातवाहनो की पुरानी राजधानी पैठन अवस्थित है। आन्ध्र देश मे दूसरी शताब्दी ईसवी में बनाये अथवा विस्तृत किए गए स्तूपो से सातवाहन राजा पुकुमायि द्वितीय की तथा उसके उत्तराधिकारी राजाओ की अनेक मुद्राये मिली है। किन्तु तृतीय शताब्दी ईस्वी पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी तक बनाये गए स्तूपो में एक भी सातवाहन मुद्रा नही मिली। इससे यह स्पष्ट है कि पहले आन्ध्र देश मे सात-

१. प्राचीन भारत में राजाओं की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति सुरक्षित करने के लिये उनकी मूर्त्तियां स्थापित करने की प्रथा थी। एक राजवंश की मूर्त्तियां एक ही स्थान पर स्थापित की जाती थीं और यह स्थान देवकुल कहलाता था। भास के प्रतिमानाटक की कहानी की योजना इसी प्रथा पर आधारित है।

वाहनो का शासन नही था। सातवाहन राजाओ द्वारा **दक्षिणापथपति** की उपाधि ग्रहण करना भी इस बात को सूचित करता है। पहली शताब्दी ईसवी में पेरिप्लस के मतानुसार दक्षिणापथ का अर्थ केवल पश्चिमी दक्खिन अर्थात् महाराष्ट्र और कर्नाटक के प्रदेश थे।

साहित्यिक साक्षी भी इसी मत को पुष्ट करती है। जैन साहित्य में यह बताया गया है कि सातवाहन वश की राजधानी आरम्भ से ही प्रतिष्ठान अर्थात् आधुनिक पैठन थी। यह गोदावरी नदी के किनारे औरंगाबाद जिले मे है। इससे यह सूचित होता है कि सातवाहनो के वश का आरम्भ गोदावरी नदी की उपरली घाटी मे हुआ।[1] आन्ध्र प्रदेश को सातवाहनो का मूल स्थान मानने मे एक बड़ी आपत्ति यह है कि इसके अनुसार हमे यह मानना पड़ेगा कि सातवाहन वश के पहले दो राजाओ के समय मे इनके राज्य का विस्तार गोदावरी तथा कृष्णा नदी के मैदानी भाग से पश्चिम दिशा मे दक्खिनी पठार की ओर से हुआ। यह इस कारण असम्भव प्रतीत होता है कि उस समय आन्ध्र देश के उत्तर मे कलिंग का शक्तिशाली पड़ोसी राज्य इस प्रकार के राज्य-विस्तार मे प्रबल बाधक था। अत. उपर्युक्त साक्षी के आधार पर सातवाहनो के वश का मूल स्थान महाराष्ट्र मे प्रतिष्ठान अथवा पैठन को मानना समुचित प्रतीत होता है।

वंश का नाम––इस वश के मूल स्थान की भाँति इसके नाम और अर्थ पर भी विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। इसके कुछ नाम पुराणों मे मिलते है और कुछ मुद्राओं तथा अभिलेखो मे। ये दोनो सर्वथा भिन्न प्रकार के नाम है। पुराणो मे इस वश के लिये तीन शब्दो का प्रयोग हुआ है –– (१) अन्ध्र या आन्ध्र, (२) अन्ध्र जातीय या आन्ध्र सजातीय, (३) अन्ध्र भृत्य।[2] सम्भवत. आन्ध्र प्रदेश मे इनका शासन होने के

१. भण्डारकर द्वारा धान्यकटक को राजधानी मानने की कल्पना नासिक अभिलेख के एक आनुमानिक पाठ के आधार पर की गई है, अत इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। फ्रेन्च विद्वान् सेनार्ट ने भण्डारकर के इस मत की आलोचना की है। स्मिथ तथा बेनिस ने आन्ध्र देश में श्रीकाकुलम् को सातवाहनों की राजधानी १२वीं शताब्दी के एक तेलगू ग्रंथ के आधार पर मानी है। इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

२. वायु पुराण ३।९९।३६१––अन्ध्रा भोक्ष्यन्ति वसुधां शते द्वे च शतञ्च वै। मत्स्य पुराण २७२।१६––एकोनविंशति ह्येते आन्ध्रा भोक्ष्यन्ति वै महीम्। तेषां वर्ष-शतानि स्युश्चत्वारि षष्टिरेव च। आन्ध्राणां संस्थिता राज्ये तेषां भृत्यान्वये नृपाः॥

कारण पुराणो ने इनके वश को आन्ध्र कहा है। आन्ध्र शब्द प्राचीन साहित्य में जाति एवं देशवाचक दोनो ही है। कुछ पुराणो ने इसके जातिपरक अर्थ पर बल देने के लिये इन्हें आन्ध्रजातीय कहा है। इस विषय मे इस सम्भावना का पहले उल्लेख किया जा चुका है कि जब इन राजाओ ने आन्ध्र देश जीता, उस समय से वे आन्ध्र राजा कहलाने लगे और पुराण-लेखको ने इस समूचे वश का नाम आन्ध्र रख दिया। इस कारण इस वश के ऐसे पुराने राजा भी आन्ध्र कहे गये, जिनका आन्ध्र देश से कोई सम्बन्ध नही रहा था। इसके साथ जातीय दृष्टि से इस बात की भी सम्भावना प्रतीत होती है कि मूलत. ये लोग महाराष्ट्र के रहने वाले थे, किन्तु बाद मे उनमे आन्ध्र या द्रविड़ रक्त का भी सम्मिश्रण हुआ था। यह बात कर्नाटक के बेल्लारी जिले से पाये गए एक सातवाहन अभिलेख से स्पष्ट होती है। इसमे इस प्रदेश को सातवाहनो का मूल अभिजन (**सातवाहनिहार**) कहा गया है।

आन्ध्र शब्द की एक नवीन व्याख्या श्री जोगलेकर महोदय ने की है। उनके मतानुसार सातवाहनो का नाम आन्ध्र इसलिए नही पड़ा कि वे आधुनिक काल मे आन्ध्र कहे जाने वाले प्रदेश के निवासी थे, बल्कि उनका नाम आन्ध्र इसलिए पडा कि वे पूना जिले मे बहने वाली आन्ध्र नामक नदी की घाटी के निवासी थे।[1] आज भी पूना जिले के खेड़ ताल्लुका मे आन्ध्र लोग रहते है। यह स्थान आन्ध्र नदी की घाटी से दूर नही है। पुराने जमाने मे ऐसे उदाहरणो की कमी नहीं है, जिनमे नदी के नाम पर जाति का नाम रखा गया हो। उदाहरणार्थ सरस्वती नदी की घाटी मे रहने वाले ब्राह्मण सारस्वत और सरयू नदी के पार रहने वाले सरयूपारीण कहलाये। श्री जोगलेकर का यह मत है कि पूना की आन्ध्र घाटी मे रहने वाले आन्ध्रो ने अन्य अनेक जातियो–महाभोज, महारठी, पेतनिक, पुलिन्द, पुण्ड्र, शबर आदि जातियो के सगठन से एक नवीन राष्ट्र का निर्माण किया। यही बाद मे महाराष्ट्र कहलाने लगा। उस समय इसमे नौ जातियां थी, अत सातवाहनो ने अपने को **नव-नर-स्वामी कहा** है (पाण्डुलेण गुहा का अभिलेख सख्या–३)। भगवानलाल इन्द्रजी के मतानुसार नव-नरस्वामी का अर्थ नवीन शासक है। किन्तु जोगलेकर ने इसका अर्थ **नौ** जातियों

भागवत पु० १२।१।२२—गां भोक्ष्यत्यन्ध्रजातीयाः कञ्चित्कालमसत्तमा.। विष्णु पु० ४।२४।५०—एवमेते त्रिंशच्चत्वारि शतानि षट्पंचाशदधिकानि पृथिवीं भोक्ष्यन्ति आन्ध्रभृत्या.।

१. जोगलेकर—एनल्स आफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, भाग २६, पृष्ठ २०३।

से बना हुआ नवराष्ट्र या महाराष्ट्र किया है। उनके मतानुसार आन्ध्रों ने आन्ध्र घाटी से मैदानी भाग में प्रवेश किया। वे कार्लो, बेडसा होते हुए सह्याद्रि को पार करके कोंकण तथा अपरान्त में आये और कालान्तर में अपनी विजयों से वे सम्पूर्ण दक्षिणापथ के स्वामी बन गये। उनका मूल अभिजन पूना की आन्ध्र नदी की घाटी थी, अतः पुराणों में उन्हें आन्ध्र कहा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि इनका आरम्भ में वर्तमान आन्ध्र प्रदेश से कोई सम्बन्ध नहीं था।

आन्ध्रभृत्य शब्द के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। आन्ध्रभृत्य का स्वाभाविक अर्थ षष्ठी-तत्पुरुष समास के अनुसार श्री सुकथणकर महोदय ने आन्ध्र का भृत्य किया है। उनकी इस मान्यता के अनुसार इस शब्द का प्रयोग शुंगभृत्य की भांति हुआ है। किन्तु श्री गोपालाचारी के मतानुसार यहाँ षष्ठी-तत्पुरुष के स्थान पर कर्मधारय समास है, और इसका अर्थ भृत्य का कार्य करने वाले आन्ध्र (आन्ध्र-स्वामी भृत्य, आन्ध्र-भृत्य) है। उनके मतानुसार अशोक के अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि आन्ध्र प्रदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। किन्तु उनमें इस शब्द का जिस ढंग से उल्लेख है उससे यह प्रतीत होता है कि आन्ध्रों को अपने प्रदेश के शासन में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। अशोक के शिलालेखों में यवनों को भी भारत के उत्तर-पश्चिम की एक पृथक् जाति बताया गया है। किन्तु गिरनार के अभिलेख से हमें यह ज्ञात होता है कि अशोक के समय में सुराष्ट्र का शासक एक यवन तुषास्फ था। मौर्यों के समय में सम्भवतः आन्ध्रजातीय कुलीन व्यक्ति राजकुमार भी इसी प्रकार उनकी सेवा में संलग्न होंगे, अतः उन्हें आरम्भ में मौर्यों का सेवक होने के कारण आन्ध्रभृत्य का नाम दिया गया। श्री गोपालाचारी के मतानुसार मौर्य साम्राज्य का विघटन होने पर इस प्रकार के आन्ध्रभृत्य पश्चिमी भारत के शासक रहे होंगे। जब उन्होंने केन्द्रीय शक्ति को निर्बल होते देखा तो इस प्रदेश में उन्होंने अपनी स्वतन्त्र राजनीतिक सत्ता स्थापित कर ली, क्योंकि यहाँ का प्रान्तीय शासक होने के कारण उन्हें इसमें बड़ी सुविधा थी।

यह बात उल्लेखनीय है कि पुराणों में इस वंश के लिए केवल आन्ध्र शब्द का ही प्रयोग हुआ है और अभिलेखों में सातवाहन शब्द का। अभिलेखों के अतिरिक्त बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' में भी सातवाहन नाम का प्रयोग मिलता है। किन्तु वात्स्यायन के कामसूत्र में इसे तालव्य श वाला शब्द माना गया है। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर महोदय ने शातवाहन को ही शुद्ध माना

है।[1] रैप्सन और राय चौधरी भी ऐसा ही मानते है, किन्तु श्री गोपालाचारी ने विभिन्न प्रमाणो के आधार पर दन्त्य 'स' वाले सातवाहन को ही शुद्ध माना है।

सातवाहन शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। प्राचीन लेखकों ने इस विषय मे दो प्रकार के मत प्रकट किए थे—(१) पहला मत कथासरित्सागर का है। इसके अनुसार सात नामक यक्ष को अपनी सवारी (वाहन) बनाने वाले को सातवाहन कहा गया है। यह शब्द मेघवाहन, बभ्रुवाहन आदि शब्दो की भाँति गढ लिया गया प्रतीत होता है। (२) दूसरा मत जिनप्रभसूरि नामक जैन साधु का है। इसने इस शब्द की व्याख्या करते हुए चौदहवी शताब्दी ईसवी में यह कहा था कि सात शब्द दान का अर्थ देने वाली एक धातु से बना है, इसलिए सातवाहन उसे कहते है जिसके द्वारा वाहनो का दान किया जाय। श्री गोपालाचारी के मतानुसार यह व्याख्या सर्वथा कल्पित और गढी हुई प्रतीत होती है।[2] आधुनिक विद्वानो ने भी सातवाहन की विभिन्न व्याख्याये की है। पहली व्याख्या प्रिजुलुस्की की है। इसने सात शब्द को मुण्डा भाषा के अश्ववाची सादम शब्द से तथा वाहन को पुत्रवाची हपन से निकालते हुए इसका अर्थ अश्व का पुत्र अर्थात् अश्वमेध यज्ञ मे पटरानी तथा यज्ञ के अश्व से उत्पन्न पुत्र माना है। किन्तु प्रिजुलुस्की की यह व्याख्या नितान्त भ्रमपूर्ण एव काल्पनिक प्रतीत होती है। इतिहास मे अनेक क्षत्रिय राजाओ द्वारा अश्वमेध करने के वर्णन मिलते है, किन्तु कही भी उनके पुत्रो का नाम सातवाहन नही मिलता है। दूसरी व्याख्या बारनेट और जायसवाल की है। वे इस शब्द का सम्बन्ध अशोक के अभिलेखो के **सतियपुत्त** शब्द से जोडते है। किन्तु यह मत भी विद्वानो को मान्य नही प्रतीत हुआ है। तीसरी व्याख्या श्री गोपालाचारी की है। इनके मतानुसार सातवाहन शब्द का अर्थ है--जिसने वाहन प्राप्त कर लिया है। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा है कि सातवाहन शब्द का प्रयोग पहले ऐसे व्यक्ति के लिए किया गया, जिसने अपने कार्यों से मौर्यों से सेना मे उच्च पद प्राप्त कर लिया था। इस व्याख्या का समर्थन वे पुराणो के उपर्युक्त आन्ध्रभृत्य शब्द से करते है। सातवाहन पहले मौर्यों के सेवक थे, उन्होने अपने वीरतापूर्ण कार्यों से मौर्य राजाओ की सेवा मे उच्च स्थान प्राप्त किया और बाद मे उनकी शक्ति

---

१. भण्डारकर--अर्ली हिस्टरी आफ डक्कन, पृष्ठ ६६।

२ गोपालाचारी--अर्ली हिस्ट्री आफ दी आन्ध्र कन्ट्री, पृष्ठ ३०।

क्षीण होने पर उन्होंने अपने साम्राज्य की स्थापना की।[1] श्री जोगलेकर ने सातवाहन को सप्तवाहन का अपभ्रंश माना है। उनके मतानुसार सप्तवाहन सूर्य का नाम है। स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में सूर्य के इस नाम की व्याख्या करते हुए यह कहा गया है कि उसका रथ सात अश्वों से खींचा जाता है और ये सप्ताह के सात दिनो के प्रतीक है। अत. सातवाहन शब्द सूर्यवंशी नरेश का नाम प्रतीत होता है। प्राचीन भारत में सात अश्वों से युक्त सूर्य की अनेक मूर्तियां पाई जाती हैं। दक्षिण मे सूर्यवशी राजाओ के अनेक प्रमाण मिलते हैं। श्री जोगलेकर ने इन सब प्रमाणों का विस्तृत वर्णन किया है।[2] उनके मतानुसार सातवाहनो की मुद्राओं पर अंकित उज्जयिनी का चिह्न सूर्य का प्रतीक है। अत: सातवाहन को सूर्यवाची सप्तवाहन का ही रूपान्तर मानना चाहिये। साहित्यिक ग्रन्थो मे सातवाहन के निम्नलिखित अन्य रूप मिलते है—शालिवाहन, साताहन, शालाहन और हाल।

सातकर्णी—सातवाहन के अतिरिक्त अभिलेखो और मुद्राओ मे इस वश के राजाओं ने सातकर्णी शब्द का भी प्रयोग किया है। इसका प्रयोग विशुद्ध रूप में तथा गौतमीपुत्र, वासिष्ठीपुत्र आदि मातृपरक नामो के साथ मिलता है। कुछ लेखक इसे तालव्य मानते हुए शातकर्णी के रूप मे लिखते हैं। किन्तु रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख, कान्हेरी के अभिलेख तथा शान्तिवर्मा के तालगुण्डा अभिलेखो से यह प्रमाणित होता है कि इसका शुद्ध रूप दन्त्य वर्ण वाला सातकर्णी ही है। इसकी व्युत्पत्ति प्रिजिलुस्की (Pryzyluski) ने मुण्डा भाषा के अश्ववाची सादाम तथा पुत्रवाची कोन शब्द से की है। किन्तु यह बड़ी क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होती है। तमिल के प्राचीन ग्रन्थ शिलप्पदिकारम् मे इसकी मनोरंजक व्युत्पत्ति करते हुए इसका अर्थ सौ कानो वाला किया गया है। श्री जोगलेकर ने कर्णी का अर्थ बाण या सूर्य की किरण करते हुए यह बताया है कि सात बाणो या सात किरणो का अभिप्राय यहाँ सूर्य की सात किरणों से है। ऋग्वेद मे सूर्य की सात किरणो का वर्णन किया गया है और यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक मे सूर्य के उपासक को सप्तकर्ण कहा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि सूर्य का उपासक होने के कारण सातवाहनो ने यह नाम ग्रहण किया। किन्तु इस व्याख्या को पुष्ट करने के लिये अभी अन्य प्रमाणो की भी आवश्यकता है।

---

१. गोपालाचारी—अर्ली हिस्ट्री आफ दी आन्ध्र कन्ट्री, पृ० ३०-३१।
२. ए० भा० ओ० रि० ई० भाग २७, पृष्ठ २५५।

जाति—सातवाहनों के वर्ण और जाति के सम्बन्ध में भी विद्वानों ने बड़ा ऊहापोह किया है। श्री राय चौधरी तथा कुछ अन्य विद्वान् सातवाहनों को ब्राह्मण मानते है। 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' में सातवाहनों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए इनको वर्णसंकर ब्राह्मण माना गया है। नासिक अभिलेख में गौतमीपुत्र सातकर्णी को **एक बह्मण** (एक ब्राह्मण) तथा **खतीयदपमान-मदनस**, (क्षत्रियदर्पमानमर्दक) अर्थात् क्षत्रियों के गर्व को चूर्ण करने वाला बताया गया है। इन दोनों विशेषणों के आधार पर श्री राय चौधरी ने गौतमीपुत्र को परशुराम के समान क्षत्रियों का गर्व चूर्ण करने वाला ब्राह्मण माना है।[1] किन्तु श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने इन शब्दों की व्याख्या दूसरे ढंग से की है।[2] उनके मतानुसार 'एकब्रह्मण' का अर्थ ब्राह्मणों का एकमात्र रक्षक है। अतः इनका ब्राह्मण होना निर्विवाद नहीं प्रतीत होता है।

आरम्भिक सातवाहन राज्य का विस्तार एवं समृद्धि का युग (लगभग २३५ ई० पू० से ५० ई०)

सिमुक (श्रीमुख), लगभग २३५ से २१२ ई० पू०—पुराणों में सातवाहन वंशी राजाओं की सुदीर्घ परम्परा का आरम्भ करने का श्रेय राजा सिमुक को दिया गया है। इसके विषय में यह कहा गया है[3] कि सिमुक काण्वायनों और सुशर्मा पर हमला करेगा और शुंगो की शक्ति का पूर्ण रूप से विध्वंस करके इस पृथ्वी का उपभोग करेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिमुक सातवाहन वंश का संस्थापक था। पुराणों में उसका नाम कई रूपों में मिलता है। मत्स्य पुराण के मतानुसार इसका नाम शिशुक था। वायु पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण इसे सिन्धुक बताते है। किन्तु अधिकांश पुराणों में इसका नाम सिमुक है। सभी पुराण उसके तेईस वर्ष तक राज्य करने का वर्णन करते है, किन्तु वे इस विषय में मौन है कि उसने अपने राज्य की स्थापना किस प्रकार की थी। श्री गोपालाचारी की यह कल्पना है कि मौर्य साम्राज्य के

१. **राय चौधरी**—पो० हि० ए० इ०, पृष्ठ ४१४।
२. **भण्डारकर**—ए० इ० भाग २२ पृष्ठ ३२।
३. **मत्स्य पुराण** २७२।१—

काण्वायनास्ततो भृपा सुशर्माणं प्रसह्यताम् ।
शुङ्गानाञ्चैव यच्छेष क्षत्वायिवात्त् बलीयस ॥
भागवत १—२।१।२२।
हत्वा काण्व सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली ।

विरुद्ध षड्यन्त्र में सिमुक ने पश्चिमी भारत के कुछ प्रतापी सामन्तों, रठिकों और भोजों का समर्थन प्राप्त किया। ये भी उसके समान पहले मौर्य वंश के राजसेवक थे। इनके सहयोग से उसने शुगों और काण्वों की शक्ति नष्ट की, अपना सहयोग देने वाले रठिकों को **महारठि** की उपाधि से सम्मानित किया और इनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किए। पल्लव वंश के आरम्भिक राजाओं ने कुन्तल के चुटु राजाओं के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करते हुए ठीक इसी पद्धति से अपने राज्य का विस्तार किया था। इस उदाहरण के आधार पर ही श्री गोपालाचारी ने उपर्युक्त कल्पना की है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार उसने जैन मंदिरों और बौद्ध चैत्यों का निर्माण कराया था। यह सम्भवतः इन शक्तिशाली सम्प्रदायों का समर्थन प्राप्त करने की दृष्टि से किया गया था। जैन कथानकों के अनुसार सिमुक अपने शासन-काल के अन्तिम वर्षों में दुष्ट एवं क्रूर हो गया था, सम्भवतः वह जैनों की अपेक्षा बौद्धों से अधिक उदार व्यवहार करने लगा था, अतः उसे मार डाला गया। नानाघाट की गुहा में जिन व्यक्तियों की मूर्तियाँ बनाई गई थीं उनमें सिमुक की भी मूर्ति थी। किन्तु अब दुर्भाग्यवश यह नष्ट हो चुकी है।

कण्ह, (कृष्ण) ११२-१६५ ई० पू०--सिमुक के बाद उसका छोटा भाई कण्ह या कृष्ण राजगद्दी पर बैठा। शायद सिमुक का पुत्र पिता की मृत्यु के समय इतनी छोटी आयु का था कि उसमें नवीन राज्य को सँभालने की क्षमता नहीं थी। कृष्ण ने अपने अठारह वर्ष के शासन में अपने भाई की विजय की नीति को जारी रखा। इसके फलस्वरूप कृष्ण के समय में उसके राज्य का पश्चिम में नासिक तक विस्तार हुआ। उसके महामात्य ने बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिये एक गुहा का निर्माण करवाया। महामात्य मौर्य काल के प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले अधिकारी थे। इनका इसमें उल्लेख इस बात को सूचित करता है कि सातवाहनों ने मौर्यों की शासन-व्यवस्था को जारी रखा था। नासिक की गुफाओं में यह सबसे प्राचीन समझी जाती है।

सातकर्णी प्रथम (लगभग १९४-१८५ ई० पूर्व)--यह सातवाहन की उपाधि और श्री के सम्मानवाची पद को धारण करने वाला पहला राजा था। पुराणों के मतानुसार यह कृष्ण का लड़का था। नानाघाट के अभिलेख तथा वहाँ बनी मूर्तियों के नामों के अध्ययन से सातकर्णी के शासन पर बहुत मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। उसकी रानी का नाम नायनिका (नागनिका) था। यह '**महारठि त्रनकयिरो**' की कन्या थी। इसके पाँच पुत्र (कुमार) माय, वेदिसिरि, सतीसिरि, हकुसिरि और सात-

वाहन थे। सातकर्णी ने पश्चिमी मालवा और इसके दक्षिण मे अनूप (नर्मदा घाटी) और विदर्भ के प्रदेश जीते। इस समय उत्तर भारत पर यूनानियो के आक्रमणों के कारण बडी अव्यवस्था थी। इसमे सातकर्णी को उत्तर भारत मे राज्य-विस्तार का स्वर्ण अवसर मिल गया। अपनी विजयो की स्मृति को सुरक्षित बनाने के लिए इस राजा ने अनेक यज्ञ किए। नागनिका ने नानाघाट के अपने गुहालेख मे इन यज्ञों का विस्तार से वर्णन किया है। उसने दो अश्वमेध और एक राजसूय यज्ञ करके सम्राट का पद प्राप्त किया और दक्षिणापथपति (**दखिनपठपति**) तथा **अप्रतिहत-चक्र** की उपाधियाँ धारण करते हुए निम्नलिखित अन्य यज्ञ भी किये—अग्न्याधेय, अन्वारम्भणीय, गवामयन, भगल दशरात्र, आप्तोर्याम, आगिरसत्रिरात्र, अङ्गिरसामयन, मार्गत्रिरात्र, छन्दोगपवमान, त्रिरात्र, त्रयोदशरात्र, दशरात्र। इन यज्ञो के किये जाने से यह सूचित होता है कि इस समय दक्षिण मे यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म का ठीक वैसा ही पुनरुत्थान हुआ, जैसा उत्तर भारत मे पुष्यमित्र शुङ्ग के समय हुआ था। इन यज्ञो में बहुत बडी मात्रा मे गौओ आदि के दान का वर्णन है। नागनिका के इस लेख के अनुसार राजा ने इन यज्ञो मे बयालीस हजार सात सौ गौयें, एक हजार घोडे, सतरह रजत पात्र, एक रथ और अडसठ हजार कार्षापण दान किये थे। इतनी प्रभूत मात्रा मे मुद्राओ का दान करना न केवल उसकी सैनिक विजयो का परिणाम था अपितु यह उसकी विजयो से उत्पन्न होने वाले शान्तिपूर्ण शासन मे पनपने वाली आर्थिक समृद्धि को भी सूचित करता है। बूहलर ने यह कल्पना की थी कि ये यज्ञ रानी नागनिका ने राजा की मृत्यु के बाद किये थे। किन्तु वैदिक परम्परा के अनुसार यज्ञ पति-पत्नी द्वारा सम्पन्न होना है और स्त्रियो को अकेले यज्ञ करने का अधिकार नही है। अत बूहलर की यह कल्पना समीचीन नही प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातकर्णी का शासन-काल बहुत लम्बा नही था, सम्भवत किसी युद्ध मे उसकी मृत्यु हो गई। इस समय उसके दोनो पुत्र वेदिसिरि और सतीसिरि छोटी आयु के थे, अत. उनकी माता नागनिका अपने पिता महारठि त्रनकयिरो की सहायता से शासन करती रही। उसने पैठन से कल्याण जाने वाले मार्ग की एक मजिल बनने वाले स्थान—नानाघाट की एक गुफा मे इस वश के संस्थापक सिमुक, सातकर्णी, नायनिका और पाँच राजकुमारो की मूर्तियाँ खुदवाई।

सातकर्णी द्वितीय (लगभग १६६ से १११ ई० पूर्व)—पुराणो के अनुसार सातवाहन वश मे सबसे अधिक लम्बे समय तक इसने शासन किया। श्री गोपालाचारी के मतानुसार हाथीगुम्फा और मिलसा के अभिलेखो में वर्णित सातकमनी

सम्भवतः यही सातकर्णी है। भिलसा के लेख में यह बताया गया है कि श्रीसातकर्णी के समय में काम करने वाले शिल्पियों के मुखिया वासिष्ठीपुत्र आनन्द ने यह दान दिया है। पूर्वी मालवा से प्राप्त होने वाले तथा पश्चिमी दक्खिन में मिलने वाले कुछ सिक्कों पर **रञो सातकणिस** का लेख मिलता है। इनमें कुछ पर सिंह के तथा कुछ पर सूंड ऊपर उठाये हाथी के चित्र बने हुए हैं। पुरालिपि-शास्त्र के आधार पर ये सिक्के सातकर्णी द्वितीय के समझे जाते है। यदि यह सत्य हो तो पूर्वी मालवा पर सातकर्णी का प्रभुत्व मानना पड़ेगा। उसने यह प्रदेश पुष्यमित्र के उत्तराधिकारियों से छीना होगा।

पुराणों के मतानुसार सातकर्णी द्वितीय का उत्तराधिकारी **लम्बोदर** था। सम्भवतः ताँबे के दो वर्गाकार सिक्के इसी राजा द्वारा बनवाये गये थे। इन सिक्कों के पुरोभाग पर सूंड उठाये हाथी बना हुआ है और **श्री-श्री सादवाह (नस)** का लेख है। पृष्ठ भाग पर उज्जयिनी की मुद्राओं के विशेष चिह्न बने हुए है। लम्बोदर का पुत्र और उत्तराधिकारी आपीलक था। मध्यप्रदेश से इसका एक ताँबे का सिक्का पाया गया है। सभी पुराण इसका शासन-काल बारह वर्ष बताते है।

आपीलक के बाद सातवाहन वंश का अन्धयुग प्रारम्भ होता है। हमें इस वंश के आठवें राजा से सत्रहवें राजा तक का कोई ज्ञान नहीं है।

हाल (लगभग २० से २४ ई०)—पाँच वर्ष की अत्यल्प अवधि के लिए शासन करने वाला यह इस वंश का सम्भवतः एक अतीव प्रसिद्ध राजा है। यदि सातकर्णी प्रथम अपनी विजयों के कारण असाधारण महत्त्व रखता है तो हाल की ख्याति प्रधान रूप से उसकी सुप्रसिद्ध काव्यकृति गाथासप्तशती पर आधारित है। उसका उल्लेख पुराणों, सप्तशती, लीलावई, अभिधानचिन्तामणि और देशी नाममाला में है। हेमचन्द्र ने हाल को सातवाहन का ही एक रूप माना है।

हाल के समय में प्राकृत साहित्य का विकास अपने चरम शिखर पर पहुंच गया था। यह तीन शताब्दियों की विजय, राज्य-विस्तार और व्यापारिक समृद्धि का परिणाम था। सातवाहन राजाओं ने अपने राज्याश्रय से महाराष्ट्री प्राकृत को प्रबल प्रोत्साहन दिया, कवियों ने इसमें अनेक सुन्दर रचनाये की। इस समय की सर्वोत्तम रचना आर्याछन्द में लिखे हुए सात सौ शृंगार-परक पद्यों का गाथासप्तशती नामक संग्रह है। इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय राजा हाल को दिया जाता है। किन्तु अब अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि हाल से पहले कवि वत्सल ने एक ऐसा संग्रह किया था। हाल ने इसी संग्रह को परिष्कृत और परिमार्जित किया। इसमें बाद में भी अनेक संशो-

धन और परिवर्तन होते रहे, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूलरूप में इसका अधिकांश भाग पहली शताब्दी ईसवी का है। मेरुतुंग ने प्रबन्धचिन्तामणि में यह बताया है कि सातवाहन ने स्वयमेव बड़े परिश्रम से गाथाओं का सकलन किया था और चार गाथाओं के लिये चार करोड़ स्वर्ण मुद्रायें प्रदान की थी। सप्तशती ने न केवल प्राकृत साहित्य पर, अपितु परवर्ती संस्कृत साहित्य पर भी गहरा प्रभाव डाला। इस समय की दूसरी महत्वपूर्ण रचना गुणाढ्य की बृहत्कथा है। नवम शताब्दी के एक शिलालेख में हमें गुणाढ्य के प्राकृत भाषा के प्रेम का परिचय मिलता है और ग्यारहवीं शताब्दी की एक साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार गुणाढ्य सातवाहन राजा का मंत्री था। गुणाढ्य की यह कृति चिरकाल से भारत में कथा साहित्य का एक प्रधान प्रेरणा-स्रोत बनी रही। इस समय दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होता है। केवल इसके कुछ पद्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धरणों के रूप में ही मिलते हैं। यह पैशाची प्राकृत में लिखी गई थी। कीथ इसे विन्ध्य प्रदेश की बोली समझता है, किन्तु ग्रियर्सन इसका सम्बन्ध कश्मीर से जोड़ता है। कुछ विद्वान् इस ग्रन्थ में बताये गए भूगोल तथा यूनानी नागरिकों और कलाकारों के उल्लेख के आधार पर इसका सम्बन्ध उत्तर पश्चिमी भारत से जोड़ते हैं, किन्तु दक्खिन के पश्चिमी प्रदेश में व्यापारिक एवं अन्य प्रयोजनावश पहली शताब्दी ईसवी पूर्व से यूनानी (यवन) लोग बहुत बड़ी मात्रा में आते रहते थे। पैशाची भाषा का इनके साथ सम्बन्ध हो सकता है। बाद में बृहत्कथा के आधार पर भजस्वामी ने बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव ने कथासरित्सागर लिखे। उनमें पहला संकलन आठवीं शताब्दी में बृहत्कथा के एक नेपाली रूपान्तर के आधार पर किया गया था, इसका कश्मीरी रूपान्तर क्षेमेन्द्र और सोमदेव की रचनाओं का मूल स्रोत था।

हाल के शासन-काल में कुछ सैनिक घटनायें भी हुई। लीलावई नामक प्राकृत ग्रन्थ में इनका वर्णन है। इसके अनुसार हाल के प्रधान सेनापति विजयानंद ने श्रीलंका पर विजय प्राप्त की, वहाँ से लौटते हुए सप्तगोदावरीभीमम् नामक स्थान पर पड़ाव डाला यहाँ उसे लंका के राजा की गन्धर्व-पत्नी से उत्पन्न लीलावती नामक कन्या के बारे में सब बातें ज्ञात हुई और यह पता लगा कि वह कन्या यहीं रहती है। राजधानी में लौटकर सेनापति ने सब बातें हाल को सुनाई, राजा ने इस स्थान पर चढ़ाई कर राक्षस भीषाणन का वध करके लीलावती से विवाह किया। इस उपाख्यान में इतिहास का तत्त्व इतना ही मालूम होता है कि इसमें हाल द्वारा पूर्वी दक्खिन के प्रदेश में किये गए किसी सैनिक आक्रमण और विजय का वर्णन है।

क्षत्रपों का आक्रमण तथा सातवाहन वंश की अवनति

तीन शताब्दियों के राज्य-विस्तार, आर्थिक समृद्धि और उन्नति के बाद पहली शताब्दी ईसवी में सातवाहन राज्य को बुरे दिन देखने पड़े। पश्चिमी क्षत्रपों के विदेशी आक्रमणों से आधी शताब्दी तक यह राज्य दबा रहा। इसी समय उत्तरी भारत में कुषाणों की प्रभुता विस्तीर्ण हो रही थी। क्षहरात वंश के पश्चिमी क्षत्रप इस समय उत्तर की ओर से दक्षिण की ओर बढ़ रहे थे। इनके बारे में यह कल्पना की जाती है कि ये विदेशों से आने वाली जातियाँ थीं। इन्होंने सर्वप्रथम पश्चिमी राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ में अपनी शासनसत्ता सुदृढ़ की। इसके बाद सातवाहन साम्राज्य से पूर्वी और पश्चिमी मालवा के प्रदेश छीने, इसके पश्चात् ये दक्षिण की ओर उत्तरी कोंकण (अपरान्त) तथा सातवाहन साम्राज्य के केन्द्रस्थल उत्तरी महाराष्ट्र की ओर बढ़े और उन्होंने दक्षिणी महाराष्ट्र में वनवासी (वैजयन्ती) के प्रदेश को पदाक्रान्त किया। क्षत्रपों के हमलों से बहुत पहले यनानी (यवन) सौराष्ट्र और अपरान्त के प्रदेश में बस चुके थे। पूना जिले के कार्ली गुहा के लेखों से यह प्रतीत होता है कि ये यवन बौद्ध धर्म को स्वीकार करके पूर्णरूपेण भारतीय बन गये थे। सम्भवतः इन यवनों ने विदेशी आक्रामकों का स्वागत किया और उन्हें कुछ सहायता भी दी। यह कल्पना इस बात से पुष्ट होती है कि गौतमीपुत्र सातकर्णी ने यवनों के संहार पर विशेष रूप से बल देते हुए सातवाहन वंश के पुनरुद्धार का वर्णन किया है। यदि क्षत्रपों को यवनों का सहयोग न मिला होता तो गौतमीपुत्र को इनका विध्वंस करने की कोई विशेष आवश्यकता न होती और उसकी माता उसे शक, यवन, पह्लव जातियों का विध्वंसक (**सक-यवन-पहलव-निसूदनस**) न कहती। क्षहरात क्षत्रपों के आक्रमण सम्भवतः उत्तर भारत में कुषाण शक्ति के विस्तार का परिणाम थे। इस विस्तार के कारण उत्तर भारत के शक राजा अपने राज्य के लिये नये प्रदेश को ढूँढने को विवश हो रहे थे अथवा कुषाण राजा उन्हें अपनी ओर से नये प्रदेश जीतने को प्रेरित कर रहे थे। पेरिप्लस ने यह लिखा है कि सिन्धु नदी के डेल्टा (मुहाने) से काठियावाड़ तक के प्रदेशों (Indoscythia) में पार्थियन राजकुमारों के आपसी झगड़ों के कारण शक आक्रमण हुए। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और जातीय विद्वेष की भावना के कारण सातवाहन-क्षत्रप संघर्ष में तीव्रता आई। **क्षहरात वंश का** पहला अज्ञात शासक भूमक है। इसकी मुद्रायें हमें प्रधान रूप से गुजरात और काठियावाड़ के समुद्रतटीय प्रदेशों से ही मिली है। उसका उत्तराधिकारी नहपान था। इसके सिक्के और अभिलेख प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। सिक्कों पर उसकी उपाधि राजा

और अभिलेखो मे क्षत्रप तथा महाक्षत्रप है। इसके लेख उत्तरी महाराष्ट्र मे नासिक, कार्ला और जुन्नर से मिले है। उसके दामाद उषवदात द्वारा उत्तरी और दक्षिणी भारत के विभिन्न स्थानो मे दान करने के अनेक उल्लेख मिलते है। ये सब तथ्य इस बात को सूचित करते है कि क्षत्रप सातवाहनो के प्रदेश पर निरन्तर अपना अधिकार बढ़ाते जा रहे थे। पेरिप्लस के विवरण मे इस सघर्ष की धुधली सी झाँकी पाई जाती है, क्योकि उसने यह लिखा है कि जब मम्बानस (नहपान) के राज्य का सघर्ष एरियका (अपरान्त) के राज्य के साथ हुआ तो कल्याण के बन्दरगाह की ओर जाने वाले यूनानी जहाजो को बेरीगाजा (भृगुकच्छ-मरुकच्छ) की ओर ले जाया जाने लगा। श्री जायसवाल ने एक जैन ग्रन्थ के आधार पर कच्छ को नहपान की राजधानी माना है। नहपान के इकतालीस, बयालीस और छियालीस (४१,४२,४६) सवतो की सख्या वाले तीन अभिलेख मिलते है। विद्वानो मे इस बात पर प्रबल मतभेद है कि ये सख्याये नहपान के शासन-काल के वर्षो को सूचित करती है, विक्रम सवत् को बताती है या शक सवत् को। अत नहपान की तिथि बडी विवादग्रस्त है। किन्तु इस विषय मे जोगलथेम्बी नामक स्थान से मिली हुई १३,२५० मुद्राओ की निधि इस पर सुन्दर प्रकाश डालती है। इस निधि के नहपान वाले नौ हजार सिक्को पर गौतमीपुत्र ने पुन अपना ठप्पा लगवाया है। इतनी अधिक मात्रा मे नहपान के सिक्कों का गौतमीपुत्र द्वारा पुनर्लाञ्छित किया जाना यह सूचित करता है कि गौतमीपुत्र ने नहपान को परास्त किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी अन्तिम पराजय और मृत्यु से कुछ ही वर्ष पहले नहपान ने सातवाहन प्रदेशो मे अपनी सेनाये भिजवाई थी। इनका नेतृत्व उसका दामाद शक उषवदात कर रहा था। उसने मालवा, नर्मदा नदी की घाटी, उत्तरी कोकण, आधुनिक बरार के पश्चिमी भाग, उत्तरी तथा दक्षिणी महाराष्ट्र को जीत लिया था। कुछ समय तक पश्चिमी दक्खिन मे सातवाहन राज्य का पूरा सफाया हो गया था। किन्तु यह बात निश्चित रूप मे नही कही जा सकती कि सातवाहन वश की राजधानी प्रतिष्ठान शत्रुओ के हाथ मे चली गई थी। इस समय सातवाहन राजा सुन्दर सातकर्णी, चकोर सातकर्णी और शिवस्वाति को ये दुर्दिन देखने पडे थे। सम्भवत इन महान् विजयो के बाद ही नहपान ने महाक्षत्रप की गौरवपूर्ण उपाधि धारण की और उसने जीते हुए नवीन प्रदेश का शासक अपने दामाद उषवदात को बनाया। यह शक होते हुए भी पौराणिक हिन्दू धर्म का कट्टर अनुयायी था। यह तथ्य इस बात से सूचित होता है कि अब तक उपलब्ध हुए उसके आठ अभिलेखों में से सात अभिलेखो में उसकी सैनिक विजयो का नही, अपितु धार्मिक प्रयोजनों के

लिए दिये गए दानों का विस्तृत उल्लेख है। उसने वरनासा (चम्बल की सहायक नदी बनास) के तट पर देवताओ और ब्राह्मणो के लिये सोलह गाँवो का दान किया, एक लाख ब्राह्मणो को वर्ष भर तक खाना खिलाया। भरुकच्छ, दशपुर (मन्दसौर), गोवर्धन और सोरपारग (सोपारा) मे धर्मशालाये बनवाई। ईबा, पारदा, दमणा, तापी, करबीना आदि नदियो को पार करने के लिये नि शुल्क रूप से नौका की व्यवस्था की। अजमेर के निकट पोखर (पुष्कर) के सरोवर मे स्नान करके ब्राह्मणो को गौओं का दान किया। कृष्ण यजुर्वेद की शाखा के अनुयायी ब्राह्मणो को उसने बत्तीस हजार नारियल के पेडो का दान दिया। एक चतुर राजनीतिज्ञ की भाँति उषवदात ने न केवल ब्राह्मणो को, अपितु बौद्धो को भी अपनी उदार दानवीरता का पात्र बनाया। नासिक के निकट त्रिरश्मि नामक पर्वत पर उसने बौद्धो के लिए एक बडी गुफा का दान किया और भिक्षुओ का व्यय चलाने के लिये ७२००० (बहत्तर हजार) कार्षापण की स्थायी निधि प्रदान की। वलूरका (कार्ले) के बौद्ध भिक्षुओ को उसने एक गाँव का दान दिया। क्षत्रपो ने सम्भवत ये सब दान अपनी सत्ता को सुदृढ बनाने एव हिन्दुओ तथा बौद्धो का समर्थन प्राप्त करने के लिए दिये होगे।

क्षत्रप विजेता सातवाहन साम्राज्य मे अपने साथ कुछ नई बाते लाये। ये निम्नलिखित थी—(१) अभिलेखो मे सस्कृत भाषा का प्रयोग। सातवाहनो के पुराने अभिलेखो मे सस्कृत का प्रयोग बिल्कुल नही पाया जाता। (२) नवीन प्रदेश मे लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए बौद्ध एव पौराणिक हिन्दू-धर्म का प्रबल सरक्षण तथा रजत मुद्राओ का व्यापक रूप से प्रयोग। अजमेर से वैजयन्ती तक के प्रदेश मे हमे नहपान के चाँदी के सिक्के प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध होते है। ये सिक्के सम्भवत हिन्द-यूनानी राजाओ के अर्द्ध-द्रम्म (Hemi drachms) के आदर्श पर चलाये गये थे और इनका आकार-प्रकार तथा भार उन सिक्को जैसा ही था। पश्चिमी क्षत्रप चिरकाल तक इनका अनुसरण करते रहे और बाद मे सातवाहनो, गुप्तो और वाकाटको ने भी मुद्रा के इसी प्रकार को अपनाया। इन सिक्को के लिये आवश्यक चाँदी विदेशो से धातु के रूप मे या रोमन सिक्को के रूप मे मगायी जाती थी। यह बात पेरिप्लस की इस उक्ति से पुष्ट होती है कि उन दिनो भारत मे रोमन मुद्राये बहुत आती थी, क्योकि इन्हें यही बेचने मे व्यापारियों को बडा लाभ होता था। इससे यह सूचित होता है कि उस समय यहाँ चाँदी की बहुत माँग थी और इसे पूरा करने के लिए रोमन सिक्को का आयात किया जाता था।

सातवाहन साम्राज्य का पुनरुत्थान (लगभग ९०-१५० ई०)

गौतमीपुत्र श्रीसातकर्णी (७२ से ९५ ई०)—आधी शताब्दी के विदेशी आक्रमणों और विदेशी शासन के बाद सातवाहनों के प्राचीन गौरव और शक्ति का पुनरुद्धार करने का श्रेय गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी (गोतमिपुत सिरिसातकणि) को है। यह सातवाहन वंश का सबसे अधिक प्रतापी और यशस्वी राजा है।[1] सौभाग्य-वश इसके वीरतापूर्ण कार्यों का और साम्राज्य के विस्तार का काव्यमय वर्णन हमें इसकी माता बालश्री के नासिक गुहा-लेख में मिलता है। इसमें माता बालश्री ने अपने यशस्वी वीर पुत्र के कार्यों का बड़ा ओजस्वी वर्णन किया है। उसकी माता ने अपने पोते वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि के राज्य-काल में नासिक में त्रिरश्मि (तिरहज) पर्वत में एक गुहा भद्रायणीय सम्प्रदाय के बौद्ध भिक्षुओं को दान की थी। इस दान के सम्बन्ध में उसका लेख इस गुहा में खुदा हुआ है, यह इस बात को सूचित करता है कि गौतमी बालश्री ने अपने आरम्भिक जीवन में महाराष्ट्र की भूमि को विदेशी म्लेच्छों द्वारा रौंदे जाते हुए देखा था, उसके बेटे ने इसे स्वाधीन कर इसके गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित किया था। अतः इस लेख में उस वीर-प्रसविनी देवी का सच्चा आत्माभिमान अत्यन्त सशक्त शब्दों में प्रकट हुआ है। उसके शब्दों में वह वस्तुतः सातवाहन कुल के यश का प्रतिष्ठापक (पतिथापन करस) था।

गौतमीपुत्र ने अपने राज्य के पहले १६ वर्ष चुपचाप अपने प्रबल शत्रु क्षह-रात वंश के उन्मूलन के लिये आवश्यक सैनिक तैयारी में लगाये। पूर्ण रूप से सुसज्जित होने के बाद सत्रहवें वर्ष में उसने अपनी सत्ता को दक्षिणी प्रदेश में सुदृढ़ बनाने के लिये मामालहार (पूना जिले) में लड़ाई लड़ी। अगले वर्ष दक्षिणी महाराष्ट्र में अपनी शक्ति सुदृढ़ बनाई। इस प्रकार अपना आधार मजबूत बनाने के बाद उसने उत्तरी प्रदेशों की ओर ध्यान दिया। उषवदात (ऋषभदत्त) और नहपान के साथ भीषण संघर्ष करते हुए उन्हें पराभूत किया एवं मार डाला, इस प्रकार क्षह-रात वंश का उन्मूलन किया। इस घटना का वर्णन एक जैन ग्रंथ आवश्यक सूत्र की टीका (निर्युक्ति) में मिलता है। इसके अनुसार नहपान की राजधानी भरुकच्छ थी। उसने प्रचुर धन का संग्रह किया था। प्रतिष्ठान में शासन करने वाले उसके शत्रु सातवाहन नरेश ने नहपान के विरुद्ध एक बड़ी शक्तिशाली सेना एकत्र की, भरु-कच्छ पर चढ़ाई की, किन्तु दो वर्ष तक उसका घेरा डालने के बाद भी वह नहपान को हराने में समर्थ नहीं हुआ। अतः उसने कूटनीति का आश्रय लिया। नहपान के

---

1. श्री दिनेशचन्द्र सरकार के मतानुसार इसका राज्यकाल १०६-१३० ई० है।

एक मंत्री द्वारा उसे यह प्रेरणा दिलवाई कि वह पुण्यप्राप्ति के लिए अपने विशाल कोष का उदारतापूर्वक दान कर दे। इस प्रकार दान करते करते जब नहपान का कोष खाली हो गया तो शत्रु ने उस पर आक्रमण कर दिया, इस बार बड़ी सरलता से भरुकच्छ पर अधिकार करके राजा का पूर्ण रूप से विध्वस कर दिया गया। नहपान लड़ते हुए मारा गया और सातवाहनो को अभूतपूर्व सफलता मिली। बालश्री की नासिक प्रशति मे गौतमीपुत्र को शको, यवनो और पहलवो का सहार करने वाला बताया गया है।

गौतमीपुत्र ने इस प्रकार अपनी महान् विजयो से एक नवीन सातवाहन साम्राज्य का निर्माण किया। बालश्री की उपर्युक्त प्रशस्ति के अनुसार सातवाहन वश के निम्नलिखित पुराने प्रदेश इसमे सम्मिलित थे---आकर (पूर्वी मालवा), अवति (पश्चिमी मालवा), अनूप (नर्मदा नदी की घाटी), विदर्भ (बरार), असिक, असक, मूलक (उत्तरी महाराष्ट्र) तथा अपरान्त (उत्तरी कोकण)। इसके अतिरिक्त उसने क्षत्रपो से कुकुर (पश्चिमी राजपूताना) और सुरठ (सौराष्ट्र) के प्रान्त छीने। यह सम्भव है कि उसने कुकुर और अवन्ति के मध्यवर्ती आनर्त्त, श्वभ्र (साबरमती का प्रदेश) और मरु प्रान्त भी जीते होगे। गौतमीपुत्र निम्नलिखित पर्वतमालाओं पर भी प्रभुत्व रखता था---विझ (विन्ध्य पर्वत का पूर्वी भाग), अच्छवत (ऋक्ष-वत्) अथवा सतपुडा के पहाड, पारीचात (पारियात्र अथवा विन्ध्य पर्वतमाला का पश्चिमी भाग और अरावली की पर्वतमाला), सह्य (पश्चिमी घाट), कण्हगिरि (कन्हेरी), मच, श्रीटन, मलय (पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग), महीद (महेन्द्र अर्थात् महानदी और गोदावरी के बीच के पूर्वी घाट), सेटगिरि (श्वेतगिरि), चकोर (पूर्वी घाट का दक्षिणी हिस्सा)। चकोर और महेन्द्र पर्वत पर गौतमीपुत्र का आधिपत्य यह सूचित करता है कि उस समय कलिंग और आन्ध्र (कृष्णा-गोदावरी जिले) उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे।

गौतमीपुत्र न केवल एक शूरवीर सेनानी था, अपितु दानवीरता मे भी उसने अपने प्रतिद्वन्दी क्षत्रपो को मात देने का प्रयास किया। उसने वलूरक गुहाओं में रहने वाले भिक्षुओं को उषवदात द्वारा दिये गये गाँवो का पुनर्दान किया। इसी प्रकार नासिक मे तेकिरसी के भिक्षुओ को उषवदात की भाँति गुहाओ और जमीनो का दान किया। शक राजा सभी सम्प्रदायों के भिक्षुओ को दान दिया करते थे। किन्तु गौतमीपुत्र ने कार्ला के महासांघिको को और नासिक के भद्रायणीय भिक्षुओ को ही अपने दान का पात्र बनाया। वैदिक धर्म के प्रति उसकी निष्ठा **एकब्राह्मण** अर्थात् ब्राह्मण धर्म के कट्टर उपासक के विशेषण से सूचित होती है।

गौतमीपुत्र ने प्रशासन के महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर भी पूरा ध्यान दिया। गोवर्धन जिले (नासिक) में उसने बेनाकटक नामक नवीन नगर का निर्माण किया, महाक्षत्रप नहपान की मुद्राओं को पुन: अपनी मुद्रा के चिह्न से अंकित करवाया, राजराज और महाराज की उपाधियां धारण की। इससे पहले मौर्य सम्राट अशोक ने अपने लेखों में अपने को केवल राजा कहा है। अब सातवाहनों ने राजराज और महाराज तथा क्षहरातों के स्वामी की उपाधियाँ धारण की। महाराज और राजराज की उपाधियां पहले ईरान में हखामनी सम्राटों तथा बाद में पार्थियन राजा मिथ्रदात ने धारण की थीं। शकों ने ईरानियों के सम्पर्क में इन उपाधियों को ग्रहण किया। अब शकों की देखा-देखी सातवाहन राजा भी इनका प्रयोग करने लगे।

गौतमीपुत्र प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य का सदा ध्यान रखता था, वह अपने प्रजाजनों के दु:ख में दुखी और सुख में सुख मानने वाला (**पोरजन-निविसेस-सम-दुख-सुखस**) राजा था। प्रजा पर वह केवल ऐसे ही कर लगाता था जो धर्मशास्त्रानुमोदित थे। अपराध करने वाले शत्रुओं के प्रति भी वह कठोर व्यवहार नहीं करता था, उनकी जान लेने का प्रयत्न नहीं करता था, अद्वितीय धनुर्धारी राम, केशव, अर्जुन और भीमसेन के तुल्य पराक्रम के कार्य करने वाला तथा ययाति, राम और अम्बरीष के समान तेजस्वी था। उसने चातुर्वर्ण्य का संकर रोका था। वह अपने शत्रुओं को हराने में पटु था, उसने क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन किया था। उसके घोड़ों ने तीनों समुद्रों का पानी पिया था (**त्रिसमुद्रतोयपीतवाहन**), अर्थात् उसका शासन अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तथा दक्षिण में हिन्द महासागर तक फैला हुआ था। बाण ने भी एक सातवाहन राजा को 'त्रिसमुद्राधिपति' लिखा है।

गौतमीपुत्र सातवाहन राजाओं में ऐसा पहला राजा है जिसके साथ हमें मातृपरक नाम (Metronym) का प्रयोग मिलता है। सातवाहन राजाओं में तीन वैदिक ऋषियों वसिष्ठ, माठर और गौतम के आधार पर तीन मातृपरक नाम—वासिष्ठीपुत्र, माठरिपुत्र और गौतमीपुत्र मिलते है। इनमें गौतमी, वासिष्ठी और माठरी के मातृपरक नामों के आधार पर राजाओं का परिचय दिया गया है। मातृपरक नामों की यह प्रथा नागार्जुनीकोण्डा और जगैय्यापेट के इक्ष्वाकु राजाओं के नामों में भी मिलती हैं। मालवा प्रदेश में साँची-स्तूप के अभिलेखों तथा भरहुत के एक अभिलेख में वासिष्ठीपुत्र, गार्गीपुत्र, वात्सीपुत्र के नाम पाये जाते है। बेसनगर के अभिलेख में राजा भागभद्र को कौत्सीपुत्र कहा गया है। सातवाहनों ने ऐसे मातृपरक नाम इस समय क्यों धारण किये, इसकी कोई संतोषजनक व्याख्या अभी तक नहीं हो सकी है।

बालश्री ने नासिक-प्रशस्ति मे अपने पुत्र के रूप का भी बहुत सुन्दर वर्णन किया है—"वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान कान्ति से युक्त और प्रियदर्शन था। नागराज के फण जैसी मोटी, मजबूत, विपुल दीर्घ भुजाओ वाला था, निरन्तर दान देते रहने के कारण उसके हाथ सदा गीले रहते थे और वह अपनी माता की सेवा-शुश्रूषा करने वाला था।"

श्री काशी प्रसाद जायसवाल तथा कुछ अन्य विद्वानों ने यह माना है कि गौतमीपुत्र और भारतीय इतिहास मे सुप्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य एक ही व्यक्ति हैं। यह वही राजा था, जिसने ५७ ई० पू० मे शको का संहार करके उज्जैन को स्वाधीन किया था। कालकाचार्य के कथानक के अनुसार यह राजा विक्रमादित्य था तथा प्रतिष्ठान से आया था। प्रतिष्ठान उस समय सातवाहनो की राजधानी थी। यह भी उल्लेखनीय है कि अनुश्रुति की गाथाओ मे विक्रमादित्य का राज्यकाल ५५ वर्ष दिया गया है और पुराणो की वशावलि मे दूसरे सातकर्णी का राज्यकाल भी लगभग यही अर्थात् ५६ वर्ष है। गौतमीपुत्र के एक विशेषण **वर-वारणविक्रम-चारु-विक्रम** (उत्तम हाथी के समान सुन्दर चाल वाले) मे विक्रम शब्द के दो बार प्रयोग को विक्रमादित्य का सकेत माना गया है। श्री जायसवाल ने विक्रमादित्य विषयक अनुश्रुतियो का गौतमीपुत्र सातकर्णी विषयक अनुश्रुतियों के साथ सामजस्य करते हुए यह कहा है कि वह जन्म से ही राजा गिना जाने लगा था, किन्तु उसका राज्याभिषेक २४ वर्ष की आयु मे हुआ, उस समय उसकी माता गौतमी बालश्री राजकाज देखती थी, अभिषेक के १८वे वर्ष उसने शको को हराकर उज्जयिनी को जीता। भारतवर्ष के इतिहास मे यह एक स्मरणीय घटना थी। इसी समय से विक्रम सवत् का आरम्भ हुआ।[1]

श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने उपर्युक्त कल्पना का खण्डन कई प्रबल युक्तियो के आधार पर किया है।[2] पहली युक्ति सातवाहन राजाओ द्वारा विक्रम सवत् का प्रयोग न करने की है। यदि गौतमीपुत्र ही विक्रमादित्य था और उसने ५७ ई० पू० मे शको का सहार करके विक्रमसवत् का प्रवर्तन किया था तो उसने स्वयमेव तथा उसके उत्तराधिकारियो ने इस सवत् का प्रयोग क्यो नही किया। ये सभी राजा अपने अभिलेखो मे राज्यकाल के वर्षो का ही उल्लेख करते है, विक्रमसवत् का कोई निर्देश नही करते है। दूसरी युक्ति दोनो राजाओं की अनुश्रुतियो की विभिन्नता

---

१. जायसवाल--ब्राह्मण एम्पायर, डेली एक्सप्रेस, पटना १९१४, जयचन्द्र विद्यालंकार, भारतीय इतिहास की रूपरेखा, २ खण्ड, पृ० ८६५।

२. ए० इं० यू० पृ० २०३।

है। विक्रमादित्य की सभी अनुश्रुतियाँ उसका संबंध उज्जयिनी से जोड़ती है और गौतमीपुत्र सातकर्णी की अनुश्रुतियाँ उसे प्रतिष्ठान का राजा बताती है। दोनो में इतना अधिक अन्तर है कि इनका समन्वय किसी प्रकार नही किया जा सकता है। तीसरी युक्ति गौतमीपुत्र द्वारा विक्रमादित्य की उपाधियाँ धारण न करना है, उसके अभिलेखो मे उसकी अनेक उपाधियो का वर्णन है, किन्तु यह उपाधि कही नही मिलती है। अतः गौतमीपुत्र और विक्रमादित्य सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे, इन दोनो का समीकरण युक्तियुक्त नही प्रतीत होता है।

पुलुमायि द्वितीय (९६ से ११९ ई०)—गौतमीपुत्र के बाद उसका बेटा वासिष्ठीपुत्र स्वामी—श्री पुलुमायि[१] (वासिठीपुत सामी—सिरि पुलुमावि) राजगद्दी पर बैठा। उसके शासन-काल मे सातवाहन साम्राज्य अपने चरम उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच गया। उसने न केवल अपने पिता के साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखा, अपितु उसमे वृद्धि भी की। मद्रास तथा कुड्डालोर के बीच मे कारोमण्डल के समुद्री तट पर उसकी कई ऐसी मुद्राये मिली है जिन पर दोहरे मस्तूल वाले जहाज की आकृति बनी हुई है।[२] यह इस बात को सूचित करती है कि इस समय मे सातवाहनो की शक्ति का विस्तार हुआ, उन्होंने नौ-सैनिक शक्ति तथा विदेशी व्यापार को बढ़ाने का प्रयत्न किया। इस समय भारतीय उपनिवेशन के लिये विदेशो में जाने लगे। सम्भवत. अपनी विजयो की स्मृति सुरक्षित रखने के लिये पुलुमायि ने नवनगर की स्थापना की और **नवनगर स्वामी** की उपाधि धारण की। दक्षिणापथेश्वर की उपाधि के साथ उसने महाराज की उपाधि भी ग्रहण की। सातवाहन अभिलेखो मे सबसे अधिक वर्णन इसी राजा का मिलता है। पुलुमायि के नासिक मे २, ६, १९ तथा २२ वर्ष के अभिलेख मिले है, कार्ले मे ७ तथा २४ वर्ष के लेख मिले है तथा एक लेख अमरावती मे मिला है। दक्खिन के पठार के पूर्वी भाग मे मिलने वाले एक अभिलेख मे पहली बार इस सातवाहन राजा का वर्णन उपलब्ध होता है। पुलुमायि की मुद्राये भी विभिन्न प्रदेशो मे पाई गई है। ये उसके राज्य की समृद्धि और व्यापार को सूचित करती है। इसी के शासनकाल मे तीसरी श० ई० पू० मे स्थापित अमरावती के स्तुप का विस्तार हुआ। पुलुमायि की ख्याति विदेशो मे भी पहुची। रोमन

१. श्री रेप्सन, दिनशचन्द्र सरकार तथा अन्य विद्वान् इसका समय १३०–१५९ ई० मानते हैं। इसके नाम के अन्य रूप पुलुमावि, पुलुमाई है। ये बिलिगयकुर, अडवी आदि नामों की भाँति द्रविड़ भाषा के शब्द प्रतीत होते हैं।

२. रेप्सन–कैट इ० का० आन्ध्रक्षत्रपास, पृ० २२–२३, प्लेट ५।

भूगोल लेखक टॉलमी ने पैठन (Baithan) का परिचय देते हुए कहा है कि वह राजा श्री पुलुमायि (Basileion (Siro) Ptolemaios or Polemaios) की राजधानी है।

पुलुमायि के शासन-काल के अन्तिम वर्षों मे चष्टन के नेतृत्व मे पश्चिमी क्षत्रपो की शक्ति का पुनरुत्थान होने लगा। चष्टन कार्दमक वंश का था, सम्भवतः क्षत्रपों के इस पुनरुत्थान में कुषाणों ने सहयोग दिया था। चष्टन ने पहले अपनी सत्ता क्षत्रपो के उन प्रदेशों में सुदृढ की जिन पर गौतमीपुत्र ने अधिकार नही किया था। ये प्रदेश—कच्छ तथा सिन्धु-सौवीर थे। इसके बाद उसने क्षत्रपो के पुराने प्रान्त कुकुर, सुरठ, मरु, श्वभ्र, अवन्ति और आकर को जीता, इनकी विजय के बाद महाक्षत्रप की उपाधि धारण की। इन नवीन प्रदेशो के शासन का सचालन करने के लिए उसने पहले अपने पुत्र के साथ और बाद मे अपने पोते के साथ मिलकर सयुक्त रूप से शासन किया। क्षत्रपो से सातवाहनो की शक्ति को धक्का लगना स्वाभाविक था।

श्री सातकर्णी (१२० से १४९ ई०)[1]—वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि का उत्तराधिकारी श्री सातकर्णी (सिरिसातकणि) था। वायु पुराण के अनुसार इसने २९ वर्ष तक शासन किया। यह बात अकोला निधि मे प्राप्त हुए इसके छः सौ सिक्को से भी पुष्ट होती है। इसने पश्चिमी क्षत्रपो के चाँदी के सिक्को के नमूने पर अपनी रजत मुद्राएँ बनवाई। कई विद्वानो ने इसके आधार पर परिणाम निकाला है कि यह महाक्षत्रप रुद्रदामा का दामाद था।

शिव श्री पुलुमायि (१५०–१५६ ई०)—इसके समय मे क्षत्रपो और सातवाहनो का सघर्ष प्रारम्भ हो गया। यह सम्भवत. पुलुमायि द्वितीय का पोता था और श्री गोपालाचारी ने रुद्रदामा द्वारा हराये गये—दक्षिणापथपति सातकर्णी के साथ इसका समीकरण किया है। इस विषय मे गिरनार अभिलेख मे यह कहा गया है कि रुद्रदामा ने यद्यपि सातकर्णी को दो बार हराया था फिर भी निकट सम्बन्धी होने के कारण उसका विध्वस नही किया। इस सघर्ष के छिड़ने के कारण स्पष्ट थे। रुद्रदामा नहपान की हार का बदला लेने के लिए तुला हुआ था, वह क्षत्रपो द्वारा खोये गए प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के लिये उत्सुक था। उसने सातवाहनों के दो महत्त्वपूर्ण प्रान्तो अनूप और अपरान्त को जीतने में सफलता प्राप्त की, किन्तु असिक, असक, मूलक और कुन्तल के प्रदेशों को नहीं जीत सका।

---

१. कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार इसका राज्यकाल १५९ से १६६ ई० तक है।

श्री शिवस्कन्द सातकर्णी (१५७–१५९ ई०)[१]—शिव श्री पुलुमावि द्वितीय के बाद उसका पुत्र शिवस्कन्द (शिवखद सातकणि) गद्दी पर बैठा। अकोला निधि में जिस खद सादकणि की तीन मुद्रायें मिली है वह यही राजा प्रतीत होता है।

श्री यज्ञ (१६०–१८९)[२]—शिवस्कन्द के बाद उसके उत्तराधिकारी श्री यज्ञ (त्रि यज) ने २९ वर्ष तक शासन किया। उसके राज्यकाल के सातवे और दसवे वर्षों के दो अभिलेख कान्हेरी से मिले है, सातवे वर्ष का एक लेख नासिक से मिला है और दो लेख गुण्टूर जिले से मिले है। इनमे से एक लेख उसके शासन-काल के २७वे वर्ष का है। इन लेखो से यह सूचित होता है कि दक्खिन के पठार के पूर्वी और पश्चिमी दोनो भागो पर इसका शासन था। इसकी एक रजत मुद्रा सोपारा से मिली है, वह पश्चिमी क्षत्रपो की मुद्राओ के नमूने पर ढली हुई है। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि उसने रुद्रदामा द्वारा सातवाहनो से जीते हुए अपरान्त के प्रदेश पर पुन अधिकार कर लिया था। इसके चाँदी के दो सिक्के अमरेली (काठियावाड) और बडोदा से मिले है। इनके बारे मे रैप्सन ने यह लिखा है कि इन सिक्को से यह परिणाम निकालना अत्यन्त सन्देहपूर्ण है कि सातवाहनो ने क्षत्रपो से काठियावाड के प्रदेश को पुन जीत लिया था। इसके कुछ सिक्को पर अश्व की मूर्ति बनी हुई है। यह सम्भवत इसकी किसी विजय के बाद अश्वमेध यज्ञ के किये जाने की सूचना देती है। पार्जिटर के मतानुसार इसके शासन-काल मे कुछ पुराणो का नवीन सस्करण किया गया था। बाण ने सम्भवत इसी राजा का वर्णन करते हुए इसे त्रिसमुद्राधिपति और नागार्जुन का मित्र कहा है।

इस राजा की विभिन्न प्रकार की मुद्राये बहुत बडी सख्या मे गुजरात, काठियावाड, सोपारा, मध्य प्रदेश के चाँदा और अकोला जिलो तथा आन्ध्र के गोदावरी और कृष्णा जिलो मे मिली है। चाँदा की मुद्राओ मे हाथी का चित्र बना हुआ है और सोपारा की मुद्राओ पर राजा का शीर्ष पाया जाता है। आन्ध्र प्रदेश की सीसे और ताम्बे की मुद्राओ मे हाथी, घोडे और चैत्य की आकृतियाँ बनी हुई है। इसकी मुद्राओ का वैविध्य भी उल्लेखनीय है। इसने न केवल पुलुमावि द्वारा प्रवर्तित कार्षापण के १।१६, १।८, ३।८, १।२, ३।४, ७।८ और पूरे कार्षापण की मुद्राओ का प्रचलन जारी रखा, अपितु १½ और १¾ कार्षापणो की मुद्राये भी प्रचलित की।

१. अन्य ऐतिहासिकों के मत में इसका राज्य काल १६७–१७४ ई० है।

२. अन्य ऐतिहासिकों के मतानुसार इसका शासनकाल १७४–२०३ ई० है।

सम्भवतः इन मुद्राओ के वैविध्य के दो बड़े कारण लड़ाइयाँ और व्यापारिक समृद्धि थी।

पतन के कारण—श्री यज्ञ के शासन के अन्तिम वर्षो मे इस वश का पतन आरम्भ हो गया। पतन का बड़ा कारण आभीरो का स्वतन्त्र होना था। इन लोगों ने नासिक के आसपास के प्रदेश को जीत लिया और इस प्रकार सातवाहनो के साम्राज्य में विभिन्न सामन्तो द्वारा विद्रोह करने और स्वतन्त्र होने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। नासिक मे १८३ ई० मे इनके शासन की स्थापना के साथ सातवाहन वश के पतन का श्रीगणेश हुआ। आभीरों का प्राचीनतम निर्देश पतजलि के महाभाष्य मे मिलता है। टालमी ने इनके देश अबिरिया (Abiria) को सिन्ध नदी के मुहाने और काठियावाड़ के बीच मे बताया है। आरम्भ मे पश्चिमी क्षत्रपो के शासन मे इन्होने वशपरम्परागत अधिकारियो के रूप मे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किये। आभीर जातीय रुद्रभूति १८१ ई० मे शक क्षत्रप रुद्रसिह का सेनापति था। आभीर वश का सस्थापक राजा माढरिपुत्र ईश्वरसेन प्रतीत होता है। दूसरी शताब्दी ई० की अतिम दो दशाब्दियो में आभीरो का उत्कर्ष होने से सातवाहन साम्राज्य के प्रधान मूल स्थान उत्तरी महाराष्ट्र मे उसकी शक्ति क्षीण होने लगी।

पुराणो की वशावलियो के अनुसार सातवाहन वश के अंतिम राजा विजय, श्री चण्ड सातकर्णी तथा पुलुमायि थे। विजय का शासन-काल केवल छः वर्ष का ही था। अकोला जिले से प्राप्त निधि मे इसके चार सिक्के मिले है। इसमे इसका नाम विजय सातकर्णी के रूप मे दिया हुआ है। यह बात निश्चित रूप से कहना कठिन है कि उसका शासन किन प्रदेशो मे विस्तीर्ण था। अगले राजा श्री चण्डसातकर्णी का शासनकाल १० वर्ष का था। इसका समीकरण गोदावरी जिले के कोड़वलि नामक स्थान से उपलब्ध अभिलेख मे वर्णित चडसात नामक राजा से किया गया है। इसके अतिरिक्त इसी प्रदेश से राजा वासिष्ठीपुत्र चडसाति (चन्द्र सातकर्णी) तथा राजा चढसाति की मुद्राये मिली है। अधिकाश विद्वान् प्राय चढ और चड को चन्द्र अथवा चण्ड सातकर्णी का ही दूसरा रूप मानते है और इसे कोड़वलि अभिलेख मे वर्णित राजा से अभिन्न समझते है। किन्तु श्री दिनेशचन्द्र सरकार का यह मत है कि ये दो पृथक् राजा भी हो सकते है। कोडवलि अभिलेख का समय २१० ई० है। गोदावरी जिले के पीठापुरम के निकट कोडवुलु नामक स्थान से इस राजा के शासन-काल के द्वितीय वर्ष का एक अभिलेख मिला है। इस लेख में मूमिक नामक अमात्य द्वारा दिये गए एक दान का वर्णन है। इस राजा के अश्व और चैत्य के

चिह्नों वाले सीसे के सिक्के गोदावरी और कृष्णा जिलो मे पाये गए है। यद्यपि चाँदा और अकोला की निधियो मे सिरीचढ के कोई सिक्के नही मिले, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इसका शासन मध्य प्रदेश एव आन्ध्र प्रदेश मे बना हुआ था।

इस वश का अतिम राजा पुलुमायि चतुर्थ है। इसका शासनकाल पुराणो के अनुसार ७ वर्ष का है। कुछ विद्वानो ने इसे बेलारी जिले के म्यकदोनी नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख मे वर्णित राजा से अभिन्न समझा है। इस अभिलेख मे **गामिक कुमारदत्त** के अधीन वेपुरा मे रहने वाले एक गृहपति द्वारा एक तालाब के बनाये जाने का वर्णन है। इस ग्राम की स्थिति महासेनापति खन्दनाग के शासन मे विद्यमान **जनपद** के एक भाग सातवाहनीहार मे बताई गई है। इस राजा की कोई भी मुद्राए आन्ध्रप्रदेश से नही मिली है। फिर भी इस अभिलेख के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि इसका शासन पूर्वी दक्खिन के प्रदेश मे रहा होगा। तीसरी शताब्दी ई० के मध्य भाग से पूर्व ही यहाँ इक्ष्वाकुवश का शासन स्थापित हो गया, उसके बाद इस शताब्दी की समाप्ति से पूर्व ही काची के पल्लवो ने आध्र प्रदेश और बेलारी (सातवाहनीहार) को अपने राज्य का अग बना लिया।

कान्हेरी (अपरान्त) से प्राप्त एक अभिलेख मे माढरिपुत्र शकसेन नामक राजा का उल्लेख है। इसे कई विद्वान् कृष्णा, गोदावरी जिलो से प्राप्त मुद्राओ मे उल्लिखित शकसेन अथवा शकमात नामक राजा से मिलाते है। ये मुद्राए अकोला की मुद्राओ मे वर्णित राजा शकसातकर्णी की भी हो सकती है। नानाघाट से प्राप्त एक अभिलेख मे वासिष्ठीपुत्र चतरपन सातकर्णी का उल्लेख है। इसका कान्हेरी अभिलेख मे शकसेन के साथ कोई सबध अभी तक निश्चित नही किया जा सका। पुराणो मे इन राजाओ का कोई वर्णन नही है। इनके नामो से यह सूचित होता है कि इनका सम्बन्ध शको के साथ था, क्योंकि श्री गोपालाचारी ने यह सुझाव दिया है कि चतरपन शब्द क्षत्रपन्नक जैसे किसी शक शब्द का द्रविड रूपान्तर हो सकता है।

सातवाहन साम्राज्य के पतन के कारण—१९३९ ई० मे अकोला जिले में माँगरूल के निकट तरहला नामक स्थान से सातवाहन वश के पिछले राजाओ की १५२५ मुद्राओ की एक निधि मिली थी। इससे तथा नागार्जुनीकोण्डा के इक्ष्वाकु-वशी राजाओ के अनेक अभिलेखो से सातवाहन वश के पतन के कारणो पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसके विघटन और समाप्ति का प्रधान कारण केन्द्रीय शासन का निर्बल होना तथा विभिन्न प्रदेशो में इनकी ओर से शासन करने

वाले सामन्तो का विद्रोह करके अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेना था। इससे सातवाहन साम्राज्य पाँच छोटे-छोटे राजवशो मे विभक्त होकर क्षीण हो गया। सातवाहन वश की एक शाखा यद्यपि इसके उत्तरी प्रान्तों पर कुछ देर शासन करती रही, किन्तु पश्चिम मे आभीरो ने नासिक के आसपास के प्रदेश पर अधिकार कर लिया और इक्ष्वाकुवश ने इसके पूर्वी प्रदेश (कृष्णा-गुन्टूर के जिले) मे एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। इसके दक्षिण-पूर्वी भाग अथवा कुन्तल प्रदेश (उत्तरी कनारा, मैसूर, बेलगाँव और धारवाड़ जिलो के कुछ भाग) मे चुटु राजवंश शासन करने लगा और दक्षिण पूर्वी प्रदेश पर पल्लवो ने शासन स्थापित किया। पुराणो मे इसी तथ्य को इस रूप मे कहा गया है कि जब आध्रो का (सातवाहनो का) राज्य समाप्त होगा उस समय निम्नलिखित राजा शासन करेंगे--७ आध्र, १० आभीर राजा, ७ गर्दभिन्, १८ शक। श्रीपर्वतीय आंध्र ५२ वर्ष तक, १० आभीर राजा ६७ वर्ष तक, ७ गर्दभिन् ७२ वर्ष तक और १८ शक १८३ वर्ष तक शासन करेंगे। इन वशो मे श्रीपर्वतीय आध्र कृष्णा-गुण्टूर प्रदेश मे शासन करने वाले इक्ष्वाकु राजा थे जिनका अगले अध्याय मे वर्णन किया जायगा। आभीरो तथा शको का उल्लेख भी अन्यत्र किया गया है। यहाँ कुन्तल के चुटु राजवश का ही वर्णन किया जायगा।

चुटु--कर्नाटक मे ये सातवाहनो के उत्तराधिकारी थे। कुछ विद्वानो के मतानुसार पुराणों मे वर्णित आन्ध्रभृत्य यही राजा है। चुटु सातवाहन राजवश के साथ वैवाहिक सम्बन्धो से सम्बद्ध थे। सम्भवत पहले चुटु राजा सातवाहनो के सामन्त थे, उनके साम्राज्य मे महारठी और महाभोज के उच्च पदो पर आसीन थे। इस वश पर प्रकाश डालने वाला एक दानपरक अभिलेख कुन्तल की राजधानी वैजयन्ती (वनवासी) से मिला है। इसमे एक महाभोजी की बेटी, महाराज बालिका का तथा **हारितीपुत विण्हुकड चुटुकुलानन्द सातकण्णि** का उल्लेख है। इसका दान कुमार सिवखन्दनाग सिरि के साझे मे है। किन्तु इस लेख मे दान देने वाले का कोई नाम नही दिया गया। कान्हेरी से एक और अभिलेख मिला है जिसमे नागमुलिनका के दान का वर्णन है। वह अपने को महारठिनी अर्थात् महारठी की स्त्री, महाभोजी महाराज की बेटी तथा खन्दनाग सातक की माँ बतलाती है। रैप्सन के मतानुसार दोनो लेख एक ही दान देने वाली स्त्री के है, उसका नाम नागमुलिनका था। उसकी माँ महाभोजी और बाप राजा हारितीपुत्र चुटुकुल सातकर्णी था और उसका बेटा स्कन्दनाग था। रैप्सन ने इन अभिलेखो का गम्भीर अध्ययन करके चुटु सातकर्णियो का वश-वृक्ष निम्नलिखित रूप मे प्रकट किया है।

राजा हारिती पुत्रसातकर्णि = महामोजी
|
महारठि = नागमुलिनका
|
हारितीपुत्र शिवस्कन्द वर्मा

कान्हेरी से मैसूर तक दक्खिन के पठार के पश्चिमी भाग पर चुटु वशी राजाओ ने सातवाहनो के बाद शासन किया। यदि कडप्पा और अनन्तपुर जिलो से प्राप्त होने वाले बडे आकार के सीसे के सिक्को पर उल्लिखित राजा हारिती को उपर्युक्त अभिलेख का हारितीपुत्र विष्णु कड—चुटु कुलानन्द सातकर्णी समझा जाये तो यह मानना पडेगा कि पूर्व मे भी इन राजाओ का शासन विस्तीर्ण था।

इस प्रकार सातवाहन वश का स्थान पश्चिमी दक्खिन मे आभीरो और चुटु-कुल के राजाओ ने लिया, पूर्वी-दक्खिन अर्थात् आध्र प्रदेश मे इक्ष्वाकुओ और बृहत फलायनों ने। कृष्णा जिले के जगय्यपेट्ट के स्तूप से इक्ष्वाकुवंश के श्री वीर पुरुषदत्त के बीसवें राज्यवर्ष के तीसरी शताब्दी ई० के अभिलेख मिले है। इन वशो का आगे वर्णन किया जायेगा। इन सबने दक्षिण मे सातवाहन वश की सत्ता को सर्वथा निर्मूल और समाप्त कर दिया।

सातवाहन वंश की संस्कृतिक और सभ्यता

सातवाहन वश के शासन-काल मे सभ्यता और सस्कृति का जो विकास और व्यापार का जो उत्कर्ष हुआ, उसका इस वश के अभिलेखो के आधार पर यहाँ सक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

(क) **धार्मिक दशा**—(क) **बौद्ध धर्म**—सातवाहन वशी राजाओ ने हिन्दू धर्मावलम्बी होते हुए भी बौद्ध धर्म को बड़ा प्रोत्साहन दिया। इस समय बौद्ध धर्म के कारण पश्चिमी भारत मे पर्वतो को काटकर बनाये जाने वाले बौद्ध चैत्यो की कला पराकाष्ठा पर पहुची। सातवाहन युग मे पाये जाने वाले सभी गुहामदिर बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखते है। ये दो प्रकार के होते थे—(१) चैत्य गृह—इन्हें पहाड को खोदकर बनाया जाता था। इनकी छत मेहराबदार और प्रवेशद्वार पर घोडे के नाल के आकार की खिडकियाँ होती थी और अन्दर दोनो ओर खम्भो की लम्बी पक्तियाँ होती थी और अन्त मे एक छोटा स्तूप बना होता था। यहाँ बौद्ध अपनी पूजा के लिए एकत्र होते थे। (२) दूसरे प्रकार की रचना **लेण** (सस्कृत लयन) अथवा **सेलघर** (शैलगृह) बौद्ध भिक्षुओ के निवास के लिये बनाये जाते थे। इनके

मध्य मे एक बड़ा हाल और चारों ओर छोटी कोठरियाँ होती थी। इनमें भिक्षुओं के सोने के लिए प्रस्तरशय्या बनी होती थी। ये सब चैत्यगृह और लेण अथवा शैलगृह व्यापारियों, राजाओ तथा राज-कर्मचारियो ने बौद्ध भिक्षुओ की पूजा और निवास के लिये बनवाकर भिक्षुसंघ को दान किये थे। इन गुहाओ को दान देते समय भिक्षुओ के निर्वाह एव इनकी मरम्मत आदि के लिए उनके समीपवर्ती गाँवो की आमदनी का दान किया जाता था। कई बार इस कार्य के लिए उस समय की व्यापारिक श्रेणियो के पास बहुत बड़ी धनराशि स्थायी निधि (अक्षय नीवि) के रूप मे जमा की जाती थी ताकि उसके सूद से भिक्षुओ के वस्त्र (चीवर) तथा भोजन आदि का व्यय चलता रहे। नासिक की गुहा सख्या १९ सातवाहन कुल के राजा कण्ह के समय मे उसके एक महामात्य ने बनवाई थी। इन गुहा-चैत्यो और विहारो के निर्माण का श्रीगणेश अशोक और दशरथ के समय गया के निकट बराबर पहाडी मे हुआ था, किन्तु इसके एक शताब्दी बाद तक इस कारीगरी का इतना विकास हुआ कि पहाडो की चट्टानो मे कार्ले जैसे विशाल चैत्य बनाये जाने लगे। पहाडो मे इस प्रकार लेण काटने की प्रथा सातवाहन युग मे शुरू हुई। राजाओ का अनुसरण करते हुए उस समय के व्यापारियो ने भी ऐसी रचनाए बनवाई। नासिक मे जहाँ एक गुहा सख्या १० उषवदात की बनवाई हुई है तथा सख्या ३ वासिष्ठी-पुत्र पुलुमायि के समय उसकी दादी की बनवाई हुई है तो कार्ले का भारत भर मे उत्तम (जम्बुदिपम्भि उत्तम) गुहाचैत्य (सेलघर) श्रेष्ठी भूतपाल का बनवाया हुआ है। बौद्ध भिक्षु इन गुहाओ मे वर्षाकाल के चार महीनो मे रहा करते थे। पहले यह बताया जा चुका है कि गौतमीपुत्र सातकर्णी की माता बालश्री ने भद्रायणीय भिक्षु संप्रदाय के लिये नासिक मे एक गुहा का दान किया था और वासिष्ठी पुत्र पुलुमायि के समय मे कार्ले मे यहाँ के महासाघिक सम्प्रदाय के लिए एक गुहा बनवाई गई थी। आगे चौदहवें अध्याय में पर्वतीय चैत्यो की कला का विस्तृत परिचय दिया जायगा।

(ख) **हिन्दू धर्म**--इस समय इसका प्रबल उत्कर्ष हुआ। जिस प्रकार उत्तर भारत मे शुगवंश के समय में वैदिक यज्ञों के अनुष्टान की परम्परा प्रारम्भ हुई थी, वैसी ही परम्परा सातवाहनो ने दक्षिण मे प्रारम्भ की। नानाघाट के नायनिका के अभिलेख मे बीस यज्ञों का वर्णन है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि किस प्रकार इस समय अश्वमेध, राजसूय आदि विभिन्न यज्ञ किये गये और इनके साथ गौओ, घोड़ो, हाथियो, रथो, रजत-पात्रो और कार्षापणो का प्रभूत मात्रा मे दान किया गया। इन यज्ञो मे दान की अधिकतम सख्या ग्यारह हजार

गौएं और चौबीस हजार कार्षापण थे। उपर्युक्त अभिलेख का आरम्भ धर्म, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव, सूर्य तथा चन्द्र और यम, वरुण, कुबेर एव वासव नामक चार दिक्पालो की स्तुति से होता है। इसमे सकर्षण और वासुदेव का उल्लेख यह सूचित करता है कि उस समय यहाँ कृष्ण की उपासना प्रचलित हो चुकी थी। इन्द्र की स्तुति यह प्रदर्शित करती है कि पहली शताब्दी ई० तक महान् वैदिक देवता इन्द्र की उपासना प्रचलित थी।

यज्ञप्रधान वैदिक धर्म के साथ-साथ इस समय वैष्णव और शैव धर्मों का भी प्रचलन था। डॉ० भडारकर ने यह बताया है कि अभिलेखो मे वर्णित गोपाल, विष्णुदत्त, विष्णुपालित जैसे नाम उस समय वैष्णव धर्म की लोकप्रियता को सूचित करते है। इसी प्रकार भूतपाल, शिवदत्त, शिवघोष, शिवपालित, शिवमूर्ति, शिवदात, भवगोप, महादेव आदि नाम स्पष्ट रूप से यह द्योतित करते है कि उस समय शिव, महादेव और भूतपाल के नाम मे शंकर की उपासना प्रचलित थी ; उनके सुप्रसिद्ध वाहन नन्दी की पूजा, ऋषभनक, ऋषभदात आदि नामो से होती थी। स्कन्दपालित, शिवस्कन्दिल तथा शिवस्कन्दगुप्त नाम कार्तिकेय की उपासना की लोकप्रियता और शिव के साथ उनकी पूजा को सूचित करते है, नाग, सर्प और सर्पिल जैसे नाम सर्प-पूजा के प्रचलन का सकेत करते है।

इस समय के धार्मिक जीवन की एक बडी विशेषता विदेशियो द्वारा बौद्ध और हिन्दू धर्म का ग्रहण करना था। इस समय अनेक विदेशी जातियाँ, यूनानी (यवन), शक, आभीर भारत में आये और यहाँ बस गये। सातवाहन युग के अनेक अभिलेख यह प्रदर्शित करते है कि इन्होने न केवल बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म को स्वीकार किया, अपितु भारतीय नामों को भी ग्रहण किया। डॉ० भण्डारकर के शब्दों मे "गुहा अभिलेखो मे प्राय इस बात का वर्णन है कि यूनानी (यवन) चैत्यो तथा विहारों या बौद्ध भिक्षुओ के निवास-स्थानो का निर्माण कराकर उनका दान करते थे। कार्ले मे हमे इस प्रकार के दो यवनो के नाम मिलते है, इनमे से एक सिहधय (सिहध्वज) तथा दूसरा धर्म था। जुन्नर मे इस प्रकार के तीन नाम इसील, चिर (चित्र) तथा चन्द्र हैं। नासिक मे धर्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त नामक यवन का उल्लेख है। ये सब बौद्ध धर्म के अनुयायी बने और उनमे से एक को छोडकर शेष सबने हिन्दू नाम धारण किये।"[१]

इस युग की एक अन्य विशेषता धार्मिक क्षेत्र मे उदारता और सहिष्णुता

१. इंडियन एण्टीक्वेरी, पृष्ठ १५ तथा आगे।

की भावना थी। सातवाहन राजा गौतमीपुत्र सातकर्णी, उसकी माता गौतमी बालश्री और उसका पुत्र पुलुमायि हिन्दू धर्म के कट्टर उपासक थे, फिर भी उन्होंने बौद्ध भिक्षुओ की पूजा एव निवास के लिये गुहा, चैत्य और विहार बनवाये। उनका दान हिन्दू धर्म तक ही सीमित नही था। गौतमी बालश्री ने भद्रायण सम्प्रदाय के भिक्षुओ के निवास के लिए एक गुहा बनवाई। सातकर्णी और पुलुमायि ने कार्ले के बौद्धो को एक गॉव का दान दिया। इस समय एक ही परिवार मे विभिन्न मतावलम्बी बडे प्रेम से रहते थे। एक ब्राह्मण यितिलु की पत्नी भायिला ने कुडा गुहाओ मे बसे हुए बौद्ध सघ के लिये एक चैत्य गृह का दान किया। इस समय के हिन्दू समाज की उदार भावना का परिचय इस बात से भी मिलता है कि ब्राह्मण मतानुयायी एक सातवाहन राजा का विवाह शक क्षत्रप रुद्रदामा की कन्या से हुआ था।

(ख) **शासनपद्धति** —सातवाहनो ने मौर्यो की भॉति विभिन्न प्रदेशो की विजय करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। आरम्भ मे इस वश के शासको ने राजा की छोटी सी उपाधि धारण की। अधिकाश सातवाहन मुद्राओ पर यही उपाधि मिलती है। उन दिनो शक शासक ईरानी सम्राटो के अनुकरण पर महाराजाधिराज, महाक्षत्रप आदि की उपाधियॉ धारण करते थे। बाद में सातवाहन राजाओ ने विदेशी शत्रुओं का उन्मूलन करने के बाद ऐसी उपाधियॉ धारण की। राजमाता गौतमी बालश्री के अभिलेख मे गौतमीपुत्र को **राजराज** तथा **महाराज** कहा गया है। रानियो को उस समय सामान्यरूप से देवी कहा जाता था। बालश्री ने अपने को **महादेवी** कहा है। सातवाहन राजा किसी प्रकार के दैवी अधिकार का दावा नही करते थे। उनकी शक्ति यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से अमर्यादित और असीम थी, किन्तु उनका सारा शासन-प्रबन्ध धर्मशास्त्रो मे प्रतिपादित नियमो के अनुसार होता था। यह उनकी निरकुश शक्ति पर प्रबल प्रतिबन्ध था। उनकी शासन-व्यवस्था मौर्यो की तरह जटिल न होकर अत्यन्त सरल थी। राजा शासन का अध्यक्ष और प्रधान सेनापति होता था, वह युद्ध मे स्वयमेव सेनाओ का नेतृत्व करता था, भीषण से भीषण लड़ाई में भी वह सम्मिलित होता था। राजा के पुत्रों को कुमार कहा जाता था। हमारे पास इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि मौर्य शासन की भाँति यहाँ राजा के पुत्रों को विभिन्न प्रान्तों का शासक बनाया जाता था। कलिग के चेदि राजवश में राजा के बड़े बेटे को युवराज बनाने की और उसे प्रशासन कार्य मे सहयोगी बनाने की परम्परा प्रचलित थी, किन्तु ऐसी परम्परा सातवाहनो में दृष्टिगोचर नहीं होती है। इनकी एक विशेषता प्रशासन कार्य में राजपत्नियों या महादेवियों का भाग लेना था।

यह बात नानाघाट के नायनिका तथा बालश्री के अभिलेखो से स्पष्ट है । नायनिका ने अपने पुत्र वेदश्री के लिए शासनसूत्र अपने हाथ मे लिया था और जिले के अधिकारियो को दान देने की अनुमति प्रदान की थी। यह बात भी उल्लेखनीय है कि नानाघाट के अभिलेख मे नायनिका का नाम उसके पति सातकर्णी से पहले लिखा गया है।

उस समय की सरल प्रशासन व्यवस्था मे राजा के सामन्तो का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। इनमे सबसे ऊँचा पद रखने वाले ऐसे छोटे-छोटे राजा थे, जो सातवाहन सम्राट् की प्रभुसत्ता स्वीकार करते हुए भी अपने नाम की मुद्राये प्रचलित करते थे। इस प्रकार के लघु राजा कोल्हापुर और उत्तरी कनारा प्रदेशो मे थे। इनके बाद **महारठी** और **महाभोजो** का स्थान था। ये पद ठीक उसी प्रकार रठिक और भोज के पदो से बनाये गए थे जैसे सेनापति से महासेनापति का पद बनाया गया था। आरम्भ मे **रठिक** और **भोज** वस्तुत विशेष जातियो से सम्बद्ध एव उनका नेतृत्व करने वाले थे। इस साम्राज्य के आरम्भिक दिनो मे उन्होने साम्राज्य के निर्माण कार्य मे सातवाहनो की बहुमूल्य सहायता की थी। अत सातवाहन राजाओ ने इन्हें महाभोज और महारठी की महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ दी। ये उपाधियाँ कुछ निश्चित परिवारो और निश्चित प्रदेशो मे परम्परागत रूप से प्रचलित हो गई। इनका अधिक प्रचलन महाराष्ट्र के थाना और कोलाबा जिलो मे था। इन उपाधियो को प्राप्त करने वाले पुरुषो की स्त्रिया भी महाभोजी आदि पदो को बडे गर्व से अपने नाम के साथ लगाया करती थी। इन दोनों उपाधियो मे महाभोज को अधिक ऊँचा समझा जाता था, क्योंकि महारठी की उपाधि वाले अभिलेखो मे सातवाहन राजाओ के शासन-काल के वर्षों का उल्लेख मिलता है, किन्तु महाभोजो का वर्णन करने वाले अभिलेखो मे इस प्रकार के किसी वर्ष का उल्लेख नही है। इन दोनो में महारठी की उपाधि अधिक पुरानी है। इसके उल्लेख तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व से मिलने लगते हैं, जबकि भोज का पहला उल्लेख प्रथम शताब्दी ईसवी के पूर्वार्द्ध मे सातवाहन शक्ति के विस्तार के समय उपलब्ध होता है। सम्भवत: इस समय भोजो ने सातवाहनों की शक्ति का विस्तार करने मे बडा सहयोग दिया होगा, इसी कारण उन्हें महाभोज की गौरवपूर्ण उपाधि प्रदान की गई। नानाघाट और कान्हेरी के अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि महारठी सामन्त राजपरिवार के साथ वैसे ही वैवाहिक सम्बन्ध रखते थे, जैसा सम्बन्ध इक्ष्वाकुवश के राजा महातलवर नामक पदाधिकारियों से रखते थे।

सातवाहन वंश के अन्तिम समय मे दो अन्य पद बनाये गए, ये **महासेनापति** और **महातलवर** थे। श्री गोपालाचारी के मतानुसार इन नए पदो के निर्माण का प्रधान उद्देश्य उस समय साम्राज्य मे भारी वृद्धि होने के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो का निराकरण करना था। महासेनापति का प्रथम उल्लेख पुलुमायि के शासनकाल के बाइसवे वर्ष मे किया गया है। एक अन्य अभिलेख मे इसके उत्तराधिकारियो ने भी दो बार इसका उल्लेख किया है। पुलुमायि द्वितीय के समय मे महासेनापति सैनिक कार्य नही करता था, अपितु राजकीय लेख-विभाग को सभालने का कार्य करता था। अन्तिम राजा पुलुमायि चतुर्थ के समय मे महासेनापति एक जनपद का राज्यपाल था। उस समय कई जिले (**आहार**) मिलकर एक जनपद का निर्माण करते थे। महातलवर शब्द के बारे मे वोगल की यह कल्पना है कि यह द्रविड भाषा के किसी शब्द से निकला है।

उस समय साम्राज्य **जनपदों** और **आहारों** मे बँटा हुआ था। आहार वर्तमान समय के जिले का वाचक है, यह सालकायन राजवश के अभिलेखो मे वर्णित **विषय** शब्द से मिलता-जुलता है। प्रत्येक आहार का नाम उसके **मुख्यालय** पर निर्भर होता था। आहार से निचली इकाई गाँव होती थी। आहारो मे नियुक्त किए गए अमात्य (अमचस) का कभी-कभी तबादला हो जाता था। उस समय गाँव की देख-भाल करने वाला **गामिक** कहलाता था। इसके अतिरिक्त अन्य सरकारी अधिकारी निम्नलिखित थे—माण्डागारिक (भण्डारी), हरनिक (कोषाध्यक्ष), महामात्र, निबधकार (दस्तावेजो की रजिस्ट्री करवाने वाला अधिकारी) तथा दूतक (राजकीय आदेशो को उपयुक्त अधिकारियो तक पहुँचाने वाला)।

(ग) **आर्थिक दशा**—इस समय आन्तरिक एव विदेशी व्यापार का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। इसका प्रमाण हमे इस काल के अभिलेखो मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है। इस समय की प्रचलित मुद्रा कार्षापण थी। कार्षापण चाँदी और ताँबे के होते थे। नायनिका के नानाघाट अभिलेख मे दक्षिणा के रूप मे चौबीस हजार कार्षापण देने का वर्णन आता है। उषवदात के नासिक अभिलेख मे ७० हजार कार्षापण ब्राह्मणो को दान करने का उल्लेख है। इस लेख मे यह बात स्पष्ट रूप से बताई गई है कि उन दिनो सोने और चाँदी की मुद्राओ का विनिमय मूल्य १ ३५ था अर्थात् एक स्वर्ण मुद्रा ३५ रजत कार्षापणो के बराबर होती थी। रैप्सन के मतानुसार यहाँ सुवर्ण मुद्राओं का तात्पर्य कुषाणों द्वारा प्रचलित किए गए सोने के सिक्कों से है। उसके कथनानुसार उषवदात का श्वशुर नहपान न केवल कुजुल

कदफिसस का, अपितु उस विम कदफिसस का भी क्षत्रप था जिसने सर्वप्रथम **स्वर्ण मुद्राओं** का प्रचलन आरम्भ किया था। उस समय के प्रचलित सिक्के **कार्षापण को यह नाम देने** का कारण यह था कि इसका भार एक कर्ष अर्थात् अस्सी रत्ती या १४६.४ ग्रेन होता था। सोने के सिक्के तथा तांबे के पण का यही भार होता था, **किन्तु चाँदी** का धरण या पुराण नामक सिक्का ३२ रत्ती का (५८.५६ ग्रेन) होता **था**, किन्तु नहपान के चांदी के सिक्के कार्षापण कहलाने पर भी इससे हलके तथा ३६ ग्रेन के होते थे और ऐसे पैंतीस सिक्कों का एक सुवर्ण होता था।

उस समय की आर्थिक व्यवस्था श्रेणियों पर आधारित थी। प्रत्येक पेशे और व्यवसाय को करने वाले कारीगरों के विशिष्ट संगठन होते थे। ये संगठन श्रेणी कहलाते थे। नासिक के एक अभिलेख में निम्नलिखित चार विभिन्न प्रकार की श्रेणियों का उल्लेख किया गया है—**तिलपिशक** (तेली), **औदयन्त्रिक** (पानी खींचने वाले यन्त्रों का निर्माण करने वाले कारीगरों की श्रेणी), **कुलरिक** (कुम्हार) तथा **कोलिकनिकाय** (जुलाहों की श्रेणी)। जुन्नर की गुहाओं के निकट इस प्रकार की तीन श्रेणियाँ **धंञिक** (अनाज के व्यापारी), **वंशकर** (बाँस का काम करने वाले) तथा **कंसकार** (ठठेरे) थे। ये श्रेणियाँ उस समय न केवल कारीगरों से सम्बद्ध विषयों की व्यवस्था करती थी अपितु वे वर्तमान समय के बैंकों का कार्य करती थी। इनमें कोई भी व्यक्ति धन-राशि जमा करके उस पर सूद ले सकता था। उस समय कई बार इन श्रेणियों के पास स्थायी रूप से धन-राशि जमा कर दी जाती थी, इसे अक्षय-नीवि कहा जाता था। उषवदात ने कुलिक-निगम के पास ऐसी दो धन-राशियाँ स्थायी रूप से जमा की थी जिनके सूद से भिक्षुओं को वस्त्र और अन्न दिये जा सकें। उषवदात ने महान् सेनापति होते हुए भी इस दान की व्यवस्था स्थानीय राज्य-कोष में न करके जुलाहों की श्रेणी में की थी क्योंकि साम्राज्यों का उत्थान-पतन होता रहता था, किन्तु श्रेणी सदैव बनी रहने वाली संस्था थी। उषवदात्त के इस अभिलेख से सूद की दर पर भी प्रकाश पड़ता है। एक अक्षयनीवि पर उसे एक श्रेणी ने बारह प्रतिशत तथा दूसरी श्रेणी ने नौ प्रतिशत की दर से वार्षिक ब्याज देने की व्यवस्था की थी।

(घ) **विदेशी व्यापार**—सातवाहनों की एक बड़ी विशेषता **उद्योग-धन्धों** के विकास के कारण नवीन मण्डियों और नगरों का निर्माण था। उस समय के **बड़े** व्यापारिक नगर प्रतिष्ठान (पैठन), तगर (तेर), जुन्नार, करहाटक (कराड़ी), नासिक,

गोवर्धन और वैजयन्ती (वनवासी) थे। पूर्वी दक्खिन की सबसे बड़ी मण्डी धान्य-कटक या आधुनिक घरणीकोट थी।

पश्चिम के साथ समुद्री व्यापार मे भी इस समय बड़ी वृद्धि हुई। प्लिनी, स्ट्रेबो तथा पेरिप्लस के विवरणो से इस पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। नासिक, कान्हेरी, कार्ला, कुड़ा, भाजा और बेड़सा के अभिलेख इस व्यापार की पुष्टि करते है। पश्चिम के साथ इस व्यापार का बड़ा कारण सातवाहनो द्वारा स्थापित शान्ति तथा रोमन साम्राज्य का उत्कर्ष था। इस व्यापार को प्रोत्साहन देने वाले कारण सिकन्दर द्वारा ईरानी सम्राटो की विशाल सम्पत्ति पर अधिकार करके उसका विभिन्न प्रदेशो मे व्यय करना, सिकन्दरिया के बन्दरगाह का विकास, इसका भारत के साथ व्यापार, १९० ई० पू० मे नील नदी को लाल सागर के साथ जोड़ने वाले मार्ग का खुलना था। इसके अतिरिक्त रोमन लोग स्थलीय मार्ग की अपेक्षा समुद्री मार्ग को अधिक पसन्द करते थे। यूनानी नाविक हिप्पलास ने पहली श० ई० के मध्य मे मानसून हवाओ के नियमित रूप से चलने के नियम की खोज की थी। इससे रोमन साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार बीस गुना बढ गया। मानसून हवाओं का लाभ उठाकर समुद्री जहाज अदन से सीधे भारत के पश्चिमी तट के बन्दरगाहो पर आने लगे। इसके परिणामस्वरूप समुद्री यात्रा मे लगने वाला समय कम हो गया, जहाज खुले समुद्र को सीधे पार करने लगे, वे समुद्र-तटो के निकट रहने वाले जलदस्युओ द्वारा की जाने वाली लूटपाट से सुरक्षित हो गये। इन सब कारणो से रोम के साथ इस समय भारत का व्यापार चरम शिखर पर पहुच गया और रोमन साम्राज्य से प्रभूत मात्रा मे सोना और सोने के सिक्के भारत आने लगे। पन्द्रवे अध्याय मे इसका विस्तृत वर्णन किया जायगा।

उन दिनो पश्चिमी देशो से आने वाले जहाज लाल सागर से होते हुए अरब समुद्र तट पर काने नामक स्थान पर आते थे। यहाँ से भारत के लिये तीन जल-मार्ग थे। कुछ जहाज सिन्धु नदी के मुहाने की ओर उत्तर मे चले जाते थे। अन्य जलपोत भरुच (या बेरीगाजा) जाते थे और कुछ जहाज सीधे मलाबार तट के बन्दरगाहो मे जाया करते थे। सातवाहनो का सम्बन्ध पश्चिमी भारत के समुद्र-तट के साथ था और यहाँ सबसे बडा बन्दरगाह भरुकच्छ था। उन दिनों यह उत्तरी और पश्चिमी भारत की व्यापारिक वस्तुओ की सबसे बड़ी मण्डी थी। विदेश भेजी जाने वाली वस्तुए, विभिन्न प्रकार के रत्न, मलमल तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थ यहाँ एकत्र किये जाते थे।

पेरिप्लस ने बेरीगाजा से दक्षिण के प्रदेश को दखिनदेस (Dachinadades) अर्थात् दक्षिणापथ कहा है (पं० ४३)। इसके बडे बन्दरगाह निम्नलिखित थे—(१) सोपारक (बम्बई से ८ मील उत्तर मे आधुनिक सोपारा), दिव्यावदान की एक बौद्ध कथा मे इसे पूर्ण नामक व्यापारी का निवास स्थान कहा गया है। इसने पश्चिम मे लाल महासागर तक अनेक समुद्री यात्राए सफलतापूर्वक सम्पन्न की थी। (२) दूसरा बड़ा बन्दरगाह कल्याण था। इसे पुराने अभिलेखो मे कलियण कहा गया है। पेरिप्लस इसे कल्लीना (Calliena) कहता है। यह टेर-पैठन के महत्वपूर्ण स्थलीय महामार्ग की समाप्ति पर महत्त्वपूर्ण समुद्री बन्दरगाह था। सातवाहन साम्राज्य के साथ इसका उत्थान एव पतन हुआ। आरम्भिक सातवाहन राजाओ ने जलदस्युओ का दमन कर इसे महान् बन्दरगाह बनाया, किन्तु जब क्षत्रपो ने सातवाहनो को पहली शताब्दी ई० मे पराभूत किया तो इसका स्थान बेरीगाजा के बन्दरगाह ने ले लिया। महाराष्ट्र की सारी उपज और आयात-निर्यात की वस्तुए कल्याण के स्थान पर नासिक के लम्बे मार्ग से बेरीगाजा पहुचने लगी। इस समय पश्चिमी समुद्र-तट पर सातवाहनो के अन्य बन्दरगाह निम्नलिखित थे—सेमिल्लाह (बम्बई से २५ मील दक्षिण मे चौल), मन्दगोरा (सम्भवत बानकोट), पेलीपतमी (दाभोल), मेलिजिगर (मलयगिरि, आधुनिक राजपुर जिसके निकट कुडा की गुफाए है), बाइजेन्टियम (विजयदुर्ग), तोगरुम (देवगढ), औरन्नोबोस (मालवण), सेसेकीनेयी (वेनगुर्ला की चट्टाने), एजीडाई (गोवा), केर्सोनिसस् (कारवाड) तथा श्वेत द्वीप (पिजन आइलैण्ड)।

पुलुमायि द्वितीय से श्री यज्ञ सातकर्णी तक के युग की एक बडी विशेषता यह थी कि इस समय सुदूर पूर्वी देशो के साथ व्यापारिक सम्बन्धो मे वृद्धि हुई और उपनिवेशीकरण द्वारा बृहत्तर भारत के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। विदेशो मे भारतीयो द्वारा उपनिवेशन के कारणो के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मतभेद है, किन्तु सब इस तथ्य पर सहमत है कि इस समय भारत और पूर्वी देशो के बीच व्यापार मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई, भारतीयो ने जावा, सुमात्रा, हिन्दचीन और मलाया के विभिन्न प्रदेशो मे अपनी बस्तियाँ बसाई। फ्रेन्च विद्वान् फेरा (Ferrand) के मतानुसार यह सम्पर्क ईसा से पहले की दो शताब्दियो और एक अन्य विद्वान् सिदेस (Coedes) के मतानुसार द्वितीय शताब्दी ई० मे हुआ। सम्भवत. ईसा की पहली शताब्दी मे समुद्री व्यापार मे वृद्धि हुई और द्वितीय शताब्दी मे भारतीयो ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न प्रदेशो मे बस्तियाँ बसाई। पेरिप्लस तथा प्लिनी

ने दक्षिण-पूर्वी एशिया अथवा परले हिन्द के प्रदेशो का **सुवर्णभूमि** (Chryse) के नाम से उल्लेख किया है। पेरिप्लस के वर्णनानुसार सुवर्णभूमि और गगा के बीच समुद्री यात्रा **कोलन्डिया** (Colondia) नामक बड़े जहाजो से की जाती थी। चीनी विवरणों के अनुसार दूसरी शताब्दी ई० मे जावा मे एक हिन्दू राजा शासन कर रहा था। टॉलमी (१४० ई०) के समय तक इन देशो के साथ व्यापार में बहुत वृद्धि हो चुकी थी। विदेशी व्यापार और उपनिवेशन मे ताम्रलिप्ति से कावेरी-पट्टनम तक पूर्वी समुद्र-तट पर विद्यमान सभी प्रदेशो के निवासियो ने भाग लिया। यह व्यापार पूर्वी तट के निम्नलिखित बन्दरगाहो से होता था—कन्टकोस्सिल (कण्टक-शैल (आधुनिक घटशाल), कोड्डरा (कृष्णा जिले के बन्दर ताल्लुका मे आधुनिक गुदर का महान और बड़ा बन्दरगाह), अल्लोसिगी (Allosynge)। टॉलमी इसके उत्तर के प्रदेश को समुद्रप्रस्थान पट्टन (Apheterion) अर्थात् सुवर्णभूमि (Golden Chryse) जाने वाले जहाजो के लिये ऐसा केन्द्र मानता है, जहाँ से ये जहाज समुद्र का किनारा छोडकर गहरे समुद्र मे चले जाते थे। चिन्नगज (जिला गुण्टूर) के निकट तीन स्तूपो के अवशेष पाये गये है, इससे तीन मील उत्तर-पूर्व में मोटुपल्ले नामक स्थान को १२वी शताब्दी के एक अभिलेख मे एक बन्दरगाह बताया गया है। दुब्रे उइल के मतानुसार कृष्णा, गोदावरी नदियो के मध्यवर्ती प्रदेश मे व्यापार के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था। मद्रास और कुड्डालोर के बीच में यज्ञ-श्री सातकर्णी की कुछ ऐसी मुद्राए मिली है जिन पर दो मस्तूल वाले जहाज की आकृति बनी हुई है। यह इस समय की जहाजरानी एव समुद्री व्यापार के उत्कर्ष को सूचित करती है।

सातवाहनो के समय व्यापार और उपनिवेशन की प्रक्रिया मे वृद्धि के कई कारण थे। आर्य जाति मे अपनी सस्कृति के प्रसार की पुरानी भावना के साथ-साथ इसका एक बडा कारण यह था कि रोमन साम्राज्य का वैभव बढ़ने के साथ-साथ रोम मे पूर्वी देशो के कालीमिर्च जैसे मसालो, चन्दन, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों की माँग बहुत बढ गई थी। उत्तर-भारत मे शको, यूनानियो और कुषाणो के आक्रमणो के कारण उत्पन्न विक्षुब्ध परिस्थितियो ने साइबेरिया की ओर से भारत मे आने वाले सोने के प्रवाह को रोक दिया था। इसकी पूर्ति करने के लिये रोम से स्वर्ण मुद्राओ के रूप मे सोने की माँग बहुत बढ गई। इससे जहाँ एक ओर पश्चिमी देशो के साथ व्यापार को उत्तेजन मिला वहाँ दूसरी ओर रोम से इन सुवर्ण मुद्राओ को पाने के लिये दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो के साथ व्यापार मे वृद्धि हुई। इसमे सन्देह

नही है कि सुवर्णद्वीप के साथ व्यापार की वृद्धि मे एक बड़ा कारण पूर्वी दक्खिन तथा आन्ध्र के प्रदेश में सातवाहनो की शक्ति का विस्तार था और उनके प्रोत्साहन से जावा, सुमात्रा, मलाया आदि देशो के साथ व्यापार मे वृद्धि हुई । अब यहाँ अन्त में उपसहार के रूप मे सातवाहन राजाओ की वशावली का उल्लेख किया जायगा।

सातवाहन राजाओ की पुराणो मे दी गई वशावली

जिन राजाओं का परिचय अभिलेखो, मुद्राओ तथा साहित्य मे मिलता है उनके नामो के आगे क्रमश. अ, मु, और सा के सकेत दिये गये है।

सख्या	नाम	राज्यकाल वर्ष	अभिलेख आदि मे वर्णन	
१	आंध्र सिमुक	२३	अ	सा
२	कृष्ण	१८	अ	
३	श्री सातकर्णी	१०	अ मु	
४	पूर्णोत्सग	१८		
५	स्कन्दस्तम्भी	१८		
६	सातकर्णी द्वितीय	५६	अ मु	
७	लम्बोदर	१८	मु	
८	आपीलक	१२	मु	
९	मेघस्वाति	१८		
१०	स्वाति	१८		
११	स्कन्दस्वाति	७		
१२	मृगेन्द्रसातकर्णी	३		
१३	कुन्तलसातकर्णी	८		सा
१४	सातकर्णी तृतीय	१		
१५	पुलुमायि प्रथम	३६		
१६	अरिष्टकर्ण	२५		
१७	हाल	५		सा
१८	मण्डलक	५		
१९	पुरीन्द्रसेन	५		
२०	सुन्दरसातकर्णी	१		सा
२१	चकोरसातकर्णी	६ मास	मु	सा
२२	शिवस्वाति	२८		

२३	गौतमीपुत्र सातकर्णी	२१	अ मु	स·
२४	पुलुमायि द्वितीय	२८	अ मु	स'
२५	श्री सातकर्णी	२९	अ मु	
२६	शिव श्री पुलुमायि	७	अ मु	
२७	शिव स्कन्द सातकर्णी	३		
२८	श्री यज्ञ सातकर्णी	२९	अ मु	स'
२९	विजय	६	मु	
३०	श्री चण्ड सातकर्णी	१०	अ मु	
३१	पुलुमायि	७	अ मु	

नवाँ अध्याय

सातवाहन साम्राज्य के बाद का दक्खिन

तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में सातवाहन साम्राज्य के क्षीण होने पर दक्खिन के प्रदेश में अनेक स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। आन्ध्र प्रदेश के मध्य भाग में इक्ष्वाकुवंशी राजा शासन करने लगे, महाराष्ट्र, गुजरात और कोंकण के प्रदेशो पर आभीरो की सत्ता स्थापित हुई, विदर्भ मे वाकाटको ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की। दक्षिणी कर्नाटक मे चुटु सातकर्णियो के राज्य का अभ्युदय हुआ। इसके अतिरिक्त बृहत्फलायन, बोधि तथा कोल्हापुर के कुर नामक राजवश भी इसी समय मे स्थापित हुए। इस अध्याय मे इन सबका सक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

वाकाटक वंश के आरम्भिक राजा

सातवाहनो के बाद दक्खिन मे सबसे अधिक प्रतापी और शक्तिशाली साम्राज्य वाकाटक वश के राजाओ ने स्थापित किया। सातवाहन साम्राज्य की समाप्ति पर स्थापित होने वाले अन्य राज्य इक्ष्वाकु, बोधि, आभीर तथा चुटु बहुत छोटे प्रदेशो पर शासन करते थे। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप भी तीसरी शताब्दी ई० के मध्य मे मालवो से पराभूत होने के बाद अपना राज्य-विस्तार करने की क्षमता नही रखते थे। उत्तर भारत मे यद्यपि यौधेय, आर्जुनायन, नाग और मालव स्वतन्त्र हो चुके थे, किन्तु वे विध्य पर्वतमाला पार करके दक्खिन के पठार पर अपनी प्रभुता विस्तीर्ण करने की सामर्थ्य नही रखते थे। २५० ई० के लगभग सातवाहन साम्राज्य के क्षीण हो जाने पर महत्वाकाक्षी व्यक्तियो के लिये दक्खिन मे साम्राज्य-विस्तार का स्वर्ण अवसर था, क्योकि इस समय यहाँ कोई प्रबल शासनसत्ता नही थी। इस परिस्थिति का पूरा लाभ वाकाटको ने उठाया। वाकाटक राजवश के पहले दो राजाओ-विन्ध्य-शक्ति (२५५ से २७५ ई०) तथा प्रवरसेन प्रथम (२७५–३३५ ई०) ने सातवाहन वंश के बाद दक्खिन मे एक विशाल और शक्तिशाली वाकटक साम्राज्य की स्थापना की।

वाकाटक साम्राज्य का महत्व

गुप्त साम्राज्य से पहले वाकाटक साम्राज्य तत्कालीन भारत का सबसे बड़ा राज्य था। डा० जायसवाल ने इसके महत्व का वर्णन करते हुए यह लिखा है कि वाकाटक राजा विन्ध्यशक्ति के पुत्र प्रवरसेन प्रथम ने राज्य के शासन के सम्बन्ध मे एक विशेष प्रकार की कल्पना की थी। इसके अनुसार सम्पूर्ण भारत पर हिन्दुओं का साम्राज्य होना चाहिए था तथा उसमे धर्मशास्त्रों को सम्मान का स्थान दिया जाना चाहिये था। दूसरी बात यह थी कि २५० ई० के लगभग सस्कृत भाषा तथा वाङ्मय की उन्नति के लिए आन्दोलन आरम्भ हुआ और ५० वर्षों में उसके अच्छी स्थिति मे पहुच जाने पर गुप्त राजाओं ने उसे राज्याश्रय दिया। तीसरी बात यह थी कि उस समय वर्णाश्रम धर्म का पुनरुज्जीवन हुआ और सनातन धर्म को विशेष महत्व मिला। वाकाटक साम्राज्य की जनता की यह माँग थी कि कुषाणों के राज्य-काल मे समाज मे जो अवगुण उत्पन्न हो गए थे, उनका परिमार्जन किया जाय। यह हिन्दू समाज की शुद्धि का आन्दोलन था, जिसे सम्राट प्रवरसेन के राज्यकाल मे विशेष बल मिला। चौथी बात यह थी कि वाकाटको के राज्य मे स्थित अजता की गुहाओं मे शिल्पकला तथा चित्रकला का पुनरुज्जीवन हुआ। सस्कृत भाषा के पुनरुज्जीवन के समान हिन्दू कला के इस उत्कर्ष का सम्पूर्ण श्रेय आधुनिक लेखक गुप्त राजाओं को देते है, किन्तु वस्तुतः यह श्रेय वाकाटको को दिया जाना चाहिये।[1]

वाकाटकों का मूल स्थान—इस महत्वपूर्ण एव गौरवशाली साम्राज्य का आविर्भाव और अभ्युदय २५० ईसवी के लगभग हुआ, ३०० वर्ष तक यह भारत का एक प्रतापी राजवश बना रहा, छठी शताब्दी के मध्य तक इसके राजा शासन करते रहे। इस वश के आरम्भिक इतिहास के दो बड़े जटिल प्रश्न, इनका मूल स्थान और तिथिक्रम अभी तक विवादास्पद है। वाकाटक वश के सस्थापक विध्यशक्ति का नाम यह सूचित करता है कि वह या तो विंध्याचल प्रदेश का रहने वाला था अथवा उसने इसे अपनी शक्ति से जीता था, इसी कारण वह विध्यशक्ति कहलाता था। किन्तु उसका पारिवारिक नाम वाकाटक यह सूचित करता है कि वह या तो वाकाट अथवा वकाट नामक किसी व्यक्ति के वंश में हुआ था, अथवा वह इस नाम वाले किसी स्थान पर रहा करता था। पुराणो में वाकाटक वंश के राजाओं के मूल स्थान के बारे मे दो प्रकार के वर्णन मिलते है। विष्णु पुराण में बिदिशा के राजाओं का

१. जायसवाल—हिस्टरी आफ इंडिया, पृ० ६५।

वर्णन करते हुए विध्यशक्ति और उसके पुत्र प्रवीर द्वारा राज्य करने का उल्लेख मिलता है।[१] इसके आधार पर डा० जायसवाल ने यह कल्पना की थी कि इस वंश को वाकाटक इसलिए कहते हैं कि झाँसी जिले में स्थित चिरगाँव के पूर्व में भूतपूर्व ओरछा राज्य का बागाट नामक ग्राम वाकाटको का मूलस्थान वाकाट था। वाकाटक वंश के ब्राह्मण सस्थापक विध्यशक्ति ने यह सार्थक नाम धारण करके अपने मूल स्थान वाकाट के आधार पर अपने वश का नाम वाकाटक रखा।[२] इसके अतिरिक्त श्री जायसवाल ने यह भी कहा है कि कुछ पुराणो में विध्यशक्ति का वर्णन किलकिल अथवा कोलिकिल के बाद किया गया है।[३] उनके मतानुसार कोलिकिल राजा सभवत. भूतपूर्व पन्ना राज्य की किलकिला नदी के किनारे रहने वाले थे और उनका सम्बन्ध आरम्भ मे बघेलखण्ड के प्रदेश से हो सकता है। इस प्रकार उनके मतानुसार वाकाटक वश का मूल स्थान उत्तरी भारत मे बुन्देलखण्ड में बागाट नामक गाँव अथवा पन्ना राज्य था।

किन्तु अधिकांश विद्वानो ने श्री जायसवाल की इस कल्पना को स्वीकार नही किया है।[४] इनके मतानुसार किसी राजा के राज्य का मूलस्थान उसके शिलालेखो से निश्चित होता है। वाकाटको का वर्णन करने वाले अधिकाश शिलालेख दक्षिण भारत मे पाये गये है। इनमे प्राचीनतम शिलालेख आध्र प्रदेश मे गुण्टूर जिले के अमरावती नामक ग्राम मे एक अष्टकोण स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, अक्षरो की बनावट से वह तीसरी शताब्दी ई० का प्रतीत होता है।[५] इसके अतिरिक्त उनके अधिकांश अभिलेख मध्य प्रदेश और बरार (विदर्भ) से मिले हैं। इनसे यह सूचित होता है कि वाकाटको का मूलस्थान विदर्भ का प्रदेश था और यहाँ से इन्होंने अपनी शक्ति का प्रसार आरम्भ किया था।

तिथिक्रम—वाकाटक वश के आरम्भिक इतिहास का दूसरा जटिल प्रश्न

---

१ डाइनेस्टीज ग्राफ कलि एज, पृ० ४६–५० –

नृपान् वैदिशिकांश्चापि भविष्यांस्तु निबोधत ।
विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान् ॥

२. जायसवाल–हिस्टरी आफ इंडिया—पृ० ६७ ।

३. डा० क० ए०,—पृ० ७८, ततः कोलिकिलेभ्यश्च विध्यशक्तिर्भविष्यति ।

४. मिराशी—वाकाटक राजवंश का इतिहास तथा अभिलेख, पृ० ११-२० ।

५. मिराशी – पूर्वोक्त पुस्तक ।

तिथिक्रम-विषयक है। पहले यह बताया जा चुका है कि कुछ विद्वानों के मतानुसार २४८–४९ ई० से आरम्भ होने वाला चेदि-सवत् वाकाटक वश की स्थापना को सूचित करने के लिये चलाया गया था। यदि यह कल्पना सत्य हो तो हमे यह मानना पड़ेगा कि वाकाटक अपने सरकारी दस्तावेजो, अभिलेखो, दानपत्रो मे इस सवत् का प्रयोग करते होगे, किन्तु अभी तक हमे वाकाटक राजाओ का ऐसा एक भी लेख या दानपत्र नही मिला है, जिसमे चेदि-सवत् का प्रयोग किया गया हो। इनके सभी दानपत्रो मे दान देने वाले राजा के राज्यकाल के वर्ष का ही उल्लेख है, अत. यह मत सर्वथा अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है कि वाकाटको का अभ्युदय २४८–४९ ई० मे हुआ, क्योकि उन्होने इसी समय से चेदि संवत् का प्रवर्तन किया था।[1]

डा० अल्तेकर ने वाकाटको का तिथिक्रम वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय की रानी प्रभावती गुप्ता की ज्ञात तिथि के आधार पर दिया है। प्रभावती ३७५ से ४१४ ई० तक शासन करने वाले गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की कन्या थी। यह अपने जीवन मे जल्दी ही विधवा हो गई थी। इसके पुत्र ने ४१० ई० मे शासन की बागडोर सम्भाली थी। रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु समवत ३९० ई० में ५ वर्ष के लघु शासन काल के बाद हुई थी। उसके पिता पृथ्वीषेण ने काफी लम्बे समय तक शासन किया था और उसका शासन-काल ३६० से ३८५ ई० था। इस राजा से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वाकाटक दानपत्रो में यह कहा गया है कि यह राजवश उसके राज्यारोहण (३६० ई०) मे १०० साल पहले से शासन कर रहा था।[1] अत इस वश के संस्थापक का राज्यकाल डा० अल्तेकर ने २५५–२७५ ई० निश्चित किया है। उसके पुत्र प्रवरसेन के शासनकाल के बारे मे पुराण यह कहते है कि उसने ६० वर्ष तक शासन किया था। उसके अभिलेख भी यह बताते है कि उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र नही वरन् पौत्र था। अत प्रवरसेन का राज्यकाल २७५–३३५ ई० तक माना जाता है।[2]

विध्यशक्ति (२५५–२७५ ई०)—वाकाटक वश के सस्थापक विध्यशक्ति का मूल स्थान समवत विदर्भ का प्रदेश था। पुराणो मे इसकी राजधानी पुरिका कही गई है। मार्कण्डेय पुराण (१०७।४८) मे इसका उल्लेख विदर्भ (बरार) और अश्मक के साथ किया गया है। अतः वाकाटक राज्य का मूल स्थान बरार को ही

---

१. ए० इं० ख० ३, पृ० २६१—**समुदितस्य वर्षशतमभिवर्धमानकोषदण्डसाधन-सन्तानपुत्रपौत्रिणः।**

२. वा० गु० ए०।

मानना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि विंध्यशक्ति इस वंश के संस्थापक का वैयक्तिक नाम नही था, अपितु एक उपाधि थी। यह उपाधि इसे शायद इसलिए दी गई थी कि इसने विंध्य पर्वतमाला के प्रदेशो को अपनी शक्ति से जीता था। आरम्भ में यह सभवत पहले सातवाहनों की ओर से बरार के एक दो जिलो का शासक था। इस साम्राज्य के क्षीण होने पर इसने विध्य पर्वतमाला के प्रदेशो को और इसके उत्तर में मालवा के प्रदेश को जीता था। इसीलिए पुराणो मे विंध्यशक्ति को विदिशा के अर्थात् पूर्वी मालवा के राजाओ मे गिना जाता है।

विध्यशक्ति का वर्णन अजन्ता की १६वी गुहा के लेख मे पाया जाता है। इस अभिलेख मे विध्यशक्ति की बडी महिमा गाई गई है--"उसने बड़े-बडे युद्धो मे विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति मे वृद्धि की। उसके क्रुद्ध होने पर साक्षात् देवता भी उसकी शक्ति का निराकरण नही कर सकते थे। उसके घोडो की टापो से उडी धूल से आकाश मे सूर्य भी आच्छन्न हो जाता था। उसके शौर्य से पराभूत शत्रु उसके सम्मुख विनम्र हो जाते थे। वह इन्द्र के समान प्रभावशाली था। अनेक राजा उसके चरणो पर नतमस्तक होते थे। वह वाकाटक राज्य का प्रवर्तक और मानचिह्न था।"[1] इसी लेख मे इसे द्विज या ब्राह्मण कहा गया है। जिस प्रकार शुग और कण्व वशो के सस्थापक ब्राह्मण थे, उसी प्रकार वाकाटक वंश का सस्थापक विध्यशक्ति भी ब्राह्मण था। डा० अल्तेकर के मतानुसार उसने अपना राज्य-विस्तार वैयक्तिक महत्वाकाक्षा से प्रेरित होकर नही किया था, अपितु इस राज्य की स्थापना मे सभवत उसकी यह अभिलाषा थी कि वह पुराने सनातन वैदिक धर्म को प्रोत्साहित करने वाले एक ब्राह्मण राज्य की स्थापना करे।[2] यह बात उसके पुत्र प्रवरसेन द्वारा किए गए विभिन्न वैदिक यज्ञो से भली भाँति पुष्ट होती है। पुराणो मे विध्यशक्ति का राज्यकाल ९६ वर्ष दिया गया है।[3] किन्तु सभवत ये वर्ष उसके राज्यकाल के

---

१. ए० ई० खण्ड २६, पृ० १४६ महाविमर्दष्वभिवृद्धशक्तिः, क्रुद्धः सुरैरप्यतिवार्यवीर्यं। – – – रणदानशक्तिर्द्विज प्रकाशो भुवि विंध्यशक्तिः॥ पुरन्दरोपेन्द्रसमप्रभावः स्वबाहुवीर्य्या (ज्जि) तस (र्व्वलोक) – – – बभूव वाकाटकवङ्श (वंश) केतु॥ रणेषु हयुं द्धतरेणजालसंछादिताकंस्स च (कर्म) – –। नरातीन् कृत्वा निषाद् प्रवणांश्चकार॥

२. वा० गु० ए०, पृ० ९७–९८।

३. वही, पृ० ९८।

नही, अपितु उसकी आयु के प्रतीत होते है। विंध्यशक्ति ने कोई राजकीय पदवी नही धारण की। डा० अल्तेकर के मतानुसार (वा० गु० ए०) सम्भवत: उसका विधिवत् राज्याभिषेक भी नहीं हुआ था। उसकी राज्य स्थापना के कार्य की तुलना में उसके यशस्वी पुत्र प्रवरसेन के शौर्यपूर्ण कार्य अधिक गौरवशाली थे। अत: सामान्य रूप से वाकाटक दानपत्रो में हमे विंध्यशक्ति का उल्लेख नही मिलता है, केवल अजंता की १६वी गुहा में वराहदेव के अभिलेख मे इसका वर्णन पाया जाता है।

सम्राट् प्रवरसेन प्रथम (२७५–३३५ ई०)—यह विंध्यशक्ति का पुत्र था और पिता की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा। इस वश का यही एकमात्र ऐसा राजा है कि जिसने सम्राट् की उपाधि धारण की थी। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते है कि इसने अपने राज्य का विस्तार अन्य राजाओ की अपेक्षा अधिक किया था और दक्खिन के पठार मे वाकाटकों की प्रभुता विस्तीर्ण करने मे बड़ी सफलता प्राप्त की थी। यह इस वश का सर्वश्रेष्ठ राजा है। इसके सम्बन्ध मे पुराणो और अभिलेखों मे यह बात कई बार दुहराई गई है कि उसने चार अश्वमेध यज्ञ किए। ये यज्ञ उसके साम्राज्य-विस्तार के सूचक थे। किन्तु पुराण और अभिलेखो मे उसके साम्राज्य-विस्तार के शौर्यपूर्ण कृत्यो का विस्तृत वर्णन नही मिलता है। इस विषय मे डा० अल्तेकर ने एक बडी मनोरजक कल्पना की है। उनका यह कहना है कि प्रवरसेन को अपने पिता से विदर्भ का ही थोड़ा सा प्रदेश मिला था। उसने शनै-शनैः चारो दिशाओ मे अपने राज्य का विस्तार किया। उसके द्वारा चार अश्वमेध यज्ञो का किया जाना यह सूचित करता है कि उसने चार बार अपने बडे सैनिक अभियान और आक्रमण सफलतापूर्वक सम्पन्न किए और इनके पूरा होने पर उसने चार बार अश्वमेध यज्ञ किए। इनमे से पहला आक्रमण पूर्व दिशा मे किया गया था। इसमे पुराने मध्यप्रदेश के पूर्वी और उत्तर-पूर्वी जिलों का जबलपुर और बालाघाट तक का इलाका वाकाटक साम्राज्य मे मिलाया गया। इस प्रदेश की विजय के पश्चात् संभवतः इसका शासक उसने अपने एक लड़के को बनाया होगा। दूसरी चढाई मे उसने दक्षिण के प्रदेशो में, विशेषत दक्षिणी विदर्भ तथा भूतपूर्व निजाम राज्य के उत्तर-पश्चिमी भाग अजता के प्रदेश को जीता होगा। वाकाटक अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि यह प्रदेश इन राजाओ के शासन में था और प्रवरसेन का लड़का सर्वसेन यहाँ शासन कर रहा था। अतः इस प्रदेश को वाकाटक राज्य में सम्मिलित करने का श्रेय प्रवरसेन को ही दिया जाना चाहिये। यह असभव नही है कि उसने इससे भी अधिक दक्षिण के प्रदेशो को जीता हो। श्रीशैलस्थल-माहात्म्य नामक

ग्रन्थ में इस अनुश्रुति का वर्णन है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त की चन्द्रावती नामक एक कन्या कृष्णा नदी पर कुरनूल जिले में अवस्थित श्रीशैल के देवता मल्लिकार्जुन की पूजा के लिए चमेली के फूलों का हार प्रतिदिन चढाया करती थी। डा० अल्तेकर के मतानुसार चन्द्रावती वाकाटक वंश की रानी प्रभावती गुप्ता का ही विवाह से पहले का नाम है। यदि यह अनुश्रुति सत्य हो तो हमे यह मानना पडेगा कि श्रीशैल वाकाटक राज्य में सम्मिलित था और प्रवरसेन ने भूतपूर्व निजाम के हैदराबाद का अधिकाश भाग जीत लिया था। इन सब प्रदेशों पर शासन का कार्य प्रवरसेन ने अपने दूसरे पुत्र को सौंपा था। इसने आध्र प्रदेश मे इक्ष्वाकुओ के बाद वाकाटको की सत्ता सुदृढ की होगी। इसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि उस समय इसका प्रतिरोध करने के लिए कोई भी शक्ति नही थी। उसकी तीसरी चढाई बघेलखण्ड और छत्तीसगढ के प्रदेश पर हुई होगी। डा० अल्तेकर की यह भी कल्पना है कि गुजरात और काठियावाड के शक क्षत्रप प्रवरसेन के पडोसी थे। यह समव है कि उसने अपने समकालीन क्षत्रप रुद्रसिह द्वितीय और रुद्रदामा द्वितीय पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। सभवत इसी कारण इन्होंने ३३२–३४८ तक के वर्षों मे महाक्षत्रप की उपाधि नही धारण की। इस विषय मे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है, फिर भी यह कल्पना प्रवरसेन द्वारा सम्राट की उपाधि धारण करने और चार अश्वमेध करने के आधार पर की गई है। यह कहा जाता है कि ३०४ ई० मे जिस नए शक राज्य की स्थापना रुद्रसिह द्वितीय ने की थी, वह सभवत प्रवरसेन के सहयोग से हुई थी। उसका पिता विघ्यशक्ति क्षत्रपो को मालवा के कुछ हिस्सो से निकाल चुका था, अत प्रवरसेन ने यहाँ अपने राज्य-विस्तार के लिए साम्राज्यवादियों द्वारा अपनाई जाने वाली सुप्रसिद्ध नीति का आश्रय लिया, राजगद्दी के वास्तविक अधिकारियो—भर्तृदामा और उसके पुत्र विश्वसिह की तुलना मे एक नए व्यक्ति रुद्रसिह द्वितीय को सहयोग दिया, ताकि वह गद्दी पाने पर उसका वशवर्ती बना रह सके। यही कारण है कि उसने क्षत्रप की ही उपाधि धारण की और वह वाकाटकों का सामन्त बन गया। इसकी पुष्टि छिंदवाड़ा (मध्यप्रदेश) मे मिली क्षत्रप मुद्राओ से भी होती है।[1] यह प्रदेश क्षत्रप राज्य मे नही था। यहाँ क्षत्रप मुद्राओं का बडी सख्या में मिलना और इन मुद्राओ मे रुद्रसिह द्वितीय तथा यशोदामा द्वितीय की मुद्राओं का होना यह सूचित करता है कि ये दोनों प्रवरसेन के करद सामत थे और अपनी मुद्राओ के रूप मे उसे अपनी वश्यता सूचित करने के लिए मुद्राओं की भेंट भेजा करते थे। इसीलिए ये मुद्राए

१. न्यू मिस्मेटिक सप्लीमेंट, ४७, ६७ तथा वा० गु० ए० पृ० ५८–५६।

वाकाटकों के प्रदेश में मिली है। किन्तु डा० मिराशी ने अल्तेकर के इस मत को अस्वीकार करते हुए यह कहा है कि यद्यपि यह बात सत्य है कि उपर्युक्त क्षत्रपों ने इस काल में महाक्षत्रप की उपाधि धारण नहीं की, किन्तु इसका यह कारण था कि इसी समय के लगभग मध्य भारत में श्रीधर वर्मा नामक राजा का अभ्युदय हुआ। उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करके मालवा में पश्चिमी क्षत्रपों की सत्ता का अन्त कर दिया।[1]

प्रवरसेन के साम्राज्य की सीमाओं का ठीक-ठीक निर्धारण करना संभव नहीं है, फिर भी इस विषय में श्री अल्तेकर का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि प्रवरसेन की उपलब्धियाँ वास्तव में बड़ी महत्वपूर्ण थीं और इनके कारण उसका सम्राट् की उपाधि धारण करना सर्वथा न्यायोचित था। विदर्भ के छोटे से राज्य की स्थिति से उन्नति करते हुए वह एक ऐसे महान् साम्राज्य का शासक बना जिसमें उत्तरी महाराष्ट्र, बरार, नर्मदा नदी के दक्षिण का मध्य प्रदेश, हैदराबाद राज्य का एक बड़ा भाग सम्मिलित था और ये सब प्रदेश सम्राट के अथवा उसके पुत्रों के प्रत्यक्ष प्रशासन में थे। इसके अतिरिक्त दक्षिणी कोसल, बघेलखण्ड, मालवा, गुजरात और काठियावाड के प्रदेश उसके प्रभाव-क्षेत्र में थे। इस प्रकार दक्खिन के पठार का अधिकांश भाग और इसके साथ लगे हुए अनेक प्रदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे और वह सम्राट् की उपाधि धारण करने के लिये सर्वथा उपयुक्त था।

श्री जायसवाल के मतानुसार प्रवरसेन लगभग समूचे भारत का सर्वोच्च अधीश्वर था।[2] यह कल्पना इस आधार पर की गई है कि उसके एक पुत्र ने पल्लव वंश की स्थापना की थी और इस प्रकार अपने पुत्र के माध्यम से वह दक्षिण भारत का भी शासक था। किन्तु यह कोरी कल्पना है। इसे पुष्ट करने के लिये कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए है। प्रवरसेन द्वारा उत्तर प्रदेश की विजय के लिए मथुरा के कुछ सिक्कों का प्रमाण उपस्थित किया गया है। जायसवाल के मतानुसार इन मुद्राओं में से एक पर प्रवरसेनस्य का लेख और ७६ वर्ष की संख्या का निर्देश है और दूसरे पर रुद्र का लेख और १०० की वर्ष संख्या है। किन्तु डा० अल्तेकर ने यह सिद्ध किया है कि जायसवाल जिसे प्रवरसेन का सिक्का समझते है, वह वस्तुतः वीरसेन की मुद्रा है और ७६ की वर्षसंख्या वस्तुतः कठघरे से घिरे वृक्ष के पत्ते हैं; रुद्रसेन के

---

१ का० इं० इं०, जिल्द ४, प्रस्तावना, पृष्ठ ३८ तथा मिराशी की पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २२।

२. हि० इं०, पृ० ८२–८४।

तथाकथित सिक्के पर रुद्र का लेख न होकर त्रिरत्न की आकृति है, जिसे वे १०० का अंक समझते है वह वास्तव मे स्वस्तिक का चिह्न है।[१] इसके अतिरिक्त इस प्रसंग मे यह भी उल्लेखनीय है कि प्रवरसेन की उपर्युक्त तथाकथित मुद्राए केवल मथुरा मे ही मिलती है। वे वाकाटक राज्य के केन्द्रीय भाग मे कही नही मिली हैं। यदि प्रवरसेन ने वस्तुत इन्हें ढलवाया होता तो ये इन प्रदेशो मे अवश्य मिलती। इसी प्रकार जायसवाल के इस मत की भी कोई पुष्ट साक्षी नही है कि प्रवरसेन ने किसी समय पजाब जीता था और कुषाणो को भारत से अफगानिस्तान मे ढकेल दिया था। हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नही है कि प्रवरसेन के आक्रमणो से सुरक्षा पाने के लिए कुषाणो ने ईरान के सासानी सम्राटो की प्रभुता स्वीकार करना अधिक अच्छा समझा। वस्तुत उन पर सासानी आधिपत्य २५० ई० मे उसी समय मे स्थापित हो चुका था जब कि प्रवरसेन का सभवत जन्म भी नही हुआ था।

किन्तु दक्षिण भारत, उत्तर प्रदेश और पजाब पर प्रभुत्व न होने पर भी प्रवरसेन की विजयो का महत्व कम नही होता है। वह लगभग समूचे दक्षिण का सर्वोच्च अधिपति और सम्राट् था। धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति होने से उसने वैदिक धर्म को प्रबल सरक्षण प्रदान किया। उसने अनेक श्रौत याग किये, पुराणो मे उसके वाजपेय यज्ञ का तथा उसमे उसके द्वारा दी गई बहुमूल्य दक्षिणाओ का विशेष निर्देश किया गया है। वाजपेय यज्ञ के अनुष्ठान के बाद उसने सम्राट् की सम्मानित उपाधि धारण की थी। उत्तर अथवा दक्षिण भारत के किसी अन्य राजा द्वारा इस उपाधि के धारण करने का वर्णन नही मिलता है। वर्धा जिले की हिगणघाट तहसील के जाम्ब नामक ग्राम से प्राप्त प्रवरसेन द्वितीय के ताम्रपट्ट मे यह कहा गया है कि उसने अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, बृहस्पतिसव, साद्यस्क तथा चार अश्वमेधो का अनुष्ठान किया था। पूर्ववर्ती राजाओं की भाँति उसने अपनी धर्मविजय की सूचक **धर्ममहाराज** की उपाधि धारण की थी। पहले यह बताया जा चुका है कि अल्तेकर के मतानुसार चार अश्वमेध यज्ञ सभवत चार विभिन्न सैनिक विजयो की समाप्ति पर किये गये थे।

प्रवरसेन के चार पुत्र थे । इन्हें उसने अपने विस्तृत साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तो का शासक नियत किया था, किन्तु ये पिता की मृत्यु के बाद स्वतन्त्र हो गए और साम्राज्य की केन्द्रीय सत्ता निर्बल पड गई। इनमे से सबसे बडा लडका गौतमीपुत्र अपने पिता से पूर्व ही दिवगत हो गया था। दूसरे पुत्र सर्वसेन ने दक्षिणी बरार

---

१ ज० न्यू० सो० इं० खण्ड ५, पृष्ठ १३ ।

मे इस राजवश की एक शाखा की स्थापना की और इसका राज्य ५०५ ई० तक बना रहा। प्रवरसेन के अन्य दो पुत्रो के नाम ज्ञात नही हैं। वे सभवत इसके साम्राज्य के अन्य प्रदेशो मे शासन किया करते थे। मिराशी के मतानुसार इनमे से एक ने सभवत. कृष्णा नदी की घाटी मे उत्तर कुतल पर राज्य किया और दूसरे ने दक्षिण कोसल (छत्तीसगढ) पर अपनी सत्ता स्थापित की। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनो शाखाओ के राज्य शीघ्र ही समाप्त हो गये क्योकि इनके कोई उत्कीर्ण लेख अभी तक नही मिले है।

प्रवरसेन का प्रधानमत्री देव अत्यन्त धार्मिक, विद्वान् और कर्मठ था। इसका वर्णन अजता के पश्चिम मे ११ मील पर स्थित गुलवाडा ग्राम के निकट घटोत्कच गुहा के लेख मे मिलता है।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि इस मत्री के प्रभाव के कारण राज्य सहित सम्पूर्ण राष्ट्र धार्मिक कृत्यो को सम्पन्न करने लगा। प्रवरसेन प्रथम के राज्यकाल मे अनेक वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान इस विद्वान और धर्मशील मंत्री के उपदेश से हुआ होगा।

प्रवरसेन ने पुराणो के वर्णनानुसार ६० वर्ष तक शासन किया। वह इस वश का सबसे प्रतापी और शक्तिशाली राजा था। ३३५ ई० मे जब उसकी मृत्यु हुई उस समय उत्तर भारत मे गुप्त साम्राज्य का प्रसार आरम्भ होने लगा था। प्रवरसेन के बाद यद्यपि वाकाटक वश अगली दो शताब्दियो तक शासन करता रहा, किन्तु वह इतिहास के इस खण्ड का विषय नही है। ५५० ई० के लगभग चालुक्यो ने वाकाटक साम्राज्य के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया।

इक्ष्वाकु वंश

आध्र प्रदेश के कृष्णा तथा गोदावरी जिलो के मुहानो के प्रदेश पर २२५ ई० तक सातवाहन वशी राजाओ का प्रभुत्व बना रहा। इसके बाद यहाँ सातवाहन प्रभुता क्षीण होने लगी। इसे यहाँ से समाप्त करने का श्रेय कृष्णा और गुंटूर प्रदेश में शासन करने वाले इक्ष्वाकुवंशी राजाओ को दिया जाता है। इन राजाओं का अयोध्या मे शासन करने वाले उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध इक्ष्वाकु वश से क्या सम्बन्ध था, इस विषय मे हमे कोई निश्चित ज्ञान नही है। यह वश सभवत. पहले यहाँ सातवाहन राजाओ

---

१. मिराशी—वाकाटक राजवंश का इतिहास, पृष्ठ २७०–७१।
तदात्मजो देव इवास देवः कृती गृहीती धमवान्क्रियावान्।
सराजकं राष्ट्रमुपेत्य यस्मिन्धर्म्याः क्रियाः पार्थ इव प्रचक्रे ॥

के सामन्तो के रूप मे शासन करता रहा था, किन्तु उनकी केन्द्रीय शक्ति निर्बल होने पर इसने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

इक्ष्वाकुवंश के राजाओ का परिचय हमे इनके समय के कुछ अभिलेखो से मिलता है। ये अभिलेख जगय्यापेट (जिला कृष्णा) तथा नागार्जुनीकोण्डा (जिला गुण्टूर) मे मिले है। इनमे केवल शान्तमूल प्रथम, वीरपुरुषदत्त तथा शान्तमूल द्वितीय नामक तीन राजाओ के ही नाम मिलते है। किन्तु पुराणो मे सात श्रीपर्वतीय राजाओं द्वारा शासन करने का उल्लेख मिलता है, श्रीपर्वत नल्लमलूर पर्वतमाला का प्राचीन नाम है और वह इसी प्रदेश मे स्थित है। अत पुराणो मे इक्ष्वाकुवशीय राजाओ को श्रीपर्वतीय आन्ध्र कहा गया है। इनका शासनकाल ५२ वर्ष बताया गया है। शिलालेखो से ज्ञात होने वाले उपर्युक्त तीन राजाओ का शासनकाल भी लगभग आधी शताब्दी ही है।

शान्तमूल प्रथम—यह इक्ष्वाकु वश का प्रथम ज्ञात राजा है। इसने सभवत सातवाहनो की पुरानी राजधानी धान्यकटक के चारो ओर के प्रदेश मे तीसरी शताब्दी के द्वितीय चरण मे अपनी सत्ता स्थापित की। शान्तमूल के पूर्वजो का हमे कोई ज्ञान नही है। डा० अल्तेकर ने लिखा है (वा० गु० ए० पृ० १५) कि यह असभव नही है कि आन्ध्र देश के इक्ष्वाकुवशी राजा अयोध्या के सुप्रसिद्ध इक्ष्वाकु वश की एक शाखा हो और उत्तर भारत से यहाँ आकर बस गये हो। इनकी राजधानी नागार्जुनी-कोण्डा पहाडियो की घाटी मे विजयपुरी नामक स्थान था। शान्तमूल वैदिक धर्म मे अगाध श्रद्धा रखता था तथा स्वामी महासेन या स्कन्द कार्त्तिकेय का उपासक था। उसने वाजपेय, अश्वमेध आदि अनेक यज्ञ किए थे। उन दिनो किसी राजा द्वारा यज्ञ करना अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करना होता था। जिस प्रकार मुस्लिम युग मे अपना सिक्का चलाना तथा शुक्रवार को पढी जाने वाली नमाज़ के बाद दिये जाने वाले भाषण (खुतबे) मे अपना नाम सम्मिलित कराना उनके स्वतंत्र शासक होने का प्रतीक था, उसी प्रकार ईसा की आरम्भिक शतियो मे राजा अपनी स्वतन्त्रता होने की घोषणा अश्वमेध यज्ञ करके किया करते थे। शान्तमूल ने २५० ई० मे सातवाहनो की प्रभुता से मुक्त होकर सभवत अश्वमेध तथा अन्य वैदिक यज्ञ किए होगे। शान्तमूल का वैदिक धर्म का प्रेम और उसका पुनरुज्जीवन बहुत थोडे समय तक ही रहा, क्योकि उसके उत्तराधिकारियो ने हिन्दूधर्म के स्थान पर बौद्धधर्म को सरक्षण प्रदान किया। शान्तमूल की कम से कम दो बहने थी। इनमे से एक का विवाह उसके सामन्त, महासेनापति महादण्डनायक की पदवी रखने वाले पूकीय वंश के

एक व्यक्ति से हुआ। कुछ विद्वानो के मतानुसार पूकीय वर्तमान समय में गुण्डलकम्मा नदी का तटवर्ती पुगी नामक प्रदेश है, जिसमे दक्षिणी गुन्टूर और उसके आसपास के प्रदेश सम्मिलित है। इस राजा की कन्या **अटविशान्तिश्री** का विवाह धनक परिवार के महासेनापति महादण्डनायक से हुआ था। इक्ष्वाकुओ के वैवाहिक सम्बन्ध सभवत: हिरण्यको से भी थे, ये कड़प्पा ज़िले के जम्मलमदुग नामक ताल्लुके (हिरण्यराष्ट्र) मे रहा करते थे।

वीरपुरुषदत्त—तीसरी शताब्दी के तृतीय चरण मे शान्तमूल के बाद उसका पुत्र माठरीपुत्र वीरपुरुषदत्त गद्दी पर बैठा। इसने कम से कम बीस वर्ष तक शासन किया। इक्ष्वाकु वश के राजाओ मे बुआ की लडकी के साथ विवाह करने की परिपाटी प्रचलित थी, अत. वीरपुरुषदत्त की तीन रानियाँ उसकी बुआ की लड़कियाँ थीं। इस राजा की एक अन्य रानी रुद्रधर-भट्टारिका उज्जैन के शक महाराज की कन्या थी, जो सभवत महाक्षत्रप रुद्रसेन द्वितीय (२५४–२७४ ई०) था। वीरपुरुषदत्त ने अपनी कन्या का विवाह वनवास प्रदेश के महाराज से किया था। यह वर्तमान समय मे उत्तरी कनारा जिले मे वनवासी नामक स्थान है। इक्ष्वाकु राजा का दामाद सभवत. चुटू परिवार का शासक रहा होगा। उज्जैन और वनवासी के राजघरानो के साथ उपर्युक्त वैवाहिक सम्बन्धो के कारण वीरपुरुषदत्त की स्थिति सुदृढ हुई होगी और उसकी प्रतिष्ठा अधिक बढी होगी।

वीरपुरुषदत्त के राज्यकाल के अनेक अभिलेख अमरावती, जगय्यापेट और नागार्जुनीकोण्डा से मिले है। इनमे राजा के राज्यकाल के २८ वर्ष तक का उल्लेख है। ये अभिलेख कुछ बौद्ध मन्दिरो के लिये दिए गए दानो का वर्णन करते है। नागार्जुनीकोण्डा के लेखो मे राजधानी विजयपुर के निकट बौद्ध महाचैत्य मे इक्ष्वाकु राजवश की स्त्रियो द्वारा ही अधिकाश दान दिये जाने का वर्णन है। ये सभी स्त्रियाँ बौद्ध धर्मावलम्बी है, किन्तु हमे वीरपुरुषदत्त के धर्म का कोई निश्चित ज्ञान नहीं है। चूकि अभिलेख मे उसे शान्तमूल की भाँति वैदिक यज्ञो का अनुष्ठान करने वाला नही बताया गया है, अत. यह अनुमान असभव नही प्रतीत होता है कि शान्तमूल प्रथम के उत्तराधिकारी उसकी भाँति कट्टर हिन्दू नही, अपितु बौद्ध धर्मानुयायी थे।

शान्तमूल द्वितीय—वीरपुरुषदत्त के बाद उसका पुत्र एहुवुल शान्तमूल राजगद्दी पर बैठा, इसने कम से कम ११ वर्ष तक शासन किया। गुरजला अभिलेख में रुलपुरुषदत्त नामक राजा का वर्णन है।[1] इस लेख की लिपि तथा प्राप्ति के स्थान

१. ए० इं० खण्ड २६, पृ० १–२३।

से यह प्रतीत होता है कि यह इक्ष्वाकु राजा वीरपुरुषदत्त से कुछ सम्बन्ध रखता था। संभवतः यह शान्तमूल द्वितीय का उत्तराधिकारी था। इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का शासन तीसरी शताब्दी ईसवी के अन्त मे समाप्त हो गया। इसकी सूचना हमे मयिद-वोलु के लेख से मिलती है,[1] जिसमे काची के पल्लववशी युवराज शिवस्कन्द वर्मा ने धान्यकटक (गुटूर जिले मे अमरावती-धरनीकोट का प्रदेश) मे रहने वाले आन्ध्रपथ के प्रान्तीय शासक को एक आदेश भेजा है। इसमे यह प्रतीत होता है कि तीसरी शताब्दी ई० के अन्त मे यहाँ पल्लवो का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था।

इक्ष्वाकु वश के राजाओं का स्वतन्त्र राज्य समाप्त होने पर भी ये संभवतः बहुत दिनो तक इस प्रदेश मे स्थानीय रूप से शासन करते रहे। उत्तरी मैसूर मे शासन करने वाले केकय वश के पाँचवी शताब्दी ईसवी के एक लेख मे इस बात का वर्णन है कि केकय राजाओ मे तथा इक्ष्वाकु वश के राजर्षियो मे वैवाहिक सम्बन्ध थे। ये इक्ष्वाकु समवत. शान्तमूल प्रथम के वशज थे। इस विषय मे डा० अल्तेकर ने अयोध्या के इक्ष्वाकु तथा गिरिव्रज और नन्दीग्राम (पंजाब) के केकयो मे वैवाहिक सम्बन्धो की ओर हमारा ध्यान खीचा है।[2]

इक्ष्वाकुवशी राजाओ का अल्पकालीन शासन इस प्रदेश मे बौद्ध धर्म के प्रबल उत्कर्ष का समय था। यद्यपि शान्तमूल हिन्दूधर्म का भक्त था, किन्तु उसका पुत्र और पौत्र बौद्ध थे। उन्होने नागार्जुनीकोण्डा को बौद्ध धर्म और कला का सुप्रसिद्ध केन्द्र बनाया। इस समय राजपरिवार के सदस्यो ने तथा अन्य व्यक्तियो ने निर्वाण की सुख-प्राप्ति के लिए अनेक बौद्ध स्तूपो, स्तम्भो, मठो और विहारो का निर्माण करवाया। स्त्रियो ने इन कार्यो के लिये महान् दान दिये। इनमे शान्तमूल प्रथम की बहन शान्तिश्री, वीरपुरुषदत्त की रानी भट्टिदेवी और उपासिका बोधिश्री के नाम उल्लेखनीय है। उन दिनो नागार्जुनीकोण्डा देश विदेश मे बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था, यहाँ लका तथा अन्य देशो से आने वाले भिक्षुओ तथा भिक्षुणियो के निवास-स्थान की व्यवस्था की जाती थी। उस समय इस प्रदेश मे बौद्ध धर्म के उत्कर्ष का कारण नागार्जुनीकोण्डा का व्यापारिक महत्व, विदेशी व्यापार मे लगे हुए यहाँ के व्यापारियो का वैभव तथा राजकीय सरक्षण था, किन्तु पल्लव राजाओ का यहाँ आधिपत्य स्थापित होने पर यह स्थिति बदल गई।

१. ए० इं० खण्ड ६, पृ० ८६।
२. वा० गु० ए० पृ० ६७–६८।

बृहत्फलायन वंश

आन्ध्र प्रदेश मे सातवाहन साम्राज्य की प्रभुता से मुक्त होने वाला दूसरा राज्य बृहफलायन था। यह कृष्णा जिले में वर्तमान मछलीपट्टम प्रदेश के आसपास था। दूसरी शताब्दी ई० के मध्य में यूनानी भौगोलिक टालमी के वर्णनानुसार यहाँ मैसोलोई (Maisoloi) नामक एक जाति रहती थी। इनकी राजधानी पितुन्द्र नामक नगर बताया जाता है। हाथीगुम्फा अभिलेख मे जिस पिथुण्ड नगरी का वर्णन है, वह सभवत. यही थी। तीसरी शताब्दी ई० के अन्तिम भाग में हमे यहाँ शासन करने वाले महाराज जयवर्मा का परिचय इस राजा द्वारा अपने राज्यकाल के १०वे वर्ष मे प्रचारित किए गए कोण्डमुडिके दानपत्र से होता है। यह कुडूर नामक सैनिक शिविर से कुडूर जिले के शासक के नाम निकाला गया एक आदेश है, इसमे उसे कुछ ब्राह्मणो को एक विशेष भूप्रदेश देने के लिये कहा गया है। अधिकाश विद्वानो ने इस कुडूर नगर को बृहफलायन वश के राजा जयवर्मा की राजधानी माना है और इसकी शिनाख्त मछलीपट्टम के निकट गुडुरु नामक स्थान से की है। किन्तु श्री कृष्णराव इसे घण्टशाल (प्राचीन कण्टकशैल अथवा कण्टकशैल, यूनानी कण्टक-स्सुलोस) के निकट कोडुरु नामक स्थान मानते है।[1]

जयवर्मा के अतिरिक्त इससे पहले या बाद के किसी बृहत्फलायन वशी राजा का हमे कोई ज्ञान नही है। सातवाहनो, इक्ष्वाकु तथा पल्लव राजाओं के साथ इनके सम्बन्धो के बारे मे भी हम कुछ नही जानते है। इस विषय मे केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि ये पहले सातवाहनो की तथा इक्ष्वाकुवंशी राजाओ की प्रभुता स्वीकार करते थे। तीसरी शताब्दी के अन्त मे बृहत्फलायन वंश के जयवर्मा ने इक्ष्वाकु राजाओ की पराधीनता के पाश से मुक्त होकर कुछ समय तक स्वतन्त्र रूप में शासन किया, किन्तु शीघ्र ही इस वश को काची के पल्लवो की प्रभुता स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा होगा।

आभीर

आभीर संभवत. एक विदेशी जाति थी। यह पहले पूर्वी ईरान के एक प्रदेश में रहा करती थी और शको का अनुसरण करते हुए उनके साथ-साथ यह भारत में

१. कृष्णराव—अर्ली डाईनैस्टीज आफ आन्ध्र देश, पृ० ३२०–२१।

प्रविष्ट हुई। हिरात और कंधार के बीच मे अबिरवन[1] (Abiravan) नामक स्थान शायद इनकी मूल भूमि रहा होगा। पश्चिमी और मध्य भारत मे आभीरों की अनेक बस्तियाँ थीं। यद्यपि पूर्वी मालवा मे इनकी प्राचीन सत्ता सूचित करने वाला आभीर-बट[2] नामक एक स्थान है, तथापि साहित्यिक साक्षी के अनुसार आभीर पश्चिमी भारत में बसे हुए थे। इनका प्राय शूद्रों के साथ उल्लेख मिलता है। इन दोनों को उस स्थान का निवासी बताया जाता है जहाँ सरस्वती राजस्थान की मरुभूमि मे लुप्त होती है। पेरिप्लस ने भी आभीर देश का एबेरिया (Aberia) के नाम से उल्लेख किया है (अनुच्छेद ४१) तथा टालमी के भूगोल (७।१।५५) मे इस देश को सिन्धु नदी की निचली घाटी और काठियावाड़ के बीच में दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान मे बताया गया है। पुराणो मे आन्ध्रो के उत्तराधिकारी के रूप मे आभीरो के एक राज्य का वर्णन मिलता है। इनका यह राज्य सभवत दक्खिन के पठार के उत्तर-पश्चिमी भाग—उत्तरी कोकण मे अथवा प्राचीन काल के अपरान्त देश मे अवस्थित था।

शको के साथ आभीरो के सम्बन्ध की सूचना हमे कुछ अभिलेखो से मिलती है। इनके अनुसार ये पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो के राज्य मे उच्च पदो पर आसीन थे। उत्तरी काठियावाड मे गुण्डा नामक स्थान से १८१ ई० का एक अभिलेख मिला है।[3] इसमे महाक्षत्रप रुद्रसिह प्रथम के शासनकाल मे सेनापति बापक के पुत्र आभीर सेनानी रुद्रभूति द्वारा एक जलाशय खुदवाने का वर्णन है। ईश्वरदत्त नामक एक महाक्षत्रप की कुछ मुद्राए मिली है। इनमे क्षत्रपो के संवत् के स्थान पर उसके राज्यकाल के पहले दूसरे वर्ष का उल्लेख है।[4] इससे यह सूचित होता है कि उसने क्षत्रप वश के सवत् की पुरानी परम्परा को कुछ समय के लिये समाप्त कर दिया था, दो वर्ष के लिये वह शकराज्य के अधिकाश भाग का शासक बन गया था। इसका नाम महाक्षत्रपो की वशावली मे आने वाले अन्य व्यक्तियों से नहीं मिलता है। उसने अपनी मुद्राओ मे भी क्षत्रपो के सवत् का प्रयोग नही किया है। इससे यह सूचित होता है कि वह शक नही था, किन्तु हमारे पास उसके आभीर होने का

१. ज० न्यू० सो० ई०,—खण्ड ६ पृ० ९४। दिनेशचन्द्र सरकार ने एं० इ० यू० (पृ० २२१) में यही मत प्रकट किया है।

२. पो० हि० ए० ३, पृ० ४५८, २०८।

३. ए० इं० खण्ड १६, पृष्ठ २३५।

४. रैप्सन—ब्रिटिश म्यूजियम कैटलाग ग्राफ आंध्र किंग्स, पृ० १२४।

भी कोई निश्चित प्रमाण नही है। उसके दो वर्ष के शासन-काल को रैप्सन ने २३७–३९ ई० में माना है, किन्तु भंडारकर के मतानुसार उसका समय १८८–१९० ई० मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।[1]

सातवाहनों और शको के उत्तराधिकारी के रूप में हमें केवल एक आभीर राजा माठरीपुत्र ईश्वरसेन का ज्ञान है। इसके राज्यकाल के नवम वर्ष का एक अभिलेख नासिक से मिला है।[2] इसमें इसे शिवदत्त का पुत्र बताया गया है। इस लेख का प्रयोजन गणयक रेभिल की पत्नी तथा गणयक विश्ववर्मा की माता और शक अग्निवर्मा की कन्या विष्णुदत्ता के दान का उल्लेख करना है। इसने त्रिरश्मि पर्वत के मठ मे निवास करने वाले बौद्ध भिक्षुओं मे रुग्ण व्यक्तियो की चिकित्सा के प्रबन्ध के लिये दान दिये थे। इस लेख मे राजा ईश्वरसेन के पिता शिवदत्त के नाम के साथ किसी राजकीय उपाधि का उल्लेख नही है, अत ईश्वरसेन को ही इस प्रदेश मे आभीर राज्य का सस्थापक माना जाना चाहिये। इसका समय तीसरी शताब्दी ई० का मध्य भाग है। कुछ विद्वानो के मतानुसार इसे २४८–४९ ई० मे आरम्भ होने वाले कलचुरि अथवा चेदि सवत् का प्रवर्तन करने का श्रेय दिया जा सकता है। यदि यह बात सत्य हो तो इसका शासन सभवत· उन सभी स्थानो पर विस्तीर्ण था, जहाँ पाँचवी शताब्दी मे इस सवत् का प्रयोग हुआ करता था। ये प्रदेश अपरान्त (उत्तरी कोंकण) तथा लाट (गुजरात मे भड़ोच और नवसारी का प्रदेश) थे। नर्मदा नदी के तट पर माहिष्मती के प्रदेश से आने वाले कलचुरियों ने संभवतः आभीरों के उपर्युक्त प्रदेश को जीतने के बाद इस सवत् का प्रयोग आरम्भ किया था। पुराणो मे यद्यपि ६७ वर्ष तक शासन करने वाले दस राजाओ का वर्णन है,[3] किन्तु अभिलेखों मे केवल ईश्वरसेन का ही वर्णन है।

आभीर चौथी शताब्दी ई० के मध्य तक अपरान्त मे शासन करते रहे। इस शताब्दी मे वनवासी के कदम्ब नामक राजवश के सस्थापक मयूर शर्मा से आभीरो का सघर्ष हुआ। इसका वर्णन चन्द्रवल्ली अभिलेख मे है।[4] इसमे मयूर शर्मा द्वारा बनाए गए एक तालाब (तटाक) का वर्णन करते हुए इस राजा द्वारा त्रैकूट (तेकूड), आभीर (अभिर), पल्लव, पारियात्रिक (पश्चिमी विंध्य तथा अरावली पर्वतमाला का प्रदेश)

१. आ० स० इं० १९१३, पृ० २२७–३०।
२. ए० इं०, खण्ड ८ पृ० ८८।
३. डा० क० ए० पृ० ४५।
४. से० इं० पृ० ४७३।

तथा शकस्थान (पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपों का राज्य) के जीतने का उल्लेख है। इसमे चूकि आमीर और त्रैकूटक राजाओं के नाम अलग-अलग गिनाये गये हैं, अत. इससे यह परिणाम निकाला गया है कि त्रैकूटको ने इस समय आमीरो से उत्तरी कोंकण का कुछ भाग छीन लिया था। त्रैकूटक वंश का नाम अपरान्त की त्रिकूट नामक पहाड़ी के नाम पर पड़ा था, यह सभवतः आमीरो की ही शाखा थी और बाद में इन्होने आमीर राज्य के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया था। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे चौथी शताब्दी ई० के मध्य मे आमीरो का उल्लेख है, किन्तु यह कहना कठिन है कि इसमे कोकण के आमीरो का निर्देश है अथवा पश्चिमी या मध्य भारत के किसी आमीर राज्य का।

बोधि

यह राजवश दक्खिन के पठार के उत्तर-पश्चिमी हिस्से में तीसरी शताब्दी ई० मे शासन करता था। इस वश के कुछ राजाओ के सिक्के हमें मिलते है। ये पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो की मुद्राओ से बहुत साम्य रखते है। इनमें पर्वत अथवा कूट का चिह्न बना होता है। रैप्सन ने इनका विस्तृत वर्णन अपनी ब्रिटिश म्यूजियम की मुद्रा सूची मे किया है।[1] इस प्रकार के कुछ सिक्को पर बोधि अथवा श्रीबोधि का नाम है। यह सभवत. इस वंश का सस्थापक था। यह भी कल्पना की गई है कि यह नाम बोधिवृक्ष को सूचित करता है और यह बताता है कि बोधिवश के राजा बुद्ध के अनुयायी थे। इस वश के अन्य राजाओ के नाम शिवबोधि, श्रीचन्द्रबोधि, वीरबोधि थे। ये बोधिराजा शायद शको और सातवाहनो के उत्तराधिकारी थे।

कोल्हापुर का कुरवंश—कोल्हापुर (महाराष्ट्र) से कुछ ऐसी मुद्राए उपलब्ध हुई है जिनके ऊपर अकित राजाओ के नाम के पीछे "कुर" शब्द आता है। इन मुद्राओ पर इन राजाओ के निम्नलिखित नाम मिलते है—वासिष्ठीपुत्र विलीवायकुर, उसका उत्तराधिकारी माठरीपुत्र शिवलकुर तथा इसका उत्तराधिकारी गौतमीपुत्र विलीवायकुर।[2] रैप्सन के मतानुसार कुर सस्कृत के कुल शब्द का प्राकृत रूपान्तर है। किन्तु श्री दिनेशचन्द्र सरकार के मतानुसार यह एक वश का नाम है। कुछ लेखकों के मतानुसार ये मुद्राए इस प्रदेश मे शासन करने वाले सातवाहन वश की एक शाखा के राजाओ की हैं, किन्तु अन्य विद्वान् इन्हें सातवाहन वंश की प्रधान शाखा के कुछ राजाओ से अभिन्न समझते है। श्री सरकार के मतानुसार अभी तक हमारे पास कोई

---

१. रैप्सन—ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलाग, पृ० २०७।

२.. रैप्सन—ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलाग, पृ० ८६।

ऐसी साक्षी नहीं है जिसके आधार पर कोल्हापुर के राजाओ को सातवाहनवंशी राजाओं के साथ सम्बद्ध किया जा सके। ये सातवाहन साम्राज्य क्षीण होने पर यहाँ शासन करने वाले स्थानीय राजा प्रतीत होते हैं और इसलिए इन्हें कोल्हापुर का कुर राज्यवंशी ही कहना उचित प्रतीत होता है।

कुन्तल का चुटुवंश—प्राचीन काल में उत्तरी कनारा का जिला, मैसूर, बेलगाँव और धारवाड़ जिलों के कुछ अंश कुन्तल देश कहलाते थे। प्राचीन भारतीय साहित्य में सातवाहन राजाओ द्वारा कुन्तल देश में शासन करने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। राजशेखर की काव्यमीमांसा मे सातवाहन नामक कुन्तलनरेश का तथा वात्स्यायन के सुप्रसिद्ध कामसूत्र में कुन्तल सातकर्णी का उल्लेख पाया जाता है। इसके टीकाकार के मतानुसार इसे यह नाम इसलिए दिया गया था कि यह कुन्तल देश में उत्पन्न हुआ था। पुराणों मे दी गई सातवाहन वश के राजाओं की सूची में कुन्तल सातकर्णी को गौतमीपुत्र सातकर्णी से पहला राजा माना जाता है। इन सब प्रमाणों से यह सूचित होता है कि कुन्तल पर सातवाहन वंश का प्रभुत्व था, उन्होंने यह प्रभुत्व संभवत. गौतमीपुत्र सातकर्णी के राज्यकाल के बाद ही स्थापित किया था, क्योंकि इस राजा की नासिक प्रशस्ति मे सातवाहन राज्य के प्रदेशो की गणना करते हुए कुन्तल का उल्लेख नही है। कृष्णा नदी के दक्षिण में अवस्थित इस प्रदेश मे सातवाहनो का पहला लेख वासिष्ठीपुत्र पुलुमायि के समय का मिलता है। अत. सभवत यह प्रदेश पुलुमायि के समय मे सातवाहन साम्राज्य मे सम्मिलित किया गया है। इसकी विजय का श्रेय पुलुमायि को ही दिया जाता है। सातवाहन साम्राज्य क्षीण होने पर तथा कदम्ब राजवश के चौथी शताब्दी में अभ्युत्थान से पहले हमे यहाँ कुछ ऐसे राजाओ के नाम मिलते हैं जो चुटुकुलानन्द अर्थात् चुटुवश को आनन्दित करने वाले राजा थे। जिस प्रकार उत्तर महाराष्ट्र में आभीर वश सातवाहनो का उत्तराधिकारी बना, उसी प्रकार दक्षिणी महाराष्ट्र अथवा उत्तरी कनार्टक मे सातवाहनों का यह वंश स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगा। कुछ ऐतिहासिको ने पुराणों में वर्णित सात आन्ध्र-भृत्य राजाओ से इनकी तुलना की है।[२] इन्हें यह नाम देने का यह कारण प्रतीत होता है कि आरम्भ मे ये राजा आन्ध्रों अथवा सातवाहनों के सामन्त या भृत्य थे

१. दिनेशचन्द्र सरकार—सक्सैसर्ज ग्राफ सातवाहन्स, पृ० १४२।
२. भा० इ० क० जि० २, पृ० ६६७।

और बाद में उनकी सत्ता क्षीण होने पर ये स्वतन्त्र राजा बन गये। इनके विभिन्न अभिलेख निम्नलिखित हैं।

वैजयन्ती (वनवासी) से प्राप्त एक अभिलेख **हारितीपुत्र विष्णुकड़ चुटु-कुलानन्द सातकर्णी** का है।[1] इसे २०० ई० पू० का बताया जाता है। किन्तु श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने इसकी लिपि के इक्ष्वाकु अभिलेखो की लिपि से गहरा सादृश्य रखने के कारण इसका समय तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध माना है। इसमे वर्णित विष्णुकड़ शब्द को किसी स्थान का नाम समझा जाता है और यह कहा जाता है कि यह चुटुकुल पहले विष्णुकड़ नामक स्थान पर रहा करता था, बाद मे शायद यह चुटु नामक स्थान पर शासन करने लगा, अतः उपर्युक्त लेख मे हारितीपुत्र को विष्णु-कड़ चुटुकुलानन्द सातकर्णी कहा गया है। सातवाहनो के साथ सम्बद्ध होने के कारण इनके साथ सातकर्णी का विशेषण जोड़ा गया है। इसमे महाराज की कन्या महा-भोजी (अर्थात् महाभोज की पत्नी) और उसके पुत्र शिवस्कन्द नागश्री (सिक्खन्द नाग श्री) के दान का उल्लेख है। रैप्सन ने इस लेख की महिला एव उसके पुत्र की तुलना कान्हेरी के एक अभिलेख मे वर्णित नागमूला नामक महिला से और उसके पुत्र स्कन्दनाग सात से की है।[2] इसमे नागमूला अथवा नागमूलनिका अपने को महा-रठिनी अर्थात् महारठी की स्त्री, महाभोजी और महाराज की बेटी तथा स्कन्दनाग की माँ बतलाती है। रैप्सन ने दोनो लेख एक ही नागमूलनिका नामक महिला के माने है और यह कहा है कि उसकी माँ महाभोजी और बाप राजा हारितीपुत्र चुटु-कुल सातकर्णी और उसका बेटा स्कन्दनाग था। इन दो अभिलेखो के अतिरिक्त मैसूर राज्य के शिमोगा जिले के मलवल्ली नामक स्थान के एक खम्भे पर दो लेख है।[3] इनमे से पहले मे वैजयन्तीपुर के राजा के एक दान का उल्लेख है, दूसरा अभिलेख पहले के ही नीचे खुदा है। उसमे वैजयन्तीपुर के धर्ममहाराज कादम्बो के राजा द्वारा उसी गाँव के फिर से दिये जाने की बात है, जो पहले शिवस्कन्द वर्मा ने दिया था। इन अभिलेखो के आधार पर चुटुकुल के सातकर्णियो का निम्न-लिखित वशवृक्ष बनाया गया है[4]—

१. इं० ए०, १८८५ पृ० ३३१, रैप्सन—पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ५३, ५४।
२. आ० स० वे० इं० खण्ड ५ पृ० ८६।
३. एपीग्राफिया कर्णाटिका, खण्ड ७, पृ० २५१, ५२।
४. भा० इ० रू० जि० २, पृ० ६६७।

राजा हारितीपुत्र सातकर्णी (महाभोजी)
महारठि (नागमुलनिका)
हारितीपुत्र शिव स्कन्दवर्मा

किन्तु श्री दिनेशचन्द्र सरकार ने उपर्युक्त वशपरम्परा को तथा रैप्सन के मत को ठीक नही माना है। उनका यह कहना है कि वनवासी और कान्हेरी के दोनो अभिलेखों मे दिये गये नाम शिवस्कन्द नागश्री तथा स्कन्दनाग सर्वथा भिन्न व्यक्तियो के नाम है। यदि यह मान लिया जाय कि ये विष्णुकड चुटुकुलानन्द सातकर्णी की लडकी के दो लडके थे तो भी इससे यह सिद्ध नही किया जा सकता कि चुटुकुल वंश ने कान्हेरी के प्रदेश पर अधिकार कर लिया था, क्योकि कान्हेरी के अभिलेख मे राजा और उसके पुत्र के सम्बन्ध की व्याख्या दूसरे ढग से भी की जा सकती है। राजा शिवस्कन्द वर्मा को मलवल्ली के अभिलेखों मे वर्णित शिवस्कन्दवर्मा से मिलाना भी ठीक नही प्रतीत होता है, क्योकि मलवल्ली का चुटु राजा वनवासी अभिलेख के अपने जैसा नाम रखने वाले राजा से लगभग ५० वर्ष बाद हुआ। इसे विष्णुकड चुटु सातकर्णी द्वितीय कहना ठीक होगा। यह पल्लव राजा शिवस्कन्द वर्मा का सामत रहा होगा। उसने अपने स्वामी के नाम पर अपने पुत्र का नाम रखा होगा, क्योकि प्राचीन भारत मे कई राज-परिवारो मे यह परिपाटी पाई जाती थी कि वे अपनी सतान का नाम अपने स्वामी के नाम के अनुसार रखा करते थे।[1] इस सम्बन्ध मे यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कदब वश के सस्थापक मयूर शर्मा को अपना राज्य काची के पल्लव राजा शिव-स्कन्द वर्मा से मिला था।

सातवाहन साम्राज्य की क्षीणता का अन्य देशो के तत्कालीन साम्राज्यो की क्षीणता के साथ एक अद्भुत काकतालीय सयोग दिखाई देता है। जिस समय भारत मे तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में सातवाहन वश का ह्रास हुआ, उसी समय ईरान मे सातवाहनो के साथ उत्कर्ष पाने वाले पार्थव साम्राज्य (Parthian Empire) की समाप्ति हुई तथा २२६ ई० मे इसका स्थान सासानी वश ने ले लिया। इसी प्रकार चीन के इतिहास मे हान सम्राटो का युग (२०५ ई० पू०—२२२ ई०) भारत के सातवाहन युग के प्राय साथ-साथ चला। पश्चिमी जगत मे यूनान का स्थान रोम ने प्राय तभी लिया, जब हमारे यहाँ मौर्यों का स्थान सातवाहनो ने लिया था। २११ ई० में सम्राट् सेवरस के साथ रोम के वैभवपूर्ण युग का अन्त हुआ और

१. दिनेशचन्द्र सरकार—सक्सेसर्स आफ सातवाहन्स, पृ० १७६-७७।

उसके बुरे दिन शुरू हुए। इस प्रकार तीसरी शताब्दी ई० का पूर्वार्ध प्राचीन जगत के इतिहास में एक भारी परिवर्तन-काल था। इन सब परिवर्तनों या राज्यक्रांतियों की जड़ में यदि कोई विश्वव्यापी प्रेरणा थी तो हमें अभी तक उसका ज्ञान नहीं हो सका है।[1] अब अगले अध्याय में दक्षिणी भारत के इस युग के इतिहास का परिचय दिया जायेगा।

---

१. भा० इ० रू०, जि० २, पृ० ६६६।

दसवाँ अध्याय

दक्षिणी भारत

तामिल देश का स्वरूप और इतिहास के स्रोत—कृष्णा तथा तुगभद्रा नदियाँ दक्खिन के पठार को भारत के तिकोने दक्षिणी भाग से पृथक् करती है। इन नदियो के दक्षिण के समूचे प्रदेश का पुराना सामान्य नाम **तामिलकम् (गम्)** अर्थात् तमिल भाषाभाषियो का प्रदेश था। प्राचीन तामिल साहित्य मे इस देश की उत्तरी सीमा के सम्बन्ध मे दो परम्पराए मिलती है। पहली और पुरानी परम्परा के अनुसार इस देश की उत्तरपूर्वी सीमा मद्रास के १०० मील उत्तर-पश्चिम मे तिरुपति पर्वत का पवित्र तीर्थस्थान (वेंगडम) तथा पूर्वी समुद्रतट पर पुलिकट अथवा **पलवेक्कॉडु** है, इसका अर्थ है पुराना बिल्ववन। यह बस्ती उस समय **वडुकड** अर्थात् उत्तर वालो के देश की सीमा को सूचित करती थी। पश्चिमी तट पर तामिल देशकी सीमा माही के बन्दरगाह के दक्षिण मे वडगर नामक स्थान था। परवर्ती अनुश्रुतियो ने इस सीमा को उत्तर मे कुछ अधिक बढा दिया। इसकी उत्तरपूर्वी सीमा उत्तरी पेन्नार नदी पर नैल्लोर थी तथा उत्तर-पश्चिमी समुद्र तट पर यह मगलोर बन्दरगाह के दक्षिण मे चन्द्रगिरि नामक नदी थी।[1] दूसरी शताब्दी ई० मे टालमी ने इस देश का नाम दामिरिके (Damirike) लिखा है। यह तामिलकम का यूनानी रूप प्रतीत होता है। उस समय यहाँ तमिल भाषा का ही प्रचार था। आजकल इस प्रदेश मे तमिल भाषा के अतिरिक्त मलयालम, कन्नड और तेलुगु भाषाये बोली जाती है, तमिल भाषाभाषी प्रदेश काफी सकुचित हो गया। किन्तु नवी-दसवी शताब्दी तक तमिल उपर्युक्त समूचे प्रदेश मे बोली जाती थी, मलयालम का पृथक् भाषा के रूप मे विकास नही हुआ था, कन्नड और तेलुगु बनावट और शब्दकोश की दृष्टि से तमिल के अधिक निकट थीं अत उस समय माही से पुलिकट तक खीची जाने वाली रेखा के दक्षिण मे कन्याकुमारी तक का समूचा त्रिकोण तामिल देश था।

इस प्रदेश के प्राचीन इतिहास को जानने के प्रधान स्रोत तमिल का साहित्य तथा विदेशी लेखकों के विवरण हैं। विदेशी लेखको मे पहली शताब्दी ई० का प्लिनी

---

१. **स्मिथ—अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया, पृष्ठ ४५६।**

(Pliny) तथा पेरिप्लस एवं दूसरी श० ई० का सिकन्दरिया का सुप्रसिद्ध भूगोल लेखक टालमी (१४० ई०) उल्लेखनीय हैं। ये तत्कालीन व्यापारिक और आर्थिक स्थिति पर सुन्दर प्रकाश डालते है। किन्तु दक्षिणी भारत की राजनीतिक स्थिति के ज्ञान का एकमात्र स्रोत प्राचीन तमिल साहित्य है। यह कहा जाता है कि मदुरा मे पाण्ड्य राजाओ ने तमिल भाषा के कवियो और विद्वानो की एक सभा या साहित्यिक संस्था (Academy) को अपना संरक्षण प्रदान किया था। इसे **संगम** कहा जाता था, अत. इस समय विकसित साहित्य को **संगम साहित्य** कहा जाता है। यह तीस हजार पंक्तियो मे लिखा हुआ पद्य साहित्य है और इसके प्रधान ग्रन्थ अष्टसंग्रह (एट्टुत्तोगाई) तथा दशसंकलन (पत्तुप्पाट्टु) और दो महाकाव्य शिलप्पदिकारम् और मणिमेकलै तथा तमिल भाषा का प्रथम व्याकरण तोल्काप्पियम् है।[1] आगे इनका संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। इस अध्याय मे इस साहित्य के आधार पर इस देश की प्राचीन राजनीतिक स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला जायगा। किन्तु इस विषय मे एक बडी कठिनाई यह है कि संगम साहित्य के आरम्भिक ग्रन्थो के तथा शिलप्पदिकारम और मणिमेकलै महाकाव्यो के रचनाकाल के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मतभेद है।

संगम साहित्य के तिथिक्रम के विषय मे मुख्य रूप मे तीन मत है। पहला मत तमिल भाषा के उपर्युक्त ग्रन्थो का समय सातवी-आठवी शताब्दी ईसवी बताता है। दूसरा मत ५वी शताब्दी ईसवी तथा तीसरा मत ईसा की आरम्भिक तीन शताब्दियाँ। पिछली शताब्दी के आरम्भ मे द्रविड भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण लिखने वाले काल्डवेल ने पहले मत की स्थापना की थी। इसकी पुष्टि ज्योतिषशास्त्र के आधार पर की जाती है, क्योकि शिलप्पदिकारम् मे वर्णित एक घटना की तिथि २३ जुलाई ७५६ ईसवी निश्चित की गई है। इस मत का खण्डन इस आधार पर किया जाता है कि यह समय पल्लवो की प्रभुता का है। इस समय चोल, पाण्ड्य और चेर राज्यों की कोई चर्चा नही सुनाई देती है, किन्तु संगम साहित्य मे न केवल इन तीन राज्यो का अत्यधिक उल्लेख है, अपितु पल्लवो का कोई वर्णन नही मिलता है। इसके अतिरिक्त सातवी-आठवी शताब्दियो मे दक्षिण भारत मे शैव और वैष्णव धर्मों का प्रबल उत्कर्ष हुआ। ये बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रति सहिष्णु नही थे, किन्तु संगम साहित्य मे हमे शान्तिपूर्ण धार्मिक वातावरण मिलता है। इसमे हम जैनो तथा बौद्धों को हिन्दू

---

१. नीलकण्ठ शास्त्री—दी कल्चर एण्ड हिस्टरी आफ दी तामिल्स, पृ०-१०। **पिछले तीन ग्रन्थ अब इस युग से बाद के माने जाते हैं।**

धर्म के अनुयायियो के साथ पूरा सहयोग करते हुए पाते है, अत पहला मत युक्ति-युक्त नही प्रतीत होता है। दूसरा मत इन ग्रन्थों का समय गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे वर्णित मन्तराय नामक राजा को सगम साहित्य के चेर राजा मन्तराम से अभिन्न समझने की युक्ति के आधार पर मानता है। इस मत के अनुसार समुद्रगुप्त ने केरल पर चढ़ाई की थी, किन्तु अधिकाश ऐतिहासिक प्रयाग-प्रशस्ति की इस व्याख्या से सहमत नही है। उनके मतानुसार समुद्रगुप्त ने दक्षिण मे अपनी दिग्विजय काची के उत्तरी प्रदेश तक ही की थी, अत. दूसरा मत भी अमान्य प्रतीत होता है।

तीसरा मत सगम साहित्य का काल ईसा की पहली तीन शताब्दियाँ मानता है। इसका प्रमुख आधार शेगुट्टुवन चेर की तथा श्रीलका के राजा गजबाहु की समकालीनता है। शिलप्पदिकारम् मे शेगुट्टुवन राजा द्वारा पट्टनीदेवी की मूर्ति की स्थापना का वर्णन है। इस प्रसग मे यह कहा गया है कि इस अवसर पर श्रीलका का राजा गजबाहु इस समारोह मे सम्मिलित होने के लिये आया था। इसकी पुष्टि श्रीलका की पुरानी साहित्यिक अनुश्रुतियो से भी होती है। श्रीलंका के एक प्राचीन इतिहास महावश के अनुसार गजबाहु श्रीलका का ३९वाँ राजा था और इसका समय १७३ ई०–१९५ ई० अथवा १७७–१९९ ई० समझा जाता है। इसके बाद गजबाहु नाम का दूसरा राजा लंका मे १२वी शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ, तमिल साहित्य का विकास इतना पीछे ले जाना सभव नही है। अत शेगुट्टुवन का समकालीन राजा गजबाहु प्रथम ही रहा होगा। सगम युग के चेर राजाओ मे तिथिक्रम की दृष्टि से शेगुट्टुवन का स्थान मध्यवर्ती है, अत. सगम साहित्य का विकास ईसा की पहली तीन शताब्दियो मे मानना सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इस बात की पुष्टि पहली-दूसरी शताब्दी ई० के रोमन एव यूनानी लेखको—प्लिनी, पेरिप्लस तथा टालमी द्वारा किए गए तामिल राज्यो के वर्णन मे भी होती है। यह वर्णन सगम साहित्य के विवरण मे सादृश्य रखता है। इसके अतिरिक्त इसका समर्थन दक्षिण भारत मे रोमन साम्राज्य के आरम्भिक सम्राटो की मुद्राओ के प्रचुर सख्या में मिलने से भी होती है। अत सगम साहित्य का समय ईसा की पहली तीन शताब्दियाँ मानना समुचित है। यहाँ इसके आधार पर इस प्रदेश की प्राचीन राजनीतिक स्थिति का परिचय दिया जायगा। किन्तु इससे पहले इस प्रदेश के इतिहास की कुछ सामान्य विशेषताओ का परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

दक्षिणी भारत के इतिहास की विशेषतायें

दक्षिणी भारत के प्राचीन इतिहास पर उत्तरी भारत की राजनीतिक घटनाओं

का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, इस प्रदेश के इतिहास का सर्वथा स्वतन्त्र रीति से और विशिष्ट रूप से विकास होता रहा है, फिर भी उत्तर एव दक्षिण का प्राचीन काल में बड़ा शान्तिपूर्ण सम्पर्क होता रहा है । इन दोनों के सम्पर्क से उत्तरी भारत की सस्कृति का दक्षिण भारत की सस्कृति के साथ अद्भुत समन्वय हुआ । दक्षिण भारत की कुछ अनुश्रुतियो के अनुसार उत्तर एवं दक्षिण का पारस्परिक सम्पर्क कराने का श्रीगणेश महर्षि अगस्त्य ने किया। यह कहा जाता है कि वे अपनी पत्नी, शिष्यों और कुछ कृषक आर्य परिवारो के साथ इस प्रदेश मे आये और उन्होने मदुरा–तिरुनल-वेल्ली जिलो की सीमा पर पश्चिमी घाट मे पोडियिल (Podiyil) नामक पर्वत को अपना निवास-स्थान बनाया। उन्हें तामिल संस्कृति में अनेक महत्वपूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने वाला बताया जाता है।[1] दक्षिण मे ऐसी दन्तकथा भी प्रसिद्ध है कि अगस्त्य ऋषि इस प्रदेश मे कृषि का प्रसार करने वाले और तमिल भाषा का पहला व्याकरण बनाने वाले थे। तमिल भाषा के पुराने कवियो के मतानुसार महाभारत के युद्ध मे दोनो पक्षों की सेनाओ के भोजन-व्यय और सैनिक सामग्री का प्रबन्ध दक्षिण के पाण्ड्य देश के राजा ने किया था। इसी प्रकार कुछ कथाओ मे यह बताया गया है कि कुछ द्रविड जातियाँ इस प्रदेश मे गुजरात और काठियावाड से आई थी । सेल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज यद्यपि मौर्यो की राजधानी मे ही रहा था, फिर भी उसने दक्षिण भारत के सम्बन्ध मे कई बातें अपने विवरण मे लिखी है। उसे इस बात का पूरा ज्ञान था कि श्रीलंका भारत से पृथक् है, उसने पाण्ड्य राज्य के बारे मे कुछ दन्तकथाओ का भी उल्लेख किया है। जैन साहित्य मे सुप्रसिद्ध जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के मैसूर मे श्रवण-बेलगोला मे जाने का उल्लेख मिलता है। किन्तु उत्तर और दक्षिण भारत के संपर्क का और दोनों प्रदेशों में समान सस्कृति का परिचायक सबसे सुदृढ प्रमाण आहत मुद्राओ (Punchmarked Coins) से मिलता है। हमे सुदूर दक्षिणी भारत में ताँबे और चाँदी के ठीक उसी प्रकार के आयताकार सिक्के (Rectangular Coins) मिलते है जैसे उत्तर भारत मे उपलब्ध होते है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे दक्षिणी भारत की अनेक व्यापारिक वस्तुओ––मोतियो, वस्त्रो आदि का उल्लेख है। अशोक के शिलालेखो मे दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र और केरलपुत्र नामक राज्यो का निर्देश मिलता है। ये सब प्रदेश अशोक के साम्राज्य से बाहर होते हुए भी मौर्य सम्राट के साथ इतना मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखते थे कि अशोक

---

१. एज ग्राफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० २२६।

ने इन सब देशों में मनुष्यों एवं पशुओ की चिकित्सा की व्यवस्था की थी, यहाँ धर्म-प्रचार के लिये अशोक के धर्मदूत भी पहुँचे थे। इस प्रकार दक्षिणी भारत उत्तर भारत से राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता रखता हुआ भी उत्तर के प्रभावों को ग्रहण कर रहा था, और दोनो प्रदेशो मे एक ही प्रकार की सस्कृति का प्रचार और प्रसार था। इस विषय में सगम साहित्य के आधार पर विवेचन करते हुए एक विद्वान् ने यह सत्य ही लिखा है कि इस साहित्य मे हम पर प्रभाव डालने वाली पहली वस्तु यह है कि इस समय तक उत्तरी अथवा सस्कृत, दक्षिणी अथवा तामिल सस्कृतियो मे एक विलक्षण समन्वय हो चुका था। तत्कालीन तामिल कवि उत्तर भारत के आर्यों के पौराणिक, धार्मिक और दार्शनिक विचारो से पूर्णरूप से परिचित थे और इन विचारो का दक्षिण की सामाजिक सस्कृति पर गहरा प्रभाव पडा था।[1]

दक्षिणी भारत की दूसरी विशेषता इसका आश्चर्यजनक वैभव था। वैभव का मुख्य कारण यह था कि दक्षिण भारत मे कुछ ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न होती थी जो अन्य देशों मे नही होती थी, किन्तु वहाँ इनकी बडी माँग थी। ऐसी तीन वस्तुओ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये काली मिर्च, मोती तथा वैदूर्य (Beryl) आदि विभिन्न प्रकार के मणि, माणिक्य और रत्न थे। काली मिर्च मलाबार मे खूब होती थी, रोमन साम्राज्य मे इसकी बडी माँग थी। चीन में भी यह बड़ी मात्रा मे मगाई जाती थी। दूसरी शताब्दी ई०पू० से काली मिर्च से भरे जहाज मलाबार से चीन जाया करते थे और मार्कोपोलो के समय तक चीनी जहाजों का परिमाण या टनेज (Tonnage) इसमे आ सकने वाली काली मिर्च की टोकरियो से आँका जाता था।[2] रोमन साम्राज्य के साथ प्राचीन काल मे भारत का जो व्यापार होता था उसमे काली मिर्च एक अतीव महत्वपूर्ण पण्य था। सभवत रोमन साम्राज्य को भारत से जाने वाले समूचे माल का ७५ प्रतिशत भाग कालीमिर्च ही होती थी। इसका कारण यह था कि उस समय वहाँ काली मिर्च का दाम बहुत अधिक था। वहाँ इसे इतना अधिक महत्व दिया जाता था कि जब रोम पर ४०९ ई० मे गाथ आक्रामक एलारिक (Alaric) ने घेरा डाला तो दोनो पक्षो मे सन्धिवार्ता होने पर उसने घेरा उठाने के लिये रोम से जहाँ ५ हजार पौण्ड सोना, ३० हजार पौण्ड चाँदी तथा चार हज़ार रेशमी पोशाके माँगी, वहाँ इसके साथ ही उसने ३००० पौण्ड काली

---

१. नीलकण्ठ शास्त्री—कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी आफ इंडिया, पृ० ५५०–५१।
२. शाफ–पेरिप्लस २१४।

मिर्च की भी माँग की थी।[1] दूसरी वस्तु मोती थे। ये मनार की खाडी से और पाक जलडमरूमध्य के समुद्र से अत्यन्त प्राचीन काल से निकाले जाते थे और विदेशी व्यापारियो को अपनी ओर आकर्षित करते थे। तीसरी वस्तु हलके हरे रग की मणि वैदूर्य (Beryl) थी तथा अन्य अनेक प्रकार की मणियाँ और बहुमूल्य पत्थर थे। रोमन लेखक प्लिनी का यह कहना है कि यह मणि पन्ना (Emerald) से मिलती थी और रोमन इसे बहुत अच्छा समझते थे, क्योंकि मणिकार इस पर बहुत अच्छा काम कर सकते थे। यह दक्षिण भारत के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही पाई जाती थी। इस दुर्लभता के कारण इसमे बडी धोखाधडी की जाती थी। दक्षिण भारत मे इस मणि को निकालने की तीन प्रसिद्ध खाने थी। पहली खान मैसूर के दक्षिण-पश्चिम मे कावेरी की एक सहायक नदी कटवनी के तट पर किट्टूर के निकट पुन्नाट मे थी। टाल्मी ने इसका वर्णन किया है। दूसरी खान कोयम्बटूर नगर से ४० मील दक्षिण-पूर्व मे पडियूर अथवा पट्टियाली मे थी। तीसरी खान सलेम जिले के उत्तर-पूर्वी कोने मे वानियमबाडी मे कोलार के स्वर्णक्षेत्र के निकट थी (अहि० इं०, पृ० ४६१)। प्लिनी के मतानुसार केवल यही ऐसी मणि थी जिसे भारतीय सोने मे जडे बिना पहनना पसन्द करते थे। इसके अतिरिक्त यहाँ लाल (Ruby) का एक भेद कोरन्दुम (Corundam) सलेम और कोयम्बटूर जिलो मे बहुत पाया जाता था, इसका उपर्युक्त नाम इसके तामिल नाम कुरुन्दम (Kurran dam) से निकला है और यह सूचित करता है कि इसका मूलस्थान दक्षिण भारत ही था। रोम के साथ मणियो के व्यापार का एक बडा प्रमाण यह है कि रोमन सम्राटो की स्वर्णमुद्राए प्रचुर सख्या मे उन जिलो मे मिली है, जहाँ इन मणियो की खाने पायी जाती है।

भौगोलिक स्थिति—दक्षिणी भारत की तीसरी विशेषता इसकी भौगोलिक स्थिति थी। यह हिन्दमहासागर मे एशिया के मध्यभाग मे पूर्व और पश्चिम के व्यापारिक मार्गों के सगम-स्थल पर अवस्थित है। इसके एक ओर पश्चिम में अरब, मिस्र और यूरोप के प्रदेश हैं और दूसरी ओर मलाया, जावा, सुमात्रा, हिन्देशिया और चीन

---

१. गिबन डिक्लाइन एण्ड फाल आफ रोमन एम्पायर, अध्याय ३१, तथा शाफ पेरिप्लस पृष्ठ २१४। रोम के एक लेखक प्लिनी ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि काली मिर्च के प्रयोग का फैशन रोम में क्यों चल पड़ा है, क्योंकि इसमें तीखेपन के सिवाय कोई भी अच्छाई नहीं है, फिर भी हम इसे भारत से इतना भारी व्यय करके मंगाते हैं।

के प्रदेश हैं। इनके मध्य में अवस्थित होने से दक्षिण भारत के बन्दरगाहो का व्यापारिक सम्बन्ध इन सभी प्रदेशो से था और यह व्यापार अतीव प्राचीन काल से चला आ रहा था। सुप्रसिद्ध यहूदी राजा सुलेमान (९७०–९३३ ई० पू०) के राज्य में हाथी-दांत, बन्दर और मोर के बहुमूल्य पदार्थ जिस प्रदेश से आये थे, वह दक्षिण भारत ही था, क्योकि यहूदी भाषा में मोर के लिये जो शब्द पाया जाता है वह तमिल भाषा के शब्द से मिलता है। इसी प्रकार चावल, अदरक, दालचीनी, काली मिर्च आदि कई वस्तुओ के यहूदी तथा यूनानी भाषा के नाम तमिल भाषा के शब्दों से मिलते हैं और यह सूचित करते हैं कि ये वस्तुएँ पश्चिमी एशिया मे दक्षिणी भारत से मगाई जाती थीं।[1] ईसा से पहले की तीन शताब्दियो मे मिस्र के यूनानी टालमी राजाओं के समय मे दक्षिणी भारत के साथ बहुमूल्य वस्तुओ का व्यापार होता रहा। जब मिस्र को रोम ने जीत लिया तो इस व्यापार मे पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई। पहली शताब्दी ई० मे यूनानी व्यापारियो ने मानसून हवाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इनकी सहायता से वे खुले समुद्र मे लघुतम मार्ग से भारत पहुचने लगे। इससे पहले तट के साथ-साथ यात्रा करते हुए बहुत अधिक समय लगता था और समुद्री डाकुओ का भी बडा खतरा रहता था। अब इन बाधाओ के दूर होने से दक्षिणी भारत से रोम का व्यापार पराकाष्ठा पर पहुचने लगा और भारत में मगाये जाने वाले पदार्थों के मूल्य के रूप मे रोम को अपनी स्वर्णमुद्राएं इतनी अधिक मात्रा मे भारत भेजनी पड़ी कि प्लिनी (६।२६) ने इसकी तीव्र आलोचना करते हुए यह लिखा था कि कोई भी वर्ष ऐसा नहीं बीतता है जब कि भारत हमारे देश के ५५ करोड़ सैस्टर्स (२ करोड़ २० लाख डालर) की धनराशि न खीच लेता हो। इसके बदले मे वह हमे ऐसी वस्तुए देता है जो अपने पहले मूल्य से १०० गुने मूल्य पर बिकती हैं। प्लिनी के इस कथन की पुष्टि दक्षिणी भारत मे मिली ईसा की पहली ढाई शताब्दियो की रोमन मुद्राओ से होती है। उस समय एक पाण्ड्य राजा ने रोमन सम्राट आगस्टस के पास अपना दूतमण्डल भेजा था। उन दिनो दक्षिणी भारत के बन्दरगाहो मे रोमन व्यापारियो की अनेक बस्तियाँ बसी हुई थी। प्राचीन तमिल साहित्य मे इन यूनानी और रोमन व्यापारियो को **यवन** कहा गया है। यह इस बात को सूचित करता है कि उन्होने यह शब्द सस्कृत भाषा से ग्रहण किया था। इसके अतिरिक्त उन्हें **म्लेच्छ** भी कहा है। ये यवन दक्षिणी भारत से काली मिर्च तथा

---

१. रालिन्सन—इंटरकोर्स बिटवीन इंडिया एण्ड दी वेस्ट, पृ० १०–१४। इस लेखक ने संस्कृत की वैडूर्य मणि (Beryl) को तमिल शब्द माना है।

बहुमूल्य रत्नो को लेने के लिए विदेशी शराब, लैम्प, फूलदान और स्वर्णमुद्राएं लाया करते थे। प्राचीन तामिल कवि इन यवनो के जलपोतों का बड़ा सुन्दर वर्णन करते हैं। प्लिनी ने हमें यह बताया है कि इन जहाजों पर धनुर्धारी योद्धा समुद्री डाकुओं से रक्षा के लिए रखे जाते थे। तामिल राजा इन योद्धाओ की वीरता से बड़े प्रभावित हुए थे। वे रोमन सैनिको को अपने अगरक्षको के रूप मे नियुक्त किया करते थे। वे यहाँ की स्थानीय भाषा न जानने के कारण मौन रहते थे अत. तमिल साहित्य में इनका वर्णन गूगो के रूप मे किया गया है। रोमन लोगों ने केवल अपने व्यापारिक हितो की सुरक्षा के लिये दो सैनिक दस्ते (Cohorts) मुजिरिस (क्रैंगानोर) में रखे हुए थे। यहाँ उन्होने आगस्टस का एक मदिर भी बनाया था। प्राचीन यूनानी और रोमन लेखक यद्यपि दक्षिण भारत के व्यापारिक एव भौगोलिक विषयो का अधिक विस्तार से वर्णन करते है, किन्तु वे राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध मे कोई प्रकाश नही डालते है। इसका प्रधान स्रोत प्राचीन तमिल साहित्य और अभिलेख ही हैं। इनसे यह प्रतीत होता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे दक्षिण भारत तीन राज्यो के सघर्ष का केन्द्र बना हुआ था।

तीन राज्य—दक्षिणी भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार तामिल देश इतिहास के उष.काल से ही तीन प्रमुख राज्यो मे बटा हुआ था और निरन्तर सघर्ष का रंगमच बना रहा। ये तीन राज्य पाण्ड्य, चोल और चेर थे। इनकी भौगोलिक सीमाओ को निश्चित रूप से बताना कठिन है। फिर भी स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि पाण्ड्य राज्य मे मदुरा, तिन्नेवेल्ली और रामनाथपुरम् के ज़िले, त्रिचनापल्ली तथा भूतपूर्व ट्रावनकोर राज्य का कुछ भाग सम्मिलित था। इसकी राजधानी पहली शताब्दी ई० मे वेगाई नदी के तट पर मदुरा की सुप्रसिद्ध नगरी थी। किन्तु अधिक प्राचीन काल मे इस राज्य का प्रधान नगर कोरकाई (Korkai) या कोलकाई था। यह इस समय तिनेवेल्ली जिले मे ताम्रपर्णी (चित्तार) नदी के तीर पर एक छोटा सा गांव है, किन्तु प्राचीन काल मे यह एक बहुत बडा बन्दरगाह तथा मोतियो और शखो के व्यापार का प्रधान केन्द्र था। यह व्यापार पाण्ड्य राजाओ के अनन्त वैभव का मूल कारण था। मदुरा मे राजधानी बन जाने पर भी व्यापार की दृष्टि से कोरकाई का महत्व बना रहा। बाद मे यहाँ समुद्र-तट के निकट जमीन ऊँची उठ जाने और रेत भर जाने से यह बन्दरगाह समुद्री जहाजो के प्रवेश योग्य नही रहा, तो इसके स्थान पर इसी नदी के मुहाने पर कायल (kayal) नामक नया बन्दरगाह स्थापित किया गया। किन्तु मध्ययुग में यह भी कोरकाई की भाँति

रेत से भर गया तथा इसका स्थान तूतीकोरन के बन्दरगाह ने ले लिया। प्राचीन काल में पूर्वी तट पर इसका एक अन्य बन्दरगाह शालियूर था और पश्चिमी तट पर नेल-कुंडा (नेरणम) और बलिता के बन्दरगाह थे।

दूसरा राज्य चोलमंडल था। इसी का वर्तमान विकृत अंग्रेजी रूपान्तर कारोमण्डल है। यह कावेरी नदी की निचली घाटी में समुद्रतटीय मैदान था, इस की उत्तर सीमा पोर्टोनोवो के निकट समुद्र में गिरने वाली वेल्लार नदी थी और इसकी दक्षिणी सीमा भी इसी नाम वाली पुदुकोट्टै के प्रदेश मे से बहने वाली दक्षिणी वेल्लार नदी थी। इस प्रकार चोल राज्य मे आजकल के तजौर और त्रिचनापल्ली के जिले सम्मिलित थे। इसकी राजधानी उरैयूर थी। यह वर्तमान त्रिचनापल्ली नगर के निकट बसी हुई थी। कावेरी नदी के मुहाने पर पुहार अथवा कावेरी-पट्टनम इसका प्रधान बन्दरगाह था। पश्चिम में इसकी सीमा कुर्ग के प्रदेश तक थी। बाद मे चोल देश की उत्तरी सीमा पेन्नार नदी मानी जाने लगी।

तीसरा राज्य पश्चिमी समुद्र-तट पर तथा पाण्ड्य राज्य के उत्तर मे चेर अथवा केरल था। इसमे भूतपूर्व उत्तरी ट्रावनकोर, कोचीन और दक्षिणी मलाबार के प्रदेश सम्मिलित थे। पश्चिमी तट पर कोल्लम (क्विलोन) से निचला हिस्सा पाण्ड्य देश मे और इससे उत्तर का हिस्सा चेर राज्य मे समझा जाता था। इसके अतिरिक्त चेर राज्य मे सलेम जिले का कोल्लिमलय तक का प्रदेश भी सम्मिलित था। इस प्रकार इसमे कोगु देश का एक बड़ा भाग आ जाता था। चेर की राजधानी वजी थी। इसकी भौगोलिक स्थिति के बारे मे ऐतिहासिको मे बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे पेरियार नदी के मुहाने के निकट क्रागनोर अथवा यूनानी लेखको का मुजि-रिस नामक बन्दरगाह समझते है। किन्तु अन्य विद्वान् इसे त्रिचनापल्ली जिले में अमरावती नदी के तट पर करूर (Karuı) का स्थान मानते है। इसकी पुष्टि टालमी के वर्णन से तथा ब्राह्मी लिपि के और तमिल के एक प्राचीन अभिलेख से की जाती है। प्राचीन काल मे व्यापारिक दृष्टि से चेर राज्य का बड़ा भौगोलिक महत्व था, क्योंकि दक्षिण-पश्चिमी मानसून का लाभ उठाते हुए अरब से मुजिरिस तक की समुद्र-यात्रा जुलाई-अगस्त के महीनो मे ४० दिन मे पूरी की जा सकती थी और यहाँ अपना व्यापारिक कार्य करने के बाद व्यापारी दिसम्बर-जनवरी मे वापस लौट सकते थे। इस सुविधाजनक भौगोलिक स्थिति के कारण मुजिरिस उन दिनो काली मिर्च तथा अन्य बहुमूल्य रत्न-सामग्री के लिये रोमन साम्राज्य एवं पश्चिमी देशो के साथ व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। मुजिरिस के अतिरिक्त यहाँ एक अन्य

बन्दरगाह तुन्डि (कालीकट के पास कदलुन्दि) था। उन दिनो कोगु प्रदेश (कोयम्बटूर जिला तथा सलेम जिले का पश्चिमी भाग) चेर राज्य में सम्मिलित था। इन तीनो राज्यो के अपने विशिष्ट ध्वज-चिह्न थे। चोलो का चिह्न व्याघ्र, पाण्ड्यो का मछली और चेरों का हाथी का अंकुश तथा धनुषबाण था।

संगम साहित्य मे इन तीनो राज्यो के पारस्परिक सघर्षो का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। किन्तु इनके विभिन्न राजाओ का क्रमबद्ध ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करना टेढ़ी खीर है। हम इन तीनो राज्यो के कुछ यशस्वी राजाओ की प्रमुख घटनाएँ ही जानते है। यहाँ इनका सक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

पाण्ड्य राज्य

पाण्ड्य देश का प्राचीनतम उल्लेख मेगस्थनीज के विवरण मे मिलता है।[1] उसने इस राज्य (Pandaea) के बारे मे लिखा है कि यह अपने मोतियो के लिए प्रसिद्ध है। उसे इसके विषय में कुछ विचित्र कहानियाँ सुनने को मिली थीं, इनके आधार पर उसने यह लिखा है कि यहाँ स्त्रियो द्वारा शासन किया जाता है। उसने यह भी बताया है कि हिराक्लीज ने भारत मे एक पुत्री उत्पन्न की थी जिसे पडेया (Pandaia) कहा जाता था।[2] उसे उसने भारत का समुद्रतट तक विस्तीर्ण

---

१. मेगस्थनीज का विवरण खण्ड ५६ व ५८। रानी द्वारा इस प्रदेश के शासन की कल्पना का कारण संभवतः मलावार के प्रदेश में प्रचलित मातृतंत्रीय व्यवस्था थी। इसके लिये देखिये हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा।

२. एरियन (इंडिका, खण्ड ८) के अनुसार हिराक्लीज के कई लड़के थे, किन्तु लड़की केवल पंडिया (Pandaea) थी, वह जहाँ उत्पन्न हुई थी और शासन करती थी उस स्थान को उसके नाम से पंडिया (Pandaea) कहा जाता है। पिता ने कन्या को सात वर्ष की आयु में विवाहयोग्य बना दिया। जब हिराक्लीज को उसके लिये कोई उपयुक्त वर नहीं मिला तो उसने बेटी से इसलिये विवाह कर लिया ताकि उनसे उत्पन्न सन्तान से भारतीयो को राजा मिल सके। एरियन ने इस कोरी गप्प पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि हिराक्लीज ने जितनी शक्ति अपनी कन्या को विवाह योग्य करने में लगाई, उतनी वह अपनी बुद्धि को सठियाने से रोकने में लगाता तो अधिक अच्छा होता। पाण्ड्य राजा के उद्गम के सम्बन्ध में दक्षिण भारत की स्थानीय अनुश्रुति यह बताती है कि यह दक्षिण का प्राचीनतम राज्य है तथा इसकी स्थापना महाभारत में वर्णित पांडवों के पिता पाण्डु ने की थी (शाफ-पेरिप्लस पृ० २२३)। इस देश के सम्बन्ध में एक अन्य अनुश्रुति यह भी है कि हनुमान ने सीता की खोज के लिये लंका जाते हुए यहाँ के

दक्षिणी प्रदेश का राज्य प्रदान किया था और यहां की जनता को ३६५ गाँवों में बाँटा गया, यह व्यवस्था इसलिये की गई थी कि प्रतिदिन एक गाँव अपना कर राज्यकोष में दिया करे जिससे राज्य का व्यय वर्ष भर चलता रहे। इस रानी को अपने पिता से ५०० हाथी, ४००० घुड़सवार, १,३०,००० पैदल सेना भी मिली थी। ईसा की आरम्भिक शताब्दियो में पाण्ड्य देश का व्यापारिक सम्बन्ध पश्चिमी देशो के साथ था। २० ई० पू० में पडियोन (Pandion) के जिस राजा द्वारा रोमन सम्राट आगस्टस सीजर के पास दूतमडल भेजने का उल्लेख मिलता है, वह पाण्ड्य देश का ही राजा था। पेरिप्लस के लेखक (८० ई०) ने तथा टालमी (१४०ई०) ने इस राज्य के बन्दरगाहों और व्यापार का उल्लेख किया है। ये दोनो पाण्ड्य देश के निकट समुद्र में मोतियो के निकाले जाने का वर्णन करते है। पाण्ड्य देश का रोम के साथ यह व्यापार २१५ ई० तक चलता रहा।

ईसा की आरम्भिक शतियो मे पाण्ड्य देश की राजधानी मदुरा न केवल अपने वैभव के लिये, अपितु अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध थी। यहाँ की साहित्यिक अकादमी अथवा सगम के सदस्यो ने अतीव उत्कृष्ट कोटि का साहित्य उत्पन्न किया। तमिल भाषा मे वेद के तुल्य प्रतिष्ठा पाने वाला तिरुवल्लूर का कुरल इसी समय १०० ई० के आसपास लिखा गया। पहले बताए गए तामिल महाकाव्य शिलप्पदिकारम् और मणिमेकलै इसी युग की रचनाये है। पाण्ड्य राज्य की सबसे बड़ी और अमर देन सगम साहित्य की बहुमूल्य कृतियाँ है। इनसे पाण्ड्य देश का कोई क्रमबद्ध इतिहास तो नही मिलता, किन्तु उसके कुछ यशस्वी राजाओं के वर्णन उपलब्ध होते है। प्राचीन काल के प्रमुख राजा निम्नलिखित है।

नेडुंजेलियन (२१० ई०)—पाण्ड्य नरेशो में सबसे अधिक यशस्वी और प्रसिद्ध नृपति नेडुजेलियन द्वितीय था। वस्तुत इस नाम के कई राजाओ ने पाण्ड्य देश के राजसिंहासन को सुशोभित किया, अतः इस नाम वाले अन्य राजाओ से इसका भेद सूचित करने के लिये इसके साथ **तलैयालंगानात्तु च्चेरुवेंद्र** का विशेषण लगाया जाता है। इसका अर्थ है तलैयालगानम् के युद्ध का विजेता। यह बहुत छोटी आयु मे गद्दी

महेन्द्रगिरि पर्वत से समुद्र को पार करने के लिये छलांग लगाई थी, अतः यहाँ हनुमान की पूजा के लिये मन्दिर है। द्रविड़ जातियों से वानरों की पूजा की पद्धति दूसरे देशों में गई (शाफ-पेरिप्लस पृ०२३७)। दक्षिण भारत के रामेश्वरम् आदि स्थान श्रीराम से सम्बद्ध बताये जाते हैं, किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक इन अनुश्रुतियों की सत्यता में गहरा सन्देह प्रकट करते हैं। श्री नीलकंठ शास्त्री इनमें ऐतिहासिक अंश उतना ही मानते हैं जितना रेत में तेल है।

पर बैठा था, इसकें पड़ोसी चोल और चेर राजाओ की लोलुप दृष्टि इसके वैभवशाली राज्य पर थी, उन्होंने अन्य पाँच छोटे सरदारो के साथ मिलकर इस पर हमला करने तथा इसकी सम्पत्ति के बंटवारा करने की योजना बनाई और पाण्ड्य राज्य पर चढ़ाई कर दी । शत्रु की सेनाए मदुरा नगरी के द्वार तक पहुँच गई, किन्तु इस समय नेडुजेलियन ने बड़े साहस का परिचय दिया, अद्‌भुत शूरवीरता और कुशल नेतृत्व के साथ युद्ध का सचालन किया, शत्रु-सेनाओ को अपनी राज्य की सीमा से बाहर चोल राज्य मे खदेड़ दिया। यहाँ शत्रुओ के साथ उसकी सबसे बडी निर्णायक लड़ाई **तलैयालंगानम्** नामक स्थान पर हुई। यह स्थान तजौर जिले मे तिरुवालूर के उत्तर पश्चिम मे ८ मील की दूरी पर तलैयालमकाडू नामक स्थान है, इसमे नेडु-जेलियन ने गजदर्शन नामक चेर राजा को लडाई से पहले की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जीवित ही बन्दी बनाया। विदेशी आक्रमणो से अपने राज्य की रक्षा करने के बाद उसने कोगु देश (कोयम्बटूर तथा सलेम) के सरदार आदिगन पर चढाई की और उससे तथा एक अन्य पडोसी निडूर के एव्वी नामक सरदार से उसका प्रदेश छीन लिया। तलैयालगानम् की लडाई दक्षिण भारत के इतिहास मे पानीपत की लड़ाई के समान महत्व रखती है। प्राचीन तामिल कविताओ मे इसका बडा सुन्दर वर्णन मिलता है। यह पाण्ड्य इतिहास की युगान्तरकारी घटना थी। १०वी शताब्दी तक पाण्ड्य राजा अपने दानपत्रो मे इस युद्ध का उल्लेख गर्वपूर्वक करते रहे। नेडु-जेलियन वैदिक धर्म का अनुयायी था और उसने अनेक यज्ञ किए। यह स्वयमेव उच्चकोटि का कवि था। उसने अपने दरबार मे माँगुडी मरुदन, नक्कीयार और कल्लादनार नामक कवियो को सम्मान प्रदान किया। इन कवियो ने इस राजा की यशोगाथा का वर्णन किया है।

नेडुजेलियन नाम का एक अन्य राजा भी पाण्ड्य वश मे हुआ। इसका उपर्युक्त राजा से भेद सूचित करने के लिये इसके साथ एक विशेषण जोडा जाता है **अरियप्पडईकंडव** अर्थात् आर्यो की या उत्तरी सेना के विरुद्ध विजय प्राप्त करने वाला। यह नाम समवत किसी उत्तरी राजा के साथ इसके सघर्ष की सूचना देता है, किन्तु हमे इस विषय मे कोई विशेष जानकारी नही है कि यह लडाई किस प्रदेश के राजा के साथ की गई थी। इसे तलैइलगानम के विजेता का पूर्वज माना जाता है और इसी के राज्यकाल मे मदुरा मे कोवलन की वह दु:खपूर्ण मृत्यु हुई थी जिसका मार्मिक चित्रण शिलप्पदिकारम नामक तामिल काव्य मे किया गया है। जब कोवलन की पत्नी कण्णगी ने अपने पति की निर्दोषिता प्रमाणित की तो राजा को एक निर-पराध व्यक्ति के मरवाने से इतनी पीड़ा हुई कि उसका प्राणान्त हो गया। आगे

इस कथा का परिचय दिया जायगा। इस राजा के नाम से प्रसिद्ध एक कविता में जन्म और जाति की अपेक्षा विद्या को अधिक महत्व दिया गया है।

चोल राजा

करिकाल चोल (१९० ई०)—चोल राजाओं मे इक्तजेतचिन्नी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके पिता का नाम इक्तंजेतचिन्नी था। इसका शब्दार्थ है सुन्दर रथो का स्वामी। इसका समय १६५ ई० माना जाता है। परणर नामक प्राचीन तामिल कवि ने इसकी यशोगाथा का वर्णन करते हुए यह बताया है कि उसने अपने शत्रुओ के देशो का विध्वस करते हुए उन्हें किस प्रकार पीड़ित किया था।

करिकाल के समय से तामिल राष्ट्रो मे चोलो की प्रधानता का युग आरम्भ हुआ। इसके आरम्भिक जीवन के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की किवदन्तियाँ प्रसिद्ध है। इसके नाम के कई अर्थ किए जाते है। इसका पहला अर्थ जली हुई टाँग वाला व्यक्ति है। यह इस राजकुमार के आरम्भिक जीवन की एक घटना के आधार पर है। बाद मे इसे सस्कृत का शब्द समझकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है कि यह करि अर्थात् शत्रुरूपी हाथियो का काल या यमराज है अथवा कलि को भी समाप्त करने वाला है। बचपन मे करिकाल के शत्रुओ ने इसे राज्य के अधिकार से वचित करके बन्दी बना दिया। किन्तु यह बड़े साहसपूर्ण ढग से बन्दीगृह से भाग निकला, इसने पुन राज्यसिहासन पर अधिकार कर लिया। शत्रु इसका पीछा कर रहे थे, किन्तु इसने उन्हें वोण्णि के युद्ध मे परास्त किया। यह स्थान तजौर से १५ मील पूर्व मे है और वर्तमान समय मे कोइल वेण्णि कहलाता है। इस युद्ध में ११ राजाओं और सरदारो को इसने हराया था। इनमे पाण्ड्य और चेर राज्य भी सम्मिलित थे। इस युद्ध मे चेर राजा को अपनी पीठ मे एक घाव लगा था. इससे वह इतना अधिक लज्जित हुआ कि उसने युद्धक्षेत्र मे ही अपनी आत्महत्या कर ली। वेण्णि की विजय से करिकाल तामिल प्रदेश का सर्वोच्च शासक बन गया। इसके बाद करिकाल ने एक अन्य स्थान वाहैप्परन्दलै मे नौ राजाओ को हराकर उनके राजछत्र उनसे छीन लिए।

करिकाल केवल महान् विजेता ही नही था, अपितु लोक-कल्याण के लिये कार्य करने वाला महान् सुशासक भी था। उसने अपने राज्य मे कृषि, व्यापार एव उद्योग-धधो की उन्नति के लिये भी अनेक कार्य किए। वह वैदिक धर्म का अनुयायी, ब्राह्मणो और कवियों का आश्रयदाता तथा निष्पक्ष न्याय करने वाला नरेश था। उसे सभी प्रकार के आनन्दमय जीवन, बढ़िया भोजन खाने, शराब आदि पीने का व्यसन था। परवर्ती

युगो की रचनाओ मे विशेषत शिलप्पदिकारम् मे और ११वी तथा १२वी शताब्दियों के अभिलेखों और साहित्यिक ग्रन्थो मे करिकाल के सम्बन्ध मे अनेक विलक्षण दंत-कथाओ का उल्लेख है। इनमे यह कहा गया है कि उसने हिमालय पर्यन्त समूचे भारतवर्ष की विजय की थी। कावेरी नदी के मुहाने पर उसने बाँध बनवाया था। इस बाँध को इस विचार के साथ बनाया गया था कि कावेरी के मुहाने पर बाँध के द्वारा जल का सग्रह किया जाय और इस जल को उन प्रदेशो मे सिचाई के लिये ले जाया जाय जहाँ पानी की कमी हो। उसने इस प्रकार श्रीरगम् के महान् बाँध मे जल एकत्र करके एक नई नहर वैण्णार द्वारा दक्षिणी तजौर के सूखे प्रदेशों मे सिचाई की व्यवस्था की।[1] यह कहा जाता है कि यह बाँध १२००० कैदियो के श्रम से तैयार करवाया गया था। नदी के मुहाने पर बाँध बनाकर डेल्टा में सिचाई करने की जो विशेष विधि है इसका आविष्कार सभवतः इसी के समय मे चोलमण्डल मे किया गया था। इसने कावेरी के प्रसिद्ध बन्दरगाह कावेरीपट्टनम् या पुहार का भी निर्माण कराया था। यह व्यापार का बडा केन्द्र बन गया। कहा जाता है कि पुहार के महल बनाने के लिये तामिल स्थपतियो के अतिरिक्त मगध के कारीगर, महाराष्ट्र के यंत्रकार, अवन्ती के लुहार और यवन देश के बढई बुलाए गए थे। यहाँ अनेक देवी-देवताओ के मन्दिर थे।

चेर राज्य

तामिल देश का तीसरा प्रसिद्ध राज्य चेर या केरल था। यह पाण्ड्य राज्य के उत्तर मे पश्चिमी घाट के पर्वतो और समुद्र के बीच मे बसा हुआ था। वर्तमान समय मे केरल राज्य भारत के दक्षिणी छोर कन्याकुमारी तक फैला हुआ है, किन्तु प्राचीन काल मे भूतपूर्व ट्रावनकोर का दक्षिणी भाग पाण्ड्य प्रदेश मे सम्मिलित था। उस समय चेर राज्य मे मलाबार और कोचीन के ही जिले थे। अशोक ने अपने शिला-लेखो मे तीसरी शताब्दी ई० पू० के इस राज्य का निर्देश किया है। पहली शता० ई० में पेरिप्लस के लेखक ने केरोबोथ्रा (Cerobothra) के नाम से इसका परिचय दिया है, इसके कई बन्दरगाहो, नोर (कन्नानोर जिला, उत्तरी मलाबार), टिडिस (पोन्नानी नदी के मुहाने का एक गाँव), मुजरिस (क्रागनोर), निलकुन्द (आधुनिक कोट्टयम) का वर्णन किया है। पश्चिमी देशो के साथ इन बन्दरगाहो से सीधा व्यापार होता था। इसका प्रमाण इस प्रदेश मे रोमन स्वर्ण-मुद्राओं का प्रचुर मात्रा मे मिलना है। व्यापारिक दृष्टि से चेर देश की समृद्धि का स्वर्णयुग ईसा की आरम्भिक

१. ए० इं० यू० पृष्ठ २३१

शताब्दियाँ थी। किन्तु इस प्रदेश का भी प्राचीन क्रमबद्ध राजनीतिक इतिहास हमे उपलब्ध नही होता है। केवल इसके कुछ यशस्वी राजाओ का परिचय तामिल साहित्य मे मिलता है। यहाँ के सुप्रसिद्ध राजा निम्नलिखित हैं—

राजा इमयवरम्बन नेडुजीरल आदन (१५५ ई०)—इस राजा की कीर्ति-कथा कुमट्टूर कण्णनार नामक तामिल कवि ने गाई है। सभवत किसी भी कवि को इतिहास मे इतना अधिक पुरस्कार नही मिला होगा, जितना इस कवि को इसके आश्रय-दाता ने प्रदान किया था। आदन ने इसे ५०० गाँव ब्रह्मदाय के रूप मे दिये, ३८ वर्ष तक अपने राज्य के दक्षिणी भाग के राजस्व मे एक हिस्सा प्रदान किया था।[1] अत इस कवि के लिये यह स्वाभाविक था कि वह अपने राजा के कार्यों का खूब अत्युक्तिपूर्वक बखान करे। इस काव्यमय वर्णन में दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाए प्रतीत होती है। पहली घटना यवनों की विजय है। इन यवनों को पकड कर उनके हाथ पीछे से बाँध दिये गए थे और उनके सिरों पर तेल डाला गया तथा अन्य कई प्रकार का कठोर व्यवहार किया गया। इन्हें तब तक नही छोडा गया, जब तक इन्होंने अपनी मुक्ति के लिए हीरे, बहुमूल्य मणियाँ तथा कारीगरी वाले बरतन नही दिये। ये यवन नि सन्देह यूनानी और रोमन व्यापारी अथवा अरब व्यापारी थे, जो उन दिनों पश्चिमी देशो से भारत के साथ व्यापार किया करते थे। हमे इस बात का ज्ञान नही है कि इन यवनों ने चेर राजा को क्यो रुष्ट किया। दूसरी घटना समुद्र-तट के निकट "कडम्बु" नामक जाति का दमन था। यह कहा जाता है कि उसने समुद्र पार कर कडम्बु को काटा और वैरियो का पराभव किया। उसके एक उत्तराधिकारी के बारे मे यह भी कहा गया है कि उसने नन्नन नामक एक राजा का सिर काटा, जिसकी राजधानी के निकट कडम्बु के पेड थे। यह माना जाता है कि उन दिनो कारवाड से मगलोर तक समुद्री डाकुओ के प्रदेश को तामिल साहित्य मे कडम्बु कहा जाता था। सभवत. कडम्बु नामक एक वृक्ष इस प्रदेश मे बहुत होता था। इसी कारण यह प्रदेश कडम्बु कहलाता था। आदन ने कड़म्बु देश के साथ कडम्बु वृक्ष का भी समूलोन्मूलन किया और इसके पेड के तने से अपना युद्ध का नगाडा बनाया। इस घटना से यह परिणाम निकाला जाता है कि इस समय पश्चिमी देशो के साथ होने वाले व्यापार को कडम्बु के समुद्री डाकुओ से बडा खतरा था, इस राजा ने इस खतरे को दूर किया और समुद्री डाकुओ का आतक समाप्त किया। प्रोफेसर कृष्णस्वामी आयगर का यह मत है कि कडम्बु उस लुटेरी जाति का नाम

---

१. नीलकण्ठ शास्त्री—कॉ० हि० इं०, पृ० ५१६।

था, जो पहले समुद्री डकैती करती थी और बाद मे सभ्य होने पर कदम्ब कहलायी। नन्नन इन्ही का सरदार था। कड़म्बु शायद कोई ताड़ आदि की जाति का पेड़ होगा जो उस जाति का विशेष चिह्न रहा होगा। अत उपर्युक्त काव्यमय वर्णन का यह अर्थ प्रतीत होता है कि आदन ने कर्नाटक के पश्चिमी तट की समुद्री डकैती का दमन करके व्यापार को सुरक्षित बनाया। यही इसका प्रमुख कार्य था जिसके लिए इतिहास मे आदन की स्मृति सदैव बनी रहेगी। इस महान् कार्य को करने के लिये सभवत: राजा की बहुत अधिक स्तुति की गई है। कवियो के कथनानुसार इस राजा ने ५५ वर्ष तक शासन किया था।

इस राजा की उपाधि इमयवरम्बन है, इसका अर्थ है जिसने हिमालय पर्वत को अपने राज्य की सीमा बनाया था। इस विशेषण के आधार पर यह परिणाम निकाला जाता है कि इसने कन्याकुमारी से हिमालय की पर्वतमाला तक समचे भारत की विजय की थी और उत्तर के राजाओ को हराने के बाद इस उत्तुग पर्वत पर उसने अपने राजचिह्न—धनुष—के निशान को उत्कीर्ण कराया था। इसी प्रकार उसके पूर्वजो को भी न केवल भारत, अपितु विश्व का विजेता बनाया गया है। ये सब वर्णन कवियो की अत्युक्तियाँ ही प्रतीत होती है। यह कहा जाता है कि वह सात मुकुटो की माला धारण किया करता था। ये मुकुट उन शत्रु राजाओं के थे जिन्हें उसने युद्धो मे हराया था। इस यशस्वी राजा का अन्त बडा दु:खद हुआ। पोर के युद्धक्षेत्र मे उसकी चोल राजा के साथ लडाई हुई, इस लडाई मे दोनो राजा दिवगत हुए, दोनो की रानियाँ अपने पतियो के साथ सती हो गई। आदन के दो पुत्र थे और दोनो प्रसिद्ध योद्धा थे। इनमें शेगट्टुवन अर्थात लालचेर अधिक प्रसिद्ध है।

शेंगुट्टुवन (लगभग १८० ई०)—सगम युग के प्रसिद्धतम कवि परणर ने अपनी कविताओ मे इस राजा की महिमा का वर्णन किया है। यह आदन द्वितीय का चोल राजकन्या से उत्पन्न हुआ पुत्र था। इसने मोहूर के राज्य के साथ एक प्रबल सघर्ष में विजय पाई थी। नीलकण्ठ शास्त्री के मतानुसार यह पाण्ड्य राज्य का एक अश था। परणर ने इसके नौसैनिक युद्धो में समुद्र पर विजय पाने का उल्लेख किया है, किन्तु इसके विषय मे विस्तृत वर्णन नही दिया है। इस बारे मे यह कहा जाता है कि इसने अपना भाला फेंक कर समुद्र को पीछे हटने के लिये विवश किया था, अत इसको कडलपिडक्कोट्टिय की उपाधि दी गई थी। इसका अर्थ है समुद्र को पीछे धकेलने वाला। टीकाकार ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा है कि शेंगुट्टुवन ने समुद्र पर भरोसा रखने वाले अपने शत्रुओं से समुद्र द्वारा

दिये जाने वाले सरक्षण को समाप्त कर दिया था। यदि यह व्याख्या सत्य हो तो हमे यह मानना पडेगा कि शेंगुट्टवन ने भी अपने पिता की भाँति कड़म्बु नामक समुद्री डाकुओ को युद्ध मे परास्त किया। परणर ने अपने आश्रयदाता राजा की स्तुति करते हुए उसे कुशल अश्वारोही, गजारोही, हिमालय से कन्याकुमारी तक अनेक राजाओ को जीतने वाला, सात राजमुकुटो की माला धारण करने वाला, दुर्गों के घेरने की कला मे दक्ष तथा अपने दरबार मे असीम मात्रा मे ताडी-शराब पिलाने वाला और स्त्रियो की अपेक्षा युद्ध से अधिक प्रीति रखने वाला बताया है।

शेगुट्टवन ने अपने राज्य मे पट्टिनी देवी की पूजा प्रचलित की थी। इस देवी की मूर्ति बनाने के लिए उपयुक्त पत्थर ढूढने के लिये राजा ने अनेक प्रदेशो का भ्रमण किया। एक आर्य अर्थात् उत्तरी भारत के राजा को मारा और गगाजल मे इस मूर्ति के पत्थर को नहलाया। पट्टिनी देवी की मूर्ति की प्रतिष्ठा का सम्बन्ध शिलप्पदिकारम् मे वर्णित कोवलन तथा कण्णगी की सुप्रसिद्ध कथा से है। इसमे कण्णगी अपने निर्दोष पति की हत्या से क्रुद्ध होकर मदुरा नगरी को अपने प्रतिशोध की ज्वालाओ मे भस्मसात् करने के बाद चेर प्रदेश मे आती है और अपने पति के साथ स्वर्गलोक की ओर प्रयाण करती है। चेर राजा शेगुट्टवन सतीत्व की देवी के रूप में उसकी पूजा का श्रीगणेश करता है और पट्टिनी देवी का मन्दिर बनवाता है। इस देवी के मन्दिर की स्थापना के समय किए गए एक महान् समारोह मे लालचेर ने अनेक पडोसी राजाओ को निमत्रण दिया। इनमे लका का राजा गजबाहु भी था। सिहल मे पट्टिनी देवी की पूजा अब भी प्रचलित है। यह द्रविड भारत की कल्पित या उपर्युक्त ऐतिहासिक देवी प्रतीत होती है, जो अपने पति की मृत्यु पर सती हुई थी।

शिलप्पदिकारम् मे शेगुट्टवन का वर्णन अत्यधिक अतिरजित रूप मे किया गया है।[1] उत्तरी भारत की यात्रा मे यदि वह एक आर्य राजा को परास्त करता है तो कवि के वर्णनानुसार वह १००० राजाओ पर विजय पाता है। उसकी गगातट तक की तीर्थयात्रा एक बार के स्थान पर दो बार बताई जाती है, एक बार तो वह अपनी माता को गगा नहलाने के लिये जाता है और दूसरी बार पट्टिनी देवी की मूर्ति का पाषाण लेने के लिये। शिलप्पदिकारम् के अनुसार शेगुट्टवन लगातार ५० वर्ष तक युद्ध मे लगा रहा, किन्तु इसमे इन युद्धो का कोई विस्तृत वर्णन नही दिया गया है। शिलप्पदिकारम् के अनुसार शेंगुट्टवन एक बडा प्रतापी राजा था, किन्तु उसके सम-

१. नीलकण्ठ शास्त्री—कं० हि० इं० पृ० ५२४।

कालीन कवियो के अनुसार वह उस समय के अन्य राजाओ जैसा ही था। किन्तु कण्णगी की कथा के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसे असाधारण महत्व मिल गया है। प्राचीन काल के चेर राजाओ मे वही सबसे अधिक प्रसिद्ध माना जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि वह अन्य राजाओ की भाँति साहित्यिको का आश्रयदाता था और तमिल के दो सुप्रसिद्ध काव्यो--शिलप्पदिकारम् और मणिमेखलै का शेंगुट्टुवन से सीधा सम्बन्ध बतलाया जाता है। पहले का लेखक उसका अपना छोटा भाई था तथा दूसरे का प्रणेता उसका मित्र सातण था।

शेंगुट्टुवन के बाद उसका उत्तराधिकारी सेयानीकन चेरो और पाण्ड्यो से युद्ध करता रहा। पाण्ड्यो के साथ एक युद्ध मे वह बन्दी बना लिया गया, किन्तु शीघ्र ही वह बचकर भाग निकलने मे और पुन अपनी राजगद्दी प्राप्त करने मे सफल हुआ। यह घटना दूसरी शताब्दी ईसवी की है। इसके बाद चेर देश के इतिहास की घटनाओ का ८वी शताब्दी तक कोई विस्तृत उल्लेख नही मिलता है।

ग्यारहवाँ अध्याय

साहित्य का विकास

शुग-सातवाहन युग भारतीय वाड्‌मय के सर्वांगीण विकास का स्वर्ण युग था। इस समय न केवल सस्कृत साहित्य मे, अपितु प्राकृत एव तामिल साहित्य मे भी अनेक अमर कृतियो का सर्जन हुआ। कई दृष्टियो मे यह युग विलक्षण महत्व रखता है। सस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकाव्यो–वाल्मीकि रामायण और महाभारत मे कई अश इस युग मे जोडे गये। हिन्दू आचार विचार पर गहरा प्रभाव डालने वाली मनु-स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का प्रणयन इसी समय हुआ। सस्कृत नाटको की पहली कृतियाँ हमे इसी युग से मिलने लगती है, अश्वघोष, भास, और शूद्रक इस युग की विभूति है। वैज्ञानिक साहित्य के विकास की दृष्टि से भी यह युग उल्लेखनीय है। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध सहिताग्रन्थ चरक और सुश्रुत इस युग की देन है। इसी युग मे वात्स्यायन ने कामसूत्र का प्रणयन किया। व्याकरण के क्षेत्र मे पाणिनि की अष्टा-ध्यायी पर लिखा गया पतजलि का महाभाष्य सस्कृत वाङमय का एक देदीप्यमान रत्न है। इस समय दर्शन-शास्त्र के भी अनेक ग्रन्थ और भाष्य लिखे गये। बौद्धो ने पालि भाषा का परित्याग करके सस्कृत मे अपने साहित्य की रचना की। महायान सप्रदाय के दिव्यावदान, ललितविस्तर, जातकमाला, अवदान शतक, वज्रच्छेदिका आदि ग्रन्थ और मूल सर्वास्तिवादी सप्रदाय के विनय के ग्रन्थ लिखे गये। इसी प्रकार जैन साहित्य का भी विकास हुआ। प्राकृत मे गाथासप्तशती और बृहत्कथा की रचना हुई। इस प्रकार इस युग को सस्कृत साहित्य में पतजलि जैसे वैयाकरण, भास, शूद्रक जैसे नाटककार, अश्वघोष जैसे कवि, नागार्जुन जैसे दार्शनिक, वात्स्यायन जैसे काम-शास्त्रविशेषज्ञ उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त है। इस युग के वाङमय के विकास का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जाता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इसे प्रधान रूप से तीन भागो में बाँटा जाता है---धार्मिक साहित्य, दार्शनिक साहित्य, लौकिक एवं वैज्ञानिक साहित्य। धार्मिक साहित्य के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन साहित्य नामक तीन अवान्तर भेद किए जाते हैं। वर्गीकरण का दूसरा आधार भाषाओ की दृष्टि से

है। इस आधार पर तत्कालीन साहित्य को संस्कृत, प्राकृत और तामिल वाङमय के तीन बड़े वर्गों मे बाँटा जाता है। यह वर्गीकरण अधिक सुविधाजनक है। अतः इसका अनुसरण करते हुए, यहाँ इस युग के साहित्य का सक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

सस्कृत साहित्य

संस्कृत भाषा का उत्कर्ष--इस युग से पहले मौर्यकाल मे अशोक के सभी अभिलेख प्राकृत भाषा मे उपलब्ध होते है। किन्तु शुग युग मे हमे सर्वप्रथम सस्कृत के अभिलेख उपलब्ध होने लगते है। यह एक बडा महत्वपूर्ण परिवर्तन है। इस विषय मे कीथ[1] ने लिखा है कि "अशोक ने अपने विस्तृत राज्य मे अपनी जिन घोषणाओ मे प्रजा को सदाचरण के कर्तव्यो का बोध कराया था, वे घोषणाये अनिवार्य रूप से प्राकृत मे लिखी गई थी।" इस प्रकार चली आने वाली प्राकृत अभिलेखो की परम्परा बडी कठिनाई से समाप्त हुई। अभिलेखो का अभिप्राय यही था कि वे साधारण जनता द्वारा समझे जाने योग्य हों। इस युग मे अश्वमेध के पुनरुद्धार के साथ-साथ सस्कृत का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा और यह समझा जाने लगा कि अपने अभिलेखो का व्यापक प्रचार करने के लिये इनका माध्यम सस्कृत भाषा होनी चाहिये। द्वितीय शताब्दी ई० पू० मे सस्कृत के प्रभाव में वृद्धि होने लगती है। ईसापुर मे एक यज्ञीय यूप पर वासिष्क के २८ वे वर्ष का एक सस्कृत अभिलेख मिलता है। हुविष्क के एक अभिलेख मे लगभग शुद्ध सस्कृत पाई जाती है। १५० ई० का शक क्षत्रप रुद्रदामा का गिरनार अभिलेख सस्कृत की उत्कृष्ट काव्यशैली के कारण उल्लेखनीय है। इसमे हमे समास-प्रधान शैली के दर्शन होते है। इसके आरम्भ मे ही २३ अक्षरो वाले ९ शब्दों का समास है। राजा के वर्णन मे ४० अक्षरो से युक्त सत्रह शब्दो का समास बनाया गया है। इसमे वाक्यो की लम्बाई समासो की लम्बाई से होड करती है। शब्दालकारो मे अनुप्रास का प्रयोग मिलता है। इस प्रशस्ति के लेखक के अनुसार रुद्रदामा गद्य और पद्य दोनो मे स्फुटता, सरसता, वैचित्र्य, माधुर्य, अलकार प्रधान शैली का प्रयोग करता था। एक विदेशी राजा द्वारा सस्कृत का प्रयोग उस समय इस भाषा की लोकप्रियता और व्यापक प्रसार को एव उत्कृष्ट विकास को सूचित करता है।

इस युग मे सस्कृत की लोकप्रियता और सर्वमान्यता इस बात से भी स्पष्ट होती है कि बौद्धो ने तथागत के उपदेशो की मूल भाषा पालि के स्थान पर सस्कृत

१ **कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा० मंगलदेव कृत हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १८।**

भाषा को अपनाया। सभवत उस समय उन्हें अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने के लिये यह आवश्यक जान पडा कि वे तत्कालीन समाज मे समादृत और लोकप्रिय सस्कृत भाषा में अपने ग्रन्थो को लिखे। दूसरी शताब्दी ई० पू० से महासाघिक सप्रदाय के लोकोत्तरवादियो ने महावस्तु के प्रणयन मे तथा पहली श० ई० पू० मे सर्वास्तिवादियो ने ललितविस्तर के निर्माण से बौद्ध साहित्य मे इस नवीन प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। प्रिजिलुस्की इसका श्रेय दूसरी श० ई० पू० के मथुरा के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय को देते है, जिसने अशोकावदान को सस्कृत मे लिखा। पहली श० ई० में अश्वघोष जैसे सस्कृत के विद्वानो के बौद्ध धर्म के प्रति आकृष्ट होने से इस प्रवृत्ति को बडा प्रोत्साहन मिला। अश्वघोष ने धर्मप्रचार की दृष्टि से सौन्दरनन्द और बुद्धचरित जैसे उत्कृष्ट बौद्ध काव्यो की रचना की। बौद्धो के आरम्भिक संस्कृत ग्रन्थो–महावस्तु, ललितविस्तर–में प्राकृत भाषा का अधिक प्रभाव दिखाई देता है। अत विद्वानो ने इस भाषा को **प्राकृतमिश्रित बौद्ध संस्कृत** (Hybrid Buddhist Sanskrit) का नाम दिया है। अश्वघोष के समय तक बौद्ध ग्रन्थो की रचना विशुद्ध सस्कृत मे होने लगी। इस विषय मे जैन लोग बौद्धो की अपेक्षा अधिक रूढिवादी थे। किन्तु अन्त मे उन्होने भी सस्कृत के प्रयोग को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार इस युग मे प्राकृत भाषाओ का प्रभाव कम होने लगा और सस्कृत को अधिक लोकप्रियता मिली। गुप्त युग मे सस्कृत का जो चरमोत्कर्ष हुआ[1], उसकी नीव शुग-सातवाहन युग मे ही रखी गई थी। संस्कृत भाषा के उत्कर्ष के साथ इसके

---

१ मैक्समूलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर में यह मत स्थापित किया था कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में विदेशी शकों के आक्रमणों के कारण भारत के अशान्त एवं विक्षुब्ध राजनीतिक वातावरण में काव्य की उन्नति संभव नहीं थी। अत यह अन्धकारमय युग संस्कृत काव्य की घोर निशा का काल है। इस निद्रा का भंग और काव्य-कल्पना के मंगलमय प्रभात का अभ्युदय तब हुआ, जब गुप्त साम्राज्य का उत्कर्ष हुआ। यह समय संस्कृत काव्य के पुनर्जागरण (Renaissance) का था। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मैक्समूलर की यह कल्पना भ्रान्तिपूर्ण है। रुद्रदामा जैसे विदेशी शक राजा संस्कृत काव्य रचना में परम प्रवीण तथा इसे प्रोत्साहन देने वाले थे। कनिष्क ने अश्वघोष जैसे संस्कृत के कवियों को राजसंरक्षण प्रदान किया। अतः इस युग को संस्कृत साहित्य का घोर निशाकाल कहना ठीक नहीं है।

सभी अंगो मे उल्लेखनीय साहित्य का निर्माण किया गया। यहाँ कतिपय महत्वपूर्ण **विषयो मे** सस्कृत ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

संस्कृत साहित्य के विभिन्न अग

(**क**) **व्याकरण**--पाणिनि की अष्टाध्यायी पर अपना सुप्रसिद्ध महाभाष्य लिखने वाले पतजलि, पुष्यमित्र शुग के समकालीन और उसके अश्वमेध यज्ञ के पुरोहित थे। पतजलि ने स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि हम पुष्यमित्र का यज्ञ करा रहे है।[1] इनके जीवन पर प्रामाणिक प्रकाश डालने वाली सामग्री बहुत कम है। रामचन्द्र दीक्षित के पतजलिचरित के अनुसार वे शेष नाग के अवतार थे। उन्होने अपनी अखड तपस्या से शिव को प्रसन्न किया और उनके आदेश पर भाष्य का कार्य किया। यह भाष्य इतना प्रसिद्ध हुआ कि पडित लोग सहस्रो की सख्या मे उनके पास पढने आने लगे। पतजलि गोनर्द नामक स्थान के रहने वाले थे। डा० भडारकर वर्तमान अवध के गोण्डा को गोनर्द का अपभ्रश मानते है। एक दूसरा मत यह भी है कि यह गोनर्द विदिशा और उज्जैन के बीच मे होना चाहिये क्योकि बौद्ध साहित्य की एक कथा मे इसे इन दोनो स्थानो के बीच मे बताया गया है। महाभाष्य व्याकरण के क्षेत्र मे पाणिनि की अष्टाध्यायी के बाद सर्वोत्तम ग्रन्थ है। यह प्रतिदिन पढाये जाने वाले पाठो (आह्निको) के आधार पर ८५ भागो मे विभक्त है। इस प्रकार इसमे विद्यार्थियो को पढाये गए ८५ दिन के पाठ है। पतजलि ने अपने पूर्ववर्ती सभी व्याकरण-ग्रन्थो का और समस्त वैदिक और लौकिक प्रयोगो का सूक्ष्म अनुशीलन करने के बाद महाभाष्य का प्रणयन प्रारम्भ किया था। अत व्याकरण का कोई विषय उनकी लेखनी से छूटा नही है। उनकी लेखन पद्धति सर्वथा मौलिक और नैयायिको की तर्क-शैली पर आधारित है। भाष्यकार की विनोदात्मक और लौकिक उदाहरण देने वाली सजीव शैली ने व्याकरण जैसे नीरस विषय को भी सरस बना दिया है। पतजलि ने पाणिनि के सूत्रो का प्रतिपादन इतने पूर्ण और वैज्ञानिक ढग से किया कि इसकी रचना के बाद शाकटायन, आपिशल, काशकृत्स्न आदि पुराने व्याकरणो की परम्परा सर्वथा लुप्त हो गई।

इसी युग मे व्याकरण का एक दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ **कातन्त्र** पहली शताब्दी ई० मे लिखा गया। इसके विषय मे **बृहत्कथा** के आरम्भ मे यह कहानी दी गई है कि एक सातवाहन राजा प्राकृत भाषा से बडा अनुराग रखता था, वह अपनी एक विदुषी रानी के सस्कृत मे कहे गये एक वाक्य को समझने मे जब समर्थ नही हुआ तो उसने

१ **महाभाष्य ३, २, १२३, पृष्ठ २५४, इह पुष्यमित्रं याजयामः।**

अपने दरबार के एक ब्राह्मण शर्ववर्मा को कम से कम समय में उसे संस्कृत सिखाने का आदेश दिया। शर्ववर्मा ने यह प्रतिज्ञा की कि वह इस कार्य को छः महीने में पूरा कर देगा। इसलिये उसने देवताओ के सेनानी कुमार की कृपा से संस्कृत भाषा को सुगमतापूर्वक सीखने के लिये **कातन्त्र** नामक व्याकरण का ग्रन्थ लिखा। इसका शब्दार्थ है—सक्षिप्त ग्रन्थ। कातन्त्र को कुमार के वाहन मोर के कारण **कलाप** भी कहते हैं। इसमे सधि, नाम और आख्यात के तीन खण्डो मे स्वल्पमति और दूसरे शास्त्रो के अध्ययन मे लगे हुए लोगो के शीघ्र ज्ञान कराने के उद्देश्य से व्याकरण के प्रमुख नियमो का सक्षिप्त रूप से प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ अपनी सुगमता के कारण बृहत्तर भारत मे विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ। इसकी लोकप्रियता न केवल भारत मे, अपितु भारत से बाहर भी थी। जहाँ कही सस्कृत भाषा का अध्ययन होता था, वहाँ सभी देशो मे सस्कृत सीखने के लिये **कातन्त्र** का उपयोग होता था। इसके कुछ खण्डित अश मध्य एशिया मे मिले है। तिब्बत में भी इसका प्रचार था। कातन्त्र की सरलता और लोकप्रियता का यह कारण था कि इसने पाणिनि की उन विशिष्ट परिभाषाओ का प्रयोग नही किया था जिनके कारण यह व्याकरण दुरूह हो गया था, अपितु उसने पाणिनि से पहले प्रचलित प्रातिशाख्यो की पद्धति का अनुसरण किया था। उस समय **ऐन्द्र व्याकरण** अधिक प्रचलित था। शर्ववर्मा ने इसी ऐन्द्र पद्धति पर कातन्त्र व्याकरण की रचना की थी। व्याकरण की यह शैली सुगम होने के कारण बड़ी लोकप्रिय हुई। कात्यायन (कच्चायण) ने भी अपना पालि व्याकरण इसी शैली पर लिखा। द्रविड़ भाषाओ का प्राचीनतम उपलब्ध तामिल व्याकरण **तोलकप्पियम्** भी इसी पद्धति पर लिखा गया था।

व्याकरणो के साथ ही इस समय कोशों की भी रचना हुई। सुप्रसिद्ध अमरकोश के देव प्रकरण मे सबसे पहले बुद्ध के नामो की गणना की गई है, फिर ब्रह्मा तथा विष्णु के। विष्णु के ३९ नामो मे राम का नाम नही है और कृष्ण के अनेक नाम है। अत यह रचना राम को अवतार मानने की कल्पना से पूर्व हुई होगी। इस कारण अमरकोश के कर्त्ता अमरसिह का समय समवत पहली शताब्दी ई० पू० माना जाता है।

स्मृति ग्रन्थ

मनुस्मृति—स्मृति ग्रन्थो मे सर्वोच्च स्थान मनुस्मृति को दिया जाता है। इसके प्रणेता सृष्टि के आदि मे विराट् से उत्पन्न हुए मानव जाति के आदि पुरुष मनु को माना जाता है। किन्तु इस परम्परागत दृष्टिकोण को वर्तमान ऐतिहासिक सत्य

नही मानते है। उनके मतानुसार इस महान् ग्रन्थ को प्राचीनता एव प्रामाणिकता देने के लिए ही इसे मनुकृत कहा जाता है। मैक्समूलर और डा० बुहलर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुस्मृति मानव धर्मसूत्र नामक एक प्राचीन ग्रन्थ का सशोधित रूप ही है। किन्तु धर्मशास्त्रो के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० पाण्डुरग वामन काणे के मतानुसार सभवत मानवधर्मसूत्र नामक ग्रन्थ कभी विद्यमान ही नही था। नारद स्मृति के अनुसार वर्तमान मनुस्मृति के रचयिता सुमति भार्गव है। डा० बुहलर ने मनुस्मृति का रचनाकाल २०० ई० पू० से १०० ई० पू० निश्चित किया था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने तीन शताब्दियो की इस अवधि को तीन दशाब्दियो में सकुचित करते हुए उसे १५० ई० पू० से १२० ई० पू० के बीच की रचना इस आधार पर माना है कि १५० ई० पू० मे होने वाले पतजलि का तथा मनु का दृष्टिकोण शको और यवनो के सम्बन्ध मे एक जैसा है। मनु का यह कहना है कि शक एव यवन पहले कभी क्षत्रिय थे, किन्तु उनके समय मे शूद्र हो चुके थे। यही बात महाभाष्य (२।४।१०) मे कही गई है। किन्तु मनु शको एव यवनो के साथ पहलवो का भी उल्लेख करते है, जिनका पतजलि को पता नही था। पहलव शब्द ईरान की पार्थव जाति का सस्कृत रूप है। पार्थव राज्य ईरान मे यद्यपि २४८ ई० पू० में स्थापित हो गया था, किन्तु मिथ्रदात प्रथम (१७१–१३८ ई० पू०) के समय मे १५० ई० पू० मे पार्थवो ने यूनानियो से उत्तर-पश्चिमी भारत के सीमावर्ती प्रान्त छीने थे। इसी समय से पहलव नाम भारत मे प्रचलित हुआ। पतजलि का समय इससे ठीक पहले है, इसलिये महाभाष्य मे पहलवो का नाम नही है। अत मनु का समय १५० ई० के बाद ही होना चाहिये। मनु ने कुरुक्षेत्र और शूरसेन के प्रदेशो को धार्मिक आचार-व्यवहार मे प्रामाणिक माना है (२।१७–२०), किन्तु ये प्रदेश १०० ई० पू० से पहले ही म्लेच्छ शको की प्रभुता मे चले गये थे। इसलिये मनुस्मृति की रचना इस घटना से पहले होनी चाहिये।[१] इस आधार पर जायसवाल इसका समय १५०–१२० ई० पू० के बीच मे मानते है। मनुस्मृति की आन्तरिक साक्षी से भी यह सिद्ध होता है कि यह दूसरी शताब्दी ई० पू० की रचना है, क्योकि इसमे शुग काल के आदर्श और विचार बडे उग्र रूप मे पाये जाते है।

मनुस्मृति के १२ अध्यायो के २६९४ श्लोकों मे भारतीय समाज से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयो—वर्ण, धर्म, सस्कार, आश्रम, गृहस्थ के नियम, राजधर्म, न्याय, शासन सम्बन्धी राजा के कर्तव्यो, विभिन्न प्रकार के व्यवहारो तथा कानूनी

१. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य।

विषयो, का कम्बोज, यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी तथा सकर जातियों के नियमों का तथा कर्म के सिद्धान्त का विवेचन है। पिछले दो हज़ार वर्ष मे भारतीय समाज पर मनुस्मृति का अद्वितीय प्रभाव पड़ा है। इसकी व्यवस्थाये हिन्दुओ के समूचे धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, साँस्कृतिक जीवन मे ओतप्रोत रही है। इस प्रकार मनुस्मृति हिन्दू जाति की नस-नस और रोम रोम मे व्याप्त है। इसका प्रभाव न केवल भारत मे पड़ा है, वरन् प्राचीन काल मे भारतीय सस्कृति भारत से बाहर जिन देशो मे गई वहाँ भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतीय लोग विदेशो मे जाते हुए मनुस्मृति को भी अपने साथ ले गये। चम्पा के एक अभिलेख मे मनुस्मृति के बहुत से श्लोक मिलते है। बर्मा के प्राचीन सामाजिक जीवन का सचालन मनुस्मृति पर आधारित नियमो से होता था। बाली के टापू मे अब तक मनु की पूजा और प्रतिष्ठा है।

याज्ञवल्क्य स्मृति--याज्ञवल्क्य स्मृति भी मनुस्मृति की भाँति हिन्दू समाज पर गहरा प्रभाव डालती रही है। हिन्दू कोड बिल के कानूनी रूप धारण करने से पूर्व भारतवर्ष के अधिकांश भाग मे सपत्ति के बटवारे और दाय-भाग के विषय में इस स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा ११ वी शताब्दी ई० मे लिखी गई टीका **मिताक्षरा** के अनुसार समूची व्यवस्था की जाती थी। इसका रचनाकाल भी सातवाहन युग का ही है। श्री जायसवाल जी का यह मत है कि याज्ञवल्क्य स्मृति मे (२।२४०--४१) मे नाणक शब्द का प्रयोग हुआ है। मृच्छकटिक (१।२३) में भी यह शब्द मिलता है और टीकाकार ने इसका अर्थ करते हुए कहा है--**नाणं शिवांकटंकादि** अर्थात् नाण शिव के चिह्न वाले सिक्के को कहते है। पहले पाँचवे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि कनिष्क के कुछ सिक्कों पर नना नामक ईरानी देवी का उल्लेख है। इस देवी के नाम वाले सिक्को को नाणक नाम दिया गया, कनिष्क के वशजो की कुछ मुद्राए भी शैव धर्म के चिह्नो से अंकित थी। अत. नाणक का अर्थ शिवाक से युक्त मुद्रा भी हो गया। इन सब कारणो से याज्ञवल्क्य स्मृति का समय १५० ई० से २०० ई० तक के बीच मे माना जाता है। श्री काणे ने इसका काल पहली शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० के बीच मे रखा है।

याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति से अधिक सुव्यवस्थित और सुसंगठित रचना है। इसमे स्मृतियो द्वारा प्रतिपादित विषयों को तीन भागो मे विभक्त करके इनका आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त नामक तीन अध्यायो मे प्रतिपादन किया है, व्यर्थ का पुनरुक्तिदोष कही आने नही दिया गया। इसलिए दोनो स्मृतियो मे समानता होते

हुए भी याज्ञवल्क्य स्मृति अधिक संक्षिप्त है। मनु के २७०० श्लोकों के विषय को याज्ञवल्क्य स्मृति में केवल १००० श्लोकों में प्रतिपादित किया गया है।

नारद स्मृति--इसकी रचना याज्ञवल्क्य स्मृति के बाद हुई है। नारद स्मृति के इस समय छोटे और बड़े दो संस्करण मिलते हैं। नारद ने प्रधान रूप से कानूनी विषयों का वर्णन किया है। इसमें मनुस्मृति का अनुसरण करते हुए कानूनी झगड़ों (विवाद पदों) के १८ विषयों को लगभग ज्यों का त्यों ले लिया है। इस स्मृति में इस समय लगभग १०२८ श्लोक मिलते हैं। यह याज्ञवल्क्य के पाँच प्रकार के दिव्यों के स्थान पर सात प्रकार की दैवी परीक्षाओं का वर्णन करती है। इसके अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य बहुत से भेद नारद को याज्ञवल्क्य के बाद का स्मृतिकार सिद्ध करने में सहायता देते हैं। नारद स्मृति में विशेष रूप से कानूनी अथवा व्यवहार विषयक बातों का ही वर्णन किया गया है। इस स्मृति का काल-निर्णय प्रधान रूप से दीनार शब्द के आधार पर किया जाता है। डा० विन्टरनिट्ज रोमन जगत में प्रचलित डिनेरियस (Denarius) सिक्के के नाम को संस्कृत के दीनार शब्द का मूल समझते हैं और इस आधार पर नारद स्मृति का समय दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० मानते हैं, किन्तु डा० कीथ इस शब्द को और भी पुराना मानते हैं क्योंकि रोमन लोगों ने सर्वप्रथम २०७ ई० पू० में दिनारियम का सिक्का बनवाया था और इसके अनुकरण पर कुषाणों ने पहली शताब्दी ई० में इस सिक्के को भारत में ढलवाया था। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि नारद स्मृति की रचना १०० ई० से ३०० ई० के बीच में हुई होगी। इस समय विदेशी व्यापार के कारण भारत में जिस आर्थिक समृद्धि का श्रीगणेश हुआ था, उसका प्रतिबिम्ब नारद स्मृति में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, क्योंकि इसमें साझेदारी से व्यापार करने वाले व्यापारियों और सम्मिलित पूँजी द्वारा व्यापार करने वाली कम्पनियों (Joint stock companies) के नियमों का मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों की अपेक्षा अधिक विशद वर्णन है।

बृहस्पति स्मृति--अभी तक बृहस्पति स्मृति सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुई है। इसके विभिन्न श्लोक उद्धरणों के रूप में अन्य टीकाओं और निबंध ग्रन्थों में पाये जाते हैं। डा० जाली ने विभिन्न धर्मशास्त्रों में उद्धृत इसके ७११ श्लोकों को एकत्र किया है। बृहस्पति ने अधिकांश बातें मनुस्मृति से ग्रहण की हैं, किन्तु इनकी व्याख्या और स्पष्टीकरण अधिक उत्तम रीति से किया है। बृहस्पति संभवतः पहले धर्मशास्त्री थे, जिन्होंने दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal)

मामलो के कानूनी भेद को स्पष्ट किया। इन्होने मनु के समय से चले आने वाले कानूनी झगड़ो के १८ विवाद पदो को दो बड़े भागो में अर्थात् धन सम्बन्धी १४ पदो मे और हिसाविषयक अथवा फौजदारी के चार पदो में विभक्त किया। बृहस्पति ने युक्तिहीन न्याय की निन्दा की है। उनके अनुसार निर्णय केवल शास्त्र के आधार पर नही होना चाहिये, अपितु युक्ति के अनुसार होना चाहिये, नहीं तो चोरी न करने वाला चोर समझा जावेगा और दुष्ट व्यक्ति साधु। बृहस्पति स्मृति वर्तमान कानून की दृष्टि से मनु एव याज्ञवल्क्य स्मृतियो की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ रचना है। डा० जाली बृहस्पति का समय छठी सातवी शताब्दी ई० मानते है, किन्तु काणे ने बृहस्पति का समय २०० से ४०० के बीच मे रखा है। इसके विपरीत श्री के० बी० रंगस्वामी आयगर इसका निर्माण-काल दूसरी शताब्दी ई० पू० समझते है।[1]

महाकाव्य

रामायण और महाभारत हमारे जातीय महाकाव्य है। इनमें वर्णित धर्म, आचार-व्यवहार के नियम, सस्थाए, व्यवस्थाए और प्रथाए हजारो वर्ष बीत जाने पर आज भी हमे प्रेरणा दे रही है और हमारी जाति के जीवन के निर्माण मे प्रमुख भाग ले रही है। भारतीय जीवन की वास्तविक आधारशिला यही है। इन दोनों महाकाव्यो की रचना किसी एक निश्चित समय मे नही हुई, अपितु इनका शनैः शनैः अनेक शताब्दियो मे विकास हुआ है। शुग सातवाहन युग मे रामायण और महाभारत मे अनेक अश जोड़े जाते रहे। विशेषत विदेशी जातियो का उल्लेख करने वाले तथा दूसरे देशों के बन्दरगाहो और व्यापारिक स्थानों का परिचय देने वाले अनेक अश इस युग मे रचे गये। यहाँ दोनों काव्यों के कतिपय ऐसे अशो का ही सक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

(क) **रामायण**—वाल्मीकि रामायण को आदिकाव्य कहा जाता है। इसकी घटना नि.सन्देह बहुत पुरानी है, किन्तु इसके वर्तमान रूप का अधिकांश भाग छठी शताब्दी ई० पू० में लिखा गया। शुग सातवाहन युग मे इसमे अनेक संशोधन-परिवर्तन होते रहे। ईसा की पहली शतियों मे ही इसे वर्तमान रूप मिला। रामायण के कुछ अश स्पष्ट रूप से इसमें वर्तमान युग मे जोड़े गए। ऐसे अंशो में किष्किन्धा काण्ड का चालीसवाँ अध्याय है। इसमे सुग्रीव द्वारा सीता की खोज मे वानरों को भेजते हुए उन्हें बताया जाने वाला विभिन्न दूरवर्ती एव अज्ञात प्रदेशो का विवरण

१. आयंगर—बृहस्पति स्मृति, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ सं० ८५ भूमिका पृष्ठ १८५।

है। फ्रेंच विद्वान् सिल्व्या लेवी ने यह प्रदर्शित किया है कि किष्किन्धा काण्ड का भौगोलिक वर्णन सम्भवत: उसी मूल स्रोत से लिया गया है, जिसका उपयोग हरिवंश पुराण तथा सद्धर्मस्मृत्युपस्थान सूत्र मे किया गया है। यह मूल ग्रन्थ पहली दूसरी शताब्दी ई० पू० से पहले का और पहली शताब्दी ई० के बाद का नही हो सकता है, क्योकि इसमे इस समय राजनीतिक उत्कर्ष पाने वाली शक, यूनानी, पार्थियन और तुखार जातियों के देशो का विवरण दिया गया है। किष्किन्धा काण्ड मे सुग्रीव द्वारा वर्णित विदेशो का वर्णन इसी समय रामायण मे जोड़ा गया प्रतीत होता है।

सुग्रीव ने पूर्व दिशा मे विनत के नेतृत्व मे वानरो को भेजते हुए उस मार्ग का विवरण दिया है, जिससे वे क्षीरोद सागर मे पहुँचेगे। कुछ विद्वानो ने इस क्षीरोद सागर की पहिचान कैस्पियन सागर मे की है क्योंकि मार्कोपोलो ने इसका नाम सीरवान लिखा है और यह शब्द संस्कृत के दुग्धवाची क्षीर का ईरानी रूपान्तर है।[1] इसी क्षीर सागर मे ऋषभ नामक महाश्वेत पर्वत का भी वर्णन किया गया है। यह महाभारत (१२।३२२–२५,३३७। १८) मे वर्णित श्वेतद्वीप मे अवस्थित था और नारद मुनि यहा नारायण की पूजा करने के लिये जाया करते थे। सुग्रीव ने एक दूसरे दूत शतबल को उत्तर दिशा मे कुरु, मद्र, कम्बोज और यवन जातियों के प्रदेशों मे जाने, शकों की नगरियों की तथा हिमालय की खोज का निर्देश देते हुए उसे सुदर्शन पर्वत के बाद **देवसखा** नामक पर्वत का अन्वेषण करने को कहा है। यह पर्वत नाना प्रकार के पक्षियों और विभिन्न प्रकार के पेडो से अलकृत था। इस पर्वत को मध्य एशिया का थियान शान पर्वत समझा जाता है। चीनी भाषा मे इस शब्द का अर्थ देवताओं का पर्वत है। थियान शान मध्य एशिया के सिकियाग प्रान्त को पूर्व से पश्चिम तक दो भागो मे बाँटता है। इसका दो-तिहाई दक्षिणी भाग तारिम नदी से सिंचित होने वाला मरुस्थलों और शाद्वलो का प्रदेश है और उत्तरी भाग जुगरिया अत्यन्त प्राचीन काल से अनेक फिरन्दर जातियो का मूल स्थान है। देवसखा पर्वत के उस पार के प्रदेश का वर्णन करते हुए रामायण मे कहा गया है कि यहाँ कोई पेड़ पौधा और किसी प्रकार का कोई प्राणी नही है। यह विवरण मध्य एशिया के निर्जन, वृक्षहीन, विशाल, सूखे वृक्ष रहित चौरस मैदानों (Steppes) का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करता है। किष्किन्धा काण्ड (४३।२५।२७) मे वर्णित क्रौंच पर्वत एव महाभारत के क्रौंच द्वीप की पहिचान सिकियाग की एक नदी कोच दरिया से की गई है। इसी प्रदेश की एक अन्य नदी **शैलोदा** के किनारे कीचक नामक बाँस के

[1] बुद्ध प्रकाश—इंडिया एण्ड दि वर्ल्ड, पृष्ठ १२८

पेड़ो का वर्णन किया गया हैं। महाभारत मे शैलोदा नदी को मेरु और मंदर पर्वतों के बीच में बहने वाला बताया गया है। सिल्व्यां लेवी ने मेरु को पामीर तथा मंदर को इरावदी नदी के उपरली घाटी के पर्वत से अभिन्न माना है। महाभारत के अनुसार यहाँ खस, पारद, कुलिद, तगण, परतगण जातियाँ कीचक वेणुओ की छाया मे रहा करती थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे ये जातियाँ निम्न वस्तुओं की भेंट लाई थी—चीटियों द्वारा निकाला जाने वाला पिपीलक सोना, श्वेत और काले रंग के चंवर, उत्तर कुरु देश की बहुमूल्य मणियो की मालाए तथा कैलाश पर्वत के उत्तरी प्रदेश की जड़ी बूटियाँ और ओषधियाँ। इस शैलोदा नदी का वर्णन बासुदेव-हिण्डी तथा बृहत्कथा श्लोक सग्रह मे वर्णित सानुदास की कथाओ में भी है और इसकी पहिचान सिल्व्यां लेवी ने खोतन नदी से की है, क्योकि यह जेड (Jade) नामक मणियों के लिए प्रसिद्ध है। इसके पास ही सोने और रत्नो से परिपूर्ण एक अन्य देश का (४३। ३८।४०) वर्णन किया गया है। इस प्रदेश की पहिचान प्राचीन काल मे चाँदी की खानो के लिये प्रसिद्ध अन्दराब के प्रदेश से तथा लालों और नीलम (Sapphires) के लिए प्रसिद्ध बदख्शा के प्रदेश से की जाती है।

रामायण के समय तक भारतीय लोग उत्तरी महासागर (North Sea) के निकटवर्ती पर्वतो तक पहुँच गये थे। इस सम्बन्ध मे किष्किन्धा काण्ड मे यह वर्णन है कि इस प्रदेश मे सूर्य नही चमकता था, किन्तु सोमगिरि नामक एक पर्वत से क्षितिज को आलोकित करने वाला एक प्रकाश निकलता था। महाभारत (६।८। १०–११) में इस प्रदेश को ऐरावतवर्ष बताते हुये यह कहा गया है कि यहाँ सूर्य का प्रकाश नही होता था और यह **स्वयंप्रभा** देवी का निवास-स्थान था। यह समवत उत्तरी ध्रुव के उन प्रदेशो का वर्णन है जहाँ महीनो तक अधेरा रहता है, सूर्य नही दिखाई देता है और एक विशेष प्रकार का प्रकाश-उत्तर-ध्रुवीय ज्योति (Aurora Borealis) इस प्रदेश को आलोकित करती है। रामायण के स्वर्णमय सोमगिरि पर्वत का प्रकाश यही आलोक प्रतीत होता है। रामायण मे सुग्रीव ने वानरो को इस बियाबान और उजाड़ प्रदेश से जल्दी वापिस लौटने को कहा है, क्योकि अत्यन्त शीतल होने के कारण ये प्रदेश निवास योग्य नही समझे जाते थे। उन दिनो ईसा की आरम्भिक शतियो में भारतीय लोग व्यापार के लिये दूर-दूर विदेशो मे जाने लगे थे और रामायण क किष्किन्धा काण्ड मे हमे इन प्रदेशो का उपर्युक्त वर्णन इसी समय जोड़ा गया प्रतीत होता है। साइबेरिया का प्रदेश प्राचीन काल मे अपने स्वर्णवैभव के लिये

प्रसिद्ध था, संभवत भारतीय व्यापारी सोने की खोज मे इस प्रदेश मे गये और उन्हें उपर्युक्त प्रकाश दिखाई दिया। इनके वर्णन के आधार पर ही रामायण में इसका स्वयप्रभा देवी के रूप मे उल्लेख हुआ है।

(ख) महाभारत—इसमे भी रामायण की भाति इस युग के देशो और जातियो का वर्णन करने वाले कुछ अश जोड़े गये। इसमे सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजय-पर्व उल्लेखनीय है। इसमे पाण्डवो द्वारा चारो दिशाओ के सब देशों और जातियो को जीतने का वर्णन है। प्राचीन भूगोल की दृष्टि से इसका सबसे महत्वपूर्ण अश वह है जिसमे अर्जुन के उत्तर दिग्विजय मे काम्बोजो अर्थात् पामीर के पूर्व मे ऋषिको अथवा युइचि जाति का उल्लेख है। संभवत महाभारत का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अश शातिपर्व का राजधर्मपर्व है। अर्थशास्त्र और मनुस्मृति के बाद प्राचीन राजनीतिक सस्थाओ के बारे मे सब से अधिक जानकारी इससे प्राप्त होती है। इसमे युद्ध मे योद्धाओ के शस्त्रास्त्र और रणसामग्री पर प्रकाश डालते हुए भीष्म ने विभिन्न जनपदो की चाल-ढाल बताते हुये कहा है कि मथुरा (मथुरा) के चारो तरफ जो यवन, काम्बोज रहते है, वे अश्वयुद्ध मे कुशल होते है।[1] इस प्रकार यह श्लोक उस समय लिखा गया प्रतीत होता है कि जिस समय काम्बोज अर्थात शक या तुखार लोग मथुरा प्रदेश को जीत कर उसमे बस चुके थे। यह स्थिति पहली शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक थी। अतः महाभारत का यह प्रकरण इस समय लिखा गया होगा। इस सदर्भ की यह भी विशेषता है कि इसमे शको को अश्वयुद्ध मे कुशल माना गया है। जिस प्रकार चीन और रोम ने इस युद्धकला मे शको से बहुत सी बाते सीखी थी, उसी प्रकार संभवत. भारतीयों ने भी मध्य एशिया की इन अर्द्धसभ्य जातियो से इस युद्धकला की कुछ बाते ग्रहण की थी। यवनो और शको के आक्रमणो से प्राचीन भारतीय समाज मे जो उथल-पुथल हुई, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब महाभारत के शातिपर्व (७८।१२–१८,३६, ३८ व ३९) मे दिखाई देता है। इसमे भीष्म ने कहा है कि जब मर्यादा टूट जाय, शत्रुओ के आक्रमण हो, तो न केवल क्षत्रियों को अपितु सभी वर्णों को शस्त्र उठाने चाहिए। दस्युओ से परिपीडित अनाथ और सताए लोग जिसका आश्रय लेकर सुख से रहें, वह शूद्र हो या कोई और, मान पाने का अधिकारी है।

---

१. महाभारत शांतिपर्व १०११५, तथा यवनकाम्बोजा मथुरामभितश्च ये। एतेऽश्वयुद्धकुशलाः।

इस प्रकार शांति पर्व का अधिकांश भाग, विशेषकर राजधर्म पर्व पहली दूसरी शताब्दी ई० की रचना माना जाता है।

काव्य और नाटक

पतंजलि के महाभाष्य (४। २। ६०, ४।३।८७-८८) से यह प्रतीत होता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में कई प्रकार के काव्य ग्रन्थों का प्रचलन था। इसमें ययाति, यवक्रीत, प्रियंगु, सुमनोत्तर के आख्यानों का तथा उदयन की रानी वासवदत्ता की लोकप्रिय कथा का और देवासुर संग्रामों का निर्देश किया गया है। किन्तु ये सब काव्य हमें इस समय उपलब्ध नहीं होते है। इस युग के उपलब्ध काव्यों में सर्वोत्तम रचनायें अश्वघोष की सुप्रसिद्ध कृतियाँ सौन्दरनंद और बुद्धचरित है। पहले काव्य की पुष्पिका में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह सुवर्णाक्षी के पुत्र साकेत निवासी महाकवि और बड़े तार्किक विद्वान् अश्वघोष की रचना है।[१] इनके काव्यों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे, वैदिक साहित्य के प्रकांड पंडित तथा वाल्मीकि रामायण और महाभारत के मर्मज्ञ थे। पहले यह बताया जा चुका है कि चीनी परंपरा के अनुसार ये कुषाणवंशी राजा कनिष्क के साथ सम्बद्ध थे। कनिष्क ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करके मगध-नरेश को हराया तथा उसकी मुक्ति दो शर्तों पर की थी। पहली शर्त भगवान् तथागत के द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले भिक्षापात्र को लेना था और दूसरी राजकवि अश्वघोष को अपने दरबार के लिये प्राप्त करना था। अश्वघोष ने कनिष्क द्वारा बुलाई गई चौथी बौद्ध महासभा में भी प्रमुख भाग लिया। उसके काव्यों में सबसे पहली कृति सौन्दरनद है। इसे बनाने का उद्देश्य बौद्ध धर्म का प्रचार करना था। इसके अन्त (१८। ६३) मे उसने यह लिखा है कि जिस प्रकार कड़वी दवाई को रुचिकर बनाने के लिये उसमें शहद मिलाया जाता है ताकि इस दवा को लोग आसानी से पी सकें, इसी प्रकार मोक्ष एवं धार्मिक विषयों जैसी सूखी बातों को रोचक और हृदयंगम बनाने के लिये मैंने इस काव्य का निर्माण किया है[२]। सौन्दरनद १८ सर्गों का एक महाकाव्य है। इसमें बुद्ध के

---

१. आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्।

२. सौन्दरनन्द १८।६३––इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
यन्मोक्षात् कृतमन्यत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥

सौतेले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के तथागत का अनुयायी बनने का बड़ा हृदयग्राही वर्णन है। भोग विलास में आकण्ठमग्न नन्द जीवन के सुखो को बिल्कुल नही छोड़ना चाहता, किन्तु उसे बड़े कौशल से प्रव्रज्या के लिये बाधित किया जाता है। इसमे भोगवासना और वैराग्य प्रधान जीवन के सघर्ष का, नन्द तथा सुन्दरी की मूक वेदना का और इनकी कोमल भावनाओ का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है।

अश्वघोष का दूसरा काव्य बुद्धचरित तथागत की जीवनकथा का वर्णन करता है। दुर्भाग्यवश यह संस्कृत में पूर्ण रूप मे नही मिलता है। चीनी तथा तिब्बती अनुवाद में इस महाकाव्य के पूरे २८ सर्ग मिलते है। किन्तु सस्कृत मे यह १३वें सर्ग तक ही उपलब्ध होता है। इस काव्य का आरम्भ महात्मा बुद्ध के जन्म से होता है और बुद्धत्वप्राप्ति के साथ इसकी समाप्ति होती है। इसमे अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के सघर्षमय जीवन की नाना घटनाओ का बड़ा सजीव काव्यमय चित्रण किया है। इन दो काव्यो के अतिरिक्त अश्वघोष की चीनी भाषा में अनूदित कई अन्य रचनाये भी मिलती है। इनमे वज्रसूची, सूत्रालकार, गण्डीस्तोत्र, महायान-श्रद्धोत्पाद और एक नाटक शारिपुत्रप्रकरण है। **वज्रसूची** मे वर्णव्यवस्था का तीव्र खडन है। कुछ विद्वानो ने अश्वघोष के ब्राह्मण होने के कारण वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात करने वाली इस रचना को अश्वघोष की कृति मानना स्वीकार नही किया। फिर भी अधिकांश विद्वान इसे अश्वघोष की रचना मानते है। किन्तु **सूत्रालंकार** के सम्बन्ध मे यह स्थिति नही है। इसमें बौद्ध धर्म के उपदेशो को सुगमता से हृदयगम कराने वाली अनेक प्राचीन आख्यायिकाओ का सग्रह है। ४०५ ई० मे इसका चीनी अनुवाद करने वाले **कुमारजीव** ने इसे अश्वघोष की रचना बताया था, किन्तु मध्य एशिया से उपलब्ध इस ग्रन्थ के मूल सस्कृत के कुछ अशो से यह सूचित होता है कि इसका प्रणेता **कुमारलात** था और इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम **कल्पनामंडितिका** या **कल्पनालंकृतिका** है। युआन च्वाग के कथनानुसार कुमारलात सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक और तक्षशिला का निवासी था। इसका समय दूसरी शताब्दी ई० माना जाता है। **महायानश्रद्धोत्पाद शास्त्र** चीनी अनुवाद के रूप मे पहले अश्वघोष द्वारा रचित सर्वमान्य दार्शनिक ग्रन्थ स्वीकार किया जाता था, किन्तु इसमे महायान के सुविकसित शून्यवाद का प्रतिपादन होने से आधुनिक विद्वान इसे सर्वास्तिवादी अश्वघोष की रचना नही मानते है। चीनी भाषा में अनूदित **गण्डीस्तोत्र** नामक गीतिकाव्य भी इसी महाकवि की कृति माना जाता है।

अश्वघोष ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये न केवल काव्यो की रचना की,

अपितु नाटक भी लिखे। मध्य एशिया के तुरफान नामक स्थान में इनके एक नाटक **शारिपुत्र** अथवा **शारद्वतीपुत्रप्रकरण** के कुछ पृष्ठ मिले हैं। इनका संपादन जर्मन विद्वान लूडर्स ने किया है। नौ अंकों के **शारिपुत्रप्रकरण** में बुद्ध द्वारा अपने प्रधान शिष्यों शारिपुत्र और मौद्गल्यायन को अपने धर्म का अनुयायी बनाने का वर्णन है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रकरण नामक नाटक के प्रकार की सब विशेषतायें इसमें पाई जाती है, इसके अतिरिक्त एक अन्य खंडित नाटक के कुछ पन्ने शारिपुत्र प्रकरण के साथ मिले है। इन पर यद्यपि ग्रन्थकार का नाम नहीं है, फिर भी एक ही हस्तलेख में उपलब्ध होने के कारण इन्हें अश्वघोष की रचना माना जाता है। इसमें शान्तरस प्रधान है। इसके कुछ पात्र बुद्ध और उनके ऐतिहासिक शिष्य है। किन्तु कुछ पात्र अमूर्त तत्वों के प्रतीक है, जैसे रति, मति आदि। इस प्रकार अश्वघोष संस्कृत साहित्य में प्रतीक नाटकों की परम्परा आरम्भ करने वाले प्रतीत होते हैं। मध्य युग में **प्रबोध चन्द्रो-दय** नाटक में इसी प्रकार की परम्परा पाई जाती है। एक चीनी अनुवाद में और धर्मकीर्ति तथा जयन्त भट्ट के ग्रन्थो मे किये गये वर्णन के अनुसार अश्वघोष को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उसने बुद्ध द्वारा राष्ट्रपाल को अपना अनुयायी बनाने के विषय को लेकर एक संगीतप्रधान नाटक की रचना की थी।

इस युग का एक अन्य बौद्ध कवि मातृचेट है। इसका ८५ पद्यों का एक लघुकाव्य **महाराजकनिक लेख** के नाम से तिब्बती भाषा में अनूदित होकर सुरक्षित है। यह कहा जाता है कि कनिष्क ने बौद्ध धर्म के उपदेशों को सुनने के लिये मातृचेट को अपने दरबार में बुलाया, किन्तु अत्यन्त वृद्ध होने के कारण कवि ने दर-बार में आने में असमर्थता प्रकट की और बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का मनो-रम विवरण एक पद्यात्मक पत्र में लिखकर कनिष्क को भेजा, इन पद्यों के अन्त में कवि ने राजा को यह उपदेश दिया है कि तुम वन्य पशुओं को अभयदान दो और शिकार करना छोड़ दो। मातृचेट का एक दूसरा ग्रन्थ **वर्णार्हवर्णस्तोत्र** मध्य एशिया से प्राप्त हुआ है। इसमें बारह परिच्छेद है। इनमें बुद्ध की बड़ी भव्य एवं अति सुन्दर स्तुति की गई है। तीसरा ग्रन्थ १५० अनुष्टुप् श्लोकों का **अध्यर्धशतक** संभवत मातृचेट द्वारा बुद्ध की स्तुति में लिखी गई सबसे प्रसिद्ध रचना है। इसकी लोकप्रियता का परिचय हमें इसके अनुवादों से मिलता है। तिब्बती और चीनी भाषा में अनूदित होने के अतिरिक्त मध्य एशिया की तोखारी भाषा में इसके अनुवाद के कुछ अंश पाये गये हैं। १३ विभागों में विभक्त १५३

श्लोकों वाले इस स्तुतिपरक काव्य ने अनेक परवर्ती कवियो को प्रेरणा दी। आचार्य दिङनाग ने इसके प्रत्येक पद्य के साथ अपने पद्यो को जोडकर तीन सौ श्लोको का मिश्रस्तोत्र नामक एक काव्य बनाया, जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा मे अब तक मिलता है। जैन आचार्य सिद्धसेन, समतभद्र और हेमचन्द्र ने अपने स्तोत्रो की की रचना मातृचेट के आदर्श पर की। यह काव्य बौद्ध जगत में अपनी सरल, आडंबरहीन, प्रभावोत्पादक, हृदयग्राही शैली के लिये इतना प्रसिद्ध था कि सातवी शताब्दी मे इत्सिंग ने यह लिखा था कि भारत मे स्तोत्रों की रचना करने वाले कवि मातृचेट को इस साहित्य का मान कर उसका अनुकरण करते है। बौद्ध आचार्यो और जैन सूरियो को स्तोत्र लिखने की प्रेरणा देने के कारण हम मातृचेट को संस्कृत मे स्तुति-काव्य का जनक मान सकते हैं। इसके पद्यो मे हृदय को स्पर्श करने की तथा भगवान् बुद्ध के गम्भीर सिद्धान्तो को सुबोध भाषा मे प्रगट करने की विलक्षण क्षमता है।

स्तोत्रो के अतिरिक्त इस समय बौद्धो ने अवदान साहित्य का भी उल्लेखनीय विकास किया। **अवदान** का शब्दार्थ उदात्त अथवा महान् कार्यो का वर्णन करने वाली कथा है। इसमे प्राय बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध अथवा बौद्ध धर्म के विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाली हृदयस्पर्शी मार्मिक कथाओ का वर्णन होता है। ये पौराणिक कथाओ तथा आख्यानो की भाति बडी प्रभावोत्पादक एवं चमत्कारपूर्ण होती है। उपलब्ध अवदान ग्रन्थों मे **अवदानशतक** सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध मे चीनी भाषा मे इसका अनुवाद हुआ था। इसमें दीनार शब्द का प्रयोग है, अत. कीथ के मतानुसार इसका समय १०० ई० से पूर्व का नही हो सकता है। इसकी सब कथाए एक निश्चित ढग से प्रारम्भ होती है। वर्णन की भी एक निश्चित शैली है। अतिशयोक्ति और अनावश्यक विस्तार इस ग्रन्थ की बडी विशेषताए है। उपदेश देने की भावना इसमे इतनी प्रबल है कि इससे इसका साहित्यिक सौदर्य बिल्कुल दब गया है। साहित्य की दृष्टि से **दिव्यावदान** कही अधिक रोचक है। इसका समय दूसरी शताब्दी ई० समझा जाता है। यह भी बौद्ध धर्म विषयक कथाओ का सग्रह है, इसकी बहुत सी सामग्री बौद्धो के सर्वास्तिवाद संप्रदाय के पिटक से ली गई है। इसके कुछ भाग निश्चित रूप से महायान सम्प्रदाय से सम्बद्ध है, यद्यपि कुछ अशो मे इसमे पुराने हीनयानी विचार पाये जाते है। इसका एक अत्यन्त कारुणिक आख्यान कुणाल की कथा है। इसमें अशोक का पुत्र कुणाल अपनी आखे निकलवाने वाली विमाता तिष्य-

रक्षिता के प्रति और अपने पिता के प्रति अपने मन में घृणा और धिक्कार के भाव नही लाता। इसके **शार्दूल कर्णावदान** मे यह बताया गया है कि अपने उपदेश के कौशल से बुद्ध ने किस प्रकार कुमारी प्रकृति को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। पूर्णावदान और कोटिकर्ण की कथाए उस समय विदेशो के साथ व्यापार के विषय पर सुन्दर प्रकाश डालती है। इनमे समुद्री तूफान (**कालिकाशत**) के महान संकट मे फसे हुए यात्रियो का तभी उद्धार होता है, जब वे नमो बुद्धाय कहकर बुद्ध का स्मरण करते है और उसकी शरण मे जाते है।

अवदान साहित्य की सर्वोत्तम कृति संभवत आर्यशूर की **जातकमाला** है। इसमे पालि जातको की भांति बुद्ध के पूर्व जन्मो मे किये गये कार्यो की उपदेशपूर्ण लघुकथाओ का सुन्दर और रोचक सग्रह है। इसकी भारी कथाए पाली साहित्य मे मिलती है। आर्यशूर ने इन्ही कथाओ को काव्यशैली की सस्कृत मे बडी सुन्दर, आकर्षक और प्रभावोत्पादक शैली मे लिखा है। यह इस बात का प्रमाण है कि उस समय सस्कृत का प्रयोग बौद्ध विद्वान साहित्य-सृजन एव धर्मप्रचार के लिये आवश्यक समझने लगे थे। आर्यशूर की जातक माला का चीनी अनुवाद ४३४ ई० मे किया गया था, अत इसका समय तीसरी शताब्दी ई० समझा जाता है।

नाटक

यह युग सस्कृत नाटको के विकास की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। इन नाटको के मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन हमे भरत के **नाट्यशास्त्र** मे मिलता है। इसे वर्तमान रूप दूसरी या तीसरी शताब्दी ई० मे प्राप्त हुआ है। इसमे पायी जाने वाली प्राकृतो के तथा यवनो, शको एव पह्लवो के उल्लेख के आधार पर इसका रचना-काल २०० ई० से पूर्व मे २०० ई० के बीच मे माना जाता है। कालिदास और अश्वघोष को भरत के नाटयशास्त्र का ज्ञान था। हाल कवि की गाथा सप्तशती मे भी इसमे वर्णित रंगमच का, अभिनेत्री द्वारा अपने मुख पर हरिताल का रंग लगाने का, नाटक के नाँदी और पूर्व रग आदि का उल्लेख मिलता है। यह नाट्यशास्त्र के गाथा सप्तशती से पहले निर्मित होने की ओर संकेत करता है। अमरावती की मूर्तियो मे कुछ नर्तको की मुद्राये नाट्यशास्त्र की मुद्राओ से मिलती हैं। १९१३ ई० में सर जान मार्शल को तक्षशिला की खुदाई में प्रागमौर्य युग (५वी शताब्दी ई० पूर्व) की एक मृण्मूर्ति नाट्यशास्त्र में वर्णित ललाटतिलक

नामक मुद्रा में प्राप्त हुई थी। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भरत के नाट्यशास्त्र **की परंपरा** बहुत प्राचीन थी। इसमें स्वयमेव यह कहा गया है कि ब्रह्मा और सदा-शिव ने इस विषय पर पहले ग्रन्थ लिखे थे। इस प्रकार नाट्यशास्त्र का विकास बहुत प्राचीन काल से हो रहा था, किन्तु भरत नाट्यशास्त्र को वर्तमान रूप दूसरी तीसरी शताब्दी ई० में ही मिला है।

यूनानी प्रभाव की समीक्षा—संस्कृत नाटकों का आरंभिक रूप पर्याप्त विवादास्पद है। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने गांधार कला में बुद्ध-मूर्ति के आविर्भाव पर जिस प्रकार यूनानी प्रभाव माना है, उसी प्रकार नाटकों के विकास को भी यूनानी प्रभाव का परिणाम समझा है। जर्मन विद्वान् डा० वेबर और विडिश इस मत के प्रबल पोषक है। उनका कहना है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में नाटक की रचनायें इतनी कम है कि इनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का भारत में स्वयमेव अभ्यु-त्थान नहीं हो सकता था। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। बैक्ट्रिया तथा पंजाब के यूनानी राजाओं के दरबार में नाटकों का खूब प्रचार था। इन यूनानी नाटकों के अभिनय को देखकर ही भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा और स्फूर्ति मिली। इस यूनानी प्रभाव को सिद्ध करने के लिये कई प्रमाण दिये जाते है। **पहला** प्रमाण संस्कृत नाटकों में यवनियों (यूनानी स्त्रियों) का उल्लेख है। अभिज्ञान शाकुन्तल के दूसरे अंक में वनपुष्पों की माला धारण करने वाली धनुर्धारिणी यवनिका दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई है। किन्तु इस युक्ति का महत्व इस-लिये नहीं है कि उन दिनों भारत का विदेशों से व्यापार होता था। उस में पेरि-प्लस के मतानुसार दूसरे देशों से भारत आने वाली वस्तुओं में शराब, गाने वाले लड़के और सुन्दर दासियाँ सम्मिलित होती थी। भारतीय राजा यवन ललनाओं को दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इस प्रथा के आधार पर ही संस्कृत नाटकों में यवनियों का वर्णन है। उनका नाटकों के विकास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा प्रतीत होता है। **दूसरा** प्रमाण संस्कृत नाटकों में परदे के लिये यवनिका शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ यूनान से सम्बद्ध परदा किया जाता है और यह कहा जाता है कि इसका प्रयोग भारतीयों ने यूनानियों से सीखा। किन्तु इस प्रसंग में यह बात उल्लेखनीय है कि यूनानी नाटकों में यवनिका या परदे का सर्वथा अभाव था। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुविधा के लिये नाटक का अभिनय खुले मैदान में ऊँचे रंगमंच पर किया जाता था। इसमें किसी प्रकार का कोई पर्दा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में पर्दा ही नहीं था तब भारत-

वासियो द्वारा इस विषय मे उनकी नकल करने का प्रश्न ही नही उठता है। इसके साथ ही हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सस्कृत नाटक यूनानी नाटको से इतने अधिक मौलिक भेद रखते है कि संस्कृत नाटको का मूल स्रोत यूनान के नाटको को नही माना जा सकता है। **पहला** भेद यह है कि यूनानी नाटको के दो प्रकार-सुखान्त (Comedy) और दुखान्त (Tragedy) है, जबकि भारतीय नाटको मे इस प्रकार के वर्गीकरण का नितात अभाव है। सस्कृत साहित्य के सभी नाटक सुखान्त होते है। दुखान्त नाटको का भारत मे कोई उदाहरण नही मिलता। दूसरा भेद विदूषक की निराली कल्पना है। इस प्रकार का कोई भी पात्र यूनानी नाटको मे नही है। तीसरा भेद भारतीय नाटको मे यूनानी नाटको के एक प्रधान तत्व--कोरस (Chorus)या वृन्दगान का अभाव है। चौथा भेद यह है कि यूनानी नाटकों के लिये तीन प्रकार की अन्वितियो (unities) का होना आवश्यक था। ये स्थान, काल और कार्य की अन्वितिया होती है, किन्तु भारत मे इनका पालन करना आवश्यक नही समझा जाता। अत यूनान को भारतीय नाटको का मूल स्रोत मानने का सिद्धान्त सर्वथा निराधार, अयुक्तियुक्त और अमान्य प्रतीत होता है। लेवी ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि संस्कृत नाटको का आरभिक विकास उज्जयिनी के विदेशी शक शासको की छत्रछाया मे हुआ, किन्तु यह कल्पना भी प्रामाणिक नही प्रतीत होती है।

महाभाष्य से यह प्रतीत होता है कि उस समय नाटक जनता में बडे लोकप्रिय थे। इस विषय मे पतजलि ने **कंसवध** और **बलिवध** नामक नाटको की चर्चा की है (३।१।२६)। वर्तमान काल के प्रयोग का विवेचन करते हुए उसने लिखा है कि नट लोग प्रत्यक्ष मे ही कस को मरवाते है या बलि को बधवाते है। उन दिनो पात्रानुकूल वेशभूषा धारण करने वाले और उपयुक्त मुखानुलेप करने वाले नट को **शोभनिक** कहते थे। पात्र रावण या कस का अभिनय करते हुए मुख पर एक प्रकार का अनुलेप लगाते थे और राम आदि के पक्ष का अभिनय करते हुये दूसरे प्रकार का अनुलेप लगाते थे। जिन श्रोताओ या दर्शको के रगमंच पर पहुंचने पर प्रवचन का अभिनय प्रारम्भ किया जाता था उन्हें आरम्भक कहा जाता था। नाटको मे जहाँ कथावस्तु सवादो द्वारा भलीभाति सुसंबद्ध नही हो पाती थी, वहाँ एक व्यक्ति वाचक के रूप मे पुस्तक से आवश्यक अश पढ लेता था, इसे **ग्रंथिक** कहा जाता था (१।४।२९)। नाटको के श्रोताओ और दर्शको का वर्णन करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है कि कोई कंस के पक्ष का होता है और कोई कृष्ण का भक्त होता है।

वे अपने प्रिय पात्र की विजय देखकर प्रसन्न होते है और पराजय देखकर दुःखी होते हैं। पतंजलि ने अपने ग्रन्थ मे नाटकों की जिस परपरा का निर्देश किया है,[1] उस प्रकार के नाटक हमे इस समय उपलब्ध नही होते है।

इस समय उपलब्ध होने वाले संस्कृत नाटको का तिथिक्रम अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है। कुछ विद्वान् महाकवि कालिदास को मालविकाग्निमित्र नाटक के आधार पर अग्निमित्रा का समकालीन अर्थात् दूसरी शताब्दी ई० पू० मे होने वाला समझते हैं। अन्य विद्वानो के मतानुसार कालिदास ५७ ई० पू० मे उज्जयिनी मे शासन करने वाले शकारि नृपति विक्रमादित्य के समकालीन थे। यदि इस तिथिक्रम को माना जाय तो कालिदास को पहला संस्कृत नाटककार मानना पडेगा, किन्तु अधिकाश विद्वान् इसे गुप्तवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन होने मे पाचवी शताब्दी ई० का मानते है। यदि इस पक्ष को मान लिया जाय तो कनिष्क के समय में पहली शताब्दी ई० मे होने वाले अश्वघोष को पहला नाटककार मानना पडेगा। उन्होने काव्यो की भाँति नाटको का निर्माण भी धर्मप्रचार के उद्देश्य से किया। दुर्भाग्यवश उनका कोई भी नाटक इस समय पूर्ण रूप मे उपलब्ध नहीं होता। पहले (पृ० ३११) यह बताया जा चुका है कि मध्य एशिया से उनके शारिपुत्र प्रकरण-नामक नाटक के कुछ पन्ने मिले है और एक अन्य प्रतीक नाटक भी उनकी कृति कहा जाता है।

संभवत भास इसी युग का नाटककार है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र के आरम्भ मे सूत्रधार के मुह से यह कहलाया है कि सुप्रसिद्ध कीर्ति वाले भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि कवियो के होते हुए कालिदास की कृति का कौन आदर करेगा? इससे यह प्रतीत है कि कालिदास से पहले भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। १९१२ से पहले भास का कोई भी नाटक उपलब्ध नही था। इस वर्ष महामहोपाध्याय गण-पतिशास्त्री ने भास के १३ नाटको का एक सग्रह प्रकाशित किया। इनमे से **प्रति-ज्ञायौगंधरायण** और **स्वप्नवासवदत्ता** उदयन की कथा पर आश्रित है। प्रतिमा और अभिषेक नाटकों का कथानक रामायण पर तथा **पंचरात्र**, **मध्यमव्यायोग**, **दूतघटोत्कच**, **कर्णभार**, **दूतवाक्य** और **उरुभंग** की कथा महाभारत पर आश्रित है। **बालचरित** का आधार भागवत पुराण और **दरिद्र चारुदत्त** तथा **अविमारक** का आधार तत्कालीन लोककथाए है। भास के इन नाटको के कर्तृत्व और काल के संबंध में विद्वानों में

१. **महाभाष्य** १।४।२९, २।१।६९, २।३।६७, २।४।७७, ४।१।११४, ६।१।२।

तीव्र मतभेद है।[1] कुछ विद्वान् इन नाटको को भास की रचना ही नही मानते हैं। इनका यह कहना हैं कि ये किसी परवर्ती केरल कवि की कृतियाँ है। किन्तु अधिकांश विद्वान् इन नाटको को भास की रचना मानते है और कीथ के मतानुसार भास का समय तीन सौ ई० है[2], यद्यपि गणपति शास्त्री इसका समय तीसरी शताब्दी ई० पू० मानना चाहते है।

इसी प्रकार इस युग का एक अन्य विवादास्पद नाटक शूद्रक का मृच्छकटिक है। इसका समय अधिकाश विद्वान पहली शताब्दी ईस्वी मानते है। दस अकों का यह नाटक वस्तुत सस्कृत नाटको में एक विशेष स्थान रखता है। इसमे चारुदत्त तथा उज्जयिनी की वेश्या वसतसेना की प्रणय कथा का बड़ा रोचक चित्रण है। शूद्रक ने सभवतः संस्कृत साहित्य मे पहली बार इसमें राजा रानी को नाटक का नायक-नायिका बनाने की परम्परा का परित्याग किया है। इसमें मध्यम श्रेणी के लोगों का, प्रतिदिन सड़को तथा गलियो मे घूमने फिरने वाले सामान्य व्यक्तियों का यथार्थवादी दृष्टिकोण से बडा सुन्दर चित्रण किया गया है। यह अपनी स्वाभाविकता और यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण पश्चिमी जगत् मे बड़ा लोकप्रिय हुआ है और विपुल प्रशसा का पात्र बना है।

दर्शन

इस समय छ. अस्तिक दर्शनो का तथा नास्तिक माने जाने वाले जैन व बौद्ध दर्शनों का भी विकास हुआ। सूत्रशैली मे लिखे गए दर्शनो, न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा और उत्तर मीमामा (वेदान्त) के मौलिक विचार अत्यन्त प्राचीन है। किन्तु इनका सूत्र रूप मे आबद्ध होने का समय जैकोबी २००–५०० ई० समझते है। वस्तुतः कपिल, कणाद और गौतम को साख्य, वैशेषिक तथा न्यायदर्शन का रचयिता समझना ठीक नही है। उन्होने पहले से चले आने वाले विचारो को सूत्रबद्ध किया है। छठी शताब्दी ई० मे भारत मे एक प्रबल धार्मिक और बौद्धिक क्रान्ति हुई। बौद्ध, जैन और चार्वाक विचारको ने जब प्राचीन विचारो तथा रूढियो पर खरी-खरी और सीधी चोटें की, तब शृखलाबद्ध दार्शनिक विचारो की आवश्यकता अनुभव हुई और छ. दर्शनो ने जन्म लिया। कौटिल्य चौथी शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग में सांख्य, योग और चार्वाक नामक दर्शनों का ही उल्लेख करता है। अतः पिछले मौर्य

१—देखिये, पुसलकर–भास
२—कीथ - संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ९४-९५

युग तथा आरम्भिक सातवाहन युग में वर्तमान रूप में मिलने वाले वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा (वेदान्त) के दर्शन सूत्रबद्ध हुए।

न्याय दर्शन के सूत्रों के प्रणेता अक्षपाद गौतम मुनि समझे जाते है। इनका समय ४ थी श० ई० पू० माना जाता है। इसके सुप्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन है। यह उस समय हुए जब बौद्धो के साथ विचारों का उग्र सघर्ष चल रहा था। दोनों पक्ष अपने प्रतिपक्षियो की युक्तियो का खण्डन करके अपने सिद्धान्तो का मण्डन करने मे व्यस्त थे। वात्स्यायन ने अपने भाष्य मे बौद्धो के अनेक आक्षेपो का निराकरण किया है। वात्स्यायन का समय पहली या दूसरी श० ई० है। वैशेषिक एव साख्य का तत्कालीन बौद्ध साहित्य मे उल्लेख मिलता है। अवदानशतक मे तो केवल वैशेषिक का वर्णन है, किन्तु ललितविस्तर और मिलिद प्रश्न मे वैशेषिक के अतिरिक्त साख्य, योग व न्याय का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ मे वैशेषिक दर्शन साख्य की भाँति निरीश्वरवादी था और बौद्धो की तरह केवल प्रत्यक्ष और अनुमान-इन दो ही प्रमाणो को मानता था। यही कारण है कि परवर्ती दार्शनिक साहित्य मे इनपर यह लाछन लगाया गया है कि ये वैशेषिक आधे बौद्ध (अर्द्ध वैनशिक) है। वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता कणाद का समय ३०० ई० पूर्व समझा जाता है। कणाद का विशिष्ट सिद्धान्त परमाणुवाद है, इसीलिए इस सप्रदाय के प्रवर्तक को परमाणु खाने वाला या कणाद कहा गया है।

साख्य का मुख्य सिद्धान्त परिणामवाद है, जो सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को सत्त्व, रजस् और तमस् नामक तीन मूल तत्वो की परिणति अर्थात् विकास में पैदा होने वाला मानता है। इसके अतिरिक्त साख्य के अन्य प्रधान सिद्धान्त ये है —तीन प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुख तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिये वैदिक यज्ञो की निरर्थकता एव प्रकृति और पुरुष का द्वैतवादी सिद्धान्त। साख्य-सूत्रो के प्रणेता कपिल मुनि थे, किन्तु इस सम्प्रदाय का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ ईश्वर-कृष्ण की साख्यकारिका है। इसका समय पहली शताब्दी ई० है। यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध था कि परमार्थ ने छठी शताब्दी ई० मे इसका चीनी भाषा मे अनुवाद किया। इसकी सत्तर कारिकाओ या श्लोको के आधार पर चीनी मे इसका दूसरा नाम **हिरण्य-सप्तति** या **सुवर्णसप्तति** था। साख्य का बौद्ध दर्शन पर बडा प्रभाव पड़ा। दुख की सत्ता, वैदिक कर्मकाड की गौणता, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था तथा जगत् की परिणामशीलता के सिद्धान्त को बौद्धो ने साख्य दर्शन से ग्रहण किया था।

योग दर्शन के विचार बहुत प्राचीन है। मोहेंजोदड़ो की खुदाई में योगासन

मे बैठी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है। इस दर्शन की समूची पद्धति साख्य से मिलती है। उसकी बड़ी विशेषता केवल यही है कि वह परिणामवाद को आस्तिक रूप दे देता है तथा ध्यान पर और मनको सयम करने की विधियो पर विशेष बल देता है। ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए योग दर्शन की सबसे बड़ी युक्ति यह है कि जो गुण अनेक सत्ताओ मे कम या अधिक मात्राओ के आपेक्षिक तारतम्य मे पाया जाता है, वह कही न कही निरतिशय या पूर्ण रूप मे भी होता है। जैसे परिमाण का गुण छोटी बड़ी वस्तुओं मे पाया जाता है, किन्तु आकाश मे यह इतनी बड़ी मात्रा मे पाया जाता है कि इससे अधिक किसी वस्तु में नही मिलता है, इसी प्रकार ज्ञान भी विभिन्न पुरुषो मे कम या अधिक है। अत. वह किसी एक सत्ता मे—पुरुष विशेष मे—सबसे अधिक या निरतिशय होना चाहिए, वह सर्वज्ञ पुरुष ही ईश्वर है। योगदर्शन के सूत्रो के प्रणेता महर्षि पतजलि माने जाते है। इनका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। इन सूत्रो पर व्यास के भाष्य का समय विवादास्पद है।

मीमासा और वेदान्त दर्शनो के रचयिता क्रमश. जैमिनि और बादरायण हैं। इनमे मीमासा अधिक प्राचीन है। इसका प्रधान उद्देश्य कर्मकाण्ड सम्बन्धी वाक्यो की समुचित व्याख्या करने के नियमो का प्रतिपादन करना था। मीमासा के विचार सहिताओ और ब्राह्मण ग्रन्थो मे पाये जाते है। इनको शृखलाबद्ध करके शास्त्रीय रूप देने का श्रेय महर्षि जैमिनि को है। इस दर्शन पर उपवर्ष, भवदास और शबर स्वामी ने वृत्तियां और भाष्य लिखे। शबर स्वामी का समय २०० ई० माना जाता है। इसके भाष्य की तुलना पतजलि के महाभाष्य और ब्रह्मसूत्र के शाकरभाष्य से की जाती है। वेदान्त भारतीय दर्शनो का मुकुटमणि कहा जाता है। इसके प्रणेता महर्षि बादरायण के विषय मे स्वर्गीय तैलग ने यह कल्पना की थी कि अष्टाध्यायी मे जिन पाराशर्य भिक्षुसूत्रो का उल्लेख है (४।३।११०) वे बादरायण के ब्रह्मसूत्र ही है। अतः ये पाणिनि से प्राचीन है। किन्तु कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी मे वेदान्त की गणना नही की है। अत. कुछ विद्वान् वेदान्त दर्शन को पिछले मौर्य युग अथवा सातवाहन युग की कृति मानते है।

बौद्ध दर्शन और धार्मिक साहित्य

इस युग मे बौद्ध दर्शन और धार्मिक वाङमय का भी विकास हुआ। ईसा की आरम्भिक शतियो में दो कारणो से सस्कृत मे बौद्ध साहित्य के विकास को प्रोत्साहन मिला। पहला कारण महायान सम्प्रदाय का अभ्युदय तथा दूसरा कारण अनेक प्रतिष्ठित पौराणिक धर्मानुयायी ब्राह्मणो का बौद्ध धर्म स्वीकार करना था। इसका

सर्वोत्तम उदाहरण अश्वघोष और नागार्जुन है। बुद्ध ने दुःख एवं दुःख के कारणों की **मीमांसा पर** अधिक ध्यान दिया था, आध्यात्मिक और दार्शनिक समस्याओं की उपेक्षा **की थी।** किन्तु बाद में उनके अनुयायियों ने दार्शनिक प्रश्नों की बड़ी सूक्ष्म मीमांसा **की।** इस समय दो प्रधान दार्शनिक सिद्धान्तों का जन्म हुआ। पहला सिद्धान्त **संघात-वाद था।** इसका यह आशय था कि आत्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, वह शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों का समुच्चय अथवा संघातमात्र है। इसे बौद्धों का **अनात्मवाद** भी कहा जाता है। दूसरा सिद्धान्त **क्षणिकवाद** अथवा **संतानवाद** है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा और जगत् अनित्य है। संसार की सब वस्तुएं प्रतिक्षण बदलती रहती है। जिस प्रकार नदी का प्रवाह प्रतिक्षण बदलने पर भी वही प्रतीत होता है, दीपक की लौ परिवर्तित होने पर भी उसी तरह जान पड़ती है, वैसे ही आत्मा और जगत् क्षणिक होने पर भी प्रवाह (संतान) रूप से बने रहने के कारण स्थायी प्रतीत होते है।

बौद्ध दर्शन को चार सम्प्रदायों में बाँटा जाता है—**वैभाषिक**, **सौत्रान्तिक**, **योगाचार** और **माध्यमिक**। इनका प्रधान मतभेद सत्ता के संबंध में है। वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य जगत् एवं भीतरी (मानस) जगत् से संबंध रखने वाले सभी पदार्थ वास्तविक सत्ता रखते है, इसीलिए इसका नाम **सर्वास्तिवाद** भी है। सौत्रान्तिक बाह्य जगत् के पदार्थों को अनुमान द्वारा ही सत्य मानते है। योगाचार सम्प्रदाय विज्ञान अथवा चित् को ही एकमात्र सत्य मानता है, इसीलिए वह **विज्ञानवादी** भी कहलाता है। माध्यमिक के मत मे जगत् के आन्तरिक एवं बाह्य, समस्त पदार्थ शून्य रूप है, अतः इसका दूसरा नाम **शून्यवाद** भी है।

इस समय महायान सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य का विकास हुआ। इसमें **वैपुल्यसूत्र** कहलाने वाले नौ ग्रन्थ है। इनमें दो ग्रन्थ बुद्ध के जीवन का वर्णन करने वाले **महावस्तु** और **ललित विस्तर** हैं। ये दोनों महायान के आविर्भाव से पहले के ग्रन्थ है। महावस्तु महासांघिकों के लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय की विनय का एक ग्रन्थ है। इसमें बुद्ध के पूर्व जन्मों का वृत्तान्त अनेक जातक कथाओं के साथ दिया हुआ है। इसमें उन दस अवस्थाओं का वर्णन है जिनमें बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये एक बोधिसत्व को गुजरना आवश्यक होता है। इसकी भाषा प्राकृतमिश्रित संस्कृत है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि इसके जिस भाग की संस्कृत जितनी कम अच्छी है, वह स्थल उतना ही पुराना है। इसमें गद्य और पद्य दोनों पाये जाते हैं। इसका समय पहली श० ई० समझा जाता है। दूसरा ग्रन्थ **ललितविस्तर** भी **सर्वास्तिवादी**

सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध की जीवन-कथा का प्रतिपादन करता है। इसमें इस जीवनी को बौद्ध धर्म के महायानी सम्प्रदाय की दृष्टि से परिवर्तित कर दिया गया है, अतः यह पुस्तक चमत्कारपूर्ण आश्चर्यजनक घटनाओं से भरी हुई है। इसमें ऐसी कथाएं भी सम्मिलित हैं जिनके विषय मे यह कहा जाता है कि वे पश्चिम तक फैल चुकी थीं। जैसे जब बुद्ध छोटे शिशु के रूप मे मंदिर में गए तो वहाँ की सब देव-मूर्तियां उनका सम्मान करने के लिए नतमस्तक हो गईं। शिशु बुद्ध ने अपने गुरु को चीनी, हूणी आदि चौसठ प्रकार की लिपियो की शिक्षा दी। शैली और प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ बडी अव्यवस्थित रचना है। यह प्रधान रूप से गद्यात्मक सस्कृत मे लिखा हुआ है, किन्तु इसके साथ ही इसमे मिश्रित सस्कृत मे लिखे हुए कुछ पद्य भी मिलते है। इस ग्रन्थ मे बुद्ध के प्रति सम्मान की भावना गधारकला की उस नवीन क्रान्ति के अनुरूप है जिसमें बुद्ध की प्रतिमा का विकास किया गया था। इसका समय दूसरी शताब्दी ई० समझा जाता है। नवीं शताब्दी ई० मे तिब्बती भाषा मे इसका अनुवाद हुआ, इसी समय जावा मे बोरोबुडर के सुप्रसिद्ध बौद्ध स्तूप के कलाकारों (८५०—९०० ई०) ने इसकी कथाओ को पत्थर की मूर्तियो मे तराशा।

महायान सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थो मे सबसे पुराना सभवत **अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता** था, इसमे शून्यता के स्वरूप पर विचार किया गया है। इसका चीनी मे एक अनुवाद १७९ ई० मे हुआ था। अन्य ग्रन्थो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध **सद्धर्मपुण्डरीक** है। इसकी प्रत्येक पक्ति बुद्ध के प्रति अगाध भक्ति से ओतप्रोत है। यह पौराणिक शैली मे लिखा हुआ है। विटरनिट्ज के मतानुसार इसकी रचना पहली शताब्दी ई० मे हुई थी। एक अन्य ग्रन्थ **लंकावतारसूत्र** है। इसमे महात्मा बुद्ध का वर्णन लका के राजा रावण को बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो का उपदेश देते हुए किया गया है। इसमे शून्यवादी और विज्ञानवादी सिद्धान्तो की काफी चर्चा है। इसके दो खण्डो पर आर्यदेव की टीकाओ का अनुवाद चीनी भाषा में अब तक सुरक्षित है। अत इसका मूल रूप दूसरी शताब्दी ई० पू० का समझा जाता है। **सुवर्णप्रभास** का पहली शताब्दी ई० मे तथा **दशभूमीश्वर** (बुद्धत्वप्राप्ति की दश दशाए) का चीनी अनुवाद २९७ ई० मे किया गया था। इसी सप्रदाय के एक अन्य ग्रन्थ **अवलोकितेश्वरगुणकरण्डव्यूह** का अनुवाद २७० ई० पू० मे हुआ था। इस संप्रदाय के अन्य ग्रन्थो मे **सुखावतीव्यूह** का नाम उल्लेखनीय है। इसमे अमिताभ के स्वर्ग का अतीव आकर्षक वर्णन है। इसने विदेशो मे बौद्ध धर्म को बड़ा लोकप्रिय बनाया, चीन जापान मे आज तक इसे बड़े चाव से पढ़ा जाता है। १८६

ई० में इसका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इस सप्रदाय के अन्य ग्रथ **गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, वज्रच्छेदिका**, तथा **काश्यपपरिवर्त** है। अन्तिम ग्रन्थ में बोधिसत्व के आदर्श और शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसमे **रत्नकूट** नामक ग्रन्थ भी सम्मिलित था, इसका चीनी अनुवाद १७८–१८४ ई० मे हुआ था।

कनिष्क के समय मे दो बड़े बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष और वसुमित्र हुए। अश्वघोष की सुप्रसिद्ध दार्शनिक रचना **महायानश्रद्धोत्पाद** अर्थात् महायान धर्म के सिद्धान्तो मे आस्था उत्पन्न करने वाला ग्रन्थ है। इसमे **तथता** के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। बौद्ध धर्म की पुरानी विचारधारा प्रत्येक वस्तु को क्षणिक और भगुर मानती थी, इसने इन सब के मूल मे एक अविनश्वर सत्ता को माना। वसुमित्र ने कनिष्क द्वारा बुलाई गई चौथी बौद्ध महासभा मे प्रधान भाग लिया था। इसने बौद्ध धर्म के १८ सप्रदायो का भी वर्णन किया है। तिब्बती भाषा मे सस्कृत के एक **उदानवर्ग** का अनुवाद मिलता है। यह पालि के धम्मपद से मिलता जुलता है, इसके कुछ अश मध्य एशिया से प्राप्त हुए है। तारानाथ के मतानुसार उदानवर्ग का लेखक **धर्मत्रात** भी कनिष्क के दरबार मे था। यह वसुबधु का सम्बन्धी एव **सयुक्त अभिधर्महृदयशास्त्र** का लेखक था।

बौद्ध दार्शनिको मे सभवत सबसे अधिक प्रसिद्धि दूसरी शताब्दी ई० के नागार्जुन को मिली है। अश्वघोष की भाँति यह भी पहले हिन्दू धर्मानुयायी ब्राह्मण था। तिब्बती और चीनी विवरणो के अनुसार यह काची अथवा विदर्भ मे उत्पन्न हुआ था। इसका सम्बन्ध आध्र प्रदेश के गुटूर जिले के श्रीपर्वत और नागार्जुनीकोंडा नामक स्थानो से भी रहा था। ये स्थान उस समय सातवाहन वश के अधिकार मे थे। प्राकृत के एक काव्य लीलावई के अनुसार यह एक सातवाहन राजा के दरबार मे पोट्टिस और कुमारिल नामक कवियो के साथ रहा करता था। ये दोनो सातवाहन राजा हाल की राजसभा के कवि थे। तिब्बती साहित्य मे नागार्जुन द्वारा अपने मित्र सातवाहन नरेश को लिखा हुआ एक पत्र **सुहृल्लेख** के नाम से मिलता है। नागार्जुन को रसायनशास्त्र, मत्र तत्र आदि के कई ग्रन्थो का प्रणेता माना जाता है। डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील का कहना है कि सुश्रुत का सम्पादक नागार्जुन, सिद्ध (कीमियाविज्ञ) नागार्जुन, लोहशास्त्रकार नागार्जुन और माध्यमिकसूत्रवृत्ति का लेखक नागार्जुन एक ही व्यक्ति हो सकता है। उसकी यह उक्ति प्रसिद्ध है कि यदि मैं रस को सिद्ध कर लू तो इस जगत् मे निर्धनता नही रहेगी (सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्रयमिदं जगत्)। यदि वस्तुत लोहशास्त्र और रसशास्त्र का प्रणेता नागार्जुन

शून्यवाद के आचार्य नागार्जुन से अभिन्न हो तो यह मानना पड़ेगा कि दूसरी शताब्दी ई० तक भारत में धातु विषयक ज्ञान का एव रसायनशास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था और नागार्जुन अद्भुत बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। किन्तु नागार्जुन को अमर बनाने वाली सर्वोत्तम कृति माध्यमिक दर्शन का प्रतिपादन करने वाली माध्यमिक कारिका और इसकी उपलब्ध न होने वाली टीका अकुतोभया है। इसके सत्ताइस अध्यायों तथा ४०० श्लोको मे नागार्जुन ने शून्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसे माध्यमिक दर्शन का नाम इसलिए दिया जाता है कि इसमें वस्तुओ की सत्ता के सम्बन्ध मे मध्यम मार्ग को अपनाते हुए यह कहा गया है कि वस्तुएं न तो पूर्ण रूप से असत् है और न ही पारमार्थिक दृष्टि से सत् है। यह एक प्रकार का सापेक्षतावाद (Relativity) है। इसके अन्य में ग्रन्थो **युक्तिषष्टिका**, **शून्यतासप्तति**, **प्रतीत्यसमुत्पादहृदय**, **महायानविंशिका**, **विग्रहव्यावर्त्तिनी** तथा **प्रज्ञापारमिताशास्त्र** और **दशभूमिविभाषाशास्त्र** पर लिखी हुई टीकायें है। **धर्मसंग्रह** और **अक्षरशतक** भी इसके लिखे हुए बताये जाते है। तिब्बती भाषा मे इसका एक ग्रन्थ न्याय दर्शन के १६ पदार्थों का खडन करने वाला **प्रमाणविघटन** है तथा ४७२ ई० मे इसके एक अन्य ग्रन्थ **उपायकौशलहृदय** का चीनी मे अनुवाद हुआ था। नागार्जुन का समय कीथ ने दूसरी शताब्दी ई० का उत्तरार्ध माना है। यद्यपि डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे कुछ विद्वान् इसका समय चौथी शताब्दी ई० मानते है।

नागार्जुन का शिष्य आर्यदेव था। यह चीनी अनुश्रुति के अनुसार दक्षिण भारत का अथवा सिहल का निवासी था। इसने अपने **चतुश्शतक** मे अपने गुरु के माध्यमिक दर्शन पर ब्राह्मणो तथा अन्य बौद्ध सप्रदायो द्वारा किए जाने वाले आक्षेपो का निराकरण किया है। इसमे पाप धोने और पुण्य प्राप्त करने के लिए गगा मे स्नान करने की पौराणिक पद्धति की खूब खिल्ली उडायी गयी है। इसने शून्यता के सिद्धान्त के मौलिक तत्वो को पाँच श्लोको वाले **मुष्टिप्रकरण** अथवा **हस्तबालप्रकरण** में समझाया है। इसका एक अन्य ग्रन्थ **चित्तविशुद्धिप्रकरण** भी है।

जैन साहित्य

जैन धर्मग्रथों पर निर्युक्ति नामक लघु टीकाए लिखने का श्रेय चौथी शताब्दी ई० पू० के भद्रबाहु नामक आचार्य को दिया जाता है। किन्तु दिगम्बर जैनो की परम्परा के अनुसार पहली शताब्दी ई० पूर्व मे एक अन्य भद्रबाहु हुए है। सभवत: निर्युक्तियो की रचना करने वाले यही थे। प्राचीन जैन अनुश्रुति के एव कुछ आधु-

निक विद्वानो के मतानुसार ईसा की पहली तीन शताब्दियो मे जैन दर्शन के कुछ आरम्भिक आचार्य और महाकवि हुए। वस्तुतः जैनो के आरम्भिक ग्रन्थो का तिथिक्रम अत्यन्त विवादग्रस्त और अनिश्चित है। इस विषय मे यह कल्पना की गई है कि जिस समय नागार्जुन अपने शून्यवाद अथवा सापेक्षतावाद का प्रतिपादन कर रहा था, उसी समय जैन दार्शनिक अपने स्याद्वाद के विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य कुन्दकुन्द का समय अनुश्रुति के अनुमार पहली शताब्दी ई० पू० अथवा पहली शताब्दी ई० है। इन्हें ८० प्राभृत और १० भक्तिग्रन्थ बनाने का श्रेय दिया जाता है। इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **समयसार** और **प्रवचनसार** है। इनके नाम के आधार पर यह कल्पना की गई है कि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके शिष्य उमास्वाति ने पाटलिपुत्र मे जैन धर्म और दर्शन का विस्तृत प्रतिपादन करने वाले **तत्त्वार्थाधिगम सूत्र** की रचना की। अनुश्रुति के अनुसार इन्होने ५०० प्रकरण लिखे थे। जैन साहित्य के दो अन्य लेखको—वट्टकेर और कार्तिकेय स्वामी का समय भी कुछ विद्वान् पहली शती ई० समझते है।

आयुर्वेद—इस विषय के उपलब्ध ग्रन्थो मे चरक संहिता सबमे प्राचीन मानी जाती है। चीनी अनुश्रुति के अनुसार चरक कनिष्क के राजवैद्य थे। उन्होने राजा की पत्नी को एक दुःसाध्य रोग से मुक्त किया था,[1] अत यदि चरक को उनके नाम से प्रसिद्ध वर्तमान चरक संहिता का निर्माता माना जाय तो इसका समय पहली शताब्दी ई० का उत्तरार्ध होगा। किन्तु इस समय हमे इसका जो रूप मिलता है वह ८वी ९वी शताब्दी ई० के एक काश्मीरी विद्वान् दृढबल द्वारा संशोधित और परिवर्धित किया गया संस्करण है। पहले इसमे शल्यक्रिया सम्बन्धी अंश नही थे, इन्हें दृढबल ने इसमे बढ़ाया है। संभवतः चरक संहिता एक पुराने आचार्य अग्निवेश के ग्रन्थ का चरक द्वारा किया गया नया संस्करण था, बाद मे इसे समयानुकूल बनाने के लिये दृढ़बल ने इसका नवीन संस्करण किया। भारतीय परम्परा चरक संहिता के निर्माण का श्रेय पतंजलि को प्रदान करती है। आयुर्वेद का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत संहिता है। महाभारत मे इसके प्रणेता सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र बताया गया है (१३।४।५५)। ऐसा भी माना जाता है कि नागार्जुन ने सुश्रुत संहिता का संशोधन किया था। सुश्रुत संहिता की तिथि को निश्चित करने के लिये हमारे पास कोई पुष्ट साक्षी नही है। फ्रेंच विद्वान् फिलियोजात ने चरक और सुश्रुत संहिताओ का समय क्रमशः दूसरी अथवा पहली शताब्दी ई० पू० और पहली शताब्दी ई० पू० माना है।

---

१. **कीथ-संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा० मंगलदेव कृत अनुवाद, पृ० ६३६**

ज्योतिष

प्राचीन काल मे यदि आयुर्वेद उपवेद था तो ज्योतिष और गणित वेदाग समझे जाते थे। इस विषय के आरम्भिक ग्रन्थो का तिथिक्रम बड़ा अनिश्चित है। इसे तीन बडे युगो मे बाँटा जाता है। पहला १२००–४०० ई० पू० का वेदो और ब्राह्मणो का युग था, दूसरा ४०० ई० पू० से २०० ई० का वेदागज्योतिष का युग और तीसरा ४०० ई० पू० से ४०० ई० का इतिहास-पुराणो का युग।[1] इसके अनुसार शुग सातवाहन युग मे वेदाग ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे गए। इनमे जैनो का **सूर्यप्राप्ति** तथा ८० ई० (२ शक सवत्) का निर्देश करने वाला **पितामह** नामक ग्रन्थ है। इसी युग में गर्गाचार्य ने गार्गी सहिता लिखी। इसमे पिछले मौर्यो का और यवन राजाओं के आक्रमणो की घटनाओ का वर्णन है। अत यह शुग-सातवाहन युग की रचना प्रतीत होती है। दुर्भाग्यवश अब गार्गी सहिता का पूरा ग्रन्थ नही मिलता।

इस प्रसग मे प्राचीन ज्योतिष विषयक एक विवाद का सक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है। डा० फ्लीट तथा अन्य अनेक पाश्चात्य पुरातत्वज्ञो का यह विचार है कि वैज्ञानिक गणित ज्योतिष के मूल विचारो का आरम्भ यूनान मे हुआ। दूसरी शताब्दी ई० के यवन ज्योतिषी टाल्मी ने ग्रह-गणित की नीव डाली। सूर्य के चारो ओर घूमने वाले मगल, बुध, बृहस्पति शुक्रादि सातो ग्रहो को भूमि से आपेक्षिक दूरी के हिसाब से गिनने की और उनके नाम से सप्ताह के मंगलवार बुधवार आदि दिनों का नाम रखने की पद्धति का विकास ३५० से ३७८ ई० तक के बीच के समय मे हुआ, इस समय एक वार का स्वामी एक ग्रह माना गया। फ्लीट के मतानुसार ५वी शताब्दी ई० मे जब भारतीयो ने यूनानी ज्योतिष को अपनाया तभी ग्रहो का ज्ञान और वारो की गणना भारतवर्ष मे शुरू हुई। इससे पहले अभिलेखो मे कही भी वारो का वर्णन नही है। केवल सवत्, ऋतु, पक्ष और दिवस का उल्लेख मिलता है। अत. इस आधार पर यह कल्पना की गई है कि जिन ग्रन्थों मे वारो के और ग्रहो के नाम है, वे ४०० ई० के बाद के है। उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य स्मृति को केवल इसीलिए कुछ विद्वानों ने पाँचवी शताब्दी ई० या इसके बाद का माना है, क्योकि उसमे ग्रहो की पूजा का विधान है। हाल की गाथा सप्तशती को डा० देवदत्त रामकृष्ण भडारकर ने इसलिए छठी शताब्दी की रचना कहा है क्योकि उसमे मगलवार का वर्णन है। किन्तु डा० कृष्णस्वामी आयगर ने फ्लीट के मत का खंडन करते हुए यह बताया है कि पाश्चात्य जगत मे ग्रहो का ज्ञान यूनान से पहले बेबीलोनिया और

१. विस्तृत विवरण के लिये देखिये—हिन्दू एस्ट्रानामी

असीरिया के लोगों को था। २०८४ ई० पू० में बेबीलोनियावासियों को राशियों का ज्ञान था। ग्रहो को देवता मानने की भी कल्पना सुमेरिया के लोगो ने की थी। भारत ने ज्योतिष के क्षेत्र मे ये विचार यूनान से ग्रहण नकरके बेबीलोन और असीरिया से ग्रहण किये, क्योकि भारत मे राशियो और ग्रहो के नाम बेबीलोनिया मे प्रचलित ग्रहों के नामों के अनुवाद है, यूनानी नामो से उनके अर्थ नही मिलते। उदाहरणार्थ हमारे यहाँ मंगल का देवता यम है, जो बेबीलोनिया के विचार से मिलता है। किन्तु यूनानियो मे मगल को मृत्यु का नहीं, अपितु युद्ध का देवता माना जाता है। भारत मे मनुष्य-जीवन पर ग्रहो के प्रभाव को अत्यन्त प्राचीन काल से माना जाता रहा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रह-गणित का ज्ञान न तो यूनान मे पैदा हुआ और न भारतवर्ष मे वहाँ से आया। इसका अभ्युदय बेबीलोनिया और असीरिया मे हुआ और वहाँ से उत्तर वैदिक या महाजनपद युग मे यह भारत आया।[1] अतः वारो या ग्रहो के नामो का उल्लेख होने से किसी ग्रन्थ को ४०० ई० के बाद का मानना ठीक नही है।

पालि और प्राकृत साहित्य

सिहल की अनुश्रुति के अनुसार पालि भाषा के त्रिपिटक को लका के राजा वट्टगामणी के समय मे पहली बार पहली शताब्दी ई० पू० मे लेखबद्ध किया गया।[2] किन्तु इस पालि त्रिपिटक के सभी अश एक ही समय मे और एक ही स्थान पर लिखे गए प्रतीत नही होते है। विंटरनिट्ज ने यह मत प्रकट किया है कि यूनानी राजा मिनांडर के भिक्षु नागसेन के साथ आध्यात्मिक विषयों के वार्तालाप को प्रतिपादित करने वाला **मिलिन्दप्रश्न** नामक ग्रंथ उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त मे लिखा गया था। त्रिपिटक की टीकाए **अट्ठकथा** कहलाती हैं। इनका रचना-काल भी ईसा की आरम्भिक शताब्दियाँ प्रतीत होती है। पालि शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे विद्वानो में बडा मतभेद है। डा० वालेशर (Walleshar) ने यह कल्पना की है कि पालि पाटिल शब्द का अपभ्रश है, इसका अर्थ है पाटलिपुत्र मे बोली जाने वाली भाषा, अर्थात् यह मागधी प्राकृत है।[3] चुल्लवग्ग के एक सदर्भ (५।३३) मे कहा गया है कि एक बार दो भिक्षुओ ने भगवान् बुद्ध से यह प्रार्थना की कि वे अपने

१. जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा ख० २ पृ० ११४२।
२. दीपवंश २०, महावंश पृ० ३८, १००–१।
३. इं० हि० क्वा०, खंड ४, पृष्ठ ७७३-७५।

धर्मग्रन्थो का सस्कृत मे अनुवाद कर इसे एक स्थायी रूप प्रदान करे ताकि विभिन्न भाषाए बोलने वाले भिक्षुओ से भगवान् की वाणी दूषित न हो। किन्तु बुद्ध ने उन्हें ऐसा करने से मना कर दिया, क्योकि वे यह चाहते थे कि उनके उपदेशों का प्रचार लोगो की अपनी मातृभाषा मे ही हो। इसी दृष्टि से उन्होने मगध में अपने धर्म का प्रचार वहाँ प्रचलित मागधी भाषा मे किया।

जैनो ने भी बौद्धो की भाँति अपने धर्म के प्रचार के लिये अर्द्धमागधी का प्रयोग किया। श्वेताबरो की जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म के मूल ग्रन्थ कालान्तर मे लुप्त हो गए और देवर्धिगणि ने ४५४ ई० मे वलभी की परिषद् मे इनका पुनरुद्धार किया था। किन्तु अभिलेखो की साक्षी मे यह मत पुष्ट नही होता है। मथुरा के कुछ जैन अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि पहली-दूसरी शताब्दी ई० में इस धर्म मे अनेक सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय थे।[1] इनमे वाचक लोग जैन धर्म के ग्रन्थो का पाठ किया करते थे। इससे **प्रवचनपरीक्षा** मे दी गई यह जैन अनुश्रुति पुष्ट होती है कि शिवभूति ने ८३ ई० मे दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। इस विषय मे एक अन्य अनुश्रुति यह भी है कि श्वेताबरो और दिगम्बरो का मतभेद होने का यह कारण था कि कुछ जैन भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे दक्षिण भारत चले गये थे, और कुछ पाटलिपुत्र मे रह गये थे। स्थानभेद से इन दोनों की परम्पराओ और रीतिरिवाजो मे अन्तर आ गया। इस प्रकार दो पृथक् सप्रदायो का जन्म हुआ। अत यह कल्पना उपयुक्त प्रतीत होती है कि जैनों का सम्प्रदाय-भेद भी चन्द्रगुप्त के समय मे ही आरम्भ हो गया था, किन्तु इसे अन्तिम तथा निश्चित रूप देवर्धिगणि के नेतृत्व मे पाँचवीं शताब्दी के मध्य मे दिया गया।

इस युग मे कुछ जैन काव्य भी लिखे गए। जैन परम्परा के अनुसार ६० ई० के लगभग विमलसूरि ने ११८ पर्वो में राम के चरित का वर्णन करते हुए पउम्-चरिय की रचना आर्या छदो मे की। इसके मतानुसार वाल्मीकि रामायण परस्पर विरोधी और अविश्वसनीय बातों से भरी हुई है। उदाहरणार्थ, इसमें रावण आदि के मासभक्षण करने का और कुंभकर्ण के छः महीने तक सोने का वर्णन है। भूख लगने पर हाथी, भैंस आदि जो भी कुछ उसे मिलता था वह उसे निगल जाता था। इन्द्र को परास्त करके रावण उसे बेडियो मे बाँधकर लका लाया था। विमलसूरि के

१. बुहलर – ए० इं० खं० १ पृ० ३७१-९७, कृष्णदत्त वाजपेयी– जैन एण्टीक्वेरी खं० १६, भाग १, जून १९५०।

मतानुसार ये बातें ऐसी ही है जैसे कोई यह कहे कि हिरण ने शेर को मार डाला, **अथवा कुत्ते** ने हाथी को भगा दिया। अत. रामायण की असभव बातो और दोषो को **अपनी** दृष्टि से दूर करते हुए उसने रामकथा को सर्वथा नए ढग से लिखा। यह जैन **धर्म की** भावना से ओतप्रोत है। उदाहरणार्थ जब सीता की अग्निपरीक्षा होती है तो उसके निर्मल चरित्र के प्रभाव से अग्निकुड से अग्नि के स्थान पर निर्मल जल प्रवाहित होने लगता है, रामचन्द्र सीता से क्षमा माँगते है, किन्तु सीता केशलुचन करके लव कुश के साथ जैन धर्म की दीक्षा ले लेती है। विमलसूरि की शैली में काव्यसौष्ठव और प्रवाह है।

जिस समय पूर्वी भारत मे धर्म-प्रचार के लिए मागधी और अर्द्धमागधी मे साहित्य का निर्माण हो रहा था उस समय दक्षिण मे महाराष्ट्री प्राकृत मे काव्यो का सृजन किया जा रहा था। दण्डी ने अपने काव्यादर्श (१।३४) मे महाराष्ट्र मे बोली जाने वाली महाराष्ट्री को उत्तम प्राकृत कहा है (महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु)। सातवाहन राजाओ ने इसे प्रबल प्रोत्साहन दिया।[1] भोज ने इस अनुश्रुति का उल्लेख किया है कि शालिवाहन और आढ्यराज नामक राजाओं ने यह आदेश दे रखा था कि उनके घरो मे प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया जाना चाहिये। प्राकृत के इस प्रोत्साहन के कारण ही **गाथा सप्तशती** जैसे सुप्रसिद्ध मुक्तक काव्य का निर्माण हुआ। यह कहा जाता है कि **गाथा सप्तशती** के सग्रहकर्ता ने एक करोड प्राकृत पद्यो मे से केवल ७०० पद्यो को चुनकर इसमे रखा (१।३)। इस सग्रह का श्रेय सातवाहन राजा हाल को दिया जाता है। इस सप्तशती का परवर्ती सस्कृत और हिन्दी साहित्य पर बडा प्रभाव पडा। इससे मुक्तक काव्य की एक नवीन परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ। गाथा सप्तशती के अनुकरण पर सस्कृत मे आर्या सप्तशती और हिन्दी की बिहारी सतसई आदि अनेक सतसइयो की रचना की गई। अमरुक का अमरुकशतक भी इस रचना से प्रभावित है। गोवर्धनाचार्य ने इसकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि प्राकृत काव्य मे ही ऐसी सरसता आ सकती है, सस्कृत काव्य मे नही। शृगाररस की प्रधानता होने के कारण इसमे नायक नायिकाओ के वर्णन प्रसंग मे पतिव्रता, वेश्या, स्वकीया, परकीया आदि नायिकाओं की मन स्थितियों का बडा सरस चित्रण किया गया है, इसमे प्रेम की विभिन्न अवस्थाओ का अत्यन्त मार्मिक अंकन है। बीच-बीच मे प्रसगवश ग्राम्य जीवन, लहलहाते खेत, विध्य पर्वत, नर्मदा, गोदावरी आदि के प्राकृतिक दृश्यो का अद्भुत वर्णन मिलता है। कही-कहीं होलिका

---

१. राजशेखर—काव्यमीमांसा गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज पृ० ५०

महोत्सव, मदनोत्सव, वेश-भूषा, आचार-विचार आदि के चित्र उपस्थित किए गये है। यह तत्कालीन युग की सस्कृति पर प्रकाश डालने वाली बहुत महत्वपूर्ण रचना है। गाथा सप्तशती मे इसके सग्रहकर्ता राजा को कविवत्सल अर्थात् कवियो से प्रेम करने वाला बताया गया है। इसकी कुछ पाण्डुलिपियो मे कुमारिल, पोट्टिस और पालित नामक कवियो का वर्णन किया गया है। इन कवियो का निर्देश हाल के विषय में लिखे गए एक अन्य प्राकृत काव्य लीलावती मे भी मिलता है। इनमे से पालित ने प्राकृत में **कथातरंगवती** नामक काव्य की रचना की थी।

पैशाची प्राकृत मे इस समय गुणाढ्य ने बृहत्कथा की रचना की। गोवर्धन के मतानुसार गुणाढ्य व्यास के अवतार थे। दुर्भाग्यवश उनका यह ग्रन्थ अब अपने मूल रूप मे लुप्त हो चुका है, इस समय केवल इसके सस्कृत रूपान्तर ही मिलते है। इसके आरम्भ मे ही बताया गया है कि गुणाढ्य ने **कातन्त्र** के प्रणेता शर्ववर्मा के साथ की गई एक शर्त के अनुसार सस्कृत, प्राकृत और लोकभाषा को छोडकर इसकी रचना पैशाची अथवा भूतभाषा मे की। आरम्भ मे इस ग्रन्थ मे सात प्रधान कथाये और सात लाख श्लोक थे। परन्तु गुणाढ्य को अपने साथ किए गए उपेक्षापूर्ण व्यवहार से इतनी खिन्नता हुई कि उसने अपने ग्रन्थ का बडा भाग नष्ट हो जाने दिया और इसमे केवल एक मुख्य कथा ही बची रही। यह भी इस समय हमे मूल रूप मे नही मिलती है। छठी शताब्दी ई० मे गगवशी राजा दुर्विनीत ने इसका सस्कृत मे अनुवाद किया था। ८वी शताब्दी ई० मे बुधस्वामी ने नेपाल मे इसके आधार पर **बृहत्कथाश्लोक-संग्रह** लिखा, काश्मीर मे क्षेमेन्द्र ने (१०५०ई०) इसका एक सक्षिप्त रूप बृहत्कथा मजरी और सोमदेव (१०६३–८१ई०) ने इसका एक बृहत् सस्कृत रूपान्तर **कथा-सरित्सागर** के नाम से तैयार किया। जैन साहित्य मे इसके आधार पर **वासुदेवहिण्डी** नामक ग्रन्थ लिखा गया। इसके उपर्युक्त नेपाली और काश्मीरी रूपान्तरो मे काफी भेद है। तामिल मे कोगूवेलीर ने इसके आधार पर **पेरुगदई** नामक काव्य लिखा। बृहत्कथा मे वर्णित उदयन और उसके पुत्र नरवाहनदत्त की प्रणय कथाएं तथा विक्रमादित्य से सबध रखने वाली कथाए भारत मे बड़ी लोकप्रिय हुई। कादम्बरी जैसे काव्यो का तथा नागानद और मालती-माधव जैसे नाटको का प्रेरणास्रोत बृहत्-कथा है।

तामिल साहित्य

अगस्त्य की अनुश्रुति—दक्षिण भारत मे तामिल भाषा का प्राचीनतम साहित्य इसी युग से उपलब्ध होता है। इस वाङ्मय के प्रादुर्भाव के विषय में अनेक

दन्तकथाएं और अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध है। इनके अनुसार तामिल भाषा के जन्मदाता और इसका पहला व्याकरण लिखनेवाले महर्षि अगस्त्य थे। उनके दक्षिण भारत में आने के विषय में यह मनोरंजक कथा कही जाती है कि जब कैलाश पर्वत पर शिव का उमा के साथ विवाह सम्पन्न होता था, उस समय इस महोत्सव को देखने के लिए दक्षिण भारत से इतने अधिक व्यक्तियो के उत्तर दिशा मे आने की सम्भावना थी कि इससे पृथ्वी का सतुलन बिगडने का भय और दक्षिणी भारत के ऊँचा उठ जाने की आशका थी। अत इस महत्वपूर्ण अवसर पर एकत्र ऋषि-मुनियो ने शिव से यह निवेदन किया कि वे भारत के दक्षिणी कोने मे ऐसे सन्त पुरुष को भेजे जिससे आकृष्ट होकर दक्षिण भारत के लोग वही बने रहे और पृथ्वी का सतुलन न बिगडे। शिव ने इस कार्य के लिए समुद्र का पान कर जाने वाले अगस्त्य मुनि को चुना। उनकी प्रेरणा से अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ दक्षिण जाने के लिए तैयार हो गये। उन्होने इस समय शिव से यह प्रार्थना की कि वे उन्हें वहाँ जाने से पहले तामिल भाषा और साहित्य के रहस्यो का ज्ञान कराये, ताकि वे वहा अपने उद्देश्य मे सफल हो सकें। इसपर शिव ने अगस्त्य और पाणिनि की उपस्थिति मे अपने दोनो हाथो से डमरू बजाना शुरू किया। उस समय बाई ओर से निकलने वाली ध्वनियां तामिल भाषा और साहित्य का और दायी ओर से निकलने वाली ध्वनियाँ सस्कृत साहित्य का मूल स्रोत बनी। अगस्त्य इस प्रकार तामिल भाषा के मौलिक तत्वो का ज्ञान प्राप्त करके दक्षिण आये और यहाँ टिनेवेल्ली जिले मे ताम्रपर्णी नदी के मूल स्रोत पोडिकई पर्वत-माला मे पहुचे। यहाँ के शीतल सुरम्य वातावरण मे उन्होने तामिल का अपने नाम से प्रसिद्ध अगस्त्य नामक पहला व्याकरण बनाया। यह तामिल भाषा और साहित्य की गगोत्री माना जाता है। इसमे १२ हजार सूत्र थे। अब इसका अधिकाश भाग नष्ट हो चुका है। केवल कुछ सूत्र ही उपलब्ध होते है। इसके एक सूत्र मे भाषा और साहित्य का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कोई भी भाषा साहित्य के बिना वैसे ही नही रह सकती, जैसे बीज के बिना तेल नही होता। किन्तु जैसे तेल बीज से निकाला जाता है इसी प्रकार भाषा का व्याकरण साहित्य से निकाला जाता है। अगस्त्य की इस दन्तकथा मे ऐतिहासिकता की मात्रा बहुत कम है, फिर भी यह दक्षिण मे अत्यधिक प्रचलित अगस्त्य की उपासना की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करती है।

संगम––तामिल साहित्य का इतिहास सगमो के वर्णन से आरम्भ होता है। तामिल परम्परा के अनुसार प्राचीन काल में तीन संगम हुए थे। संगम का अर्थ

विद्वानो की सभा, परिषद् अथवा ऐसी गोष्ठी से है जिसमे विभिन्न कवि तथा साहित्यिक अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते थे। संगम युग तामिल साहित्य का स्वर्णयुग समझा जाता है। उस समय तामिल साहित्य के सभी क्षेत्रो मे बडी महत्वपूर्ण रचनाये लिखी गईं। सभी सगम पाण्ड्य राज्य मे हुए। इनके परम्परागत वर्णन के अनुसार तीन संगम हुए। पहले संगम के अधिवेशनो का केन्द्र पुरानी मदुरा नगरी थी, जो अब भारतीय महासागर मे विलीन हो चुकी है। इस सगम अथवा विद्वत् गोष्ठी के सभापति अगस्त्य थे। इसमे शिव, सुब्रह्मण्य (मुरुग), आदिशेष प्रभृति देवताओ ने भाग लिया था। प्रथम सगम मे सम्मिलित होने वाले सदस्यो की सख्या ५४९ थी। इसमे ४४९९ लेखको और कवियो ने अपनी रचनाये प्रस्तुत की। इस सगम को ८९ राजाओ ने अपना सरक्षण प्रदान किया। प्रथम सगम ४४०० वर्षों तक चलता रहा। इस समय की कुछ प्रसिद्ध कृतियाँ **अकत्तियम** (अगस्त्यम्) **परिपदाल, मुदुनारै, मुदुकुरुकु** थी।

दूसरे सगम का केन्द्र पाण्ड्य राज्य मे कपाटपुरम् (अलेवाई) था। यह नगर भी अब समुद्र में विलीन हो चुका है। द्वितीय सगम मे भाग लेने वाले अगस्त्य आदि ४९ ऋषि मुनि थे। इसे ५९ पाण्ड्य राजाओ ने सरक्षण प्रदान किया। यह सगम ३७०० वर्ष तक अपना कार्य अविच्छिन्न रूप से करता रहा। इसमें ३७०० कवियो ने अपनी रचनाये प्रस्तुत की और इनपर विद्वत् परिषद् की मुहर लगवाई। इस संगम की प्रसिद्ध कृतियाँ **अकत्तियम तोलकप्पियम, मापुरानम, भूतपुरानम**, कालि और कल्कू थी। इस सगम के समय मे ८१४९ ग्रन्थो का एक विशाल पुस्तकालय था, किन्तु यह सब सामग्री समुद्र द्वारा नष्ट हो चुकी है। अगस्त्य पहले दोनो संगमो मे सम्मिलित हुए थे। अत. यह स्पष्ट है कि दूसरा सगम पहले सगम से सबद्ध था। द्वितीय सगम के लगभग सभी ग्रन्थ लुप्त हो चुके है। इसका एकमात्र अवशेष तोलकप्पियम नामक तामिल का व्याकरण है। यह अगस्त्य के १२ शिष्यो मे से एक शिष्य तोलकाप्पियर की कृति माना जाता है।

तीसरे संगम का केन्द्र वर्तमान मदुरा नगरी थी। इसमे सम्मिलित होने वाले सदस्यो की सख्या ४९ थी, इसमे ४४९ कवियो ने अपनी कृतियाँ विद्वानो की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत की। ४९ पाण्ड्य राजा इसको राजसरक्षण प्रदानकरते रहे। यह सगम १८५० वर्ष तक कार्य करता रहा। इस सगम मे भाग लेने वाले प्रसिद्ध व्यक्ति--इसका सभापति नक्किरर, इरैयनार, कपिलर, परनर थे। इस युग की सुप्रसिद्ध कृतियाँ, नेदूथोकई, कुरंथोकई, नत्रिनइ, परिपादल, पैरिसई, सित्रिसई है। इनमें अधिकाश ग्रन्थ नष्ट हो चुके है।

तिथिक्रम :—सगम साहित्य का तिथिक्रम अत्यन्त विवादग्रस्त है। परम्परागत दृष्टिकोण से तीनो सगमो की अवधि क्रमश ४४००, ३७००, १८५० वर्ष थी। इनका सर्वयोग ९९५० वर्ष बैठना है। चूकि अधिकाश विद्वानो का यह मत है कि तृतीय सगम का अतिम समय ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे था, अत सगम साहित्य का आरम्भ १०००० ई० पू० मे मानना पडेगा। किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक इस अनुश्रुति को इसलिए अप्रामाणिक मानते है कि इस तिथिक्रम का वर्णन हमें इरैयनार, अहप्पोरुल की १२वी शताब्दी ई० मे लिखी हुई टीकाओं मे मिलता है। अधिकाश आधुनिक विद्वान् सगमो का १०००० वर्ष का परम्परागत समय मानने की अपेक्षा १००० वर्ष का समय अर्थात् ५०० ई० पू० से ५०० ई० तक मानते है।[1]

इनमे विभिन्न ग्रन्थो का समय निश्चित करना बडा कठिन कार्य है। किन्तु यह बात निर्विवाद है कि इनका काफी बडा हिस्सा ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी मे लिखा गया है। यह बात दक्षिणी भारत विषयक विदेशी विवरणो की और तामिल साहित्य की सम्मिलित साक्षी से पुष्ट होती है। विदेशी विवरणो मे स्ट्रैबो, प्लिनी और पेरिप्लस उल्लेखनीय है। स्ट्रैबो ने पहली शताब्दी ई० के आरम्भ मे अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ भूगोल मे यह बताया है कि रोमन सम्राट आगस्टस (Augustus) का राज्याभिषेक होने पर भारत से पाण्डियोन (Pandion) के राजा ने एक दूतमडल रोम भेजा था। यह पाण्ड्य राजा समझा जाता है। ७७ ई० मे प्लिनी ने अपना विश्वकोशात्मक ग्रन्थ **प्राकृतिक इतिहास** (Natural History) लिखा। इससे यह प्रतीत होता है कि उन दिनो दक्षिण भारत के साथ रोमन जगत् का बहुत व्यापार होता था और यहाँ यूनानी व्यापारी कालीमिर्च, मणियाँ और मसाले लेने के लिये आया करते थे। प्लिनी के कथनानुसार उन दिनो विदेशी व्यापारी जल-दस्युओ के डर के कारण मुजिरिस (क्रॉगनोर) के बन्दरगाह मे न उतर कर पाण्ड्य देश के बरके नामक बन्दरगाह मे आया करते थे। ८० ई० के लगभग लिखे गए पेरिप्लस के विवरण से भी यही प्रगट होता है कि उन दिनो पश्चिमी जगत् के साथ दक्षिणी भारत का व्यापार चरम उत्कर्ष पर था। यही बात हमे आरम्भिक तामिल कविताओ मे उपलब्ध होती है। इनमे दस बार यवनो का निर्देश है। उदाहरणार्थ—अहम् के एक पद (१४९) मे यह कहा गया है कि मुजरिस मे यवन सोने से भरे हुए अपने सुशोभन जलपोतो के साथ आते है और इनमे कालीमिर्च भरकर इन्हें वापिस ले जाते है। यवनो से सबध रखने वाले तामिल साहित्य के इन उद्धरणों के

---

१. ए० इं० यू०, पृ० २६३

आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि ये कविताये उस युग मे लिखी गई थी, जब केरल और पाण्ड्य देशों का व्यापार रोमन जगत के यूनानी (यवन) व्यापारियो के साथ चल रहा था। इस व्यापार का श्रीगणेश ४५ ई० में हिप्पलास द्वारा मानसून हवाओ की सहायता से हिन्द महासागर को पार करते हुए अरब तट से सीधा केरल के समुद्र-तट तक के जलमार्ग की खोज से हुआ था। यह वाणिज्य तीसरी शताब्दी ई० मे रोमन साम्राज्य के निर्बल होने के साथ क्षीण होने लगा। इस आधार पर यह कल्पना की गई है कि यवनो का निर्देश करने वाले तामिल काव्यो का प्रणयन १०० से २५० ई० के मध्य मे हुआ।

तामिल कविताएँ—इस समय तीसरे सगम मे तामिल भाषा के जिन ग्रन्थो का निर्माण हुआ उनके कुछ अश आजकल हमे पद्यसग्रहो के रूप मे मिलते हैं। इस प्रकार के तीन पद्यसग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय है—**पत्थुप्पात्त** (दशगीत), **एत्त थोकई** (अष्ट सकलन) तथा पदिनेकिल् कनक्क् (१८ लघु उपदेशमय कविताये)। तामिल साहित्य मे काव्य के विषयो के वर्गीकरण पर बहुत बल दिया जाता है। इस आधार पर उपर्युक्त पद्यसग्रहो को दो बडे समूहो मे बाँटा जाता है—(क) **तामिल अगम**—इसमे प्रेम सम्बन्धी रचनाओ को स्थान दिया जाता है। (ख) **तामिल-पुरम**—इसमे राजा की प्रशसा विषयक कविताये होती है। तामिल भूमि के विभिन्न प्रदेशो को ध्यान मे रखते हुए कविता की दृष्टि से इन्हें पाँच भागो मे बाँटा जाता है—पर्वत, निर्जल स्थल, वन्य प्रदेश, कृषि के लिए जोते गए खेत, समुद्र-तट। इनमे प्रत्येक क्षेत्र के साथ विशेष प्रकार की कविता सबद्ध थी। उदाहरणार्थ पर्वत के प्रसग मे विवाह से पूर्व के प्रेम का तथा युद्ध का वर्णन किया जाता था, निर्जल स्थल प्रेमियो के दीर्घकालीन विरह का विषय बनते थे, वन्य प्रदेश प्रेमियो के अल्पकालीन वियोग का विषय बनते थे। तामिल कविता की एक बडी विशेषता प्रारम्भिक ध्वनिसाम्य है। जिस प्रकार हिन्दी मे कविता करते हुए दो पक्तियो के अतिम शब्दो मे ध्वनिसाम्य होता है और तुक मिलायी जाती है, उसी प्रकार तामिल मे पद्य की पक्तियो के प्रथम अक्षरो मे ध्वनिसाम्य या तुकबन्दी होती है। यह प्रारम्भिक ध्वनिसाम्य तामिल कविताओ की ही विशेषता है, सस्कृत कविता मे यह बात नही है।

इन कविताओ में ग्रामीण-जीवन, प्रकृति-वर्णन तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन के कई बडे सुन्दर चित्र उपलब्ध होते है। एक अकाल का मार्मिक चित्रण करते हुए कहा गया है—"अगीठी भोजन पकाना भूल गई है। इसके ऊपर काई और मिट्टी

१. कं० हि० इं०, पृ० ६७४

जम गई है। भूख से क्षीण स्त्री के स्तन चमड़े के पोले थैले के समान सिकुड़ गये है। उसके चूचक बिल्कुल सूख गए है। किन्तु बच्चा इन्हें रो-रोकर चबा रहा है। वह उसके मुख की ओर देखती है और उसकी बरौनियो मे आँसू छा जाते हैं।"[1] इसी युग मे **तिरक्कुरल** की रचना हुई, जिसे तामिल साहित्य मे वेद के समान पवित्र और पूज्य समझा जाता है। इसमे धर्म तथा जीवन के अनेक पक्षो पर छदोबद्ध सक्षिप्त लोकोक्तियाँ प्राप्त होती है। जैसे, "प्रेम का आनन्द समुद्र के समान विस्तीर्ण है, किन्तु इससे भी अधिक विस्तीर्ण है वियोग का दुःख। प्रेम मदिरा की अपेक्षा तीव्र है, क्योकि इसका विचार मात्र ही मदोन्मत्त कर देता है।"

इस युग मे कुछ महाकाव्य भी लिखे गए। इनमे सबसे अधिक प्रसिद्धि सिलप्पदिकारम और मणिमेखलै की है। इन्हें पश्चिमी विद्वान् तामिल साहित्य का इलियड और ओडिसी कहते है। इनका रचनाकाल अधिकाश विद्वान् दूसरी शताब्दी ई० समझते है। सुप्रसिद्ध राजा चेरन शेगुट्टुवन का छोटा भाई इलगोअदिगल था। पूर्णलिगम् पिल्लै के मतानुसार इलगो जैन भिक्षु बना था, किन्तु स्वामीनाथ ऐय्यर का यह विचार है कि वह आजीवन शैव बना रहा। अपनी भ्रमण यात्राओ मे इलगो की भेट बौद्ध कवि सित्तलैसात्तनार से हुई। उसने उसे अपनी कविता मणिमेखलै सुनाई। इलगो पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। उसने इस कविता की कथा के आधार पर इससे पहली पीढी के संबध मे एक नई कथा की कल्पना करते हुए **सिलप्पदिकारम्** (नूपुर) के काव्य की रचना की। इस अनुश्रुति मे भले ही कोई सत्य न हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि इलगो और सात्तनार समकालीन थे। इनमे से इलगो ने राजगद्दी पर बैठने वाले अपने बडे भाई की आशकाओ को दूर करने के लिए राजकीय वैभव का परित्याग करके सन्यास लिया। सात्तनार बौद्ध मतानुयायी सद्गृहस्थ था। दोनो के जीवन मे आकाश, पाताल का अन्तर था। फिर भी ये दोनो महाकवि थे, उनकी रचनाये आज तक तामिल साहित्य का चूड़ामणि बनी हुई है। कविताप्रेमी रसिको को अब भी वैसा ही आनन्द प्रदान कर रही है, जैसा पिछली १७ शताब्दियो दक्षिण मे भारतीय इनसे प्राप्त करते रहे है।

सिलप्पदिकारम् मे कावेरीपट्टनम (पुहार) बन्दरगाह के धनाढ्य व्यापारी कोवलन तथा उसकी पत्नी कण्णगि की हृदयस्पर्शी एव नाटकीय घटनाओ से परिपूर्ण मार्मिक कथा है। कोवलन ने कुछ समय तक अपनी पत्नी के साथ प्रसन्नतापूर्वक सुखमय जीवन बिताया। इसके बाद वह राजदरबार की एक नर्तकी माधवी पर मुग्ध

---

१. बाशम—वंडर दैट वाज इण्डिया,

हो गया। उसके मोह मे वह अपनी सती साध्वी कण्णगि को भूल गया। उसने न केवल अपनी सम्पूर्ण संपत्ति अपितु कण्णगि के सब रत्नाभूषण माधवी के प्रेम मे लुटा दिये। अन्त में जब उसके पास कुछ भी न रहा तो वह पश्चात्ताप करता हुआ अपनी साध्वी पत्नी के पास पहुँचा। पत्नी ने उसके सब अपराधो को उदारतापूर्वक क्षमा कर दिया, उसे पुन: व्यापार द्वारा धन कमाने के लिये अपने पास बचा हुआ एक बहुमूल्य पायजेब का जोड़ा दिया।

इस पूंजी के साथ व्यापार करने के लिए दम्पती ने पुहार से मदुरा जाने का निश्चय किया। मदुरा पहुचने पर उन्होंने शहर के बाहर एक कुटी मे शरण ली। कोवलन कण्णगि का एक पायजेब बेचने के लिए शहर मे गया। उसी समय पाण्ड्य राजा नेडुन्जेलियान की रानी का इसी प्रकार का एक पायजेब एक धूर्त सुनार चुराकर ले गया था। उस सुनार ने ज्योही बाजार मे कोवलन को कण्णगि का एक पायजेब बेचने के लिए ले जाते हुए देखा तो उसने फौरन राजा को सूचना दे दी। राजा ने कोवलन को पकडने के लिए राजकर्मचारी भेजे। कोवलन राजा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। उसके अपराध की कोई भी जाँच किए बिना, उसकी कोई बात न सुनते हुए, राजा ने तुरन्त उसे प्राणदण्ड दे दिया। कण्णगि यह हृदय-विदारक समाचार सुनते ही कुछ समय के लिए मूछित हो गई। पुन. चेतन होने पर वह अपने पति को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए अपने हाथ मे एक पायजेब लेकर मदुरा की नगरी मे चली गई। उस समय उसकी आँखो से क्रोध की ज्वालाये निकल रही थी। उसने उच्च स्वर मे कहा—"इस स्त्री के साथ ऐसा घोर अन्याय हुआ है, जिसका कोई प्रतिकार नही हो सकता है।" पति के लिए विलाप करते हुए उसने कहा—"क्या यहाँ स्त्रियाँ है? क्या यहा ऐसी स्त्रियाँ है, जो अपने विवाहित पति के साथ किए गए ऐसे अन्याय को सहन कर सकती है? क्या यहाँ इस नगरी मे, जहाँ राजा की तलवार ने एक निर्दोष व्यक्ति को हत्या कर दी है, कोई देवता है?" इस प्रकार वह अपना मर्मभेदी करुण विलाप और चीत्कार करती हुई राजमहल मे पहुची। उसने ज्योही राजा के आगे अपने पति की निर्दोषिता प्रमाणित करने के लिए अपनी पायजेब दिखाई तो राजा ने अनुभव किया कि कोवलन निर्दोष था। तब राजमुकुट उसके सिर से गिर पडा, राजदड उसके हाथ मे काँपने लगा, वह भूमि पर गिर पड़ा और मर गया। कण्णगि ने रानी से कहा चूकिराजा नष्ट हो गये है, अत मै इस नगरी को भी नष्ट कर दूगी। उसने अपने शाप से मदुरा की समृद्ध नगरी को भस्मसात् कर दिया। कुछ समय बाद देहान्त होने पर कण्णगि स्वर्ग मे

कोवलन से मिल गई। इसी बीच उसकी मृत्यु का समाचार समूची तामिल भूमि मे फैल गया। वह देवी के समान पूजी जाने लगी। उसके सम्मान मे मंदिर बनवाये गये। वह पातिव्रत्य और सतीत्व का सरक्षण करने वाली देवी मानी जाने लगी। इस काव्य में कण्णगि का पातिव्रत्य, पति के लिये विलाप, राजा का अपने कर्त्तव्य-पालन में प्रमाद, निर्दोष व्यक्ति को दण्ड देने के भीषण परिणाम, मदुरा नगरी का भस्मसात् होना आदि हृदय पर गहरा प्रभाव डालने वाली घटनाए वर्णित है।

सिलप्पदिकारम् से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा तामिल काव्य मणिमेखलै है। इसकी नायिका मणिमेखलै नर्तकी माधवी से जन्म लेने वाली कोवलन की कन्या थी, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह कण्णगि की कन्या है। वह शीघ्र ही मानवीय प्रेम की निष्फलता को अनुभव कर लेती है और बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाती है, बौद्ध भिक्षुणी बनती है। इसमे काव्य का अश कम है, धार्मिक और नैतिक उपदेशो का वर्णन अधिक है। मणिमेखलै मे इसकी कथा केवल दार्शनिक और शास्त्रार्थ सम्बन्धी बातो के लिए बनाई गई है। इसमे सिलप्पदिकारम् जैसी भावनाओ की प्रगाढ़ता नही है, किन्तु मानवीयता की मात्रा मे कोई कमी नही है।

इस समय तामिल साहित्य के निर्माण में न केवल हिन्दू और बौद्ध भाग ले रहे थे, अपितु जैन भी तामिल वाङमय को विकसित कर रहे थे। एक जैन आचार्य तिरुथकथीवार का **जीवकचिन्तामणि** इसी प्रकार एक काव्य है। इसमे एक राजा का मन्त्री राजगद्दी हथिया लेता है। राजा की मृत्यु होने पर उसका शिशु जीवक अनेक प्रकार की भीषण विपत्तियों को सहने के बाद अपने पिता का राजसिंहासन प्राप्त करता है और इसे छीनने वाले मन्त्री को मार डालता है। ८५ वर्ष की आयु मे जीवक मे वैराग्य की भावना प्रबल होती है, वह राजपाट छोड कर जैन भिक्षु बन जाता है। जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवक के चरित्र की कथा ३००० से अधिक सुन्दर पद्यो में कही गई है।

बारहवाँ अध्याय

धार्मिक दशा

अवतरणिका—धार्मिक विकास की दृष्टि से शुग, सातवाहन युग में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। शुग युग का श्रीगणेश वैदिक धर्म के पुनराहरण की लहर से और बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया के साथ हुआ, किन्तु इस समय वैदिक युग के जिस धर्म को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया जा रहा था, वह दुबारा लौटकर नही आ सकता था। बौद्ध धर्म ने जनता के विचारो में जो परिवर्तन किया था उसे मिटाया नही जा सकता था। छठी शताब्दी ई० पूर्व मे बौद्ध और जैन धर्मों के रूप मे पुराने वैदिक धर्म के विरुद्ध जो महान क्रान्ति हुई थी, उसका प्रभाव हिन्दू धर्म पर पड़ना स्वाभाविक था। इन धर्मों के आक्षेपों और चुनौतियो का उत्तर देने के लिए हिन्दू धर्म द्वारा अपने सिद्धान्तो और मन्तव्यो को शृंखलाबद्ध एवं तर्कसंगत रूप दिया गया। विरोधियो के आक्रमणो से रक्षा करने के लिए धर्म एवं दर्शन संबधी विचारो को, रामायण और महाभारत मे तथा विभिन्न दार्शनिक सप्रदायो मे व्यवस्थित रूप से उपनिबद्ध किया गया। बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्वो के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उनको अपने धर्म में समाविष्ट करके हिन्दू धर्म को सुदृढ़ किया गया। इस समय न केवल हिन्दू धर्म को नवीन रूप प्राप्त हुआ, अपितु बौद्ध धर्म को भी महायान संप्रदाय द्वारा एक नवीन रूप प्राप्त हुआ। हिन्दू धर्म मे भक्ति-प्रधान वैष्णव शैव सप्रदायों का विकास हुआ। यहाँ पहले इस युग के धार्मिक विकास की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला जायगा।

धार्मिक विकास की सामान्य विशेषतायें—इस युग की पहली विशेषता भक्ति-प्रधान सप्रदायो का अभ्युदय और प्राबल्य था। वैष्णव और शैव धर्मों में भक्ति और प्रसाद के सिद्धान्तो को महत्व दिया गया। भक्ति का आशय अपने आराध्य देवता के प्रति अगाध प्रेम, उपासना और पूर्णरूप से आत्मसमर्पण की भावना है। प्रसाद का तात्पर्य भक्त पर भगवान की अनुकम्पा और कृपा है। दीन-वत्सल और दयालु भगवान भक्तो द्वारा नामस्मरण मात्र से ही उनका कल्याण करते है और उनके विभिन्न कष्टों का अन्त कर देते हैं। वैष्णव और शैव धर्म इसी प्रकार की भक्ति-भावना से ओतप्रोत थे। भक्ति की यह भावना केवल शैव और वैष्णव

धर्मों तक ही सीमित नही थी, अपितु नास्तिक और निरीश्वरवादी बौद्ध एवं जैन धर्म भी इस भावना से प्रभावित हुए बिना न रह सके।

दूसरी विशेषता मूर्तिपूजा का व्यापक रूप से प्रसार था। यह भक्तिवाद के अभ्युदय का स्वाभाविक परिणाम था, क्योंकि इसका पूजा का ढग भिन्न प्रकार का था। वैदिक धर्म यज्ञप्रधान था, उसमें देवताओ की उपासना यज्ञो द्वारा की जाती थी। किन्तु भक्तिवाद मे भगवान की पूजा उसकी मूर्ति पर फल-फूल, नैवेद्य, धूप, दीप, पत्र, पुष्प से एव वाद्य, नृत्य, गीत, बलि आदि द्वारा की जाती थी। इसे श्रीमद्भगवद् गीता में पत्र, पुष्प, फल तोय वाली पूजा कहा गया है। इससे पहले वैदिक युग मे वैदिक देवी-देवताओ की कोई मूर्तियाँ नही बनायी जाती थी। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह विचार है कि उस समय कर्मकाण्ड के प्रयोजनो के लिये इन्द्र, रुद्र, वायु, वरुण आदि देवताओ की मूर्तियाँ बनायी जाती थी, तथापि अधिकाश विद्वान् वैदिक युग मे मूर्तिपूजा की सत्ता को स्वीकार नही करते है। इस विषय मे उनका यह भी कहना है कि वैदिक साहित्य मे दस्युओं की निन्दा करते हुए इसका एक कारण उनका लिग-पूजक होना बताया गया है। अत उस समय मूर्तिपूजा को घृणा से देखा जाता था। मूर्तिपूजा प्रचलित न होने की पुष्टि इस बात से भी होती है कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे वैदिक यज्ञो के विस्तृत विधि विधान बताये गये है, किन्तु इनमे मूर्तियो की कोई चर्चा नही मिलती है। ऐसा समझा जाता है कि उस समय की वनेचर जातियो मे नाना प्रकार के देवी-देवताओ की पूजा करने की जो परिपाटी थी, उसी से बाद मे मूर्तिपूजा का विकास हुआ। तीसरी शताब्दी ई० पूर्व के एक बौद्ध ग्रन्थ **निद्देस** में यह बताया गया है कि उस समय न केवल वासुदेव, बलदेव आदि की, अपितु पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि यक्षो की पूजा की जाती थी और हाथी, घोडे, गौ, कुत्ता, कौवे की उपासना करने वाले पशुपूजक भी थे। नागो की पूजा भी प्रचलित थी।

इस समय न केवल हिन्दू धर्म मे अपितु बौद्ध धर्म में भी मूर्ति पूजा का श्रीगणेश हुआ। आरम्भ मे बुद्ध की कोई मूर्ति नही बनायी जाती थी। उनसे सबद्ध जातकों के दृश्यो मे उनका चित्रण बोधि वृक्ष, छत्र, स्तूप, चरणचिन्ह आदि के प्रतीक से किया जाता था। इस युग मे सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्तियाँ बनाने की पद्धति आरम्भ हुई। पहले इस पद्धति का श्रीगणेश करने का श्रेय गन्धार प्रदेश के यूनानी कलाकारो को दिया जाता था और यह माना जाता था कि भारतीयों ने मूर्तियाँ बनाने की कला मूर्तिपूजक यूनानियो से सीखी, किन्तु अब यह माना

जाता है कि बुद्ध की मूर्तियां बनाने की पद्धति का गन्धार तथा मथुरा मे सर्वथा स्वतन्त्र रीति से उस समय विकास हुआ जब महायान की भक्ति-प्रधान विचार-धारा के कारण जनता तथागत को मौतिक रूप में दखने के लिए विह्वल हो रही थी, उस समय कलाकारो ने इसका निर्माण करके उस युग की एक बड़ी आवश्यकता को पूरा किया।

इस युग की तीसरी विशेषता हिन्दू धर्म को एक नया रूप दिया जाना था। इस युग में यद्यपि वैदिक युग की पुनः स्थापना का प्रयत्न हुआ किन्तु इस युग का सुधार आन्दोलन बौद्ध धर्म की प्रमुख प्रवृत्तियो को अपनाये हुए था। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिये था तो हिन्दू धर्म का नया रूप उससे भी बढ़कर जनता की वस्तु बना। इस समय हिन्दू धर्म को निम्नलिखित उपायों से लोकप्रिय बनाया गया।

(क)– **लोकप्रचलित देवताओं को वैदिक देवता बनाना**––आर्यों के निचले दर्जों मे और अनार्य जातियो में कई प्रकार के देवताओं, यक्षो, भूत-प्रेतों, जीव-जन्तुओ, जड़-पदार्थों की पूजाये प्रचलित थी। बौद्ध धर्म ने यक्षो को बुद्ध का उपासक बनाकर उनकी पूजा चलती रहने दी थी। अब हिन्दुओ ने भी उनका अनुसरण किया। लोकप्रचलित देवताओं को यथापूर्व रखते हुए उन्होने उन पर वैदिक धर्म की हल्की सी छाप अंकित करके उन्हें ग्रहण कर लिया[1]। मथुरा मे वासुदेव (श्रीकृष्ण) की पूजा प्रचलित थी। उसको अब वैदिक देवता विष्णु से मिलाकर उनकी उपासना वेदानुयायी कट्टरपंथियो के लिये स्वीकरणीय कर दी गयी। शैव धर्म को भी नया रूप दिया गया। वैदिक धर्म के पुनराहरण की लहर ने उस समय पूजे जाने वाले प्रत्येक जड़ देवता और मनुष्य देवता मे किसी न किसी वैदिक देवता की आत्मा फूंक दी[2]। वनेचरो के भयकर देवी देवता काली और रुद्र के रूप बन गये।

---

१. रामकृष्ण गोपाल भंडारकर––वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजियस सिस्टम्स पृ० ३।

२ भा० इ० रू० जिल्द २ पृ० ११४२। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि को देवता मान कर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोगों में चली आती थी उसे सार्वजनिक रूप से मान्यता मिली। उच्च वर्गों के घरों में इन देवताओ का निर्बाध प्रवेश हुआ। वैदिक धर्म की यज्ञपद्धति के साथ नया भक्तिधर्म कंधे से कंधा मिला कर सामने आया, समाज में उसकी धाक जम गयी, वैदिक देवता और यज्ञ पिछड़ने लगे। अशोक ने इस स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा है––अमिसा देवा मिसा कटा (अमिश्रा देवाः मिश्रा

इस प्रकार समूची भारत-भूमि मे जितने देवता पूजे जाते थे, वे शिव, विष्णु, स्कन्द आदि की विभिन्न शक्तियो के सूचक बने। जहाँ कही किसी पुराने पुरखा की पूजा होती थी उसके अन्दर भी भगवान का अवतार मान लिया गया। यह एक भारी समन्वय की लहर थी, जिसने जहाँ कही पूज्य भाव या दिव्य भाव किसी रूप मे पाया, उसमे किसी न किसी देवता का संकेत रख दिया। प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी न किसी दैवी शक्ति का प्रतीक बना डाला गया। समन्वय की इस लहर ने देव-ज्योति को मानो ऊचे स्वर्ग से और वैदिक कवियो के कल्पना-जगत् से उतार-कर भारतवर्ष के कोने-कोने मे पहुँचा दिया, जिससे जनसाधारण की सब पूजाए आर्य-प्राण हो उठी और उनके जड़ देवता भी वैदिक देवताओ की भावमय आत्माओ से अनुप्राणित हो उठे। इस प्रकार सातवाहन युग मे साधारण जनता को जगाने वाली एक भारी प्रेरणा के रूप मे नवीन पौराणिक धर्म का अभ्युदय हुआ। इसमे वैदिक यज्ञो के स्थान पर मन्दिर और मूर्तियाँ थी। आरम्भ मे इनकी पूजा बहुत सीधी-सादी थी, बाद मे इनमे जटिल कर्मकाण्ड और ठाठ-बाठ का विकास हुआ।

(ख) **लोकप्रिय धर्मग्रन्थों का निर्माण**—बौद्धो की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण जातक और अवदान साहित्य था। इनमे गौतम बुद्ध के पहले जन्मो के बोधि-सत्वो की बड़ी रोचक कथाए होती थी। इनमे उनके दया, दान, आत्मत्याग आदि के गुणो पर बड़े सुन्दर ढग से प्रकाश डाला जाता था। प्राचीन वैदिक साहित्य मे इस प्रकार का लोकप्रिय साहित्य नाम मात्र था। सूत पुराण और इतिहास की गाथाये अवश्य गाते थे, किन्तु उनका प्रधान उद्देश्य वीर पुरुषो के शूरतापूर्ण कारनामो का ही बखान था, धर्म-प्रचार नही था। ये गाथाये बड़ी लोकप्रिय थीं। इस युग मे इनके द्वारा धर्मप्रचार का कार्य लिया जाने लगा। रामायण और महाभारत के नवीन सस्करण तैयार किये गये। महाभारत का प्रधान उद्देश्य आख्यानो द्वारा नये धर्म की शिक्षाओ का प्रतिपादन करना था। इसने श्रीकृष्ण को देवता और विष्णु का अश बना डाला, शिव और विष्णु की महिमा के गीत गाये, भगवद्गीता द्वारा भागवत-धर्म का प्रचार किया। यह ग्रन्थ हमारे धार्मिक विकास का सुन्दर उदाहरण है। पहले यह सूतो तथा चारणो द्वारा गाया जाने वाला वीररसपूर्ण काव्य ही था। इसकी लोकप्रियता के कारण इसमे सभी धार्मिक समस्याओ का आख्यानो के रूप मे

कृता.) अर्थात् जो देवता पहले अलग-अलग थे, वे अब वैदिक देवताओ के साथ बौद्ध धर्म के साथ और उच्च आर्य धर्म की पूजापद्धति के साथ घुल मिल कर एक हो गये हैं, अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३५१-५२।

समावेश करके इसे न केवल हिन्दू धर्म का विशाल विश्वकोष, अपितु प्रचार का भी प्रबल साधन बनाया गया। यही हाल रामायण का हुआ। इसकी मूल कथा में राम एक आदर्श वीर पुरुष था। वह दूसरे से छठे काण्ड तक इसी रूप में चित्रित है, किन्तु इस युग में कम से कम दूसरी शताब्दी ई० पूर्व तक उसमें पहला और सातवाँ काण्ड जुड़ा। इनमें राम को देवता बना दिया गया। इन दोनों महाकाव्यों ने नवीन ईश्वरवादी भक्ति-प्रधान शैव तथा वैष्णव धर्मों को लोकप्रिय बनाने तथा साधारण जनता में प्रचलित धर्म को नया रूप देने में प्रमुख भाग लिया।

(ग) **क्षत्रिय पुरुषों को देवता बनाना**—बौद्धों और जैनों ने बुद्ध और महावीर को भक्तिभाव से पूजा करते हुए जब उनके स्तूप बनाये तो यह साधारण जनता को बड़ा मनोमोहक एवं आकर्षक प्रतीत हुआ। इसका हिन्दू समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके फलस्वरूप कृष्ण को देवता मान कर उनकी भक्ति का आदर्श नये रूप में समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने वाले विशेष पुरुष थे, वैसे ही श्रीकृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष थे। बुद्ध और महावीर की भाँति कृष्ण को भी तत्कालीन भक्तिवाद की लहर ने देवता बना डाला। वायु पुराण (९७।१) के अनुसार इस प्रकार के देवताओं को **मनुष्यप्रकृतिक** देव कहते थे, क्योंकि इनकी मूल प्रकृति मनुष्य की होती थी।

इस युग की एक चौथी विशेषता वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर थी। मौर्यों के पतन के साथ भारत में बौद्ध धर्म के पतन तथा वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का श्रीगणेश हुआ। मौर्य राजा बौद्ध और जैन धर्मों के संरक्षक थे। वे यवनों के आक्रमणों से देश की रक्षा नहीं कर सके। जनता इसका कारण उनकी धर्मविजय और अहिंसा की नीति को समझती थी। अतः ये धर्म कम से कम उस समय उनकी दृष्टि में गिर गये। पुष्यमित्र शुंग ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास किया, अश्वमेध यज्ञ सपन्न किया तथा न केवल वैदिक धर्म को राजधर्म बनाया, किन्तु बौद्धों का भी कुछ दमन किया। इसी समय बनी मनुस्मृति में जहाँ जुआरियों को राष्ट्र से निकालने का विधान है, वहाँ बौद्धों और जैनों (पाखण्डस्थों) के निर्वासन का भी उपदेश है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८५ ई० पू० में वैदिक मत का सीधा विरोध करनेवाले बौद्ध, जैन आदि नास्तिक सप्रदायों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई थी, फिर भी बौद्ध धर्म यूनानी और कुषाणवंशी मिनान्डर तथा कनिष्क जैसे राजाओं की छत्र छाया में फूलता फलता रहा। अब यहाँ इस युग में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्मों के विकास पर प्रकाश डाला जावेगा।

हिन्दू धर्म

ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष

शुगयुग मे हिन्दू धर्म के जिस रूप का उत्कर्ष हुआ उसे बहुधा **ब्राह्मणवाद** (Brahmanism) कहा जाता है, क्योंकि इसमे ब्राह्मणो की स्थिति सर्वोच्च मानी जाती थी, समाज मे इनकी महत्ता पर बहुत बल दिया जाता था। बौद्धो ने ब्राह्मणो की प्रभुता पर एव इनके द्वारा संपन्न किये जाने वाले वैदिक यज्ञों पर प्रबल आक्षेप किये थे। मौर्य काल मे अशोक द्वारा बौद्ध धर्म को प्रबल राजसरक्षण प्रदान करने के कारण तथागत के धर्म का अधिक उत्कर्ष हुआ, कुछ समय के लिये ब्राह्मणवाद को इसके सम्मुख दबना पडा। श्री रामकृष्ण भंडारकर[1] तथा राखाल दास बैनर्जी[2] ने यह कल्पनाकी थी कि गुप्त सम्राटो के अविर्भाव के समय तक ब्राह्मण धर्म बौद्ध धर्म से दबा रहा, इनके प्रबल राजसरक्षण से पौराणिक हिन्दू धर्म का उत्कर्ष हुआ।

किन्तु श्री देवदत्त रामकृष्ण भडारकर[3] ने उपर्युक्त विद्वानो के मतो का खंडन करते हुये यह प्रतिपादित किया था कि पौराणिक हिन्दू धर्म के ब्राह्मणवादी रूप के उत्कर्ष का वास्तविक श्रेय गुप्त सम्राटों के स्थान पर उनसे पाँच शताब्दी पहले होने वाले शुगवशी ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र को देना चाहिये। इसके पुनरुत्थान का कार्य न केवल शुग राजाओ ने अपितु गौतमीपुत्र शातकर्णी आदि राजसूय और अश्वमेध यज्ञ करनेवाले सातवाहन राजाओ ने किया। चित्तौड के निकट घोसुडी के अभिलेख मे गजायन पराशरीपुत्र सर्वतात द्वारा एक अश्वमेध यज्ञ के किये जाने का वर्णन है। इसे काण्ववशी शासक समझा जाता है। इस प्रकार शुग, काण्व और सातवाहन राजाओ ने इस युग में ब्राह्मणवाद का प्रबल समर्थन किया। इस युग के कुषाण राजाओ से भी हिन्दू धर्म को सरक्षण मिलता रहा। पहले कुषाण राजाओं द्वारा मुद्राओं पर हिंदू धर्म के विभिन्न देवी-देवताओ को अकित करने का उल्लेख किया जा चुका है।

---

१ जरनल आफ बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी खंड २०, पृष्ठ ३५६।

२ दी एज आफ इंपीरियल गुप्ताज, पृष्ठ ११२।

३. वाल्यूम आफ ईस्टर्न एण्ड इंडियन स्टडीज, पृष्ठ २९-३०।

इस समय ब्राह्मण एवं वैदिक धर्म के उत्कर्ष का परिचय वैदिक यज्ञों की स्मृति में स्थापित किये गये अनेक यूपो के स्तम्भलेखों से मिलता है। इस प्रकार का पहला अभिलेख वासिष्क के समय का है। इसके राज्यकाल के चौबीसवें वर्ष मे लिखा गया एक लेख मथुरा के निकट ईशापुर ग्राम से मिला है। यह एक यूप-स्तम्भ पर लिखा हुआ है और मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है। इसमे इस बात का वर्णन है कि भारद्वाज गोत्र के एक ब्राह्मण रुद्रिल के पुत्र द्रोणल ने १२ दिन तक चलने वाला (द्वादशरात्रि) एक यज्ञ सम्पन्न किया और इसकी स्मृति सुरक्षित बनाये रखने के लिये एक यूप को स्थापित किया[१]। प्रयाग संग्रहालय मे सुरक्षित एक अन्य यूप अभिलेख मे सप्तसोम यज्ञ से सबद्ध सात यूपों के निर्माण कराये जाने का उल्लेख है।[२] लिपिशास्त्र के आधार पर इसका समय दूसरी शताब्दी ई० माना जाता है। भूतपूर्व उदयपुर राज्य के नदसा नामक स्थान से प्राप्त २२५ ई० (२८२ कृतसंवत्) मे शक्तिगुण द्वारा ६० दिन तक चलने वाले **षष्ठिरात्र** नामक यज्ञ के सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार भूतपूर्व कोटा राज्य के बड़वा स्थान से २३७ ई० (२९५ कृत स०) में त्रिरात्र यज्ञ करने की स्मृति में बनाये गये यूप का वर्णन है।[३] भरतपुर के निकट विजयगढ[४] मे तथा नगरी[५] से भी तिथि निर्देश रहित दो यूप लेख मिले हैं। इनमे पुण्डरीक तथा वाजपेय यज्ञो के कराये जाने का वर्णन है। लिपि के आधार पर इन लेखो का समय दूसरी शताब्दी ई० माना जाता है। ये सब यूप-लेख इस बात को सूचित करते है कि शुग सातवाहन युग मे वैदिक यज्ञों की परिपाटी बडी लोकप्रिय थी और ब्राह्मणो द्वारा इन यज्ञों को सपन्न कराया जाता था।

इस युग के अनेक लेखो मे ब्राह्मणो को अनेक प्रकार के दान दिये जाने के प्रचुर वर्णन मिलते है। हुविष्क के राज्य के २८वें वर्ष मे लिखे गये मथुरा के एक ब्राह्मी अभिलेख में ११०० पुराण मुद्राओ की एक स्थायी निधि दो श्रेणियो को इस प्रयोजन के लिये दी गई है कि इससे प्राप्त होने वाले व्याज से प्रति मास १०० ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय और प्रति दिन कुछ खाद्य सामग्री भूखे-प्यासे व्यक्तियो को दी जाय। पश्चिमी भारत के क्षत्रपो के अभिलेखों में ब्राह्मणो को दिये जाने वाले

---

१ ए० इं० खंड १९।

२. इंडियन एंटिक्वेरी खंड ५८ पृष्ठ ५३।

३. ए० इं०, खंड २३, पृष्ठ २४५।

४. आ० स० इं० वार्षिक रिपोर्ट १९०६–७, पृष्ठ ५९।

५. वही १९०४–५, पृष्ठ १२०।

दानों का बहुत वर्णन मिलता है। नासिक की गुहा मे अंकित उषवदात के अभिलेख में देवताओं **और** ब्राह्मणो को १६ गावो का दान करने का तथा एक लाख ब्राह्मणों को **वर्ष भर** भोजन कराने का वर्णन है।[1] उषवदात के द्वारा ब्राह्मणो को दान देने के **कुछ** उल्लेख पहले (अध्याय ७) बताये जा चुके है। इस युग मे बौद्ध साहित्य में भी ब्राह्मणों को दान देने के अनेक उल्लेख मिलते है। महावस्तु (खंड २, पृष्ठ ९१) में एक ब्राह्मण को समुद्रपट्टम से यज्ञ करने के लिये बुलाये जाने का तथा दक्षिणा देने का वर्णन है। उपर्युक्त सभी प्रमाण इस युग मे ब्राह्मणो की प्रभुता एव ब्राह्मण-वाद के उत्कर्ष को सूचित करते हैं।

वैष्णव धर्म

(क) **उद्गम**—इस समय भक्ति प्रधान पौराणिक धर्म मे विभिन्न देवी-देवताओ की उपासना पर बल देने वाले अनेक सप्रदायो का विकास हुआ। इनमे वैष्णव और शैव धर्म अधिक महत्व रखते है। विष्णु की उपासना पर बल देने वाले वैष्णव धर्म का विकास सम्भवत. पहले हुआ। इसका दूसरा नाम **भागवत** अथवा **पांचरात्र** सम्प्रदाय भी है। महाभारत और पुराणो के अनुसार भागवत सात्वत अथवा वृष्णि सघ के नेता वासुदेव कृष्ण की उपासना भगवान के रूप मे किया करते थे। देवकी के पुत्र कृष्ण का पहला उल्लेख हमे छान्दौग्य उपनिषद् मे मिलता है। यह समझा जाता है कि वासुदेव कृष्ण की पूजा पहले यदुवशी सात्वतो में राष्ट्रीय महापुरुष के रूप मे प्रचलित हुई। शनै शनै इन्हें देवता अथवा भगवान बना दिया गया। इनके उपासक भागवत कहलाने लगे। इस धर्म का भारत के विभिन्न प्रदेशो मे प्रसार होने लगा। दूसरी शताब्दी ई० पू० तक विदेशी यूनानी भी इस धर्म के अनुयायी बन चुके थे। यह बात यूनानी राजा अन्तिअल्किदम (Antialkidas) के राजदूत तक्षशिला निवासी हेलियोडारेस के बेमनगर के स्तम्भ लेख मे सूचित होती है। इसमे उसने अपने को देवताओ के देवता (देवदेव) वासुदेव का भक्त बताया है। वासुदेव की भक्ति का प्रथम निर्देश ५वी श० ई० पू० मे होनेवाले पाणिनि की अष्टा-ध्यायी के एक सूत्र (४।३।९८) मे मिलता है जिसमे वासुदेव मे भक्ति रखने वाले व्यक्ति को वासुदेवक कहा गया है। इससे पहले चौथी शताब्दी ई० पू० मे मेग-स्थनीज ने यह लिखा कि मथुरा के प्रदेश मे हिराक्लीज (Heracles) की पूजा विशेष रूप से होती है। इस हिराक्लीज को ऐतिहासिक वासुदेव कृष्ण से अभिन्न समझते है।

---

१. ल्यूडर्स की सूची संख्या १०।

वासुदेव कृष्ण के काल के संबन्ध मे पर्याप्त मतभेद है। सामान्य रूप से इनका समय महाभारत का काल समझा जाना चाहिये, किन्तु महाभारत के काल में भी बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानो ने छांदोग्य उपनिषद् (३।१७।४।६) मे वर्णित देवकीपुत्र कृष्ण को ही वासुदेव कृष्ण माना है। इस उपनिषद् के अनुसार घोर आंगिरस नामक ऋषि ने कृष्ण को यज्ञ की एक सरल रीति-तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य के पालन की बतायी थी। छान्दोग्य उपनिषद का समय छठी शताब्दी ई० पू० माना जाता है। जैन परम्परा के अनुसार वासुदेव कृष्ण तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समकालीन थे। ये पार्श्वनाथ से पहले हुए थे। इनका समय छठी सातवी शताब्दी ई० पू० माना जाता है।

श्रीकृष्ण के जीवन के साथ गोपलीला की कुछ कथाये एवं राधा आदि गोपियो के साथ क्रीड़ाये भी जुडी हुई है। इनका वर्णन महाभारत के परिशिष्ट हरिवश पुराण मे तथा वायु एव भागवत पुराणो मे मिलता है। इनके उद्गम के सबन्ध मे कोई बात निश्चित रूप से कहना कठिन है। कृष्ण के गोपाल जीवन की कथाओ का सम्भवत एक स्रोत विष्णु के सबन्ध मे कुछ ऐसे कथानक थे जिनमे इसे गौओ का रक्षक-गोप कहा गया है।[1] बौधायन धर्मसूत्र मे इसके दो अन्य नाम गोविन्द और दामोदर मिलते है। गोपालकृष्ण की कथाओ का एक अन्य स्रोत यह भी प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा वैदिक युग से अपनी गौओ के लिये प्रसिद्ध थी। तैत्तिरीय सहिता और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण मे वृष्णि वंश के एक आचार्य (वार्ष्ण) गोबल (गौओ जैसी शक्ति रखने वाला) का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि मथुरा प्रदेश के यदुवशी अपनी गौओ के लिये प्रसिद्ध थे। इनके महापुरुष वासुदेव के साथ गोपाल बालो की लीलाओं का जुडना स्वाभाविक था। भडारकर का यह मत है कि कृष्ण के आरम्भिक जीवन से सबद्ध राधा तथा अन्य गोपियो की लीलाओ की मधुर कथाये आभीर जाति के प्रभाव से कृष्ण-चरित्र के साथ जुड़ी हैं।

श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व के बारे मे अनेक विचित्र और मनोरंजक कल्पनाएं कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने की हैं। बार्थ और हापकिन्स के मतानुसार कृष्ण कोई ऐतिहासिक मानवीय महापुरुष नही थे, किन्तु वे एक लोकप्रिय देवता थे, जिन्हें बाद मे विष्णु के साथ मिला दिया गया. इससे वैष्णव धर्म की उत्पत्ति हुई। हापकिन्स ने कृष्ण को पाण्डवो का एक जातीय देवता माना है। किन्तु बार्थ इसे मूलतः

१. ए० इं० यू० पृ० ४३४।

सूर्य देवता से संबद्ध मानते है। कीथ ने कृष्ण को एक वानस्पतिक देवता माना है। किन्तु इन सब विद्वानो की कल्पनाये पुष्ट प्रमाणो पर आधारित नही प्रतीत होती है। वस्तुत. कृष्ण रामचन्द्र के समान एक ऐतिहासिक मानवीय महापुरुष थे, इन्हें बाद मे देवता बना दिया गया।

वैष्णव धर्म का विकास—वैष्णव धर्म के विकास की **पहली दशा** वासुदेव कृष्ण को वैदिक देवता विष्णु से अभिन्न समझा जाना था। यह भगवद्गीता के समय तक पूर्ण हो चुकी थी। इसके बाद वासुदेव की पूजा, भागवत धर्म और वैष्णव धर्म पर्याय समझे जाने लगे। यह कहा जाता है कि वासुदेव की पूजा उस समय इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी कि वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मणो ने इसे अपनाने के लिये इसका विष्णु से अभेद स्थापित किया ताकि यह वैदिक धर्मानुयायियो के लिये ग्राह्य हो सके।

दूसरी दशा वासुदेव कृष्ण और विष्णु का एक महापुरुष नारायण से अभिन्न समझा जाना था। नारायण के आरम्भिक स्वरूप का प्रतिपादन विभिन्न ग्रन्थो मे अलग-अलग रीति से किया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे नारायण ऐसे पुरुष का नाम है जिसने प्रजापति के आदेश से तीन बार यज्ञ किया था। इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र नारायण द्वारा पाँच दिन रात तक चलने वाले एक यज्ञ (**पांचरात्रसत्र**) करने का वर्णन है। इससे नारायण को अन्य सभी व्यक्तियो से अधिक उत्कृष्टता प्राप्त हुई। सम्भवत. इसीलिये इस सम्प्रदाय को पाँचरात्र कहा जाने लगा। किन्तु इस ब्राह्मण मे कही भी नारायण को विष्णु नही बताया गया है। किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक के १०वे प्रपाठक मे तथा तीसरी शताब्दी ई० पू० की रचना समझी जाने वाली **महानारायण उपनिषद्** मे गायत्री मन्त्र का जो रूप मिलता है उसमे वैदिक विष्णु की नारायण से अभिन्नता बताते हुए यह कहा गया है—**नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहितन्नो विष्णु: प्रचोदयात् ।**

महाभारत के कुछ स्थलो मे नारायण के स्वरूप का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि वे एक प्राचीन मुनि-धर्म के पुत्र और नर नामक ऋषि के सखा थे। वे असुरो के सहार के लिये ही जीवन बिता रहे थे। उन्होने इन्द्र को देवासुर-सग्राम मे बहुमूल्य सहायता प्रदान की थी। शैव भावना से प्रभावित एक अन्य स्थल मे यह कहा गया है कि धर्मपुत्र नारायण ने हिमालय के बद्रीनाथ नामक स्थान पर तपस्या करके शिव को प्रसन्न किया और ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त किया। नारायण की तपस्या से उनके समान नर नामक एक अन्य मुनि उत्पन्न

हुए। नर को अर्जुन तथा नारायण को वासुदेव कृष्ण माना जाता है।[1] महाभारत में नर और नारायण की बड़ी महिमा बखानी गई है। महाभारत का श्रीगणेश नर और नारायण के नमस्कार के साथ होता है। बाद में इस विषय में एक यह दृष्टिकोण भी पल्लवित हुआ कि नर और नारायण अलग-अलग नहीं है, अपितु दोनो अभिन्न है। एक ही शक्ति नर और नारायण के दो रूपो मे अभिव्यक्त होती है (नारायणो नरश्चैव सत्वमेक द्विधा कृत-उद्योगपर्व ४८।२०)। इस प्रकार आरम्भ मे नर और नारायण की पूजा पृथक रूप मे प्रचलित थी। इसमे नारायण प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को **नारायणीय धर्म** कहा गया है। महाभारत के शान्तिपर्व मे नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। इस पर्व मे यह बताया गया है कि नारायण समूचे ब्रह्माण्ड मे ओतप्रोत शाश्वत सत्ता है। यह धर्म के पुत्र के रूप मे नर नारायण के तथा हरि और कृष्ण के रूप मे उत्पन्न हुआ। यह हमें चतुर्व्यूह कल्पना का स्मरण कराता है। आगे इसका प्रतिपादन किया जाएगा। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि उन दिनो भागवत धर्म मे युगल देवताओ की पूजा प्रचलित थी। जिस प्रकार नर-नारायण की कल्पना थी, उसी प्रकार सकर्षण (बलराम) और वासुदेव भी नये भक्ति धर्म मे पूजे जाते थे और इनका इकट्ठा उल्लेख किया जाता था।[2] सकर्षण वासुदेव के जोड़े मे बाद मे प्रद्युम्न

---

१. इस प्रसंग में पाणिनि के एक सूत्र वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४।३। ६) का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसके अनुसार वासुदेव की भक्ति करने वाले वासुदेवक और अर्जुन की भक्ति करने वाले अर्जुनक कहलाते थे। इससे सूचित होता है कि उस समय वासुदेव के साथ-साथ अर्जुन की भी उपासना प्रचलित थी, किन्तु इन दोनों में वासुदेव अधिक पूजे जाते थे, इसीलिये पाणिनि ने उपर्युक्त सूत्र में वासुदेव का पहले उल्लेख किया है, यद्यपि उसके दो अन्य सूत्रों (२।२।३३–३४) में दिये गये द्वन्द्व समास के नियम के अनुसार यहां समास का रूप अर्जुनवासुदेव होना चाहिये। इस सूत्र का भाष्य करते हुए पतंजलि ने यह बताया है कि यहां वासुदेव किसी क्षत्रिय पुरुष का नाम नहीं है, अपितु पूजा किये जाने वाले एक देवता का नाम है। रामकृष्ण गोपाल भंडारकर को महाभाष्य की एक पाण्डुलिपि में यहां 'संज्ञा चैषा तत्रभवतः के स्थान पर तत्र भगवतः का पाठ मिला था। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय वासुदेव को भगवान माना जाता था।

२. पाणिनि ८।१।१५, द्वन्द्व संकर्षणवासुदेवौ, द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येण इत्यर्थः।

और अनिरुद्ध के मिलने से इन चारो का चतुर्व्यूह बना और साम्ब को साथ लेकर वृष्णि वंश के पाँच वीरो की पूजा की कल्पना पूर्ण हुई, जो पाचरात्र धर्म की एक बड़ी मान्यता थी।

महाभारत मे यह बताया गया है कि क्षीरसागर के उत्तरी तट पर **श्वेत द्वीप** में नारायण की पूजा करने वाली श्वेत जाति रहा करती थी। इस सबन्ध में सर्वप्रथम वेबर (Weber) ने यह कल्पना की थी कि भक्तिवाद के सिद्धान्त को भारतीयो ने विदेशी जातियो–विशेषत ईसाइयो के सम्पर्क से ग्रहण किया। उन्होने नारायण और कृष्ण को ईसा के साथ सबद्ध कर दिया। किन्तु राय चौधरी आदि भारतीय विद्वानो ने वेबर के इस मत को कोरी कल्पना की उडान माना है। उनका कहना है कि नारायण में हमे सूर्य के ही एक रूप मे पूजा किये जाने वाले विष्णु के दर्शन होते है। नारायण की पूजा का मूल उद्देश्य कुछ भी रहा हो, किन्तु यह बात निश्चित है कि बाद मे नारायण की उपासना की धारा वासुदेव की पूजा करने वाली भागवत सम्प्रदाय की धार्मिक धारा से मिल गई। गगा यमुना की भाँति इन दोनो धाराओ ने एकरूप होकर वैष्णव धर्म का रूप ग्रहण किया। सम्भवत नारायण की उपासना का आरभ हिमालय के किसी प्रदेश में हुआ और इसके उपासक आरभ मे पाचरात्र कहलाते थे।

वैष्णव धर्म मे सम्मिलित होने वाली एक तीसरी धारा वीरपूजा की थी। वीरो की पूजा करने और उन्हें देवता बनाने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से वृष्णि जाति में दिखाई देती है। पहले इस प्रसंग मे वासुदेव और सकर्षण अथवा बलराम की पूजा का उल्लेख किया जा चुका है। ये दोनो रोहिणी और देवकी नामक विभिन्न पत्नियो से उत्पन्न हुई वसुदेव की सतान थी। इनके अतिरिक्त वृष्णियों में रुक्मिणि से उत्पन्न प्रद्युम्न और जाम्बवती से पैदा हुये साम्ब नामक वासुदेव के दो पुत्रों की तथा प्रद्युम्न के पुत्र अनिरूद्ध की भी पूजा प्रचलित थी। महाभारत और पुराणो से यह ज्ञात होता है कि आरम्भ मे ये सभी मानवीय प्राणी थे। बाद मे इन्हें देवता बना दिया गया। वायुपुराण ने स्पष्ट रूप से उपर्युक्त सकर्षण आदि पाँच देवताओ को मानवीय स्वभाव रखने वाला मनुष्य-प्रकृतिक देवता माना है और यह कहा है कि ये सभी वृष्णि वश के सुप्रसिद्ध पाँच वीर पुरुष (पचैते वृष्णिवीराः प्रकृतित.) थे। वृष्णि वश मे देवताओं की तरह पूजे जाने वाले ये पाँच वीर इसी वंश के अतिरथ और महारथ कहलाने वाले योद्धाओं से सर्वथा भिन्न थे। उदाहरणार्थ, वृष्णियो मे निम्नलिखित सात व्यक्तियों को महान योद्धा होने के कारण महारथ कहा जाता था—

कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिजय, कक, शंकु और कुन्ति। इनमे से कोई भी देवता की भाँति नहीं पूजा जाता था। यह बात अभिलेखीय साक्षी से भी पुष्ट होती है। पहली शताब्दी ई० के आरम्भिक भाग में मथुरा में शासन करने वाले महाक्षत्रप शोडास के समय के मोराकूप अभिलेख मे एक विदेशी महिला तोषा द्वारा एक प्रस्तर मदिर मे पाँच पवित्र वृष्णि वीरों की मूर्तियाँ (भगवतां वृष्णीना पंचवीराणां प्रतिमा) स्थापित करने का उल्लेख है। इन पाँच वीरो मे साम्ब के अतिरिक्त शेष चारो को सर्वोच्च देवता (**परवासुदेव**) से प्रादुर्भूत होने वाले चार मूल व्यूह समझा जाता था। अब यहाँ चतुर्व्यूह का स्वरूप स्पष्ट किया जायगा।

चतुर्व्यूह का सिद्धान्त---यह वैष्णव धर्म का प्रधान मन्तव्य था। यद्यपि अंत मे वैष्णव धर्म मे केवल वासुदेव कृष्ण की पूजा को ही प्रधान स्थान मिला, किन्तु आरम्भ मे वासुदेव कृष्ण के अतिरिक्त इस परिवार के चार अन्य व्यक्तियों की भी पूजा प्रचलित थी, अत. यह चतुर्व्यूह सिद्धान्त कहा जाता था।[1] इसके अनुसार प्रत्येक भागवत धर्मानुयायी के लिए सर्वोच्च उपास्य देवता वासुदेव थे। इनकी पूजा **पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी** और **अर्चा** नामक पाँच रूपो मे की जाती थी। इन सब में **पर** उनका उच्चतम रूप था। **व्यूह** उनसे प्रादुर्भूत होने वाले और **विभव** उनका अवतार ग्रहण करने वाले रूप थे। **अन्तर्यामी** के रूप मे वे प्रत्येक व्यक्ति के कार्यो का आन्तरिक रूप से नियत्रण करने वाले थे तथा **अर्चा** का अभिप्राय भगवान की स्थूल मूर्तियो की पूजा से था। भगवद्गीता मे भगवान् के इन रूपो की उपासना का विस्तृत प्रतिपादन है। दसवे तथा ग्यारहवे अध्यायो के विभूतियोग और विश्वदर्शन योग में उनके पर रूप का उल्लेख है। चौथे अध्याय (श्लोक ५--९) मे विभव अथवा अवतार-वाद का प्रतिपादन है तथा १८।६१ मे उसके अन्तर्यामी रूप का वर्णन है।[2] किन्तु व्यूहवाद का गीता मे उल्लेख नही मिलता है। इस सिद्धान्त का मूल तत्त्व छ. आदर्श गुणो---ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज की उत्पत्ति द्वारा शुद्ध सृष्टि उत्पन्न होने का विचार है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वोच्च देवता के रूप में भगवान वासु-देव अपनी पत्नी श्री तथा लक्ष्मी के दो रूपो--भूति और क्रिया से जब आदर्श गुणो की उत्पत्ति करना चाहते है तो उनकी इच्छाशक्ति से तथा लक्ष्मी की भूतिशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि के मूल मे विद्यमान उपर्युक्त छ. आदर्श गुणो की उत्पत्ति

---

१. जर्नल आफ सोसाइटी आफ ओरियण्टल आर्ट, खण्ड १०, पृ० ६५-८।

२. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।

होती है। ये छः गुण दो समूहो मे कार्य करते हैं। पहला समूह **ज्ञान, ऐश्वर्य और शक्ति** का है, इसे **विश्रामभूमि** कहा जाता है, दूसरा समूह **बल, वीर्य और तेज** का है, यह **श्रम भूमि** कहलाता है। जब इन दोनो समूहो के गुण आपस में मिलकर जोड़े बनाते हैं, ज्ञान बल के साथ, ऐश्वर्य वीर्य के साथ और शक्ति तेज के साथ मिलती है तो सृष्टि प्रक्रिया में अधिक विकास होता है। इस प्रकार ये गुण तीन पृथक् जोड़ो या व्यूहों मे बँट जाते है। ये तीन व्यूह क्रमश. संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के रूप मे प्रकट होते है। यह कल्पना की जाती है कि पर वासुदेव से उनका एक रूप (व्यूह) वासुदेव प्रादुर्भूत होता है। इसमे छहो गुण पूर्ण मात्रा में मिले हुए है। इस प्रकार वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध के चतुर्व्यूह की उत्पत्ति होती है। इस विषय मे यह स्मरण रखना चाहिये कि पहले इन चार व्यक्तियो के साथ साम्ब की भी पूजा होती थी, किन्तु बाद मे इसे चतुर्व्यूह सिद्धान्त के कारण पूजा से हटा दिया गया। आगे इसका कारण स्पष्ट किया जायगा।

चतुर्व्यूह पूजा:—यह भागवत धर्म मे किस समय सम्मिलित हुई, यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। व्यूहवाद का प्राचीनतम उल्लेख वेदात दर्शन (२।२।४२) मे मिलता है, किन्तु इसका स्पष्ट एव विस्तृत प्रतिपादन शकराचार्य द्वारा ८वी शताब्दी ई० मे और रामानुज द्वारा १२वी शताब्दी ई० मे किए गए वेदान्त दर्शन के भाष्यो मे ही उपलब्ध होता है। ये भाष्य बहुत बाद मे लिखे गए थे। दूसरी शताब्दी ई० पूर्व मे यह सिद्धान्त कुछ विकसित हो चला था क्योकि पतजलि ने पाणिनि के एक सूत्र (६।३।५) के भाष्य मे आत्मचतुर्थ की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि जनार्दन इनमे चौथा होता है। इसके आधार पर श्री रामकृष्ण गोपाल भडारकर (पृष्ठ १३) ने यह कल्पना की थी कि पतजलि के समय मे वासुदेव आदि चार देवताओ की पूजा प्रचलित हो चुकी थी, किन्तु व्यूहवाद का यह बड़ा अस्पष्ट सकेत है। महाभाष्यकार कृष्ण के साथ सकर्षण की पूजा का उल्लेख करता है। उसने २।२।२४ के भाष्य मे एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमे सकर्षण के साथ कृष्ण की बलवृद्धि की कामना की गई है।[1] इससे बलराम और कृष्ण के संयुक्त रूप मे पूजित होने का आभास मिलता है। इस प्रसग मे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि महाभाष्य मे कृष्ण के प्रसग मे वासुदेव का उल्लेख कई बार हुआ है।[2] किन्तु सर्वत्र इसका वर्णन महाभारत के वीर योद्धा, अर्जुन के सखा और कस के घातक के रूप मे हुआ है। इन सब प्रसगो मे उनका

---

१ संकर्षणद्वितीयस्य बलं कृष्णस्य वर्धताम् ।

२. महाभाष्य ३।२।१११, जघान कंसं किल वासुदेव. ।

स्मरण वृष्णि वंश के नेता अथवा पक्ष विशेष के नायक के रूप मे किया गया है। उन दिनों उनके पक्षपाती और कंस के पक्षपाती लोग भी थे। पतंजलि ने लिखा है कि नाटक मे कस का वध होने के समय कंस के भक्तो के चेहरे उदासी से काले पड़ जाते है और कृष्णभक्तो के मुख क्रोध से लाल हो जाते है।[1] इससे यह पता लगता है कि उस समय कृष्ण के भक्तो के साथ-साथ, कंस के समर्थक भी थे, अतः कृष्ण इस समय तक मानवीय रूप में अधिक दिखाई देते हैं। भाष्यकार ने केवल एक ही स्थल ४।३।९८ मे उन्हें सामान्य व्यक्ति के स्थान पर तत्रभवान् अर्थात् देवता के रूप में स्वीकार किया है। इससे यह स्पष्ट है कि दूसरी शता० ई० पू० तक कृष्ण में देवत्व के आरोप की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी, बलराम के साथ उनकी पूजा होने लगी थी, किन्तु व्यूहवाद का अधिक विकास नही हुआ था।

इसकी पुष्टि विदिशा के गरुड़ध्वज स्तम्भलेख से होती है। पहले (पृ० २५) यह बताया जा चुका है कि यूनानी राजा अतिलिखित के राजदूत हेलियोडोरस ने बेसनगर (विदिशा) में दूसरी शताब्दी ई० पू० मे देवदेव वासुदेव की पूजा के लिए एक गरुड़ध्वज स्थापित किया था। इसमे वासुदेव के अतिरिक्त चतुर्व्यूह के किसी अन्य देवता का उल्लेख नही है। किन्तु इसके एक शताब्दी बाद पहली शताब्दी ई० पूर्व तक वासुदेव के साथ सकर्षण की पूजा होने की पुष्टि घोसुडी (जिला चित्तौड़) के लेख से होती है। यह शालिग्राम के रूप मे विष्णु की पूजा के लिए बनाए गए एक मदिर के चारो ओर पत्थर के घेरे (शिलाप्राकार) का वर्णन करता है। इसमे अश्वमेध यज्ञ करने वाले भागवत सम्प्रदाय के एक अनुयायी द्वारा सकर्षण और वासुदेव की प्रतिष्ठा मे एक मन्दिर (नारायणवाटक) बनाने का उल्लेख है। इस लेख मे इन दोनो को भगवान अनिहत (अविजित) और सर्वेश्वर के विशेषण दिये गये है। इसी समय का एक लेख नानाघाट से मिला है। यह अनेक वैदिक यज्ञो को करवाने वाले सातवाहन राजा की रानी ने लिखवाया था। इसका आरम्भ धर्म, इन्द्र, सकर्षण, वासुदेव, चद्र, सूर्य और चार दिग्पालो की स्तुति से आरम्भ होता है। उपर्युक्त तीनो लेखो से यह पता लगता है कि पहली शताब्दी ई० पू० तक गरुडवाहन विष्णु वासुदेव से अभिन्न थे और इनकी पूजा सकर्षण के साथ आरम्भ हो चुकी थी, किन्तु इस समय तक चतुर्व्यूह पूजा का श्रीगणेश नहीं हुआ था। चतुर्व्यूह की पूजा काफी बाद मे आरम्भ हुई। इसका सर्वप्रथम उल्लेख

१. वही ३।१।२६, केचित्कंसभक्ता भवन्ति केचिद् वसुदेवभक्ताः वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचिद् रक्तमुखा भवन्ति केचित् कालमुखाः।

संभवतः विष्णु सहिता (६६।२) मे मिलता है। यहाँ वासुदेव का नाम सबसे पहले है और इसके बाद संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का नामोल्लेख है। इसमें साम्ब का कोई वर्णन नही है।

साम्ब की पूजा को सूचित करने वाले मथुरा के मोराकूप अभिलेख का पहले वर्णन किया जा चुका है। इससे यह स्पष्ट है कि पहली शताब्दी ई० मे वृष्णि-वीर के रूप मे साम्ब की पूजा प्रचलित थी। छठी शताब्दी मे वराहमिहिर ने साम्ब की गदाहस्त मूर्ति बनाने वाली एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है, किन्तु हमें इसकी बहुत ही कम पुरानी मूर्तियाँ मिली है। चतुर्व्यूह पूजा का मतव्य सर्वमान्य होने पर साम्ब की पूजा स्वयमेव समाप्त हो गई। इसकी समाप्ति का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि एक कथा मे जाम्बवती को कृष्ण वासुदेव की अनार्य पत्नी बताया गया है। पुराणो के अनुसार साम्ब की माता जाम्बवती ऋक्षराज की कन्या थी और महा उम्मग जातक के अनुसार यह एक चाण्डाली थी। साम्ब का सम्बन्ध ईरान से आने वाली सौर पूजा से भी जोडा जाता है। इन सब कारणो से साम्ब की लोकप्रियता कम हो गई और उसकी पूजा की परम्परा लुप्त हो गई।

वैष्णव धर्म के केन्द्र

प्राचीन अभिलेखो से यह विदित होता है कि इस युग मे इस सम्प्रदाय के दो बड़े केन्द्र मथुरा और विदिशा थे। मथुरा श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने से इसका प्राचीनतम और प्रसिद्धतम केन्द्र था। इस विषय मे मेगस्थनीज की साक्षी का निर्देश पहले हो चुका है। पुरातत्वीय साक्षी भी इसे पुष्ट करती है। यहाँ वैष्णव धर्म के प्रभाव को सूचित करने वाले अभिलेख और मूर्तियाँ पर्याप्त सख्या मे मिली है। ये ईसा की आरम्भिक शताब्दियो की है। पहले एक विदेशी महिला तोषा द्वारा वृष्णियो के पंचवीरो श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब की मूर्त्तियों के दान का उल्लेख किया जा चुका है। लखनऊ सग्रहालय मे मथुरा मे प्राप्त सकर्षण की एक प्राचीनतम मूर्त्ति है। इसका सबध शेषनाग और मद्यपान से है। इन्हें हलधर भी कहा जाता है। बलराम की मूर्त्तियो मे ये सब विशेषताये पाई जाती हैं। शेषनाग से इनके सबध को सूचित करने के लिये इनकी मूर्तियो मे फण दिखाये जाते हैं। यह सभव है कि बलराम की पूजा आरम्भ मे प्राचीन भारत की कुछ नागपूजक कृषिजीवी जातियो मे प्रचलित हो। बलराम की मूर्त्ति के हाथ मे हल दिखाया जाता है। कृषि से सबध होने के कारण ही उनका एक नाम सकर्षण भी है। मद्यपान का

प्रेमी होने के कारण मूर्तियो मे उनके नेत्र मदघूर्णित दिखाए जाते हैं। इनके अन्य नाम बलदेव और राम भी थे। कुछ विद्वानो ने मथुरा के प्रदेश मे इनकी पहली मूर्त्तियाँ बनने का यह कारण भी बताया है कि यहाँ पुराने पूर्वजो की मूर्त्तियाँ बनाने की परम्परा पुराने समय से चली आ रही थी। इसका संकेत हुविष्क के एक अभिलेख मे और भास के प्रतिमा नाटक के तृतीय अक मे वर्णित देवकुल के रूप में मिलता है, अत मथुरा मे वृष्णि वश के वीरो को देवता बनाते हुए उनकी मूर्त्तियो का निर्माण किया जाना स्वाभाविक था। पहली शताब्दी ई० के मथुरा से उपलब्ध होने वाले अभिलेख यह प्रदर्शित करते है कि ईस्वी सन् आरम्भ होने से पहले ही यहाँ वासुदेव की पूजा सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी। महाक्षत्रप शोडास के समय के एक लेख मे भगवान वासुदेव के पवित्र मदिर (**महास्थान**) मे तोरणद्वार, वेदिका और चतुश्शाल (चतुष्कोण) रचना बनवाने का वर्णन है। इसी स्थान से दूसरी शताब्दी ई० की कृष्ण जन्माष्टमी की कथा को चित्रित करने वाली प्राचीनतम प्रस्तर मूर्त्ति मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे मथुरा के प्रदेश मे न केवल वैष्णव धर्म अपितु बौद्ध धर्म, जैन धर्म तथा नागपूजा के विभिन्न सप्रदाय फल-फूल रहे थे। किन्तु इनमे सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान वासुदेव कृष्ण की पूजा का था। शनै शनै. उसने अन्य धर्मो को अपने प्रभाव से अभिभूत कर लिया। पुराणो मे कृष्ण द्वारा कालिय नाग के दमन की जिस कथा का वर्णन किया गया है, उसके बारे मे कुछ आधुनिक ऐतिहासिको का यह मत है कि इसमे आलकारिक रूप से यह बताया गया है कि कृष्ण की पूजा ने नागो की पूजा करने वाले सप्रदाय का किस प्रकार दमन किया और नागपूजको द्वारा श्रीकृष्ण की उपासना की जाने लगी।

मथुरा के अतिरिक्त वैष्णव सप्रदाय का दूसरा प्रधान केन्द्र मध्य भारत में विदिशा (भेलसा) का प्रदेश था। यहाँ बेसनगर मे पहली शताब्दी ई० पू० के अनेक खडित अभिलेख मिले है। इनमे भागवतो के एक मदिर का उल्लेख है। यह संभवत. पहली शताब्दी ई० पू० से भी अधिक पुराना मदिर था। समवतः ऐसे ही किसी मदिर के सम्मुख यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्मानुयायी होने के कारण एक गरुडध्वज स्थापित किया था। इस ध्वज का स्तम्भशीर्ष तो अब लुप्त हो चुका है किन्तु एक अन्य स्तम्भ का अवशेष यहाँ मिला है। इसी स्थान पर दो अन्य स्तम्भो के शीर्ष भी पाये गये है। इनमे एक ताल की आकृति का है और दूसरा मकर की आकृति का है। समवत. ये तालध्वज और मकरध्वज यहाँ उस समय विद्यमान सकर्षण और प्रद्युम्न के मदिरो के सम्मुख स्थापित किए गए ध्वजस्तम्भो के अवशेष होगे।

एक अन्य तालध्वज के स्तम्भ का शीर्ष ग्वालियर राज्य मे पदमपवाया (प्राचीन पद्मावती) से मिला है। यह सभवत. इस स्थान पर सकर्षण के एक अन्य मदिर की सत्ता को सूचित करता है। कनिघम को बेसनगर में दो अन्य विशाल प्रस्तर मूर्तियाँ मिली थी। इनका समय तीसरी से दूसरी शताब्दी ई० पू० बताया जाता है। इनमें एक भागवत धर्म से सबद्ध विष्णु की पत्नी श्री या लक्ष्मी की मूर्ति थी। ये सब मूर्तियाँ इस बात को सूचित करती है कि विदिशा उन दिनों वैष्णव धर्म का एक गढ़ था।

पहली शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० के कुछ अन्य पुरातत्त्वीय अवशेष भारत के विभिन्न प्रदेशो मे वैष्णव धर्म की लोकप्रियता को सूचित करते है। पचाल (आधुनिक रुहेलखड) प्रदेश से मित्रवशी राजा विष्णुमित्र की (पहली शताब्दी ई०) की ताम्र मुद्राओ मे विष्णु की मूर्ति पाई जाती है। श्री सातकर्णी और गौतमीपुत्र श्री यज्ञ सातकर्णी के नानाघाट और चिन्नगजाम के अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि भागवत धर्म दक्षिण भारत मे भी फैल चुका था और यहाँ इसे बडी लोकप्रियता प्राप्त थी।

अन्य धर्मों के साथ सम्बन्ध—ईसा की आरम्भिक शतियो मे उत्कर्ष प्राप्त करने वाले भागवत सप्रदाय ने इस समय अपनी प्रतिस्पर्धी धार्मिक विचार-धाराओ पर भी प्रभाव डाला। जैन धर्मानुयायी वैष्णव धर्म के सस्थापक के प्रति महान श्रद्धा और आदर का भाव रखते थे। उनके मतानुसार वासुदेव बाईसवे तीर्थंकर अरिष्टनेमि के निकट सबधी थे। जैनो की दृष्टि मे विभिन्न रूपो मे विश्व के इतिहास को प्रभावित करने वाले ६३ महापुरुष (त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष) हुए है। इनमे वासुदेव और बलदेव की गणना की जाती है। इन्हें इस धर्म मे इतना महत्व दिया गया है कि जैनो ने ६३ महापुरुषो मे ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव माने है। औपपातिक सूत्र मे न केवल वासुदेव का उल्लेख है अपितु बलदेव की आठ महान क्षत्रिय आचार्यों मे गणना की गई है। इनके अनेक ग्रथो मे वृष्णि वश के पाँच महावीरो का उल्लेख है और बलदेव को इनका मुखिया बताया गया है। पाँच महावीर सकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब थे। अहिसा के सिद्धान्त को जहाँ एक ओर जैनो ने महत्व दिया, वहाँ दूसरी ओर भागवत सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध ग्रथ भगवद्गीता मे वर्णित दैवी सपद् के गुणो मे इसकी गणना की गई और छादोग्य उपनिषद के अनुसार घोर आगिरस ने देवकीपुत्र कृष्ण को इसका पाठ पढाया था।

बौद्ध धर्म पर भी वैष्णव धर्म ने गहरा प्रभाव डाला। भागवतो की भाँति बौद्ध अहिसा को बहुत महत्व देते थे। अश्वघोष के **महायानश्रद्धोत्पाद** मे तथा पहली

शताब्दी ई० के **सद्धर्मपुण्डरीक** पर भगवद्गीता का स्पष्ट प्रभाव है। शैव धर्म के साथ यद्यपि वैष्णव धर्म की पर्याप्त स्पर्धा चलती रही, फिर भी गीता मे तथा अन्य ग्रंथों में इनके समन्वय का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि गीता मे इन दोनों की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि वासुदेव ही शंकर हैं (रुद्राणां शंकरश्चास्मि)।

ईसाइयत और वैष्णव धर्म के कुछ ऊपरी सादृश्यो को देखते हुए वेबर आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने यह कल्पना की थी कि ईसाइयत ने वैष्णव धर्म पर गहरा प्रभाव डाला और ईसा की जीवनी के आधार पर कृष्ण की जीवनी मे अनेक घटनायें जोड़ी गईं, भक्ति सम्प्रदाय का जन्म ईसाइयत के साथ सम्पर्क का परिणाम था। किन्तु परवर्ती अनुसधानो से यह प्रमाणित हो चुका है कि उपर्युक्त धारणाये अधूरे, अवैज्ञानिक और संदिग्ध प्रमाणो के आधार पर बना ली गई थी। इनकी पुष्टि प्रामाणिक पुरातत्वीय सामग्री से नही होती है। पहले यह बताया जा चुका है कि ईसा से पूर्व की पहली दूसरी शताब्दी ई० के अभिलेख और मूर्त्तियाँ उस समय वैष्णव धर्म की सत्ता और लोकप्रियता को असदिग्ध रूप से पुष्ट करती है। इससे यह स्पष्ट है कि ईसा का जन्म होने से पहले ही वैष्णव धर्म का और कृष्ण-चरित्र का विकास हो चुका था। भारतीय विद्वानो मे रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने कृष्ण-लीला विषयक कुछ बातो मे वैष्णव धर्म पर ईसाइयत के प्रभाव की कल्पना के सिद्धान्त की पुष्टि की थी, किन्तु श्री हेमचन्द्र राय चौधरी ने इसका विशद खंडन किया है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इस समय वैष्णव धर्म के विकास मे अनेक प्रकार की पूजा पद्धतियो और विचार-धाराओ ने भाग लिया। इन सबके सम्मिश्रण से इसने अपने वर्तमान स्वरूप को ग्रहण किया। जिस प्रकार अलखनन्दा, जाह्नवी, मंदाकिनी, भागीरथी आदि अनेक धाराओ के संगम से गंगा का निर्माण होता है, उसी प्रकार वैष्णव धर्म के वर्तमान स्वरूप में अनेक प्रकार की उपासना-धाराये सम्मिलित हुई है। इसकी पहली एवं सबसे बड़ी धारा वृष्णियों में वीर महापुरुषों की पूजा के रूप मे वासुदेव कृष्ण तथा उसके कुछ सबधियो की उपासना थी। इसमे धीरे-धीरे कुछ अन्य देवताओं की उपासना मिलने लगी। वैदिक युग में विष्णु देवता पर्याप्त महत्व रखता था। इसे सूर्य के साथ संबद्ध समझा जाता था। सौर देवता के रूप में विष्णु के तीन पगो का वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है, बाद में वामन और बलि की कथा के रूप में इसका विकास हुआ। सूर्य

से सबध रखने वाले विष्णु देवता के वासुदेव से अभिन्न माने जाने का एक अन्य प्रमाण भगवद्गीता मे भी मिलता है। इसमे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि इस समय वे अर्जुन को जो ज्ञान दे रहे है वह उन्होने प्राचीन काल मे विवस्वान् (सूर्य देवता) को दिया था (गीता ४।१–४)। छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७) मे घोर आगिरस नामक ऋषि ने देवकीपुत्र कृष्ण को एक नवीन प्रकार की यज्ञविद्या का उपदेश देते हुए सूर्य की महिमा को बताने वाले ऋग्वेद के दो मत्रो का उल्लेख किया है। इस प्रकार शनै शनै. आदित्य रूप विष्णु की उपासना वासुदेव कृष्ण की पूजा के साथ सबद्ध हो गई।

इस उपासना-पद्धति मे सम्मिलित होने वाली तीसरी धारा नारायण की उपासना-पद्धति थी। ऋग्वेद के दो मत्रो (१०।८२।५-६) मे नारायण का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है। पहले यह बताया जा चुका है कि शतपथ ब्राह्मण (१२।३।४।१। १२।६।१) मे नारायण की उपासना और ऐसे पचरात्रसत्र का वर्णन है जिससे नारायण विष्णु की भाँति इस जगत मे सर्वव्यापक हो गये। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।२।१) मे नारायण को हरि कहा गया है। इस प्रकार ब्राह्मणो और आरण्यको के समय मे नारायण की ही पूजा का अधिक विकास हुआ। श्री रायचौधरी का मत है कि नारायण के उपासक भी सूर्य देवता मे कुछ सबध रखते थे। इसी कारण इनकी उपासना-पद्धति वासुदेव कृष्ण की पूजा-पद्धति के साथ सबद्ध हो गई। अवतारवाद के सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न देवता वासुदेव कृष्ण के विविध रूप समझे जाने लगे। इस प्रकार वासुदेव, विष्णु और नारायण की तीन उपासना-धाराओ के सगम से भागवत अथवा वैष्णव धर्म का विकास ईसा से पहले की शताब्दियो मे हुआ। दूसरी शताब्दी ई० पू० तक यह उपासना-पद्धति बडी लोकप्रिय हो चुकी थी। इसकी सूचना हमे हेलियोडोरस के गरुडध्वज स्तम्भ लेख से तथा घोसुण्डी के अभिलेखो मे मिलती है।

शैव धर्म

वैष्णव धर्म की भाँति शैवधर्म के विकास मे भी, इस समय विभिन्न उपासना-पद्धतियो का समन्वय हुआ। इसका विकास ईसा से पहले ही हो चुका था। वैदिक युग मे और सिधु सभ्यता मे शैव धर्म के कई रूप मिलते है। वैदिक काल मे इस देवता के भीषण रूप की रुद्र के नाम से और मगलमय रूप की शिव के नाम से पूजा होती थी। इसके अतिरिक्त उस समय अनार्य जातियो मे लिगपूजा भी प्रचलित थी।

इसे उस समय निन्दा की दृष्टि से देखा जाता था। मोहनजोदड़ो की मुहरो से यह प्रकट होता है कि वहाँ पशुपति की तथा लिंग की पूजा प्रचलित थी। शैव धर्म के परवर्ती विकास का हमें क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नही होता है।

शिवभागवत सम्प्रदाय—इसमे कोई सन्देह नही है कि शुग सातवाहन युग मे शैव धर्म बड़ा लोकप्रिय था। पतजलि का महाभाष्य इस पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। इसके अनुसार इस युग मे श्रीशिव की भक्ति का प्रचार सबसे अधिक था। शिव के उपासको का अपना एक पृथक् सप्रदाय बन चुका था। ये **शिवभागवत** कहलाते थे। शिव के चिह्न के रूप मे ये अपने पास त्रिशूल रखा करते थे। महाभाष्य मे इसे **अय शूल** कहा गया है, इसको रखने वाले **आय शूलिक** कहे जाते थे।[1] यह शब्द उन साहसिक लोगो के लिए भी प्रयुक्त होता था जो मृदु उपायो से करने योग्य उपायो को हिसा द्वारा किया करते थे। इससे हमे आगे बताये जाने वाले पाशुपत सप्रदाय द्वारा दुःख की मुक्ति के लिए किए जाने वाले उग्र उपायो का स्मरण हो आता है। सर्वदर्शन सग्रह के प्रणेता माधवाचार्य ने पाशुपत सप्रदाय की कापालिक, कालामुख आदि ऐसी शाखाओ का वर्णन किया है जो उग्र अथवा अतिमार्गी उपायो और विधियो का अवलम्बन करती थी। इनका विकास अगले युगो मे हुआ। पतजलि शिवभागवतो द्वारा अय शूल के अतिरिक्त दड एव मृगचर्म (अजिन) धारण करने का भी वर्णन करता है। सभवत कट्टरपथी दडाजिन धारण करने वाले शिवभागवतो को अच्छी दृष्टि से नही देखते थे। इसीलिए परवर्ती टीकाकारो ने दडाजनिक का अर्थ दाम्भिक अर्थात् अभिमानी और ढोगी किया है।

उस समय शिव की मूर्तियो की पूजा प्रचलित थी। पतजलि (५।३।९९) ने इस प्रसग मे शिव, स्कद और विशाख का ही उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय इन देवताओ की मूर्तियो की पूजा अधिक होती थी। इनके अतिरिक्त किन देवताओ की मूर्तियाँ पूजी जाती थी, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख महाभाष्य मे नही मिलता है। महाभाष्यकार ने दो सूत्रो ६।३।२६ तथा ८।१।१५ के भाष्य में स्कद और विशाख को सयुक्त रूप से जनता मे अत्यधिक प्रसिद्ध देवो की जोडी (लोकविज्ञात-द्वद्व) कहा है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि उस समय इन दोनो की मूर्तियाँ सयुक्त रूप से बहुत अधिक पूजी जाती थी। संभवतः इनका निर्माण भी युग्म रूप में होता था। यही बात शिव और वैश्रवण (कुबेर) की मूर्त्ति के विषय में कही जा

१. महाभाष्य ५।२।७६, किं योऽयःशूलेनान्विच्छति स आयः शूलिक । किं चातः? शिवभागवते प्राप्नोति।

सकती है। पतंजलि ने मूर्त्तियो के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण बाते कही हैं। उसने मूर्त्तियो (अर्चाओ) का वर्गीकरण पाणिनि के सूत्रो के आधार पर तीन प्रकार से किया है—(क) जीविका कमाने के लिए बनाई गई मूर्त्तियाँ या अर्चाए (ख) बिक्री की दृष्टि से बनाई गई (पण्य) अर्चाए (ग) पूजा के लिए बनाई गई अर्चाए। जो मूर्त्ति जीविका के लिये हो तथा बिक्री के लिये न हो (जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९), उसके वाचक शब्द के अन्त मे क प्रत्यय नही लगता है। महाभाष्य मे इस संबंध में दिये गये विभिन्न निर्देशो के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि उस समय निम्नलिखित पाँच प्रकार की मूर्त्तियाँ होती थी—

(१) कुछ मूर्त्तियाँ सार्वजनिक स्थानो—खुले चौगहो पर स्थापित होती थी। इन पर किसी एक व्यक्ति का स्वत्व न था, अत ये किसी की जीविका का साधन नही थी और न ही बिक्री के लिये पण्य रूप मे इनका प्रयोग होता था। ये केवल पूजार्थ होती थी, इन्हें **शिव स्कन्द** कहा जाता था, इनके साथ क प्रत्यय नही लगता था।

(२) दूसरे प्रकार की मूर्त्तियाँ पुजारियो के वैयक्तिक अधिकार मे होती थी, वे या तो एक स्थान मे प्रतिष्ठित की जाती थी, या पुजारी उनके द्वारा पैसा बटोरने के लिए उन्हें घर-घर ले जाते थे। ऐसी अचल और चल मूर्त्तियाँ पूजार्थ तथा पुजारियो के आजीविकार्थ होती थी, किन्तु बिक्री के लिए न होने के कारण अपण्य थी। इनमे कन् प्रत्यय का लोप करके इन्हें **शिव, स्कन्द** आदि कहा जाता था।

(३) तीसरे प्रकार की मूर्त्तियाँ दुकानो मे बिक्री के लिए रखी जाती थी। वे पूजार्थ नही थी, यद्यपि अपने स्वामी दुकानदारो के लिये जीविका का साधन अवश्य थी। ऐसी मूर्त्तियाँ पण्य कहलाती थी, इनमे कन् प्रत्यय लगता है, अत इन्हें **शिवक, स्कन्दक** कहा जाता है।

(४) चौथे प्रकार की मूर्त्तियाँ मौर्य राजाओ ने रुपये के लोभ से बनवाई थी। ये मूर्त्तियाँ बिकती थी, पूजा के लिए भी थी और जीविका का साधन भी थी। पतंजलि के आगे यह समस्या थी कि इन मूर्त्तियो का नामकरण कैसे हो।[1] वस्तुतः मौर्यों ने पैसा बटोरने के उद्देश्य से कुछ मूर्त्तियाँ गढवाई थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र से इसका समर्थन होता हैं। इसमें यह कहा गया है कि देवताध्यक्ष को चाहिये कि वह देवमूर्त्तियो के द्वारा सोना बटोरे और खजाना भरे (आजीवेत्

---

१. महाभाष्य ५।३।९९, अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति शिवः स्कन्द : विशाख इति किं कारणम्। मौर्यैः हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्, यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति।

हिरण्योपहारेण कोश कुर्यात्), देवताओ के चैत्यों मे उत्सव और मेले कराये, नाग-मूत्तियाँ अपने फणो की सख्या घटा बढ़ा लेती हैं, इस प्रकार चमत्कार की बातें फैला कर भोली-भाली जनता से अपनी मूत्तियो को पूजा करवा के पैसा इकट्ठा करे। इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की मूत्तियाँ जीविका, पण्य और पूजा तीनो के लिये होती थी। पतजलि ने यह शका उठाई है कि ऐसी मूत्तियों के लिये पाणिनि का सूत्र जीविकार्थे चापण्ये (५।३।९९) लगे या नहीं, इनका नाम शिव रखा जाय या शिवक। पतजलि ने इस शका का समाधान करते हुए कहा है कि ऐसी मूत्तियो पर पाणिनि का सूत्र लागू नही होगा।

पाँचवे प्रकार की मूत्तियाँ पतजलि के समय की ऐसी थी जो पूजा में पधराई हुई थी, जिनसे पुजारियो की जीविका चलती थी, किन्तु जो बिक्री के लिए पण्य वस्तु नही थी। इनमे पाणिनि का सूत्र लगता था, ये शिव, स्कद कही जाती थी, न कि शिवक, स्कदक। डा० अग्रवाल (पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृष्ठ ३१८) ने इन मूत्तियो का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका मे किया है:—

अर्चाए	जीविकार्थ या नही	पण्य या अपण्य	पूजार्थ थी या नहीं	नाम
१—सार्वजनिक प्रासादो मे अर्चाएं	जीविकार्थ नही	अपण्य	पूजार्थ	पाणिनि सूत्र मे अनपेक्षित
२—देवलको की अर्चाएँ	जीविकार्थ	अपण्य	पूजार्थ	अनुमानत. शिव. स्कंदः शिवः स्कद।
३—पण्य अर्चाए	जीविकार्थ	पण्य	पूजार्थ	शिवक. स्कदकः उनका शिव., स्कद: नाम नहीं,
४—मौर्यों की अर्चाए	हिरण्यार्थ	पण्य	पूजार्थ	मवेत्तासु न स्यात्। शिवः स्कद. या स्तवेता
५—पतजलि के समय मे पूजनार्थ अर्चाए	जीविकार्थ	अपण्य	पूजार्थ	संप्रति पूजार्थास्तासु मविष्यति।

पतजलि ने मूत्तियो का लौकिक उदाहरण देते हुए बार-बार शिव और स्कन्द की चर्चा की है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय शिव एव स्कन्द की पूजा बड़ी लोकप्रिय थी।

इस धर्म की लोकप्रियता रामायण और महाभारत से भी स्पष्ट होती है। रामायण में शिनिकण्ठ, महादेव, रुद्र, त्र्यम्बक, पशुपति और शकर आदि शिव के अनेक नामों का उल्लेख है। इस महाकाव्य के प्रणयन के समय तक शिव एव उसके परिवार से संबद्ध व्यक्तियो के विभिन्न आख्यानो का विकास हो चुका था। इसमे हिमालय (हिमवान्) द्वारा अपनी कन्या उमा के रुद्र के साथ परिणय का उल्लेख है (१।३५। २०), कन्दर्प अथवा कामदेव द्वारा रुद्र की तपस्या भग करने की तथा कन्दर्प को शाप देकर दग्ध करने और अनग बनाने की कथा भी इसमे मिलती है (१।२३।१०)। देवताओ के सेनापति कार्तिकेय के जन्म का और भगीरथ द्वारा शिव को प्रसन्न करके गगावतरण की कथा का और समुद्रमन्थन के समय मे रुद्र द्वारा विषपान करने का भी वर्णन है (१।४५)। शिव द्वारा अन्धक राक्षस के विध्वस और त्रिपुर के पराभव की कथाए भी दी गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक महादेव की सर्वोच्च सत्ता अन्य देवताओ के उपासको ने स्वीकार नही की थी। यह बात दक्ष यज्ञ की कथा से स्पष्ट होती है। इसमे दक्ष ने शिव को नही बुलाया था। रामायण मे यह कथा बहुत ही सक्षिप्त एव सरल रूप मे कही गई है, और इसमे वीरभद्र द्वारा दक्ष-यज्ञ के विध्वस का कोई उल्लेख नही है। इस कथा से यह बात स्पष्ट होती है कि दक्ष रुद्र की प्रभुता मानने को तैयार नही था।

महाभारत मे शैव धर्म से सबद्ध कथाओ का रामायण की अपेक्षा अधिक विस्तृत चित्रण मिलता है। इसमे दक्ष के यज्ञ की तथा त्रिपुर के विध्वस की कथाओ का विशद प्रतिपादन है। भीष्म पर्व के आरम्भ मे श्रीकृष्ण के परामर्श से युद्ध आरम्भ होने से पहिले अर्जुन विजय प्राप्त करने के लिए दुर्गा की स्तुति करते है। वनपर्व मे अर्जुन पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए शिव को प्रसन्न करने के उद्देश्य से हिमालय मे जाकर तपस्या करते है। शिव एक शिकारी (किरात) के रूप मे उनके सम्मुख प्रकट होते है और उनकी परीक्षा लेने के बाद प्रसन्न होकर उन्हें पाशुपत शस्त्र प्रदान करते है। अनुशासन पर्व मे महादेव की महिमा को सूचित करने के लिये कृष्ण के द्वारा इनकी उपासना किए जाने का वर्णन है और यह कहा गया है कि इन्द्र, विष्णु और ब्रह्मा इनके उपासक है। कृष्ण ने महादेव की स्तुति करते हुए उनसे यह वर माँगा है कि कृष्ण सदैव शिवभक्त बने रहें। किन्तु महाभारत के कुछ अन्य स्थलो मे धार्मिक और साम्प्रदायिक सकीर्णता के स्थान पर उदार एव विशाल दृष्टि का प्रतिपादन करते हुए यह कहा गया है कि विष्णु और महादेव दोनो समान रूप से आराध्य देवता है। शान्तिपर्व मे हरि ने ईशान (महादेव) को यह कहा है कि जो आपको

जानता है, वह मुझे जानता है, हम दोनो मे कोई भेदभाव नहीं है। आज से मेरा यह श्रीवत्स का चिह्न आपके त्रिशूल का चिह्न होगा। अनुशासन पर्व मे विष्णु के सहस्र नामो मे शर्व, शिव, स्थाणु, ईशान और रुद्र आदि महादेव के कई नामों की गणना की गई है। एक जगह शिव ने विष्णु को सबसे बडा देवता माना है और एक दूसरे स्थल पर कृष्ण ने महादेव की स्तुति करते हुए कहा है कि उनसे श्रेष्ट कोई देवता नही है।

सगम युग के साहित्य मे शैव धर्म का वर्णन प्रचुर मात्रा मे मिलता है। यह दक्षिण भारत मे इसकी लोकप्रियता सूचित करता है। नक्किरार नामक कवि ने अपने समकालीन पाण्ड्य राजा की तुलना शिव, विष्णु, बलराम और सुब्रह्मण्य से की है, और शिव के लम्बे जटाजूट का वर्णन किया है, उसे विध्वस का देवता माना है। सिलप्पदिकारम् और मणिमेखलै मे शिव की पूजा के अनेक उल्लेख है। कावेरी-पट्टनम के मन्दिरों मे एक शैव मन्दिर का वर्णन है। मणिमेखलै के अध्याय २७ मे एक शैव आचार्य (शैववादी) कण्णगि को शैव सिद्धान्तो का उपदेश देते है।

पाशुपत सम्प्रदाय —इस समय शैव धर्म के इस सम्प्रदाय का विकास हुआ। इसके सस्थापक लकुलीश थे। इन्हें शिव का २८वाँ या अन्तिम अवतार माना जाता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय मे ३८१ ई० के मथुरा स्तम्भ लेख से हमे लकुलीश की तिथि का निर्धारण करने मे वडी सहायता मिलती है। इस लेख मे कपिल और उपमित के नामो के आधार पर कपिलेश्वर और उपमितेश्वर की दो शिवलिग मूर्त्तियो की स्थापना का वर्णन है। इन्हें माहेश्वर अथवा पाशुपत सम्प्रदाय के एक गुरु उदिताचार्य ने स्थापित किया था। कुशिक नामक गुरु से आरम्भ होने वाली आचार्य परम्परा मे इनको १०वाँ आचार्य माना गया है। यह कुशिक लकुलीश के चार प्रधान शिष्यो में से था। कुशिक के अतिरिक्त अन्य तीन शिष्य मित्र, गर्ग और कौरूष्य थे। पुराणो और अभिलेखो के अनुसार इन्होने पाशुपत सम्प्रदाय मे चार विभिन्न शाखाए स्थापित की थी। यदि उदिताचार्य से पूर्व के दस आचार्यों की गुरु परम्परा में प्रत्येक व्यक्ति के लिये २५ वर्ष का समय माना जाय तो पाशुपत सम्प्रदाय के प्रवर्तक लकुलीश का समय दूसरी शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध मानना पडेगा। यदि इस तिथिक्रम को मान लिया जाय तो पहले पतजलि द्वारा बताये गए शिव भागवत सम्प्रदाय का सस्थापक लकुलीश को नही माना जा सकता है, क्योकि पतंजलि का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० का मध्य भाग माना जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि लकुलीश पतजलि से लगभग तीन शताब्दो बाद में हुआ। उसे पाशुपत सम्प्रदाय का संस्थापक कहने का

कारण समवतः यह प्रतीत होता है कि उसने अपने समय मे शैव घर्म के सिद्धान्तों का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया और इस सम्प्रदाय का नए सिरे से सगठन किया। यद्यपि यह सम्प्रदाय लकुलीश से बहुत पहिले से ही चला आ रहा था, किन्तु उसने इसे ऐसा नया रूप प्रदान किया कि उसे शिव का अन्तिम अवतार मानते हुए पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना गया।

पुराणों मे दिए गए वर्णन के अनुसार शिव ने ब्रह्मचारी के रूप में लकुलीश के नाम से अवतार ग्रहण किया। उन्होने कायावतार अथवा **कायावरोहण** (बडौदा मे आधुनिक करवण) नामक स्थान की श्मशान भूमि मे पडे एक शव मे प्रविष्ट होकर अपना जीवन आरम्भ किया। शैव सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए तथा शैव साधुओ के आचार विषयक नियमो को बताने के लिए उन्होने **पंचार्थविद्या** नामक एक ग्रन्थ की रचना की। यह अब लुप्त हो चुका है किन्तु माधवाचार्य ने चौदहवी शताब्दी मे लिखी अपनी सुप्रसिद्ध कृति सर्वदर्शनसग्रह मे इस ग्रन्थ के कुछ उद्धरण दिये है जिनमे पाशुपत सम्प्रदाय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इनसे यह प्रतीत होता है कि इनमे भस्म को शरीर पर लगाने का बडा महत्व था। कुछ मन्त्रो को बोलते हुए भभूत लगायी जाती थी। इमे पाशुपत व्रत कहा जाता था और यह समझा जाता था कि इस व्रत को करने से पशुपति का उपासक जन्म-मरण के बन्धनो से मुक्त हो जाता है। इसे **पशुपाशविमोक्षण** कहा जाता था। यह पाशुपत सम्प्रदाय की एक बड़ी विशेषता थी।

उत्तरी भारत में शैव धर्म की लोकप्रियता—सभवत. हिमालय के साथ सबद्ध होने के कारण उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भारत मे शैव धर्म बडा लोकप्रिय था। यह बात हमे यूनानी, पार्थियन और कुषाण राजाओ की मुद्राओं और अभिलेखो से ज्ञात होती है। एक यूनानी लेखक हेसिकियस (Hesychius) ने लिखा है कि गधार का देवता वृषभ था। यह स्पष्ट रूप से इस प्रदेश में शिव के वाहन नदी की पूजा के प्रचलन को सूचित करता है। नदी पुष्कलावती नगरी का संरक्षक देवता माना जाता था क्योकि एक इडोसीथियन स्वर्णमुद्रा पर वृषभ की मूर्ति के साथ यूनानी मे टारोस (Tauros) और खरोष्ट्री मे **उषभे** का लेख मिला है। पुष्कलावती में ७वी शताब्दी तक महादेव शिव की पूजा का प्रचलन था। इस बात की पुष्टि युआन च्वाग के यात्रा-विवरण से होती है। उसने पुष्कलावती नगरी के पश्चिमी द्वार के बाहर महादेव के एक मदिर का उल्लेख किया है। महामायूरी नामक संस्कृत ग्रथ मे उत्तरी भारत के अनेक स्थानो में शिव की पूजा का उल्लेख किया गया है।

यह ग्रंथ यद्यपि चौथी शताब्दी ई० का है, तथापि यह इस समय से पहले की स्थिति को सूचित करता है। अभिलेखो और मुद्राओ की साक्षी से इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे गधार एवं उत्तरी भारत के अनेक स्थानो में शिव की उपासना लोकप्रिय थी। ६४ ई० के पजतर अभिलेख मे उत्तर-पश्चिमी भारत की महावन पर्वतमाला के नीचे शिवस्थल नामक शैवपूजा के एक स्थान का उल्लेख है। तक्षशिला मे सिरकप नामक स्थान की खुदाई मे मार्शल को पहली शताब्दी ई० पू० की एक काँसे की मुहर मिली थी। इसमे शिव की मूर्त्ति बनी हुई थी और ब्राह्मी तथा खरोष्ट्री लिपियो में **शिवरक्षितस** का लेख था। इससे यह सूचित होता है कि यह शैवधर्मानुयायी शिवरक्षित नामक व्यक्ति की मुहर है। हम यह नही जानते कि यह शिवरक्षित कौन था। यह एक भारतीय अथवा भारतीय नाम धारण करने वाला विदेशी भी हो सकता है।

इस युग मे भारत पर आक्रमण करने वाले विदेशी शासको मे भी शैव धर्म बड़ा लोकप्रिय था। पहली शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध मे शासन करने वाला पार्थियन राजा गोडोफर्नीस समवत शैव धर्म का उपासक था क्योकि उसकी मुद्राओ पर उसके नाम के साथ देवव्रत अथवा मुदेवव्रत की उपाधि मिलती है। यहाँ देव का अभिप्राय महादेव या शिव से ही है, देवव्रत का अर्थ महादेव का व्रत है। यह सभवत पहले बताया गया पाशुपत व्रत था। इस पार्थियन राजा के बाद शासन करने वाले कुषाण राजा विम कदफिसस की मुद्राओं पर या तो शिव तथा नदी की अथवा त्रिशूल की मूर्त्ति बनी होती है। इसके साथ ही इस राजा की उपाधियो मे माहेश्वर की उपाधि का उल्लेख है। श्री रामकृष्ण भडारकर के मतानुसार **माहेश्वर** पाशुपत सप्रदाय का दूसरा नाम था। कुछ अन्य कुषाण राजा भी शिव के परम उपासक थे। यह बात मथुरा संग्रहालय मे विद्यमान पहली श० ई० की एक प्रस्तर मूर्त्ति से स्पष्ट होती है। इसमें कुषाणों की ऊँची शिरोभूषा, लम्बे कोट और भारी जूतो को धारण करने वाले दो विदेशियो के शिवलिग के सम्मुख भक्ति भाव से अगूर-लता की मालायें लिये हुए जाने का दृश्य अंकित है। इससे यह सूचित होता है कि उन दिनो इसकी पूजा काफी लोकप्रिय हो चली थी।

शैव मूर्तियां—इस युग में शिव की उपासना कई प्रकार की मूर्त्तियो से की जाती थी। पतंजलि ने यद्यपि इन मूर्तियों के प्रकारों का काफी विस्तार से उल्लेख किया है, किन्तु इनके स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। मुद्राओ और पुरातत्वीय

अवशेषो से यह ज्ञात होता है कि उस समय शिव की उपासना तीन प्रकार की मूर्त्तियो से की जाती थी —

क—शिवलिंग के रूप मे (Phallic)
ख—नदी के पशु रूप मे (Theriomorphic)
ग—मानवाकार रूप मे (Anthropomorphic)

कुछ मूर्त्तियो मे शिव के विभिन्न रूप मिले-जुले रहते थे। भारत मे एक प्राचीनतम शैव मूर्त्ति मद्रास मे रेनीगुटा के निकट गुडिमल्लम के गाँव मे अब तक पूजा जाने वाला एक शिवलिंग है। यह ५ फीट ऊँचा है। इस पर दो भुजाओ वाले शिव की मूर्त्ति बनी हुई है। इसके दाये हाथ मे एक मेढा और बाये हाथ मे कमडल और परशु है। यह मूर्त्ति एक बौने (अपस्मार) पुरुष के कधो पर खडी हुई है। गोपीनाथ राव ने इसका समय दूसरी शताब्दी ई० पू० माना था, किन्तु कुमारस्वामी इसे पहली शताब्दी ई० पू० का मानते है। इस मूर्त्ति की यह विशेषता है कि इसमे शिव को एक ही साथ लिगरूप और मानवीय रूप मे दिखाया गया है। बाद मे ऐसी मूर्त्तियो का बहुत विकास हुआ। गुप्त युग मे मुखलिग बनने लगे। इनमे शिवलिग पर एक, दो अथवा चार दिशाओ मे देवता के मुख तक का भाग बना होता था, अत ये मुखो की सख्या के आधार पर एकमुखलिग और चतुर्मुख लिग कहलाते थे। शुग सातवाहन युग मे इस प्रकार की मूर्त्तिया बहुत कम मिलती है।

शिव का एक अन्य रूप नदी के साथ इसका दो या चार हाथो के साथ पशुरूप मे चित्रण है। इस प्रकार का पशुरूपात्मक (Theriomorphic) अकन मुद्राओ मे अधिक मिलता है। गोडोफर्नीज, विमकदफिसस, कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव की मुद्राओ पर शिव का इसी रूप मे चित्रण है। इस समय शिव की पार्वती के साथ भी मूर्त्तियाँ बनाई जाने लगी थीं। मथुरा सग्रहालय मे पिछले कुषाण युग की नदी के साथ खडी हुई शिव-पार्वती की एक मूर्त्ति उमासहित शिवमूर्त्तियो मे सभवत प्राचीनतम है।

अन्य धार्मिक सम्प्रदाय —वैष्णव और शैव धर्मो के अतिरिक्त इस समय अन्य अनेक देवी-देवताओ की उपासना प्रचलित थी। पहली दूसरी शताब्दी ई० पू० मे बौद्ध ग्रथो पर लिखी गई दो टीकाओ—**महानिद्देस** और **चुल्लनिद्देस**—मे निम्नलिखित धार्मिक सम्प्रदायो का उल्लेख है—आजीविक, निर्ग्रथ, जटिल, परिव्राजक, अनिरुद्धक, हाथी, घोडा, गौ, कुत्ता, कौए के उपासक, वासुदेव, बलदेव, पूर्णभद्र, मणिभद्र, अग्नि, नाग, यक्ष, असुर, गधर्व, महाराजा, चद्र, सूर्य, इद्र, ब्रह्मा, देव और दिक् नामक

देवताओ के पूजक। इनमे से कतिपय महत्वपूर्ण धार्मिक सम्प्रदायो का सक्षिप्त परिचय यहां दिया जायगा।

आजीविक—जिस समय महावीर और बुद्ध अपने धार्मिक सिद्धान्तो का प्रचार छठी शताब्दी ई० पू० मे कर रहे थे, लगभग उसी समय इस सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। इसके सस्थापक नदवच्छ थे। उनके बाद इसके दूसरे आचार्य किससकिच्छ हुए, किन्तु इसे लोकप्रिय प्रचारक धर्म बनाने का श्रेय इनके तीसरे गुरु मखलिपुत्त गोसाल को है। शीघ्र ही इसका प्रसार अवन्ति से अग तक हो गया। यद्यपि जैन और बौद्ध दोनो ही धर्म इसकी आलोचना करते थे, किन्तु उन्हें इसके कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करना पडा। अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने आजीविको को अपना सरक्षण प्रदान किया। इन दोनो ने इस सम्प्रदाय के भिक्षुओ के निवास के लिए गुहाओं का निर्माण किया। पतजलि (१५० ई० पू०) के महाभाष्य मे तथा मिलिदप्रश्न (पहली श० ई०) मे इस सप्रदाय का उल्लेख मिलता है। यह भाग्य-वाद मे और अक्रियावाद मे विश्वास रखता था। इसके मतानुसार सत्कर्म न करने पर भी प्राकृतिक और आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया के प्रभाव के कारण सब वस्तुये पूर्णता प्राप्त करती है। इस प्रकार यह उन क्रियावादियो का प्रबल विरोध करता था जो व्यक्ति एव समाज की उन्नति के लिये नैतिक कार्यो का किया जाना अतीव आव-श्यक मानते थे। दुर्भाग्यवश इस सम्प्रदाय के सब प्राचीन ग्रथ लुप्त हो चुके है, किन्तु बौद्ध एव जैन साहित्य मे इस सप्रदाय के ग्रंथो के जो उद्धरण दिये गये है उनसे यह स्पष्ट है कि ये उग्र तपस्या को, एकान्त प्रदेशो मे निवास को तथा सब प्रकार के सुखो के परित्याग को विशेष महत्व देते थे। अपने अतिवादी विचारो के कारण इस सम्प्रदाय की लोकप्रियता घटती चली गई। फिर भी वराहमिहिर (छठी शताब्दी ई०) ने बृहत्सहिता मे तथा बाण (७वी शता० ई०) ने हर्षचरित मे इनका उल्लेख किया है। दक्षिण मे यह सप्रदाय १४वी श० ई० तक बना रहा। इसके बाद समवतः यह वैष्णव धर्म मे विलीन हो गया।[1]

जैन ग्रंथ भगवती सूत्र के अनुसार आजीविको का एक बडा केन्द्र विघ्य-पर्वतमाला मे पुण्ड्र नामक देश था। आजीविक अनेक वैदिक और अवैदिक देवताओं

---

१. आजीविको के विस्तृत वर्णन के लिये देखिए—ए० एल० बाशम—दी डाक्ट्रिन आफ आजीविकास।

की पूजा किया करते थे। इनमें पूर्णभद्र (पुण्णभद्द) और मणिभद्र (मणिभद्द) उल्लेखनीय हैं। इनका वर्णन उपर्युक्त निद्देस के उपास्य देवताओ की सूची में आजीविकों से भिन्न रूप मे किया गया है। किन्तु आधुनिक विद्वान् उन्हें इस समय पूजे जाने वाले यक्ष देवता मानते है। कोसम (कौशाम्बी) के निकट से प्राप्त पहली श० ई० पू० के अन्त मे लिखे गए ब्राह्मी के एक प्रस्तर लेख से यह प्रतीत होता है कि उस समय मणिभद्र नामक यक्ष की उपासना व्यापारी और सार्थवाह विशेष रूप से किया करते थे। इस लेख के अनुसार गृहपतिक नामक एक व्यक्ति ने इस यक्ष की प्रतिमा स्थापित करने के लिए एक मंदिर का निर्माण कराया था।[1] मथुरा सग्रहालय की पारखम यक्ष की मूर्त्ति पर भी मणिभद्र नामक यक्षराज का उल्लेख है। लिपि के आधार पर इसका समय भी पहली शता० ई० पू० का उत्तरार्द्ध माना गया है।[2]

उपर्युक्त दोनो लेखो से यह स्पष्ट है कि पहली श० ई० पू० में मणिभद्र यक्ष की पूजा लोक-प्रचलित थी। महाभारत और ललितविस्तार से यह प्रतीत होता है कि मणिभद्र (मणिभद्द) कुबेर के प्रधान सेवक थे, ये कुबेर की भाँति धनपति, कोश के स्वामी और व्यापारियों के सरक्षक समझे जाते थे। इसीलिए इन्हें यक्षेन्द्र, निधीश और धनपति कहा जाता था। इस युग मे यक्षराज कुबेर और वैश्रवण की पूजा की सूचना देने वाली कुछ मूर्त्तियाँ मिलती है। इनमे कुबेर को दो निधियो के साथ कल्पवृक्ष (बड़ के पेड़) के नीचे मुद्राओ को समृद्धिशृंग से देते हुए दिखाया गया है। पहली शता० ई० के लेख वाली पटना की यक्ष की मूर्त्ति मे इसे कभी न क्षीण होने वाले कोष को रखने वाला (यक्ष अक्षयनीवी) कहा गया है।

सूर्य देवता

सूर्य की उपासना वैदिक युग से चली आ रही थी। वेदो के अनेक सूक्तो मे इसका उल्लेख है। उपनिषदो मे इसे ब्रह्म माना गया है। निद्देस के उपर्युक्त उद्धरण मे सूर्य और चन्द्र की उपासना करने वालो का वर्णन किया गया है। भारहुत से प्राप्त सूर्य की मानवीय प्रतिमा से सूचित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० पू० मे वह एक लोकप्रिय देवता था। कुषाण मुद्राओं मे भी सूर्य की मूर्ति और नाम का पहले

१ सरकार–से० इं० पृष्ठ ९७–९८, मिलाइये महाभारत ३।६५।२२।
२ सरकार–से० इं० पृष्ठ ९३।

उल्लेख किया जा चुका है। सूर्य के तथा उसके परिवार के संबंध में महाभारत और पुराणो मे अनेक कथाएं दी गई हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग मे ईरान के प्रभाव से सूर्य की विशेष प्रकार की पूजा लोकप्रिय हुई। इस ईरानी प्रभाव की सूचना हमे कनिष्क की उन मुद्राओं से मिलती है जिनमे उसकी मुद्राओ पर ईरान मे पूजे जाने वाले मिथ्र या मिहिर देवता का नाम अंकित है। पहली श० ई० मे इस विषय मे ईरानी प्रभाव अधिक पड़ने की सूचना मिलती है। भविष्य, साम्ब और वराह पुराणो मे यह कथा दी गई है कि भारत में इस देवता की पूजा शाकद्वीप (पूर्वी ईरान) से आई, मूलस्थान (मूलतान) मे सूर्य के प्रथम मदिर की स्थापना की गई। वराहमिहिर ने बृहत्सहिता मे यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि सूर्य देवता की मूर्तियों की प्रतिष्ठा मगों द्वारा की गई। ये मग स्पष्ट रूप से प्राचीन ईरान के मैगाई (Magai) है जो सूर्य एवं अग्नि देवता की उपासना किया करते थे। इसी ग्रंथ (अध्याय ५७) में सूर्य देवता की मूर्ति की विशेषताये बताते हुये स्पष्ट रूप से कुछ विदेशी तत्वो का उल्लेख किया गया है। इनके अनुसार सूर्य देवता की मूर्ति उदीच्य वेशधारिणी अर्थात् शीतप्रधान उत्तरी देशो से आने-जाने वाले व्यक्तियो के पहरावे वाली होनी चाहिये, यह अव्यगधारिणी भी होनी चाहिये। यह ईरानियो के एक धार्मिक परिधान का भारतीय रूपान्तर है। पारसी धर्म के उपासक इस पवित्र ऊनी मेखला को कटि-प्रदेश मे आज तक कुस्ती के नाम से धारण करना अपना कर्त्तव्य मानते है। सूर्य की मूर्तियो मे यह मेखला पाई जाती है।

वस्तुतः उदीच्य वेश अर्थात् शीतनिवारण के लिये लम्बा कोट तथा भारी जूते पहनने वाले सूर्य की यह मूर्ति विदेशी प्रभाव का परिणाम थी। इस विषय मे भारतीय परपरा एक भिन्न प्रकार की सौर मूर्त्ति का अकन करती थी। इसका एक सुन्दर उदाहरण बुद्ध गया मे मिलता है। यहाँ सूर्यदेवता चार घोड़ो के रथ पर सवार है। उनके साथ ऊषा और प्रत्यूषा नामक दो देवियाँ अधकार को विदीर्ण करने के लिये बाण चला रही है। भाजा मे भी इस प्रकार की सूर्य-मूर्त्ति दो देवियो के साथ मिलती है, किंतु इसमे एक विशेषता यह है कि इसमे सूर्य को घोड़ो और रथ के चक्रो द्वारा संभवतः अंधकार के दैत्यों का दलन करता हुआ दिखाया गया है। दूसरी-तीसरी शता० ई० की लाल बलुये पत्थर की कुछ सूर्य-मूर्त्तियाँ मथुरा से भी मिली है। इनमें एक मूर्ति मे चार घोडो द्वारा खीचे जाते हुये रथ मे बैठे हुये सूर्य देवता की स्थूलकाय मूर्त्ति के दोनो हाथो मे कमल-कलिकायें है और उसके कंधो के पीछे छोटे-छोटे पंख

दिखाये गये है, जैसे गरुड़ मे दिखाये जाते है। सूर्य देवता की ये सभी मूर्त्तियाँ उस समय इसकी उपासना की लोकप्रियता को सूचित करती है।

शाक्त सम्प्रदाय तथा शैव देवी-देवता—मातृदेवी की पूजा भारत मे अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित थी। सिंधु सभ्यता मे ऐसी अनेक मृण्मूर्तियाँ पाई गई हैं, जिनसे मातृ शक्ति की उपासना की लोकप्रियता सूचित होती है। यद्यपि वैदिक युग के उपास्य देवो मे अधिकाश पुरुष देवता है, फिर भी ऋग्वेद के कुछ सूक्तों मे उषा और वाक् देवी (ऋग्वेद १०।१२५) की सुन्दर स्तुतियाँ मिलती है। आरम्भिक वैदिक साहित्य मे हमे अम्बिका, दुर्गा, काली, उमा जैसी परवर्ती युग में महत्व प्राप्त करने वाली शाक्त सम्प्रदाय की देवियो के दर्शन नही होते है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।१८) मे सभवत. सर्वप्रथम अबिका को रुद्र की पत्नी और दुर्गा को वैरोचिनी एव सूर्यपुत्री कहा गया है। इसी ग्रथ मे (१०।१।७) कात्यायनी और कन्या कुमारी का उल्लेख है। केन उपनिषद् (३।२५) मे हिमवान् की पुत्री हैमवती उमा ब्रह्मविद्या का मूर्तिमान रूप मानी गई है। इस युग मे हमे उमा का चित्रण सर्वप्रथम हुविष्क की मुद्राओ मे दिखाई देता है। इनमे यह शिव सहित और शिव रहित दोनो रूपो मे मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय तक उमा की उपासना करने वालो का सम्प्रदाय प्रचलित हो चुका था और शिव तथा उमा मे दाम्पत्य सबध माना जाता था। पहले यह बताया जा चुका है कि शिव की पूजा का एक प्रधान केन्द्र गधार प्रदेश था। सभवत्. अयस प्रथम की मुद्राओ पर सिह पर आरूढ मूर्ति अम्बिका अथवा दुर्गा की ही है।

महाभारत के भीष्म पर्व मे अर्जुन द्वारा और विराट पर्व मे युधिष्ठिर द्वारा की गई उमा की स्तुति शाक्त सम्प्रदाय के विकास को सूचित करती है। इसमे उमा के दुर्गा आदि अनेक नामो का उल्लेख है, यह विजय प्रदान करने वाली है। महिषासुरनाशिनी के रूप मे उसने समस्त जगत को त्रस्त करने वाले प्रबल शक्तिशाली महिषासुर का सहार किया था। हरिवश पुराण मे उसे विन्ध्य पर्वत माला मे स्थायी रूप निवास करने वाली विध्यवासिनी देवी बना दिया गया है। इसी समय उसके साथ कई अन्य नामो को जोड़ा गया है, जैसे कमली, चडी, काली, महाकाली, कात्यायनी, कराला, विजया, कौशिकी और कातारवासिनी। शिव और उमा का सबन्ध पार्वत्य एव वन्य प्रदेशो के साथ होने के कारण इन प्रदेशो में निवास करने वाली किरात, बर्बर, पुलिन्द आदि जातियाँ सभवत इनकी उपासक थी। अतः भूत, प्रेत, राक्षस और पिशाच शिव तथा दुर्गा के अनुचर माने गये।

जिस प्रकार वैदिक युग मे मरुतो की सेना और गण रुद्र के पुत्र माने जाते थे, वैसे ही अब भूत-प्रेत शिव के गण समझे जाने लगे।

वर्तमान युग में शिव के पुत्र स्कद की पूजा भी बड़ी लोकप्रिय थी। वैदिक साहित्य मे हमे इसका कोई उल्लेख नही मिलता, किन्तु पतंजलि के महाभाष्य से यह सूचित होता है कि उस समय स्कद एक बड़ा लोकप्रिय देवता था। रामायण और महाभारत मे इसके सबध मे अनेक कथाये पाई जाती है। वह रुद्र अथवा अग्नि का पुत्र था, उसे छ. ऋषियो की पत्नियो का पुत्र होने का सौभाग्य मिला था, अपनी छः माताओ से स्तन्यपान करने के लिये उसके छ मुखो की कल्पना की गई और इस कारण इसे षडानन कहा गया। किंतु षडानन होते हुए भी उसकी भुजायें कई बार दो ही दिखाई जाती है। स्कद देवताओ की सेना का सेनापति था। उसने स्वर्ग के लोगो को त्रस्त करने वाले तारकासुर का संहार किया था, अत इस युग की सैनिक जातियो मे यह देवता बडा लोकप्रिय था। पहले यह बताया जा चुका है कि इस युग की एक प्रसिद्ध लड़ाकू जाति यौधेयो के गणराज्य ने अपने सिक्को पर इस देवता को बडा महत्वपूर्ण स्थान दिया था।

इस देवता की पूजा दक्षिण भारत मे सुब्रह्मण्य के नाम से होती है। यह नाम रामायण और महाभारत मे नही पाया जाता है। वस्तुत. यह ब्रह्मण्य का ही रूपान्तर है। इस नाम के उद्गम का यह कारण प्रतीत होता है कि स्कद को ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार से अभिन्न समझा जाता था, ब्रह्मा की सतान होने से इसे ब्रह्मण्य का नाम दिया गया। इसका वाहन मयूर था और इसके अन्य नाम विशाख, कार्त्तिकेय देवसेनापति, गुह और कुमार थे।

महाभाष्य से यह प्रतीत होता है कि स्कद और विशाख की पूजा पृथक्-पृथक् रूप से होती थी। यद्यपि ये दोनो एक ही देवता के नाम थे, पर इनकी पूजा विभिन्न प्रयोजनो से प्रेरित होकर की जाती थी। इस बात की कुछ पुष्टि हुविष्क की मुद्राओ से भी होती है। इन पर स्कद, महासेन, कुमार और विशाख की अलग-अलग मूर्त्तियाँ यूनानी अक्षरो मे इन देवताओ के नामो के साथ मिलती है। इससे यह प्रगट होता है कि स्कद से न केवल विशाख, अपितु कुमार व महासेन भी विभिन्न रूप रखते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक युग मे देवताओं की उपासना उनके कार्यों के अनुसार विभिन्न रूपो व नामो से की जाती थी, उसी प्रकार इस समय भी स्कद के विभिन्न रूपों की पूजा विभिन्न नामों से करने की परिपाटी प्रचलित थी।

शिव के एक अन्य पुत्र एव कार्तिकेय के भाई गणेश की भी पूजा इस समय प्रचलित थी। गणेश का शब्दार्थ है गणो का स्वामी। इसके आधार पर यह कल्पना की जाती है कि यह आरम्भ मे उत्पात मचाने वाले कुछ वन्य समूहो या गणो का नेता था। किंतु ऋग्वेद मे गणेश के विशेषण का प्रयोग बृहस्पति एव इन्द्र के लिये भी किया गया है, बाद मे गणपति का सबध विद्या के देवता से भी जोड़ा गया, यह संभवत ऋग्वेद की प्राचीन कल्पना के आधार पर था। इसका एक अन्य नाम विनायक है, इसे उपनिषद् मे रुद्र से अभिन्न माना गया है। महाभारत के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उस समय गणपति एव विनायक बहुत बडी सख्या मे थे, किंतु गृह्यसूत्रो मे हमे इनकी सख्या घटाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है, अत मे एक ही गणेश को शिवतनय के रूप मे पूजा जाने लगा। याज्ञवल्क्य स्मृति मे गणपति-पूजा और ग्रह पूजा का विधान है, किन्तु उस समय तक यह अनिष्टकारी देवता था, जिससे पीछा छुड़ाना उसकी पूजा का प्रधान प्रयोजन था। गणेश को शीघ्र ही विघ्नेश अर्थात् नाना प्रकार की बाधाओ और विपत्तियो को दूर करने वाला माना जाने लगा। सभी धार्मिक एव महत्वपूर्ण कार्यो के आरभ मे गणपति की पूजा की जाने लगी, ताकि यह उस कार्य मे आने वाली सभी विघ्न-बाधाओ को दूर कर दे। इन बाधाओ के दूर होने से ही सफलता प्राप्त होती थी, अत सिद्धिदाता देवता के रूप मे इसकी पूजा होना सर्वथा स्वाभाविक था।

लक्ष्मी तथा श्री—लक्ष्मी का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद मे मिलता है। अथर्ववेद मे मगलकारिणी (शिव) और अमगलकारिणी (पापिष्ठा) लक्ष्मियो का उल्लेख है। वाजसनेयी सहिता मे श्री और लक्ष्मी को भाष्यकार के मतानुसार आदित्य की सपत्नियाँ बताया गया है। इन दोनो के इस प्रकार के सबध की कथाए महाभारत और रामायण (३।८६।१६) मे भी पाई जाती है। दक्षिण भारत के वैष्णव धर्म मे श्री की सपत्नी भूदेवी और बगाल के वैष्णव धर्म मे लक्ष्मी की सौत सरस्वती मानी जाती है। किन्तु आरम्भ मे सभवत लक्ष्मी का विष्णु से सबध नही था। यह सबध बाद मे जोड़ा गया। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार समुद्र मथन के बाद विष्णु को लक्ष्मी प्राप्त हुई थी।

लक्ष्मी इस युग मे सपत्ति और सौभाग्य का देवता होने के कारण नगरदेवता और राजलक्ष्मी के रूप मे भी पूजित होने लगी थी। नगरदेवता नगरो की समृद्धि और सौभाग्य की सरक्षिका समझी जाती थी। यह विश्वास प्रचलित था कि यदि यह देवता नगर से या राज्य से चला जाय तो वहाँ विपत्तियो के बादल उमड़ पड़ते

है। राजा की समृद्धि उसी समय तक बनी रहती है जब तक कि उसके राज्य मे राजलक्ष्मी का निवास होता है। लक्ष्मी वही रहती है, जहाँ नीति और धर्म का पालन होता है। इस युग की मुद्राओ मे कपिशा, उज्जयिनी तथा पुष्कलावती के नगर-देवताओ का चित्रण मिलता है। पुष्कलावती का संबध लक्ष्मी से माना जाता था। इस युग की मुद्राओ मे गजाभिषेक लक्ष्मी का भी चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इसमें लक्ष्मी को पूर्ण विकसित कमल पर पालथी मार कर बैठे हुये दिखाया गया है और उसके दोनो पार्श्वों में कमलों पर खड़े हुये दोनो हाथी अपने सूडो के जल से अभिषेक करते हुये दिखाये गये हैं। तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० तक की मुद्राओ पर कमल पर बैठी या खड़ी हुई और कमल हाथ मे लिये हुये लक्ष्मी की अनेक मूर्त्तियाँ मिलती हैं।

भारहुत मे तथा इस युग की मुद्राओ मे हमे श्री का चित्रण मिलता है। भारहुत मे इसकी एक प्रतिमा बैठी हुई तथा तीन प्रतिमाये खड़ी हुई मिलती है। यहाँ सभवतः बौद्ध साहित्य की उस श्री (सौंदर्य) का चित्रण किया गया है जो आशा, श्रद्धा और ह्री (लज्जा) के साथ शक्र की पुत्री मानी गई है, यद्यपि शतपथ ब्राह्मण मे इसे प्रजापति की कन्या कहा गया है। भारहुत स्तूप मे सभवत इस श्री से सादृश्य रखने वाली एक अन्य देवी सिरिमा (श्रीमती) पाई जाती है। इसे यशमती, लक्ष्मी-मती अथवा यश. प्राप्ता और यशोधरा के साथ दक्षिण दिशा के स्वामी विरूढक के क्षेत्र से सबद्ध माना जाता था। श्री (सिरिमा) देवी की मूर्ति के हाथ मे धतूरे के फूल अथवा कमल को दिखाया गया है। सिरिकालकण्णि जातक मे सिरिदेवी अथवा लक्खी (लक्ष्मी) देवी को पूर्व दिशा के अधिपति धृतराष्ट्र की कन्या माना गया है।

नागपूजा---शुग-सातवाहन युग की मूर्त्तियो मे नागो का चित्रण प्रचुर मात्रा मे मिलता है। नागपूजा वैदिक युग से चली आ रही थी। वेदो में इसके न केवल हानि पहुँचाने वाले रूप का वृत्र के नाम से वर्णन हुआ है, अपितु इसके मगलमय रूप का भी अहिर्बुध्न्य के नाम से चित्रण किया गया है। मोहनजोदड़ो की दो मुहरो मे इसका अंकन मिलता है और इसका सबन्ध शिव से प्रतीत होता है। परवर्ती साहित्य मे शिव अपने गले मे साँपो को लपेटे रहते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध का उल्लेख सभवत सर्वप्रथम यजुर्वेद मे मिलता है। पाश्चात्य ऐतिहासिक यजुर्वेद का सबन्ध पचाल प्रदेश से मानते है। इसकी राजधानी अहिच्छत्र (आवला, जिला बरेली) में आदिनाग की पूजा होती थी। यहाँ नागपूजा की परम्परा ईसा पूर्व की आरम्भिक

शताब्दियों में शासन करने वाले अग्निमित्र और भानुमित्र नामक राजाओ के समय तक प्रचलित थी, क्योंकि इन राजाओं के सिक्को के पृष्ठभाग पर अनेक मुद्राशास्त्रियो के मतानुसार नाग-मूर्तियाँ बनी हुई है।

शुंग-सातवाहन युग में नागपूजा की लोकप्रियता अनेक नागमूर्त्तियो से और नाग नामधारी व्यक्तियो-नागदत्त, नागभट्ट, नागसेन, गणपति नाग आदि से सूचित होती है। पहले पद्मावती और मथुरा के नागवशो का उल्लेख किया जा चुका है। कुषाण युग मे नागपूजा का प्राचीनतम लेख आठवे वर्ष का है। यह सात फणो के छत्र वाली एक नागमूर्ति के नीचे अकित है, इस मूर्ति के दोनो ओर दो छोटी आकृति के नाग बने हुए है।, इस लेख मे बड़े नाग का नाम स्वामीनाग बताया गया है। (ए० इ० खं० १७ पृ० १०)। दो अन्य लेखो[1] मे दधिकर्ण नामक एक स्थानीय नागदेवता का वर्णन मिलता है। सम्भवत एक मन्दिर मे इसकी पूजा हुआ करती थी। इस समय की सबसे बड़ी आदमकद (ऊचाई ७ फीट ८ इच) नागमूर्त्ति छड़गाव से मिली है। मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित इस मूर्ति की स्थापना सेनहस्ती तथा भोनुक नामक दो भाइयो ने सवत ४० मे इस प्रार्थना के साथ की थी कि नागदेवता उनसे सदैव प्रसन्न रहें। मथुरा सग्रहालय मे लाये जाने से पहले अनेक शताब्दियो से इसकी पूजा बलराम की मूर्ति के रूप मे की जाती थी।

नागमूर्त्तियो के नीचे लिखे गये कुछ लेख इनकी पूजा के प्रयोजन एव उद्देश्य पर सुन्दर प्रकाश डालते है। कौशिक परिवार की शिवमित्रा नामक एक महिला का अभिलेख बडा मनोरजक है।[2] इसमे शिवमित्रा ने कृष्ण सर्प की पूजा पोष्य और शको के विध्वस मे सहायता पाने के लिये की है। उस समय नागो की मूर्तियाँ इनका निवास-स्थान समझे जाने वाले सरोवरो (तडागो) और उद्यानो (आराम) मे बनाई जाती थी। महावस्तु (खण्ड ३, पृष्ठ ३००) मे नागराज का सम्बन्ध समुद्र के अधिपति वरुण से माना गया है। वर्तमान काल की भाँति शुग युग मे सर्पों के सम्बन्ध मे यह विश्वास भी प्रचलित था कि ये भूमिगत निधियों के रक्षक होते है, यदि इन्हें प्रसन्न किया जाय तो ये अपने भक्तो को विभिन्न प्रकार के वरदान और निधियाँ प्रदान करते है और उपासको के शत्रुओं का विध्वस करते है। नाग पाताल लोक के अधिपति माने जाते थे। इनको मृत्यु, यम और अनृत का प्रतीक माना गया था।

---

१. ए० इ० खं० १ पृ० ३९०, ख० ६ पृ० २४३।
२. ए० इ० खं० १ पृ० ३९६, संख्या ३३।

इस युग में साधारण जनता में प्रचलित नाग-पूजा को बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों ने समान रूप से स्वीकार किया। बौद्ध साहित्य में नागों को बुद्ध का उपासक बताया गया है। भारहुत स्तूप के एक दृश्य मे जल मे से निकलते हुये एरापत नागराज को सपरिवार बोधि वृक्ष की पूजा करते हुये दिखाया गया है। इसके मानवीय मस्तक पर साप के फणो का आटोप है। प्रयाग संग्रहालय मे सुरक्षित एक स्तम्भ के फुल्ले मे (Medallion) वट वृक्ष के नीचे पाँच फण वाले मुचलिंद नामक नागराज की मूर्ति उत्कीर्ण है। यह बुद्ध की पादुका और वेदिका की रक्षा कर रहा है। यह दृश्य उस बौद्ध कथा का स्मरण कराता है जिसके अनुसार एक प्रबल अन्धड के समय मुचलिन्द नाग ने अपने फण फैला कर बुद्ध की रक्षा की थी। अमरावती, साची और नागार्जुनीकोंडा के स्तूपो मे भी यह कथा उत्कीर्ण है। ब्रिटिश संग्रहालय मे सुरक्षित अमरावती के एक फलक मे नागराज बुद्ध की धातुमजूषा की उपासना कर रहा है।[1] जैन धर्म मे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के साथ नागो का विशेष सम्बन्ध बताया जाता है। मथुरा मे प्राप्त ९९ सवत् के एक लेख मे अंकित पार्श्वनाथ की मूर्ति के सिर पर सात फणो वाले सर्प की मूर्ति बनी हुई है। इसके पास ही एक नागराज भक्तिभाव मे प्रणत मुद्रा मे खड़े हुये है। इससे यह सूचित होता है कि नाग जैन तीर्थंकरो के उपासक होते थे और जैनो ने इस लोक-प्रचलित धर्म का अपने धर्म मे समन्वय करते हुये इस प्रकार की मूर्तियो मे नागो को तीर्थंकरो का सेवक प्रकट किया।

इस युग मे उत्कर्ष पाने वाले हिन्दू धर्म के वैष्णव और शैव सम्प्रदायो मे भी लोक प्रचलित नागपूजा को बहुत महत्व दिया गया। पहले यह बताया जा चुका है कि हलधर बलराम अनन्त के अवतार माने जाते थे। सम्भवत जलो के अधिष्ठाता और वर्षा ऋतु मे अधिक प्रकट होने वाले सर्प कृषको के लिये अधिक महत्वपूर्ण माने गये, इसीलिये बलराम की पूजा को नागपूजा से सम्बद्ध किया गया है। महाव्युत्पत्ति नामक ग्रन्थ मे बलदेव को नागराज कहा गया है। छडगांव की नाग-मूर्ति की पूजा चिरकाल तक बलराम की प्रतिमा के रूप मे की जाती रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि नागपूजा का स्थान शनै शनैः श्रीकृष्ण आदि देवताओ की पूजा ने ले लिया। पहले यह बताया जा चुका है कि यमुना के एक सरोवर मे रहने वाले कालिय नाग का दमन श्रीकृष्ण ने किया था, विष्णु शेषनाग की शय्या पर क्षीर सागर मे शयन करते हैं। शैव धर्म मे नागो को शिव के गले मे लिपटा हुआ

---

१. फर्ग्युसन—हिस्टरी आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्ट, प्लेट ६२।

दिखाया जाता है। सम्भवत. शिव ने विष पान करके सर्पों को अपने शरीर में स्थान दिया था।

इस युग मे नागो की पूजा की लोकप्रियता इनकी मूर्त्तियो से सूचित होती है। ये मूर्त्तियाँ सर्पाकार और मानवाकार के दोनो रूपो मे मिलती है। मानवीय मूर्त्तियों मे एक, तीन, पाँच अथवा सात की विषम सख्या मे फण दिखाये जाते हैं और इनके साथ अनेक विचित्र दन्तकथाये जुडी हुई है। इस युग के साहित्य एव अभिलेखो मे इनका प्रचुर वर्णन मिलता है। ललितविस्तर (पृष्ठ ३८–९) मे समुद्रगामी व्यापारियो द्वारा नागाधिपति की उपासना का वर्णन है। इनकी उपासना की लोकप्रियता सम्भवत इनके निधियो का सरक्षक होने से तथा मृत्यु का प्रतीक होने के कारण थी। उस समय यह पूजा जनता मे इतनी अधिक प्रचलित थी कि बौद्ध, जैन एव वैष्णव धर्मों को भी इसे उपयुक्त रूपो मे स्वीकार करने के लिये बाधित होना पड़ा।

यक्षपूजा—शुग युग मे साधारण जनता मे यक्षो की पूजा का भी अत्यधिक प्रचलन था। इनकी उपासना लोकधर्म का एक व्यापक अग थी। यह वैदिक काल से चली आ रही थी। जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्मो ने इसे समान रूप से स्वीकार किया था। न केवल इद्र, मित्र, वरुण, यम आदि देवताओ की, अपितु बुद्ध और महावीर की भी यक्ष से तुलना की जाती थी। हर गाँव मे यक्ष का स्थान या चौरा बनाया जाता था, इनके वार्षिक मेले को **यक्षमह** कहा जाता था। आज तक काश्मीर से तामिल देश तक यक्षो की पूजा का प्रचार है। ये यक्ष धन-धान्य, समृद्धि तथा शक्ति के प्रतीक थे, महाकाय और महामृत समझे जाते थे। प्राचीन काल से इनका सबध अमरता, दीर्घ जीवन और स्वास्थ्य के साथ माना जाता था (वा० रा० किष्किन्धा काण्ड ११।९४, महा० ३।२५८।१५)। महाभारत के शाति पर्व (७१।१५) मे यक्षो के निवास-स्थान (यक्ष सदन) को अवध्यपुर अर्थात् ऐसी नगरी कहा गया है जहाँ मृत्यु की पहुँच नही है। अथर्ववेद मे यह लिखा है कि सब राष्ट्रभृत या अधिकारी महान यक्ष देवता के लिये बलि का आहरण करते है।[1] महाभारत (वनपर्व २९७।२०-२१) मे यक्ष की उपमा पहाड और ताड से देते हुए इसे पर्वतोपम, ताल समुच्छ्रित (ताड जैसा ऊचा), अधृष्य (मृत्यु से न परास्त होने वाला) और महाबली कहा गया

१ अथर्ववेद १०।८।१५, महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये, तस्मै बलि राष्ट्रभृतो भरन्ति।

है। उपलब्ध यक्षमूर्त्तियो मे यह वर्णन पूरी तरह मिलता है। महाभारत का उदात्त वर्णन और उपलब्ध मूर्त्तियाँ एक दूसरे का प्रबल समर्थन करती है। प्रत्येक कलासमीक्षक ने यक्ष मूर्त्तियों की इस विशेषता का समर्थन किया है। यक्ष आकार मे गड़गज्ज है, मानो समस्त जनपद को अपने बल और प्रभाव से दबोच कर ऊचे उठे हो।[1] यक्षो को महाकाय मानने के कारण इनकी मूर्त्तियाँ विशाल परिमाण वाली बनाई जाती थी। इन्हें जल या सरोवर के समीप का देवता माना जाता था। महाभारत के वनपर्व मे यक्ष-युधिष्ठिर सवाद (३।२९७) इसका सुदर उदाहरण है। यक्ष मूर्त्तियो की परपरा के प्रथम दर्शन हमे मौर्ययुग की लोककला मे होते है। इसके सुप्रसिद्ध उदाहरण मथुरा जिले के परखम ग्राम से, बरोदा ग्राम से (ग्वालियर), से प्राप्त हुए है। मथुरा जिले के झीगका नारा ग्राम से, दीदारगज से प्राप्त यक्षणियो की महाकाय और महाप्रमाण प्रतिमाये चतुर्मुख दर्शन के आधार पर काट कर बनाई गयी मूर्त्तियाँ है।[2] शुग युग मे भारहुत के महान् स्तूप मे यक्षो की मूर्त्तियाँ प्रचुर मात्रा मे मिली है। बौद्ध परपरा के अनुसार उत्तर दिशा के लोकपाल कुबेर यक्ष थे तथा दक्षिण दिशा के विरूढक। कनिघम को भारहुत मे इन दोनो की मूर्त्तियाँ मिली थी । भारहुत मे यक्ष यक्षिणियो की मूर्त्तियाँ द्वार-तोरणो पर और वेदिका-स्तभो पर उत्कीर्ण की गई थी। इनमे मे कुछ मूर्त्तियो पर उनके नाम खुदे है, जैसे--कुपिरो यखो (कुबेर यक्ष), यखी मुदसना (यक्षी सुदर्शना) सुचिलोमो यखो (सूचिलोम यक्ष), महाकोका और चुलकोका नामक दो देवताओ या यक्षणियो की मूर्त्तियाँ। इस युग की मथुरा की कला मे भी कुबेर के रूप मे यक्षो का चित्रण मिलता है। इसका अन्यत्र वर्णन किया गया है। उपर्युक्त मूर्त्तियो से इस युग मे यक्षपूजा की लोकप्रियता सूचित होती है।

यक्षों के अतिरिक्त इस समय नाना प्रकार के वृक्षो मे निवास करने वाले देवताओ की भी यक्षो के रूप मे पूजा की जाती थी। वृक्ष देवता की पूजा का विचार बडा प्राचीन था। भगवान बुद्ध द्वारा पीपल के पेड के नीचे बोधि प्राप्त करने के बाद बौद्ध धर्म मे इस वृक्ष की पूजा को बड़ा महत्त्व मिला। वृक्षो के साथ-साथ इस समय नदियो की पूजा का विचार प्रचलित था। गगा, यमुना आदि नदियो के तट पर विद्यमान तीर्थो का वर्णन इस युग के साहित्य मे विशेषत महाभारत के वनपर्व में प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है। पतंजलि के महाभाष्य (५।१।१२)

१. अग्रवाल–भारतीय कला, प्रथम खण्ड पृ० १५४।
२. वही पृ० १४८–५०।

में यह बताया गया है कि गगा और इद्र के निमित्त बड़े महोत्सव हुआ करते थे। इन्हें मह कहा जाता था। इनमे काम मे आने वाली वस्तु ऐन्द्रमहिक और गंगामहिक कही जाती थी। इस युग का गंगामह नामक मेला सभवत वर्तमान काल के गंगादशहरे का पूर्व रूप था। महाभारत मे यक्षों के महोत्सव को ब्रह्ममह कहा गया है। इन मेलो मे चारों वर्णों के लोग बड़े आनद के साथ भाग लिया करते थे।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि इस युग के धार्मिक जीवन की एक प्रधान विशेषता यह थी कि इस समय नाना प्रकार की पूजापद्धतियाँ और धार्मिक सम्प्रदाय शान्तिपूर्वक अपना विकास कर रहे थे। इस युग मे न केवल वैदिक युग के यज्ञो का प्रचलन था, अपितु बौद्ध, जैन एव नाग तथा यक्षपूजक लोकधर्मो की धारायें भी साथ-साथ प्रवाहित हो रही थी। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण तत्व भक्ति-भावना थी। इसने सभी धार्मिक सम्प्रदायो को प्रभावित किया था। ब्राह्मणो के शुष्क कर्म-काड और उपनिषदो के सूक्ष्म तत्वज्ञान के स्थान पर सामान्य जनता को भक्ति-प्रधान धर्मों से बड़ी शान्ति प्राप्त हो रही थी। इस समय वैष्णव और शैव धर्मो का विलक्षण विकास हुआ। विष्णु और शिव को सर्वोच्च स्थान मिला। इस कारण वैदिक युग के प्रधान देवता इस समय अपना महत्व खोने लगे। इनमे इन्द्र और प्रजापति उल्लेखनीय है। ऋग्वेद मे इन्द्र की और ब्राह्मण ग्रथो के काल मे प्रजापति की बड़ी महिमा थी। अब इनका स्थान विष्णु और शिव ने ले लिया। बौद्ध धर्म मे महायान के भक्ति प्रधान सम्प्रदाय का विकास इस युग की एक बड़ी देन है।

बौद्ध धर्म

शुग-सातवाहन युग का श्रीगणेश बौद्ध धर्म के विरोध से आरभ हुआ। दिव्यावदान (पृष्ठ ४२९–४३४) मे तथा मजुश्री मूलकल्प[2] मे यह उल्लेख मिलता है कि पुष्यमित्र शुग ने बौद्ध धर्म पर प्रबल अत्याचार किये। सर्वप्रथम उसने पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध बौद्ध विहार कुक्कुटाराम को नष्ट करने का विफल प्रयत्न

१ महाभारत १।१५२।१८–
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिता
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताः चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥

२. गणपति शास्त्री द्वारा संपादित मंजुश्रीमूलकल्प, अध्याय ५३, श्लोक ५३०–३७ ।

किया। इसके बाद उसने शाकल जाकर यह घोषणा की कि जो व्यक्ति एक बौद्ध भिक्षु का सिर काट कर मेरे पास लायेगा, उसे १०० दीनार का पारितोषिक दिया जायगा।[1] बौद्ध ग्रथो से हमे यह भी ज्ञात होता है कि बौद्धों पर अत्याचार करने के कारण कृमिश नामक यक्ष से उसका संघर्ष हुआ, इसके फलस्वरूप स्थूल-कोष्ठ नामक स्थान पर पुष्यमित्र की मृत्यु हो गई। श्री प्रबोधचन्द्र बागची ने कृमिश को यूनानी आक्राता डिमेट्रियस माना है।[2] इस अनुश्रुति के सबध मे ऐतिहासिको ने बडा सदेह प्रकट किया है। यह कहा जाता है कि बौद्ध ग्रंथो मे पुष्यमित्र के बौद्ध धर्म के दमन का बडा अतिरजित और अत्युक्तिपूर्ण चित्रण किया गया है।

किंतु इसमे कोई संदेह नही है कि अशोक के समय से बौद्ध धर्म के प्रति असतोष था। दिव्यावदान (पृष्ठ ४३०) के बौद्ध लेखक के अनुसार अशोक अपने मत्रियो के विरोध के कारण बौद्ध सघ को अपनी इच्छानुसार दान नही दे सका था। इसको दिये गये अधाधुध दानो के परिणामस्वरूप राजकोष रीता हो गया था, यह मौर्य वश के पतन का एक बडा कारण था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ के साथ पुरानी वैदिक संस्कृति और हिंदू धर्म के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया। शाकल मे यदि उसने बौद्धो पर अत्याचार किए तो सभवत इसका बडा कारण राजनीतिक था। उन दिनो यहाँ यूनानी बडी सख्या मे बसे हुए थे। ये बौद्ध धर्मावलबी थे। इन्हें बौद्ध धर्म को प्रबल सरक्षण प्रदान करने वाले मौर्य सम्राटो के शासन का अन्त करने वाले ब्राह्मण धर्मानुयायी पुष्यमित्र शुग का शासन सर्वथा अनभीष्ट और अवाञ्छनीय प्रतीत होता था। इस समय डिमेट्रियस और मिनाडर ने बौद्ध धर्म का उग्र समर्थन करते हुये समूचे उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया। पुराणो मे यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि यूनानियो ने धर्म की दृष्टि से (धर्मत), लोभवश (लोभत) और धन प्राप्त करने के लिये (अर्थत:) भारतवर्ष पर आक्रमण किये।[3] इसके परिणाम-स्वरूप पुष्यमित्र के शासन को इतना गहरा धक्का लगा कि उसके उत्तराधिकारी मगध के स्थान पर विदिशा मे शासन करने लगे।

फिर भी पुष्यमित्र के अत्याचारो मे बौद्ध धर्म को कोई बडी क्षति नही पहुँची, क्योंकि इस समय तक बौद्ध धर्म जनता मे लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था।

---

१. दिव्यावदान–पृष्ठ ४३४––यो मे श्रमणशिरो दास्यति, तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

२ इं० हि० क्वा० खंड २१ पृष्ठ ८९।

३. इं० हि० क्वा०–खंड २२ पृष्ठ८९–९०।

संभवतः इसी कारण पुष्यमित्र पाटलिपुत्र मे कुक्कुटाराम का विध्वस नही कर सका था। इस समय बौद्ध धर्म की लोकप्रियता और प्रगति इस युग मे बनाये गये बौद्ध स्तूपों और विभिन्न अभिलेखो मे अंकित किये गये दानो से सूचित होती है। शुग और काण्व वशो के समय मे बौद्ध कला की अनेक सुप्रसिद्ध कृतियो--भारहुत स्तूप, साची स्तूप और कार्ले की गुहाओ का निर्माण हुआ। यह उस समय बौद्ध धर्म के उत्कर्ष एवं बढते हुए प्रभाव को सूचित करते है। इस समय बौद्ध धर्म मे एक नवीन प्रवृत्ति का श्रीगणेश होता है। यह बुद्ध को ईश्वर के तुल्य मानने वाला, उसकी पूजा पर बल देने वाला भक्ति प्रधान धर्म बनने लगता है। बुद्ध के अवशेषो की उपासना बड़ी घूमधाम से की जाने लगती है। ये अवशेष स्तूपो मे रखे जाते थे। इन स्तूपो की परिक्रमा और पूजा को महान पुण्य का कार्य समझा जाने लगा। फिर भी इस समय बुद्ध के शरीर को बडा पवित्र समझा जाता था, पूजा के लिये उसकी मूर्ति बनाना एक अधार्मिक कार्य माना जाता था। साची और भारहुत के स्तूपो मे बुद्ध के जीवन से सबध रखने वाले दृश्यो मे उनकी मूर्त्ति नही बनाई गई है, अपितु उनका चित्रण बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि के विभिन्न प्रतीको से किया गया है।

यूनानी शासन में बौद्ध धर्म--उत्तरी भारत मे शासन करने वाले कई यूनानी राजा बौद्ध धर्म के प्रबल पोषक थे। इनमे सर्वोच्च स्थान मिनाण्डर का है। बौद्ध आचार्य नागसेन ने मिलिदप्रश्न मे उसके बौद्ध धर्म मे दीक्षित होने की कथा लिखी है। यह ऐतिहासिक सत्य प्रतीत होता है, यद्यपि टार्न ने इसमे प्रबल सदेह प्रकट किया है।[1] श्री बागची ने यह कल्पना की है कि जब पुष्यमित्र ने बौद्धो पर अत्याचार किया तो उसने बौद्ध धर्म की रक्षा के लिये डिमेट्रियस को भारत पर आक्रमण करने के लिये निमत्रण दिया।[2] शाकल मे अपनी राजधानी स्थापित करने के बाद उसने बौद्ध धर्म की उन्नति के लिये अनेक चैत्य और विहार बनवाये। उसकी मुद्राओ पर धर्मचक्र का चिन्ह और त्रात और ध्रामिक की उपाधियाँ मिलती है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार वह वस्तुत बौद्ध धर्म का परित्राण करने वाला था। तथागत के प्रति गहरी आस्था के कारण जनता मे उसके प्रति बडे सम्मान और प्रेम की भावना थी। प्लूटार्क के कथनानुसार उसकी मृत्यु के बाद उसके साम्राज्य के बडे नगरो ने उसके भस्मावशेषों को वैसे ही आपस मे बाँट लिया, जिस प्रकार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उसके अवशेषों का बँटवारा हुआ था। एक अन्य यूनानी शासक एगेथोक्लीज

---

१. टार्न--दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इंडिया ।

२. कं० हि० इं०--पृष्ठ ३६५ ।

(Agathocles) ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, उस की मुद्राओं पर बौद्ध स्तूप और बोधि वृक्ष के चिन्ह बने हुए है, वह अपने को हिन्दुज (अर्थात् जन्म से भारतीय) कहलाने मे बड़े गौरव का अनुभव करता है।

मिनांडर के बाद भारतीय यूनानी बड़ी सख्या मे बौद्ध मतानुयायी हो गये। हमे विभिन्न अभिलेखो मे इन यूनानी बौद्धों द्वारा दिये गये अनेक दानों की सूचना मिलती है। जुन्नर में एक यूनानी व्यक्ति **इरिल** ने अपने व्यय से **बौद्ध** भिक्षुओ के लिये दो जलाशयो का निर्माण करवाया था।[1] यही एक अन्य यवन **चिट** ने भोजनमडप का दान सघ को दिया था। कार्ले की गुहा के अभिलेखों मे यूनानी सिहध्वज (सिहधय) के तथा धर्म (धम) के दान का उल्लेख है। नासिक मे उत्तरापथ की दात्तामित्री नगरी के निवासी (दातामितियक) योनक धर्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त द्वारा १७वी गुफा खुदवाने, उसके अदर चैत्यगृह और जलाशय बनवाने का उल्लेख है।[2] इन दानो मे यह सूचित होता है कि उस समय यूनानी लोगो ने न केवल वड़ी सख्या मे बौद्ध धर्म स्वीकार किया, अपितु बौद्ध सघ की अनेक बडे दान दिये। टार्न ने यह कल्पना की है कि ये दानी कालीमिर्च के व्यापारी थे और सिंध मे व्यापार करने के लिये बम्बई के निकट के प्रदेश मे आये थे। इन्हें वश की दृष्टि से नही, अपितु यूनानी शासन मे रहने के कारण यूनानी माना जाना चाहिए।[3]

इस समय न केवल भारत के यूनानियो मे, अपितु भारत से बाहर के यूनानियो मे भी बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य सम्पन्न हुआ और इन देशो मे बौद्ध धर्मानुयायियो की सख्या बढी। इस कार्य का श्रीगणेश तीसरी बौद्ध महासभा के बाद अशोक के समय मे हुआ था। इसकी समाप्ति पर मोग्गलिपुत्त तिस्स यवन देश में गये थे। वहाँ उन्होंने धर्मरक्षित नामक यूनानी थेर को धर्म प्रचार कार्य सौपा। महावंश के कथनानुसार धर्मरक्षित ने अपने यहाँ धर्म का प्रचार सफलतापूर्वक करते हुए हजारो व्यक्तियों को बौद्ध बनाया था। महावंश मे हमे यह भी वर्णन मिलता है कि दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के मध्य मे श्रीलंका के राजा दुट्ठगामनी ने जब महास्तूप का निर्माण कराया तो उसके महोत्सव मे भाग लेने के लिये विभिन्न देशो से बौद्ध आचार्य

१. ए० इं० खंड ८ पृष्ठ ६०।
२. भा० इ० रू० खंड २, पृष्ठ ८८४–८५।
३. टार्न–पूर्वोक्त पुस्तक, नीचे आर्थिक दशा वाला प्रकरण देखिये।

आये। इस समय यूनानियो का प्रतिनिधित्व अलसन्दा (सिकन्दरिया) की नगरी से आने वाले एक यवन थेर महाधर्मरक्षित ने किया।

भारत मे यूनानियो की एक एक बडी देन बौद्ध कला की एक नवीन शैली का विकास था। यह शैली गन्धार प्रदेश मे विकसित होने के कारण गान्धार कला कहलाती है। आगे चौदहवे अध्याय मे इसका वर्णन किया जायगा। यहां इस विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस कला ने न केवल भारत मे, अपितु भारत से बाहर मध्य एशिया मे चीन की सीमा तक अपने प्रभाव का विस्तार किया। कुछ ऐतिहासिक बुद्ध की पहली मूर्त्ति बनाने का श्रेय भी इस शैली के कलाकारो को देते है।

बौद्ध सम्प्रदायों का विकास

इस युग मे बौद्ध धर्म मे विभिन्न सप्रदायो का विकास बडी तेजी से हुआ। परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार बौद्ध धर्म १८ निकायो मे बँट गया था। इनके विभिन्न सिद्धान्तो का वर्णन वसुमित्र ने अपने एक सस्कृत ग्रन्थ मे किया है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही होता है, हमे चीनी और तिब्बती भाषाओ मे इसका अनुवाद ही मिलता है।[1] इनका विकास यद्यपि शुग युग मे पहले ही शुरू हो गया था, किन्तु इस समय इस प्रक्रिया मे अधिक तीव्रता आई। बौद्ध सघ मे मतभेद का जन्म भगवान बुद्ध के जीवन काल मे ही हो गया था। देवदत्त ने बुद्ध से कई मौलिक बातो मे मतभेद रखने वाले सम्प्रदाय की स्थापना का प्रयत्न किया था। बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके उपदेशो के प्रामाणिक पाठ के लिये एव सघ-भेद को रोकने के लिये राजगृह मे पहली बौद्ध महासभा या सगीति हुई। किंतु शीघ्र ही कुछ मतभेद प्रकट होने लगे। ये मतभेद सभवत विविध प्रदेशो मे प्रचलित विभिन्न प्रकार की आचार पद्धति के बारे मे और भिक्षुओं द्वारा पालन किये जाने वाले नियमो के विषय मे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी प्रदेशो मे रहने वाले (पौरस्त्य) भिक्षु और पश्चिम मे रहने वाले (पाश्चात्य) भिक्षु विभिन्न प्रकार के भिक्षु-नियमो का पालन करने लगे थे। पौरस्त्य भिक्षुओ के प्रधान केन्द्र वैशाली और पाटलिपुत्र तथा पाश्चात्य भिक्षुओ के मुख्य केन्द्र कौशाबी और अवन्ती

---

१ तिब्बती अनुवाद के लिये देखिये, वैसीलीफ बौदिस्मे सेसदोग्मेस पेरिस १८८५, १८६५ पृ० २२२, चीनी अनुवाद के लिये देखिये मसुद एशिया मेजर खण्ड २ पृ० १ प्र०।

थे। विनयपिटक मे दी गई एक अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष बाद पश्चिमी और पूर्वी भिक्षुओं के नियमो मे दस छोटी-छोटी बातो पर उग्र मतभेद हो गया। ये बाते इस प्रकार थी[1]—सीग मे नमक को जमा करके रखना (शृगि कल्प), दोपहर के बाद कुछ समय दो अगुल छाया होनेपर भोजन करना (द्वयगुल कल्प), दुबारा खाने के इरादे से गाँव को जाना (ग्रामान्तर कल्प)। एक ही सीमा के अन्दर दूसरा उपोमथ करना (आवास कल्प), कार्य करने के बाद उसके लिये अनुमति लेना (अनुमत कल्प), प्रचलित ढग से अथवा उपाध्याय के आचार का अनुकरण करना (आचीर्णकल्प) मध्याह्न भोजन के बाद दही खा लेना (अमथित कल्प), अभी न चुवाई हुई ताडी पीना (जलोशी कल्प), बिना किनारे वाले आसन या चटाई का प्रयोग (अदशक कल्प), सोना चाँदी भिक्षा मे ग्रहण करना (जातरूपरजत कल्प)। पुराने और बूढे (स्थविर) तथा पश्चिमी भिक्षु इन बातो को भिक्षुओ के लिये अवैध और निषिद्ध समझते थे। किन्तु वैशाली के पूर्वी भिक्षु इनमें कोई दोष नही समझते थे। इस विवाद का निर्णय करने के लिये दूसरी बौद्ध महासभा वैशाली मे बुलाई गई। इसमे ७०० भिक्षु थे। इस सभा का निर्णय वैशाली के भिक्षुओं के विरुद्ध हुआ, अत दीप वश की परम्परा के अनुसार वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओ ने द्वितीय सगीति मे किये गये सघ के निर्णय को स्वीकार न करते हुये एक अन्य महासभा बुलाई। इसमे १०,००० भिक्षु एकत्र हुये, अतः इसे **महासघ** या **महासंगीति** कहा गया। इन्होने न केवल वैशाली के भिक्षुओ की उपर्युक्त बातो को वैध ठहराया, अपितु विनय और पाँच निकायो के सूत्रो का अर्थ बदल दिया। कुछ ग्रथो को अप्रामाणिक घोषित किया। इस महासघ के निर्णयो को स्वीकार करने वाले भिक्षुओं को **महासांघिक** कहा गया। इनकी तुलना मे पुराने आचार-विचार और परम्परा को स्वीकार करने वाले रूढ़िवादी वृद्ध (स्थविर) बौद्ध भिक्षुओ के संप्रदाय को **स्थविरवाद** का नाम दिया गया। यहाँ से बौद्ध धर्म मे विभिन्न सप्रदायो के भेदो का श्रीगणेश हुआ। स्थविरवाद (थेरवाद) शनैः शनैः ११ सप्रदायो मे और महासाधिक सात सम्प्रदायो मे बँट गया।[2] ये सभी अठारह निकाय या सम्प्रदाय मौलिक रूप से हीनयान के अनुयायी थे। आगे हीन-

---

१ इनकी विस्तृत व्याख्या के लिये देखिये— गोविन्दचन्द्र पाण्डेय—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ० १७०–१ ।

२. इन सम्प्रदायों के नामों के संबन्ध मे विभिन्न परम्पराओं के वर्णन के लिये देखिये—पाण्डेय पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १७५-९१।

यान महायान के मतभेदो का निरूपण किया जायगा। यहाँ उससे पहले शुग सातवाहन युग मे उपर्युक्त दोनो सम्प्रदायो के अवान्तर मतो और सम्प्रदायों का उल्लेख करना समुचित प्रतीत होता है।

स्थविरवाद के विभिन्न संप्रदाय

तिब्बती परपरा के अनुमार स्थविरवाद के सस्थापक उज्जयिनी के निवासी महाकच्चायन थे। इस संप्रदाय के केन्द्र कौशाम्बी, मथुरा और उज्जयिनी थे तथा इनके धर्मग्रथो की भाषा पालि थी। लका मे अशोक का पुत्र महेन्द्र इसी सम्प्रदाय के पालि त्रिपिटक को ले गया था। लका आज तक थेरवाद का सबसे पुराना केन्द्र है।

स्थविरवाद की सबसे महत्त्वपूर्ण शाखा **सर्वास्तिवाद** थी। इसके नाम (सर्वं अस्ति–सब कुछ है) से ही यह स्पष्ट है कि ये बाह्य एव आतरिक अर्थात् सभी प्रकार की वस्तुओ की सत्ता स्वीकार करने के कारण सर्वास्तिवादी कहलाते थे। ये समस्त अतीत और अनागत धर्मों का अस्तित्व मानते थे। महासाघिको से इनका एक बडा मतभेद इस बात मे था कि ये बुद्ध को एक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते थे और उसे निर्भ्रांत नही समझते थे। इनका यह कहना था कि बुद्ध के सभी सूत्र सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नही है। बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धात बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आर्य अष्टा-गिक मार्ग है। तिब्बती परपरा के अनुसार इस सम्प्रदाय का सस्थापक राहुल-भद्र था। इसके धर्मग्रन्थो की भाषा सस्कृत थी। इसका आरम्भिक केन्द्र मथुरा था। यहाँ से इसका विस्तार गधार और कश्मीर के प्रदेशो मे हुआ। शुग और कुषाण युग के २०० ई० पू० से २०० ई० तक के अभिलेखो मे यह सूचित होता है कि इस सप्रदाय के अनुयायी मथुरा से अफगानिस्तान मे नगरहार (जलालाबाद) तक और तक्षशिला से काश्मीर तक फैले हुये थे। एक अभिलेख मे पुरुषपुर के सुप्रसिद्ध कनिष्क विहार के सर्वास्तिवादी भिक्षुओ को दान देने का वर्णन है। जेदा के अभिलेख मे, कुर्रम घाटी की धातु मजूषा पर तथा मथुरा के सिहस्तभ के अभिलेखो मे सर्वास्तिवादियो का वर्णन है। शुग युग मे यह सप्रदाय उत्तरी भारत मे अतीव लोकप्रिय हुआ, कुषाण-युग मे मध्य एशिया मे और वहाँ से चीन में इसका प्रसार हुआ। बाद मे इसी संप्रदाय को **वैभाषिक** का नाम दिया गया क्योकि यह बुद्ध के मूल उपदेशो (सूत्रो) के स्थान पर इनकी विभाषाओ (टीकाओ) को अधिक महत्व देता था।

स्थविरवाद का एक अन्य संप्रदाय **हैमवत** था। इसके नाम से यह प्रकट होता है कि इसका प्रादुर्भाव हिमालय के प्रदेश सम्भवतः काश्मीर में हुआ होगा, किंतु अभिलेखों से इसका प्रधान केन्द्र मध्य भारत में विदिशा प्रतीत होता है। भिलसा के सोनारी स्तूप अभिलेख में इस संप्रदाय के दुदुभिसर नामक आचार्य का तथा इसी प्रदेश के अन्य अभिलेखो मे इसके दो अन्य आचार्यों—काश्यपगोत्र और गोपीपुत्र का वर्णन मिलता है।

भद्रयानिक सप्रदाय का वर्णन कन्हेरी के अनेक अभिलेखो मे मिलता है और सारनाथ का स्तमलेख **सम्मितीय** और **वात्सीपुत्रक** निकायो का वर्णन करता है। वात्सीपुत्रको का उल्लेख भारहुत के एक लेख मे मिलता है। सर्वास्तिवाद की एक अन्य महत्वपूर्ण शाखा **काश्यपीय** थी। इसका प्राचीनतम निर्देश पभोसा के बौद्ध गुहा लेख मे है। इससे यह ज्ञात होता है कि राजा बहसतिमित्र के मामा आषाढ़सेन ने काश्यपीय सप्रदाय के भिक्षुओ के लिये इस गुफा को खुदवाया था। इनके अतिरिक्त सर्वास्तिवाद की दो अन्य शाखाए धर्मगुप्तक और महीशासक भी थी।

सर्वास्तिवादियो के विभिन्न सप्रदायो का विशाल साहित्य था, किन्तु अब यह हमे चीनी और तिब्बती अनुवादो मे ही मिलता है। इस सप्रदाय के विनय-पिटक का सपूर्ण चीनी अनुवाद ४०४ ई० मे कुमारजीव और पुण्यत्रात ने किया था। इस सप्रदाय का प्रातिमोक्ष ही मध्य एशिया से मूल सस्कृत भाषा मे उपलब्ध हुआ है। इसके सूत्र पिटक के चार भागो का चीनी अनुवाद ३९७–४२७ ई० के बीच हुआ था। सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म विषयक सात ग्रथो मे ज्ञान प्रस्थान शास्त्र का चीनी अनुवाद ३८३ ई० मे हुआ और शेष छ. ग्रथो का अनुवाद सुप्रसिद्ध चीनी यात्री युआन च्वाग ने ६५१–६६० ई० तक के मध्य मे किया। धर्मगुप्त और महीशासक सम्प्रदायो की विनयपिटक का चीनी अनुवाद ५वी शताब्दी के आरभ मे हुआ। हैमवत, काश्यपीय और साम्मितीय संप्रदायो के साहित्य के कुछ अशों का ही चीनी मे अनुवाद हुआ था। युआन च्वाग सम्मितीय सप्रदाय के १७ ग्रथ भारत से चीन ले गया था, किन्तु इनमे से एक का भी उसने अनुवाद नही किया,। ये सब ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं।

महासाघिक सप्रम्दाय श्रौर उसकी शाखाये

महासाघिको का प्रादुर्भाव द्वितीय बौद्ध महासभा के बादहू आ। इसकी स्थापना का श्रेय महाकश्यप को दिया जाता है। आरभ मे इसका केन्द्र वैशाली था और यह उत्तरी

भारत में फैला हुआ था। बाद मे इसका प्रसार आध्र देश मे हुआ। अमरावती और नागार्जुनीकोंडा तथा धान्यकटक इसके प्रधान केन्द्र बने। इस प्रदेश मे लोकप्रिय होने के कारण इसका एक नाम अधक भी था। नागार्जुनीकोंडा के अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि इस सम्प्रदाय का पाँच निकायो मे विभक्त एक सुत्तपिटक था। इसका विनयपिटक चीनी अनुवाद मे मिलता है। इस सप्रदाय की भी भाषा प्राकृत थी। दार्शनिक दृष्टि से इसका थेरवाद से प्रधान भेद यह था कि इसने बुद्ध को देवता बनाने का प्रयत्न किया, उसे अलौकिक अथवा लोकोत्तर पुरुष माना। इस दृष्टि से जिसे बुद्ध माना जाता था, वह वस्तुत बुद्ध न होकर उसकी एक मायिक या भ्रान्तिपूर्ण प्रतिलिपि थी। इसके साथ ही इसका एक मतव्य यह भी था कि ज्ञान प्राप्त करके अर्हत बनना सर्वोत्तम स्थिति नही है, प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धत्व प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। महासाधिको के प्रधान सप्रदाय एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवाद, कौक्कुटिक बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवाद, चैत्यशैल, अपरशैल, उत्तरशैल थे। इनके अतिरिक्त पालि स्रोतो मे इनके कुछ अन्य नाम राजगिरिय, सिद्धत्थिक, पुब्बसेलिय और वाजिरिय मिलते है। इन सप्रदायो का एक सामान्य नाम **चेतिय** अथवा **चैत्यक** भी था, क्योकि इनकी पूजा और उपासना का एक बड़ा केन्द्र अमरावती के निकट धान्यकटक का महाचैत्य था। ईसा की आरभिक शताब्दियो मे इन सम्प्रदायो ने बौद्ध धर्म के विकास मे बडा भाग लिया। अमरावती और नागार्जुनीकोंडा के अभिलेखो मे महासाघिक सम्प्रदाय की लगभग सभी शाखाओं का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि सातवाहनो की तथा उनके उत्तराधिकारियो की छत्रछाया मे यहाँ इन सप्रदायों का बडा उत्कर्ष हुआ। यह स्थिति तीसरी चौथी शताब्दी ई० तक बनी रही। अभिलेखो से यह भी प्रतीत होता है कि उन दिनो यह प्रदेश बौद्ध धर्म का इतना बडा केन्द्र हो गया था कि यहाँ काश्मीर, गधार, चीन, किरात, तोसली, अपरान्त, बग, वनवासी, यवन, द्रमिल और ताम्रपर्णि (लका) जैसे दूरवर्ती देशो से भिक्षु और भिक्षुणियाँ तीर्थयात्रा के लिये आया करती थी।[१]

महासाधिको ने महायान सप्रयदाय के विकास का पथ प्रशस्त किया। इस सप्रदाय के जन्मदाता नागार्जुन का आध्र प्रदेश से गहरा सबध था इसके कुछ सप्रदायो के नामो और सिद्धातो मे यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसकी एक शाखा **लोकोत्तरवाद** का नाम यह सूचित करता है कि वे बुद्ध को एक अलौकिक, निर्भ्रांत, सर्वज्ञ, महापुरुष मानते थे, उसमे किसी प्रकार की मानवीय त्रुटियाँ या दोष नही थे।

१. पाण्डेय--पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २८५-६ ।

वस्तुत: मानव शरीरधारी बुद्ध का इस सप्रदाय मे कोई स्थान नही है। इसके अतिरिक्त इन्होने **मूलविज्ञान** अथवा विशुद्ध चित्त के सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसके साथ ही इनका यह भी कहना था कि बोधिसत्व सामान्य प्राणी नही होते हैं, अपितु वे अलौकिक गुणों से सपन्न होते हैं। इनकी विशिष्ट कल्पनाये बुद्ध को देवता बनाना, बोधिसत्वो के विचार को जन्म देना, तथा अर्हत बनने की अपेक्षा बुद्धत्व-प्राप्ति के आदर्श को अधिक महत्वपूर्ण बनाना और मूलविज्ञान का विचार थे। इनके विचारो द्वारा विभिन्न महासांघिक सम्प्रदायो ने विज्ञानवाद अथवा योगाचार के दार्शनिक सम्प्रदाय का एव महायान के भावी विकास का बीजारोपण और सूत्रपात किया।

कुषाण वश के समय मे बौद्ध धर्म का उत्कर्ष

कनिष्क का शासनकाल बौद्ध धर्म के इतिहास मे विशिष्ट महत्त्व रखता है। यह युग कई दृष्टियों से बौद्ध धर्म का स्वर्णयुग कहा जा सकता है। इस समय उसने न केवल अशोक की भाँति बौद्ध धर्म को प्रबल सरक्षण प्रदान किया, अपितु इस युग मे ऐसे महान बौद्ध आचार्य हुये जिन्होंने तथागत के धर्म का पूरा कायाकल्प कर दिया। इसी समय गधार प्रदेश मे एक विशिष्ट कला शैली का विकास हुआ। बुद्ध की मूर्त्तियों को बहुत बड़े परिमाण मे तैयार किया जाने लगा। बौद्ध भिक्षुओं ने अपने गुरु का सदेश मध्य एशिया और चीन तक पहुँचाया। नवीन बौद्ध दार्शनिक सप्रदायो का जन्म हुआ। महायान का प्रादुर्भाव और विकास भी कुषाण काल की एक बडी देन है।

बौद्ध अनुश्रुतियाँ हमे यह बताती है कि कनिष्क बुद्ध के महापरिनिर्वाण के ४०० वर्ष बाद समूचे जम्बूद्वीप का स्वामी बना। आरंभ मे वह बौद्ध धर्म को घृणा की दृष्टि से देखता था, किंतु बाद मे वह इसका प्रबल पोषक बना।[१] युआन च्वाग ने उसके धर्म-परिवर्तन का श्रेय एक मृगया यात्रा को दिया है। एक बार शिकार खेलते हुए एक श्वेत शशक का पीछा करते हुए कनिष्क की भेंट एक गोपाल बालक से हुई।[२] उसने उसे यह भविष्यवाणी बताई कि बुद्ध के ४०० वर्ष बाद कनिष्क नामक राजा उसकी पूजा के लिये एक महान स्तूप का निर्माण करेगा। इसे सुनने के बाद राजा मे बौद्ध धर्म के प्रति अगाध अनुराग उत्पन्न हुआ। उसने भविष्यवाणी पूरा करने के लिये पुरुषपुर मे एक महास्तूप और महाविहार का निर्माण किया, जो चिरकाल तक विदेशी यात्रियो के लिए महान आश्चर्य

१. वाटर्स—ग्रान युआन च्वांग खण्ड १, पृ० २०३।

२. वही—खण्ड १, पृष्ठ २०३।

का विषय और उपासना एव तीर्थयात्रा का केन्द्र बना रहा।[1] इसका चीनी नाम सियाउली यह सूचित करता है कि इसे सस्कृत मे **आश्चर्य विहार** कहा जाता था।[2]

कनिष्क के समय की एक बड़ी घटना चौथी बौद्ध महासभा का अधिवेशन था। यह कहा जाता है कि इस समय बौद्ध सघ मे अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये थे। कनिष्क ने इन्हें दूर करने के लिये आश्चर्य विहार में रहने वाले अपने गुरु पार्श्व की अध्यक्षता मे चौथी महासभा बुलाई। इस सभा का वर्णन युआनच्वांग ने, परमार्थ ने और तिब्बती अनुश्रुति ने विभिन्न प्रकार से किया है। चीनी यात्री के अनुसार कनिष्क बुद्ध के उपदेशो की अनेक आचार्यो द्वारा की जाने वाली विभिन्न व्याख्याओ से बडा विक्षुब्ध हुआ, उसने पार्श्व की सहायता से काश्मीर मे एक बौद्ध महासभा बुलाने का निश्चय किया। इसमे भाग लेने के लिये सब देशो से बौद्ध भिक्षुओ को बुलाया गया। वसुमित्र इसके सभापति चुने गये। इसमे धर्मशास्त्रो के सभी कठिन एव दुरुह स्थलो के विषय मे विचार-विमर्श और वादविवाद किया गया। इसके बाद सूत्र, विनय और अभिधर्म पिटक मे से प्रत्येक पिटक पर एक-एक *लाख श्लोको की प्रामाणिक टीकाये या विभाषाये लिखी गई।* कनिष्क के आदेश से इन विभाषाओ को ताम्रपत्रो पर उत्कीर्ण करके एक स्तूप मे रखा गया। परमार्थ ने वसुबधु की जीवनी मे इसका कुछ भिन्न प्रकार का वर्णन किया है। उसके कथनानुसार काश्मीर मे इस बौद्ध महासभा को बुलाने का श्रेय कात्यायनीपुत्र को है, ये सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म पिटक के एक प्रमुख ग्रथ-**ज्ञानप्रस्थान सूत्र** के लेखक थे। इस सबध मे तीसरा वर्णन तिब्बती अनुश्रुति का है। इसके अनुसार इसमे मुख्य भाग लेने वाले व्यक्ति पार्श्व की अध्यक्षता मे ५०० अर्हत और वसुमित्र के नेतृत्व मे ५०० बोधिसत्व थे। इस परम्परा का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि बाद मे जो दो पक्ष हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध हुये, उनके विभिन्न दृष्टिकोणो का प्रतिनिधित्व इस महासभा मे पार्श्व और वसुमित्र ने किया। इस महासभा ने यह भी स्वीकार किया कि बौद्ध धर्म के अठारह सप्रदाय बुद्ध के उपदेशो की अपने दृष्टि-कोण से सही व्याख्या करते है और बौद्ध धर्म के वास्तविक सिद्धातो का प्रतिपादन

---

१. युआन च्वाग ने इस स्तूप की ऊचाई ४०० फीट लिखी है। सुंग युन कहता है कि इस के ऊपर ३०० फीट ऊंचा स्वर्णपत्र मण्डित लौह-स्तम्भ था, इस प्रकार इसकी पूरी ऊचाई ७०० फीट थी। कुछ अन्य लेखक इसे ८०० तथा १००० फीट ऊंचा मानते थे।

२. वाटर्स—पृ० २०७ खण्ड १ ।

करते हैं। इस अनुश्रुति के अनुसार इस महासभा का अधिवेशन जालंधर के कुवन नामक स्थान में हुआ जबकि पहली दो अनुश्रुतियाँ इसका स्थान काश्मीर का कुंडलवन नामक विहार मानती हैं।

इन सब वर्णनो से यह स्पष्ट है कि इस महासभा की बैठक सर्वास्तिवादियों के गढ़—काश्मीर मे हुई थी। इसमें भाग लेने वाले प्रधान बौद्ध भिक्षु इसी सम्प्रदाय के थे; अत. यद्यपि इस महासभा ने अन्य सम्प्रदायो की व्याख्याओ को सुना होगा, किन्तु अत में इसने सर्वास्तिवादी व्याख्या को स्वीकार किया होगा। आधुनिक ऐतिहासिको का यह विचार है कि इसमें कनिष्क के भाग लेने की बात सदेह-पूर्ण है। पालि साहित्य मे इस महासभा का कोई उल्लेख नही किया गया है। सभवत. इसका कारण यह है कि वे इसे समूचे बौद्ध संघ की सभा न समझ कर सर्वास्तिवादियों की साम्प्रदायिक सभा समझते थे।

बौद्ध धर्म के आचार्य

कनिष्क का काल बौद्ध धर्म के महान आचार्यो को उत्पन्न करने के लिये भी उल्लेखनीय है। इनमे सर्वोच्च स्थान अश्वघोष का है। ये साकेत निवासी ब्राह्मण थे, एक शास्त्रार्थ मे पार्श्व से पराजित होकर बौद्ध भिक्षु बने थे।[1] इस प्रकार इन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। अन्यत्र ग्यारहवें अध्याय में इनकी साहित्यिक प्रतिभा और कृतियो का उल्लेख किया जा चुका है। अपनी अगाध विद्वत्ता और पाडित्य के कारण इनकी कीर्ति दिग्दिगन्त मे फैल गई, कनिष्क ने मगधराज को पराजित करके इन्हें अपने दरबार के लिये प्राप्त किया। बुद्ध-चरित तथा सौन्दर-नंद काव्यों तथा सारिपुत्र प्रकरण नामक नाटक के प्रणयन के अतिरिक्त उन्हें बौद्ध धर्म में एक नवीन दर्शन-पद्धति को जन्म देने का श्रेय दिया जाता है। इसके अनुसार अन्तिम सत्ता अनिर्वचनीय है। महायान सम्प्रदाय के दर्शन के एक ग्रथ **श्रद्धोत्पाद-शास्त्र** के प्रणेता भी यही बताये जाते हैं। यह ग्रथ अब केवल चीनी भाषा मे ही मिलता है। इसमे योगाचार दर्शन के सिद्धातो का प्रतिपादन है। श्री विमलचरण लाहा का यह मत है कि **श्रद्धोत्पादशास्त्र** का प्रणेता दार्शनिक अश्वघोष, बुद्ध-चरित के कवि अश्वघोष से भिन्न था[2] और उसके काफी समय बाद हुआ। चीनी साहित्य मे अश्वघोष द्वारा दार्शनिक विषयो का विवेचन करने वाले राष्ट्रपाल नाटक का भी उल्लेख है, किंतु यह अब उपलब्ध नहीं होता है।

---

१. **वाटर्स—ख० १, पृ० २०६।**

२. **बी० सी० ला—अश्वघोष।**

इस समय का दूसरा महान आचार्य वसुमित्र था। वस्तुत इस नाम वाले कई व्यक्ति हुए। इन्हें चीनी तथा तिब्बती इतिहासो मे मिला दिया गया है। इनमें तीन वसुमित्रों का उल्लेख है। पहला वसुमित्र बुद्ध के निर्वाण के ३०० वर्ष बाद हुआ, इसने सर्वास्तिवादी अभिधर्म पिटक के दो ग्रंथ लिखे। दूसरा वसुमित्र निर्वाण के ४०० वर्ष बाद हुआ। इसने पार्श्व को महाविभाषा लिखने मे सहायता दी। तीसरा वसुमित्र एक सौत्रान्तिक आचार्य था। किंतु आधुनिक ऐतिहासिक पहले और दूसरे वसुमित्र को अभिन्न समझते है। उनका यह विचार है कि उसने सर्वास्तिवादी सप्रदाय के साहित्य का चौथी महासभा मे बड़ा महत्वपूर्ण सम्पादन किया, उपर्युक्त ग्रथ इसी समय लिखे गये। इनके अतिरिक्त वसुमित्र की एक महत्वपूर्ण कृति बौद्ध धर्म के १८ निकायो का इतिहास भी है।

धर्मत्रात वसुमित्र के मामा थे। तारानाथ ने लिखा है कि भदत धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव वैभाषिक सम्प्रदाय के चार महान आचार्य थे। धर्मत्रात ने भी सभवतः विभाषा के सकलन मे सहयोग दिया होगा। धम्मपद के एक सस्कृत रूपान्तर उदानवर्ग के सकलन का श्रेय भी इनको दिया जाता है। यह मध्य एशिया से उपलब्ध हुआ है। इसमे पालि धम्मपद की अपेक्षा अधिक पद्य पाये जाते है।

घोषक कनिष्क के समय का एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् था। यह तुखार जाति मे उत्पन्न हुआ था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार चौथी महासभा एव कनिष्क की मृत्यु के बाद अश्मापरात नामक देश के राजा ने वसुमित्र और घोषक को अपने राज्य में बुलाया था। यह राज्य काश्मीर के पश्चिम मे तुखार देश के निकट था। विभाषा मे बहुधा इसके उद्धरण दिये गये है। इससे यह सूचित होता है कि इसने इसके सकलन मे भाग लिया था। **अभिधर्मामृतशास्त्र** के प्रणयन का श्रेय इसे दिया जाता है। इसमे सर्वास्तिवादी अभिधर्म के मौलिक सिद्धातो का बड़ा सुस्पष्ट प्रतिपादन किया गया है।

इस समय के एक अन्य आचार्य बुद्धदेव का विभाषा मे उल्लेख है। यह संभवत· मथुरा के सिंहस्तम लेख में वर्णित बुधिल नामक आचार्य से अभिन्न है। बुद्धदेव और धर्मत्रात का यह सिद्धात था कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता है। इसके साथ ही बुद्धदेव यह भी मानता था कि चित्त की विभिन्न स्थितियाँ चेतना या विचार (विज्ञान) के विभिन्न रूप हैं।

कनिष्ककालीन दार्शनिक संप्रदाय

कनिष्क के समय में सर्वास्तिवाद के दो दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। चौथी महासभा मे जिस विभाषा का संकलन किया गया था, अब उसे सर्वास्तिवादी अभिधर्म का प्रामाणिक आधार बनाया गया। इससे विभाषा पर बल देनेवाला **वैभाषिक** आन्दोलन आरम्भ हुआ। इसके अनुसार बौद्ध धर्म के सभी मौलिक मन्तव्यों की व्याख्या विभाषा की और सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म की सहायता से की जाती थी, इसलिए इन्हें आभिधार्मिक भी कहा जाता था। वसुमित्र, घोषक, धर्मत्रात और बुद्धदेव वैभाषिक आन्दोलन के नेता थे। वैभाषिकों के कुछ समय बाद **सौत्रान्तिक** नामक दूसरे सम्प्रदाय का जन्म हुआ। ये बुद्ध की शिक्षाओ का एकमात्र प्रामाणिक स्रोत उनके सूत्रो को ही समझते थे, इसके लिए अभिधर्म और विभाषा का प्रामाण्य नही स्वीकार करते थे। सूत्रो पर बल देने के कारण यह सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहलाता था। इसके पूर्ण विकास का श्रेय कनिष्क के कुछ समय बाद होने वाले एक विद्वान् कुमारलात को है। अश्वघोष, नागार्जुन और आर्यदेव के साथ कुमारलात की गणना बौद्ध धर्म के चार भास्वर नक्षत्रो मे की जाती है। कुमारलात के दो शिष्य श्रीलात और हरिवर्मा हुये। हरिवर्मा की एक कृति **तत्वसिद्धिशास्त्र** है। कुमारजीव ने ४ थी श०ई० के अन्त मे इसका चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। सौत्रान्तिको का विशेष सिद्धान्त यह था कि बाह्य जगत् के पदार्थों की कोई सत्ता नही है, वे हमारी सूक्ष्म चेतना की प्रतिकृति (Image) मात्र है।

महायान का अभ्युदय और विकास

कनिष्क के समय की एक अन्य बडी घटना महायान सम्प्रदाय का आविर्भाव था। यह चतुर्थ महासभा के बाद हुआ। इस महासभा के विषय में परमार्थ और तारानाथ द्वारा दिये गए विवरणो से प्रतीत होता है कि यह प्रवृत्ति बौद्ध धर्म मे पहले से शुरू हो गई थी, किन्तु इस समय से उसका विशेष उत्कर्ष होने लगा। तारानाथ के कथनानुसार कनिष्क के पुत्र के शासनकाल मे महायान सम्प्रदाय का इतना उत्कर्ष हो चुका था कि तरुण भिक्षुओ ने महायान ग्रंथो का निर्माण आरम्भ कर दिया था, पुराने बूढे भिक्षुओं ने इसमे कोई बाधा नही डाली। **अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता** नामक ग्रथ मे महायान के आरम्भिक विकास और प्रसार एक का बड़ा रोचक परिचय देते हुए भविष्यवाणी के रूप मे यह कहा गया है कि पारमिताओ का उपदेश करने वाले ग्रन्थो का प्रचार बुद्ध के निर्वाण के बाद पहले दक्षिणापथ (दक्षिणी

भारत) में और यहाँ से पूर्व की ओर और पूर्व से उत्तर की ओर होगा।[1] प्रज्ञापारमिता का पहला चीनी अनुवाद १४८ ई० मे लोकरक्ष ने किया था । अतः यह कल्पना की जा सकती है कि महायान के उपर्युक्त विकास-क्रम को स्पष्ट करने वाला ग्रथ पहली शताब्दी ई० तक अवश्य लिखा जा चुका होगा। यो तो प्रज्ञापारमिता नामक वाले अनेक ग्रथ मिलने है, इनका निर्माण-काल भी अलग-अलग है, किन्तु इनमें प्राचीनतम अष्टसाहस्त्रिका ही है। उसका काल पहली शता० ई० होने से इस समय महायान की सत्ता निर्विवाद है। इसके दक्षिण भारत से उत्पन्न होने की पुष्टि तिब्बती अनुश्रुति से तथा नागार्जुनीकोडा और अमरावती मे मिले अभिलेखो से भी होती है। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार महासाधिक लोगो के शैल संप्रदायो की एक प्रज्ञापारमिता प्राकृत भाषा मे भी थी। तारानाथ ने पूर्व मे इसके प्रसार का वर्णन करते हुए कहा है कि अगदेश वासी अर्हत नन्द महायान के सिद्धान्तो के एक महान व्याख्याता थे। इन सब प्रमाणो के आधार पर महायान के अभ्युदय के बारे मे यह कल्पना की गई है कि आँध्र प्रदेश मे, प्रथम शताब्दी ई० पू० मे, महासाघिको के केन्द्र अमरावती नागार्जुनी कोडा में इसका प्रादुर्भाव हुआ। कनिष्क के समय तक इसे बौद्ध धर्म का एक विशेष रूप मान लिया गया। उसके बाद पहली अथवा दूसरी शता० ई० मे नागार्जुन के नेतृत्व मे इसका पूर्ण विकास हुआ।

नागार्जुन

महायान दर्शन का सर्वप्रथम प्रतिपादन नागार्जुन ने किया। इसके सबंध मे अनेक प्रकार की दन्तकथाये चीनी और तिब्बती साहित्य मे मिलती है। इनमे सभवत नागार्जुन नाम वाले दो व्यक्तियो को मिला दिया गया है। इनमें से एक तो सुप्रसिद्ध कीमियागर लोहशास्त्र का प्रणेता और तान्त्रिक आचार्य था और दूसरा माध्यमिक दर्शन का प्रवर्तक नागार्जुन। कुमारजीव ने ४०५ ई० मे नागार्जुन की जीवनी का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। इसके अनुसार इनका जन्म दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ था, किन्तु युआन च्वाग का कहना है कि उनका जन्म दक्षिण कोशल या प्राचीन विदर्भ (बरार) में हुआ। नागार्जुन ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का ९० दिन मे अध्ययन कर लिया, किन्तु इससे उनको सतोष नही हुआ।

---

१. अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता। सम्पादक राजेन्द्र लाल मित्र ; पृष्ठ २२५, इमे खलु पुनः शारिपुत्रषट्पारमिता प्रति संयुक्ताः सूत्रान्त ·· · · ····दक्षिणापथे प्रचरिष्यन्ति दक्षिणापथात् पुनरेव वर्तन्यां प्रचरिष्यति वर्तन्याः पुनरुत्तरापथे प्रचरिष्यन्ति।

हिमालय मं रहने वाले एक अतीव वृद्ध भिक्षु से उन्हें महायान के सूत्र प्राप्त हुए। उनके जीवन का अधिकाश समय दक्षिण भारत के श्रीपर्वत या श्रीशैलम् मे बीता इसे उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार का अद्वितीय केन्द्र बना दिया। नागार्जुन ने महा-यान सप्रदाय का अनुयायी होते हुए भी हीनयानियो से कोई विरोध नही रखा, किन्तु उनके कल्याण का प्रयत्न किया। वह एक कठोर अनुशासन रखने वाला व्यक्ति था। उसने विनय के नियमों का पालन करने मे शिथिलता दिखाने वाले भिक्षुओ की एक बड़ी सख्या को सघ से निष्कासित किया था। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार वे नालदा मे भी रहे, यहाँ वे सघ के अध्यक्ष बने। इनके समय मे नालंदा की कीर्त्ति बुद्धगया (वज्रासन) से भी अधिक बढ गई। जिस समय यह नालदा के प्रधान सघाधीश थे उस समय इनके अनुयायियो मे मतभेद होने से योगाचार सम्प्रदाय का जन्म हुआ।[1]

चीनी साहित्य मे नागार्जुन के नाम से बीस रचनाये मिलती है। ११वे अध्याय मे इनका उल्लेख हुआ है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र मे इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना **माध्यमिककारिका** या **माध्यमिक शास्त्र** है। नागार्जुन ने स्वयमेव अकुतोभया के नाम से इसकी एक व्याख्या लिखी थी। यह उनके दर्शन का आधारभूत ग्रथ है। इसमे महायान सूत्रों मे निर्दिष्ट उपदेशो का सक्षिप्त प्रतिपादन किया गया है। यह अपनी ऊँची दार्शनिक उडान और तर्कविद्या मे सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के कारण अतीय ग्रथ है और लेखक की विलक्षण प्रतिभा और मेधा को प्रदर्शित करता है। वस्तुतः नागार्जुन हमारे देश के प्राचीन दार्शनिको मे एक अतीव महत्वपूर्ण स्थान रखते है। उनके द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद न केवल बौद्ध अपितु भारतीय दर्शन की एक बडी गौरवपूर्ण देन है। युआन च्वाग ने यह लिखा है कि वे ससार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यो मे से एक थे। शेष तीन सूर्य अश्वघोष, कुमारलात और आर्यदेव थे। इसमे कोई सन्देह नही कि भारतीय दर्शन मे उनसे तुलना करने वाले दार्शनिक इने-गिने हैं। वाटर्स ने नागार्जुन को उत्तरकालीन बौद्ध धर्म का एक महान् आश्चर्य और रहस्य कहा है।

नागार्जुन के सम्बन्ध मे लंकावतार (पृष्ठ २८६), मजुश्रीमूलकल्प (पृष्ठ २१६) आदि अनेक ग्रथो मे यह भविष्यवाणी मिलती है कि उनका जन्म बुद्ध के

---

१. **सिलव्यां लेवी—बुलेटिन श्राफ दि स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज, खंड ६, पृष्ठ ४१७—२६।**

निर्वाण के ४०० वर्ष बाद होगा। यदि बुद्ध के निर्वाण की तिथि ४८३ ई० मानी जाय तो उनका समय पहली शताब्दी ई० मे मानना पड़ेगा।

महायान के सिद्धान्त

पहली शताब्दी ई० मे महायान का उत्कर्ष होने पर भी उसके विचार प्राचीन थे। शनै. शनै ये विचार प्रबल हुए। बौद्ध ग्रथो मे हमे यही बात दिखाई देती है। वस्तुत. कुछ ग्रथ हीनयान सप्रदाय के है, किन्तु उनमे महायानी विचार और प्रवृत्तियाँ मिलती है। किसी ग्रथ के महायानी होने की सबसे बडी कसौटी यह है कि उसमें निम्नलिखित सिद्धान्तो का प्रतिपादन हो[1] —

(१) धर्मशून्यता का अथवा दृश्यमान जगत् के पदार्थों की अवास्तविकता का, इससे पहले पुद्गल शून्यता अथवा आत्मा-जैसे पदार्थों की अवास्तविकता का सिद्धान्त प्रचलित था।

(२) असख्य बुद्धो एव बोधिसत्वो मे विश्वास।

(३) भक्तिभाव मे बुद्ध आदि बौद्ध देवताओं की पूजा।

(४) मुक्ति प्राप्त करने के लिये मत्रो का प्रयोग।

अब यहाँ महायान के प्रमुख सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जायेगा।

(१) **भक्तिवाद**—ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे समूचे भारत मे भक्तिवाद की एक प्रबल लहर चल रही थी। बौद्ध धर्म भी उससे प्रभावित हुआ। इस समय इस भक्ति के कारण बुद्ध की प्रतिमा का अविर्भाव हुआ। पहले बौद्ध धर्म मे व्यक्ति का लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना था। उसमे वैयक्तिक साधना पर बहुत बल दिया जाता था और किसी प्रकार की मूर्तिपूजा का कोई स्थान नही था। किन्तु शीघ्र ही बुद्ध के अवशेषो पर बने हुए स्तूपो और चैत्यो की पूजा आरम्भ हो गई। यह प्रवृत्ति भी बौद्ध धर्म मे बडी पुरानी थी। महापरिनिर्वाणसुत्त मे स्तूपो और चैत्यो के बनाने और बुद्ध के भस्मावशेष प्राप्त करने के लिए सघर्ष करने का भी वर्णन है। इसमे बौद्ध उपासको को न केवल यह निर्देश दिया गया है कि वे स्तूपो की पूजा करे, अपितु बुद्ध के जन्म, बोधि-प्राप्ति, धर्मचक्र प्रवर्तन और निर्वाण से सबद्ध स्थानो की तीर्थयात्रा करने का भी उल्लेख है। किन्तु फिर भी ५०० वर्ष तक बुद्ध की कोई मूर्त्ति नही बनाई गई, उनकी पूजा बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि के प्रतीको से ही की जाती रही। किन्तु ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे भक्तिवाद की लहर भारत मे इतने

१. ए० इं० यू० पृ० ३८७।

प्रबल रूप से चली कि उसने बौद्ध धर्म को आप्लावित कर लिया। बुद्ध की मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा मे बनाई जाने लगी और बुद्ध के अवशेषो और स्तूपों की पूजा बड़ी धूमधाम से होने लगी। इनके माहात्म्य और महिमा का वर्णन पुराणो की भाँति बड़े अतिरंजित रूप मे किया जाने लगा। उदाहरणार्थ **आर्यमहाकरुणापुण्डरीक सूत्र** के अनुसार बुद्ध के लिये आकाश मे भी एक फूल चढाने का फल अनन्त और निर्वाण प्रदान करने वाला माना गया है। **आर्यश्रद्धाबलाधानावतार मुद्रासूत्र** के अनुसार चित्र-लिखित बुद्ध को देखने का पुण्य भी **प्रत्येकबुद्धों** को दिए हुए असख्य दान से अधिक है।[1] भक्तितत्व पर इस प्रकार बल देने से महायान का आकर्षण जनता के लिये बहुत बढ गया। इससे पहले व्यक्ति कठोर साधना से ही निर्वाण पा सकता था, अब उसे यह एक फूल चढाने से बडी सुगमता से प्राप्त होने लगा। महायान को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने भक्ति द्वारा निर्वाण-प्राप्ति को साधारण जनता के लिये बड़ा आसान बना दिया।

(२) **बोधिसत्व और पारमिताओ का विचार**--महायान से पहले पुराने बौद्ध धर्म अथवा हीनयान मे प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्वाण के लिये प्रयास करता था, किन्तु महायानियो ने इसे स्वार्थपूर्ण उद्देश्य मानते हुये बोधिसत्व के विचार का विकास किया। बोधिसत्व वह व्यक्ति है जो विभिन्न पारमिताओ को प्राप्त करता है और बुद्धत्व प्राप्ति द्वारा केवल अपने लिये निर्वाण नही प्राप्त करना चाहता, अपितु ससार के सभी प्राणियो का विभिन्न प्रकार के दुखो से उद्धार करना ही अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। पारमिता का अर्थ किसी विशेष गुण का उच्चतम सीमा अथवा पराकाष्टा तक विकास करना है। ये गुण पहले ६ और बाद मे १० माने जाने लगे, जैसे दान, सच्चरित्रता या शील, सहिष्णुता या शाति, नैतिक शक्ति (वीर्य), मानसिक एकाग्रता (ध्यान), सत्य की अनुभूति (प्रज्ञा), विभिन्न उपायो को ढूढने मे निपुणता (उपायकौशल्य), दृढ सकल्प (प्रणिधान), ज्ञान, कुछ शक्तियो की प्राप्ति। इनमे मे एक-एक पारमिता की पराकाष्टा तक पहुँचने के लिये अनेक जन्म ग्रहण करने पडते थे। बोधिसत्व का यह विचार सर्वप्रथम पालि की जातक कथाओं मे मिलता है। सर्वास्तिवादियो ने इसपर बहुत बल दिया और ललितविस्तर मे इसका विस्तार से प्रतिपादन हुआ। किन्तु शुरू मे यह समझा जाता था कि इस प्रकार नाना जन्मो मे पारमिताओ का अभ्यास करके बोधिसत्व बनने वाला व्यक्ति बहुत

---

१. पाण्डेय--बौद्ध धर्म का विकास पृ० ३०५।

ही विरल, गौतम बुद्ध की भाँति एक कल्प मे एक ही होता है, किन्तु महासांधिकों ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि प्रत्येक व्यक्ति पारमिताओ के अभ्यास से बोधिसत्व और बुद्ध बन सकता है। अत. असख्य बोधिसत्वो मे विश्वास की भावना का विकास होने लगा।

(३) **अलौकिक बुद्ध की कल्पना और त्रिकायवाद** :--पुराने बौद्ध धर्म अथवा हीनयान मे बुद्ध एक मानवीय प्राणी थे। महासाधिको ने और इनकी एक शाखा लोकोत्तरवादियो ने सर्वप्रथम बुद्ध को अलौकिक बनाना शुरू किया। इसकी अतिम परिणति महायान के त्रिकायवाद के सिद्धान्त में हुई। इसके अनुसार बुद्ध के निम्नलिखित तीन रूप माने जाने लगे-(१) **निर्माणकाय** अथवा बुद्ध का मानवीय रूप धारण करना।(२)**संभोगकाय** अथवा बुद्ध का अमानवीय और अलौकिक शरीर जो विभिन्न प्रकार के देवी-देवताओ, साधु-महात्माओ मे प्रगट होता है यह उसका आनन्द और बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण रूप है। (३) **धर्मकाय**-यह सब बुद्धो का एक सामान्य, सारभूत पूर्ण और निरपेक्ष रूप है। बौद्ध निकायों के अनुसार यह तथागत का मनोमय रूप है। वह अपनी इच्छानुसार अपनी इस विशाल सृष्टि के किसी भी प्राणी के रूप मे अपनी इच्छानुसार कही भी कितने भी समय के लिये और किसी भी देवता के रूप मे प्रगट हो सकते है। सद्धर्मपुण्डरीक के मतानुसार बुद्ध महान करुणा के सागर हैं और इनकी करुणा से ही सब प्राणियो का उद्धार होता है। बोधिसत्व भी इसी कार्य मे लगे रहते है। ईसा की आरम्भिक शताब्दियो में बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियो का निर्माण इसका प्रमाण है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि महायान ईसा की आरम्भिक शताब्दियों मे पुराने बौद्ध धर्म का एक नवीन विकसित रूप था। हीनयानी प्राय. महायान पर यह आक्षेप किया करते थे कि इसका उपदेश बुद्ध ने नही दिया है तथा इसका प्रत्येक व्यक्ति द्वारा बुद्धत्व-प्राप्ति का लक्ष्य अव्यावहारिक और अक्रियात्मक है। महायानी आचार्यों ने इनका प्रबल खंडन किया है। उनका यह कहना था कि तथागत ने हीनयान का उपदेश सारनाथ के प्रसिद्ध धर्मचक्र प्रवर्तन द्वारा पाँच भिक्षुओ के सम्मुख किया था, किन्तु महायान का उपदेश उन्होने राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर बोधिसत्वो की एक विशाल सभा मे किया था। नागार्जुन ने इसकी व्याख्या एक दूसरे ढग से करते हुए कहा है कि बुद्ध के उपदेश दो प्रकार के हैं--गुह्य और व्यक्त। पहले महत्वपूर्ण उपदेश बोधिसत्वो को दिये गये थे और दूसरे अर्हतो को।

नवीन दाश निक दृष्टिकोण

महायान मे बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तो की अब नए आदर्शवादी दृष्टिकोण से व्याख्या की गई और दो नई विचारधाराओ ने जन्म लिया। पहली विचारधारा माध्यमिक दार्शनिको की और दूसरी योगाचार की थी। पहले यह बताया जा चुका है कि नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन के शून्यवाद का प्रतिपादन किया था। इनके बाद आर्यदेव ने इनका समर्थन किया। ये दोनो दक्षिणी भारत के रहने वाले थे। नागार्जुन का कार्यक्षेत्र सभवत' आन्ध्रप्रदेश और धान्यकटक था। उसे अपने सिद्धान्तों के प्रसार मे सातवाहनवश के राजाओ की भी कुछ सहायता मिली थी। एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सातवाहन राजाओ ने महायान धर्म का प्रसार किया। इस विषय मे एक बौद्धग्रन्थ की यह भविष्यवाणी उल्लेखनीय है कि "दक्षिण भारत मे सातवाहन नाम का एक राजा होगा। जब इस धर्म का लोप होने वाला होगा, उस समय वह प्रगट होगा और महाधर्म के वैपुल्य सूत्र का प्रचार करेगा और धर्म को लुप्त होने से बचायेगा।" यह पहले बताया जा चुका है कि सातवाहन राजा बौद्ध धर्म के समर्थक थे और उनके समय मे धान्यकटक और इसका समीपवर्ती प्रदेश महासांघिक सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र था। यही नागार्जुन ने अपने शून्यवाद के नवीन सिद्धान्तो का विकास किया जिसके अनुसार दृश्यमान जगत मे अन्तिम पारमार्थिक सत्य की दृष्टि से कोई भी वस्तु सत्य नही है। दूसरा सप्रदाय योगाचार इसके कुछ समय बाद विकसित हुआ। इसके सर्वोत्तम व्याख्याता पुरुषपुर के रहने वाले असँग और वसुबधु थे। इनका समय ४थी शता० ई० माना जाता है, किन्तु योगाचार के सिद्धान्तो का विकास इससे पहले कुषाण युग मे ही हो गया था, क्योकि अनेक विद्वानों के मतानुसार इस सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक बोधिसत्व मैत्रेय अथवा मैत्रेयनाथ थे।

महायान की लोकप्रियता

कुषाण वंश के समय से ही महायान की लोकप्रियता और विस्तार बढने लगा। इसकी लोकप्रियता के दो बडे कारण थे। पहला कारण इसका प्रतिपादन करने वाले दार्शनिकों की महत्ता और दिग्गज होना था। नागार्जुन, आर्यदेव, असंग, वसुबंधु और दिङनाग की गणना भारत के ही नही, अपितु विश्व के दार्शनिकों में की जा सकती है। इन्होंने महायान बौद्ध धर्म के दर्शन का ऐसा प्रतिपादन किया कि वह तत्कालीन बुद्धिवादियों को बड़ा रुचिकर और ग्राह्य प्रतीत हुआ। इस प्रकार विद्वत्

समाज में महायान का दर्शन समादृत हुआ। इसकी लोकप्रियता का दूसरा कारण यह था कि साधारण जनता के लिए यह हीनयान की अपेक्षा अधिक रुचिकर, सुगम और आकर्षक था। हीनयान के पुराने सिद्धान्तो मे आत्मा को और ईश्वर को नहीं माना गया था। इस नास्तिक विचारधारा को महायान ने आस्तिक रूप प्रदान किया। इसमे बुद्ध को न केवल अलौकिक व्यक्ति और पूजनीय देवता बना दिया गया, अपितु बोधिसत्वों की पूजा भी इसमे सम्मिलित की गई। ये बोधिसत्व मानव जाति के परित्राता और दुःखो से उद्धार करने वाले थे। **अवलोकितेश्वर** जैसे बोधिसत्व सदैव सारे संसार मे इस बात का अवलोकन करते रहते थे कि कौन व्यक्ति दुःख से पीड़ित होकर उनके नाम का स्मरण करता है। वे भक्तो के प्रति दयालु और दीनवत्सल थे, सदैव इनके उद्धार मे लगे रहते थे। वे अपने अच्छे कर्मों के फल से दूसरे प्राणियों का उद्धार एव उपकार करने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। हीनयान मे निर्वाण-प्राप्ति और अर्हत बनना बडी कटोर साधना का परिणाम था, किन्तु महायान ने अब भक्ति के सिद्धान्त मे निर्वाण को सुगम बना दिया।

हीनयान और महायान की तुलना—महायान कुषाण एव परवर्ती युगो मे विकसित हुआ बौद्ध धर्म का एक रूप है, हीनयान बौद्ध धर्म का आरम्भिक रूप है। हीनयानियो का यह दावा है कि उन्होने बौद्ध धर्म के मूल रूप को अधिक दृढता से पालि ग्रन्थो मे सुरक्षित रखा है। हीनयान के अधिकाश ग्रन्थ पाली मे है, उनका दृष्टिकोण कट्टर और अपरिवर्तनशील है। वे बुद्ध की मौलिक शिक्षाओ, अष्टाग-मार्ग, चार आर्य सत्य और दशशील आदि नैतिक नियमो द्वारा निर्वाण प्राप्त करने का उद्देश्य वाछनीय समझते है, उनके धर्म मे बुद्ध मानवीय महापुरुष है, उनके यहा मूर्ति की पूजा का कोई स्थान नही है। हीनयान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही प्रयत्न से अपना निर्वाण प्राप्त करना चाहिये। तथागत ने अपनी मृत्यु मे पहिले भिक्षुओ को आत्मशरण और आत्मदीप होने का उपदेश दिया था। इसका यह तात्पर्य था कि उन्हे अपने निर्वाण की प्राप्ति स्वयमेव करनी पडेगी। इसमें उन्हे किसी दूसरे व्यक्ति से सहायता नही मिल सकती है। इसके साथ ही हीनयान के अनुसार मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण-प्राप्ति है। इसके बाद स्वर्गलोक अथवा परलोक की कल्पना का कोई स्थान नही है। दार्शनिक दृष्टि मे हीनयान आत्मा की सत्ता का निराकरण करता हुआ पुद्गलशून्यता का उपदेश देता है। इसके अनुसार बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता नही है।

किन्तु महायान उपर्युक्त सभी सिद्धान्तो के प्रतिकूल अपने नवीन मंतव्यों की

स्थापना करता है। महायान के अन्य नाम **बुद्धयान**, **बोधिसत्वयान** अथवा **एकयान** है। महायानी अपनी साधना की पद्धति को ही एकमात्र वास्तविक मार्ग या यान होने के कारण **एकयान** कहते है। इसे **बोधिसत्वयान** कहने का कारण यह है कि इसमें बोधिसत्वो के सिद्धान्त पर बड़ा बल दिया जाता है। पहले यह बताया जा चुका है कि बोधिसत्व बुद्धत्व की प्राप्ति मे लगे हुए ऐसे महापुरुष है, जो अपने निर्वाण को गौण समझते हुए दुःखमग्न अन्य प्राणियो के उद्धार मे लगे रहते है। महायान महाकरुणा से प्रेरित है और सबके निर्वाण को अपना लक्ष्य मानता है; इसीलिए इसे महायान कहा जाता है, क्योंकि इसमे आकाश के समान अनन्त सत्वो के दुःखो से मुक्त होने के लिये अवकाश है।[1] महायानियो के मतानुसार आकाश के समान महान इस मार्ग का उपदेश तथागत ने बड़ा महत्वपूर्ण समझते हुए साधारण जनता को न करके, गूढ दार्शनिक तत्वो को समझने वाले प्रतिभाशाली महत्वपूर्ण व्यक्तियो को ही किया था। हीनयान इसकी अपेक्षा निम्न कोटि के व्यक्तियो के लिये निर्वाण का पथप्रदर्शन करने वाला था। इस प्रकार इन दोनो मे अधिकारी भेद का एक बड़ा अन्तर है। महायान तथागत के वे वास्तविक उपदेश है, जो गुह्य रूप मे उन्होंने अपने जीवनकाल मे विशिष्ट व्यक्तियो को दिये थे। तीसरा भेद साधन विषयक है। पहले यह बताया जा चुका है कि महायान के अनुसार पारमिताएं और बोधिसत्व बहुत महत्व रखते है। चौथा भेद दार्शनिक दृष्टि का है। हीनयान केवल आत्मा की सत्ता से इन्कार करता है, किन्तु महायान शून्यवाद का प्रतिपादन करता हुआ वाह्य एव आन्तरिक जगत का खण्डन करता है। महायान का समूचा साहित्य सस्कृत भाषा मे है। इसमे बुद्ध के अलौकिक रूप को इतना अधिक महत्व दिया गया है कि उसका मानवीय रूप सर्वथा लुप्त हो गया है। आजकल महायान सप्रदाय का प्रसार अधिकतर भारत के उत्तरवर्ती देशो—चीन, जापान, मगोलिया, तिब्बत मे है, अत. इसे उत्तरी बौद्ध धर्म (Northern Buddhism) कहा जाता है जबकि भारत के दक्षिणी एव दक्षिण-पूर्वी देशो—लका, बर्मा, स्याम मे हीनयान का प्रचार है, अतः यह दक्षिणी बौद्ध धर्म (Southern Buddhism) के नाम से प्रसिद्ध है।

उपसंहार—इस समय महायान सप्रदाय का विकास होने से बौद्ध धर्म को एक अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। समूचे भारत मे और इसकी सीमाओ से बाहर

---

१. **अष्टसाहस्रिका पृ० २४, यथा आकाशो अपरिमेयाणा असख्येयानाम् सत्वानाम् अवकाश. एवमेव भगवन् अस्मिन् याने ।**

उसका प्रसार हुआ। भारत के विभिन्न प्रदेशो मे बौद्धधर्म के प्रचलन और जनप्रिय होने का बड़ा प्रमाण उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से दक्षिणी भारत तक उपलब्ध होने वाले विभिन्न अभिलेख हैं। ईसा की पहली तीन शताब्दियो की अवधि के १००० से कुछ अधिक अभिलेख अब तक उपलब्ध हुए है। इनमें अधिकाश लेख बौद्ध धर्म से सबध रखते है। इस समय के वास्तुकला के अवशेषो से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। साची, भारहुत, अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा के स्तूप विभिन्न प्रदेशो में बौद्ध धर्म के प्रसार को सूचित करते है। कुषाण युग मे पेशावर मे कनिष्क द्वारा बनवाया हुआ सुप्रसिद्ध स्तूप सदियो तक विदेशी यात्रियों के लिये महान आश्चर्य का विषय बना रहा। सिन्धु नदी से परे शिनकोट जैसे दुर्गम पहाड़ी स्थानो मे भी इस धर्म के अवशेष मिले है। इस समय न केवल कुषाण राजाओ ने बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया, अपितु सातवाहन और इक्ष्वाकु राजा तथा पश्चिमी क्षत्रप भी बौद्ध धर्म के महान पृष्ठपोषक थे।

इस समय महायान की लोकप्रियता से यह कल्पना नही कर लेनी चाहिए कि सर्वत्र इसी सम्प्रदाय का प्रसार था। अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा के अभिलेखो से यह प्रगट होता है कि यहाँ हीनयान सम्प्रदाय के भी अनेक निकाय या मत विद्यमान थे। ये प्रायः महासाघिको से सम्बन्ध रखते थे। उस समय यह इनका एक बडा अड्डा था। नागार्जुनीकोण्डा मे बना हुआ महाचैत्य समूचे भारत के बौद्धों का एक महान तीर्थ बन गया था।

इस युग मे बौद्ध धर्म की एक उल्लेखनीय विशेषता ईसा की पहली तीन शताब्दियो में बृहत्तर भारत मे बौद्ध धर्म का प्रचार था। इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत पर शासन करने वाले यूनानी, पार्थियन, शक और कुषाण राजाओ का पश्चिमी एव मध्य एशिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और बौद्ध धर्म का उपासक होने के कारण इनके प्रभाव से विदेशो मे भी बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। मध्य एशिया और चीन मे इस समय महायान सप्रदाय के प्रचारक भिक्षुओ ने इसका प्रसार किया, इसीलिए हमे महायान सप्रदाय के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ चीनी भाषा मे ही उपलब्ध होते हैं। इनके मूल सस्कृत ग्रन्थ भारत भूमि मे लुप्त हो चुके है। दक्षिणपूर्वी एशिया के बर्मा आदि प्रदेशों मे भी इस समय बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। अन्तिम अध्याय में इसका उल्लेख किया जायगा।

जैन धर्म

इस युग में जैन धर्म मे भी बौद्ध धर्म की भाँति सम्प्रदायो का भेद विकसित हुआ, श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम के दो सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, उज्जयिनी, कलिंग और मथुरा मे इस धर्म की बड़ी उन्नति हुई। मथुरा के ककाली टीले के एक विशाल जैन स्तूप सेऔर दो जैन मदिरो के ध्वसावशेषो से अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए है। ये तत्कालीन जैन धर्म पर सुन्दर प्रकाश डालते है।

श्वेतांबर तथा दिगम्बर सम्प्रदायो का विकास

श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायो का भेद इस युग की एक प्रधान घटना है। इसके सबध मे श्वेताम्बर अनुश्रुति यह बताती है कि यह घटना वर्द्धमान महावीर के निर्वाण (५२७ ई० पू०) के ६०९ वर्ष बाद अर्थात् ८२ ई० मे हुई थी। किन्तु १५वीं शताब्दी ई० मे लिखे गए रत्ननदी के भद्रबाहुचरित मे इस घटना को मौर्य-वश के राजा सम्प्रति के समय मे हुई एक घटना से जोड़ा गया है। इसके अनुसार भद्रबाहु ने अपनी दिव्य दृष्टि से यह भविष्यवाणी की कि उत्तरी भारत मे १२ वर्ष का भीषण अकाल पडेगा, अत उन्होने अपने अनुयायियो के साथ दक्षिण भारत जाने का निश्चय किया। कुछ भिक्षु इस विदेश-यात्रा के लिए तैयार नही थे, उन्हे स्थूलभद्र के नेतृत्व मे मगध छोड़ कर वे दक्षिण चले गये। उस समय दक्षिण जाने वाले और उत्तर मे रहने वाले जैनो की सख्या बारह-बारह हजार बताई जाती है। भद्रबाहु के साथ दक्षिण जाने वालो मे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी थे। जब यह दल मैसूर मे श्रवण बेलगोला नामक स्थान पर पहुचा, तब भद्रबाहु ने यह अनुभव किया कि उनका अवसान निकट है। उन्होने विशाख को अपना उत्तराधिकारी नियत किया और कुछ समय बाद प्रायोपवेशन से उन्होने निर्वाण लाभ किया। इस समय उत्तर भारत मे भीषण दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। मगध मे रहने वाले भिक्षु सभवतः अधिक बूढ़े और कुछ बीमार थे। वे तत्कालीन परिस्थितियो से विवश होकर अपने आच-रण के नियमो में कुछ परिवर्तन करने को विवश हुए। इस समय उन्होने सफेद वस्त्र (श्वेताम्बर) पहने और **अर्धफालक** नामक एक विशेष शिरोभूषा भी धारण की। जब अकाल समाप्त हो गया तब दक्षिण से कुछ पुराने भिक्षु मगध वापस लौटे। वे प्राचीन नियमो का विशेषतः दिगम्बर रहने का नियम पालन कर रहे थे, उन्हें उत्तरी भारत के भिक्षुओ द्वारा श्वेत वस्त्र धारण करना और आचरण विषयक अन्य नियमो में परिवर्तन करना आपत्तिजनक और अवैध प्रतीत हुआ। इससे संघ में मतभेद आरम्भ

हुआ। यह शनैः शनैः बढ़ता चला गया और इसके परिणामस्वरूप श्वेताम्बरो और दिगम्बरो के दो सप्रदाय जैन सघ मे उत्पन्न हो गये।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुश्रुति मे इस मतभेद की उत्पत्ति एक अन्य रूप में बताई गई है। इसके अनुसार रथवीरपुर नामक नगर मे शिवभूति नामक व्यक्ति रहा करता था। इसे आर्यरक्षित नामक जैन भिक्षु ने अपने धर्म का अनुयायी बनाया था। इसकी उत्तरा नाम की एक बहन थी। एक बार शिवभूति को राजा ने एक बहुमूल्य वस्त्र प्रदान किया। उसने जब इसे अपने गुरु के सम्मुख प्रस्तुत किया तो उसने इसे फाड़कर टुकडे टुकडे कर दिया। शिवभूति अपने गुरु का अभिप्राय समझ गये। उन्होने वस्त्र न धारण करने का निश्चय किया और दिगम्बर रहने का उपदेश देने लगे। किन्तु जब उसकी बहन उत्तरा ने भी भाई के उदाहरण का अनुसरण करना चाहा तो शिवभूति ने उसे यह कहते हुए ऐसा करने से मना किया कि स्त्रियाँ किसी भी दशा मे निर्वाण नही प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार दिगम्बर सप्रदाय का आरम्भ हुआ। १२वी शताब्दी की इस अनुश्रुति के अनुसार शिवभूति ने दिगम्बर सप्रदाय के दो मौलिक सिद्धान्तो का प्रवर्तन किया--भिक्षुओं का दिगम्बर रहना और स्त्रियों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की अयोग्यता।

कालकाचार्य

जैन ग्रथो मे इस समय के अनेक आचार्यो का हमे विस्तृत वर्णन मिलता है। इनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा कालकाचार्य की है। यह अनेक रूपो मे पाई जाती है। आधुनिक विद्वानो ने इसपर पर्याप्त आलोचनात्मक अध्ययन किया है। इसका साराश इस प्रकार है कि उज्जयिनी मे गर्दभिल्ल नामक राजा शासन करता था। इसके राज्य मे कालकाचार्य नामक एक जैन मुनि रहते थे। उनकी बहन जैन सम्प्रदाय मे दीक्षित होकर भिक्षुणी बनी हुई थी। किन्तु गर्दभिल्ल ने इसका अपहरण करके कालक को रुष्ट कर दिया। उसने इसका बदला लेने के लिए शकस्थान के एक शक राजा से सहायता माँगी। किन्तु वह राजा गर्दभिल्ल पर हमला करने से डरता था, क्योकि उसकी रक्षा रासभी नामक देवी बड़े प्रबल रूप में कर रही थी। वह अपनी वाणी के जादू से ऐसा प्रभाव डालती थी कि कोई भी शत्रु उसके पास १४ मील के भीतर नही आ सकता था। कालक को यह सिद्धि प्राप्त थी कि वह अपनी इच्छा से सम्पत्ति पैदा कर सकता था। उसने शक राजा को प्रचुर सम्पत्ति देकर इस बात के लिए प्रेरित किया कि वह एक सेना एकत्र करे और उज्जयिनी पर चढ़ाई

करे। जब यह सेना उज्जयिनी से १४ मील दूर रह गई तो रासभी देवी ने गर्दभिल्ल की रक्षा के लिए चिल्लाना शुरू किया, किन्तु शक सेना ने उसका मुह बाणों से इस तरह भर दिया कि वह आवाज नही निकाल सकी। इसके बाद गर्दभिल्ल को आसानी से बदी बना लिया गया और कालक की बहन को बदीगृह से मुक्त किया गया (६१ ई० पू०)। कालक ने गर्दभिल्ल को क्षमा कर दिया और छोड़ दिया। कुछ समय बाद जगल में एक व्याघ्र ने गर्दभिल्ल को खा लिया। कुछ समय बाद गर्दभिल्ल का बेटा विक्रमादित्य प्रतिष्ठान से एक सेना लेकर उज्जयिनी की ओर बढ़ा और उसने शकों की शक्ति का विध्वस कर उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया तथा अपने नाम से ५७ ई० पू० से एक नया संवत् चलाया।

इस कथा में ऐतिहासिकता की मात्रा निश्चित करना संभव नही है। फिर भी यह कथा पहली शता० ई० पू० की उन घटनाओ के साथ मेल खाती है जब शक भारत पर हमला कर रहे थे और सातवाहन उनकी शक्ति का प्रतिरोध कर रहे थे। पुराणो मे गर्दभिल्ल को आध्रभृत्यो अर्थात् सातवाहन वश के सामत राजाओ मे गिना गया है। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार विक्रमादित्य जैन धर्म का प्रबल पोषक राजा माना जाता है। इसे जैन बनाने का श्रेय सिद्धसेन दिवाकर को दिया जाता है। इस विषय मे यह अनुश्रुति भी प्रसिद्ध है कि एक बार जगल मे सिद्धसेन का एक बूढ़े जैन विद्वान् (वृद्धवादी) के साथ उग्र विवाद हो गया, इसके निर्णायक वन में विद्यमान अनपढ़ ग्वाले बने हुए थे। वे सस्कृत भाषा मे दी जाने वाली सिद्धसेन की पाडित्यपूर्ण युक्तियो को नही समझ सके, अत. उन्होने लोकभाषा मे बोलने वाले वृद्धवादी के मत को ठीक समझते हुए उसके पक्ष मे अपना निर्णय दिया। इससे सिद्धसेन की आँखे खुल गई। पहले वह जैन ग्रंथो को उस समय के विद्वत् समाज मे समादृत सस्कृत भाषा में अनूदित करना चाहता था, किन्तु अब उसे यह समझ में आ गया कि धर्मग्रन्थ लोकभाषा मे होने चाहिए। उसके गुरु ने भी उसे इस बात की प्रेरणा दी कि वह अपने इस विचार को छोड़ दे, क्योंकि इससे धर्मग्रन्थ साधारण जनता के लिए दुर्बोध हो जायेंगे। उसने अपने इस पापपूर्ण विचार का प्रायश्चित्त बिना कोई शब्द बोले १२ वर्ष तक निरन्तर यात्रा करके किया। इस अनुश्रुति का अभिप्राय केवल इतना ही प्रतीत होता है कि सिद्धसेन ने जैन धर्मग्रथों को तत्कालीन बौद्धो की तरह सस्कृत भाषा मे करने का विफल प्रयास किया। इसी विक्रमादित्य के समय की एक अन्य घटना पालिताना मे शत्रुजय के एक पावनतम जैन-तीर्थ की स्थापना है। यह एक ऐसे साधु द्वारा सम्पन्न की गई थी जिसमें सुवर्ण उत्पादन करने का

सामर्थ्य रखने वाले अपने एक शिष्य की सहायता से हवा मे उड़ने की शक्ति बतायी जाती थी। विक्रमादित्य के साथ सबद्ध उपर्युक्त अनुश्रुतियो को सर्वथा सत्य मानने मे बड़ी कठिनाई है। पहली कठिनाई यह है कि अभी तक ऐतिहासिक विक्रमादित्य की समस्या का अतिम निर्णय नही कर सके। दूसरी कठिनाई सिद्धसेन के समय की है। जैकोबी ने इसका समय सातवी-आठवी शताब्दी ई० माना है।

पहली शताब्दी ई० मे दिगम्बर सम्प्रदाय ने अन्तिम रूप से पृथक् रूप धारण किया। पहले इसके कारणों के बारे में प्रकाश डाला जा चुका है। इसकी तिथि के सबध मे घोर मतभेद है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक परम्परा के अनुसार यह घटना १४२ ई० मे हुई थी। स्थानकवासी इसका समय ८२ ई० पूर्व समझते है। किन्तु डा० हार्नले के मतानुसार यह घटना ८९ अथवा ८२ ई० मे हुई थी[१]।

दूसरी शताब्दी ई० पू० मे कलिग मे खारवेल के समय जैन धर्म का प्रबल उत्कर्ष हुआ। जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर अपने जीवनकाल मे उडीसा आये थे। खारवेल के अभिलेख (पक्ति १४) से यह ध्वनित होता है कि उन्होने कुमारी पर्वत (उदयगिरि) पर अपने धर्म का प्रचार किया। खारवेल का अभिलेख जैन अर्हतो और सिद्धो के प्रति नमस्कार के साथ आरम्भ होता है। वह यद्यपि अशोक की भाँति सभी धार्मिक सम्प्रदायो के प्रति उदार दृष्टि रखता था फिर भी जैन धर्म के प्रति उसने विशेष कृपा प्रकट की थी। अपने लेख मे उसने यह बताया है कि उसने उन भिक्षुओ को राज्य की ओर से वृत्ति, चीनाशुक और श्वेतवस्त्र प्रदान किए थे, जिन्होने अपनी कठोर तपस्या से निर्वाण प्राप्त किया था। वह मगध के राजा नन्द के द्वारा कलिग से ले जायी गई एक जैन मूर्त्ति को अपनी राजधानी में वापिस लाया था। उसकी पत्नी भी जैन धर्म की कट्टर उपासिका थी। मचपुरी गुहा अभिलेख मे उसकी महारानी (अग्रमहिषी) द्वारा कलिगदेशीय जैन भिक्षुओ के निवास के लिए एक गुहा बनवाने का उल्लेख है, इसका उद्देश्य अर्हतो की कृपा प्राप्त करना था। उदयगिरि और खण्डगिरि की गुहाए इस बात को सूचित करती है कि इस स्थान मे चिरकाल तक जैन धर्म उत्तम दशा मे बना रहा। यह बडे आश्चर्य की बात है कि जैन धर्म के ऐसे प्रबल पोषक राजा का प्राचीन जैन साहित्य के परम्परागत ग्रन्थो मे कोई वर्णन नही मिलता है।

इस युग मे जैन धर्म का एक अन्य बड़ा केन्द्र मथुरा था। यहाँ ईसवी सन् से पहले के एक जैन धर्मस्थान के अवशेष मिले है, यहाँ विभिन्न जैन मूर्तियो, आयाग-

१. स्टीवसन-पूर्वोक्त पुस्तक पृ० ७९।

पटो, तोरणों पर ईसा से पहले की दो शताब्दियो के अनेक अभिलेख मिले हैं। इन सबका सामान्य उद्देश्य विभिन्न व्यक्तियो द्वारा अपने धर्म के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए पुण्य-प्राप्ति की तथा पितरो के कल्याण की कामना के उद्देश्य से किए जाने वाले दानो का उल्लेख है। कई अभिलेखों में शासन करने वाले राजा का नाम और राज्यकाल का वर्ष भी दिया गया है। इनसे यह प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी मथुरा और उसके आसपास के प्रदेश में इस समय बड़ा लोकप्रिय था। यहाँ जैन समाज भलीभाँति सुप्रतिष्ठित था। सभी वर्गों और श्रेणियो के श्रद्धालु उपासक जैन धर्म के लिए अनेक प्रकार के दान दिया करते थे। वे जैन तीर्थकरो की पूजा के लिए मूर्त्तियाँ, आयागपट, स्तूप तथा मन्दिरो का निर्माण कराया करते थे। स्मिथ ने यह लिखा है कि इन अभिलेखों मे तत्कालीन जैन[1] संघ के विविध अगो, गणो, कुलो, शाखाओ के बारे में बहुमूल्य जानकारी मिलती है। इनसे यह भी पता लगता है कि उस समय जैन स्त्रियाँ भिक्षुणियाँ बना करती थीं। इस सघ मे स्त्रियो की स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण थी। जैन संघ को विभिन्न दान देने वाले व्यक्ति-जौहरी (मणिकार), व्यापारियो के नेता या सार्थवाह, रगरेज, गन्धी, ग्रामिक, धातुओ का व्यापार करने वाले और प्रायः इनकी स्त्रियाँ, लड़कियाँ, बहनें हुआ करती थी। ये किसी न किसी गुरु की शिष्या होती थी और उसकी प्रेरणा से दान दिया करती थी। अधिकाश अभिलेख ककाली टीले से मिले हैं, यहाँ प्राचीन-काल मे एक विशाल जैन स्तूप और सम्भवत. दो जैन मन्दिर थे।

---

१. स्मिथ–जैनस्तूप पृ० ६।

तेरहवां अध्याय

शासन पद्धति और राजनीतिक सिद्धान्त

मौर्योत्तर युग की पाँच शताब्दियो की एक बड़ी विशेषता विदेशी जातियो द्वारा भारत पर आक्रमण थे। इस समय उत्तरी और पश्चिमी भारत मे लम्बे समय तक विदेशी शासन बना रहा। यूनानी, कुषाण, शक, पहलव आदि विदेशी जातियाँ अपने साथ दूसरे देशो से प्रशासन विषयक कुछ नए विचार लाई और अपनी शासनपद्धति मे उन्होने इन विचारो को क्रियात्मक रूप दिया। महाराष्ट्र और मालवा के शक शासको के सम्पर्क मे रहने मे सातवाहनो पर भी विदेशी विचारो का प्रभाव पडा। इस समय केवल दक्षिणी भारत ही विदेशी शासन के प्रभाव से बचा रहा। किन्तु उत्तरी भारत के विदेशी शासक भी शीघ्र ही भारतीय सस्कृति के रग मे रँगे गए और रुद्रदामा प्रथम जैसे शक शासक का गिरनार अभिलेख यह सूचित करता है कि उसका प्रशासन परम्परागत प्राचीन भारतीय आदर्शों के आधार पर ही चलाया जाता था। इस समय देश के अधिकाश भाग मे राजतन्त्र की व्यवस्था प्रचलित थी। किन्तु उत्तर-पश्चिमी भारत और राजस्थान के प्रदेश मे कुछ गणराज्य भी थे। इन्हें विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणो का शिकार होना पडा था, किन्तु इनमे ऐसी जीवनी शक्ति विद्यमान थी कि यौधेय जैसे गणराज्यो ने कुषाण साम्राज्य का उन्मूलन करने मे प्रमुख भाग लिया। अनेक गणराज्य इस युग के अत तक बने रहे। इस युग मे समवत. स्वायत्त शासन का अधिकार रखने वाले कुछ नगर राज्य भी थे, किन्तु वे विदेशी आक्रमणो की बाढ मे बह गये। गणराज्यो की भाँति वे आक्रमणो का सफल प्रतिरोध नही कर सके।

इस युग मे देश मे राजनीतिक एकता नही थी, मौर्य अथवा गुप्त साम्राज्य की भाँति देश का अधिकाश भाग किसी एक सम्राट् की छत्रछाया में एकशासन के सूत्र मे आबद्ध नही हुआ था, अपितु इस आधी सहस्राब्दी मे अनेक छोटे-छोटे राज्यो की सत्ता बनी रही। इनकी शासन पद्धतियाँ प्रधान रूप से पुरानी परम्परा पर आधारित थी, फिर भी इनमे पुराने मौर्य शासन की अपेक्षा कुछ थोडे अन्तर अवश्य थे। यहाँ पहले विभिन्न राज्यो की शासन-पद्धतियो का सक्षिप्त परिचय दिया जायगा और बाद में इस समय प्रचलित प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तो का निर्देश किया जायगा।

उत्तरी भारत

शुंग शासनपद्धति :—शुग उत्तरी भारत में मौर्यों के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने प्रधान रूप से पुरानी शासन-व्यवस्था को ही बनाए रक्खा, किन्तु इसमें मौर्य युग जैसी सुदृढता नही थी। शुग साम्राज्य मौर्य साम्राज्य की अपेक्षा अधिक शिथिल सगटन था। इस वश के सस्थापक पुष्यमित्र ने यद्यपि दो बार अश्वमेघ यज्ञ करके अपनी प्रभुसत्ता की घोषणा की थी, तथापि उसने अपने नाम के साथ सेनापति का पुराना पद ही लगाना वाछनीय समझा।[1] पुष्यमित्र के उत्तराधिकारियो ने अपने नाम के साथ राजा की पदवी लगाई, किन्तु उन्होने अशोक द्वारा अपने शिलालेखो मे प्रयुक्त की गई **देवानाम्प्रिय** की उपाधि का परित्याग कर दिया। यह सभवत बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था। जो उपाधि अशोक को इतनी प्रिय थी, उसकी शुगवशी राजाओ ने घोर उपेक्षा की। मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र द्वारा अपने पिता के जीवनकाल मे विदिशा मे शासन करने का उल्लेख यह सूचित करता है कि इस समय भी मौर्य साम्राज्य की इस परम्परा का अनुसरण किया जाता था कि राजकुमारो को विभिन्न प्रान्तो का शासक या राज्यपाल नियुक्त किया जाय और उन्हें राजा की उपाधि दी जाय। प्रान्तीय शासन की व्यवस्था पर भी मालविकाग्निमित्र से कुछ प्रकाश पडता है। इससे यह ज्ञात होता है कि विदिशा मे अग्निमित्र की एक अमात्यपरिषद् अथवा मन्त्रि-परिषद थी। इससे विदेश-नीति के महत्वपूर्ण मामलो के सबध मे परामर्श लिया जाता था। संभवत इसी प्रकार पाटलिपुत्र मे पुष्यमित्र की सहायता के लिए वैसी ही मंत्री-परिषद् होगी जैसी अशोक के समय मे थी। पतजलि ने महाभाष्य मे पुष्यमित्र-सभा का उल्लेख किया है।

शुगवश के समय मे केन्द्रीय शक्ति के निर्बल होने के कारण विभिन्न प्रदेशो मे सम्राट की ओर से शासन करने वाले स्थानीय शासको और सामन्तो की शक्ति बढ़ रही थी। भारहुत स्तूप के कुछ लेखो मे हमे धनभूति नामक एक शुग सामत का वर्णन मिलता है। इस समय अयोध्या, कौशाम्बी अहिच्छत्र तथा मथुरा मे स्थानीय राजवश शासन करने लगे थे (देखिए ऊपर अध्याय२)। ये न केवल राजा की उपाधि धारण करते थे, अपितु कई बार अपनी मुद्रायें भी ढालते थे। इन राजाओं

१. ए० इं० खण्ड २० पृष्ठ ५४, पतंजलि का महाभाष्य ३।२।१२३, मालविकाग्निमित्र पंचम अंक।

२. मालविकाग्निमित्र—पंचम अंक, ऊपर देखिए अध्याय २।

को लगभग पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इस समय सभवत. कई छोटे-छोटे ऐसे राज-वश शासन कर रहे थे जो शुग वश से सबद्ध प्रतीत होते हैं, वे शुग राजाओ की प्रभुसत्ता स्वीकार किया करते थे जैसा कि धनभूति के लेखो से विदित होता है।

हिन्द-यूनानी राजा— (क) **केन्द्रीय शासन**—उत्तर-पश्चिमी भारत में शासन करने वाले हिन्द यूनानी राजा भारत मे पश्चिमी एशिया के सेल्यूकस वशी (Seleucid) सम्राटों की तत्कालीन शासन परम्परायें लाए। इन्होने **बेसीलियस** (Basileus) की यूनानी राजकीय पदवी धारण की। यूक्रेटाईडीज और हिप्पोस्टेट्स जैसे कुछ राजाओ ने महान राजा (Megas) की भी उपाधि धारण की। सयुक्त शासन (Joint rule) भी यूनानियो की एक बडी देन थी। उन दिनो सेल्यूकसवंशी सम्राटो मे यह परिपाटी प्रचलित थी कि वे कई बार युवराज को अपने समूचे राज्य का अपने साथ शासन करने वाला सयुक्त राजा बना दिया करते थे। यूथीडीमस द्वितीय ने तथा डिमेट्रियस द्वितीय ने अपने पिता डिमेट्रियस प्रथम के साथ सयुक्त रूप से शासन किया था। मिनाडर की पत्नी एगेथो-क्लिया ने अपने पुत्र स्ट्रेटो प्रथम के साथ तथा स्ट्रेटो प्रथम ने अपने पोते स्ट्रेटो द्वितीय के साथ इसी प्रकार सयुक्त रूप से शासन किया।[१] इस विषय मे यूनानियो की एक अन्य नई परिपाटी यह थी कि युवराज के अतिरिक्त राजा के किसी अन्य बेटे को राज्य के किसी निश्चित भाग पर शासन करने के लिए लघु राजा (Sub-King) या उपराजा बनाया जाता था और उसे मुद्राये ढलवाने का भी अधिकार दिया जाता था। इस प्रकार के लघु राजाओ के उदाहरण एंटीमेकस द्वारा अपने पिता यूथीडीमस के तथा बाद मे अपने भाई डिमेट्रियस प्रथम के समय मे लघु-राजा बनना है। ऐंटीमेकस द्वितीय, मिनाडर के समय मे इसी प्रकार का लघु राजा था।[२]

(ख) **प्रान्तीय शासन**—यूनानी राजाओ की प्रान्तीय शासन व्यवस्था सेल्यूकसवशीय राजाओ की शासन व्यवस्था से कुछ भिन्न थी। सेल्यूकसवंशीय प्रदेशो मे शासन की सबसे बडी इकाई प्रान्त या सेट्रेपी (Satrepy) होती थी। इस प्रान्त को अनेक छोटे

---

१ टार्न-ग्रीक्स इन इंडिया एण्ड बैक्ट्रिया पृ० ३७, १५७—८।
२. टार्न-पृष्ठ ६०, २३०, २१७।

भागों या ऐपार्कियो (Eparchies) में बाँटा जाता था और प्रत्येक ऐपार्की कई हाइपार्कियो (Hyparchies) में बटी होती थी। इस शासन-पद्धति की तुलना हम वर्तमान समय के प्रान्तो की कमिश्नरियो और जिलो से कर सकते है। राजकीय प्रशासन मे यह त्रिविध अथवा तीन प्रकार का विभाजन सेल्यूकसवशीय साम्राज्य की विशेषता थी।[1] किन्तु यूनानी राजाओ के भारतीय प्रदेशो मे शासन की इकाइयाँ दो ही भागो मे बटी थी। बडी इकाई या प्रान्त को सेट्रेपी (Satrapy) कहते थे, इसका शासक सेट्रप (Satrap) कहलाता था। प्रान्त कई छोटी इकाइयो मे बटे थे, इन्हें सभवत **मेरिडीज** (Merides) कहा जाता था। इनके शासक मेरीदर्ख (Meridarch) कहे जाते थे। इसका एक सुप्रसिद्ध उदाहरण स्वात नदी की घाटी मे मिला है। यहाँ से प्राप्त पहली शताब्दी ई० के एक खरोष्ट्री अभिलेख मे थेउदोर (थियोडोरस) नामक एक प्रादेशिक शासक (मेरीदर्ख) द्वारा भगवान बुद्ध के अवशेषो को प्रतिष्ठापित करने का वर्णन है।[2]

पहले यह बताया जा चुका है कि यूनानी राजाओ के समय मे कुछ नगरो की मुद्रायें विशेष प्रकार की हुआ करती थी। पुष्कलावती नगर की मुद्राओ पर हमें आर्टेमिस (Artemis) नामक यूनानी देवी की, कमलधारिणी नारी की तथा वृष की मूर्ति मिलती है। इसी प्रकार कापिशी नगरी की मुद्राओ पर सिहासन पर बैठे ज्यूस (Zeus) की मूर्ति तथा हाथी का अगला भाग दिखाया जाता है। सिकन्दर द्वारा स्थापित किए गए दो नगरो निकेइया (Nicaea) और बूकेफल (Bucephal) के नगरो के सिक्को पर विजया देवी (Nike) तथा बैल के सिर की मूर्तियाँ अकित की जाती थी। इन सब नगरो के बारे में यह कल्पना की गई है कि इन्हें सभवत स्वायत्त शासन करने के कुछ अधिकार मिले हुए थे। यवन शासक भारत मे यूनानियो की वैसी बडी बस्तिया नही बसा सके थे, जैसी उन्होने पश्चिमी एशिया के नगरो मे बसाई थी। भारतीय सिक्कों और अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि उन्होने अपना शासन चलाने के लिए भारतीयो को उच्च पद दिये थे और उन्हे अपना सामन्त बनाकर उनसे सहायता ली थी। मिनाडर के शासन मे इस प्रकार का एक प्रसिद्ध उदाहरण विजयमित्र का है। बाजौर के कबायली प्रदेश मे शिनकोट नामक स्थान से उपलब्ध सेलखडी की एक मजूषा पर अकित लेख मे मिनाडर के शासन-काल मे वीर्यकमित्र और विजयमित्र के नाम दिए गए है।

१ टार्न पृ० २४२।

२. से० इं० पृष्ठ १११।

इसमें वीर्यकमित्र (वियकमित्र) को महाराजा के बराबर सामन्त बताया गया है।[1] टार्न ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत में यूनानी राजाओ ने भारतीयो के साथ सहयोग और साझेदारी की भावना से शासन किया। उन्होंने अपने राज्य मे न केवल उच्च पद भारतीयो को दिए, अपितु प्रजाजनो की सुविधा के लिए अपनी मुद्राओ पर भारत मे प्रचलित खरोष्ट्री और ब्राह्मी लिपियो का प्रयोग किया, भारत के विभिन्न पशुओ तथा प्रतीको को मुद्राओ पर स्थान दिया। पश्चिमी भारत के गुहालेखो के आधार पर टार्न ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूनानी शासन के विषय में इतने उदार थे कि उन्होंने भारतीयो को अपने नगरो की नागरिकता भी प्रदान की थी। यूनानी मुद्राओ पर अंकित कुछ खरोष्ट्री गुम्फाक्षरो (Monograms) के सबंध में कहा जाता है कि वे उन भारतीयो के नामो के पहले अक्षर थे जो मुद्राओ को प्रचारित (Moneyers) किया करते थे। ऐसे चिह्न जेहलम नदी के पूर्व में शासन करने वाले यूनानी राजाओ के सिक्को पर मिनाडर के बाद ही मिलने है, अत यह कल्पना यथार्थ नही प्रतीत होती है कि मिनाडर के चार प्रधान परामर्शदाता यूनानी ही थे। अत हिन्द-यूनानी राजाओ द्वारा भारतीयो को शासन मे उच्च पद दिये जाने का टार्न का मत कुछ अत्युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है।

शक पहलवों की शासन पद्धति

इन्होंने प्रधान रूप से यूनानी शासन पद्धति का अनुसरण किया। यूनानियो के उत्तराधिकारी शासक होने के कारण इनके लिए ऐसा करना सर्वथा स्वाभाविक था। किन्तु ये अपने साथ ईरान के पार्थियन वंश के प्रशासन की कुछ परम्पराये लाये, क्योंकि भारत में आने से पहले ये कुछ समय तक शकस्थान (सीस्तान) मे रहे थे और वहाँ इनका ईरानियो से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ था। ईरानी सम्राटो का अनुसरण करते हुए इन्होंने राजाओ के राजा का अर्थ देने वाली उपाधि-**साहानुसाही** (साहाणानुसाही) धारण की। इनके सामत शाही की उपाधि धारण करते थे। यह बात हमे कालकाचार्य-कथानक से ज्ञात होती है। भारत मे पहले शक राजा मोअ ने महाराज की उपाधि धारण की तथा यूनानियो से गधार को जीत लेने के बाद उसके सिक्को पर **राजाधिराज महान** (**राजतिराजस महतस**) की उपाधि मिलती है। यह पार्थियन सम्राट् मिथ्रदात द्वितीय (१२३–८८ ई० पू०) द्वारा धारण की गई हखामनी राजाओ की उपाधि

---

१ से० इं० पृष्ठ १०२–५। **वियक मित्रस अप्रचरजस (वीर्यक मित्रस्य, अप्रत्यग्राजस्य महाराजासमराजस्य–सामन्तस्य)** ।

क्षायथियाना क्षायथिय का अनुसरण मात्र था। यह उपाधि मोअ के बाद अय प्रथम ने तथा अय द्वितीय ने और गोडोफर्नीज आदि पहलव राजाओ ने भी धारण की। शक पहलवो मे सयुक्त शासन (Joint rule) अथवा दो व्यक्तियो द्वारा राज्य करने की परिपाटी प्रचलित थी। राजा प्राय अपने बडे पुत्र और उत्तराधिकारी को शासन मे अपने साथ रखता था। राजा का नाम यूनानी लिपि मे सिक्के के अग्रभाग पर अकित होता था और युवराज का नाम पृष्ठभाग मे प्राकृत भाषा में मुद्रित किया जाता था।

प्रान्तीय प्रशासन के क्षेत्र मे भी पहलवो ने यूनानियो का अनुसरण किया। इनके प्रान्तो के शासक प्राय सैनिक मामलो मे तथा युद्ध-कला (Strategy) में निष्णात व्यक्ति होते थे। अत इन्हें सेनापति या **स्त्रतेग** (Strategus) कहा जाता था। गोडोफर्नीज की मुद्राओ पर इस प्रकार के एक सैनिक शासक **अश्पवर्मा** का नाम मिलता है। प्रान्तो के उपविभागो के शासक मेरीदर्ख (Meridarch) कहलाते थे। प्रान्तो के शासको के लिए इस समय अधिक प्रचलित नाम **क्षत्रप** का था। यह पुराने ईरानी शब्द **क्षथ्रपावन** का संस्कृत रूपान्तर था। भारत मे इसके आधार पर एक बडी उपाधि **महाक्षत्रप** का भी प्रयोग होने लगा था। शक पहलवो मे प्रायः क्षत्रप स्वाधीन होते थे और उनके नाम मुद्राओ पर अकित किए जाते थे। इन क्षत्रपो के समय मे भारतीयो को शासन मे उच्चपद दिए जाने लगे और शासन-कार्य में इनसे सहयोग लिया जाने लगा। महाक्षत्रप शोडास का कोषाध्यक्ष एक ब्राह्मण था।[1] इसी प्रकार अभिसारप्रस्थ के नगर मे हम शिवसेन नामक भारतीय क्षत्रप का उल्लेख पाते हैं।[2]

कुषाणों की शासन-पद्धति

कुषाणो का साम्राज्य यूनानियो, शकों और पहलवों के राज्य की अपेक्षा अधिक विशाल था, बैक्ट्रिया से बिहार तक के विशाल भूखण्ड मे फैला हुआ था। इसकी महत्ता का अंदाज इस बात से किया जा सकता है कि उस समय इनके साम्राज्य मे जो भू-भाग सम्मिलित थे, वे वर्तमान समय में सोवियत सघ, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, ईरान और भारत के पाँच राज्यो में सम्मिलित है। उस समय इस प्रकार के विशाल साम्राज्य को सुव्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिये वर्तमान

१. ए० इं० खण्ड ६, पृष्ठ २४७।
२. का० हि० इं० खण्ड २, पृष्ठ ४, १०३।

समय में उपलब्ध यातायात के शीघ्रगामी साधन और संचार-साधन नहीं थे, फिर भी कुषाणो ने इस विशाल साम्राज्य पर काफी समय तक सुदृढ़ रीति से सफलता-पूर्वक शासन किया, इसकी बाह्य आक्रमणो और आन्तरिक उपद्रवों से रक्षा की। यह सभवत उस समय विकेन्द्रीकरण की पद्धति से और स्थानीय शासको को आन्तरिक शासन मे पर्याप्त अधिकार देकर ही सभव था। कुषाण सम्राटो द्वारा इतने विशाल साम्राज्य का निर्माण और सचालन वस्तुत एक आश्चर्यजनक घटना थी।

इस शासन-पद्धति का केन्द्र राजा था। आरम्भ मे कुषाणो की सत्ता एक छोटे से प्रदेश मे सीमित थी। कदफिसस प्रथम ने अपने सुदीर्घ शासन-काल के आरम्भ मे **यवगु** अथवा **यौव** अर्थात् मुखिया या सरदार की ही मामूली उपाधि धारण की थी। उसने अपने सिक्कों पर यूनानी राजा हर्मियस अथवा रोमन सम्राट आगस्टस की मूर्ति अकित करवाई थी। आरम्भ मे उसकी शक्ति और राज्य का अधिक विस्तार नही था, किन्तु बाद मे पार्थिया के प्रदेश पर आक्रमण करने और तक्षशिला को जीतने के बाद उसने महाराजा की उपाधि धारण की। यह कुषाणो की बढ़ती हुई शक्ति का सूचक थी। इसके उत्तराधिकारी विम कदफिसस ने अपने साम्राज्य का विस्तार करके **महाराज, राजाधिराज** अथवा **राजाधिराज, सर्वलोकेश्वर और माहेश्वर** की उपाधियाँ धारण की। सर्वलोकेश्वर का अर्थ है सब लोको का स्वामी। पहले यह बताया जा चुका है कि सर्वलोकेश्वर के बाद पृथ्वी के स्वामी का अर्थ देने वाली महीश्वर की उपाधि पुनरुक्ति मात्र होती है, अत इसे माहेश्वर अर्थात् शिव का उपासक समझना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इन सस्कृत उपाधियो के अतिरिक्त यूनानी मे इस राजा ने राजाओ के राजा (Basileus Basileon) और ईरानी मे शाओनानो (परवर्ती शाहशाह) की उपाधि धारण की। इन विभिन्न उपाधियो को धारण करने का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि कुषाण अपने साम्राज्य मे बसी हुई विभिन्न जातियो के प्रजाजनो--यूनानियो, ईरानियो और भारतीयो मे उस समय शासक के लिये प्रयुक्त होने वाली सभी उपाधियो को धारण करते थे और इस प्रकार उन्हें यह सूचित करते थे कि वे उनके वास्तविक शासक है।

देवत्व की भावना--कुषाण राजाओ की उपाधियो मे दो अन्य उपाधियाँ भी उल्लेखनीय है। पहली उपाधि **कइसर** की है। यह रोमन सम्राटो की सीजर (Caesar) का रूपान्तर थी और यह प्रगट करती है कि कुषाण सम्राट अपने को रोमन सम्राटो के समकक्ष समझते थे। पहले यह बताया जा चुका है कि यह उपाधि कनिष्क द्वितीय के आरा अभिलेख मे मिलती है। इस अभिलेख मे दूसरी उपाधि

देवपुत्र की है। डा० अल्तेकर के मतानुसार यह उपाधि चीनी सम्राटो द्वारा धारण की जाने वाली एक उपाधि तियेनस (Son of Heaven) का शाब्दिक अनुवाद है।[1] मध्य एशिया मे चीनी और कुषाण साम्राज्यो की सीमाये मिलती थी, अत. चीनियो से कुषाणों द्वारा इस उपाधि का ग्रहण किया जाना सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता है। यह उपाधि कुषाण सम्राटो की इस प्रवृत्ति को सूचित करती है कि वे राजा को देवता का अश समझते थे और अपने दैवी शासक होने का दावा कर रहे थे। डा० अल्तेकर के मतानुसार धार्मिक कर्मकाण्ड और विचारो के उत्तरोत्तर बढने वाले प्रभाव से उत्तर वैदिक काल मे ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जो राजा को देवता मानने की भावना के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल था। ईसा की पहली शताब्दी मे कुषाण राज्य की स्थापना से इस भावना को और भी अधिक बल मिला। कुषाण सम्राटो ने अपनी दिव्यता को सूचित करने के लिए मुद्राओ पर अपने को दैवी ज्योति से आवृत बादलो से अवतरित होते हुए अंकित करवाया है।[2] विम कदफिसस की स्वर्ण-मुद्राओ पर राजा के कधे चारो ओर से दिव्य एव भास्वर किरणो से अथवा ज्वालाओ से घिरे हुए है और उसकी आवक्ष मूर्ति यूनान के देवी-देवताओ की भाँति मेघो से प्रादुर्भूत होती हुई दिखाई गई है। कनिष्क की कुछ मुद्राओ पर प्रभामण्डल पाया जाता है। हविष्क की कुछ स्वर्ण मुद्राओ पर सम्राट् के प्रभामण्डल को ज्वालाओ और मेघमालाओ के साथ दिखाया गया है। इन सभी मुद्राओ में मेघमण्डल से राजा की मूर्ति को प्रादुर्भूत होते हुए दिखाने का प्रधान उद्देश्य उसकी दिव्यता को सूचित करना प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कुषाण सम्राटो मे देवकुल बनाने की भी परम्परा थी। देवकुल का शाब्दिक अर्थ है देवताओ का कुल। इसमे कुषाण सम्राट अपने पूर्वजो की प्रतिमाए स्थापित करते थे और ये प्रतिमाएं देवताओ के समान पूजी जाती थी। इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि कुषाण सम्राट राजा की दिव्यता के सिद्धान्त के प्रबल प्रचारक थे।

कुषाण सम्राटो की केन्द्रीय सत्ता निरंकुश प्रतीत होती है, क्योकि इनके

---

१. अल्तेकर–प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, डॉ० आर० भंडारकर का भी यही मत है। (सम एसपैक्टस आफ इंडियन पालिटी पृष्ठ १६२)। किन्तु डा० थामस ने इसके विपरीत यह सिद्ध किया है कि देवपुत्र का विरुद कुषाणों ने सरकारी उपाधि के रूप में कभी धारण नहीं किया। यह उनके भारतीय प्रजाजनो में लघु देवताओं को सूचित करने वाली उपाधि मात्र थी।

२. केटेलाग आफ कायन्स इन दी पंजाब म्यूजियम—भाग १, चित्र १।

अभिलेखो में कही भी राजाओ को परामर्श देने वाली मत्रिपरिषद जैसी किसी संस्था का कोई उल्लेख नही दिखता है, फिर भी यह कल्पना करना ठीक नही होगा कि कुषाण राजा सर्वथा निरकुश सम्राट थे। भारत मे राजा को परामर्श देने वाले व्यक्तियों का उल्लेख हमे वैदिक युग से मिलता है। मौर्य युग में कौटिल्य ने मंत्रि-परिषद की आवश्यकता और महत्ता पर बहुत बल दिया था, दिव्यावदान मे दी गई एक कथा से यह सूचित होता है कि उस समय कई बार मत्री राजा के कार्यों पर प्रभावशाली नियत्रण करते थे। सभवत कुषाण युग मे यह सस्था बनी रही होगी।

क्षत्रपों द्वारा शासन--कुषाणों के प्रशासन के सबध मे हमे बहुत ही थोडी सामग्री उपलब्ध होती है। कुषाणो ने शको द्वारा प्रारम्भ की गई महाक्षत्रपो और क्षत्रपो द्वारा शासन करने की प्रणाली को जारी रक्खा। इन क्षत्रपो के अनेक उल्लेख मिलते है, ये विभिन्न प्रदेशो का शासन सम्राट की ओर से किया करते थे। महाराजा कनिष्क के तृतीय वर्ष के सारनाथ के एक अभिलेख मे बोधिसत्व की मूर्ति पर क्षत्रप वनस्पर और खरपल्लान के नाम अकित है। यह मूर्ति भिक्षुबल द्वारा प्रदान की गई थी। एक अन्य लेख मे खरपल्लान को महाक्षत्रप बताया गया है। कुछ विद्वानो ने यह कल्पना की है कि खरपल्लान मथुरा मे कुषाण सम्राटो की ओर से महाक्षत्रप का कार्य करता था और इनके पूर्वी प्रदेश की राजधानी वाराणसी थी और यहाँ का शासक वनस्पर था। उत्तर पश्चिमी भारत मे कुषाणो के प्रातीय शासक अथवा क्षत्रप अफगानिस्तान मे कापिशी नामक नगरी मे, तक्षशिला मे और सभवत काश्मीर मे शासन करते थे। कनिष्क के १८ वें वर्ष के मणिक्याला प्रस्तर अभिलेख मे कुषाणवशीय क्षत्रप वेश्पसि और लल का उल्लेख है। इसी स्थान से पाई गई कास्य मजूषा को क्षत्रप ग्रणह्वरयक के पुत्र एवं कापिशी के क्षत्रप का दान बताया गया है। ११वें वर्ष के जेडा अभिलेख मे क्षत्रप लियक के सम्मान मे दिए गये दान का वर्णन है। इन लेखो से दो परिणाम निकाले गये है। पहला यह कि उस समय अधिकांश क्षत्रप या प्रातीय शासक विदेशी हुआ करते थे। दूसरा परिणाम यह है कि क्षत्रपो की नियुक्ति कई बार आनुवशिक आधार पर होती थी। उदाहरणार्थ कापिशी का क्षत्रप ग्रणह्वरयक का पुत्र था।

कुषाण लेखो मे हमे **दण्डनायक** और **महादण्डनायक** नामक अधिकारियों का उल्लेख मिलता है। हुविष्क के राज्यकाल मे माट नामक ग्राम से उपलब्ध अभि-लेख मे एक ऐसे **बकनपति** का वर्णन हैं जिसका पिता महादण्डनायक था। महाराज वासुदेव के समय के ७४वे वर्ष के अभिलेख में महादण्डनायक वलिन का वर्णन है।

माणिक्याला अभिलेख लल नामक कुषाण वंशीय दंडनायक का उल्लेख करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय दण्डनायकों के दो दर्जे थे, महादण्डनायक उच्चस्तर के तथा दण्डनायक निम्नस्तर के अधिकारियों को सूचित करता था। उपर्युक्त लेख इन अधिकारियों के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं डालते हैं। किन्तु परवर्ती काल के अनेक शिलालेखों में इन उपाधियों का उल्लेख है और विभिन्न विद्वानों ने इसका अर्थ विभिन्न प्रकार से किया है। उदाहरणार्थ, प्रयागप्रशस्ति में आए दण्डनायक शब्द का अर्थ प्रिन्सेप ने दण्ड देने वाला न्यायाधीश तथा फ्लीट ने राजकीय सेवकों का महान नेता किया है। आरेल स्टाइन ने राजतरंगिणी (८।९७५, पृष्ट ३४४) में इसका अर्थ पुलिस का उच्च अधिकारी (Prefect of Police) किया है। विभिन्न विद्वान इस अधिकारी को न्याय संबंधी, सैनिक तथा पुलिस के कार्य करने वाला समझते हैं। श्री अल्तेकर ने गुप्तकालीन लेखों में उल्लिखित दंडनायक को आजकल के कर्नल की कोटि का अधिकारी तथा विभिन्न प्रदेशों में तैनात सेना की टुकड़ियों का नायक माना है।[1] कुषाण युग में हम दण्डनायक का सही रूप नहीं जानते हैं, किन्तु इस विषय में श्री बैजनाथ पुरी ने यह कल्पना की है कि उस समय के दण्डनायक राजा की ओर से जागीर पाने वाले सामंत या सरदार होते थे।[2] ये राजा द्वारा नियत किए जाते थे और इन्हें अनेक प्रकार के सैनिक तथा दीवानी कार्य करने पड़ते थे। ये कानून के पालन तथा शासन की व्यवस्था को बनाए रखने का और विदेशों के साथ शांति और युद्ध विषयक निर्णय करने का कार्य करते थे। कुषाण काल के महादण्डनायकों में हमें बकनपति के पुत्र का नाम मिलता है। यदि इसकी तुलना पहले बताए क्षत्रपों और महाक्षत्रपों के नामों के साथ की जाय तो यह प्रतीत होगा कि कुषाणों के समय में सभी उच्च सरकारी पद विदेशियों के लिए सुरक्षित थे। इसके साथ ही स्थानीय शासन व्यवस्था शायद भारतीयों द्वारा परंपरागत रीति से की जाती थी। कुषाण अभिलेखों में ग्रामिक नामक अधिकारी का उल्लेख मिलता है। यह संभवत: गांव का मुखिया हुआ करता था।[3]

---

१. प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति-पृष्ठ १४५।

२. पुरी-इंडिया अण्डर दी कुषाणाज ।

३. मनु के (७।११८) के अनुसार गांव के मुखिया के कई कार्य होते थे । वह राजा के लिए करों की वसूली करता था और इस प्रकार प्राप्त धन का उपयोग भी कर सकता था, और वह फौजदारी के अपराधों को १० गाँवों के मुखिया को विचार करने के लिए सौंप सकता था ।

अन्त में कुषाण शासन पद्धति की एक विलक्षण विशेषता का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। यद्यपि इस युग के आधा दर्जन से अधिक अभिलेखों में क्षत्रपों और महादण्डनायको के नाम दिए गए है, किन्तु इनमे एक भी नाम भारतीय नही है। इस समय कुषाण शनै. शनैः भारतीय सस्कृति को ग्रहण कर रहे थे। किन्तु उन्होने प्रशासन सबधी उच्च पदो का भारतीयकरण नही किया था, इन पदो पर उस समय तक विदेशी व्यक्ति ही विद्यमान थे। किन्तु स्थानीय स्तर पर शासन सभवत. भारतीयो के ही हाथ मे था, यद्यपि इसके विषय मे विस्तृत विवरण हमें नही मिलते है। किन्तु इस समय के लेखो मे अभिसार और बदख्शा जैसे दूरवर्ती प्रदेशो के लोगो के मथुरा तक आने से और निर्विघ्न यात्रा करने से प्रतीत होता है कि उस समय साम्राज्य मे शाति और सुरक्षा थी। इसी कारण उस समय कला, साहित्य एव धर्म का उच्चतम विकास हुआ। इनका परिचय अगले अध्यायो में दिया गया है।

कुषाणो में राजा के लिए केवल महाक्षत्रप की ही उपाधि मिलती है। इनमे राजा के लिए दूसरा शब्द **स्वामी** था। चष्टन और रुद्रदामा के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। मथुरा मे इनसे पहले शोडास को भी स्वामी कहा गया था। भरत के नाट्यशास्त्र मे यह नियम बनाया गया है कि युवराज को स्वामी या भद्रमुख कहना चाहिए।[१] लेवी ने इससे यह परिणाम निकाला है कि नाट्यशास्त्र मे यह नियम सभवत शको की परिपाटी को देखकर बनाया गया होगा, किन्तु कीथ इससे सहमत नही है।[२] यह भी सभव है कि शको ने इस उपाधि को भारतीयो से ग्रहण किया हो। इस समय राजा महाक्षत्रप कहलाता था। वह युद्धक्षेत्र मे सेनाओ का सचालन करता था। सभवतः इसी कारण गिरनार अभिलेख मे यह कहा गया है कि रुद्रदामा ने अपनी विजये स्वयमेव प्राप्त की थीं। महाक्षत्रप के रूप मे राजा के नीचे प्रान्तो के शासक क्षत्रप हुआ करते थे और युवराज को सदैव एक क्षत्रप बनाया जाता था।

पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो मे उत्तराधिकार की एक विशेष परिपाटी प्रचलित थी। इसमे एक राजा के मरने के बाद उसकी गद्दी उसके बड़े बेटे को

---

१. नाट्यशास्त्र–गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज संस्करण पृष्ठ ३८० ।
स्वामीति युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः।
सौम्य भद्रमुखेत्येवं ॥

२. कीथ संस्कृत ड्रामा–पृष्ठ ६६ ।

नहीं, अपितु छोटे भाई को दी जाती थी। सब भाइयो के महाक्षत्रप बन जाने के बाद ही इनके पुत्रों को राजगद्दी मिलती थी। पहले उत्तराधिकार की इस निराली पद्धति के उत्पादक कारणो को स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए सातवा अध्याय)।

शकों की शासन-व्यवस्था के संबध मे रुद्रदामा का अभिलेख कुछ प्रकाश डालता है। इस अभिलेख के अनुसार उसके मत्री दो प्रकार के थे—**मतिसचिव और कर्मसचिव**। मतिसचिवो का काम-शासन कार्य मे सलाह देना और कर्मसचिवो का काम राजा की आज्ञाओ को कार्य रूप मे परिणत करना था। किन्तु राजा इनकी सलाह मानने के लिए बाध्य नही था। रुद्रदामा ने जब सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार करने के लिए अपने मतिसचिवो और कर्म सचिवो से सलाह ली तो उन्होने इसका विरोध किया। उनका यह विचार था कि सुदर्शन झील के बाध मे इतनी भारी दरार पड़ गई है कि इसकी मरम्मत करना सभव नही है। उन्होंने राजा को यह कार्य करने के लिए मना किया, इस प्रकार बाध न बधने की सभावना के कारण जनता को इतनी निराशा हुई कि चारो ओर हाहाकार मच गया। इस समय राजा ने जनता के हित की दृष्टि से मत्रियो की सलाह की उपेक्षा करते हुए अपने व्यय से इस कार्य को पूरा करवाया। इस कार्य को सुविशाख नामक अमात्य ने सम्पन्न किया।[1] इससे यह स्पष्ट है कि राजा मत्रियो की सलाह की उपेक्षा लोक-कल्याण की दृष्टि से कर सकता था।

शको मे यह स्वाभाविक था कि विदेशी व्यक्तियो को ही उच्च पद दिये जाए। नहपान का मत्री अयम एक शक था और रुद्रदामा की ओर से सुराष्ट्र मे नियत प्रान्तीय शासक और सुदर्शन बाध की मरम्मत का महत्वपूर्ण कार्य करने वाला अमात्य सुविशाख एक पहलव था। शक महान योद्धा थे और योद्धाओ के रूप मे उनकी ख्याति दक्षिण मे श्रीपर्वत तक आध्रप्रदेश मे पहुँची हुई थी। नागार्जुनीकोडा (जि० गुण्टूर) मे शक वेष पहने हुए योद्धाओ की मूर्तियाँ मिली है। समवतः शको का सैनिक शासन आरम्भ मे बहुत ही विध्वस करने वाला था। गार्गी सहिता मे इनके शासन का भीषण चित्र खीचते हुए यह कहा गया है कि शक लोग एक-चौथाई जनता को तलवार के घाट उतार देंगे, एक-चौथाई को पकड कर अपने नगर मे ले जायेंगे। शक शासन के अत मे आर्यावर्त मनुष्यहीन हो जाएगा और खेतो

---

१. से० इ० पृष्ठ १८०—**प्रतिमहत्वाद्भेवस्यानुत्साहविमुख—मतिभि-प्रत्याख्यातारंभः पुनः सेतुबन्धनैराश्याद्धाहाहाभूतासु प्रजासु इहाधिष्ठाने पौरजानपद-जनानुग्रहार्थं पार्थिवेन ·· ····सुविशाखेन ······· अनुष्ठितमिति ।**

में हल चलाने का कार्य स्त्रियाँ किया करेंगी।[1] किन्तु रुद्रदामा का शिलालेख इससे सर्वथा प्रतिकूल स्थिति सूचित करता है और यह बताता है कि वह अपने शासन में प्रजातंत्र के उच्च भारतीय आदर्श से अनुप्राणित था। उसने अपने राज्य के नगरों और गाँवों मे रहने वाले मनुष्यो को कर, विष्टि, (बेगार), तथा उपहारो (प्रणय) आदि से पीड़ित किए बिना ही अपने ही कोश से बहुत पैसा लगाकर थोड़े ही समय में पहले से तीन गुना मजबूत और अधिक सुदर (सुदर्शनतर) बाध बनवा दिया था।[2] अन्य हिन्दू राजाओ की भाँति रुद्रदामा ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि उसके राज्य मे गौओ और ब्राह्मणो की रक्षा हो तथा वह उत्तम कार्यों से धर्म और कीर्ति को बढ़ाए।

गणराज्यों की शासन व्यवस्था

कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद यौधेय, कुणिद, आर्जुनायन, मालव आदि अनेक गणतन्त्रो का उत्कर्ष हुआ। पहले इनका परिचय दिया जा चुका है। इनकी शासन व्यवस्था पर थोड़ा बहुत प्रकाश इनके सिक्को और अभिलेखो से पड़ता है। ऐसा लगता है कि इस समय गणतत्रों के अध्यक्ष, मत्री, सेनापति आदि अनेक अधिकारी वशपरपरागत होते थे। नन्दसा यूप लेख से यह स्पष्ट होता है कि जिस श्री सोम ने शको के पजे से मालवो को मुक्त किया था उसका वश तीन पीढ़ियो से राज्य-शकट की धुरी को चला रहा था।[3] इस समय कुछ गणतत्रों के अध्यक्ष महाराज भी कहलाने लगे थे, जैसे मध्यभारत मे सनकानीको के अध्यक्ष। मालवो जैसे कुछ गणतत्रो में अध्यक्ष को महाराज की पदवी नही दी जाती थी, फिर भी उसका पद आनुवशिक बन गया था। गणतत्रो के अध्यक्षों को अपने नाम से मुद्राये प्रचलित करने की आज्ञा नही थी। मालव और यौधेय गणो के सिक्को पर मालवानां जय., यौधेयगणस्यजयः जैसे अभिलेख मिलते है और यह सिद्ध करते है कि इनमे सिक्के गण के नाम से निकाले जाते थे, न कि उनके अध्यक्ष के नाम से। यौधेयो के सिक्कों और मुहरो से यह प्रतीत होता है कि वे अपने यहाँ महाराजा महासेनापति नाम

---

१. गार्गी संहिता, युग पुराण—श्लोक ५४–८५ ।

२. सें० इ० पृष्ठ १७६–८० ।

अपीडयित्वा करविष्टि प्रणयक्रियाभिः पौरजानपदं जनं स्वस्मात्कोशान्महता धनौघेन अनतिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायामं सेतुं विधाय सर्व्वतटे सुदर्शनतरं कारितमिति।

३. ए० इं० २७।२५२, समुद्धृत्य पितृपैतामहीं धुरम् ।

के एक अध्यक्ष को शासन-कार्य के लिए चुनते थे और यह सैनिक तथा दीवानी दोनो प्रकार के कार्य करता था।

गणराज्य और महाभारत—गणराज्यों की शासन-व्यवस्था और समस्याओं पर महाभारत मे सुदर प्रकाश डाला गया है। शांतिपर्व के अध्याय ८१ मे भीष्म ने युधिष्ठिर को वासुदेव कृष्ण और नारद का एक सवाद सुनाया है। इसमें श्री कृष्ण ने नारद के सम्मुख गणराज्यो की कठिन समस्याओं का बड़ा सुदर चित्रण किया है और यह बताया है कि वे किस प्रकार इनके ईश्वर या राजा कहलाते हुए भी उनकी दासता करते है, विभिन्न दलों के नेता दलबंदियों में फँसकर उनकी किस प्रकार कटु आलोचना करते रहते है। श्रीकृष्ण को सांत्वना देते हुए नारद ने यह कहा था कि "कड़वी बाते कहने वाले साथियो के हृदय, वाणी और मन को तुम अपनी वाणी से शांत करो। कोई भी छोटा आदमी अपने पर काबू न रखते हुए और साथी का सहारा न होने पर बड़ी धुरी को लेकर छाती पर उठाए हुए नही चल सकता है। बड़े बोझे को समतल रास्ते पर सभी बैल उठा लेते हैं, पर ऊची नीची राह पर कोई परखा हुआ बैल ही उसे ढो पाता है। भेद से संघो का विनाश होता है, हे कृष्ण, तू सघ का मुखिया है। तेरे हाथ में आकर यह संघ जिस प्रकार कष्ट न पाए, तुझे इस प्रकार का कार्य करना चाहिए।"

शातिपर्व के अध्याय १०७ मे भीष्म ने युधिष्ठिर को गणराज्यो के प्रधान दोष बताते हुए यह कहा है कि इनका विध्वंस फूट के कारण होता है। इस व्यवस्था मे बहुतो के बीच मे राजकीय रहस्यो को गुप्त नही रखा जा सकता है। गण एकता से जीतते हैं और अनुदारता से उनमे फूट पड़ जाती है और ऐसी फूट होने पर वे शीघ्र ही शत्रु के वश मे हो जाते है। कानून का विधिवत् स्थापित न होना, इसके अनुसार न्याय न किया जाना, धींगा-धागी और मनमानी इनके नाश का सबसे बड़ा कारण है। गणराज्यो की एक अन्य बड़ी समस्या युवकों का—विशेषत: नेताओ के बेटो और भाइयो का अनियन्त्रित हो जाना है। अत: गणों की उन्नति के उपाय बताते हुए भीष्म ने यह कहा है—"अच्छे गण धार्मिक व्यवहारो तथा कानून को स्थापित करते हुए और इनको ठीक देखते हुए, यथोचित न्याय का सचालन करते हुए वृद्धि पाते है। बेटो और भाइयो को काबू मे रखते हुए, उन्हें सदा नियंत्रण (विनय) सिखाते हुए और इस प्रकार उन्हें आगे बढ़ाते हुए अच्छे गण बढ़ते है। गुप्त-चरो के और मंत्र के विधान में तथा कोश के सचय मे सदा लगे हुए गणराज्य सब तरह की वृद्धि पाते हैं। प्रजासंपन्न, बड़े उत्साह वाले, कार्यों मे स्थिर, पौरुषयुक्त

कर्मचारियों (चारो) का मान करते हुए, सदा काम मे जुटे रहने वाले गण बढते हैं। प्रजा के प्रति क्रोध, मेद, मय, दण्ड, पीछे पड़ कर सताना (कर्षण), कैद रखना (निग्रह) और वध की बातें गणो को तुरंत शत्रु के वश में कर देती हैं। गण-राज्य के प्रधान व्यक्तियो मे राजकीय रहस्यो को गुप्त रखने की सामर्थ्य होनी चाहिए तथा मिलकर गण के नेता या मुखियाओं (गणमुख्य) को एकत्रित होकर गण के लिए हितकारी कार्य करने चाहिए, अन्यथा गण मे फूट पड़ जाती है, वह बिखर जाता है। उनके कार्य (अर्थ) बिगड़ते है और अनर्थ होने लगते है।

महाभारत मे भीष्म का उपर्युक्त अनुभवपूर्ण उपदेश उस समय के गण-राज्यो की मौलिक समस्याओ पर प्रकाश डालता है और यह सूचित करता है कि वर्तमान समय की भाँति उस समय लोकतत्रो की अनेक जटिल समस्याये थीं। यवनो, शको और कुषाणो के हमलो की बाढ मे जिस प्रकार अशोक के उत्तरा-धिकारी धर्मविजयवादी नही टिक सके थे, उसी प्रकार पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी एव अश्वमेधपुनरुद्धारवादी भी इन आक्रमणो को नही रोक सके थे। किन्तु यौधेयो, मालवों और कुणिन्दो ने विदेशी हमलो की चोटे खाने के बाद भी इन साम्राज्यो पर प्रबल प्रहार किए। इस परिस्थिति मे तत्कालीन विचारको को यह प्रतीत हुआ था कि गणराज्यो पर आने वाली कठिनतम आपत्तियो का निराकरण कुशल नेतृत्व, विवेक, बुद्धि और एकता की भावना से किया जा सकता है।

संघीय शासन-पद्धति.—इस समय गणराज्यो मे समूह का शासन होने के कारण इसे सघ कहा जाता था। इनकी सघीय पद्धति पर पुष्यमित्र के समकालीन तथा उसके अश्वमेघ यज्ञ के पुरोहित पतजलि के महाभाष्य से तथा व्याकरण के अन्य ग्रन्थो से महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।[1] यहाँ इनके आधार पर इनके स्वरूप और विशेषताओ का तथा विभिन्न प्रकारो का सक्षिप्त विवेचन किया जायगा। इस प्रसग मे इस युग से पहले के गणराज्यो का सक्षिप्त उल्लेख इनके विकास को प्रदर्शित करने के लिए किया जायगा।

पतञ्जलि ने पाणिनि के आधार पर गणराज्यो को सघ का नाम दिया है। उस समय संघ शब्द का प्रयोग यद्यपि सामान्य रूप से समूह के अर्थ में होता

१. इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखिए प्रभुदयाल अग्निहोत्री का पतञ्जलिकालीन भारत पृष्ठ ३८४-९०, वासुदेव शरण अग्रवाल का पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृष्ठ ४३१-४६६, यहाँ पिछली पुस्तक से बहुमूल्य सहायता ली गई है।

था, किन्तु इसके दो अन्य विशेष अर्थ भी थे--(१) यह ऐसे धार्मिक समुदायों और सम्प्रदायो के लिए भी बरता जाता था जिनमे किसी प्रकार की ऊंच-नीच का (औत्तराधर्य) का भेद नही होता था (संघेचानौत्तराधर्ये पा० ३-३-४२) और जिसके सब सदस्य एक दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करते थे। (२) इसका दूसरा अर्थ ऐसा राजनीतिक सगठन भी होता था जो उस समय गण के नाम से भी प्रसिद्ध था (संघाद्घौ गणप्रशसयो: ३-३-८६)। वस्तुत: संघ और गण पर्यायवाची शब्द थे क्योंकि पाणिनि ने यौधेयो को सघ कहा है (५-३-११७)। किन्तु इनके अपने सिक्को पर उन्हें गण कहा गया है। कात्यायन ने इस पद्धति की विशेषता का और राजतन्त्र से इसके भेद को सूचित करने के लिए यह कहा था कि यह शासन-पद्धति राजतन्त्र (**एकराज**) से बिलकुल उल्टी थी।[१] इस प्रकार के सघो मे शासन की बागडोर एक राजा के हाथ मे न रह कर, जनपद के मूलनिवासी क्षत्रिय जाति के अनेक प्रभावशाली लोगो के हाथ मे रहती थी। इस प्रकार इसमे राजसत्ता एक व्यक्ति मे केन्द्रित न रह कर, अनेक व्यक्तियो मे बँटी हुई थी। एकराज जनपद (Monarchical State) का अधिपति राजा कहलाता था और राजतन्त्र मे केवल एक ही राजा होता था, अत. उसे उस समय एकराज शासन-पद्धति कहा जाता था। किन्तु संघ-शासन मे ऐसी स्थिति नही थी, यहाँ जितने भी प्रभुसत्ता-सम्पन्न कुल होते थे, उन कुलो के प्रतिनिधि अथवा वृद्ध पुरुष राजा कहलाते थे। यही कारण है कि गणराज्यो मे हमे सैकड़ो और हजारो राजाओ का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, लिच्छवि नामक एक प्राचीन गणराज्य आज के दो जिलों से बड़ा नही था, किन्तु यहाँ राजाओ की सख्या ७७०७ बताई गई है, इनमे प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा की पदवी धारण करता था। ललितविस्तर मे यह कहा गया है कि इनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने को राजा मानता था। राजा की इस पदवी के आधार पर कौटिल्य (११।१) ने सघों को **राजशब्दोपजीवी** कहा है अर्थात् जिनके सदस्य राजा की पदवी धारण किया करते थे। उस समय सघ में प्रत्येक राजा को अर्थात् कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण की प्रभुसत्ता मे समान अधिकार प्राप्त था, पीढी दर पीढ़ी इस अधिकार की रक्षा की जाती थी। इस अधिकार का परिचय कुछ विशेष बातो से मिलता था। उदाहरणार्थ, लिच्छवियों के वैशाली नगर में गण के अन्तर्गत राजाओ के जितने कुल थे, उनके स्नान या अभिषेक का जल एक विशेष तालाब (मंगलपुष्करिणी) से लिया जाता था (जातक ४।१४८)। इस सरोवर का जल

१. पाणिनि ४-१-१६८, **क्षत्रियादेकराजादिति वक्तव्यं सघप्रतिषेधार्थम्।**

राज्य की प्रभुसत्ता का प्रतीक था, अत. जिन कुलो मे प्रभुसत्ता होती थी, उन्हें ही मंगलपुष्करिणी से अभिषेक के लिए जल पाने का अधिकार होता था। यह अभिषेक भी एक विशेष विधि से सम्पन्न किया जाता था। प्रत्येक कुल मे उस कुल का बडा बूढा व्यक्ति ही मूर्धाभिषिक्त होता था। किसी कुल में वृद्ध पिता के देहान्त के बाद उसके पुत्र का मूर्धाभिषेक बड़े समारोहपूर्वक किया जाता था। वर्तमान परिभाषा में इस प्रथा को पगड़ी बाधना कहा जाता है। इस प्रकार कुल मे जिस व्यक्ति के सिर पर पगड़ी बांधकर (मूर्धाभिषेक से) उसे सारे कुल की जिम्मेदारी सौपी जाती थी, उसे **मूर्धाभिषिक्त** या अभिषिक्त वंश्य कहा जाता था। इसी का एक दूसरा नाम राजन्य भी होता था।

सुधर्मा या देवसभा:—सघो या गणो की सब कार्यवाहियो मे कुलो के प्रतिनिधि भाग लिया करते थे, प्रत्येक कुल को उस समय इकाई माना जाता था। सघ की कार्यवाही मे भाग लेने वाला हर घर का बडा बूढ़ा व्यक्ति राजा कहलाता थी, इसीलिए महाभारत के सभापर्व (१४।२) मे घर-घरमे राजाओ का वर्णन किया गया है (गृहे गृहे हि राजान.)। लिच्छवि गण मे ७७०७ कुल और इतने ही राजा थे। चेत नामक जनपद मे ६०,००० क्षत्रिय थे और इन सबकी उपाधि राजा थी। इस प्रसग मे यह प्रश्न विचारणीय है कि सघ के शासन मे क्या ये सभी लोग भाग लेते थे। इस प्रश्न का उत्तर हमे प्राचीन यूनान के नगर-राज्यो की व्यवस्था से भारत की संघ शासन पद्धति की तुलना करने पर मिल जाता है। यूनानी नगर-राज्यो में भी सब नागरिको के लिये राज्य के शासन मे भाग लेना आवश्यक था, क्योकि उनके यहाँ प्रतिनिधि चुनने की प्रथा नही थी। उदाहरणार्थ ४३१ ई० पू० एथेन्स के नगरराज्य मे ४२ ००० नागरिक थे। सिद्धान्त रूप से इन सब को इस नगर का शासन सचालन करने वाली सभा मे भाग लेने का अधिकार था। किन्तु इन सभाओ में उपस्थित होने वाले लोगो की सख्या २–३ हजार से अधिक न होती थी, सर्वसम्मति से पास होने वाले प्रस्तावो के लिये छ हजार की गणपूरक सख्या मान ली गई थी अर्थात् इतने सदस्यो की उपस्थिति हो जाने पर वह प्रस्ताव पूरे गण की ओर से पास किया समझा जाता था।[1] इससे यह स्पष्ट है कि यूनान मे मुश्किल से ७–८ प्रतिशत नागरिक ही राज्य सचालन के कार्यों मे भाग लेते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यूनान की भाँति भारत मे भी गणराज्यो की महा-

१. ग्लास्स—ग्रीक सिटीस्टेटस् पृ० १५३।

सभा में ६००० व्यक्तियों की उपस्थिति का अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है। यहाँ समस्त जनों की सभा **देवजनसभा** कहलाती थी। इसी का दूसरा नाम **सुधर्मा** था। महाभारत में अन्धक वृष्णि संघ के लिये इसी शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] भारत के गणराज्यो में सुधर्मा अर्थात् समस्त गणराज्य की सभा के लिये ६००० व्यक्तियों की उपस्थिति पर्याप्त समझी जाती थी। किन्तु सामान्य रूप से यह उपस्थिति यूनानी नगरराज्यो की भाँति बहुत कम मुश्किल से ८–१० प्रतिशत या इससे भी कम होती थी। डा० जायसवाल ने यह मत रखा था कि कुछ गणतन्त्रों में ब्रिटेन की भाँति लार्डसभा और लोकसभा नामक दो सभायें होती थी।[2] किन्तु यह मत ठीक नही प्रतीत होता है। इन गणो की केन्द्रीय महासभा-सुधर्मा या देवसभा में केवल विभिन्न कुलो के वृद्ध पुरुष सम्मिलित हुआ करते थे।

गणराज्यो या सघो की महासभा मे शासन के सब अधिकार निहित थे। इन्हें अपने अधिकारो और शक्ति का बडा ध्यान रहता था। ये केवल मंत्रिमण्डल के सदस्यो का ही नही, अपितु सेनापतियो का भी निर्वाचन किया करती थी। मौर्य-युग मे सिकन्दर के आक्रमण का समाचार मिलने पर अम्बष्ठों ने तीन प्रसिद्ध योद्धाओं को अपनी सेना का नेतृत्व करने के लिये चुना था। एक लेख मे यौधेय गण के एक सेनापति के पुरस्कृत अथवा निर्वाचित किए जाने का उल्लेख मिलता है।[3] किन्तु शनै. शनैः अन्य गणराज्यो मे यह पद आनुवंशिक होने लगा था। २२५ ई० मे जिस मालव सेनापति ने अपने राज्य की खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की थी उसके वंश मे लोग तीन पीढियो से सेनापति होते आये थे, किन्तु ये सेनापति कभी भी राजा या महाराजा जैसी उपाधियाँ नही धारण करते थे।

गणराज्यो की महासभा विदेश नीति के सचालन का, दूसरे देशो के साथ सन्धि करने और लडाई छेडने का पूरा अधिकार रखती थी। मौर्य युग में इस प्रकार के कई उदाहरण मिलते है कि ये सभाएँ विदेशी राज्यो से आने वाले राजदूतों से मिलकर उनके प्रस्तावो पर विचार करती थी और सन्धिविग्रह के प्रश्न का निर्णय किया करती थी।[4] सकटकाल में यह अधिकार महासभा के प्रमुख नेताओं को दे

---

१ महाभारत १।१२।२१०––ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।

२ जायसवाल––हिन्दू पोलिटी पृ० ८४।

३. फ्लीट–का० इं० इं० पृ० २५२।

४. जातक ४।१४५, राकहिल-लाइफ आफ बुद्ध पृ० १६।

दिया जाता था। क्षुद्रको ने सन्धिवार्ता के लिए सिकन्दर के पास अपने जो १५० दूत भेजे थे, वे वास्तव मे उनकी केन्द्रीय समिति के प्रभावशाली सदस्य थे। महाभारत मे भीष्म ने यह मत प्रकट किया है कि केन्द्रीय महासभा में सन्धि-विग्रह जैसे नाजुक प्रश्नो पर सार्वजनिक चर्चा राज्य के लिए अहितकर है, ऐसे प्रश्नो का निर्णय गणराज्य के प्रधान नेताओ को आपस मे मिलकर ही करना चाहिए। इसका कारण सम्भवत: यह था कि सार्वजनिक प्रश्नों की खुली चर्चा से शत्रु को राज्य के गुप्त रहस्यो का तथा विभिन्न सदस्यो के विचारो को जानने का अवसर न मिल सके और वह इससे लाभ न उठा सके।[१] गणराज्यो की महासभा सरकार पर पूरा नियन्त्रण करती थी और शासन-कार्य करने वाले व्यक्तियो की कठोर आलोचना किया करती थी। महाभारत मे अन्धक वृष्णि संघ के प्रधान श्रीकृष्ण ने नारद से यह शिकायत की है कि अपनी जाति के भाइयो का स्वामी कहलाता हुआ भी मै उनकी दासता करता हूँ; स्वामी (ईश्वर) नही हूँ, भोगो को आधा भोग पाता हूँ, उनके दुर्वचन मुझे सुनने और सहने पडते हैं, मानो कोई आग चाहने वाला व्यक्ति वाणी से मेरे हृदय को अरणि की तरह से मथता रहता हो, वे दुर्वचन बोलने वाले व्यक्ति मुझे सदैव जलाते रहते है।" कृष्ण की यह उक्ति वर्तमान समय मे लोकतन्त्रो के प्रधान मन्त्रियो की विरोधी दलों द्वारा की जाने वाली कटु आलोचनाओ का हमे स्मरण कराती है। इस विषय मे एक प्रसिद्ध उदाहरण १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध छिडने पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री नेविल चेम्बरलेन के युद्ध-संचालन की विरोधी पक्ष के श्री चर्चिल द्वारा की गई कठोर आलोचना है।

दलबन्दी—इन प्राचीन गणराज्यो मे वर्तमान राज्यो की भाँति बडी दलबंदी हुआ करती थी। इसका कारण सदस्यो की आपसी ईर्ष्या और अधिकारलोलुपता थी। उस समय सघ के सदस्य अधिकार-प्राप्ति के लिए गुटबंदी किया करते थे, इन गुटो के नेताओ के हाथ मे बड़ी शक्ति होती थी। प्राय दौड-धूप करने वाले, जोड-तोड़ मे निपुण, वाक्-पटु व्यक्ति गुटो के नेता बनने में सफल हो जाते थे और ये शासन-कार्य का संचालन करनेवाले व्यक्तियो की नाक मे दम कर देते थे। अन्धक वृष्णि संघ मे इस प्रकार के कई नेता सकर्षण, गद, प्रद्युम्न आदि थे। इनके जोड-तोड से दु:खी होकर श्री कृष्ण ने कहा था—"हे नारद ! मै असहाय हूँ, क्या करूँ ? इस संघ में आहुक और अक्रूर इस प्रकार के दुष्ट नेता है कि वे जिसके साथी बनते हैं, उस

१. महाभारत १२/१०७/२४, न गणा : कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहित मिथ: ॥

पर इतना अधिक दबाव डालते है कि वह परेशान हो जाता है और विपक्षी लोग भी उनके कुचक्रों से पीडित रहते है।" इस प्रकार जब संघों में कुछ व्यक्ति अपनी दुष्टता के कारण प्रभावशाली बन जाते थे तो सभी पक्ष उनसे घबराया करते थे। वर्तमान समय की भाँति उस समय भी शासनारूढ दल को पदच्युत करना बड़ा कठिन कार्य था। गणराज्य मे दलबन्दी तीव्र होने पर संघ के मुखिया की स्थिति बडी नाजुक और दयनीय होती थी, वह संघ के हित को सर्वोपरि रखते हुए कार्य करना चाहता था, किन्तु जब उससे विपक्षी दलो के अपने स्वार्थ सिद्ध नहीं होते थे तो वह उनके प्रबल रोष और तीव्र असंतोष तथा कठोर आलोचना का शिकार बनता था। राज्य के हित से प्रेरित होने के कारण वह किसी के भी पक्ष का जब पूर्ण रीति से समर्थन नही कर सकता था तो उसकी दशा उस माता की भाँति हो जाती थी जिसके दो पुत्र जुआ खेलते समय आपस में झगड़ते हों और किसी की भी विजय उसके लिये हर्ष का कारण न बन सकती हो। श्रीकृष्ण ने यह कहा है —"हे नारद ! मै जुआरियो की माँ की तरह से आहुक व अक्रूर में से न तो एक की जीत चाहता हूँ और न ही दूसरे की हार।"

आजकल गणराज्यो की दलबन्दी का आधार प्राय. विभिन्न दलो के आदर्श, सिद्धान्त और कार्यक्रम होते हैं। किन्तु उस समय ये दल व्यक्तियों के आधार पर बनाये जाते थे। पतजलि के महाभाष्य मे यह कहा गया है कि अक्रूर के समर्थक अक्रूरवर्ग्य या अक्रूरवर्गीण और वासुदेव के समर्थक **वासुदेववर्ग्य** या **वासुदेववर्गीण** कहलाते थे (४।२।१०४)। इन्हें गृह्य और पक्ष का नाम भी दिया जाता था (३।१।११९ पर काशिका)।[१] महाभाष्यकार ने इन दलों को वर्ग्य और गृह्य कहा है, पाणिनि ने ऐसे राजनैतिक दलो को **द्वन्द्व** का नाम दिया था और सत्ता-प्राप्ति के लिए इनकी स्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता को **व्युत्क्रमण** कहा था। उस समय किसी दल के सदस्य अपना जो नेता चुनते थे उसे **परमवर्ग्य** कहा जाता था। परमवर्ग्य शब्द से प्रकट होता है कि दल के सब सदस्यो द्वारा जो उनका अगुआ या नेता चुना जाय वह उनमें **परम** कहलाता था। इस प्रकार एक ही दल के अन्तर्गत उसका नेतृत्व परमता के पद की प्राप्ति थी। किन्तु यदि संघ के अन्तर्गत समस्त कुलो द्वारा कोई व्यक्ति उनका नेता या अधिपति चुन लिया जाय तो वह श्रेष्ठ कहलाता था।[२]

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल–पाणिनिकालीन भारत पृ० ४४४।

२. महाभारत २।१४।६–एवमेवाभिजानन्ति कुले जाता मनस्विनः ।
कश्चिद् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दनः ॥

इस प्रकार एक वर्ग का नेता **परम** और गण का अधिपति **श्रेष्ठ** कहलाता था। **किन्तु** उस समय तुल्य बल की स्थिति मे एक को अतिरिक्त या अधिक मान **देने की प्रथा** भी थी, जैसे वासुदेव और अक्रूर दोनो अपने-अपने दल के परमवर्ग्य या **नेता होने के कारण** समान पद या बल रखते थे। ऐसे अवसरो पर जहाँ दोनो उपस्थित **हों वहाँ प्राथमिकता** का निश्चय **प्रतिष्ठा** (Precedence) के नियम के अनुसार **हो सकता** था। क्षुद्रक और मालव इन दोनों की सम्मिलित सेना मे अपने-**अपने** सेनापतियो या नेताओ के पद समान थे, किन्तु युद्ध के समय दो नेता या सेनापति नही हो सकते थे, अत दोनो मे यह समझौता था कि एक बार क्षुद्रकों का सेनापति होगा तो दूसरी बार मालवो का। यही अतिष्टा की स्थिति प्रतीत होती है।

पारमेष्ठ्य शासन——इस प्रसग मे गणराज्य के एक भेद पारमेष्टय शासन पर भी विचार करना समुचित जान पडता है। गणराज्यो मे शासन की इकाई कुल या परिवार की थी। ये प्राय वही ऊँचे और प्राचीन कुल थे, जो प्रतिष्ठित **समझे** जाते थे और शासन-कार्य मे भाग लेते थे। महाभारत के मत के अनु-सार ये **कुल** एक दूसरे की तुलना मे समान अधिकार रखते थे[1] अर्थात् ये जन्म **और कुल** की दृष्टि से सब प्रकार से एक दूसरे के समान समझे जाते थे और कोई किसी प्रकार की विशिष्टता का दावा नही कर सकता था। महाभारत (शान्तिपर्व १४।२–६) मे सघात्मक पारमेष्ठ्य शासन पद्धति की तुलना साम्राज्य की पद्धति से करते हुए इस पारमेष्ठ्य पद्धति[2] की कई विशेषताए बताई गई हैं। पहली विशेषता यह है कि इसमे प्रत्येक गृह या कुल में राजा होते है और वे अपने कुल के स्वार्थ को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है (गृहे गृहे हि राजान. स्वस्य-स्वस्य प्रियकरा)। दूसरी विशेषता यह है कि जहाँ साम्राज्य पद्धति सबके अधि-कारो को हडप कर समस्त शक्ति एक ही व्यक्ति मे केन्द्रित कर देती है (सम्राट शब्दोहि कृत्स्नभाक्) वहाँ गणराज्य की भावना इसमे सर्वथा विपरीत है, उसमे शक्ति एक व्यक्ति मे केन्द्रित होने के स्थान पर अनेक व्यक्तियो मे विभक्त होती है। पारमेष्ट्य शासन की तीसरी विशेषता यह है कि इसमे सब एक दूसरे की गरिमा या महत्व को स्वीकार करते है (परानुभावज्ञाः) और मिलजुलकर

१. शान्तिपर्व १०८।३० जात्या च सदृशा सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।

२. ऐतरेय ब्राह्मण (८।१५) के निम्न संदर्भ में कई प्रकार की शासन-प्रणालियों का उल्लेख किया गया है —य स इच्छेद एववित् क्षत्रियोऽहं सर्वाजितीर्ज-

रहते हैं (परेण समवेता), वे साम्राज्यवादियो की भाँति दूसरो के अधिकारों को नहीं कुचलते हैं। इसकी चौथी विशेषता यह है कि गणराज्य में इसकी विशाल भूमि दूर-दूर तक अनेक प्रकार के रत्नो और जीवन के कल्याणो से भरी पूरी रहती है, इसमें प्रत्येक व्यक्ति को समृद्ध और सम्पन्न बनाने का यत्न किया जाता है। सपत्ति का वितरण सब मे समान रूप से होता है, किन्तु साम्राज्य मे यह संपत्ति सम्राट् के राजकुल या राजधानी मे ही केन्द्रित और सचित होकर रह जाती है। पारमेष्ठ्य शासन की पाचवी विशेषता यह है कि इसका आधार अथवा मूल शम या शान्ति की नीति होती है जबकि साम्राज्य का मूल तत्व सैनिक शक्ति द्वारा अपने राज्य का विस्तार करना होता है। छठी विशेषता यह है कि पारमेष्ठ्य शासन मे कभी कोई श्रेष्ठ होता है और कभी कोई। इसमे चुनाव के द्वारा श्रेष्टता या परमता कभी किसी के पास चली जाती है और कभी किसी के पास।

संघ का मन्त्रिमण्डल—प्राचीन राजतन्त्र मे जिस प्रकार राजा मत्रिपरिषद की सहायता से विभिन्न राजकीय कार्यों का सचालन किया करता था, उसी प्रकार गणराज्यो मे भी सघ की महासभा के अतिरिक्त एक छोटी संस्था हुआ करती थी, इसे परिषद कहा जाता था। इसके सदस्यो की सख्या पर पतंजलि के महाभाष्य (५–१–५८) से प्रकाश पड़ता है। उसने पाणिनि के एक सूत्र (५–१–५८) का भाष्य करते हुए पाँच (पञ्चक) दस (दशक) और बीस (विशक) सदस्यों वाले सघो का उल्लेख किया है। यहाँ उसका तात्पर्य डा० अग्रवाल के मतानुसार सघ-राज्यो के मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की सख्या से है।[1] इस मत के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय विभिन्न सघो के आकार-प्रकार के अनुसार उनके मत्रिमण्डल के सदस्यो की सख्या ५ से २० तक हुआ करती थी। इस समय के एक प्रमुख गणराज्य अन्धक-वृष्णि सघ के उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। **अन्तगडदसाओ** मे द्वारावती नगरी मे कृष्ण वासुदेव की अध्यक्षता मे दाशार्ह सघ का वर्णन किया

येयम्, अहं सर्वान् लोकान् विन्देयम् अहं सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यम्, अतिष्ठां परमतां गच्छेयम्, साम्राज्यं भौज्य स्वाराज्यं वैराज्य पारमेष्ठ्य, राज्यं महाराज्यमाधिपत्यम्, अहं समन्तपर्यायी स्यां सार्वभौमः सार्वायुषा आन्तादआपरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायाः एकराडिति।

उपर्युक्त विवेचन में इस सन्दर्भ के श्रैष्ठ्य, अतिष्ठा, साम्राज्य, पारमेष्ठ्य तथा एकराज का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है, वैराज्य और भोज्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं है।

१. अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारत वर्ष पृष्ठ ४४७।

गया है। इसकी समुचित व्याख्या पतजलि के दशक सघ से होती है। इसका यह अभिप्राय है कि अधक वृष्णिसघ के मन्त्रिमण्डल मे १० सदस्य थे। इसी ग्रन्थ में बलदेवप्रमुख पञ्च महावीरो का उल्लेख है। इस सघ की वृष्णिशाखा मे बलदेव, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा साम्ब नामक पाँच मत्री सम्मिलित थे, अत. महाभाष्य की परिभाषा मे यह पञ्चक सघ था।

मन्त्रिमण्डल मे मत्री किस प्रकार नियुक्त किए जाते थे, इसके कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नही है। कई बार मत्रियो का चुनाव हुआ करता था, जैसे यौधेय गणराज्य मे युद्धमत्री या सेनापति के चुनाव का पहले उल्लेख किया जा चुका है (पृष्ठ ४१६), किन्तु धीरे-धीरे मन्त्रिमण्डल के पद आनुवशिक होने लगे। यह बात हमे २२५ ई० के एक लेख से ज्ञात होती है जिसके अनुसार मालवो की स्वतन्त्रता के उद्धारक श्रीसोम का वश तीन पीढ़ी से इस गण का मुखिया बना हुआ था। मन्त्रिमण्डल के सदस्यो के पास वर्तमान समय की भाँति विभाग हुआ करते थे। मन्त्रिमण्डल का प्रधान कार्य शासन की देखरेख करने के साथ-साथ गण मे एकता बनाये रखना था और झगड़ो तथा मतभेदो का निवारण करना था। अन्य मत्री परराष्ट्र विभाग, न्याय विभाग, कोष विभाग, तथा व्यापार विभाग की देखरेख किया करते थे।[१]

सघ की महासभा एव मन्त्रिमण्डल का कार्य सचालन करने के लिए कुछ निश्चित सख्या मे सदस्यो का उपस्थित होना आवश्यक समझा जाता था। गण का कार्य इस उपस्थिति के पूरा होने पर ही किया जाता था, अत इस सख्या को **गणपूरणी** कहा जाता था। यदि सघ के किसी अधिवेशन के लिए न्यूनतम उपस्थिति १०० मानी गई थी तो गणपूरक या सघपूरक सदस्य का यह कर्त्तव्य था कि वह अपने अतिरिक्त ९९ सदस्यो को उपस्थित कराके स्वयमेव १०० की सख्या पूरी करने वाला बने। इस प्रकार पूर्ति करने वाले व्यक्ति (Whip) को पाणिनि तथा पतजलि के शब्दो मे गणतिथ का एक विशेष नाम दिया जाता था।[२]

संघो के विभिन्न प्रकार

प्राचीन काल मे गणराज्यो का वर्गीकरण उनकी वृत्ति या कार्य के आधार पर प्रधान रूप से किया जाता था। इस दृष्टि से उस समय सघो के प्रमुख प्रकार

१ अनन्त सदाशिव अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृष्ठ ९७।

२. पाणिनि ५-२-५२, बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्—पूर्यतेऽ नेनेति पूरणम् येन संख्या संख्यानं पूर्यते सम्पद्यते स तस्य पूरणः—मि० काशिका ५-२-४६।

निम्नलिखित थे— **आयुधजीवी संघ**–पतंजलि कौण्डीवृष, क्षुद्रक, मालव आदि अनेक आयुधजीवी संघों से परिचित थे। इनका सर्वप्रथम उल्लेख सम्भवतः पाणिनि के सूत्रों (५।३।११५–१७) में है। इस प्रकरण में ४० सघो के नाम आये हैं। आयुधो या हथियारों से जीविका कमाने वाला सघ आयुधजीवी कहलाता था। जिस प्रकार आजकल नैपाल, गढ़वाल आदि कुछ प्रदेशो के निवासी सेना मे भर्ती होकर अपनी आजीविका कमाते हैं, इसी प्रकार उस समय जो गणराज्य प्रधान रूप से सैनिक वृत्ति द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे, उन्हें आयुधजीवी सघ कहा जाता था। भौगोलिक दृष्टि से पाणिनि ने चार प्रकार के आयुधजीवी संघो का वर्णन किया है। **पहले** प्रकार में वाहीक देश के सघ आते थे। कर्णपर्व के अनुसार सिन्धु नदी और उसकी सहायक पाँच नदियो के बीच का प्रदेश वाहीक था।[१] वाहीक के संघ राज्यो मे सबसे प्रसिद्ध यौधेयगण था जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है।[२] आयुध-जीवियों का **दूसरा** प्रकार पर्वतीय प्रदेशो मे रहने वाला था। अफगानिस्तान, हिन्दुकुश और दर्दिस्तान मे रहने वाली पहाडी जातियाँ ऐसे गणराज्यो के प्रसिद्ध उदाहरण थे। **तीसरा** प्रकार सिन्धु नदी के किनारे बसी हुई **ग्रामणी** नामक नेताओ की अध्यक्षता मे संगठित कुछ जातियाँ थी, ये **ग्रामणीय** कहलाती थी (सिन्धु कूलाश्रिता ये च ग्राम-णीया महाबला, सभापर्व ३२।९)। इन्हें यह नाम देने का एक विशेष कारण था क्योंकि ये एक नेता की अध्यक्षता मे सगठित होते थे। इनका नामकरण नेता के नाम से होता था जैसे देवदत्तक अर्थात् देवदत्त का गण, ये वर्तमान समय के कबायली प्रदेश (Tribal area) के सघ प्रतीत होते हैं। **चौथा** प्रकार व्रात था। ये लूटमार करके अपना निर्वाह करते थे। वैदिक साहित्य में इनका काफी उल्लेख मिलता है, इन्हें वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था मे लाने के लिए व्रात्यस्तोम नामक यज्ञों का विधान श्रौतसूत्रो मे किया गया था। भाष्यकार ने इनके व्रातसघो का वर्णन किया है। ये लोग विकास की आरम्भिक दशा मे थे। वर्तमान कन्जडो और घुमक्कड़ जातियों को इन व्रातसंघो का अवशेष माना जाता है। इसके अतिरिक्त उस समय **श्रेणी** नामक भी एक लोकतंत्रात्मक संगठन होता था। श्रेणियाँ उस समय विभिन्न जीविका या व्यापार करने वालो के छोटे-छोटे सगठन थे, कई श्रेणियाँ मिलकर पूग का निर्माण

---

१. कर्णपर्व ४४।७,—पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां ये अन्तरास्थिताः।
वाहीकानां ते देशाः न तत्र दिवसं वसेत्॥

२ इनके संघों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए। पाणिनिकालीन भारत पृ० ४५७ से ४६६ तक।

करती थी। वस्तुत. उस समय श्रेणी पूग गण और सघ लोकतन्त्रात्मक आधार पर संगठित थे और क्रमश उत्तरोत्तर एक दूसरे से बडे होने वाले सगठन थे।

प्राचीन गणराज्यो की कई विशेषताये उल्लेखनीय है। इन्होने जितनी उत्कट देशभक्ति का प्रदर्शन किया, विदेशी आक्रमणो का जिस वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया और कुषाणो के साम्राज्य का उन्मूलन करने मे और भारतभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराने मे जो कार्य किया, वह तत्कालीन राजतन्त्रो ने नही किया। इस व्यवस्था मे व्यापार और उद्योग की भी बडी उन्नति हुई। इनमे विचार की स्वतन्त्रता और बुद्धिवाद को बहुत महत्व दिया जाता था। इनमे दार्शनिक चिन्तन की भी बहुत प्रगति हुई। फिर भी इन गणराज्यों के कुछ बडे दोष थे। इनका आधार वश या जाति की एकता की भावना थी, अत ये अत्यन्त सीमित क्षेत्र मे ही पनप सके। इनकी दृष्टि अतीव सकीर्ण थी, ये अपने निवास के प्रदेश से परे नही जाती थी। अपने देश पर सकट आने के समय सघ राज्यों के निवासी अपने प्राणो का बलिदान करने के लिए तैयार रहते थे, किन्तु विदेशी आक्रमणो के निवारण के लिए पजाब, राजपूताना, सिंध के गणराज्यो को मिलाकर एक विशाल सघ बनाने की कल्पना उनके मन मे नही आ सकी। अपने कुल के अभिमान, आपसी मतभेद और झगडो के कारण तथा अत्यधिक स्वातन्त्र्य-प्रेम के कारण गणराज्यों मे सुदृढ केन्द्रीय शासन का विकास नही हो सका, इस युग के साथ ही यह शासन-पद्धति हमारे देश मे समाप्त हो गई और राजतन्त्र की व्यवस्था सार्वभौम बन गई।

पूर्वी भारत

इस युग मे इस प्रदेश की शासन पद्धति पर प्रकाश डालने वाला प्रधान साधन खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख है। इसमे हमे कई बाते पता लगती है। महामेघवाहन वश के राजा महाराजा और आर्य की गौरवशाली उपाधियाँ धारण करते थे, किन्तु इन राजाओ के पुत्र मौर्ययुग की भाँति कुमार ही कहलाते थे। इस अभिलेख मे खारवेल के प्रशासन सबधी अनेक उदात्त उद्देश्यों और आदर्शों का वर्णन है। जैन मतानुयायी होते हुए भी उसने उस समय के हिन्दू धर्मशास्त्रो में प्रतिपादित नियमो के अनुसार शासन किया। खारवेल की प्रधान महिषी के मन्चपुरी अभिलेख के अनुसार वह कलिग देश का चक्रवर्ती राजा था[1], इससे यह सूचित होता है कि प्राचीन साहित्य मे वर्णित चक्रवर्ती बनने की कल्पना उसके समय मे बडी लोकप्रिय थी। हाथीगुम्फा अभिलेख से यह प्रतीत होता है कि विभिन्न स्मृतियों

१. सं० इं० पृ० २१६।

मे प्रतिपादित प्रजारंजन और कल्याणकारी कार्यों द्वारा शासन करने का उदात्त आदर्श सदैव उसके सामने विद्यमान रहता था। उसने राजगद्दी पर बैठते ही पहले वर्ष में तूफान से विध्वस्त कलिंग नगरी का पुनर्निर्माण कराया, इसमें शीतल जल वाले सरोवरो की तथा उद्यानों की स्थापना की, इस कार्य को पैंतीस लाख कार्षापणो से करवा के जनता के अनुरंजन का कार्य किया था[१]। अपने शासन के तीसरे वर्ष में खारवेल ने प्रजा के मनोरंजन के लिए राजधानी मे अनेक प्रकार के नृत्य, गीत, वाद्य और मल्लयुद्ध (दर्प) आदि के विभिन्न प्रकार के प्रदर्शनो के लिए अनेक मेले (उत्सव) और गोष्ठियाँ करवाई।[२] कट्टर जैन होते हुए भी खारवेल ने प्रशासन मे सहिष्णुता और उदारता की नीति का अनुसरण किया। उसने सभी धर्मों को अपनी कृपा का पात्र बनाया और उनके धार्मिक स्थानो का जीर्णोद्धार कराया। इसीलिए उसे उपर्युक्त शिलालेख मे सभी धार्मिक सम्प्रदायो का सम्मान करने वाला (सब-पासड पूजक्ते, सर्वपार्षद-पूजक.) कहा गया है।[३] धार्मिक सहिष्णुता की यह नीति प्राचीन भारतीय प्रशासन की एक बड़ी विशेषता है।

पश्चिमी भारत

इस समय पश्चिमी भारत मे शको के चष्टन और कर्दमक वशो ने सुदीर्घ काल तक शासन किया। इनकी शासन-पद्धति पर कुछ प्रकाश एक यूनानी लेखक द्वारा पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध मे लिखे गए पेरिप्लस के भौगोलिक विवरण से पड़ता है। इसके अनुसार बेरीगाजा (भरुकच्छ, आधुनिक भडोच) के बड़े

---

१. सं० इ० पृष्ठ २१६—कलिंगनगरीं खिबीरम् शीतलतडागपाल्य. (पारान्) च बन्धयति सर्वोद्यानप्रतिसंस्थापनं च कारयति पंचत्रिशता शतसहस्रै. [मुद्राणां कार्षापणानाम्] प्रकृतीः च रञ्जयति (अरञ्जयत्)।

२. वही तृतीये पुन: वर्षे गन्धर्ववेदबुधः (खारवेल) दर्पनृत्यगीतवादित्रसंदर्शनैः उत्सवसमाजकारणाभिः च क्रीडयति (अक्रीडयत्)।

३. पासंड शब्द आजकल पाखण्ड के रूप में एक सर्वथा विभिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु प्राचीन काल में इसका प्रयोग सर्वप्रथम अशोक के अभिलेखों में मिलता है। शाहबाजगढ़ी के बारहवें शिलालेख में खारवेल की उपर्युक्त भावना को प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि देवताओं का प्रियदर्शी राजा सब प्रकार के विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों (सत्र-प्रषंडनं—सर्व पार्षदानाम्) का सम्मान करता है। संस्कृत में इसका रूप पार्षद प्रतीत होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है किसी धार्मिक सभा का सदस्य। इसी लेख में अशोक ने सब सम्प्रदायों के मौलिक तत्वों की वृद्धि पर भी बल दिया है।

बन्दरगाह मे जलपोतो के सुरक्षित रूप से संचालन के लिए यह शक राजा अपनी नौकाओ द्वारा नियमित रूप से व्यवस्था किया करता था, इसने दो प्रकार की बड़ी नौकाएं रखी हुई थी, ये काठियावाड़ के समुद्र-तट तक आग बढ़ कर विदेशो से आने वाले जलपोतो का स्वागत करती थी, समुद्रतट के उथले और खतरनाक स्थानों में ये पोत न धँस जाये, इस दृष्टि से उनका मार्ग प्रदर्शन करते हुए उनको सुनिश्चित गहरे जल-मार्ग से ऐसे सुनिश्चित स्थानो और बन्दरगाहो तक लाती थी, जहाँ जलपोत सुरक्षित रूप से लंगर डाल सके। शक राजाओ को विदेशी व्यापार से भारी आमदनी थी, अतः उन्होने इस व्यापार को सुरक्षित करने और विदेशी जलपोतो का मार्ग सुविधापूर्ण बनाने की दृष्टि से यह व्यवस्था की थी ताकि उनके बन्दरगाहो मे अधिक से अधिक विदेशी जहाज अपना माल लेकर आ सके। सम्भवत. इसी कारण उन्होने अपने प्रतिस्पर्धी सातवाहनो का समुद्री व्यापार छीनने के लिए उनके बड़े बन्दरगाह कल्याण के वाणिज्य मे इतनी अधिक बाधाये डाली थी कि कल्याण जाने वाले विदेशी जहाजो को यह खतरा पैदा हो गया था कि यदि वे उधर जायेंगे तो उनके माल को जब्त कर लिया जायगा और उन्हें बेरीगाजा लाया जायगा, अतः वे स्वयमेव बेरीगाजा की ओर ही जाने लगे। पेरिप्लस के लेखक के कथनानुसार प्रतिष्ठान और नगर की मडियो से जो माल पहले इनके निकासी के स्वाभाविक बन्दरगाह कल्याण पर लाया जाता था, वह माल अब दुर्गम और लम्बे पहाड़ी प्रदेश के मार्ग से बेरीगाजा लाया जाने लगा।[1]

नहपान की शासन-पद्धति पर उसके दामाद उषवदात के नासिक गुहा अभिलेख से सुन्दर प्रकाश पड़ता है।[2] इससे हमे यह ज्ञात होता है कि उस समय विभिन्न प्रकार के जो दान धार्मिक सस्थाओ को दिये जाया करते थे, उनकी घोषणा स्थानीय सभाभवन (निगमसभा) मे की जाती थी और इनका पंजीकरण उस समय के रिकार्ड आफिस या लेखा दफ्तर (फलकवार) मे किया जाता था।[3] इससे यह प्रतीत होता है कि उन दिनो निगमसभा अथवा नगरपालिकाओ का प्रशासन में बडा महत्व था क्योंकि राजकीय दान भी इन सभाओ के लेखाकार्यालय में निबद्ध (रजिस्टर्ड) किये जाते थे।

---

१. पेरिप्लस खण्ड ४४, ४८, ५२।
२. ए० इं० खं० ८, पृष्ठ ८२।
३. से० इं० पृष्ठ १६४ से १६७।

पश्चिमी भारत की शक शासन-पद्धति की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इन शासको ने पूर्ण रूप से भारतीय परम्पराओं के अनुसार शासन किया। उत्तरी भारत के क्षत्रप अपनी मुद्राओं पर यूनानी भाषा और खरोष्ट्री लिपि में अपने नाम और उपाधियाँ अंकित करवाया करते थे, किन्तु पश्चिमी भारत के शकों की मुद्राओं पर यूनानी लेख केवल अलकरण के रूप मे दिखाई देते हैं और खरोष्ट्री लिपि का स्थान ब्राह्मी लिपि ले लेती है। इन राजाओ ने प्राकृत भाषा की जगह सस्कृत भाषा का प्रयोग आरम्भ किया और उत्तरी तथा पश्चिमी भारत मे सस्कृत को सरकारी राजकाज की भाषा बनाने की प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया। उषवदात यद्यपि शक राजा नहपान का दामाद था, किन्तु उसके विभिन्न अभिलेखों में उसे स्मृतियों और धर्मशास्त्रो मे प्रतिपादित आदर्शों के अनुसार ब्राह्मणो को अमित दान देने वाला बताया गया है। रुद्रदामा का चित्रण भी गिरनार अभिलेख मे इसी रूप मे किया गया है, सभी वर्ण उससे सरक्षण की आशा रखते थे और वह अहिसा के सिद्धान्त का अनुयायी था। उसने गौओ और ब्राह्मणो को लाभ पहुँचाने वाले कार्य किए थे तथा सुदर्शन बाँध के जीर्णोद्धार के भारी व्यय को पूरा करने के लिए प्रजा को कष्ट पहुचाने वाले कोई कर नही लगाये, अपितु यह व्यय अपने निजी कोष से पूरा किया।

दक्खिन

इस प्रदेश पर इस युग मे सातवाहनो का शासन था। उन्होने अपनी मुद्राओ पर केवल राजा की ही प्राचीन उपाधि का प्रयोग किया। कई बार इन मुद्राओं पर इनके प्रतिस्पर्धी शक राजाओ द्वारा प्रयुक्त स्वामी का शब्द भी दिखाई देता है। केवल बालश्री ने गौतमीपुत्र शातकर्णि के लिए राजराज शब्द का प्रयोग किया है. इसे महाराजा भी कहा गया है। इस वश की रानियाँ मौर्य युग की भाँति देवी की उपाधि धारण करती थी, किन्तु बालश्री ने महादेवी की उपाधि धारण की थी। इस वंश के राजा यद्यपि अपनी माताओ के नाम के आधार पर गौतमीपुत्र आदि मातृपरक नामों को धारण करते थे, फिर भी इनमे वशपरम्परा मातृपरक (Matrilineal) न होकर पितृमूलक (Patrilineal) थी, किसी राजा की मृत्यु होने पर उसका बड़ा लड़का गद्दी पर बैठता था। इनमे शक, पहलव राजाओ की भाँति संयुक्त शासन अथवा द्वैराज्य पद्धति की व्यवस्था न थी। इनकी शासन पद्धति का एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि नायनिका और बालश्री नामक रानियो ने अपने युग के सार्वजनिक जीवन मे बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। नायनिका कुछ समय तक अपने पुत्र वेदश्री

की अभिभाविका थी, बालश्री ने अपने पुत्र के साथ मिलकर एक जिला अधिकारी को दान देने का आदेश किया था।

सातवाहन राजा **मौर्ययुग** के **महामात्रों** के स्थान पर **अमात्यों** द्वारा शासन-कार्य का सचालन किया करते थे। अमात्य शब्द उन दिनो सरकारी अफसरो के सामान्य पद को सूचित करता था। इन अमात्यों की ऊची श्रेणी **राजामात्य** कहलाती थी। अमात्यों को शासन विषयक, आर्थिक तथा जिलो के प्रबन्ध संबंधी अनेक कार्य सौपे जाते थे। इस समय के कुछ सैनिक पदो का भी अभिलेखो मे वर्णन मिलता है। इनमे **सेनागोप** (सेनापति) और **अश्ववारक** (अश्वसेनापति) के नाम उल्लेखनीय हैं। गौतमीपुत्र सातकर्णि अथवा उसके बेटे वासिष्ठीपुत्र पुलुमावी ने महासेनापति का एक अन्य ऊंचा पद आरम्भ किया था। किन्तु इसके यथार्थ स्वरूप का हमे ज्ञान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पद कुलीन व्यक्तियो को दिया जाता था, क्योकि इनकी पत्निया भी अपने लेखो मे इस पद का उल्लेख करती है। इस समय जिलो को **आहार** कहा जाता था, इनके शासन की व्यवस्था अमात्यो को सौपी जाती थी। गाँवो का शासन परम्परागत रीति से इनके मुखियाओ द्वारा ही किया जाता था।

सातवाहन साम्राज्य मे उच्चसत्ता और अधिकार रखने वाले कुछ सामन्त भी होते थे। इन्हें उस समय **महारठी** और **महाभोज** कहा जाता था। ये उपाधियाँ आनुवंशिक होती थी। इन उपाधियो को धारण करने वाले व्यक्तियो के वैवाहिक सबध राज-परिवारो से हुआ करते थे। ये पद उस समय कुलीनता के सूचक समझे जाते थे, अनेक अभिलेखो मे स्त्रियो ने अपने पतियो की इन उपाधियो का उल्लेख किया है।

सातवाहन शासन-पद्धति के आदर्शो का सर्वोत्तम रूप हमे बालश्री के उस नासिक लेख मे मिलता है जिसमे उसने अपने बेटे गौतमीपुत्र सातकर्णि का वर्णन किया है। इसमे कहा गया है कि वह पौरजनो के साथ निर्विशिष्ट सम सुख दु ख वाला है अर्थात् वह अपने प्रजाजनो के सुख मे सुख और दु ख में दु ख मानता है, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करने वाला है, अन्यायपूर्ण रीति से प्रजा का उत्पीड़न करके अपने कोष की वृद्धि नही करता है, अपराध करने वाले शत्रुओ के भी प्राणो की हिसा करने मे उसकी रुचि नही है। वह चारो वर्णों का सकर रोकने वाला है। उसकी माता ने उसकी तुलना प्राचीन भारतीय इतिहास

महापुरुषों से करते हुए उसे राम, केशव या अर्जुन और भीमसेन के तुल्य पराक्रम वाला, नाभाग, नहुष, जनमेजय, ययाति, राम और अम्बरीष के समान तेजस्वी बताया है।

सातवाहनों के बाद दक्खिन के पूर्वी भाग में इक्ष्वाकुवंश के राजाओ ने प्रशासन के क्षेत्र मे सातवाहन परपरा का ही अनुसरण किया। इन्होंने राजा तथा महाराजा की उपाधि धारण की। इनकी पटरानियाँ महादेवी का गौरवपूर्ण पद धारण किया करती थी। ये उच्च पद संभवतः शान्तमूल प्रथम द्वारा सफलतापूर्ण सम्पन्न किये गये अश्वमेध और वाजपेय यज्ञो के बाद धारण किये गये होगे। इक्ष्वाकु राजाओ के समय मे सातवाहनो और कुषाणो के समय के **महासेनापति और महा-दण्डनायक** के उच्चपद बने रहे तथा **महातलवर** नामक एक नये पद की वृद्धि की गई, इसका अर्थ प्रधान न्यायाधीश किया जाता है। इन पदो को धारण करने वाले व्यक्तियो के वैवाहिक सबध राजपरिवार के साथ हुआ करते थे, इनकी पत्नियाँ अपने पतियो की उपाधियो को गर्वपूर्वक धारण करती थी। इस समय राज्य **राष्ट्र** कहलाने वाले जिलों मे बटा हुआ था, किन्तु इन राष्ट्रो के अधिकारियों की पदवी का नाम अभी तक अज्ञात है।

बृहत्फलायन वश के राजा जयवर्मा ने इक्ष्वाकु वश की शासन-परम्परा का अनुसरण करते हुए राजा और महाराजा की उपाधियाँ धारण की। उसके अधिकारियो मे हमें महादण्डनायक और महातलवर के नाम मिलते है, इसके समय मे दान देते हुए सातवाहनवश की पद्धति का अनुसरण किया जाता था, दान की सूचना देने के लिए एक आदेश जिले (आहार) के स्थानीय अधिकारी को राजा के हस्ताक्षरों से युक्त पत्र द्वारा भेजा जाता था। इस वश के समय मे जिले का अधिकारी सातवाहन-काल की भाँति **अमात्य** नही, अपितु **व्यापृत** कहलाता था।

राजनीतिक सिद्धान्त

इस समय के शासनविषयक प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तो का परिचय हमें इस काल मे वर्तमान स्वरूप धारण करने वाली मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत और वाल्मीकि रामायण के अनुशीलन से प्राप्त होता है। यहाँ राज्य विषयक कतिपय महत्वपूर्ण सिद्धान्तो के विषय मे इन ग्रंथों के प्रमुख मतो का सक्षिप्त उल्लेख किया जायगा। ये निम्नलिखित है।

राज्य की उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त---मनु के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति समाज के सुशासन एव व्यवस्था की रक्षा करने के लिए हुई है। जिस समय कोई राजा नही था उस समय चारो ओर भय और आतक का साम्राज्य था, शक्तिशाली

निर्बल लोगो के अधिकारो को हड़प रहे थे, कमजोर भयभीत एव सन्त्रस्त थे, उनका कोई रक्षक नही था। समाज मे कोई व्यवस्था और नियम नही था। इस अराजक दशा का अन्त करने के लिए भगवान ने राजा का निर्माण किया।[1]

मात्स्यन्याय तथा समयवादः—मनु द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त धारणा बहुत प्राचीन थी। कौटिल्य ने भी मौर्य युग में अर्थशास्त्र मे इस बात का उल्लेख किया था कि समाज मे पहले कोई दण्डव्यवस्था न होने से बड़ी अराजकता मची हुई थी, इस दशा में बलवान निर्बल लोगो के अधिकारो को और संपत्ति को उसी तरह हड़प रहे थे जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, इसीलिए इस अराजक दशा को मात्स्य न्याय की दशा कहते है। इसका अन्त करने के लिये अर्थशास्त्र के मतानुसार जनता ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और यह निश्चय किया कि अनाज का छठा हिस्सा और बेची जाने वाली वस्तुओ का दसवा हिस्सा और नकद कर राजा का भाग होगा, वह इसे लेकर प्रजा के कल्याण की व्यवस्था करेगा। इस व्यवस्था के अनुसार राजा के साथ प्रजा का यह समझौता (Contiact) हुआ कि राजा प्रजा की रक्षा करने के बदले मे उनसे वेतन के रूप में यह कर लेगा। इसे **समयवाद का सिद्धान्त** (Theory of Social Contract) कहा जाता है। समयवाद के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन महाभारत के शान्तिपर्व (अध्याय ६६–६७)मे बड़े विस्तार मे किया है। वाल्मीकि रामायण मे भी मात्स्यन्याय की दशा का प्रतिपादन है (२–४३)।

मात्स्यन्याय और समयवाद के सिद्धान्तो के अतिरिक्त राज्य की उत्पत्ति का एक अन्य सिद्धान्त दैवी अधिकार का सिद्धान्त भी है। इसके अनुसार भगवान ने राजा का निर्माण प्रजा के कल्याण के लिए विभिन्न देवताओ के अश लेकर किया है।

राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त (Theory of Divine origin of kingship)—मनु के मतानुसार भगवान ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर नामक आठ देवो के शाश्वत अथवा स्थायी एव सारभूत गुणो को निकालकर राजा का सृजन किया। इद्र देवताओ का राजा, सेनानी, असुरो के साथ सघर्ष करने वाला तथा उन पर विजय पाने वाला है, इसी प्रकार राजा मनुष्यो का स्वामी, नेता तथा अपनी प्रजा को शत्रुओ के साथ सघर्ष मे विजय

१. मनु ७।३ रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः।

दिलाने वाला है। वायु जिस प्रकार हमारे लिए अत्यन्त कल्याणकारी और आवश्यक है, इसी प्रकार सामाजिक जीवन के लिए राजा की सत्ता अनिवार्य है। जिस प्रकार यम पापियो को दण्ड देता है, उसी प्रकार राजा अपने राज्य में अपराध करने वालो को दण्डित करके सुशासन और व्यवस्था को बनाये रखता है। सूर्य और अग्नि का कार्य दिन में और रात मे मनुष्यो को प्रकाश देना है, राजा शिक्षा द्वारा प्रजा को प्रकाश देता है। वह वरुण की भाँति नैतिक व्यवस्था का उल्लंघन करने वालो को अपने दण्डरूपी पाश मे बाँधने वाला है। चन्द्र का प्रधान कार्य आह्लाद या प्रसन्नता देना है, राजा अपनी न्याय-व्यवस्था एव सुशासन आदि के कार्यों द्वारा लोगो को प्रसन्नता प्रदान करता है। कुबेर धन का स्वामी और समृद्धि का प्रतीक है, राजा अपने सुशासन से तथा विभिन्न योजनाओ द्वारा प्रजा को समृद्ध बनाता है। इस प्रकार आठ देवो के विशिष्ट कार्यों को करने के कारण मनु ने यह माना है कि भगवान ने राजा की उत्पत्ति आठ देवो के विशिष्ट अंशो को लेकर की है। इससे स्पष्ट है कि राजा देवता ही नही, किन्तु आठ देवताओ के उत्कृष्ट अशो के समुच्चय से बना होने के कारण वह इनमे से प्रत्येक देवता से महान है। इसलिए मनु राजा के पद को परम पवित्र मानता है। उसका यह कहना है कि राजा चाहे बालक ही क्यो न हो, उसका कभी अनादर नही करना चाहिए, क्योकि वह मनुष्य होते हुए भी पृथ्वीतल पर एक महान देवता के रूप में अवस्थित है।[1]

मनुस्मृति द्वारा प्रतिपादित राजा की दिव्यता का सिद्धान्त भारतीय राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे एक नई देन थी, इसकी प्रतिध्वनि हमे महाभारत के शान्तिपर्व मे अनेक स्थलो पर सुनाई देती है।[2] किन्तु इससे यह परिणाम नही निकालना चाहिए कि मनु ने राजा की दैवी सत्ता के आधार पर उसके निरकुश अधिकारो का समर्थन किया है। मनु राजा की निरकुश सत्ता पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है। उसके मतानुसार मनुष्य की आसुरी प्रवृत्तियाँ समाज मे उद्वेग, अशाति, असंतोष और अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाली है। मानव-समाज मे धर्म का पालन करने वाला, शुद्ध आचरण रखने वाला मनुष्य दुर्लभ है (दुर्लभो हि शुचिर्नर. ७।२२)। अत. मनुष्यो का आचरण शुद्ध बनाने के लिए दण्ड की शक्ति का सृजन भगवान ने किया है और उसका प्रयोग करने के लिए राजा को बनाया है। मनु ने (७।१४)

---

१. मनुस्मृति ७।८—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

२. महाभारत शान्तिपर्व ६७।४०, प्र, ६१।४२–५४, ५८ । ६–१०, १३६।

दण्ड की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि दण्ड ही वास्तविक राजा है, वही शासन करता है और प्रजा की रक्षा करता है (७।१४–१८)। दण्ड को बुद्धिमान् व्यक्ति धर्म मानते हैं। इस दण्ड का ठीक प्रकार से प्रयोग करते हुए राजा की वृद्धि होती है, किन्तु कामात्मा, विषयी और क्षुद्र राजा दण्ड से ही मारा जाता है (७।२७)। दण्ड मे बड़ा तेज है, असयत लोग उसे धारण नही कर पाते हैं। धर्म से विचलित होनेवाले राजा को दण्ड उसके बधु-बाधवो सहित मार डालता है (७।२८)। इससे यह स्पष्ट है कि दण्ड का अर्थ राज्य का न्यायपूर्वक संचालन करना है और यही वास्तविक राजा है। राजा को अपना शासन धर्म के अनुसार अर्थात् धर्मशास्त्रो मे बताये गये नियमो के अनुसार करना चाहिए। यदि वह इन नियमो का उल्लंघन करते हुए शासन करता है और प्रजा को सताता है तो वह राजा नष्ट हो जाता है। इस विषय मे मनु के निम्नलिखित वचन उल्लेखनीय हैं—"जो राजा मोह से या लापरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है वह शीघ्र ही राज्यच्युत हो जाता है और बाधवो सहित जीवन से हाथ धो बैठता है, जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियो के प्राण क्षीण हो जाते हैं वैसे ही राजाओ के प्राण भी राष्ट्र के कर्षण से नष्ट हो जाते है (७।१११–११२)। मृत्यो सहित जिस राजा के देखते हुए चीखती पुकारती प्रजाओ को दस्यु पकडते है, वह मरा है, जीता नही (७।१४३)। जो राजा प्रजा की रक्षा नही कर सकता है, किन्तु बलि का छठा भाग लेता है, उसे लोगो के समूचे मल को उठाने वाला कहते है (८।३०८)। जहाँ साधारण आदमी को एक कार्षापण दण्ड हो, वहाँ राजा को हजार कार्षापण दण्ड होना चाहिए (८।३३६)।" इस प्रकार राजा को देवता बनाने के बावजूद मनुस्मृति उसे मनमाने ढग से शासन करने का या निरकुश होने का कोई अधिकार नही देती है।

याज्ञवल्क्य ने मनु के दण्ड के सिद्धान्त को तो अपनाया है, किन्तु राजा के देवता होने की कल्पना की उपेक्षा की है। उसके मतानुसार "जो राजा अन्यायपूर्वक राष्ट्र से अपना कोष बढाता है वह जल्दी ही श्रीहीन होकर बधुओ सहित नष्ट हो जाता है, प्रजापीड़न की जलन से उठी आग राजा के कुल की श्री को और प्राणो को जलाए बिना नही रह सकती है। (१।३४०–४१)।" अधर्मपूर्वक दण्ड देना स्वर्ग, कीर्ति और परलोक का नाश करता है, उचित दण्ड देने से राजा को स्वर्ग, कीर्ति और विजय मिलती है। चाहे अपना भाई, बेटा, पूज्य गुरु, श्वसुर या मामा भी क्यो न हो, यदि वह अपने धर्म से विचलित हो तो राजा के लिए अदण्डय

नही है। प्रजापीड़क राजा नष्ट हो जाता है, यह सिद्धान्त प्रजा द्वारा अत्याचारी राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के अधिकार को स्वीकार करता है। महाभारत में भी दण्ड के महत्व और धर्मपूर्वक न्याय से शासन करने पर बल दिया गया है। शान्तिपर्व के शब्दो मे धर्मानुसार चलने वाले राजा के लिए माता, पिता भाई भार्या, पुरोहित आदि कोई भी व्यक्ति अदण्ड्य नही है (१२।१२१।६०)। इस प्रकार प्राचीन काल में दण्ड और धर्म का विचार राजा के शासन पर प्रबल अकुश था। मनुस्मृति के एक टीकाकार मेधातिथि ने इस बात पर भी बल दिया है कि राजा की धर्मविरुद्ध आज्ञाओ का मानना लोगो के लिए आवश्यक नही है, राजा धर्मशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित नियमो मे कोई परिवर्तन नही कर सकता है। वह मनु ७।१३ की व्याख्या करते हुए यह कहता है कि राजा की ऐसी आज्ञा का उल्लघन नही करना चाहिए जैसे आज नगर मे सबको उत्सव मनाना होगा, मत्री के घर मे विवाहोत्सव है, वहाँ सब एकत्र हो, आज के दिन सैनिक पशुओ को न मारे ... . । किन्तु वर्णाश्रम के तथा अग्निहोत्रादि धर्म के बारे मे व्यवस्था देने की राजा की कोई शक्ति नही है, क्योकि दूसरी स्मृतियाँ इसके विरुद्ध है।" इस प्रकार उसकी सम्मति मे राजा अपनी स्वेच्छाचारिता केवल छोटी बातो मे ही प्रयुक्त कर सकता था, किसी महत्वपूर्ण मामले मे वह कोई मनमानी नही कर सकता था।

राजा की विशेषताएँ और स्वरूप—मनु के मतानुसार केवल ऐसे व्यक्ति ही सेनापति, राजा, दण्ड देने वालो के नेता और सर्वलोकाधिकारी होने के योग्य हैं जो वेदो और शास्त्रो को जानने वाले हो।[1] राजा का मुख्य कार्य यही है कि वह सब वर्णों और आश्रमो को अपने-अपने धर्म में स्थिर रखे (७।१७)।

मनु के मतानुसार राजा के लिए जहाँ एक ओर वेद का ज्ञाता और धर्मज्ञ होना आवश्यक है, वहाँ दूसरी ओर उसे इन्द्रियों पर विजय पाने वाला भी होना चाहिए, क्योकि जितेन्द्रिय हुए बिना प्रजा को वश मे नही रखा जा सकता है (७।४३), काम क्रोध आदि शत्रुओ पर राजा को विजय पानी चाहिए। मनु ने राजा के विभिन्न व्रतो का वर्णन किया है। उसके मतानुसार राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम वरुण, चन्द्र और अग्नि के व्रतो का पालन करना चाहिए (मनु ९।३०३–१०)। जिस प्रकार इन्द्र वर्षा के चार महीनों मे अच्छी वर्षा करता है,

१. मनु १२।१००, सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।

वैसे ही इन्द्र-व्रत रखता हुआ राजा राष्ट्र पर कामनाओं की वृष्टि करे। जैसे सूर्य आठ मास तक किरणो द्वारा जल लेता है वैसे ही राजा राष्ट्र से कर ले, यह सूर्यव्रत है। जैसे वायु सब पदार्थों मे प्रविष्ट हो विचरता है, वैसे राजा को गुप्तचरो के द्वारा सारी प्रजा मे प्रविष्ट होना चाहिए, यही मारुतव्रत है। इसी प्रकार उसने राजा के अन्य व्रतो की भी व्याख्या की है। उसके मतानुसार राजा के देवता होने का यह अभिप्राय है कि वह इन देवताओ के कार्यो तथा व्रतों को पूरा करे।

मंत्रिपरिषद

मनु का यह विश्वास है कि अकेला मनुष्य सुगम कार्य करने मे भी सफल नही होता है, फिर राज्य के महान कार्य को राजा अकेले कैसे कर सकता है (७।५५), अत राजा को शासन-कार्य मे सलाह अथवा मन्त्रणा लेने के लिए मत्रियो की एक परिषद बनानी चाहिए। एक व्यक्ति में सब बातो की जानने की सामर्थ्य नही होती है, अत राजा को शासन विषयक कार्यों मे एक व्यक्ति से नही, अपितु अनेक विषयो के विशेषज्ञो से परामर्श लेना चाहिए। यह सभव नही है कि समस्याओ के उत्पन्न होने पर विभिन्न विषयो के विशेषज्ञो की खोज करके उनसे परामर्श लिया जाय। अत राजा ऐसे व्यक्तियो से स्थायी रूप से मन्त्रणा करने के लिए मत्रिपरिषद् का निर्माण करता है। इसमे मत्रियो की सख्या के संबध मे मनु ने दो प्रकार के मत प्रकट किए है। पहला मत यह है कि मंत्रियो की सख्या सात या आठ होनी चाहिए (७।५४)। दूसरा मत यह है कि मत्रिपरिषद मे उतने सदस्य होना उचित है जितनो से शासन-कार्य अच्छी प्रकार चलाया जा सके। मत्रियो की विशेष योग्यताओ के बारे मे उसने कहा है कि मत्री वशपरम्परा से राजा की सेवा करने वाले व्यक्तियो (मौल) को, शास्त्रो का ज्ञान रखने वालो को, शूरवीर पुरुषो को, अपना लक्ष्य प्राप्त करने का सामर्थ्य रखने वालो को तथा कुलीन पुरुषो को बनाया जाना चाहिए।

इनके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता मत्रियो का सुपरीक्षित होना थी (७।५४)। मनु ने मत्रियो की शुद्धता की परीक्षा करने की विधि पर कोई अधिक प्रकाश नही डाला है। किन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र से हमे यह ज्ञान होता है कि विशेष प्रकार से मत्रियों की परख करना **उपधा** कहलाती थी, इसका उद्देश्य मंत्रियो के आचरण एव चरित्र की जाच करना तथा यह देखना होता था कि वे विभिन्न प्रकार के व्यसनो

और बुराइयो का शिकार नही बनते है, प्रलोभनों के वशीभूत नहीं होते हैं, भ्रष्टाचारी और दुश्चरित्र नही है। मनु इस बात पर बल देता है कि विभिन्न परीक्षाओ मे खरे और सच्चरित्र सिद्ध होने वाले तथा प्रलोभनो का संवरण करने वाले व्यक्तियो को ही मत्री बनाया जाना चाहिए।

मत्रियो की सामान्य योग्यताओ का वर्णन करने के बाद मनु विभिन्न विभागों को सभालने वाले मत्रियो की विशेष योग्यताओ का वर्णन करता है। उसके मतानुसार शूर, दक्ष व कुलीन व्यक्तियो को अर्थ विभाग, शुद्ध आचरण रखने वाले व्यक्तियो को खानो का विभाग, धर्मभीरु लोगो को अन्त पुर का विभाग, सम्पूर्ण शास्त्रो के ज्ञाता, आकार एव चेष्टाओ से मनुष्य के हृदय के भाव को जानने वाले, अन्त.करण से शुद्ध, चतुर एव कुलीन व्यक्ति को दूत का अथवा परराष्ट्र विभाग का कार्य सौपना चाहिए (मनु ७।६२–६३)।

मत्रियो के विषय मे महाभारत का मत यह है कि राजा को अपने आठ मत्री बनाने चाहिए और इनसे परामर्श लेना चाहिए (१२।८५।७–१२)। इसके अतिरिक्त वह अमात्यो की सख्या विभिन्न वर्णों के अनुसार निश्चित करता है— चार ब्राह्मण, अठारह क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य व तीन शूद्र और १ सूत (पौराणिक)। इस प्रकार कुल ४७ अमात्य नियुक्त करने का वह परामर्श देता है। ये अमात्य सभवत· ७–८ मत्रियो के मत्रिमण्डल के अतिरिक्त वर्तमान समय की प्रिवी कौन्सिल जैसी एक बडी परामर्शदात्री संस्था होती थी, इसके सदस्य अमात्य कहे जाते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र से हमे यह प्रतीत होता है कि अमात्य विभागो के अध्यक्ष एव उच्चपदस्थ अधिकारी होते थे, किन्तु पद की दृष्टि से वे मत्रियो से नीचे थे और इनका वेतन भी मत्रियो से कम था। कौटिल्य ने मत्रियो का वार्षिक वेतन ४८,००० पण और अमात्यो का वेतन १२,००० पण निश्चित किया था। अमात्य पद के लिए योग्य पुरुष को उस समय मत्री पद के लिए उपयुक्त नही माना जाता था।[१] सामान्य रूप से राजा राजकीय विषयों मे मत्रियो से ही परामर्श एवं मत्रणा किया करता था, किन्तु गभीर परिस्थिति होने पर अमात्यों को भी मंत्रियों के साथ ही सलाह लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। ये वस्तुतः वर्तमान परिभाषा मे उच्च सरकारी कर्मचारी एव विभिन्न विभागों के अध्यक्ष थे। पहले यह बताया जा चुका है कि सातवाहन शासन-पद्धति में प्रादेशिक शासकों और विभागों

---

१. अर्थशास्त्र १।८, अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मंत्रिणः।

के अध्यक्षों को अमात्य कहा जाने लगा था। महाभारत के ४७ अमात्य राज्य के उच्च सरकारी कर्मचारी ही प्रतीत होते है।

प्रशासन की व्यवस्था—मनु ने नगरो और देहाती प्रदेशो के प्रशासन की व्यवस्था का सक्षिप्त उल्लेख किया है। उसके मतानुसार प्रत्येक नगर मे न्याय, प्रशासन, पुलिस आदि के सभी कार्यो पर विचार करने वाला सर्वार्थचिंतक नामक एक अधिकारी होना चाहिए। राजा को दौरे करके तथा गुप्तचरों द्वारा सब सरकारी कर्मचारियो पर पूरा प्रभावशाली नियत्रण रखना चाहिए। इस पर बल देने का यह कारण था कि मनु के मतानुसार सरकारी राजकर्मचारी प्राय. दूसरो की सपत्ति को हड़पने वाले और धूर्त होते है, राजा को इनसे अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। जो सरकारी कर्मचारी कार्य कराने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियो से द्रव्य अथवा घूस लेते है, ऐसे रिश्वतखोर कर्मचारियो का सर्वस्व छीन कर राजा को उन्हें अपने राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए (मनु ७।१२३–२४)।

स्थानीय स्वशासन व्यवस्था मे उसके अनुसार प्रत्येक ग्राम का एक अधिपति या मुखिया (**ग्रामिक**) होना चाहिए। वह दो, तीन, पाँच और सौ गाँवो के बीच मे शांति एवं सुरक्षा बनाए रखने के लिए राजा को अपने थाने (गुल्म और राजस्थान) बनाने तथा इनमे योग्य कर्मचारी नियत करने मे सहयोग देता है। कर-वसूली के लिए एक गाँव मे १ मुखिया, १० गाँवो पर, एक दूसरा कर्मचारी **दशेश**, २० गाँवो पर, तीसरा कर्मचारी **विंशतीश** तथा सौ गाँवो पर एक अन्य चौथा कर्मचारी **शतेश** और हजार गाँवो पर पाँचवाँ अधिकारी **सहस्त्रपति** राजा द्वारा नियत किया जाना चाहिए। मालगुजारी की वसूली के लिए मनु के अधिकारियो का यह क्रम वर्तमान समय में प्रचलित लेखपाल या पटवारी, कानूनगो तथा तहसीलदार जैसी व्यवस्था को सूचित करता है। उस समय मालगुजारी वसूल करने वाले उपर्युक्त अधिकारी शासन एव व्यवस्था के भी कार्य किया करते थे, क्योकि मनु यह भी कहता है कि ग्रामिक अर्थात् गाँव का मुखिया अपने क्षेत्र मे होने वाली दैनिक घटनाओ और अपराधो की रिपोर्ट विंशतीश को, विंशतीश शतेश को और शतेश अपने क्षेत्र की सब घटनाओ की रिपोर्ट सहस्त्रपति अथवा हजार गाँवो के अध्यक्ष को दे। इस प्रकार निचले अधिकारियो से उपरले अधिकारियो को तथा उनसे राजा को राज्य मे होने वाली सब घटनाओ की सूचना मिलती रहती थी (७।११४–२४)। ये अधिकारी न्याय, शांति-स्थापना तथा कर-वसूली के विभिन्न कार्य किया करते थे।

महाभारत में (१२।८७।३–५) मनु के शब्दों को दुहराते हुए प्रत्येक ग्राम पर एक ग्रामिक तथा १०–२०–१०० और १००० गाँवों पर विभिन्न राजकीय अधिकारी नियुक्त करने की बात कही गई है। इससे यह प्रतीत होता है कि ग्रामिक राजा द्वारा नियुक्त किया जाने वाला एक कर्मचारी हुआ करता था। ग्रामिक की चर्चा मथुरा से प्राप्त कुषाण-काल के एक अभिलेख में भी मिलती है।[1] इस जैन अभिलेख में एक ग्रामिक जयनाग की पत्नी द्वारा दिये गये दान का वर्णन है। जयनाग का पिता जयदेव भी ग्रामिक था। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि यह पद वंशपरंपरागत हुआ करता था। यह संभवतः वैदिक साहित्य के ग्रामणी अथवा ग्राम के नेता का एवं परवर्ती युग के ग्रामकूट्क का पर्याय था।

करग्रहण—मनु (७।१२७–१३९) ने प्रजा से थोड़ी ही मात्रा में कर लेने की व्यवस्था की है। इस विषय में उसने जोंक, बछड़े और भौंरे के दृष्टांत दिये हैं। जिस प्रकार भौंरा सब फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है, वैसे ही राजा को प्रजाजनों से कर अल्प मात्रा में ही लेना चाहिए। अत्यधिक लोभ से अपने व दूसरों के सुख के मूल को नष्ट नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो ऐसा करता है वह अपनी जड़ काटता है और अपने प्रजाजनों को कष्ट पहुँचाता है। राजा को पशु और सुवर्ण के लाभ का पचासवाँ हिस्सा, धान्य का आठवाँ, छठा या बारहवाँ हिस्सा कर में लेना चाहिए, वृक्ष, मांस, मधु, घृत, गंध, ओषधि, रस, पुष्प, मूल, फल, पत्रशाक, तृण, चर्म तथा मिट्टी व पत्थर की वस्तुओं की आय का छठा हिस्सा लिया जाना चाहिए। व्यापार करने वालों से थोड़ा सा वार्षिक कर लेना चाहिए। लुहार, बढ़ई आदि से कर के बदले राजा को काम कराना चाहिए। कर के संबंध में राजा को ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए कि काम करने वाले लोग अपने-अपने कामों में लगे रह सकें। राजा को प्रमादरहित होकर अपनी प्रजा का पालन करना चाहिए और लोगों को कष्ट देने वाले भारी करों को नहीं वसूल करना चाहिए। क्योंकि "भृत्यों सहित जिस राजा के राज्य में दुष्ट लोग रोती बिलाप करती प्रजा के जान माल का अपहरण करते हैं, वह राजा जीवित नहीं, अपितु मरा हुआ है (७।१४३)।"

महाभारत में मनु की करविषयक नीति का अनुमोदन करते हुए भीष्म ने यह कहा है कि जो राजा अत्यधिक खाना चाहता है (अत्यधिक कर लगाता है), प्रजा उसके विरुद्ध हो जाती है। प्रजा जिससे विद्वेष करे उसका कल्याण कैसे

१. ए० इं० पृष्ठ ३८७ संख्या ११ और ल्यूडर्स सूची संख्या ४८ और ६६।

संभव है (१२।८७।१९)। अन्यत्र मनु की उपर्युक्त उपमाओं को दुहराते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मधुमक्खी फूल से रस पान करती है वैसे ही राजा प्रजा से कर लिया करे। गाय का दूध तो दुहा जाता है, पर उसके थनो को नहीं काटा जाता है (१२।८८।४)। अन्यत्र भीष्म ने बछडे के दृष्टान्त का विस्तृत उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि बछडे को दूध पीने दिया जाय और उसका ठीक प्रकार से पालन किया जाय तो वह बडा होकर बलवान बन जाता है और बहुत सा बोझ उठाने मे समर्थ होता है, किन्तु यदि गाय का बहुत सा दूध दुह लिया जाय, बछड़े को पर्याप्त दूध पीने को न मिले तो बछडा काम के योग्य नही रह जाता है। इसी प्रकार यदि राष्ट्र के निवासियों से अधिक कर लिया जाय तो वे निर्बल हो जाने के कारण महान कार्य करने योग्य नही रह जायेंगे। अत. जो राजा राष्ट्र का विनाश नही चाहता है, उसे कर के सबध मे वही नीति बरतनी चाहिए, जो नीति बछड़े के संबंध मे बरती जाती है (१२।८७।२०–२१)। पंचतन्त्र मे इस विषय मे माली और बकरी की उपमाये दी गई है। जिस प्रकार माली फूल और फल तोड़ लेता है और वृक्ष को हानि नही पहुँचाता है इसी प्रकार राजा को भी कर लेते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इससे प्रजा को कष्ट न पहुँचे। बकरी काट डालने से अधिक से अधिक एक दिन का आहार मिल जावेगा, पर उसे पालने पर कई वर्षों तक दूध मिलता रहेगा (१।२४२–४३)। सपत्ति के उद्गम के सबंध मे मनु की धारणा यह है कि किसी वस्तु पर व्यक्ति को स्वामित्व उसके परिश्रम से प्राप्त होता है। उसने यह कहा है कि जो जमीन पर लगे पेड़ो के ठूंठ आदि को साफ करके भूमि को कृषि के योग्य बनाता है उस भूमि पर उसी का स्वत्व हो जाता है तथा जो अपने वाण से किसी पशु को वेधता है वह पशु उसी का समझा जाता है।[1] मनु का यह सिद्धान्त ब्रिटिश विचारक लाक के सपत्ति विषयक सिद्धान्त से गहरा सादृश्य रखता है।

न्याय की व्यवस्था—राजा का एक महत्वपूर्ण कार्य प्रजा को न्याय प्रदान करना है। मनु ने आठवें अध्याय मे इसका विस्तृत वर्णन किया है। उसने मनुष्यो में उत्पन्न होने वाले झगडो को अठारह भागो मे बाँटा है। इन विवादास्पद प्रश्नो पर न्याय प्रदान करना राजा का कार्य है। यदि वह यह कार्य स्वय नहीं कर सकता तो उसे वह विद्वानो की न्याय सभा को सौप देना चाहिए। न्यायाधीशो का कर्त्तव्य निष्पक्ष होकर न्याय करना है। वे धर्म का पालन

१. मनु—स्थाणुच्छेदस्य केदारः आहुः शल्यवतो मृगम् ।

करने वाले हैं। जिस न्याय सभा मे धर्म का पालन नही होता है, उसके लिए सब न्यायाधीश दोषी है। न्याय सभा मे जब कोई वि ान प्रवेश करे तब उसे सदैव सत्य बोलना चाहिए, जो सभा मे अन्याय होते देखता है और फिर भी मौन रहता है अथवा सत्य या न्याय के विरुद्ध बोलता है, वह महापापी होता है। जब राजसभा में पक्षपात और अन्याय किया जाता है तो वहाँ अधर्म के चार भाग हो जाते है। इनमे एक भाग पाप करने वालो को, दूसरा झूठी साक्षी देने वालो को, तीसरा न्यायाधीशो को और चौथा भाग न्याय सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है। अत. राजा को इस बात का पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि न्यायाधीशो द्वारा निष्पक्ष रीति से न्याय हो और अपराधियो को समुचित दण्ड मिले। मनु के मतानुसार जो राजा दडनीय अपराधियो को दण्ड नही देता और दण्ड न देने योग्य व्यक्तियो को दण्ड देता है वह महान अपराध और नरक को प्राप्त करता है (८।१२७–२८)।

विभिन्न प्रकार की शासन प्रणालियाँ और इनकी तुलना—प्राचीन भारत में प्रधान रूप से दो प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थी। पहली राजतत्र की शासन प्रणाली थी। इसमे शासन की सम्पूर्ण सत्ता एक ही व्यक्ति में केन्द्रित रहती थी। अत इसे एकराज शासन-पद्धति (Monarchical system) कहा जाता था। दूसरे प्रकार की शासन-पद्धति का नाम सघ था। इसमे शासन-व्यवस्था का संचालन एक राजा द्वारा न होकर व्यक्तियो के एक बड़े समुदाय, संघ या गण द्वारा होता था। इसलिए सघो को गण अथवा **गणाधीन राज्य** भी कहा जा सकता है। **एकराज** अथवा **एकाधीन** शासन प्रणाली मे प्रभुसत्ता एक व्यक्ति मे केन्द्रित होती थी और दूसरे प्रकार मे वह सम्पूर्ण गण में निवास करती थी। प्रायः यह समझा जाता है कि प्राचीन भारत मे एकराज शासन-प्रणाली अधिक प्रचलित थी, किन्तु डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने यह बताया है कि पाणिनि के युग मे जितना महत्व और प्रचार एकराज शासन प्रणाली का था उससे कही अधिक सघ राज्यो का था। उनके कथनानुसार "संघीय आदर्श का सौरभ वाहीक–त्रिगर्त से लेकर सिंधुनद के पश्चिमोत्तर काम्बोज वाल्हीक तक सर्वत्र व्याप्त हो गया था। मोटे तौर पर यह विदित होता है कि देश के प्राच्य भू-भाग में एकराज की प्रथा और उदीच्य भाग में संघो की प्रथा अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति है कि जरासघ के समय में मगध मे ही साम्राज्य की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो शिशुनाग और नंद राजाओ के युग मे और भी आगे बढ़ी, यहाँ तक कि

मौर्य शासन में एकराज जनपद और गणाधीन संघ इन दोनों को समाप्त करके देश-व्यापी साम्राज्य कायम हो गया। किन्तु मौर्य शासन का ढाचा शिथिल पड़ने के बाद फिर एक बार सघो के फेफड़े नवीन श्वास प्रश्वास से भर गये, जिनका प्रमाण भारतीय इतिहास मे २०० ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० तक के अनेक जन पद राज्यों में पाया जाता है।"[1] ये गणराज्य चौथी शताब्दी ई० मे गुप्त साम्राज्य के अभ्युत्थान के बाद समाप्त हो गये।

प्राचीन भारतीय विचारक गणराज्यो के संबंध मे दो विभिन्न प्रकार के दृष्टि-कोण रखते थे। पहला दृष्टिकोण कौटिल्य जैसे विचारकों का था। सिकन्दर के आक्रमण के समय पजाब, सिन्ध और उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक गणराज्यों ने सिकन्दर के आक्रमण का डट कर मुकाबला किया था। उस समय सभवत इनकी उपयोगिता भली भाँति सिद्ध हो गई थी। अत. कौटिल्य ने इनके प्रति मैत्री का सबंध बनाए रखने पर बल दिया। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे लिखा है--दण्ड (सैन्य शक्ति) और मित्र के लाभ की अपेक्षा सघ का लाभ (प्राप्ति) अधिक उत्तम है। जो सघ (गणराज्य) सुदृढ रूप से सगठित (अभिमहत) हो, उन्हें नष्ट कर सकना कठिन काम होता है। अत उन्हें साम और दान के प्रयोग से अपने अनुकूल किया जाय। जो सघ सुदृढ रूप से सगठित न हो, उन्हें भेद और दण्ड द्वारा जीत लिया जाय।[2] इस उद्धरण से तथा अर्थशास्त्र के अन्य प्रकरणो से यह सूचित होता है कि कौटिल्य राजतन्त्र का और शक्तिशाली साम्राज्य का प्रबल समर्थक था। वह उस समय के गणराज्यो को यथासभव अपने साम्राज्य मे सम्मिलित करना चाहता था और जो सम्मिलित न हो सके उन्हें मित्र बनाए रखना चाहता था। उसकी सामान्य नीति इन राज्यो का उन्मूलन करने की थी, अत मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष के समय के अनेक गणराज्य इसके अधीन हो गये। किन्तु मगध साम्राज्य की शक्ति क्षीण होते ही ये गणराज्य पुन: स्वतन्त्र हो गये।

इस समय दूसरा दृष्टिकोण गणराज्यो को उत्कृष्ट शासन-पद्धति वाला समझने का तथा उनकी समस्याओं का बुद्धिमत्तापूर्वक समाधान करने का था। यह विचार-

---

१. वासुदेव शरण अग्रवाल--पाणिनिकालीन भारतवर्ष--पृष्ठ ४३५, इस पुस्तक में पृष्ठ ४३४ से ४६६ तक प्राचीन काल के संघ राज्यों का विस्तृत परि-चय दिया गया है।

२ कौ० अर्थ ११।१--संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तम । संघाभिसंहतत्वाद-धृष्यान् परेषां तानगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम् । बिगुणान् भेददण्डाभ्याम् ।

धारा हमे महाभारत मे मिलती है। शातिपर्व के अध्याय १०७ मे जब युधिष्ठिर ने भीष्म से गणराज्यो की उन्नति व उत्कर्ष के उपाय पूछे तो भीष्म ने गणराज्यो की समस्याओं का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। उसके मतानुसार इनकी लोक-तन्त्रीय व्यवस्था के सबसे बड़े दोष फूट, मतभेद, दलबंदी और राजकीय रहस्यो के गुप्त न रह सकने की बात थी। इनका समाधान उसके मतानुसार सहिष्णुता और उदारता की नीति तथा चुने हुए नेताओ के छोटे मत्रिमण्डल का निर्माण और इसके द्वारा विभिन्न राज-कार्यों का सचालन था। इसके अतिरिक्त भीष्म ने इस बात पर भी बल दिया है कि नेताओ (गणमुख्यो) का विशेष मान करना चाहिए, क्योकि इन राज्यो का अस्तित्व (लोकयात्रा) इन्ही पर निर्भर है। शासन-सत्ता इन्ही के हाथ मे रहनी चाहिए। इन्हें एकत्र होकर तथा परस्पर मिल कर गण का हित करने वाले कार्य करने चाहिए। गणराज्य मे जब तक एकता और सगठन (सघात) की शक्ति बनी रहती है, तब तक उसका उत्कर्ष होता है। शत्रु इन्हें भेद और प्रदान (रिश्वत) के उपायो से नष्ट करते हैं, अत. इन्हें फूट और कलह से बचाना चाहिए। गणो के लिए बाहर के भय से इनके भीतर पड़ने वाली फूट का भय अधिक भीषण होता है। यह गणराज्यो की जड़े तुरन्त काट देता है।

उपर्युक्त विवेचन बड़ा महत्वपूर्ण है तथा यह सूचित करता है कि उन दिनो गणराज्यो की बड़ी कठिनाइयाँ फूट, एकता का अभाव, असहिष्णुता, ईर्ष्या, द्वेष, अनुदारता, कानून का विधिवत स्थापित न होना, उसके अनुसार कार्य न किया जाना अर्थात् मनमाने ढग से शासन करना था। उस समय आजकल के लोक-तत्रो की यह प्रणाली नही प्रचलित थी कि परामर्श का कार्य सबसे लिया जाय और कार्य-सचालन थोड़े ही व्यक्तियो को सौपा जाय और ये व्यक्ति जनता के प्रति उत्तरदायी हो। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था का आविष्कार तो १८ वी शताब्दी के अन्त मे हुआ है। फिर भी भीष्म ने यह एक बड़े अनुभव की बात बताई थी कि गणराज्यो मे समानता का भाव होने पर भी नेताओ के प्रति आदर की भावना होनी चाहिए और सहिष्णुता तथा उदारता से सभी समस्याओ का हल कानून और व्यवस्था का पालन करते हुए किया जाना चाहिए।

उपसंहार:—इस युग मे शासन-पद्धति और राजनीतिक विचारो की दृष्टि से कई नवीन प्रवृत्तियाँ और विशेषताए दृष्टिगोचर होती है। **पहली** विशेषता राजाओ द्वारा गौरवशाली और बड़े-बड़े पद धारण करने की प्रवृत्ति थी। अशोक तथा मौर्य युग के अन्य शासक राजा की उपाधि से सतुष्ट थे, किन्तु इस

युग में कनिष्क आदि राजाओ ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। अशोक ने अपने को केवल देवताओं का प्रिय कहा था, किन्तु कनिष्क ने देवपुत्र की उपाधि द्वारा देवो की संतान होने का दावा किया। हिद-यूनानी राजाओ ने इस समय महाराज और राजाधिराज की उपाधियों को लोकप्रिय बनाया। दूसरी विशेषता विदेशी शासकों द्वारा लाया गया राजा की दिव्यता का विचार था। पश्चिमी एशिया के सेल्यूकस वंशी राजाओं के उदाहरण का अनुसरण करते हुए हिद-यूनानी राजा ऐंटीमेकस और एगोथोक्लीज ने भगवान के पुत्र (Theothropos) की उपाधि धारण की थी। एक अन्य हिन्द-यूनानी राजा यूथीडिमोस को उसकी मृत्यु के बाद भगवान (Theos) कहा गया। कुषाणवशीय सम्राट कनिष्क ने न केवल देवपुत्र की उपाधि धारण की थी, अपितु उसने तथा उसके उत्तराधिकारियों ने अपनी मुद्राओ पर राजा की दिव्यता को सूचित करने के लिए उसकी मूर्ति को बादलों मे से निकलता हुआ और ज्वालाओ से घिरा हुआ प्रदर्शित किया। मनु ने इस समय राजा की दैवी सत्ता के विचार का प्रबल समर्थन किया, किन्तु यह कल्पना इस युग की एक नवीन देन थी। अधिकांश स्मृतिकारो ने तथा मनु ने स्वयमेव राजा की दिव्यता का प्रतिपादन करते हुए भी उसकी निरकुश सत्ता पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लगाये।

इस युग की **तीसरी** विशेषता **द्वैराज्य शासन पद्धति** (Joint Rule) की थी। कुषाण राजाओं मे यह परिपाटी प्रचलित थी कि राजा और युवराज सयुक्त रूप से शासन किया करते थे। पहले इसके अनेक उदाहरण दिए जा चुके है। शको मे पिता महाक्षत्रप और पुत्र क्षत्रप की पदवी धारण करता था। दोनों अपने नाम के सिक्के चलाया करते थे। पश्चिमी भारत के शक क्षत्रपो के राज्य में उत्तराधिकार की एक निराली परिपाटी प्रचलित थी। राजा के मरने पर गद्दी उसके बड़े बेटे को नही, अपितु छोटे भाई को दी जाती थी। इस प्रकार क्रमशः सब भाइयों के राजा बनने के बाद ही इनके बेटो को गद्दी पर बैठने का अधिकार मिलता था। ये दोनो पद्धतियाँ भारत मे अधिक लोकप्रिय नही हुई। जिस प्रकार एक म्यान मे दो तलवारो का तथा एक जगल मे दो शेरो का रहना असम्भव है इसी प्रकार एक राज्य में दो राजा नही रह सकते थे। अत द्वैराज्य पद्धति भारत मे अधिक प्रचलित नही हुई। इस युग की **चौथी** विशेषता राजाओ द्वारा प्रकृतिरंजन अथवा जन कल्याणकारी कार्यों को अधिक महत्व दिया जाना है। इस समय हमे कलिंग में खारवेल, दक्खिन मे गौतमीपुत्र सातकर्णी और पश्चिमी भारत में रुद्रदामा जैसे

नरेशों के दर्शन होते है जो प्रजा के सुख मे अपना सुख और प्रजा के दुःख मे अपना दुःख मानते थे, वे अपनी समूची शक्ति और धन लोकहितकारी कार्यों में लगाया करते थे। वे मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों मे प्रतिपादित आदर्शों के अनुसार शासन करने वाले राजा प्रतीत होते है।

चौदहवाँ अध्याय

कला

शुग-सातवाहन युग भारतीय कला के इतिहास में अपनी कई विशेषताओ के लिए असाधारण महत्व रखता है। मौर्य वश के पतन से गुप्त वश के अभ्युदय तक की पाँच शताब्दियो मे भारतीय कला का विलक्षण बहुमुखी विकास और व्यापक उत्कर्ष हुआ। इस समय कलाकारो और शिल्पियों ने जिन अमर कृतियो की रचनाए की वे आज भी हमारे लिए गौरव और गर्व का विषय बनी हुई है। इस युग की कला की **पहली** उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस समय पत्थर का अधिक प्रयोग होने लगा, प्रस्तर शिल्प और स्थापत्य कला का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस युग से पहले मूर्तिकला मे और भवन-निर्माण मे लकड़ी के माध्यम का अधिक प्रयोग होता था। इस पर काम करते-करते इस समय तक शिल्पियो का हाथ इतना सध गया था कि वे लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग बडी खूबी से करने लगे। **दूसरी** विशेषता पत्थर का प्रयोग करते हुए इस युग मे स्तूपो, मूर्तियो और तोरण वेदिकाओ का निर्माण था। भारहुत, साची, बुद्ध गया, अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा जैसे सुप्रसिद्ध विश्वविश्रुत स्तूप इसी युग की देन है। **तीसरी** विशेषता पहाड़ों में शिलाओं को काटकर गुहाओं, चैत्यो, विहारो और सघरामो के निर्माण की नई शिल्प वास्तुकला (Rock Cut Temples Architecture) का प्रबल आन्दोलन था। इसका श्रीगणेश यद्यपि मौर्य युग मे अशोक के समय मे बराबर नामक पहाड़ी की गुहाओ मे हुआ था, किन्तु ये गुहाये बिलकुल सादी थी। यह आन्दोलन केवल मगध तक ही सीमित था। शुग युग मे समूचे भारत मे पर्वतो में सुन्दर कलापूर्ण विशाल गुहाये काटने का एक आन्दोलन सौराष्ट्र से कलिग तक और महाराष्ट्र से मगध तक फैल गया। इसके परिणामस्वरूप उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि की गुहाये, महाराष्ट्र मे नासिक, कार्ले, भाजा, कोण्डाने, पीतलखोरा, जुन्नर, अजन्ता, बेड़सा, कन्हेरी के चैत्य और विहार बने। तीसरी शताब्दी ई० पू० से आरम्भ होने वाली पर्वतीय वास्तुकला की यह शैली लगभग एक हजार वर्ष तक चलती रही। उत्तर मे मगध से लेकर दक्षिण मे महाबलीपुरम् के मण्डपों तक, पूर्व मे कलिग से पश्चिम मे सौराष्ट्र तक इस शैली के बारह सौ नमूने मिले है, इनमे ९०० गुहाये बौद्धधर्म की प्रेरणा से बनी और शेष तीन सौ जैन तथा

हिन्दू धर्म से सम्बद्ध हैं। इनमे अजन्ता की जगत्प्रसिद्ध २९ गुफाये हैं। इनका आरम्भ इसी युग मे हुआ। इस युग की **चौथी** विशेषता बुद्ध की मूर्ति का निर्माण था। शुग सातवाहन युग के आरम्भ मे भारहुत, साँची और बुद्धगया मे हमे बुद्ध की मूर्ति कही नही दिखाई देती है। इन्हें सर्वत्र चरण, छत्र, पादुका, धर्मचक्र, बोधिवृक्ष आदि के सकेतो से प्रकट किया जाता था, किन्तु इस युग के उत्तरार्द्ध मे मथुरा और गन्धार के कलाकारो ने बुद्ध की मूर्ति का निर्माण करके भारतीय कला मे एक नवीन क्रान्ति का श्रीगणेश किया। यह इस युग की बहुत बड़ी देन थी। **पाँचवीं** विशेषता बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ हिन्दू और जैन धर्म के विभिन्न देवी देवताओं, नागो, यक्षो, यक्षिणियो का प्रचुर सख्या मे निर्माण था। **छठीं** विशेषता इस समय कला के माध्यम से बौद्धधर्म एव लोकधर्म का अद्भुत समन्वय था। भारहुत और साँची मे स्तूप यद्यपि बौद्ध धर्म की प्रेरणा से बने है, किन्तु इनपर बुद्ध के जीवन और शिक्षाओ के अकन के साथ साथ उस समय लोक-प्रचलित यक्ष-यक्षिणियो, नागों तथा अन्य देवी-देवताओ को भी बहुत स्थान दिया गया है। **सातवीं** विशेषता आमोद-प्रमोद और आनन्द का वातावरण है। प्राय. यह समझा जाता है कि बौद्ध धर्म मे दु.खवाद और निराशावाद पर बहुत बल दिया गया है, किन्तु भारहुत, साची और बुद्ध गया के स्तूपो से यह बात प्रमाणित नही होती है। इनके निर्माता यद्यपि बौद्ध थे, उनका उद्देश्य स्तूपो को अलकृत करना था, किन्तु उनकी मूर्तियो मे यथार्थवादी प्राकृतिक ऐद्रियिक दृष्टिकोण की प्रधानता है। इनमें हमे उस समय के उल्लासपूर्ण लोक-जीवन की सच्ची झलक मिलती है। इसका एक बड़ा कारण यह भी प्रतीत होता है कि मौर्य युग तक कला राज्याश्रय मे फलने-फूलने वाली थी। शिल्पियो ने अशोक के आदेश से भव्य कलाकृतियो का निर्माण किया था, किन्तु इस युग मे मूर्ति एवं स्थापत्य कला ने राजदरबार के वातावरण से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से अपना विकास आरम्भ किया।

इस युग की कला के ५०० वर्षों के सुदीर्घ इतिहास को राजवंशो, विभिन्न स्मारकों और प्रादेशिक भेदो के आधार पर कई प्रकार से विभक्त किया जाता है। इस समय भारहुत, साची, बुद्ध गया, मथुरा, गन्धार, पश्चिमी भारत, पूर्वी भारत, अमरावती और नागार्जुन कोण्डा मे विभिन्न प्रकार की कला-शैलियों का विकास हुआ। इन कला-शैलियो के तिथिक्रम मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। फिर भी मोटे तौर से यह माना जाता है कि भारहुत, बुद्धगया और साची की कलाएँ शुगकालीन है। इनमे भारहुत के स्तूप का समय १५० ई० पूर्व, साची का स्तूप पहली

शताब्दी ई० पूर्वका तथा बुद्ध गया का इन दोनो के बीच मे समझा जाता है। इसके बाद कुषाण युग में मथुरा और गन्धार की कला-शैलियो का विकास हुआ। दक्षिण भारत में अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा के स्तूपो का निर्माण हुआ तथा इस समूचे युग में पर्वतीय गुहाओं के चैत्यो और विहारो का निर्माण चलता रहा। यहाँ कालक्रम से विभिन्न कला-केन्द्रो का वर्णन किया जायगा। इस युग की कला का श्रीगणेश स्तूपो से हुआ, इसे जानने के लिए स्तूप के स्वरूप और महत्व का ज्ञान आवश्यक है। अत. पहले इसका परिचय दिया जायगा।

स्तूप का स्वरूप और महत्व:—स्तूप आरम्भ मे मिट्टी का बहुत बड़ा ढेर या थूहा होता था। यह किसी महान् व्यक्ति की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए उसकी चिता के स्थान पर उसके पवित्र अवशेषो को लेकर बनाया जाता था। चिता के स्थान पर बनाया जाने के कारण इसे चैत्य भी कहा जाता था। इस स्थान पर पीपल का पेड़ भी लगाया जाता था। चैत्य पर एक लकड़ी का खम्भा भी खडा किया जाता था। बाद मे स्तूप का विशेष सबध बौद्धधर्म से माना जाने लगा। किन्तु इसकी प्रथा इस धर्म के आविर्भाव से पहले भी थी। वैदिक साहित्य मे स्तूप की चर्चा मिलती है। ऋग्वेद में अनेक स्थलो (ऋ० ७।२।११,१।२४।७) मे इसका वर्णन है। वैदिक कल्पना के अनुसार सूर्य हिरण्यस्तूप है (हिरण्यस्तूप सवितर्यथा त्वा)। बुद्ध से पहले ही स्तूप का सबंध महापुरुषो से जोड़ा जाने लगा था, क्योकि वे सूर्य की भाँति ज्ञान के पुंज या स्तूप हुआ करते थे। बुद्ध अपने बोधिज्ञान के कारण सूर्य की भाँति जाज्वल्यमान समझे गये। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार महापरिनिर्वाण के बाद बुद्ध के भस्मावशेषो (शरीर धातु) के आठ भाग करके इन पर स्तूपों का निर्माण किया गया। बौद्ध धर्म में स्तूप-पूजा को लोकप्रिय बनाने का श्रेय सम्राट अशोक को है। यह कहा जाता है कि अशोक ने पुराने स्तूपो को खुदवा कर इनके भस्मावशेषों का नए सिरे से बटवारा किया तथा प्रत्येक नगर मे स्तूप बनवाया। इसमे सम्भवत: उसका उद्देश्य यह था कि बौद्ध धर्म के अनुयायियो को अपनी पूजा और उपासना के लिए एक मूर्त और ठोस आधार प्राप्त हो, जिसको केन्द्र बनाकर वह अपनी आराधना और पूजा कर सके। अशोक को ८४ हजार स्तूप बनवाने का श्रेय दिया जाता है। उसके प्रयत्नो से ही इनकी पूजा की पद्धति प्रचलित हुई, स्तूपो को एक नवीन स्वरूप प्राप्त हुआ। स्तूपो का महत्व बढने लगा। अब यह बौद्ध धर्म मे पूजास्थान का प्रतीक हो गया। इन स्तूपो का निर्माण बडा पवित्र धार्मिक कार्य समझा जाने लगा। राजा, महाराजा और धनी व्यक्ति इनके निर्माण में प्रचुर सम्पत्ति का

दान करने में होड़ करने लगे। इसके परिणामस्वरूप स्तूप के आकार और अलंकरण में बड़ा परिवर्तन आने लगा।

पहले स्तूप मिट्टी का ऊँचा ढेर होता था, अब इसको ईंटों और पत्थरों से ढक कर अलंकृत किया जाने लगा। भारहुत का स्तूप ईंटों से बना हुआ है। उसके ऊपर चूने का पलस्तर (सुधाकर्म) चढ़ाया गया था। शनै. शनैः स्तूपो का आधार विशाल होने लगा, महास्तूप और महाचैत्य बनने लगे। महावश के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उस समय एक महास्तूप के निर्माण के लिए १० करोड़ ईंटें (महावश ३०।५६, इटका दसकोटियो) एकत्र की जाती थीं। इस स्तूप के चारो ओर वेदिका बनाने की परिपाटी भी आरम्भ हुई। यह वैदिक युग के यज्ञ-मण्डपों से ली गई थी। उन दिनों यज्ञ की वेदी के चारो ओर इस पवित्र स्थान की सीमा-सूचक वेष्टनी या लकड़ी के जंगले की बाड़ बनाई जाती थी। इसी का अनुसरण करते हुए आरम्भ मे स्तूपों के चारो ओर लकड़ी की वेदिकाये (काष्ठवेष्टनी) बनाई गईं। किन्तु लकड़ी की बाड़ जल्दी ही धूप, वर्षा, दीमक आदि के प्रभाव से नष्ट हो जाती थी, अतः इसके स्थान पर पत्थरो की (शिलामयी) वेदिकाएं बनायी जाने लगी। भारहुत और साची के स्तूपो के चारो ओर इसी प्रकार की वेदिकाए या वेष्टनियाँ हैं। इन वेदिकाओ के निर्माण के साथ स्तूप के वास्तु का अधिक विकास होने लगा। इसका सामान्य स्वरूप निम्नलिखित था।

बुद्ध के पवित्र अवशेषो अथवा बौद्धधर्म से सम्बद्ध किसी भी स्मारक को सुरक्षित रखने के लिए स्तूप बनाये जाते थे। इनका सामान्य आकार औंधे या उल्टे कटोरे, बड़े बुलबुले (महाबुब्बुल) अथवा अर्धचन्द्र की आकृति का होता था। इसे स्तूप का अण्ड भाग कहते थे। स्तूप की चोटी बिलकुल गोल न होकर कुछ चपटी होती थी। इस चपटे भाग पर इसका सबसे महत्वपूर्ण अंश **हर्मिका** होता था। इसका अर्थ देवताओ का निवास-स्थान है। यहाँ बुद्ध आदि महापुरुषो के भस्मावशेष सोने, चाँदी आदि धातुओ से बनी हुई छोटी सी पिटारी (धातुगर्भमजूषा) में रखे जाते थे। हर्मिका के बीच मे एक डण्डा (यष्टि) लगाया जाता था। इसका निचला सिरा स्तूप के शिरोभाग मे दबा रहता था। ऊपरी सिरे पर तीन छत्रो को लगाया जाता था, जो उस महापुरुष के आदर, प्रतिष्ठा और गौरव के सूचक होते थे, जिसके अवशष इस स्तूप मे होते थे। बाद में इन छत्रों की सख्या सात तक पहुँच गई। यष्टि और

हर्मिका के चारों ओर इस स्थान के विशिष्ट दैवीय प्रभाव को सूचित करने के लिए खम्भों की एक वेदिका या जगला बनाया जाता था। स्तूप को ऊपर से नीचे तक ईंटो या पत्थरो से ढक दिया जाता था। यह इसका शिलाकंचुक कहा जाता था। बाद में इन शिलाओं को सुन्दर अलकरणों से सुसज्जित किया जाने लगा। छोटे स्तूपो को अल्पेशाख्य और बड़े स्तूपो को महेशाख्य कहा जाने लगा। स्तूपो के नीचे वेदिका के बड़े गोल घेरे की चार दिशाओ मे चार प्रवेश-दार या तोरण बनाये जाते थे। उस समय चारो दिशाओ के अधिपति या संरक्षक देवता माने जाते थे, तोरणो पर इनका अंकन होता था। तोरण और स्तूप के बीच की भूमि प्रदक्षिणापथ कहलाती थी। स्तूपो में तीन जगले (मेधि, वेदिका) या वेष्टनियाँ हुआ करती थी। पहली और सबसे बड़ी वेदिका भूमि पर, दूसरी स्तूप के मध्य भाग मे चारो ओर ऊचे चबूतरे पर बनाई जाती थी। वहाँ तक चढने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थी। इनसे स्तूप के मध्य भाग मे पहुँच कर इसके चारो ओर दूसरी परिक्रमा की जाती थी। तीसरी वेदिका हर्मिका के चारो ओर होती थी और वह आकार मे सबसे छोटी होती थी। इस प्रकार तीन वेदिकाओ से अलकृत (त्रिमेखलामडित) स्तूप की मध्य रचना की जाती थी। ये तीनो वेदिकाएँ क्रमश. भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और द्युलोक की प्रतीक थी। भूमिगत वेदिका का सर्वोत्तम उदाहरण भारहुत स्तूप की वेष्टनी और बीच की वेदिका का ऐसा रूप साँची के तीसरे स्तूप मे मिलता है। वेदिका का निर्माण अनेक स्तम्भ खड़े करके किया जाता था। प्रत्येक स्तम्भ के नीचे का हिस्सा पेन्दी के पत्थर से जड़ा रहता था। इसे आलम्बनपिण्डिका कहते थे। दो खड़े खम्भों के बीच मे दो बडे आडे पत्थर लम्बोतरे छेद काट कर फसाये जाते थे। इनके किनारे सुई की नोक की तरह शेष भाग से सूक्ष्म होते थे, अत इन आडे पत्थरो को सूची कहा जाता था। विभिन्न स्तम्भो के ऊपरी सिरों को ऐसे पाषाणों की पक्ति से जोड़ा जाता था, जिनके निचले हिस्से के छेदों मे (चुल्ली) स्तम्भो के ऊपरी हिस्से (चूड़ा) फँस जाते थे। ऐसे पत्थरो से बनी मुडेरी को उष्णीष (Coping stone) कहते थे। इस प्रकार स्तम्भ, सूची, आलम्बनपिण्डिका और उष्णीष ये चारो मिलकर वेदिका या जगले का निर्माण करते थे। वर्तमान समय मे इस प्रकार की वेदिका का उदाहरण साची का स्तूप है। स्तूप उस महापुरुष का साक्षात्-प्रतीक होता था जिसके भस्मावशेष (शरीर-धातु) इसके गर्भ मे मजूषा या निधान कलश मे रखे जाते थे। अड और हर्मिका से युक्त स्तूप की भव्य आकृति न केवल बुद्ध जैसे महापुरुषों की, अपितु पूरे

विश्व या ब्रह्माण्ड की भी प्रतीक थी। उन दिनो स्तूपो और चैत्यों का निर्माण एक अतीव महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। महावंश (२९ तथा ३० अध्याय) में इस प्रकार के स्तूपो के निर्माण के भारी आयोजन का सुन्दर परिचय दिया गया है। इन स्तूपो के विशिष्ट प्रकार विभिन्न प्रदेशो मे विकसित हुए। अब यहाँ इस युग के प्रमुख स्तूपो का परिचय दिया जायगा।

भारहुत का स्तूपः—इस युग की कला का प्राचीनतम रूप भारहुत के स्तूप मे दिखाई देता है। यह मध्यप्रदेश मे सतना स्टेशन से ९ मील दक्षिण मे है। इस समय यहाँ इस स्तूप का कोई भी अवशेष नही है। १८७३ ई० में जब कनिघम ने इसकी खोज की थी उस समय तक यह स्तूप प्राय पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका था, इसके विभिन्न अशो को आसपास की ग्रामीण जनता ईंटो के लिए खोद कर ले जा चुकी थी। कनिघम ने विभिन्न अशो को आस पास के स्थानो से ढूढ निकाला। इस समय इस स्तूप के अधिकाश भाग कलकत्ता के भारतीय सग्रहालय में तथा कुछ अश प्रयाग के सग्रहालय मे सुरक्षित है। प्राचीन काल मे भारहुत अनेक महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्गों पर अवस्थित था। उन दिनो प्रयाग से जो मार्ग दक्षिणी भारत में प्रतिष्ठान की ओर तथा पश्चिमी भारत मे मालवा की ओर तथा पूर्व मे मगध की ओर जाते थे उन पर यह स्थान अवस्थित था। साची की भाँति यहाँ भी धनी व्यापारियो ने अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करके इस स्तूप का निर्माण किया। इस स्तूप की विशेषताओं को देखने से पहले इसके स्वरूप को और महत्व को जान लेना आवश्यक है।

इस स्तूप का व्यास ६७ फुट ८½ इच था। आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व जब यहाँ कनिघम पहुँचे तो इसका छोटा सा हिस्सा ही अवशिष्ट था। इसके अवशेषों से यह ज्ञात होता है कि यह बड़े आकार की (१२" × १२" × ३½") ईंटों से पत्थर और बजरी के दृढ़ आधार पर बनाया गया था। इस स्तूप के चारों ओर भूमि पर गोलाकार वेदिका, चार तोरणो से चार भागों में विभक्त थी। वेदिका की ऊंचाई ९ फुट और प्रदक्षिणा-पथ की चौडाई १० फुट ४ इंच थी। इसके तोरण-द्वार दो बड़े स्तम्भों पर बने हुए हैं। इन स्तम्भों के शीर्षकों के ऊपर चौकी में दो पंख वाले शेर और दो बैल हैं। इनके ऊपर तीन आडी धरन या बण्डेरियाँ (Architrave) हैं इनके गोलाकार सिरों पर मकराकृति उत्कीर्ण हैं और बीच में अनेक पशुओं की आकृतियाँ बनी हुई हैं। दोनों स्तम्भों पर सबसे ऊपर की बण्डेरी पर धर्म चक्र

और त्रिरत्न के चिन्ह बने हुए हैं। भारहुत स्तूप की तोरण वेदिका विभिन्न प्रकार की मूर्तियों और चित्रों से अलंकृत की गई थी।

इस स्तूप की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमे बुद्ध के जीवन से संबंध रखने वाली घटनाओ का तथा जातको की कथाओ का अंकन हुआ है। इससे पहले मौर्ययुग की कला में इस प्रकार की कोई कृति दृष्टिगोचर नहीं होती है। भारहुत मे बुद्ध के जीवन से सबद्ध आधा दर्जन घटनाओ का चित्रण है। एक दृश्य मे बुद्ध की माता मायादेवी द्वारा तथागत को गर्भ मे धारण करने का चित्रण है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार मायादेवी को एक बार रात को सोते समय यह स्वप्न आया था कि बोधिसत्व श्वेत हाथी के रूप म उनकी कुक्षि में प्रवेश कर रहे हैं। इसका चित्रण करते हुए एक दृश्य के मध्य मे विविध आभूषणों-कर्णालंकार, हार,कंकण, मेखला से सुसज्जित मायादेवी को पलग पर सोये हुए दिखाया गया है। रात्रि के समय को सूचित करने के लिए रानी के पैरो की ओर पलग के निकट एक अलंकृत दीवट पर दिया जल रहा है। रानी की सेवा के लिए तीन परिचारिकाये बैठी हैं। इनमे एक मच्छर हटाने के लिए चंवर झल रही है, सिर के पास बैठी दूसरी ने भक्ति की मुद्रा में हाथ जोड़े हुए हैं, पैरो के पास तीसरी सेविका बैठी है। ऊपरी भाग मे बोधिसत्व को हाथी के रूप मे दिखाया गया है। इसके नीचे **भगवतो उक्रन्ति** अर्थात् भगवान बुद्ध के गर्भ में प्रवेश (अवक्रान्ति) का लेख है। इस स्तूप के विभिन्न दृश्यो के नीचे इनके नाम और शीर्षक दिये गये है। इनसे इन चित्रो के पहचानने मे बडी सुविधा हो जाती है। इस प्रकार के अन्य दृश्य कोशल के राजा प्रसेनजित का बुद्ध के पास आना, उनकी वन्दना करना, नागराज ऐरापत द्वारा बुद्ध की पूजा, अपनी माता को त्र्यांस्त्रिश स्वर्गलोक मे धर्म का उपदेश देने के बाद में बुद्ध का पृथ्वी-लोक पर उतरना है। इन सभी दृश्यो में बुद्ध को कहीं भी मानवीय रूप मे नही दिखाया गया है, उनको सर्वत्र बोधिवृक्ष, चरणचिन्ह आदि के रूप में अंकित किया गया है। एक अन्य दृश्य में हाथी पर सवार राजा अजातशत्रु लम्बे जलूस के आगे आते हुए दिखाया गया है। हाथी से उतर कर राजा को अंजलि बाँध कर वज्रासन के रूप मे बुद्ध की वन्दना करते हुए चित्रित किया गया है। एक दूसरे दृश्य मे श्रावस्ती के करोड़पति सेठ अनाथपिण्डक द्वारा जेतवन को खरीदने का चित्रण है। श्रावस्ती का नगरसेठसुदत्त अनाथो को भोजन देने के कारण अनाथ-पिण्डक कहलाता था। यह बुद्ध का परम भक्त था, इसने बुद्ध को श्रावस्ती में निमन्त्रित किया। उनके निवास की व्यवस्था के लिए उसने राजकुमार जेत से उसका

फलक–१ माया का स्वप्न, भारहुत स्तूप, दूसरी श० ई० पू० पृ० ४५४

फलक–२ जेतवन का दान, भारहुत स्तूप, दूसरी श० ई० पू०, पृ० ४५४

फलक–३ बुद्ध की उपासना, भारहुत स्तूप, दूसरी श० ई० पू० पृ०, ४५४, इसमें बुद्ध की मानवीय मूर्ति के स्थान पर उनको धर्मचक्र के प्रतीक के रूप में अंकित किया गया है।
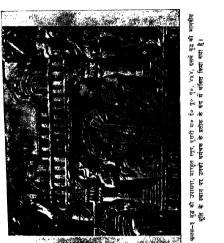
फलक–४ बुद्ध की उपासना, मारहुत स्तूप, दूसरी श० ई०, पृ० ४५४, इसमें बुद्ध को बोधिवृक्ष के प्रतीक के रूप में अंकित किया गया है।

एक बगीचा मोल लेने की बात की, यह उसके नाम पर जेतवन कहलाता था। जेत ने कहा, इसकी भूमि पर जितने सोने के सिक्के बिछ जाय वही इसका मूल्य है। अनाथपिण्डक ने इस दाम पर जेतवन खरीदना स्वीकार कर लिया। इस कथा को भारहुत मे बड़े सुन्दर ढग से चित्रित किया गया है। इसमे दांयी ओर उपरले सिरे पर नीचे चन्दन के पेड और बायी ओर नीचे एक आम का पेड़ इसके बगीचा होने की सूचना दे रहे है। सिहली अनुश्रुति के अनुसार बगीचे का सौदा तय होने पर अनाथपिण्डक ने जब इसकी सफाई करने का आदेश दिया तो इन चार पेडो को छोड़ कर सभी पेड़ काट दिये गये थे। दांयी ओर नीचे सिक्कों को लाद कर लाने वाली बैलगाडी दिखाई गई है। इसके बैल खोल दिये गये हैं, जुआ ऊचा उठा हुआ है। इसकी दांयी ओर बैठा हुआ एक सेवक सिक्को को गिन रहा है, उसके सामने खडी बैलगाडी के दूसरी ओर अनाथपिण्डक इस गिनती का निरीक्षण कर रहा है। बैठा हुआ सेवक सिक्कों को गिन कर समवत थैलियों मे भर रहा है क्योंकि उसके ऊपर दायी ओर एक अन्य सेवक ने पीठ पर थैली लादी हुई है। यह बडी सुस्ती से इन्हें तीन पेडो के नीचे सिक्के बिछाने वाले सेवको के पास ले जा रहा है क्योकि वे अपने सब सिक्के बिछाकर अधीरता से इसकी ओर देखते हुए नये सिक्को के आने की प्रतीक्षा कर रहे है। मध्यभाग मे अनाथपिण्डक को एक टोंटीदार जलपात्र लेकर यह उद्यान बौद्ध संघ को दान करते हुए दिखाया गया है। बायी ओर कुछ पुरुषों का समूह खड़ा है, ये दान दिये जाने के दृश्य को देख रहे हैं, इनमें सबसे आगे हाथ जोडे खड़ा व्यक्ति समवतः राजकुमार जेत है। बायी ओर ऊपर नीचे दो मकान बने हुए है। इन पर अंकित लेख के अनुसार ऊपर वाला गन्धकुटी भवन तथा निचला कोसम्ब कुटी है, दोनो का अर्थ फूलो की गन्ध से सुवासित कुटिया है। इन दोनो का निर्माण अनाथपिण्डक ने जेतवन खरीदने के बाद बुद्ध एव अन्य भिक्षुओ के निवास के लिए किया था। इस दृश्य का परिचय देने के लिए इस पर यह लेख अंकित है—जेतवन अनाथपेडिको देतिकोटिसंहतेन केतो अर्थात् एक करोड की मुद्राये बिछा कर खरीदे गये जेतवन का अनाथपिण्डक दान कर रहा है।

यहाँ गौतम बुद्ध के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐतिहासिक बुद्धों का भी उनके विशिष्ट बोधि वृक्षो के साथ अंकन किया गया है, जैसे गौतम बुद्ध का संबंध पीपल से था वैसे ही काश्यप बुद्ध का वट वृक्ष से, कनक मुनि का उदुम्बर से, विप-स्सिन का पाटलि से, शिखी का पुण्डरीक या श्वेत कमल से, विश्वभू का शाल से

और ककुच्छन्द बुद्ध का शिरीष से। इन वृक्षो पर उपर्युक्त बुद्धों के नाम अंकित हैं। यहाँ बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओ (जातकों) के कई दृश्यो का भी अंकन किया गया है। ये जातक बड़े लोकप्रिय थे। यहाँ के शिलाफलको पर वेसन्तर, निगोघमिग, नाथ छादन्तिय महाकपि, इसीमिग, आदि तेईस जातको की कथाओ का चित्रण किया गया है। इन सब में पूर्व जन्म में बोधिसत्व के रूप मे बुद्ध द्वारा किये गये दान, त्याग, बुद्धिमत्ता आदि के विभिन्न उदात्त कार्यों का वर्णन है। वेसन्तर जातक में एक ऐसे दानशील राजकुमार की कथा है जिसे अपना सर्वस्व दान करने में भी कोई संकोच नही था। जब उसने अपने राज्य की समृद्धि बढाने वाले हाथी का दान कर दिया तो कलिंग की जनता उससे बहुत रुष्ट हो गई, क्योकि उस समय वहाँ अकाल पड़ा हुआ था और जनता इस हाथी से दुर्भिक्ष निवारण की आशा रख रही थी। क्रुद्ध जनता के आग्रह से राजा को बाधित होकर अपने राजकुमार वेसन्तर को पत्नी और बच्चो सहित राज्य से निष्कासन का दण्ड देना पड़ा। वन मे घोर कष्टो मे रहते हुए भी उसने अपने बच्चो और पत्नी का दान करने मे सकोच नही किया। निगोधमिग (न्यग्रोधमृग) जातक की कथा मे बोधिसत्व के द्वारा एक पूर्व-जन्म में स्वर्ण मृग के रूप मे किये गये महान त्याग की घटना का वर्णन है। उस समय ये हिरणो के एक बडे समूह के साथ वाराणसी के एक राजकीय उद्यान में रहा करते थे। राजा बारी-बारी से एक हिरण को मरवाया करते थे। एक दिन एक गर्भिणी हिरणी की बारी थी। उसकी रक्षा के लिए बोधिसत्व ने स्वयमेव अपने को प्रस्तुत किया। राजा उसके आत्मत्याग से इतना प्रभावित हुआ कि उसने न केवल उस स्वर्ण मृगी को नहीं मारा, अपितु उस दिन से उसने हिरणो का शिकार बिलकुल बन्द कर दिया। महाकपिजातक मे भी इसी प्रकार के एक महान त्याग की कथा है। बनारस के निकट गगातट पर कुछ बन्दर रहा करते थे। राजा ने एक बार इनका घेरा डालकर इन्हें मरवाने का प्रयास किया। बोधिसत्व तुरन्त नदी पर छलांग लगाकर दूसरी ओर चले गये और उन्होने अन्य बन्दरो की रक्षा के लिए बांस का एक पुल बनाया, किन्तु कुछ हिस्से मे बाँस की कमी रह गई। यहाँ वे स्वयमेव अपने शरीर को फैलाकर पड गये ताकि उनके ऊपर से दूसरे बन्दर सुरक्षित रूप से नदी को पार करके बच जायं। इसमें उन्हें अपने प्राण देने पड़े, किन्तु उनके सब साथी बच गये।

भारहुत मे न केवल उदात्त एवं गम्भीर दृश्यों का अंकन है, अपितु विचित्र हास्यपूर्ण दृश्यो की भी कमी नही है। एक दृश्य में कुछ बन्दर कहीं से एक बड़ी

सण्डासी ले आये हैं। इसे एक हाथी झटका देकर खींच रहा है और उससे एक व्यक्ति की नाक का बाल उखाडा जा रहा है। एक अन्य दृश्य में बन्दरों का एक दल हाथी को बाजे-गाजे के साथ मोटे रस्से से बाँध कर ले जा रहा है। यहाँ अनेक प्रकार के नागों, यक्षो, यक्षिणियों और अप्सराओ की भी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि इस समय जनता मे यक्षों की पूजा प्रचलित थी। यहाँ इनका प्रचुर मात्रा में अंकन मिलता है। ये यक्ष विभिन्न दिशाओ के रक्षक माने जाते थे। अत उस समय द्वारतोरणों पर इन यक्ष-यक्षिणियो की मूर्तियाँ अंकित की जाती थीं। यहाँ उत्तर मे कुबेर यक्ष (कुविरोयखो) और दक्षिण में विरुढक की मूर्तिया मिली है। पूर्वी तोरण पर सुदर्शन यक्षी की, पश्चिमी तोरण के एक स्तम्भ पर सुचिलोम यक्ष और सिरिमा देवता की, उत्तर के स्तम्भ पर अजकालक यक्ष की और चन्द्रा यक्षी की मूर्तियाँ मिली है। यहाँ चूलकोका और महाकोका नामक देवताओ की भी मूर्तियाँ पाई गई है। विद्वानों का ऐसा विचार है कि उस समय जनता मे जो देवी देवता पूजे जाते थे, उन्हें बौद्ध धर्म ने स्वीकार कर लिया और ऐसे कई देवताओ को बुद्ध का उपासक बना दिया गया और उन्हें तथागत की पूजा करते हुए दिखाया गया है। इसका एक सुन्दर उदाहरण मुचलिन्द नागराज की मूर्ति है। इलाहाबाद सग्रहालय मे सुरक्षित एक स्तम्भ पर वट वृक्ष पर पाँच **फण** वाले मुचलिन्द नागराज की मूर्ति है। यह सम्भवत. बुद्ध की रक्षा कर रहा है, क्योंकि बौद्धसाहित्य मे यह कथा है कि एक बडे अंधड मे मुचलिन्द ने अपने फन फैलाकर बुद्ध की रक्षा की थी, यह दृश्य साँची, अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा के स्तूपो पर भी उत्कीर्ण है। एक अन्य चित्र मे जल मे से निकलते हुए नागराज एरापत को सपरिवार बोधिवृक्ष के रूप मे बुद्ध की उपासना करते हुए दिखाया गया है। यहाँ अलम्बुसा मिश्रकेशी, सुदर्शना तथा सुभद्रा नामक चार अप्सराओ की मूर्तियाँ नामाकन सहित पाई गई है। इनके अतिरिक्त स्वाभाविक और कल्पित पशु-पक्षियों की आकृतियाँ भी यहाँ बडी मात्रा मे मिलती हैं।

कल्पलता—भारहुत के विभिन्न चित्रो को सौंदर्य प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार के अलंकरण और अभिप्राय भी अंकित किये गये हैं। इनमें प्रधानता कमल के पुष्पों के विभिन्न रूपों की है। प्रचुर संख्या मे कमल के चित्रण वाली वेदिका को पद्मवर वेदिका कहा जाता था। किन्तु सम्भवतः यहाँ का सबसे बड़ा अलंकरण कल्पलता है। यह भारहुत स्तूप की पाषाणवेष्टनी के ऊपर निरन्तर एक लहरदार लम्बी बेल के रूप में चली गई है। इस लहरियादार बेल से नाना प्रकार के वस्त्र

और आभूषण उत्पन्न होते हुए दिखाये गये हैं। डा० अग्रवाल ने (भारतीय कला पृ० १८२–५) इसकी सप्रमाण विवेचना करते हुए यह बताया है कि भारहुत में प्राचीन साहित्यिक कल्पना के अनुसार कल्पवल्ली अथवा कल्पवृक्ष का चित्रण किया गया है। इसकी बल खाती हुई टहनियों से कर्णकुण्डल, हार, कण्ठे, कंकण, करधनी, नूपुर आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण लटकते दिखाये गये हैं। कहीं पर मूल्यवान उत्तरीय और अधोवस्त्र इस प्रकार की लता से जन्म लेते हुए दिखाये गये हैं। इस प्रकार के कल्पवृक्षों के बारे में यह दन्तकथा प्रसिद्ध थी कि ये पेड़ उत्तरकुरु नामक देश में होते हैं। इनसे मनुष्य अपनी इच्छा और कल्पना के अनुसार सभी प्रकार की अभीष्ट वस्तुएं प्राप्त कर सकता है। जनता उत्तर कुरु के दर्शन के लिए उत्कंठित रहती थी। भारत के चक्रवर्ती सम्राट् इसे जीत कर इसका वैभव प्राप्त करना चाहते थे। आलंकारिक अर्थ में एक समृद्ध घर को कल्पवृक्ष माना जा सकता है। नवयुवतियों के शृंगार की अभिलाषाओं की सहज पूर्ति करने वाले माता, पिता, भाई, बहिन कल्पवृक्ष की शाखाओं के समान थे। यह कल्पना उन दिनों बड़ी लोकप्रिय थी। जातक, रामायण तथा महाभारत के साहित्य में इसका प्रचुर वर्णन मिलता है। इस लता के चित्रण ने भारहुत को विलक्षण गरिमा प्रदान की है।

इस स्तूप की कुछ कलात्मक विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। पहली विशेषता यहाँ की मूर्तियों का चपटापन (Flatness) है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ के कलाकार लकड़ी और हाथीदाँत पर नक्काशी करने की कला में कुशल थे। उन्होंने यहाँ इस कला का प्रयोग पत्थर में किया है। इसे बहुत गहराई में नहीं खोदा गया है, इसलिए इन मूर्तियों में एक विशेष प्रकार का चपटापन दिखाई देता है। यह शुंग काल की मूर्तियों की बहुत बड़ी विशेषता है। ज्यों-ज्यों पत्थरों पर कलाकारों का हाथ सधता गया, वे पत्थरों को अधिक गहराई में खोदने लगे और मूर्तियों का चपटापन कम होने लगा।

दूसरी विशेषता कथाओं की वर्णनात्मक शैली की है। इसे **एकस्थानीय** (Unilocal) शैली भी कहा जाता है। इसका यह अर्थ है कि इसमें एक कथा की विभिन्न घटनाओं को एक ही स्थान में इकट्ठा दिखाया जाता है तथा एक ही पात्र को कथा का विकास दिखाने के लिए कई बार अंकित किया जाता है। एक कथा की विविध घटनाओं के घटित होने में भले ही काल का अन्तर हो, किन्तु सब घटनाएँ एक ही स्थान पर दिखाई जाती हैं, इसीलिये इसे एकस्थानीय (Unilocal) कहा जाता है। यह बात रुरु या मृगजातक के चित्रण से स्पष्ट हो जायगी।

इसके अनुसार बुद्ध पूर्व जन्म में गंगातट पर स्वर्णमृग के रूप में रहा करते थे। यहाँ उन्होंने एक बार नदी में डूबते हुए एक कुलीन व्यक्ति की प्राणरक्षा की थी। इसके कुछ समय बाद वाराणसी के राजा ने अपनी रानी द्वारा देखे गये स्वर्णमृग का पता बताने के लिए पारितोषिक की घोषणा की। उस अकृतज्ञ व्यक्ति ने राजा को इसकी सूचना दी। राजा शिकार के लिए निकला। राजा ने चिल्ला चढाया, किन्तु इसी समय वह स्वर्णमृग रूपी बोधिसत्व के भाषण से इतना प्रभावित हुआ कि उसने इसके शिकार का विचार त्याग दिया। वह इसका भक्त बन गया। इस कथा को एक गोल चौखट मे तीन विभिन्न घटनाओ के रूप में प्रदर्शित किया गया है। सबसे निचले हिस्से मे स्वर्ण मृग को नदी मे डूबते हुए व्यक्ति को बचाते हुए दिखाया गया है। ऊपर दायी ओर वाराणसी का राजा चिल्ला चढाते हुए प्रदर्शित है और इस चौखट के मध्य मे वह भक्तिभाव से स्वर्णमृग के आगे अपने हाथ जोडे खड़ा है। इसमे ऊपर के हिस्से मे एक ओर इस कथा का घटनास्थल तीन पेडो के तथा पाँच हिरणो के रूप मे दिखाया गया है। इसमे वृक्ष वन का और हिरण मृगयूथ का प्रतिनिधित्व करते है। इस कथा की घटनाए विभिन्न कालो मे हुई थी, किन्तु यहाँ इन सबको एक ही स्थान मे दिखाया गया है।

इस कला की तीसरी विशेषता इसका विचारप्रधान (Conceptual) होना है। इसका यह अर्थ है कि यहाँ के कलाकार विभिन्न वस्तुओ का चित्रण उस रूप मे नही करते, जिस रूप मे उनकी आँख उन दृश्यो को देखती है, अपितु वे इनका चित्रण इनके विषय मे अपने मन मे बनाये गये विचारो और धारणाओ के अनुसार करते हैं, अत इन चित्रो मे वैज्ञानिक शुद्धता न होकर भावो एवं विचारों की प्रधानता होती है। ये दृश्यो का सही अंकन करने के स्थान पर कलाकार के मन के विचारो का अधिक सही रूप मे चित्रण करते है। इसका उदाहरण उपर्युक्त रुरु जातक ही है, जिसमे कलाकार ने अपने मन मे विद्यमान कथा की उपर्युक्त तीनों घटनाओ का अलग-अलग चित्रण किया है। इसी प्रकार रोलैण्ड ने भारहुत की पीनपयोधरा, पृथुनितम्बा, लगभग निर्वसना यक्षिणियो के चित्रण का कारण भी विचारात्मक कला को बताया है।[१] यहाँ पुष्पित शाल वृक्ष के नीचे उसका आलिगन करती हुई यक्षिणियों की कुछ मूर्तियाँ मिलती हैं। कुछ विचारक इन्हें उस युग का समझते हैं, जब वृक्षों की पूजा प्रचलित थी, उन्हें उत्पादकता का प्रतीक (Fertility)

१. रोलैण्ड–आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया।

समझा जाता था, युवक युवतियाँ इन पेड़ों के पुष्प एकत्रित करने के लिए इकट्ठी होती थीं। संस्कृत साहित्य में वर्णित दोहद की परम्परा के अनुसार युवतियों द्वारा विभिन्न पेड़ों के आलिंगन, स्पर्श, पादाघात आदि से इन वृक्षों में फूल आते थे। फूल आना फल आने का पूर्व लक्षण है। यक्षिणियों द्वारा पेड़ों के आलिंगन में सम्भवतः प्राचीन काल में की जाने वाली उत्पादकता (Fertility) विषयक विधियों की क्षीण स्मृति समझी जा सकती है अथवा इसे प्रकृति के एवं पुरुष के उस मिलन का प्रतीक समझा जाता है, जिससे सारी सृष्टि का विकास और विस्तार होता है। इस प्रकार यक्षिणियाँ उत्पादकता का प्रतीक है। अतः रोलैण्ड ने यह मत प्रकट किया है कि इस प्रतीक के विचार को स्पष्ट मूर्त रूप देने के लिए ही कलाकारों ने यक्षिणियों में उन अंगों को अधिक महत्व दिया है जिनका उत्पादकता के साथ विशेष संबंध है। अतः स्वाभाविकता का परित्याग करते हुए शिल्पियों ने इनके पयोधरों की पीनता और नितम्बों की पृथुता को विशेष रूप से प्रदर्शित किया है।

इसकी चौथी विशेषता यह है कि यह भारत की पहली राष्ट्रीय लोककला (National folkart) है।[1] इससे पहले भारतीय कला दरबारी कला के ही रूप में पायी जाती है। भारहुत में पहली बार हमें जनता की लौकिक तथा धार्मिक भावनाओं का चित्रण करने वाली ऐसी कला के दर्शन होते हैं, जिसमें न केवल लक्ष्मी, इन्द्र, सूर्य जैसे वैदिक देवता हैं, अपितु इनके साथ साधारण जनता द्वारा पूजे जाने वाले यक्ष यक्षिणियों, नागों और अप्सराओं के भी दर्शन होते हैं। इससे पूर्व की मौर्य कला दरबारी होने के कारण कृत्रिम थी, किन्तु शुंग कला सर्वथा स्वाभाविक और लोकप्रिय रूप रखने वाली तथा तत्कालीन जनता के धार्मिक एवं लौकिक विश्वासों और मन्तव्यों को चित्रित करनेवाली थी।

भारहुत स्तूप के विभिन्न लेखों से इसका निर्माण कराने वाले व्यक्तियों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। पूर्वी तोरण के निचले स्तम्भ पर अंकित एक लेख के अनुसार इसका निर्माण वात्सीपुत्र धनभूति ने कराया था। धनभूति के पुत्र वृद्धपाल, रानी नाथरक्षिता, विदिशा के रेवतीमित्र की रानी चापादेवी और विदिशा वासी फल्गुदेव ने विभिन्न स्तम्भों और सूचियों का दान दिया था। एक लेख में एक स्थानीय भिक्षुणी के भी दान का वर्णन है। इन लेखों के आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि इस स्तूप को बनवाने वाले राजा रानी, समृद्ध व्यापारी और जमीदार वर्गों के व्यक्ति थे। भिक्षु और भिक्षुणियाँ इन्हें दान देने की प्रेरणा कर रही

१ नीहार रंजन राय--मौर्य एण्ड शुंग आर्ट ६४।

थीं। स्तूप का निर्माण स्थपतियों, तक्षकों, पाषाणकुट्टको की विभिन्न श्रेणियो ने किया। यहाँ विभिन्न पुरुषों की जो मूर्तियाँ मिलती है, वे सम्भवतः उन समृद्ध दानियों की प्रतिकृतिया है, जिन्होंने स्तूप निर्माण के लिए विभिन्न प्रकार के दान दिये थे। श्री नीहार रजन राय ने यह कल्पना की कि चूकि इस स्तूप के प्रधान दाता व्यापारी और भूमिपति वर्ग के व्यक्ति थे, अत. इनके द्वारा पसन्द किये जाने वाले और बिताये जाने वाले विलासपूर्ण जीवन का चित्रण तत्कालीन कलाकारो को समुचित जान पड़ा। अत उन्होने अपने आश्रयदाताओ को प्रसन्न करने के लिए कामुक भावना वाली यक्षिणियों की मूर्तियो को विभिन्न मुद्राओ मे अकित किया है।[1]

बुद्ध गया—गया से छ मील दक्षिण मे उरुबिल्व नामक ग्राम मे एक पीपल के पेड़ (बोधिवृक्ष) के नीचे ज्ञान प्राप्त करने के बाद गौतम बोधिज्ञान सम्पन्न बुद्ध बने थे, अत. यह स्थान बुद्धगया कहलाता है। अशोक ने यहाँ इस पवित्र घटना की स्मृति मे बोधिगृह का निर्माण कराया था। यह पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है, किन्तु भारहुत के वेदिका-स्तम्भ पर इसकी चित्रित एक आकृति के अनुसार यह स्तम्भो पर खड़ा हुआ मडप था। इसकी छत खुली हुई थी, इसमे से बोधिवृक्ष की शाखायें आकाश की ओर उठ रही थी। इसके बीच मे बुद्ध के बैठने का स्थान-**बोधिमण्ड** या **बज्रासन** था। वर्तमान समय मे इस स्थान की खुदाई मे पुराना बोधिमण्ड मिला है। यह चुनार के बलुआ पत्थर का बना हुआ है और इस पर मौर्ययुगीन चमकीली पालिश (ओप) की हुई है। बोधि गृह के चारो ओर अशोक ने ईटो की एक वेष्टनी (वेदिका) बनवाई थी। चारो दिशाओ मे इसकी लम्बाई २५८ फुट है। बाद मे इसे शुग युग मे ईटो के स्थान पर पत्थरो का बना दिया गया था। इसमे भारहुत और साँची जैसे स्तम्भ, सूची और उष्णीष बनाये गये। इन पर उत्कीर्ण लेखो से यह ज्ञात होता है कि राजा इन्द्राग्निमित्र की रानी कुरगी और ब्रह्ममित्र की रानी नागदेवी ने इनका निर्माण कराया था। इनका समय पहली शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। शैली की दृष्टि से बुद्ध गया की वेदिका भारहुत और साची के मध्यवर्ती काल की समझी जाती है, क्योकि कलात्मक दृष्टि से यह भारहुत-शैली का अनुकरण करते हुए भी कई बातो मे उससे अधिक उन्नत और विकसित प्रतीत होती है। यह वेदिका पूर्ण रूप से नष्ट हो चुकी है, किन्तु इसके अधिकाश स्तम्भ और सूचियो के ध्वसावशेष इसकी कला पर सुन्दर प्रकाश डालते है।

---

१. नीहाररंजन राय—मौर्य एण्ड शुंग आर्ट।

मारहुत की भांति यहां भी बुद्ध के जीवन के ऐतिहासिक दृश्य और जातक कथायें मिलती हैं। यहां के कुछ प्रधान अलंकरण और दृश्य ये हैं—कल्प लताएं, दो गजों द्वारा अभिषेक की जाती हुई लक्ष्मी, वज्रासन या बोधिमण्ड सहित बोधि-वृक्ष की पूजा करते हुए मिथुन, यक्ष की सहायता से वृक्ष का आरोहण करती हुई वृक्षिका देवी, भारहुत और साची की मूर्तियो की भाँति बोधि वृक्ष की पूजा करता हुआ हाथियो का झुण्ड, पचशिख गन्धर्व के साथ इन्द्र द्वारा इन्द्र-शैल गुफा मे बुद्ध का दर्शन, जेतवन के दान का दृश्य। यहाँ भारहुत की अपेक्षा बहुत ही थोड़े जातको-छद्दन्त जातक, पद कुसल मानव जातकों का चित्रण किया गया है। यहाँ की एक विशेषता स्तम्भो पर पशुओ का विविध प्रकार से अंकन है। काल्पनिक पशुओ (ईहामृगो) मे पख वाले हाथी, घोड़े, नरमच्छ तथा बैल, मेढ़े, बकरे, मगरमच्छ, उत्कीर्ण किये गये है। बुद्ध के वज्रासन के निकट ही वह स्थान है जहाँ बुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के बाद सात दिन तक विचारमग्न होकर टहलते (चकमन) रहे थे। यही पर बाद मे टहलने का पक्का चबूतरा (चक्रमण, चंकम चैत्य) बना दिया गया। यह ५३ फुट लम्बा, ३ फुट ऊंचा, ६ इच चौड़ा है।

बुद्धगया सेप्राप्त मूर्तियो की भारहुत स्तूप की मूर्तियो से तुलना करने पर इसकी कुछ विशेषताये स्पष्ट होती है। पहली विशेषता वर्णनात्मक चित्रो मे अनावश्यक विस्तार की और ब्योरे की बातो को छोड़ देना और केवल आवश्यक तत्वो पर बल देना है। इससे चित्रित कथाओ का मर्म दर्शक को शीघ्र ही हृदयगम हो जाता है। यह बात दोनो स्थानो के जेतवन दान के दृश्य से स्पष्ट प्रकट होती है। मारहुत के कलाकार ने अपने चित्र मे अधिक से अधिक ब्योरा भरने का प्रयत्न किया है, उसने अनाथपिण्डक द्वारा बनवाई हुई दो कुटियाओ से, बैलगाड़ी से, तीन सेवकों से तथा राजकुमार जेत और उसके साथियो से चित्र को पूरा भर दिया है, किन्तु बुद्ध गया के शिल्पी ने इसमे इसमे केवल सिक्के बिछाते हुए दो सेवको को तथा सिक्के लाने वाले एक सेवक को ही दिखाया है। मारहुत के चित्र मे अभिधावृत्ति से स्पष्ट रूप से सब बातें कही गई हैं, किन्तु बुद्ध गया के चित्र मे व्यन्जनावृत्ति का आश्रय लिया गया है। अत कलात्मक दृष्टि से यह अधिक रुचिकर और मनोरम प्रतीत होता है। दूसरी विशेषता यह है कि चित्रो मे अनावश्यक बातो को छोड़ देने से महत्वपूर्ण आकृतियो के लिए अधिक स्थान निकल आया है, उनमे पात्र अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक गति करने लगे है, चित्रो में अधिक स्पष्टता आ गई है। तीसरी विशेषता आकृतियो का अधिक गहराई में कुशलतापूर्वक अकन करना है। इससे
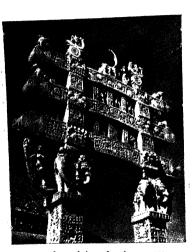
फलक–५ साँची का उत्तरी तोरण, दूसरी श० ई० पू०, पृ० ४६३

यहाँ की आकृतियाँ भारहुत की अपेक्षा कम चपटी, अधिक सजीव और गतिमान् प्रतीत होती है। इनमे अधिक व्यवस्था और एक दूसरे के साथ घनिष्ठ संबंध पाया जाता है।

सांची का स्तूप—इस युग के स्तूपो मे से इस समय यही सबसे अधिक सुरक्षित दशा में है। भारहुत, अमरावती, नागार्जुनीकोण्डा आदि स्तूपों के पूर्ण रूप से विध्वस्त हो जाने के कारण इनकी कला का दर्शन संग्रहालयो में ही किया जा सकता है, किन्तु साची का स्तूप अपने मूल स्थान पर काफी बड़े अश में सुरक्षित है। दर्शक यहाँ आकर इसके कला-वैभव का निरीक्षण कर सकता है। सांची विदिशा (भिलसा) से केवल ५ मील की दूरी पर है। विदिशा प्राचीन काल मे मथुरा से दक्षिण भारत मे प्रतिष्ठान की ओर जाने वाले प्राचीन व्यापारिक महापथ पर था तथा पूर्वी मालवा की राजधानी थी। अतः इस स्थान को स्तूपो के लिए उपयुक्त समझा गया। महावश के अनुसार अशोक जब उज्जयिनी के शासक नियुक्त हुए, उस समय कुछ समय के लिए वे विदिशा ठहरे थे। यहाँ एक धनी व्यापारी की पुत्री से उनका विवाह हुआ था। इस रानी से श्रीलका मे बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाले महेन्द्र और सघमित्रा का जन्म हुआ था। अशोक ने यहाँ एक बहुत बड़ा स्तूप बनवाया था। इसके बाद १२०० वर्षो तक यहाँ निर्माण-कार्य चलता रहा।

साची मे और उसके आसपास लगभग ६१ स्तूप पाये गये थे। इनमे सबसे अधिक महत्व रखने वाले तीन स्तूप सख्या १, २ और ३ है। स्तूप सख्या ३ मे बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के अवशेष सुरक्षित है। सख्या एक का स्तूप अपनी विशालता के कारण प्राचीन काल मे महाचैत्य कहलाता था। इसीलिए साची के टीले को महाचैत्यगिरि कहा जाता था। इसके चारो तोरण-द्वार बड़ी अच्छी दशा मे है और भारत के वर्तमान बौद्ध अवषेषो में सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं। इस महास्तूप को सर्वप्रथम अशोक ने बनवाया था। आरम्भ मे यह ईंटो से बनाया गया था, किन्तु इसका वर्तमान शिलामय रूप शुगकालीन है। यह कार्य पहली शताब्दी ई० पू० में हुआ। इस बात की सूचना हमे दक्षिण द्वार की एक बड़ेरी (Architrave) पर अंकित लेख से मिलती है। इसमे यह कहा गया है कि इसे आन्ध्रवशीय राजा सातकर्णी के मुख्य स्थपति आनन्द ने दान मे दिया था। दक्षिणी द्वार के एक लेख मे यह कहा गया है कि इसका निर्माण विदिशा में हाथीदात का काम करने वालों ने किया (वेदिसकेहि दन्तकारेहि रूपकम्म कदम); इससे यह स्पष्ट है कि

यहाँ शिलाओं में मूर्तियाँ खुदवाने का कार्य दन्तकारो द्वारा करवाया गया था। हाथीदान्त पर काम करते हुए इन कलाकारो का हाथ इतना सध गया था कि उन्होंने पाषाण पर मूर्तियाँ उत्कीर्ण करते हुए पूर्ण सफलता प्राप्त की।

स्तूप-निर्माण की विभिन्न अवस्थाएँ—साँची के महास्तूप ने कई शताब्दियों के सुदीर्घ विकास के बाद अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया। पर्सीब्राउन के मतानुसार इसके विकास की अवस्थाये निम्नलिखित है।[1]

पहली अवस्था—२५० ई० पू० के लगभग मौर्य युग मे अशोक ने सर्वप्रथम ईंटो का एक स्तूप बनवाया।

दूसरी अवस्था—सौ वर्ष बाद १५० ई० पू० मे इस स्तूप को विशाल बनाते हुए इसको पत्थर की शिलाओं से ढका गया, इस पर बड़े छत्र और पाषाणयष्टि और हर्मिका का निर्माण किया गया। भूमितल की महावेदिका (जँगला) बनाई गई। इस नये स्तूप का आकार पहले से दुगना हो गया, इसका व्यास १२६ फुट तथा ऊँचाई ५४ फीट हो गई है. इसके निचले भाग को जुडाई के मसाले के बिना पत्थर की शिलाओं से आच्छादित किया गया। चूने के बिना चिनाई का यह भारत मे पहला नमूना है। स्तूप पर शिलाओ का चोला चढा कर ४इच मोटी कक्रीट का खोल चढ़ाया गया।

तीसरी अवस्था.—१०० ई० पू० मे इसके मध्य भाग मे चारो ओर वेदिका या मेधि (Berm) बनाई गई तथा यहाँ तक पहुँचने के लिए सीढ़ियो का निर्माण किया गया।

चौथी अवस्था—५३ ई० पू० मे महास्तूप के चार द्वार (तोरण) बनाये गये। ये सब द्वार एक साथ नही बने। सबसे पहले दक्षिण का, इसके बाद क्रमशः उत्तर, पूर्व और पश्चिम दिशा के तोरण द्वार बने। साची के स्तूप की सबसे बड़ी विशेषता यही तोरण हैं। ये सब आकार मे एक जैसे ३४ फीट ऊचे है। प्रत्येक द्वार पर दो भारी स्तम्भ है। इन स्तम्भो पर तीन थोड़ी कमानीदार आड़ी धरने या बण्डेरियाँ (Architraves) है। ये स्तम्भ और बण्डेरियाँ ऊपर से नीचे तक विभिन्न मूर्तियो से अलकृत हैं। सबसे ऊपर की बंडेरी पर धर्मचक्र, उसके दोनो ओर चामरग्राही यक्ष और त्रिरत्न के चिन्ह है। स्तम्भो के निचले हिस्सो मे द्वार-रक्षक यक्ष बने है। बण्डेरियो का बोझ ढोने के लिए अन्दर की ओर हाथी और बौने

१. पर्सी ब्राउन—इण्डियन आर्किटेक्चर खण्ड १ पृ० १८।

बने हैं और बाहर की ओर वृक्षवासिनी यक्षिणियाँ या वृक्ष देवता बड़ी मनोरम भाव-भंगी में दिखाई गई हैं। सांची का महाचैत्य अर्धचन्द्रकार है। इसमें भूमितल पर स्तूप के चारो ओर पत्थर के फर्श पर ११ फुट ऊंची वेदिका थी। यह भारहुत की वेदिका की भाँति चित्रो से अलकृत न होकर बिलकुल सादी थी। इस स्तूप पर इस भूमितल की वेदिका के अतिरिक्त दो अन्य वेदिकायें स्तूप के मध्य भाग में तथा शिरोभाग में हर्मिका के चारो ओर थीं। इसका स्पष्टीकरण इसके अवशेषों से हो सकता है।

तोरण––सांची स्तूप की प्रमुख विशेषता इसकी चारो दिशाओ मे बनाए गये इसके तोरण है। इनमे कालक्रम की दृष्टि से सबसे पहले दक्षिण दिशा का तोरण बनाया गया था, १८८२ ई० मे इसका पुनरुद्धार किया गया था। इसके ऊपर की बडेरियो मे कमलवन मे खड़ी हुई, दो हाथियो द्वारा घड़ो से अभिषेक कराती हुई श्री या लक्ष्मी बनी हुई है, बीच की बडेरी पर छद्दन्त जातक की कथा है और निचली बंडेरी पर भगवान बुद्ध के पवित्र अवशेषो (धातु) को लिए हुए युद्ध का चित्रण है। इस युद्ध मे कुशीनारा के मल्लो के विरुद्ध सात राजाओ ने भाग लिया था। इसके मध्य मे कुशीनगर का घेरा दिखाया गया है तथा दाँई ओर बाँई ओर विजयी राजा रथो में और हाथियो पर बैठ कर जा रहे हैं। इसमे एक स्तम्भ पर अशोक को अपनी दो पत्नियो के साथ बुद्ध गया मे बोधिवृक्ष के निकट दिखाया गया है। इस द्वार के अन्य स्तम्भो पर पीठ सटा कर दो सिह सामने और दो पीछे बने हुए है।

उत्तरी दिशा का द्वार-तोरण सबसे अधिक अच्छी दशा मे है। इस पर अकित मूर्तियो मे वेस्सन्तर जातक का दृश्य बड़े विस्तार से पूरे विवरण के साथ अंकित किया गया है। इसमे राजकुमार वेस्सन्तर द्वारा अपने राजकीय हाथी का दान, उसका निष्कासन, अपने माता पिता से विदा लेने का दृश्य दिखाया गया है। कला की दृष्टि से यह साँची के सर्वोत्तम दृश्यो मे गिना जाता है। इसमे नगर के वास्तु-विन्यास, वेशभूषा, आभूषण, रथ आदि का बहुत ही स्पष्ट अंकन है। इसकी तीनो बड़ेरियो पर चौकोर किनारे पर गज-लक्ष्मियो का अंकन है, इनके पार्श्वभाग मे आम तथा अशोक वृक्ष की शाखाओ को थामे हुए वृक्षका स्त्रियाँ है, बाद में इनके अनुकरण पर शालभजिका मूर्तियाँ बनाई जाने लगी। ऐसी मूर्तियाँ पूर्वी द्वार पर भी मिलती हैं। ऊपरी और बीच की बडेरी के पृष्ठ भाग मे छद्दन्त जातक के दृश्य हैं। एक गजराज बोधिवृक्ष की पूजा कर रहा है। बीच की बडेरी पर

मार की विजय का अंकन है। इसके बाँये स्तम्भ पर श्रावस्ती में आम्र वृक्ष के नीचे बुद्ध द्वारा कुछ चमत्कार दिखाने का वर्णन है। एक चित्र में उनके सिर से जल की धाराएँ और पैरों से अग्नि की ज्वालाए निकलती दिखाई गई है। जेतवन के दान का भारहुत जैसा दृश्य और राजा प्रसेनजित द्वारा बुद्ध के दर्शन के लिये जाने का दृश्य है। इस द्वार के अन्य दृश्य हैं—नर नारी के मिथुनो की पान गोष्ठी, वीणा वादन, बुद्ध के दर्शन के लिए इन्द्र का आगमन, हाथी दाँत की बनी खूटियो पर सोने की मालाएं लटकाने की सुवर्णयष्टियाँ, त्रयस्त्रिंश देवो के स्वर्ग से बुद्ध के अवतरण का तथा महा अभिनिष्क्रमण का दृश्य, मल्लो द्वारा बुद्ध की धातुओं पर स्तूप का निर्माण, बन्दरो द्वारा बुद्ध को मधुपात्र देना।

पूर्वी दिशा का तोरण यद्यपि बहुत कुछ खण्डित हो गया है, किन्तु इसमे चित्रो को अधिक अच्छे ढंग से उत्कीर्ण किया गया है। इसकी बण्डेरियो पर निम्नलिखित दृश्य अंकित हैं—बोधि वृक्ष से सूचित होने वाले सात मानुषी बुद्ध, कपिलवस्तु से बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, अशोक का अपनी रानी के साथ बोधिवृक्ष का दर्शन, हाथियों द्वारा स्तूप पूजा, अशोक द्वारा निर्मित बुद्ध गया का वेदिका युक्त बोधिगृह, बुद्ध द्वारा नदी के जल पर चलने का चमत्कारपूर्ण कार्य (प्रातिहार्य), बुद्ध के समिधा, अग्नि और आहुति सबधी चमत्कार, काश्यप मुनि के धर्म परिवर्तन की कथा, देवताओ द्वारा बोधिसत्व से जन्म ग्रहण करने की कथा, नागराज मुचलिन्द द्वारा बुद्ध की रक्षा करना, श्याम जातक और महाकपि जातक की कथाए। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि साची की मूर्तियो मे निम्न प्रकार की घटनाओं का अंकन हैं।

(१) **बुद्ध के जीवन की चार बड़ी घटनाएँ**:—उनका जन्म, बुद्धत्व-प्राप्ति, धर्मचक्र प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण (२) पशु पक्षियो की मूर्तियाँ प्राय· जोडो के रूप में उन स्थानो पर बनी है जो बण्डेरियो को एक दूसरे से अलग करते हैं। यहाँ के पशु काल्पनिक और वास्तविक दोनो प्रकार के हैं। इनमे शेर, हाथी, ऊँट, बैल उल्लेखनीय हैं। कई बार इन पशुओ की पीठ पर सवार भी दिखाये गये हैं। पूर्वी द्वार के नीचे की बंडेरी पर सवार उदीच्य-वेश अर्थात भारी कोट और बड़े जूतो मे दिखाये गये हैं, अत. ये शीत प्रधान देश से आये हुए शक, तुखार प्रतीत होते है। (४) फूल पत्तियों के अलकरण मे साँची के कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का अद्भुत परिचय दिया है। इसमें प्रधान स्थान कमल और कल्पलता का है। यहाँ द्राक्षालता का भी अंकन मिलता है। साची मे प्राकृतिक दृश्यो का अंकन बहुत अधिक है।

इनमें हाथी, सिंह, मृग आदि जंगली जन्तु स्तूप या बोधिवृक्ष के रूप में बुद्ध की पूजा करते दिखाये गये हैं। ऐसा मालूम होता है कि सांची में सारा पशुजगत् बुद्ध की उपासना करने के लिए उमड़ पड़ा है।

सांची की मूर्तिकला की तुलना यदि भारहुत की मूर्तिकला से की जाय तो दोनों में कुछ अन्तर प्रतीत होते हैं। **पहला** अन्तर जातको के दृश्यों का है। भारहुत के शिल्पियों ने जातक कथाओं का अधिक संख्या में अंकन किया था। वहाँ २३ जातक कथायें चित्रित की गई थीं, किन्तु सांची में शिल्पियों ने इनमें महत्व-पूर्ण चार पाँच जातक छांट लिये हैं जैसे—वेस्सन्तर, छद्दन्त, श्याम और महा-कपि जातक। **दूसरा** अन्तर बुद्ध के जीवन संबंधी दृश्यो मे है। भारहुत में बुद्ध के गर्भ में प्रवेश आदि के इने गिने दृश्यों का ही चित्रण है, किन्तु सांची में न केवल बुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाओं—महाभिनिष्क्रमण बुद्धत्वप्राप्ति, धर्मचक्र-प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण के दृश्य दिखाये गये हैं, अपितु बुद्ध के चमत्कारों पर भी बहुत बल दिया गया है। इस समय बुद्ध का अलौकिक रूप अधिक लोकप्रिय हो रहा था, अतः यहाँ के शिल्पियो ने उनके आकाश में उड़ने, पानी पर चलने, उनके विभिन्न अगों से आग और पानी एक साथ निकलने के चमत्कारपूर्ण चित्रों का अधिक अंकन किया। **तीसरा** अन्तर बुद्ध के जीवन से संबंध रखने वाले ऐतिहासिक चित्रो का चित्रण है, जैसे शुद्धोदन का बुद्ध के स्वागत के लिए नगर से बाहर जाना, राजा अजात-शत्रु और प्रसेनजित का बुद्ध के दर्शन के लिए आना, अशोक का बोधिवृक्ष के समीप जाना। **चौथा** कलात्मक अन्तर यह है कि सांची के कलाकारों ने मूर्तियों को भारहुत की अपेक्षा अधिक गहराई मे तराशा है। इस कारण यहाँ की मूर्तियाँ पत्थरों में से निकलती हुई प्रतीत होती हैं। इनकी गहरी छाया के कारण इनमें बड़ी चारुता और सौंदर्य आ गया है। बुद्ध की शरीर-धातु के लिये किये जाने वाले युद्ध के दृश्य में बड़ी सजीवता है, यहाँ की मिथुन मूर्तियाँ और यक्षिणियाँ बड़ी मनोरम हैं। अतः सभी दृष्टियो से सांची की कला भारहुत की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। इसमे तत्कालीन लोक-जीवन के सभी पक्षों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। इसमें जहाँ एक ओर राजदरबार के वैभवपूर्ण जीवन का, नगरों के व्यस्त और विलासितापूर्ण जीवन का चित्रण है, वहाँ दूसरी ओर ग्रामों के शान्त जीवन का, विभिन्न पशु-पक्षियो, पत्र-पुष्पों और अलंकरणो का सजीव अंकन है। इसमें कहीं भी अस्वाभाविकता, कृत्रिमता या नाटकीयता नहीं पाई जाती है। यद्यपि सांची एक पवित्र धार्मिक स्थान था, किन्तु इसकी कला कोरी आध्यात्मिक नही है, अपितु

वह सांसारिक जीवन के विभिन्न पक्षो का बड़ा सुन्दर चित्रण प्रस्तुत करती है। इसीलिए यह स्तूप प्राचीन काल से अब तक आकर्षण का महान केन्द्र बना हुआ है।

पर्वतीय चैत्य और विहार:—जिस समय मध्य देश मे भारहुत, साची और बुद्ध गया में स्तूपों का निर्माण हो रहा था, लगभग उसी समय पश्चिमी और पूर्वी भारत में एक नवीन प्रकार की वास्तुकला शैली विकसित हो रही थी। महाराष्ट्र मे बौद्धो ने तथा उड़ीसा में जैनो ने पर्वतो को काट कर अपने पूजा-स्थानो का निर्माण आरम्भ कर दिया था। पहाड़ी शिलाओ को काटकर बनाये गये भवनो को पश्चिमी भारत के पुराने अभिलेखो मे लेण (स० लयण) या सेलघर (शिलाओ से बना हुआ शैलगृह) कहा गया है। लेण का अर्थ है लीन होने या छिपने की जगह, मराठी मे अब इसे लेणी कहते है। यहाँ की सब लेणियाँ बौद्ध चैत्य और विहार है। उड़ीसा मे इन्हें गुम्फा कहा जाता है। ये सभी जैन मदिर है। महाराष्ट्र में भाजा, कोण्डाने, चितलदो पितलखोरा, अजन्ता बेड़सा, नासिक, कार्ले, जुन्नर, कन्हेरी मे लेणो का तथा उड़ीसा के उदय गिरि मे हाथी गुम्फा, मन्चपुरी गुम्फा, रानी गणेश, जयविजय और अल्कापुरी गुम्फाओ का तथा खडगरि मे अनन्तगुम्फा का निर्माण हुआ। इन लेणो तथा गुम्फाओ की कला को पहले गुहा वास्तु (Cave Architecture) कहा जाता था। किन्तु यह नाम भ्रामक है। गुहा का तात्पर्य प्राय पहाड़ो मे प्राकृतिक रूप से बने हुए ऐसे स्थानो से होता है जिनमे जगली जानवर शरण लेते हैं। अतः पहाड़ी चट्टानो को काट कर भगीरथ परिश्रम से बनाई गई इन रचनाओ को गुहा नही कहा जा सकता है। अत. आजकल गुहा वास्तुकला के स्थान पर इसके लिए पहाडी चट्टानों से काटी गई पर्वतीय चैत्य वास्तु कला (Rock Cut Temple Architecture) शब्द का प्रयोग किया जाता है।

भारत मे इस विशिष्ट कला-शैली का सबसे बडा केन्द्र महाराष्ट्र मे था। नासिक के चारो ओर के दो सौ मील के क्षेत्र मे अधिकाश पर्वतीय चैत्य मिलते है। ये सब हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध धर्म से संबध रखते है। इनका निर्माण दूसरी शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० के ४०० वर्षो मे हुआ। पश्चिमी भारत मे इस कला के विकसित होने का एक विशेष कारण यह था कि यहाँ पश्चिमी घाट के पर्वत इस प्रकार की कला के लिए विशेष रूप से उपयुक्त थे। यहाँ ऐसी सीधी, बहुत कड़ी और मोटी चट्टाने पहाड़ो मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होती है जिनमे चिरकाल तक सुदृढ़ बनी रहने वाली गुहायें या लेणे काटी जा सकती है। यहाँ

दस स्थानों में इस प्रकार के पर्वतीय चैत्य और विहारो के अनेक समूह मिलते हैं। इन सबकी सामान्य योजना लगभग एक जैसी है।

चैत्यगृह की योजना--पश्चिमी भारत की पर्वतीय वास्तु के दो प्रधान अंग चैत्यगृह और विहार होते थे। चैत्यगृह बौद्धो का पूजास्थान था और विहार भिक्षुओ का निवास स्थान। पहले (पृ० ४५०) यह बताया जा चुका है कि स्तूप को चैत्य कहा जाता था। प्रत्येक चैत्यगृह मे पूजा के लिए स्तूप की स्थापना की जाती थी। चैत्यगृह की आकृति घोडे की नाल जैसी आकृति की बनाई जाती थी। इसके आगे का भाग आयताकार और पीछे का भाग अर्धवृत्ताकार (Apse) होता था। पिछले अर्धवृत्ताकार भाग मे ऊपरी छत के ठीक मध्य बिन्दु के नीचे चट्टान मे कटाव करके ठोस, अण्डाकृति स्तूप अथवा चैत्य की रचना की जाती थी, इसीलिए ऐसी लेणो को चैत्यगृह कहा जाता था। इसके आगे बीच के आयताकार लम्बे मण्डप मे पूजा और सभाओं आदि के लिए भिक्षु एकत्र होते थे। यह भाग इसकी नाभि (Nave) या मण्डप कहलाता था। इसके दोनों ओर स्तम्भो की दो पक्तियाँ स्तूप के पीछे तक चली जाती थी। इन स्तम्भ पक्तियो के बाद पहाड को खोद कर स्तूप के चारो ओर परिक्रमा करने के लिए प्रदक्षिणापथ (Aisle) बनाया जाता था। यह मण्डप के खम्भो और चैत्य गृह की पाषाण भित्ति के बीच का मार्ग था और स्तूप के पीछे से घूम जाता था। चैत्यगृह के मंडप की छत देखने मे बडी विशाल और भव्य जान पडती थी। यह मडप के दोनों ओर के खम्भो पर ढोलाकार (Vaulted) अथवा हाथी की पीठ (गजपृष्ठाकृति) के रूप में टिकी रहती थी। इस प्रकार चट्टान को काट कर बनाये गये भवन मे यद्यपि खम्भों का कोई विशेष प्रयोजन नही था, फिर भी इन्हें लकडी के भवनो की परम्परा का अनुसरण करते हुए बनाया जाता था। इन भवनों की छत खम्भो पर टिकी होती थी, इसलिए शैलगृहो मे आवश्यकता न होने पर भी स्तम्भो को स्थान दिया गया था। काष्ठ परम्परा के अनुसरण का एक अन्य प्रमाण यह है कि कई चैत्यगृहो मे छत को टिकाने के लिए लकडी की बडी-बडी गोल धन्नियाँ लगाई जाती थी। इस प्रकार इनकी छत लकडी के भवनो की छत की भाँति कड़ियों के एक ढांचे पर टिकी होती हैं। इन चैत्यगहों को बनाने वाले कारीगरो (महाशैल कर्मान्तिक, महारूपकार) तथा खुदाई करने वालों (शैलवर्द्धकी--सेलव-ढ्ढकि) के आगे एक बड़ी समस्या पानी की थी। इसके समाधान के लिए पहाड़ के ऊपरी भागों पर कई छोटी नालियो का जाल बिछा कर पानी की एक छोटी

पूल या नहर बना ली जाती थी। इसके जल को गुफा के पास चट्टानों में एक बड़ा हौज (द्रोणी) काट कर एकत्र किया जाता था। अभिलेखों में इन नालियों को पानीय-पनाड़ी और जल संग्रह करने वाली गहरी द्रोणियों को पानीयपोढ़ी, पानीयभाजन या पानीयघर कहते थे। अजन्ता, कन्हेरी और एलीफेन्टा में ये द्रोणियाँ अब तक बनी हुई हैं।

इन चैत्यगृहों के निर्माण की पद्धति निराली थी। सामान्य घरों का निर्माण नींव की खुदाई और भराई से आरम्भ होता है, इसके बाद दीवारें और सबसे अन्त में छत बनाई जाती है, किन्तु चैत्य गृहों का निर्माण शिल्पी छत से आरम्भ करते थे, क्रमशः ऊपर से नीचे की ओर अपनी रचना को खोदते हुए चले जाते थे। सर्वप्रथम कारीगर (महाशैल-कर्मान्तिक) चैत्यगृह बनाने के लिए एक खड़ी मजबूत चट्टान को चुनता था। उसके झाड झखाड़ की सफाई करके उसके अग्रभाग का चट्टान पर अंकन करता था। यह घोड़े के नाल जैसी अथवा गौ की आँख जैसी अर्धवृत्ताकार होने के कारण गवाक्ष, अथवा चैत्य गवाक्ष (Chaitya Window) कहलाती थी। इसका एक अन्य नाम कीर्तिमुख भी था क्योंकि चट्टान मे उत्कीर्ण की गई रचना को कीर्ति भी कहा जाता था। अत. कीर्तिमुख का अर्थ उत्कीर्ण गुफा का मुख या प्रवेशद्वार होता था। कीर्तिमुख से खुदाई आरम्भ करके शिल्पी धीरे-धीरे अन्दर की ओर खोदते हुए चट्टान को खोखली करते थे। खुदाई का मलबा इसी कीर्तिमुख या गवाक्ष से बाहर फेंका जाता था। शैलगृह के निर्माण के आरम्भ में कीर्तिमुख का बड़ा प्रयोजन मलबे को निकालना था, चैत्य बन जाने पर यह सारी गुहा को सूर्य के प्रकाश से आलोकित करने वाली बड़ी खिडकी का काम करता था, अत इसे सूर्यद्वार भी कहा जाता था। चैत्यगृह का मुखभाग दो भागों में विभक्त होता था। एक तो ऊपर का कीर्तिमुख या सूर्यद्वार, दूसरा ठोस चट्टानी भित्ति, जिसे काट कर भीतर जाने के लिए तीन प्रवेश-द्वार बनाये जाते थे। बीच के द्वार से नाभिस्थान अथवा महामण्डप मे और दो पार्श्वस्थित द्वारों से प्रदक्षिणा-पथ के दायें बाँये भाग मे प्रवेश किया जाता था।

विहार—पर्वतीय वास्तु का दूसरा प्रकार विहार था। इसमें भिक्षु रहा करते थे। इसकी सामान्य योजना इस प्रकार थी। मध्य में एक बड़ा वर्गाकार मण्डप आंगन की भाँति होता था, इसमें तीन या चार और छोटी-छोटी कोठरियाँ (गर्भशालाएं, अपवरक) खोदी जाती थी। सामने की दीवार मे प्रवेश के लिए एक दरवाजा और उसके आगे स्तम्भो पर टिका हुआ बरामदा (मुखमण्डप)

बनाया जाता था, जहाँ भिक्षुओ का सघ बहुत बड़ी संख्या मे निवास करता था। इस बड़े बिहार को संघाराम कहते थे। शुरू में विहार शब्द का प्रयोग भिक्षुओं के निवास के लिए बनाई गई छोटी कोठरियों (गर्भशालाओ) के लिए किया जाता था, बाद में भिक्षुओं के बड़े आकार के निवास-स्थानों को भी विहार कहा जाने लगा। आरम्भिक चैत्य गृहों की भाँति विहारो का स्वरूप शुरू में बहुत सादा होता था। इस युग के विहारो की तीन बडी विशेषताएं थीं। पहली विशेषता बीच में आंगन की तरह बडा वर्गाकार स्तम्भहीन मण्डप था। इसमे भिक्षु प्रार्थना आदि सामूहिक कार्यों के लिए एकत्र होते थे। दूसरी विशेषता इस मण्डप के चारों ओर छोटी कोठरियों की थी, इनके भीतर भिक्षुओं के सोने और बैठने के लिए पत्थर में ही काट कर बनाई गई चौकियाँ होती थीं। तीसरी विशेषता यह थी कि इनका प्रवेशद्वार बीच में न होकर एक सिरे पर रखा जाता था। इसका कारण यह था कि इन कोठरियों का आकार बहुत छोटा (९'×९') होता था। इनमें एक ओर सोने के लिए एक लम्बी चौकी बनाई जाती थी, अत. प्रवेशद्वार को किनारे पर रखना ठीक समझा जाता था।

पश्चिमी भारत मे नासिक के चारो ओर दो सौ मील के घेरे में लगभग नौ सौ चैत्य गृह और विहार पाये जाते हैं। इस युग मे बनाये गये चैत्यगृहों और विहारो का कालक्रम पर्सी ब्राउन के मतानुसार निम्नलिखित है—भाजा, कोण्डनि, पित्तलखोरा, अजन्ता गुहा संख्या १०, बेडसा, अजन्ता गुहा सं० ९, नासिक, कार्ले। यहाँ इनमें से कुछ प्रमुख चैत्य गृहों और विहारो का वर्णन किया जायगा।

भाजा:—यह पश्चिमी घाट की पर्वतमाला को पार करने वाले सुप्रसिद्ध दर्रे भोर घाट मे कार्ले से चार मील की दूरी पर है। यहाँ के चैत्यगृह और गुहायें सबसे प्राचीन मानी जाती हैं। इनका निर्माण शुंग काल के आरम्भ में लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध मे सम्भवतः १७५ ई० में हुआ। यहाँ एक विहार, एक चैत्यगृह तथा चट्टानों मे काटे हुए चौदह ठोस स्तूप मिले हैं। भाजा के विहार में पहले एक बरामदा है, इसके पिछले भाग की दीवार के दो द्वारों मे होकर एक मण्डप है। इसके चारों ओर भिक्षुओं के लिए बनाई गई कोठरियाँ हैं। भाजा की एक बड़ी विशेषता इसके विहार की मूर्तियाँ हैं। इनमें बरामदे के पूर्वी छोर के प्रवेशद्वार के दोनों ओर की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बाईं ओर की मूर्ति में एक राजा चार घोड़ों के रथ पर सवार है, उसके पीछे दो सेविकायें

छत्र और चंवर के राजचिन्ह लिए खड़ी हैं। रथ के पहिये भारी भरकम नंगे असुरो के शरीरो के ऊपर से गुजर रहे है। दाई ओर की मूर्ति मे एक ऊंचे हाथी पर एक राजा और उसके पीछे ध्वज लिये हुए एक सेवक है। हाथी बाईं ओर चल रहा है, उसने अपनी उठी हुई सूंड से एक पेड उखाड लिया है। इस पट्ट के शेष भाग में जंगलो मे कुछ वृक्ष चित्रित किये गये है। एक वृक्ष से मिथुन मूर्तियाँ जन्म ले रही है। पेड के पीछे बैठे हुए नर नारी वाद्य एवं नृत्य में आनन्द-मग्न हैं। अधिकाश पुरातत्वज्ञ पहले बाईं ओर की मूर्ति को रथारूढ सूर्य की मूर्ति मानते थे। रोलैण्ड ने लिखा है कि इसमे सूर्य यूनानी देवता अपोलो की भाँति अन्धकार के दानवो की शक्ति को कुचलता हुआ आगे बढ रहा है दाईं ओर की मूर्ति इन्द्र की है, वह ऐरावत पर सवार है।[1] कुमार स्वामी ने ऐसा ही माना था। किन्तु रोलैण्ड को स्वय इस बात की शंका थी कि इन्द्र और सूर्य दोनो वैदिक देवता है, उनका एक बौद्ध विहार में अंकन क्यो किया गया है? उन्होंने इसका समाधान यह किया है कि शाक्य मुनि ने सूर्य और इन्द्र की शक्तियो को आत्मसात् कर लिया था, अत उन्हें यहाँ बुद्ध के प्रतीक के रूप मे चित्रित किया गया है, किन्तु यह बडी क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होती है। कुमारस्वामी ने यह शंका उठाई थी कि इन्द्र के साथ अन्य दृश्यो का कोई संबध प्रतीत नही होता है। डा० अग्रवाल ने यह सिद्ध किया है कि "इन दोनो दृश्यो मे सूर्य और इन्द्र की मूर्तियाँ नही है, किन्तु इनमे सम्राट मान्धाता के उत्तर कुरु देश मे जाने का वर्णन है। वे चार घोडो के रथ पर छत्र और चंवर के राजचिन्हो के साथ अपने दिव्य रथ पर बैठ कर वहाँ जा रहे है। दिव्यावदान मे यह कहा गया है कि सम्राट के आकाशगामी रथ के चक्र असुरों के शरीरो को रौंदते हुए उनके ऊपर से चले। दाँई ओर के दृश्य मे चक्रवर्ती मान्धाता को उत्तर कुरु जीतने के बाद, वहाँ के उद्यानो मे स्वच्छन्द विहार करते हुए दिखाया है। यहाँ वृक्ष से मिथुन मूर्तियो का जन्म उस उत्तर कुरु का प्रतीकात्मक अकन है जहाँ स्त्री-पुरुषों के मिथुन चिर यौवन का और सब सुखो का उपभोग करते है और वहाँ के कल्पवृक्ष सब प्रकार की सुख-सामग्री का प्रसव करते है"[2]।

भाजा का चैत्यगृह ५५ फुट लम्बा और २६ फुट चौडा है। इसके दोनों ओर के प्रदक्षिणा-पथ का गलियारा केवल ३॥ फुट चौडा है। छत का ढोल भूमि-

१ रोलैण्ड—आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इंडिया पृ० ५६।
२. अग्रवाल—भारतीय कला पृ० २३६।

तल से २९ फुट ऊंचा है, इसमें बडी झुकी हुई लकडी की धन्नियो का एक ढांचा नीचे की ओर अभी तक जुडा हुआ है। यह स्पष्ट रूप से इस बात को सूचित करता है कि इसमे लकड़ी के भवनों की पुरानी परम्परा का अनुसरण किया गया था।

कोंडाने—कार्ले से १० मील दूर कोडाने में भाजा के बाद चैत्यगृह बनाया गया। इसके प्रत्येक अंग मे काष्टशिल्प की अनुकृति मिलती है। इसके चैत्यगृह का मण्डप (६६' × २६') भाजा से लम्बाई मे १० फुट अधिक बडा है। पितलखोरा (पीत गल्प) औरगाबाद से चालीसगाँव जाने वाले मार्ग पर है। यह स्थान नासिक और शूर्पारक के बन्दरगाह से सातवाहन वश की राजधानी प्रतिष्ठान की ओर आने वाले व्यापारिक महामार्ग पर स्थित था। यहाँ एक पहाडी नाले के दो ओर १३ गुफाये खोदी गई थी। यहाँ का चैत्यगृह (३५' × ८६') कोण्डाने से भी अधिक बडा है। इसमे खम्भो का झुकाव भाजा की भाँति भीतर की ओर है।

अजन्ता—यहाँ २९ गुहाये वागुरा नदी के किनारे खुदी हुई हैं। इनमें चार चैत्यगृह है और शेष पच्चीस भिक्षुओ के निवास के विहार है। इनमे से केवल दो गुहाए सख्या १० और ९ शुग-सातवाहन युग मे बनाई गई थी। गुहा सख्या १० के चैत्यगृह का निर्माणकाल दूसरी शताब्दी ईस्वी है। यह ९६ फुट ६ इंच गहरा, ५१ फुट ३ इच चौडा है। मण्डप और प्रदक्षिणापथ के पीछे ३९ खम्भो की पंक्ति है। शिल्पियो ने इसे नाना प्रकार के अलंकरणो से सुसज्जित किया है। गुहा सख्या ९ का चैत्यगृह संख्या १० की गुहा से छोटा है। इसके मुख भाग मे एक प्रवेशद्वार और दो गवाक्ष है। इन तीनो के ऊपरी हिस्से मे एक छज्जा सा निकला हुआ है। इसके ऊपर सगीतशाला है। उसके ऊपर पीछे की ओर १२ फुट ऊंचा कीर्तिमुख या सूर्यद्वार है, जो चैत्यगृह के भीतरी भाग को प्रकाश और वायु से परिपूर्ण करने का प्रधान साधन था। वेडसा की गुहाये कार्ले से १० मील दक्षिण मे है। यहाँ काष्ठशिल्प की परम्परा कुछ कम हो गई है। पाषाण शिल्प की ओर विशेष प्रगति दिखाई देती है।

नासिक की गुहाएँ—गोदावरी के तट पर नासिक प्राचीन काल से एक प्रसिद्ध धार्मिक तीर्थ और राजनीतिक केन्द्र था। यहाँ की १७ गुहाओ मे एक चैत्य-गृह और १६ विहार है। यहाँ का सबसे प्राचीन विहार दूसरी शताब्दी ई० पू० का है। इसमे सातवाहनवशी राजा कृष्ण का १७० ई० पू० का एक लेख

उत्कीर्ण है। अन्य तीन बड़े विहार नहपान, गौतमीपुत्र और यज्ञश्री सातकर्णी के विहार कहलाते हैं। इन तीनों का समय पहली शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० है। नहपान और शातकर्णी विहार एक जैसे हैं। उनके भीतरी वर्गाकार मण्डप ४०'×४०' के हैं। इनके तीनों ओर १६ कोठरियाँ हैं। यज्ञश्री सातकर्णी का महाविहार संख्या १२ छोटा होने पर भी शिलालेख के कारण महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार इस गुफा को इन्द्राग्निदत्त नामक यवन ने बनवाया था। यह उत्तर में दत्तामित्री नगरी का रहने वाला था। अन्यत्र यह बताया गया है कि इस युग में रोम के साथ कालीमिर्च का व्यापार होता था। पहले इसका बड़ा केन्द्र सिन्ध नदी के मुहाने के बन्दरगाह थे। किन्तु बाद मे मानसून हवाओं का पता लगने पर जब जहाज समुद्र को सीधा पार करते हुए बम्बई के आस-पास के बन्दरगाहों में आने लगे तो सिन्ध के मुहाने के बन्दरगाहों मे बसे कालीमिर्च के व्यापारी भी यहाँ चले आये। सम्भवतः इन्द्राग्निदत्त ऐसा ही एक व्यापारी था।

नासिक का चैत्यगृह पाण्डुलेण के नाम से प्रसिद्ध है। यह पहली शताब्दी ई० का है, इसमे पुरानी परम्पराओं को छोड दिया गया है। इसका अगला बरामदा (मुखमण्डप) दो मंजिलों मे है। नीचे के मजिल मे प्रवेशद्वार और ऊपर चैत्य-गवाक्ष या सूर्यद्वार है। द्वार के पास एक महाकाय यक्षाकृति रक्षापुरुष बना हुआ है। मुखमण्डप के द्वार पर अंकित एक लेख से यह ज्ञात होता है कि वम्मिका गांव के लोगों ने इसे दान में दिया था। भीतरी मडप के दो खम्भों पर उत्कीर्ण लेखों के अनुसार इस चैत्यगृह का निर्माण भट्पालका ने कराया था। यहाँ स्तम्भो की आकृति मे बहुत परिवर्तन आ गया है। ये भारी-भरकम न होकर लम्बे और छरहरे हो गये हैं। इनकी पेन्दी मे और ऊपर के सिरे पर पूर्णकुम्भ के मागलिक अभिप्राय बनाये गये हैं।

पूना से ४८ मील उत्तर में जुन्नर नामक स्थान मे १५० गुहाये खोदी गई थीं। इनमे १० चैत्यगृह और शेष विहार है। इनका निर्माण दूसरी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० में हुआ। यहाँ के वास्तु की एक बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ छः चैत्यगृह आयताकार हैं। इनकी छते ढोलाकार न होकर चपटी हैं। मण्डप मे कोई स्तम्भ नहीं है। एक चैत्यगृह बिलकुल गोल है। मान-मोद नामक चैत्यगृह के मुखमण्डप में गज-लक्ष्मी की बड़ी भव्य मूर्ति उत्कीर्ण की गई है। इसके दोनो ओर खिले कमल हैं। दायाँ हाथ अभय मुद्रा में और बाँया कमर पर है, कोनो में कमलों पर खड़े हाथी देवी का

फलक—१४ भाजा गुहा का कलामंडित द्वार मुख, पृ० ४७१
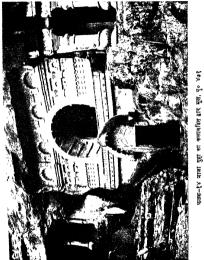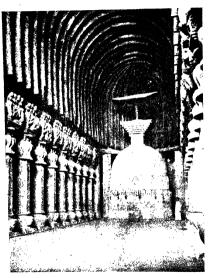
फलक–१२ कार्ले का गुहा चैत्यस्तूप तथा अलकृत स्तम्भ, पृ० ४७५

अभिषेक कर रहे हैं; इनके पार्श्व मे अंजलिमुद्रा में दो दम्पती हैं। गज लक्ष्मी का यह अंकन बड़ी भव्य कृति है और किसी महान शिल्पी के दक्ष हाथों से बनी है। धन के बिना इस प्रकार की कृतियो का निर्माण नही हो सकता था, अतः बौद्ध चैत्यगृहो में लक्ष्मी की मूर्ति की प्रधानता स्वाभाविक थी। इसके पास अंकित एक छोटे लेख में चन्द नामक यवन के दान का उल्लेख है। यह लेख विदेशी यवनों में बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को सूचित करता है।

कार्ले:—पश्चिमी भारत के चैत्यगृहों मे सर्वश्रेष्ठ, विशाल और भव्यतम रचना कार्ले मे मिलती है। यह महाराष्ट्र मे पर्वतीय चैत्यों की वास्तु कला के सर्वोच्च विकास को सूचित करती है। यहाँ एक लेख मे यह कहा गया है कि यह जम्बुदीप मे सर्वोत्तम चैत्यगृह है (जम्बुद्दिपं हि उत्तमम्) । यह कोरी गर्वोक्ति नही हैं, वर्तमान पुरातत्वज्ञ इसे सर्वथा सत्य मानते हैं। कार्ले बम्बई से पूना जाने वाले मार्ग पर बम्बई से ७८॥ मील दूर मलावली स्टेशन से ३ मील दक्षिण की ओर है। प्राचीन काल में यह स्थान कोंकण से पश्चिमी घाट पार करने वाले मोरघाट के सुप्रसिद्ध दर्रे और व्यापारिक मार्ग के निकट था। कार्ले में एक चैत्यगृह और तीन सामान्य विहार मिले हैं। इसके चैत्यगृह के सामने दो ऊँचे कीर्तिस्तम्भ थे। अब इनमें से एक रह गया है। इन स्तम्भों के ऊपर सिंहों की मूर्तियाँ बनी हुई थी। पर्सीब्राउन ने यह कहा है कि प्राचीनकाल मे मेसोपोटामिया और जेरुसलेम में मंदिरों के सामने स्तम्भ बनाये जाते थे। भारत मे यह पद्धति इन देशों से ग्रहण की गई थी। किन्तु वैदिक साहित्य मे यज्ञीय भूमि और श्मशानों में यूप एवं स्तम्भ खडे करने का परिपाटी का उल्लेख मिलता है, अतः इसे विदेश से आई हुई पद्धति नहीं माना जा सकता है। कीर्ति-स्तम्भ ५० फुट ऊंचा है। इसके ऊपर चार महाकाय सिंह चार दिशाओं में मुँह किये पीठ सटाकर बैठे हुए हैं। इस पर अशोक कालीन सारनाथ के स्तम्भ का कुछ प्रभाव प्रतीत होता है। इस स्तम्भ के बाद आगे बढ़ने पर हमें स्तम्भों पर आश्रित इसका दुमंजिला बरामदा (मुखमण्डप) मिलता है। यह १७ फुट गहरा और ५२ फुट लम्बा है। इस बरामदे की पिछली दीवार में मिथुनो की महाकाय मूर्तियाँ हैं। दोनों पार्श्वभागो में हाथियों की विशाल मूर्तियाँ हैं। कुछ कलामर्मज्ञ कार्ले की शक्तिशाली मिथुन मूर्तियों को ऐसी मूर्तियाँ में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। बरामदे के बीच में चट्टान में कटी हुई चूलों से यह पता लगता है कि यहाँ पहले लकड़ी की बनाई हुई एक संगीतशाला थी। बरामदे की पिछली दीवार के

ऊपरी तल्ले मे महान कीर्तिमुख या गवाक्ष बना है। निचले हिस्से मे तीन प्रवेश-द्वार बीच के महा मण्डप मे और दाये-बाये प्रदक्षिणा पथो मे जाने-आने के लिए बने हैं।

इसका मुख्य मण्डप (Nave) अथवा नाभिभाग अत्यन्त प्रभावशाली है। इसके दोनों ओर सुन्दर स्तंभो की पंक्ति प्रदक्षिणा पथ को मंडप से पृथक् करती है। इन स्तमो के शीर्ष-भाग कला की दृष्टि से अतीव सुदर है। भीतरी मडप की विशालता और भव्यता देखते ही बनती है। इसकी लम्बाई १२४ फुट है, १० फुट चौड़े प्रदक्षिणा-पथो सहित इसकी चौड़ाई ४५॥ फुट है। इसके दोनो ओर के प्रदक्षिणा-पथ अन्य सभी चैत्यगृहो से अधिक चौड़े और उत्तम है। मडप के अन्त के अर्द्धवृत्ताकार भाग मे एक स्तूप बना हुआ है। स्तूप की चौकी दो भागो मे है। इनके उपरले अंश पर वेदिका अलकरण की गोट बनी है। चौकी के ऊपर स्तूप का सादा अड भाग और इस पर चौकोर वेदिका से घिरी हर्मिका है। इसके बीच मे यष्टि और छत्र के नीचे के अश पर कमल के फुल्ले उत्कीर्ण है।

इसके मंडप मे ३७ स्तम्भो की पंक्ति है। इनमे ७ खम्भे स्तूप के पिछले हिस्से मे और ३० खमे दोनो ओर बने है। इनके निचले हिस्से घटते हुए पीठो की चौकियो पर बनाये गये पूर्ण कुम्भा मे निविष्ट है। स्तम्भ का मध्य भाग अष्टकोण है, इसके ऊपरी हिस्से पर भी औधा ढका पूर्ण घट है। यह कमलो की लहराती पखडियो से ढका है। इसके ऊपर शीर्ष भाग मे चौकी है। यह दपती-मूर्तियो से सुशोभित है। मडप की ओर हाथी और प्रदक्षिणा-पथ की ओर घोड़े बने है। कुछ स्तमो पर दपती मूर्तियो के स्थानो पर केवल दो स्त्रियाँ अंकित की गई है। ऐसी सुन्दर मूर्तियाँ किसी अन्य चैत्य मडप मे नही मिलती हैं। खम्भो के ऊपर ढोलाकार छत है। भूमितल से छत की ऊँचाई ४५ फुट है। छत के नीचे चट्टान मे चूले काट कर लकडी की बडी बड़ी धन्नियाँ फंसाई गई थी, जो अभी तक विद्यमान है। यद्यपि इस छत मे उनका कोई उपयोग नही है, फिर भी लकड़ी से बनाये जाने वाले चैत्यगृहो की परम्परा का अनुकरण करने के लिए उन्हें यहाँ लगा दिया गया है। इससे यह प्रगट होता है कि पहले काष्ठ-निर्मित चैत्यगृह भी महाकाय रूप मे बनाये जाते थ।

इस गुहा के कई अभिलेखों से इसके निर्माण काल और निर्माताओ पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इनके अनुसार नहपान और उसके जवाई उषवदात ने

इसके लिए एक ग्रामदान मे दिया था। वैजयन्ती (वनवासी) के सेठ भूतपाल ने भी इसके निर्माण के लिये दान दिया था। इसके पास ही दो मंजिल और तीन मंजिल वाली विहार गुहायें हैं। गुफा संख्या ४ का दान ईरान (पारसीक) देशवासी हरफान (सर्वस्फान) ने दिया था। यह सातवाहन सम्राट गौतमीपुत्र शातकर्णी के समय पहली शताब्दी ई० में विद्यमान था।

कन्हेरी (कृष्णगिरि)—यह बम्बई से १६ मील उत्तर मे और बोगीविले (विहारावली) स्टेशन से ५ मील की दूरी पर है। यहाँ द्वितीय शताब्दी ईस्वी के अंतिम भाग मे सातवाहन वंशी राजाओ के समय मे चैत्यो और विहारो का निर्माण किया गया था। यहाँ का चैत्यगृह कार्ले के नमूने पर बनाया गया है, यह लगभग उतना ही बड़ा है, किन्तु कलात्मक दृष्टि से उससे घटिया है। इसके बनवाने का कार्य गजसेन तथा गजमित्र नामक दो भाइयो ने गौतमीपुत्र श्री यज्ञश्री सातकर्णी के समय १८० ई० के लगभग किया।

उपसंहार—पर्वतो मे चट्टानो को काटकर चैत्य, विहार और मंदिर बनाने की कला का आन्दोलन प्राचीन भारत में लगभग एक हजार वर्ष तक चलता रहा। यह अशोक के समय मे तीसरी शताब्दी ई० पू० मे मगध से आरम्भ होता है और ७ वीं शताब्दी तक चलता रहता है। इस सहस्राब्दी को इस वास्तुशैली की दृष्टि से हीनयान और महायान के दो युगो में बाँटा जाता है। हीनयान सम्प्रदाय की गुफाओ का समय ३०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक है। इसका आरम्भ अशोक की प्रेरणा से हुआ। पूर्वी भारत मे खारवेल ने इसे प्रोत्साहित किया और पश्चिमी भारत मे सातवाहन वशी राजाओ के समय मे इस कला का उत्कर्ष एव चरम विकास हुआ। ऊपर कालक्रम से विभिन्न चैत्यगृहो का वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यों-त्यो इस कला मे निखार आता गया और अत मे कार्ले लेण मे इसका चरम उत्कर्ष दिखाई देता है।

उदयगिरि और खण्डगिरि की गुहायें—जिस समय पश्चिमी भारत मे बौद्ध शिल्पी लेणो का निर्माण कर रहे थे, लगभग उसी समय कलिग (उड़ीसा) मे जैन शिल्पी भिक्षुओ के निवास के लिए कुछ गुम्फाओ का खनन कर रहे थे। ये गुफायें भुवनेश्वर से ५ मील-उत्तर पश्चिम की ओर उदयगिरि और खण्डगिरि नामक पहाड़ियो मे बनाई गई थी। उदयगिरि मे १९ और खण्डगिरि में १६ गुफायें

मिलती हैं। उदयगिरि की प्रमुख गुफायें ये हैं:--रानी गुम्फा, अलकापुरी गुम्फा, मंचपुरी, गणेश गुम्फा और हाथी गुम्फा। हाथी गुम्फा में ही खारवेल का सुप्रसिद्ध अभिलेख पाया गया है। खण्डगिरि की १६ गुम्फाओ में कुछ प्रमुख गुंफाओं के नाम ये हैं—नवमुनि गुम्फा, आकाश गंगा, देव सभा, अनंत गुम्फा। इन गुंफाओं का पश्चिमी भारत की गुफाओं से एक बड़ा भेद यह है कि इनमें भाजा या कार्ले की भांति कोई चैत्यगृह या पूजा-स्थान नहीं है। यहाँ की कुछ प्रमुख गुंफाओं का वर्णन निम्नलिखित है :—

रानी गुम्फा.—यह कलिंग की गुफाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसका निर्माण काल संभवतः १५० ई० पूर्व मे हुआ। यह दुमंजिली रचना है। इसके बीच में आंगन और तीन ओर कोठरियां है। ऊपरी बरामदे की लम्बाई ६२ फीट और निचले की ४४ फीट है। ऊपर छत तक पहुँचने के लिए दोनों ओर सीढ़ियां बनी हैं। इन दुमंजिली गुफाओ का एक बड़ा उद्देश्य नाट्य शालाओं का प्रबन्ध करना था। इसके सामने के बरामदे की पिछली दीवार पर उत्कीर्ण दृश्यों से यह कल्पना पुष्ट होती है, क्योंकि इनमें भारतीय साहित्य की कुछ प्रमुख नाट्य कथाओ—उदयन एवं वासवदत्ता की तथा दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा को उत्कीर्ण किया गया है। रानी गुम्फा के उपरले बरामदे में आठ द्वार हैं। इनके बीच के भित्ति-भागों पर सात चित्र बनाये गये है। यहाँ के दृश्यो में अवन्ति नरेश प्रद्योत के मत्त हाथी नलगिरि को उदयन द्वारा अपने मधुर सगीत से वश में लाने का दृश्य बहुत सुन्दर है।

गणेश गुंफाः—उदयगिरि की यह गुहा एकमंजिली है। पीछे की ओर दो कोठरियों वाली शालायें हैं, सामने स्तम्भो पर आश्रित बरामदा है, ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की पंक्ति बनी हुई है। इसके दोनो ओर दो द्वारपाल हाथी उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार के हाथी और कही नही मिलते है।

अनंतगुंफाः—खण्डगिरि पहाड़ी पर बनी हुई गुफाओ में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसके सामने का बरामदा २९'×११' फीट है और भीतरी भाग २४×७ फीट है। इसका महत्व इसकी मूर्तियो के और अलकरणो के कारण है। इस

गुफा की सजावट भारहुत और सांची के स्तूपों की भांति बड़े प्रयत्न से की गई है और यहाँ विभिन्न प्रकार के सुन्दर अलंकरण बने हुए हैं, जैसे नागमिथुन, दाहिने हाथ से दिव्य पुष्पवृष्टि करते हुए विद्याधर युगल, चैत्य की पूजा करते हुए नर नारी, चोंच में कमल के फूल लेकर उड़ते हुए बारह हंसों की पंक्ति, त्रिरत्न, स्वस्तिक, गज लक्ष्मी, चार घोड़ों के रथ पर अपनी पत्नियों सहित बैठी सूर्य की मूर्ति।

आन्ध्र सातवाहन युग की कला-अमरावती और नागार्जुनीकोंडा

जिस समय उत्तर भारत में भारहुत और साँची के स्तूपों का निर्माण हुआ, लगभग उसी समय दक्षिण भारत में सातावहन सम्राटों (२०० ई०-२२५ ई० तक) और इक्ष्वाकुवंशी (२३० ई०–२७५ई०) राजाओ के समय में वास्तु एवं मूर्ति कला का विलक्षण विकास हुआ। इसका कारण इनके शासन मे दक्षिण भारत मे व्यापारिक समृद्धि और शांति थी, इसने यहाँ कला के विकास को स्वर्ण अवसर प्रदान किया। अन्यत्र (अध्याय १०) यह बताया जा चुका है कि पहली शताब्दी ई० में दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी तटो के बन्दरगाहो का रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार बढ़ गया था। ४५ ई० में मानसून हवाओ के पता लगने पर इस व्यापार में विलक्षण वृद्धि हुई। यह दक्षिण भारत मे प्रचुर मात्रा मे मिली रोमन मुद्राओ की निधियों से स्पष्ट प्रकट होती है। पाण्डि-चेरी के निकट अरिकमेडू की खुदाई से रोमन साम्राज्य के साथ व्यापारिक सम्पर्क की पुष्टि हुई है। उस समय रोम के साथ सम्पर्क होने से भारतीय कला पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इसके साथ ही आन्ध्र प्रदेश की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की थी कि यहाँ से साहसी व्यापारी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों—बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा में जाया करते थे। अतः अमरावती की कला का बृहत्तर भारत मे भी प्रसार हुआ। इसका स्वरूप समझने के लिए पहले आन्ध्र प्रदेश की भौगोलिक पृष्ठभूमि समझ लेनी चाहिए।

भौगोलिक पृष्ठभूमि—कृष्णा और गोदावरी नदियों के मध्यवर्ती आन्ध्र अथवा वेंगी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ने प्राचीन काल मे इसे असाधारण महत्व प्रदान किया था। इस प्रदेश मे भारत के विभिन्न प्रान्तों से आने वाले पाँच महा-मार्ग मिलते थे और बंगाल की खाड़ी पर स्थित इसके बन्दरगाहों से दक्षिण-पूर्वी एशिया को जाने वाले व्यापारी रवाना हुआ करते थे। इस प्रकार यह उस समय

स्थल एव जल-मार्गों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। फ्रेंच विद्वान् दुब्रे उइल ने भली भाँति यह प्रदर्शित किया है कि आन्ध्र प्रदेश के सभी महत्वपूर्ण बौद्ध स्तूप और अवशेष इन्ही मार्गों पर पाये जाते हैं। ये मार्ग निम्नलिखित हैं—(१) कलिंग (उड़ीसा) का मार्ग—इस पर पीठापुरम् और सकाराम (सघाराम) के अवशेष है। (२) द्रविड़ देश (मद्रास) का मार्ग—इस पर घण्टसाल (कण्टक शैल) और भट्टिप्रोलू के स्तूप है। (३) कर्णाटक जाने वाला मार्ग—इस पर अमरावती, गोली और नागार्जुनीकोण्डा के स्तूप है (४) **महाराष्ट्र जाने वाला मार्ग**—इस पर अल्लूरू और जगय्यपेट के स्तूप है (५) **दक्षिणी कोसल का मार्ग**—इस पर गुण्टपल्ले नामक स्थान में तीस अवशेष मिले है। कालक्रम की दृष्टि से ये प्राचीनतम माने जाते है। यह मार्ग आगे चलकर एक ओर साँची और मथुरा तथा दूसरी ओर भारहुत और श्रावस्ती की ओर चला जाता था। इन सब व्यापारिक महापथो से होने वाले विदेशी व्यापार से यहाँ के निवासियो को जो प्रचुर वैभव प्राप्त हुआ, उसका सदुपयोग उन्होंने यहाँ बौद्ध स्तूपो के निर्माण मे किया। अब यहाँ कालक्रम की दृष्टि से यहाँ के प्रमुख अवशेषो का परिचय दिया जायगा।

गुण्टपल्ले का पर्वतीय चैत्यगृह:—गोदावरी कृष्णा नदियो के मैदानी प्रदेश मे महाराष्ट्र की भाँति पर्वत अधिक मात्रा मे नही पाये जाते है, अत यहाँ स्तूप प्रधान रूप से ईंटों से तथा इस प्रदेश में पाये जाने वाले मगमरमर के पत्थरो से बनाए जाते थे। कुछ थोडे स्थानो पर जहाँ पर्वत थे, वहाँ सर्वप्रथम महाराष्ट्र की भाँति पर्वतीय शिलाओ को काट कर चैत्यगृहो और विहारो का निर्माण किया गया। इस प्रकार के पर्वतीय चैत्य गुण्टपल्ले और सकाराम मे मिलते है। गुण्टपल्ले मे यह कार्य तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य मे और सकाराम मे २०० ई० पू० के लगभग हुआ। गुण्टपल्ले मे एक चैत्यगृह, दो विहार और कई स्तूप एक ही पत्थर से बनाये गये मिलते है। यहाँ चैत्यगृह की एक बडी विशेषता इसका गोल आकार है। पश्चिमी भारत के चैत्य घोडे की नाल के आकार के होते हैं किन्तु यहाँ के वृत्ताकार चैत्य गृह के बीच मे गोल स्तूप और इसके चारो ओर सकरा प्रदक्षिणा पथ और इसके ऊपर गोल छत मिली है। यहाँ एक अन्य नालाकार चैत्यगृह भी मिला है। किन्तु यह बहुत बाद का दूसरी शताब्दी ई० के मध्य का है। कलिंग जाने वाले मार्ग पर विशाखापट्टनम् के निकट संकाराम नामक स्थान मे भी चट्टानो मे काट कर बनाए गये तीन नालाकार चैत्यगृह, एक विशाल बौद्ध विहार और कुछ एकाश्मक स्तूप मिले है। ये दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरम्भ मे बने थे।

गोली स्तूपः—नागार्जुनीकोंडा से १८ मील नीचे गुण्टूर जिले मे कृष्णा नदी की एक शाखा कोलारु नदी पर गोली में एक स्तूप और संगमरमर जैसे श्वेत पत्थर की बनी हुई कुछ सुन्दर मूर्तियां मिली है। ये अमरावती और नागार्जुनी कोण्डा की मूर्तियो से मिलती हैं। यहां प्रायः एक स्तूपपट्ट पर सम्भवतः उस स्तूप की प्रतिकृति है, जो यहां दूसरी शताब्दी ई० मे बनाया गया था। यहां की मूर्तियो के विषय ये हैं—बुद्ध, बोधिसत्व, मारविजय, प्रथम धर्मोपदेश, बुद्ध का यशोधरा के समीप पुनः लौटना, नलगिरि हस्ती को वश मे करना, वेस्सन्तर जातक, छद्दन्त जातक की कथा। शैली के आधार पर इन मूर्तियों का समय दूसरी तीसरी शताब्दी ई० समझा जाता है।

भट्टिपोलु द्रविड़ देश की ओर जाने वाले मार्ग पर अवस्थित था। यहां तीसरी-दूसरी शताब्दी ई० पू० मे ईटो से एक महास्तूप का निर्माण किया गया था। यह १२० फुट ऊंचा था तथा इसका व्यास १४८ फुट था। इसके ऊपर का अण्डभाग घन्टे के आकार जैसा था।

घण्टशाल (कण्टकशैल) का स्तूप भी मद्रास जाने वाले मार्ग पर था। यहां के स्तूप का व्यास १२२ फुट और ऊँचाई १११ फुट थी। इस स्तूप की रचना इस प्रकार से की गई थी कि विशाल स्तूप बनाने पर भी ईटो का व्यय कम हो, बीच मे १० फुट चौकोर स्तम्भ के चारो ओर बीच बीच मे कुछ दीवारें आड़ी ईटो से बनाई जाती थी और इन दीवारो के बीच मे मिट्टी और रोडे भरे जाते थे। नागार्जुनीकोण्डा मे भी इसी शैली से स्तूप बनाते हुए ईटो की बचत की गई थी।

जग्गय्यपेट का स्तूप.—यह स्थान अमरावती से ३० मील उत्तर-पश्चिम मे महाराष्ट्र जाने वाले मार्ग पर अवस्थित है। यहां अनेक स्तूप और विहार मिले है। ये ईटो और सफेद पत्थर से बनाये गये थे। यहां के विशाल स्तूप का व्यास ३१॥ फुट था। उसके चारो ओर १०॥ फुट चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ और इसे घेरती हुई अमरावती जैसी एक बड़ी वेदिका थी। इसमे भी ईटों की बचत करने के लिए इनकी तहो के बीच मे मिट्टी की तहें डाली गई हैं और ऊपर से समूचे स्तूप को ईटों के खोल से मढ़ दिया गया है। जग्गय्यपेट की विशेषता यहां की मूर्तियो के कारण है। ये मूर्तियां बड़े शिलापट्टो पर उकेरी गई हैं। भित्ति-स्तूपो पर बनाई गई नारी-मूर्तियां भारहुत की यक्षिणियो से मिलती हैं। यहां के

एक चित्र में सम्राट मान्धाता स्वर्ण-वृष्टि के लिए प्रार्थना कर रहे है ताकि उसके प्रजाजन सुख पूर्वक रह सकें।

अमरावती:—अमरेश्वर शिव के नाम से वतमान नाम धारण करन वाला यह स्थान गुण्टूर से १८ मील और बेजवाड़ा से भी इतनी ही दूरी पर कृष्णा नदी के दाँये किनारे पर बसा हुआ है। यह कृष्णा-सागर संगम से ६२ मील की दूरी पर है, इसलिए प्राचीन काल में यह स्थान समुद्री तूफानों तथा डाकुओ के आतंक से सुरक्षित होते हुए भी उत्तम बन्दरगाह की विशेषता रखता था, कृष्णा नदी से होने वाले व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था। अमरावती से १ मील पश्चिम में धरणी-कोट अथवा धान्य कटक नामक सातवाहन साम्राज्य की एक राजधानी थी।

अमरावती की विशेष प्रसिद्धि यहाँ बने सफेद सगमरमर के महास्तूप के कारण है। यह इस समय बिलकुल नष्ट हो चुका है। इसके विभिन्न शिलापट्ट इस समय मद्रास और ब्रिटिश म्यूजियम के सग्रहालयो की शोभा बढ़ा रहे है। यह स्तूप १८वी शताब्दी के अन्त तक अथवा १९वी शताब्दी के आरम्भ तक अपने अविकल एवं भव्य रूप मे विद्यमान था। इसके बाद यह एक स्थानीय जमीदार को लोलुप दृष्टि का शिकार बना। उसने मकान बनाने के लिए सस्ता सामान पाने के उद्देश्य से इसका विध्वस किया, इसके शिलापट्टों को चूना बनाने के लिए भट्टी मे झोंक दिया।[1] फिर भी इसके कुछ अश बचे रहे। १७९७ मे कर्नल मैंकेन्जी ने इनका पता लगाया। १८१६ से १८ तक उन्होने यहाँ इसके अवशेषों और मूर्तियों का सूक्ष्म अध्ययन किया और इनके अतीव उत्तम रेखाचित्र तैयार किये। इनमे ऐसे अनेक रेखाचित्र है जिनके मूल शिलापट्ट नष्ट हो चुके हैं। यदि मैंकेन्जी के ये रेखाचित्र न होते तो हमें इस स्तूप का पूरा ज्ञान न हो पाता। इसके बाद इलियट, राबर्टसन, सिविल, बर्गेस के प्रयत्नो से यहाँ अनेक महत्वपूर्ण अवशेष मिले और उन्हें मद्रास और लदन के सग्रहालयो मे भेज दिया गया। इन अवशेषो के अध्ययन से हमें अमरावती के महास्तूप के संबध मे महत्वपूर्ण बातों की जानकारी मिलती है।

अमरावती के शिलापट्टो पर अनेक दानियो के लेख मिलते हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि इस स्तूप का नाम महाचेतिय (महाचैत्य) था। बौद्धो के चैत्यक नामक सम्प्रदाय की प्रेरणा से इसका निर्माण हुआ था। आजकल इसे अमरावती का स्तूप कहा जाता है, किन्तु प्राचीन काल मे इस स्थान का नाम धान्यकटक (धन कडक, धान्य घटक) था। इस कारण इस स्तूप को धनमहाचेतिय

१. स्मिथ– हिस्टरी आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया पृ० ४४।

तथा कट महाचेतिय कहते थे। इस स्तूप का निर्माण प्रधान रूप से जनता के सहयोग से हुआ था। इसके निर्माण में सक्रिय भाग धान्यकटक के एक व्यापारी मण्डल (निगम) ने लिया था। इस निगम के अध्यक्ष (श्रेष्ठिप्रमुख) ने स्तूप के निर्माण में बहुत सहायता दी थी। दान का पुण्य प्राप्त करने की अभिलाषा से इस स्तूप के शिलापट्टों पर तथा निर्माण-कार्य पर होने वाले व्यय को पूरा करने के लिए जनता के विभिन्न वर्गों ने दान दिये थे। इन दानियों मे इस प्रकार के लोग थे—सरकारी कर्मचारी, राजलेखक, पाणियघारिक (पानीघर के अधिकारी), सोने चाँदी या सर्राफे का काम करने वाले महाजन (हेरणिक, हैरण्यिक), पाटलिपुत्र राजगृह, तामिल देश, घण्टसाल, विजयपुर के धनी व्यापारी (गृहपति)। इससे यह स्पष्ट है कि इस स्तूप का निर्माण करने मे न केवल दक्षिण भारत के अपितु उत्तर भारत के व्यापारियो ने भी सहयोग दिया। इस स्तूप के प्राचीनतम लेख २०० ई० पू० की मौर्य शुग कालीन लिपि मे मिले हैं, अतः इसके निर्माण का आरम्भ २०० ई० पू० मे माना जाता है। यहाँ सातवाहन वशी अनेक राजाओ के तथा इक्ष्वाकु राजाओ के लेख मिलते है। इनके समय मे इस स्तूप का विस्तार और विकास तीसरी शताब्दी ई० तक होता रहा। यहाँ के अंतिम लेख ११८२ और १२३४ ई० के है। इनसे यह ज्ञात होता है कि यह महास्तूप १३वीं शताब्दी तक बड़ी सुरक्षित दशा मे था।

स्तूप का स्वरूप:—यद्यपि अमरावती का स्तूप पूर्ण रूप से विध्वस्त हो चुका है, किन्तु सौभाग्यवश इस स्तूप पर लगाये गये कुछ ऐसे शिलापट्ट अब तक सुरक्षित रूप मे विद्यमान है जिनसे इसके मूल रूप का प्रामाणिक परिचय मिलता है, इन के अतिरिक्त इसके बचे हुए अवशेष, मैकेंजी और बर्गेस के रेखाचित्र भी इसके प्राचीन स्वरूप पर कुछ प्रकाश डालते है। इस सामग्री से यह प्रतीत होता है कि भूमितल पर इस स्तूप के अण्ड का व्यास लगभग १६० फीट था। इसकी समूची ऊंचाई ९० से १०० फीट तक थी। इसके चारो ओर १३ फीट ऊची एक महावेदिका या पत्थर का जंगला था। यह भारहुत से लगभग दुगना है। वेदिका का निर्माण स्तम्भों, सूचियो और उष्णीषपट्टो से किया गया था। वेदिका की प्रत्येक दिशा मे २४ फी० चौड़ा द्वार तोरण था। वेदिका मे १३६ खम्भे और ३४८ सूचियाँ, ८०० लम्बे उष्णीष थे। इनके मुख और पृष्ठ भाग मालाधारी देवो, बोधिवृक्ष, स्तूप, धर्मचक्र आदि अभिप्रायों से, बुद्ध के जीवन की घटनाओ से और जातकों से अलंकृत किये गये हैं। वेदिका की सूचियो पर कमल बने हुए हैं।

अमरावती स्तूप का प्रवेशद्वार (तोरण) साँची के तोरण से बड़ा भेद

रखता है। यहाँ तोरण का निर्माण करने वाले दो बड़े स्तम्भो के ऊपर कमानीदार आड़ी बण्डेरियाँ (Architrave) नही हैं। द्वार के वेदिका भाग पर चार सिंहों की मूर्तियाँ है। भीतर के दो सिंह आमने-सामने मुह किये हैं और बाहरी स्तम्भों के दो सिंहो का मुह सामने की ओर है। वेदिका के बाहरी मार्ग से भीतर का प्रदक्षिणा-पथ ५ फुट ऊचा था। यहाँ पहुँचने के लिए सीढियाँ थी। इनके अन्त में पद्माकित चन्द्रशिला (Moonstone) थी। प्रत्येक द्वार-तोरण के पृष्ठ भाग में स्तूप का निकलता हुआ एक ऊचा मच बना हुआ था और इससे पाँच स्तम्भ सीधे ऊपर की ओर निकले हुए थे। ये स्तम्भ अमरावती एवं आध्र के स्तूपो की ऐसी विशेषता है जो उत्तर भारत मे कही नही पाई जाती है। इन स्तम्भो को लेखो मे **आयक** (सस्कृत आर्यक) कहा जाता है, इसका शब्दार्थ पूजनीय है। इस शब्द की तुलना मथुरा के आयागपट्ट से की जाती है। यह **आयक मंच** ३२ फुट लम्बा, ६ फुट चौड़ा और स्तूप की कुर्सी से २० फुट की ऊचाई पर बनाया जाता था। प्रत्येक आयक मच मे एक शिलापट्ट लगाया जाता था। इस पर बुद्ध या नागराज की मूर्ति होती थी। इस मच पर लगाये गये पाँच खम्भों की ऊँचाई १० से १५ फुट होती थी। कुछ विद्वान इनका सबध पाँच ध्यानी बुद्धो से जोड़ते है। प्रत्येक आयक मंच के पार्श्व भागो मे दो सीढ़ियाँ ऊपर प्रदक्षिणा पथ तक जाने के लिए बनी होती थी। स्तूप के मध्य भाग मे भी एक वेदिका बनी होती थी। यह भी चित्रित शिलापट्टो द्वारा अलकृत की जाती थी। इसी प्रकार स्तूप के अण्ड भाग के ऊपरले हिस्से पर भी कई शोभापट्टियाँ (Friezes) होती थी। इस स्तूप के शिरोभाग पर २४ फुट की वर्गाकार महाहर्मिका थी। इसके ठीक बीच मे मोटी यष्टि स्तूप के अण्ड भाग मे गहराई तक गई हुई थी और उसके ऊपर छत्र लगा हुआ था। हर्मिका के चारो ओर वेदिका की वेष्टनी थी। इस स्तूप के एक शिलापट्ट पर बने चित्र से यह प्रतीत होता है कि यह नीचे से ऊपर तक विभिन्न प्रकार के अभिप्रायो से पूरी तरह अलंकृत था।

अमरावती के स्तूप से मूर्तियाँ प्रचुर सख्या मे उपलब्ध हुई हैं। ये इस स्तूप के विकास पर सुन्दर प्रकाश डालती है। इनकी शैली और लेखो की लिपि के आधार पर अमरावती के स्तूप के विकास को चार कालो में बाँटा गया है।

(१) **प्रारम्भिक युग** (दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व से पहली शताब्दी ई०) :—इस काल मे इस स्तूप की स्थापना हुई थी। इस समय की मूर्तियों
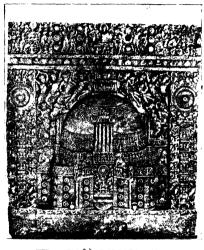
फलक ७ – अमरावती के स्तूप का एक दृश्य, पृ० ४४८

फलक–८ नलगिरि नामक मत्त हाथी का दमन, अमरावती स्तूप, पृ० ४८४–५

की शैली और वेश-भूषा भारहुत से तथा अजन्ता की दसवीं और नवी गुहाओं के चित्रों से मिलती हैं। इन मूर्तियो मे चपटापन है, इनके मस्तक पर भारी पगड़ी और कानों में बडे कुण्डल तथा गले में कई हार पडे हुए हैं। इस काल में बुद्ध की कोई भी मानवीय मूर्ति नहीं मिलती है, किन्तु सर्वत्र उनका चित्रण प्रतीको से किया गया है। वेदिका के उपरले भाग पर भारहूत की भाँति माला को कन्धो पर वहन करती हुई छोटी यक्ष मूर्तियाँ है। इस युग में कुछ काल्पनिक पशुओं (ईहामृगो) की भी मूर्तियाँ मिलती है, जैसे गरुड के मस्तक के साथ सिंह का शरीर रखने वाले ग्रिफिन (Griffin) की मूर्ति मकर के कराल मुख से बल खाकर निकलते हुए पत्र-लताओं (Scroll) के भी कई नमूने मिलते हैं।

(२) **मध्य काल** (पहली शताब्दी ई०) :—इस समय यहाँ की शैली मथुरा की आरम्भिक कुषाण कला से मिलती है। इसमें अब बुद्ध के प्रतीक के साथ-साथ दो-एक बार बुद्ध की मूर्ति भी दिखाई देती है। इस युग मे बुद्ध के जीवन से संबंध रखने वाले निम्नलिखित चित्रो का अंकन किया गया है—महाभिनिष्क्रमण, धर्म चक्र प्रवर्तन, बुद्ध का धर्मोपदेश, माया देवी का स्वप्न। नागो और पूर्ण घटो के अलंकरण भी इस युग में बडे-बडे शिलापट्टो पर चित्रित किये गये हैं। इस युग की स्त्रियो का वेश मथुरा के समान झीना है। वे यद्यपि वस्त्र पहने हैं, फिर भी नग्न प्रतीत होती है।

(३) **चरमोत्कर्ष की अवस्था**—यह १५० से २०० ई० तक बनी रही। इस समय सातवाहन साम्राज्य यज्ञश्री सातकर्णी के समय अपने उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचा हुआ था। इसके साथ ही अमरावती की कला भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। शिल्पियो ने अपनी कला का सर्वोत्तम रूप प्रदर्शित किया। सम्भवत: इसी समय अमरावती को महास्तूप का रूप दिया गया। इसके अधिकांश वेदिका स्तम्भों, आयक मचो, आयक स्तम्भो और शिलापट्टो पर बुद्ध के जीवन की घटनाओं के अनेक दृश्य अंकित किये गये। कला की दृष्टि से इस समय के कुछ दृश्य उल्लेखनीय है—देवदत्त ने बुद्ध को मरवाने के लिए राजगृह के राजमार्ग पर नलगिरि नामक उन्मत्त हाथी उन पर छुडवाया था। एक शिलापट्ट में इस हाथी को बुद्ध द्वारा वश में किये जाने का सुन्दर चित्रण है। इसमे एक ओर उन्मत हाथी से भयभीत होकर भागने वालों की भयपूर्ण मुद्राओ का सुन्दर चित्रण हुआ है। इस हाथी से न केवल सड़क पर चलने वालों मे भगदड़ मची है, अपितु सड़क पर बने हुए

भवनों की ऊंची खिड़कियों से देखने वाले नर-नारी भी इससे भयभीत हैं। दूसरी ओर बुद्ध द्वारा इसके दमन किये जाने का चित्रण है। यह हाथी बड़े शान्त भाव से बुद्ध के चरणों पर प्रणत हो रहा है। एक अन्य चित्र में चार स्त्रियों द्वारा बुद्ध के सम्मुख भक्तिभाव से प्रणत होने का बड़ा मनोरम चित्रण किया गया है। इसमे चारों स्त्रियो के विभिन्न अंगों की वक्राकार रेखाओ की भंगिमा का चित्रण देखते ही बनता है। इस युग के कुछ प्रधान दृश्य ये हैं—बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, श्वेत हाथी के रूप मे अवतरण, मार द्वारा प्रलोभन, मान्धाता का अवदान, अंगुली-माल डाकू की कथा, राहुल का जन्म, बुद्ध का गृह-त्याग, प्रथम धर्मोपदेश, यशोधरा, बुद्ध की शरीर-धातुओं का बंटवारा, शिवि जातक। इस युग मे अमरा-वती स्तूप की १३ फुट ऊंची महावेदिका का निर्माण हुआ। यह कहा जाता है कि इसकी प्रेरणा महान आचार्य नागार्जुन ने दी थी। इस काल मे बुद्ध के प्रतीकों मे सबसे अधिक उनके चरण-चिन्ह या पादुका पट्ट है। कुछ स्थानो मे बुद्ध को अग्निस्तम्भ के रूप मे भी चित्रित किया गया है। इस युग के चित्रो की एक विशेषता यह है कि इस समय कलाकारों ने अपने चित्रो मे बहुत अधिक आकृतियो का सम्गुम्जन किया है, जैसे राजगृह की सड़क पर नलगिरि के दमन के दृश्य मे अथवा सम्राट उदयन का अपने भयभीत अन्त.पुर के ऊपर वाण-वृष्टि के दृश्य मे।

(४) चौथा तथा अन्तिम युग तीसरी शताब्दी ई०का है। इसमे शनै शनै द्वितीय शताब्दी की उत्कृष्ट कला का ह्रास होने लगा। इस समय स्तूप के ऊपरी खोल के शिलापट्टो को छील कर उन पर नये दृश्य उकेरे गये अथवा उनके पृष्ठ भाग को सामने करके उन पर नये चित्र अंकित किये गये। इनमे पहले जैसी गतिशीलता नही है। शिल्पियो की कल्पना और नये विचारो को अभिव्यक्त करने की शक्ति कुंठित होने लगती है। इस काल की मूर्तियाँ कुछ लम्बी और छरहरी हो गई हैं और उन पर मोतियो के हारों का बाहुल्य है। हमे इसी समय से यहाँ यज्ञोपवीत के रूप मे मोतियों की माला का वह अलंकरण दिखाई देता है जो गुप्तकाल मे अधिक लोकप्रिय हुआ। इसी तरह दो मकर मुखो को सटा कर उनके मुखो से मोतियों के झुग्गे निकलते हुए दिखाने वालो सीमंत मकरिका नामक शिरोभूषण का अंकन भी यहाँ पहली बार मिलता है। इस समय गवाक्ष वातायनों से झांकते हुए स्त्री-पुरुषों के मुखड़ों का भी चित्रण किया जाने लगा। इस प्रकार अमरावती की कला के चौथे चरण के

प्रमुख अलंकरण ये हैं--मुक्ताफल, यज्ञोपवीत, सीमत मकरिका, झाँकते हुए स्त्री-पुरुष सहित गवाक्ष वातायन तथा पत्र-लता। ये अगले युग की कला में भी बहुत पाये जाते है तथा उससे इस कला के सबंध को तथा इसके व्यापक प्रभाव को सूचित करते हैं। इस युग में बुद्ध के जीवन विषयक दृश्यो में मार की विजय, माया का स्वप्न, राहुल का उत्तराधिकार, नंद की धर्मदीक्षा तथा वेस्सन्तर जातक उल्लेखनीय हैं।

अमरावती की कला-शैली के सबध मे कलामर्मज्ञों ने बड़े सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। फर्गुसन के कथनानुसार अमरावती की मूर्तियाँ भारत की मूर्ति-कला के सर्वोच्च विकास को सूचित करती है। हैवल का विचार है कि इन मूर्तियो मे मानवीय आकृति के विभिन्न प्रकार और कठिन गतियों (Movements) का चित्रण बड़ी कुशलता से हुआ है। स्मिथ की सम्मति मे अमरावती के शिलापट्ट विश्व के अब तक ज्ञात इतिहास मे कलाविषयक कुशलता के भव्यतम प्रदर्शन है।[1] कुमारस्वामी के शब्दो में यहाँ की मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति-शिल्प का सुकुमारतम पुष्प हैं।[2]

नागार्जुनीकोंडा:—सातवाहनो के बाद आंध्र प्रदेश में इक्ष्वाकु राजाओं का उत्कर्ष हुआ। ये हिन्दू धर्म के उपासक थे, किन्तु इनकी रानियाँ बौद्ध धर्म पर आस्था रखती थीं। इनके प्रबल प्रोत्साहन एव उदार दान से नागार्जुनीकोंडा के स्तूप का निर्माण हुआ। यह स्थान गुंटूर जिले में माचाला स्टेशन से १९ मील की दूरी पर कृष्णा नदी के दक्षिणी तट पर अवस्थित है। इसके तीन ओर पहाड़ों की सुदृढ़ रक्षा-पंक्ति है और चौथी ओर कृष्णा नदी है, अत. इक्ष्वाकुवंशी राजाओं ने इसे अपनी राजधानी के लिए चुना था और आजकल के इंजीनियरो ने इसी कारण यहाँ एक विशाल बांध बनाया है और इसके बीच मे खुदाई से प्राप्त वस्तुओ का सग्रहालय बनाया गया है। इसका पुराना नाम विजयपुरी था। यहाँ कृष्णा नदी की घाटी मे एक बड़े स्तूप, विशाल नगरी और राजमहल के खण्डहर मिले हैं। प्राचीन काल में रोमन साम्राज्य और दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ होने वाला वैदेशिक व्यापार विजयपुरी की समृद्धि का एक प्रधान कारण था। इसके परिणामस्वरूप यहाँ महान स्तूप बने।

---

१. स्मिथ—हिस्टरी आफ फाइन आर्ट इन इंडिया पृ० ४६।
२. कुमार स्वामी—हिस्टरी आफ इंडियन एण्ड इंडोनीशियन आर्ट पृ० ७१।

यह स्थान घने जंगल मे होने के कारण अमरावती की भाँति लूटपाट और विध्वंस का शिकार होने से बचा रहा। इसका पता १९२६ मे लगा। यहाँ पुरातत्वीय खुदाई के परिणामस्वरूप अनेक नालाकार चैत्यगृह, मुद्राये, लेख, मूर्तियाँ और ४०० से अधिक सुदर उत्कीर्ण शिलापट्ट मिले है। ये अमरावती शैली के चतुर्थ युग की शैली से मिलते-जुलते है। यह सब सामग्री अब यहाँ नागार्जुन सागर बाँध बनजाने के कारण एक पहाडी पर नया सग्रहालय बनाकर उसमे रख दी गई है, स्तूप को भी ज्यो का त्यो यहाँ लाकर स्थापित किया गया है। यहाँ के आयक स्तभो पर प्राप्त १७ लेखो से यह ज्ञात होता है कि इन प्रासादो और स्तूपो का निर्माण इक्ष्वाकुवंशी राजाओ के समय मे हुआ था। इस वश के प्रतापी राजा शातमूल की बहन शातिश्री का नाम ९ स्तभो मे आया है। उसने शातमूल के पुत्र वीर पुरुषदत्त के छठे राज्य-वर्ष मे बहुत सा धन व्यय करके इस महास्तूप का निर्माण करवाया था। वीर पुरुषदत्त की बुआ शातिश्री के अतिरिक्त राजघराने की अन्य महिलाओ ने भी उस समय विभिन्न धार्मिक स्थान बनवाने मे भाग लिया। उपासिका बोधिसिरी ने एक चैत्यगृह का निर्माण करवाया था।

नागार्जुनीकोडा का महास्तूप उत्तर भारत के स्तूपो से कुछ भिन्न है। उत्तर भारत के स्तूपो के भीतर ठोस ईटो की चिनाई होती थी, किन्तु दक्षिण भारत मे यह परिपाटी नही थी। यहाँ ईटो का व्यय बचाने के लिए बीच मे मिट्टी, गिट्टी और रोड़े भरे जाते थे। यह बात यहाँ की गई खुदाई से स्पष्ट हो चुकी है। इससे यह स्पष्ट है कि इसकी रचना एक चक्र की भाँति थी। इसके बीच मे नाभि के चारो ओर की नेमि और अरे तथा कुछ अन्य निश्चित भागो पर ठोस ईंटो की दीवारे खडी की जाती थी, इनके बीच के स्थान को मिट्टी, रोडो से भर कर इस पर ईंटो का खोल चढाया गया था। इस महास्तूप का व्यास १०६ फीट और ऊंचाई ७० फीट से ८० फीट तक थी। भूमि-तल पर १३ फीट चौड़ा प्रदक्षिणा-पथ लकडी की कारीगरी वाले एक जंगले से घिरा हुआ था। इसका आयक मच २२ फीट लबा और ५ फीट चौडा था। इसी के समतल स्तूप के बीच मे ७ फीट चौडा वेदिका से घिरा हुआ प्रदक्षिणा-पथ बना हुआ था। इसके अंड के मस्तक पर हर्मिका थी और इसके बीच मे एक भारी शिलायष्टि पर तीन छत्र बनाये गये थे। ये तीनो लोको पर शासन करने वाले बुद्ध के प्रतीक थे। यहाँ खुदाई में एक धातु-मंजूषा भी प्राप्त हुई है। यहाँ के लेखों मे यह कहा गया है कि इस स्तूप का निर्माण बुद्ध की पूजा के लिए किया गया है।

इस स्तूप के अतिरिक्त यहाँ एक राजप्रासाद और अखाड़ा (मल्लशाला) मिला है। ऐसा अखाड़ा (Stadium) किसी दूसरे स्थान पर अब तक नहीं मिला है। यह ३०९ फीट लम्बा, २५९ फीट चौड़ा और १५ फीट गहरा था। इसमे उतरने के लिए चारो तरफ सीढ़ियाँ थी। इनमें २ फुट चौडी बैठने की जगह बनी हुई थी। इसके पश्चिमी कगार पर बने मंडप में बैठ कर राजा, रानी और राज परिवार के अन्य व्यक्ति पहलवानों की कुश्ती और व्यायाम देखा करते थे। पूरा अखाड़ा पक्की ईंटो से चिना गया है।

नागार्जुनीकोडा की कला सर्वोत्तम रूप में इसके स्तूप में उत्कीर्ण शिलापट्टो पर पाई जाती है। इसमे बुद्ध के जीवन से सबद्ध निम्नलिखित दृश्य हैं—देवो द्वारा तुषित स्वर्गलोक मे बोधिसत्व से पृथ्वी पर जन्म लेने की प्रार्थना, श्वेत हाथी के रूप मे बुद्ध का गर्भ मे प्रवेश, स्वप्न के फल का कथन, पुष्पित शाल वृक्ष के नीचे बुद्ध का जन्म, अभिनिष्क्रमण, मार विजय, सबोधि, प्रथम धर्मोपदेश। धार्मिक दृश्यो के अतिरिक्त यहाँ प्रेमियो की प्रणय-लीला वाली मिथुन मूर्तियो का बडा मनोरम अंकन हुआ है।.एक मूर्ति में एक युवती अपने प्रेमी के साथ बैठी हुई अपने कर्णकुण्डल की पद्मराग मणि को तोते की चोंच में दे रही है ताकि वह इसे अनार के दाने के धोखे मे खाने लगे तथा उसके रहस्य का उद्घाटन न करे। यह मूर्ति अमरुकशतक (१३) के उस श्लोक का स्मरण कराती है जिसमे एक शुक दम्पती द्वारा रात को किये गये प्रेमालाप को जब अगले दिन प्रात काल गुरुजनो के आगे दोहराने लगता है तो लज्जा मे गडी पत्नी निरुपाय होकर अपने कर्णफूल मे लगी लाल मणि शुक के सामने रख देती है ताकि वह उसे पका दाड़िम समझ कर उसमे उलझ जाय।[1]

डा० अग्रवाल के शब्दों मे "नागार्जुनीकोडा के उत्कीर्ण शिलापट्टो पर कला के सौंदर्य का ऐसा विशिष्ट रूप है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसमे आध्रशिल्प की पूर्णाहुति देखी जाती है। तक्षण की ऐसी स्वच्छता, सफाई और बारीकी, संपुंजन की ऐसी निपुणता, वस्त्रालंकारों का ऐसा संयत और मनोहर रूप, स्त्री-पुरुषों के स्वस्थ मासल शरीर और स्फूर्ति-युक्त अंग-विन्यास, विषयों की नवीनता और बहुलता,

---

१. दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच: ।
तत्प्रातर्गुरु सन्निधौ निगदतस्तस्योपहारं वधू : ॥
कर्णालम्बित पद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्चूपुटे ।
व्रीडार्त्ता प्रकरोति दाड़िमफलव्याजेन वाग्बन्धनम् ॥

इन सब का मन पर विलक्षण प्रभाव होता है, जैसे हम कुछ काल के लिए सौंदर्य के स्वर्ग में पहुँच गये हों अथवा देवो का सुखावती स्वर्ग-लोक ही पृथ्वी पर उतर आया हो।"[1]

अमरावती और नागार्जुनीकोंडा की कुछ मूर्तियों पर विदेशी प्रभाव है, क्योंकि व्यापार के कारण आन्ध्रप्रदेश का विदेशो के साथ संबंध था। अमरावती मे कुछ मूर्तियों की वेषभूषा यूनानी है। नागार्जुनीकोडा मे एक बूढे शक (Scythian) सैनिक की मूर्ति मिली है। इसने शीतप्रधान देश का उदीच्य वेष—रूईदार लम्बी बाहो वाला कोट, सलवार तथा रोमन ढग का शिरस्त्राण (Helmet) पहना हुआ है, इसके हाथ मे भाला है। इक्ष्वाकु राजाओ के उज्जयिनी के शक क्षत्रपो के साथ वैवाहिक सबध थे (अध्याय ७)। अत यह कल्पना की गई है कि यह शक योद्धा उज्जयिनी से इन कन्याओ के साथ आया होगा और अन्तपुर मे कंचुकि का काम करता होगा।[2] यहाँ एक पान-गोष्ठी के दृश्य (Bacchalian scene) मे कटि प्रदेश तक नग्न एक व्यक्ति के बांये हाथ मे सींग का बना शराब पीने का प्याला (Rhyton) है। इसे मद्यपान के यूनानी देवता डियोनिसस (Dionosus) की भद्दी प्रतिकृति समझा जाता है। इसी प्रकार यहाँ विभिन्न प्राणियों की पक्तियो से उकेरी हुई चन्द्रशिलाओ (Moonstones) का अलकरण श्रीलका से ग्रहण किया हुआ प्रतीत होता है। डा० दुब्रेउइल को बुद्ध के दो शीर्ष तथा एक ऐसी शीर्ष रहित बुद्ध मूर्ति मिली थी, जिसने रोमन शैली का टोगा (Toga) धारण किया हुआ था। यह बाँये हाथ को छोड कर सारे शरीर को ढापने वाला एक लबादा होता था। कुछ मूर्तियो मे बुद्ध के चेहरे को रोमन नाकनक्श वाला बताया जाता है। इसे अमरावती शैली पर रोमन प्रभाव का सूचक माना जाता है। किन्तु सातवाहन कला पर विदेशी प्रभाव की मात्रा इनी-गिनी मूर्तियो तक ही सीमित है।

अमरावती ने विदेशो से जितना प्रभाव ग्रहण किया है, उससे अधिक बड़ी मात्रा में विदेशों मे अपनी कला का प्रभाव डाला है। यहाँ से व्यापार के लिए

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल—भारतीय कला पृ० ३७३ ।

२. इस विषय में एक दूसरी कल्पना यह भी है कि मध्य एशिया में फरगाना और बैक्ट्रिया के प्रदेशों से आन्ध्र में घोड़े मंगाये जाते थे और इनके साथ शक साईस आया करते थे। इन्हीं का चित्रण आन्ध्र की कला में पाया जाता है। देखिये हैलिडे—दी गान्धार स्टाइल लन्दन १९६८, पृ० १६५।

सुवर्णभूमि लंका और दक्षिण-पूर्वी एशिया जाने वाले भारतीय अपने साथ यहाँ की कला-शैली को विदेश ले गये। श्रीलंका सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो, वियतनाम (अन्नाम) में अमरावती शैली की मूर्तियाँ पाई गई हैं।[1]

मथुरा की कला

ईस्वी सन् की पहली तीन शताब्दियो मे मथुरा कुषाण युग की भारतीय मूर्तिकला का महान केन्द्र था। इसे कई कारणो से यह स्थिति प्राप्त हुई। प्राचीन काल से यमुना के तट पर बसी यह नगरी एक महान तीर्थ था। यहाँ अनेक व्यापारिक पथ मिलते थे। इनसे इसे विलक्षण समृद्धि प्राप्त हुई। बिहार से बैक्ट्रिया तक फैले कुषाण साम्राज्य की राजसत्ता का भी भारत मे यह एक बड़ा केन्द्र था। इसके निकट रूपवास और सीकरी के पर्वतो ने मूर्तियाँ बनाने के लिए यहाँ के कलाकारो को सफेद चित्ती वाले लाल पत्थर का अक्षय कोश प्रदान किया था। कुषाण सम्राटो का राज-संरक्षण और प्रोत्साहन पाकर कलाकारों ने बहुत बडी सख्या मे हर प्रकार की मूर्तियाँ तैयार करनी शुरू की। वर्तमान समय में जयपुर की भाँति उस समय ये मूर्तियाँ दूर-दूर भेजी जाने लगी। भारतीय कला के इतिहास मे मथुरा की अपेक्षा अधिक महत्व रखने वाले इनेगिने ही स्थान हैं।

इस युग मे मथुरा की कला की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। **पहली** विशेषता हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियो का निर्माण था। मौर्ययुग के अन्त मे मथुरा के शिल्पी पारखम के यक्ष जैसी महाकाय प्रतिमाओ के निर्माण मे सिद्धहस्त हो चुके थे। अब इसी परम्परा को आगे बढाते हुए बौद्ध, जैन और हिन्दू धर्मों की मूर्तियाँ और स्तूप बनाए जाने लगे। विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा सप्तमातृका, कार्तिकेय आदि की प्राचीनतम मूर्तियाँ मथुरा से ही उपलब्ध हुई हैं। जैन तीर्थंकरो की मूर्तियों और स्तूपो के निर्माण का श्रीगणेश इस युग में हुआ। **दूसरी** विशेषता बुद्ध की मूर्ति का निर्माण था। इससे पहले बुद्ध को सांची और भारहुत की कला मे बोधिवृक्ष, स्तूप, चरण भिक्षापात्र आदि के प्रतीक दिखाया जाता था, अब पहली बार बुद्ध को मानव-रूप मे प्रदर्शित किया गया। बुद्ध की प्रतिमा मथुरा की सबसे मौलिक देन थी। इससे मूर्ति कला के क्षेत्र में एक महान क्रान्ति हुई। **तीसरी** विशेषता उस समय प्रचलित विभिन्न लोकधर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण था। इनमें यक्ष, यक्षिणी, नाग, नागी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा,

---

१. सुब्रह्मण्यम—बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आंध्र पृ० २४।

हारीती आदि की मूर्तियाँ हैं। **चौथी** विशेषता लोक-जीवन के सभी पक्षों का अभूत-पूर्व सौंदर्य और स्वच्छन्दता के साथ वेदिका-स्तम्भो पर चित्रण है। मथुरा में तत्कालीन आनन्दमय जीवन का वेदिका-स्तम्भो पर जीता जागता अकन मिलता है। कहीं वनों मे स्त्री-पुरुषो द्वारा पुष्प-संचय किया जा रहा है, कहीं जलाशयो मे स्नान और क्रीडा के दृश्य हैं, कही सुन्दरियो द्वारा मञ्जरी, पुष्प और फलादि दिखा कर पक्षियों को लुभाने का, कही स्त्रियो के केशो मे गुथे हुए मुक्ता-जालो के लोभी हंसो का, कही अशोक, कदम्ब आदि वृक्षो की शाखाये थामे सुन्दरियो के ललित अग-विन्यासो का चित्रण है। मथुरा जैसे सुन्दर वेदिका-स्तम्भ तथा उद्यान-क्रीडाओ और जल-क्रीडाओ के दृश्य अन्यत्र कही नही मिलते हैं। **पाँचवी** विशेषता मथुरा से मूर्तियो का प्रचुर मात्रा मे निर्यात था। उन दिनो मथुरा के शिल्पियो की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी। वे हर प्रकार की मूर्ति बनाने और प्रत्येक धर्म की आवश्यकता पूर्ण करने मे समर्थ थे, अत उनकी मूर्तियों की माँग सभी स्थानो से आने लगी और वे साँची, सारनाथ, कौशाम्बी श्रावस्ती जैसे दूरवर्ती स्थानो मे अपनी मूर्तियो को भेजने लगे। कुषाण सम्राट कनिष्क, हुविष्क, और वासुदेव का राज्य-काल इस कला का स्वर्ण-युग था। मथुरा मे अब तक लगभग पाँच हजार प्राचीन अवशेष मिल चुके है। इनमे अधिकाश कुषाण युग के है। इस युग मे मूर्तियो के प्रमुख प्रकारो का विवरण निम्नलिखित है.—

स्तूप और वेदिका-स्तम्भ:—मथुरा के कलाकारो ने भारहुत और साची की परम्परा को आगे बढाते हुए जैन और बौद्ध स्तूपो का निर्माण किया, किन्तु दुर्भाग्यवश ये स्तूप नष्ट हो चुके है। लेखो और मूर्तियो मे यह ज्ञात होता है कि मथुरा मेंजैनो के दो स्तूप थे। इनके अवशेष ककाली टीले से मिले हैं। इसी प्रकार बौद्धों के भी सम्भवत दो स्तूप थे, एक हुविष्क का, मथुरा को वर्तमान कचहरी के पास, और दूसरा भूते-श्वर पर बना हुआ था। इन दोनो के अवशेषो से विदित होता है कि मथुरा के स्तूपो के द्वार-तोरण और वेदिका स्तम्भ भारहुत और साँची की अपेक्षा नाप मे कम और छोटे होते थे। इन स्तूपो के स्वरूप का परिचय हमे कई शिलापट्टों पर अकित चित्रो से मिलता है। इनमे सबसे पुराना स्तूप समवत अर्धचन्द्राकार होता था। यह ऊपर की ओर आकार मे घटता चला जाता था। इस पर तीन वेदिकाये और हर्मिका पर चौथी छत्रयुक्त वेदिका बनी होती थी। ऐसे स्तूपो का समय दूसरी शता-ब्दी ई० पू० समझा जाता है। इसके लगभग दो सौ वर्ष बाद के स्तूप का स्वरूप लोण-

शोभिका के आयाग-पट्ट (पहली श० ई०) पर बने चित्र से स्पष्ट होता है। इसका गोलाकार अण्डभाग बुलबुले जैसा लम्बोतरा प्रतीत होता है। यह स्तूप भूमि से ऊंचाई पर पक्के चबूतरे (मेधि) पर बनाया जाता था। इस पर पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी होती थी। उपर्युक्त आयाग पट्ट मे भूमितल पर वेदिका और ऊचा तोरण द्वार स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। इसमे साँची की भाँति द्वारस्तम्भो के ऊपर तीन आड़ी *बडेरिया* (Architrave), कोनो मे *शाल भजिकाये* और *प्रदक्षिणापथ* बने हुए हैं। इसके मध्य भाग पर दो वेदिकाए और शिरोभाग पर हर्मिका, वेदिका और छत्र बने हुए है। इन दो जैन स्तूपो के अतिरिक्त एक तोरण पर बौद्ध स्तूप का भी चित्र मिलता है। इसकी बडी विशेषता कई वेदिकाओ वाली अनेक मजिलें (भूमिया) है, इसके दोनो ओर दो भक्त हाथ जोडे खड़े है। इस प्रकार के कई मजिलो वाले स्तूपो का गन्धार मे अधिक प्रचलन था। इन स्तूपों के वेदिका-स्तम्भो को नाना प्रकार के अलकारो से सुशोभित किया जाता था। इन पर कमलों के प्राचीन अलंकारो के साथ अनेक काल्पनिक अभिप्राय भी बनाए जाते थे, जैसे—गज-मच्छ, नर-मच्छ, पखवाले शेर, हाथी, हिरण, नाना प्रकार की लताए, किन्तु इन पर सबसे सुन्दर अलकरण विभिन्न भाव भगियो वाली स्त्रियों के है।

मथुरा के शिल्पियो ने वेदिका-स्तम्भो पर नये-नये दृश्य दिखाने के लिए नारियो के सौदर्य का बडा सुभग और ललित चित्रण नाना रूपो मे किया है। इनमे इन्हें विभिन्न प्रकार की जल-क्रीड़ाओ और उद्यान-क्रीड़ाओ मे सलग्न दिखाया गया है। जल क्रीड़ाओं के कुछ दृश्य इस प्रकार हैं—दो स्तम्भो पर पहाड़ी झरनो के नीचे स्नान करती हुई स्त्री, स्नान के बाद सूर्य की ओर पीट करके अपने बालो से जल की बूँदो को निचोड़ने वाली स्त्री (केशनिस्तोयकारिणी), इसमे पैरो के पास बना हुआ हंस इन बूँदों को मोती समझ कर पी रहा है। स्नान के बाद शृगार के लिए दर्पण मे मुख देखती हुई, दाये कान के कुण्डल ठीक करती हुई स्त्रियो के चित्र मिले है। उस समय घरो के उद्यानो मे तोतो से मनोविनोद किया जाता था। एक स्तम्भ मे एक स्त्री अपने हाथ मे पिजरा लिए खड़ी है। उसके बाये कन्धे पर सुग्गा बैठा हुआ है। इसी प्रकार स्त्रियों के आभूषण पहनने और प्रसाधन के भी अनेक दृश्य मिलते हैं। उद्यान-क्रीड़ाओ में अर्थात् शालभंजिका (पुष्पित शाल वृक्ष की शाखाओ को तोड़कर प्रहार करने) का खेल लोकप्रिय था। अतः मथुरा मे शालभजिकाओ की अनेक मूर्तियाँ मिलती है। इस समय का एक अन्य लोकप्रिय मनोरजन अशोकदोहद अर्थात् अशोक वृक्ष के नीचे एक युवती

द्वारा उसे पुष्पित करने के लिए दाया हाथ शाखा पर झुका कर बाये पैर से पेड़ पर आघात या स्पर्श करना था। कन्दुक क्रीड़ा करती हुई और पुत्र को गोद में लिए हुए और अँगड़ाई लेती हुई स्त्रियों की सुभग मुद्राएं यहाँ स्तम्भों पर पाई जाती हैं। इन मूर्तियों में तत्कालीन सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अंकन मिलता है।

जैन कला:—मथुरा जैन धर्म का एक प्राचीन केन्द्र था। यहाँ कंकाली टीले की खुदाई से यह सूचित होता है कि उस समय यहाँ दो स्तूप बने हुए थे। दुर्भाग्यवश ये नष्ट हो चुके हैं। वर्तमान उपलब्ध अवशेषो मे पहला स्थान **आयागपट्टों** का है। आयाग शब्द संस्कृत के आर्यक शब्द से निकला है; आयागपट्ट एक प्रकार की पूजा करने की शिला होती थी। इस पर जैन धर्म के अनेक प्रतीक स्वस्तिक, चित्र, मूर्तियाँ और तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ बनी होती थीं, इन्हें अनेक अलंकारो से सजाया जाता था, और इनमें प्रतिमा-पूजन की दोनो विधियो का सुन्दर समन्वय था। इस प्रकार की शिलाओ की परिपाटी पुरानी थी। चित्तौड़ के पास माध्यमिका के एक पुराने लेख में नारायणवाटक मे संकर्षण और वासुदेव की पूजा का उल्लेख मिलता है। आयागपट्ट इसी प्रकार जैन धर्म की पूजा-शिलाए थी। ये कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर है। इनके कई प्रकार मिलते है। इनका पहला प्रकार चक्रपट्ट का है। इसके मध्य मे सोलह अरो वाला चक्र तीन मण्डलों से घिरा हुआ है। पहले मण्डल मे त्रिरत्न के चिन्ह है, दूसरे मे आकाश-मार्ग से विचरण करती हुई तथा पुष्प-मालाए अर्पण करती हुई कुमारी कन्याए हैं और तीसरे मण्डल मे एक भारी माला है। दूसरे प्रकार के आयागपट्ट के केन्द्र मे एक बडा स्वस्तिक बना होता था। तीसरे प्रकार के आयागपट्ट मेतीर्थंकर की प्रतिमा बनी होती थी और इसके चारो ओर मांगलिक त्रिरत्न बने होते थे। इस प्रकार के एक आयागपट्ट की स्थापना सिंहनादिक ने पूजा के लिए की थी। इसके मध्य मे पद्मासन में तीर्थंकर की बैठी हुई मूर्ति है, इनके चारो ओर चार त्रिरत्न हैं। इस पट्ट के बाहरी चौखटे मे आठ मागलिक चिन्हो का अंकन है। ककाली टीले से तीर्थंकरो की खड़ी हुई (कायोत्सर्ग) मुद्रा में तथा पद्मासन मुद्रा मे बैठी हुई मूर्तियाँ मिली है। कुषाण कालीन तीर्थंकर प्रतिमाओ मे वे विशेष चिन्ह या लांञ्छन नही पाये जाते है जिनसे परवर्ती युगो मे विभिन्न तीर्थंकरो की पहिचान की जाती थी। इस समय केवल ऋषभनाथ के केशों की लटें और पार्श्वनाथ के मस्तक पर सॉप के फनों का आटोप दिखाया गया है।

हिन्दू मूर्तियाँ:—कृष्ण की जन्मभूमि और भक्ति-प्रधान वैष्णव धर्म का केन्द्र होने से मथुरा में हिन्दू देवी-देवताओं की भी मूर्तियाँ बड़ी संख्या में बनाई

गईं । मोरा गाँव के कूप से प्राप्त एक अभिलेख में पाँच वृष्णिवीरों की मूत्तियो का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म की मूत्तियाँ बन जाने पर इसका प्रभाव जैनों और बौद्धों पर पड़ा। शुंग युग में हमें केवल बलराम की और पाँच वृष्णि बीरो की वैष्णव मूर्तियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त इस समय बुद्ध गया में चार घोड़ो के रथ पर बैठे सूर्य की और दक्षिण भारत में गुडि-मल्लम के लिंग के रूप में शिव की मूर्ति मिलती है। गज-लक्ष्मी की मूत्तियाँ भार-हुत, सांची, बुद्ध गया, उदयगिरि, खण्डगिरि और पश्चिमी भारत की गुफाओं में पाई जाती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कुषाण काल से पहले शिव, सूर्य, गज, लक्ष्मी, बलराम और वृष्णि वीरो की ही मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। कुषाण-युग मे इन मूर्तियो की संख्या मे भारी वृद्धि हुई। शिव, कार्तिकेय, गणपति, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, इन्द्र, बलराम, कामदेव, कुबेर, हारीती, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा की नई मूर्तियों का निर्माण इस युग मे हुआ। इस समय शिव की मूर्तियो के कई रूप मिलते हैं। पहले प्रकार की मूर्तियाँ सादे शिवलिंग के रूप में है। दूसरा प्रकार एक-मुखी शिवलिंग का है, जिसमे एक ओर मुख बना होता है। तीसरा प्रकार पंच-मुखी शिवलिंग का है जिसमे चार मुख चार दिशाओं मे और एक मुख सबके ऊपर बना होता है। चौथा प्रकार नन्दी के आश्रय से खड़े हुए शिव और नन्दि-केश्वर का है। पाँचवे प्रकार मे पार्वती शिव के वामांग में हैं। छठा प्रकार अर्ध-नारीश्वर का है। इसमे दाईं ओर शिव को जटा जूट और बाघाम्बर मे तथा बाईं ओर पार्वती को अलकावली, कर्णकुण्डल, मेखला और साड़ी के साथ दिखाया जाता है।

सूर्य की मूर्ति कुशाण काल से पहले बुद्ध गया मे पाई जाती है। इसमें वे चार घोड़ो के रथ पर धोती और उत्तरीय पहने हैं, किन्तु कुषाण काल में एक सर्वथा भिन्न प्रकार की मूर्ति पाई जाती है। यह उदीच्य वेश मे दो घोड़ो के रथ पर पैर लटकाए (पर्यंकललितासन), बायें हाथ में अन्धकार का भेदन करने के लिये तलवार और दाये हाथ में सूर्योदय का प्रतीक कमल लिए है। सूर्य का यह उदीच्य-वेष उत्तर के शीतप्रधान देशों से आने वाले शकों के प्रभाव से प्रचलित हुआ। इसमें धोती और उत्तरीय के स्थान पर सूर्य लम्बा कोट, सलवार और जूते पहने हुए हैं। ईरान मे मित्र या मिहिर के रूप में सूर्य की पूजा का अत्यधिक प्रचलन था। यहाँ से यह पूजा शक कुषाण अपने साथ भारत में लाये। कुषाण राजाओ की मूर्तियों में इनका चित्रण है। कुषाण युग की सूर्य-मूर्तियाँ इन सम्राटो की

भाँति सिर पर पगड़ी, शरीर पर कोट, कमर मे पटका, टाँगो में सलवार और पैरों में मोटे जूते पहने रहती है। हिन्दू देवताओ मे केवल सूर्य की मूर्तियों में हमे जूते मिलते हैं। इस युग की आरम्भिक मूर्तियो मे सूर्य दो घोड़ों के रथ में बैठे है, बाद मे इनकी सख्या चार और सात हो जाती है। गुप्त युग मे भी सूर्य को उदीच्य वेश मे प्रदर्शित किया गया है। कुषाण काल मे विष्णु की मूर्तियाँ सिर पर मुकुट, शरीर पर आभूषण और नीचे धोती पहने हैं, इनकी चार भुजाओ में दायाँ हाथ अभय मुद्रा मे, बायाँ हाथ अमृत-घट लिए कटि पर रखा हुआ है तथा दो अतिरिक्त हाथो मे गदा और चक्र है। बलराम का वेश यक्ष मूर्तियो के समान है, इनके सिर पर भारी पगड़ी, कानो मे कुण्डल, कन्धो पर उत्तरीय और नीचे अधोवस्त्र है। इनका विशेष चिन्ह सिर पर सर्प की फणो का आटोप और बाएं हाथ मे प्याला है। एक शुगकालीन मूर्ति के दाये हाथ मे मूसल और बाँये हाथ मे हल है। गज लक्ष्मी की मूर्ति शुग काल से ही मिलने लगती है। इस युग मे भी कमल के आसन पर कमलो के वन मे खड़े दो हाथियो द्वारा अपनी सूड़ो से अभिषेक कराई जाती हुई लक्ष्मी की मूर्ति अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इस समय दुर्गा को महिषासुरमर्दिनी के रूप मे अधिक दिखाया जाता था।

यक्ष मूर्तियां.—अन्यत्र (अध्याय १२मे) यह बताया जा चुका है कि इस समय जनता मे नागो की और यक्षो की पूजा बडी लोकप्रिय थी। मथुरा मार्य युग से ही यक्ष मूर्त्तियो का केन्द्र था। पारखम, बड़ौदा आदि गाँवो से मिली यक्ष मूर्तियाँ यह सूचित करती है कि यहाँ इनकी भीमकाय मूर्तियो का निर्माण होता था। यक्षो की पूजा ने आगे चल कर कुबेर की पूजा का रूप ग्रहण किया और इससे सबंध रखने वाले मद्यपान की गोष्ठियो के दृश्यो का भी चित्रण किया जाने लगा। कुबेर भारतीय परम्परा मे यक्षो के राजा और धनाधिपति माने जाते हैं। मथुरा में कुबेर को एक मोटे पेट वाले सेठ के रूप मे चित्रित किया गया है। यहाँ कुबेर की मूर्ति पाँव लटकाये हुए, सुख से बैठी हुई, एक हाथ मे शराब का प्याला और दूसरे मे थैली लिए हुए चिन्ता रहित मुद्रा मे दिखाई जाती है। इसका मद्यपान के साथ सबंध होने के कारण मथुरा मे मद्यपान गोष्ठियो के कई दृश्य (Bacchanalian scenes) दिखाये गये है। इन पर सम्भवत. हल्की विदेशी छाप है। यूनान और रोम मे बेकस (Bacchus) और डियोनिसस (Dionysus) मद्यपान के देवता थे। इनकी पूजा मे किये जाने वाले समारोहों में शराब के दौर चलते थे। इस समय मद्यपान के बाद बड़ा हुड़दंग मचा

फलक–६ महाराजाधिराज कनिष्क की शीर्षहीन नामांकित प्रतिमा, पहली श० ई० पू०, मथुरा संग्रहालय, पृ०, ४६७

करता था। इस प्रकार की पानगोष्ठियों में मद्यपान करती हुई स्त्री पुरुषों की कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ मथुरा के निकट महोली, पालीखेड़ा और नरोली के गाँवों से मिली हैं। यह सम्भवतः कुबेर की पूजा का केन्द्र था। डा० अग्रवाल के मतानुसार महोली का पुराना नाम मधुपल्ली था।[1] अर्थात् यह स्थान मधु एवं धन के देवता कुबेर की पूजा का केन्द्र था। कुबेर के साथ ही बच्चों की अधिष्ठात्री देवी हारिती की भी पूजा होती थी। इसे कुबेर की पत्नी मान लिया गया था। मथुरा में कुबेर तथा हारिती की कई मूर्तियाँ मिलती हैं।

नाग मूर्तियाँ:—इनकी परम्परा भारहुत और साँची से चली आ रही थी। मथुरा मे नागराजों की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें घुटने तक लटकती हुई माला और फणो का विशाल मण्डल दिखाया जाता है, जैसे छड़गाँवसे प्राप्त महाकाय नागमूर्ति में; इसके दोनों पार्श्वों के कानो में कुण्डल और कटि प्रदेश मे पतली करधनी है। इसी प्रकार की एक छोटी मूर्ति दधिकर्ण नाग की मिली है।

सम्राटों की मूर्तियाँ:—मथुरा की कला की एक विशेषता व्यक्तियो की विशाल मूर्तियो का निर्माण था। कला की दृष्टि से ये मूर्तियाँ बहुत ही भव्य हैं। मथुरा के पास ९ मील उत्तर में माट नामक गाँव मे समवतः कुषाण राजाओ की मूर्तियाँ रखने का एक बड़ा भवन था, इसे उस समय देवकुल कहते थे। यहाँ से कनिष्क, विम तथा चष्टन की मूर्तियाँ मिली हैं। कुषाण-सम्राटों का इसी प्रकार का एक अन्य देवकुल मध्य एशिया मे **किरगिज तान तोपरक्काला** नामक गांव मे भी मिला है। इससे यह जान पड़ता है कि कुषाण सम्राटों ने अपने साम्राज्य के दोनो सिरो पर सम्राटो की मूर्तियां रखने वाले देवकुलों की स्थापना की थी। कुषाण सम्राटो की मूर्तियो मे सबसे प्रसिद्ध प्रतिमा कनिष्क की है। यह मस्तकहीन खड़ी हुई मूर्ति (५ फीट ७।। इच) १९११ में माट ग्राम से मिली थी। इस पर यह लेख अकित है--महाराज राजातिराजा देवपुत्रो कानिष्को। राजा घुटनो से नीचे तक का लम्बा कोट पहने हैं, पैरो में भारी गद्दीदार जूते है, ये टखनो पर बद्धियो से कसे हैं राजा के एक हाथ मे तलवार और दूसरे हाथ में तीन फुट पाँच इंच लम्बी गदा या राजदण्ड है। तलवार की मूठ पर हस की आकृति बनी है और म्यान पर तीन पदक या टिकरे हैं। गदा पर पाँच कड़े हैं और निचले कड़े पर मकरमुखी अलकरण है। इस मूर्ति ने शीतप्रधान देशो के भारी जूतों वाली ऐसी पोशाक पहन रखी है जो मथुरा की गर्मी में सर्वथा

---

[1] अग्रवाल—भारतीय कला पृ० ३०२।

अनुपयुक्त प्रतीत होती है। अतः रोलैण्ड (पृ० ९३) ने यह कल्पना की है कि यह विशेष राजकीय समारोहों पर पहनी जान वाली शाही पोशाक है। इसे कुषाण आक्रांता शीतप्रधान देशों से अपने साथ यहाँ लाये थे। इसका उपयोग विशेष अवसरों पर ही किया जाता था, यह उनका राजकीय वेश था। रोलैण्ड के कथनानुसार असीरिया के अथवा रोम के किसी भी सम्राट की कोई मूर्ति मध्य एशिया से आए इस विजेता की प्रतिमा की अपेक्षा अधिक प्रबल रूप में, सत्ता और शक्ति की गरिमा को प्रकट नहीं करती है। इसी प्रकार एक दूसरी बैठी मूर्ति विम कदफिसस की कही जाती है। यह एक सिंहासन पर आसीन है। इसने कामदानी के वस्त्र का सुन्दर कढ़ाई वाला चोगा पहन रखा है। इसके नीचे एक छोटा कोट है। टागो पर सलवार और पैरों मे कनिष्क की मूर्ति की भाँति भारी गद्दीदार जूते हैं, जो आजकल भी गिलगित मे पहने जाते हैं। इस प्रतिमा में भी सम्राट का गौरव भलीभाँति झलक रहा है। रोलैण्ड के विचार में यह मूर्ति हर्जफेल्ड द्वारा प्रकाशित पार्थियन युग के ईरानी सम्राटो की प्रतिमा से मिलती है। प्राचीन भारत मे इस प्रकार सम्राटों की प्रतिकृति-प्रतिमाओं का एकमात्र उदाहरण यही मूर्तियाँ हैं। अतः यह कहा जाता है कि कुषाणों ने संभवतः ऐसी मूर्तियाँ बनवाने की परिपाटी भी रोम के अथवा ईरान के पार्थियन सम्राटो से ग्रहण की होगी। रोलैण्ड के मतानुसार विम के सिंहासन पर बिछे कपड़े के किनारे का अलकरण पश्चिमी एशिया के सुप्रसिद्ध नगर पलमायरा (Palmyra) में बुने जाने वाले रेशमी वस्त्रों के अभिप्रायों की हूबहू नकल है और यह इस अंश में पश्चिम के विदेशी प्रभाव को सूचित करता है।[1] एक अन्य विद्वान ने इन मूर्तियो को किसी शक कलाकार की कृति माना है।[2]

बुद्ध की मूर्ति का आविर्भाव—कुषाण युग मे बुद्ध की प्रतिमाओं के निर्माण से भारतीय मूर्तिकला मे एक महान क्रांति का सूत्रपात हुआ। कुषाण युग से पहले शुंग युग तक बुद्ध की कोई मूर्ति नही मिलती है, केवल स्तूप, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि के प्रतीको से उनका चित्रण किया गया है। इस समय तक बुद्ध की मूर्ति न बनने का यह कारण था कि बुद्ध ने स्वयमेव अपनी मूर्ति बनाने का निषेध किया था। महापरिनिर्वाण से पहले बुद्ध ने अपने शिष्य आनंद से कहा था कि मैंने जिस धर्म और विनय का तुम्हें उपदेश दिया है, वही मेरे बाद तुम्हारा

१. रोलैण्ड--आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इंडिया पृ० ६२-६३।
२. मजूमदार--एज आफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ५२३।

शास्ता होगा। संयुक्तनिकाय के अनुसार एक बार वक्कलि नामक एक भिक्षु ने रुग्ण होने पर जब भगवान के दर्शनों की इच्छा व्यक्त की तो बुद्ध स्वयमेव उसकी इच्छा-पूर्ति के लिए उसके पास गये। किन्तु उन्होंने उसे यह कहा था—"वक्कलि मेरी इस गंदी काया को देखने का क्या लाभ है (अलं वक्कलि कि ते पूतिकायेन दिट्ठेन)। जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।" ब्रह्मजालसुत्त के अनुसार बुद्ध के निर्वाण के बाद उसे न तो देवता और न ही मनुष्य देख सकेंगे। हीनयान ने बुद्ध की शिक्षाओं पर बल देते हुए उनके निर्वाण के बाद लगभग पाँच शताब्दियों तक किसी प्रकार की मूर्ति की रचना नहीं की। किन्तु कुषाण युग में हमें बुद्ध की सहस्रो मूर्तियो का दर्शन होने लगता है। इसका क्या कारण था?

बुद्ध की प्रतिमा के विकास का प्रश्न भारतीय मूर्तिकला के जटिलतम प्रश्नों मे से है। इस विषय मे दो बाते विचारणीय है। पहली तो यह कि बुद्ध की प्रथम मूर्ति का आविर्भाव किस प्रदेश मे हुआ और दूसरी यह कि बुद्ध की मूर्ति पर विदेशी प्रभाव कहाँ तक पड़ा है। पहली बात के सबध मे दो मत प्रचलित है। पहले मत के अनुसार यह मूर्ति सर्वप्रथम गधार प्रदेश के शिल्पियो ने तैयार की और दूसरा मत इसके आविर्भाव का श्रेय मथुरा के शिल्पियो को प्रदान करता है। पहले मत की स्थापना फ्रेंच विदान फूशे ने की थी। टार्न ने भी यूनानी कलाकारो को बुद्ध की पहली मूर्ति बनाने का श्रेय देते हुए मोअ और अय के सिक्कों पर बनी बुद्ध की मूर्तियो से इसकी पुष्टि की।[1] किन्तु टार्न की यह कल्पना निराधार सिद्ध हुई है, क्योकि इन सिक्को की सूक्ष्म जांच से यह पता लगा है कि इन पर बुद्ध की कोई मूर्ति नही है।[2] भारतीय कला के मर्मज्ञ डा० आनदकुमार स्वामी ने यह मत प्रगट किया है कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सर्वप्रथम मथुरा के शिल्पियो ने किया था।[3] रोलैण्ड (आ० आ० पृ० ९३) ने यह लिखा है कि नि.सन्देह मथुरा के शिल्पियो को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होने बुद्ध की विशुद्ध भारतीय ढंग की सबसे पहली मूर्तियो का निर्माण किया। इस समय यह माना जाता है कि मथुरा और गधार मे बुद्ध की मूर्तियों का विकास समवतः स्वतन्त्र रूप से हुआ।

---

१. टार्न—दि ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एंड इंडिया पृष्ठ ३९६।

२. अग्रवाल—भारतीय कला पृष्ठ २८६—८७।

३. जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, खण्ड, ४६, १९२६, पृष्ठ १६५—१७६।

कुषाण युग मे मथुरा मे बुद्ध की मूर्ति बनने का मुख्य कारण यह था कि उस समय भक्ति आंदोलन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। ईसा से पहले की दो शताब्दियो में भागवत धर्म मथुरा मे वेग से फैल रहा था। अन्यत्र में यह बताया जा चुका है कि इस समय यहाँ वासुदेव और सकर्षण की पूजा हो रही थी। मोरा गाँव के कूप-लेख मे पाँच वृष्णि वीरो की उपासना का उल्लेख है। मथुरा मे शुग काल की बलराम की मूर्ति मिली है। वैष्णव धर्म के भक्तिवाद का और मूर्तियों के निर्माण का प्रभाव बौद्ध धर्म पर पडना स्वाभाविक था। इस समय बौद्ध धर्म में भी भक्ति प्रधान महायान सप्रदाय का आंदोलन प्रबल हो रहा था। इसमे भक्त उपासना के लिए बुद्ध की मूर्ति चाहते थे। किन्तु इसमे मूर्ति-निषेध की हीनयान की पुरानी परपरा बाधक थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कनिष्क के समय मे एक विशेष स्थिति उत्पन्न हुई। बुद्ध की मूर्ति की माँग श्रद्धालु जनता ने इतने प्रबल रूप में की कि बुद्ध की प्रतिमा बनाने का पुराना निषेध समाप्त हो गया। इस समय बौद्ध सघ मे बल जैसे महात्रिपिटकाचार्य बुद्ध की मूर्ति बनाने का आदोलन कर रहे थे। इन्होने अपने पक्ष को प्रबल और निर्विवाद बनाने का यह उपाय सोचा कि बुद्ध की जो मूर्तियाँ बनाई जाय, उन्हें बोधिसत्व की मूर्ति कहा जाय ताकि किसी को इन पर धार्मिक दृष्टि से आपत्ति उठाने का मौका न मिले। मथुरा मे कटरा से जो मूर्ति प्राप्त हुई है वह बुद्ध की है, किन्तु उसकी चौकी पर अकित लेख मे उसे बोधिसत्व कहा गया है। इस समय श्रद्धालु बौद्धो की माँग पूरी करने के लिए प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार बुद्ध की मूर्तियो का निर्माण शुरू हुआ।

बुद्ध की मूर्तियाँ दो प्रकार की है; एक खड़ी हुई, दूसरी बैठी हुई। खड़ी मूर्तियो मे प्राचीन यक्ष परपरा का अनुसरण किया गया है और बैठी मूर्तियाँ योगी-मुनियो की मुद्रा के आधार पर बनाई गई। प्राचीन परपरा में योगी और चक्रवर्ती महापुरुषो के कुछ विशेष लक्षण माने जाते थे। इनमे योगी के प्रमुख लक्षण नासाग्र दृष्टि, पद्मासन और ध्यान मुद्रा थे। चक्रवर्ती के लक्षण चामरग्राही पार्श्वचर और छत्र थे। इन विभिन्नलक्षणो को मिलाकर बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई जाने लगी। यह बात मथुरा में मिली बुद्ध की प्राचीनतम मूर्तियों से भली भाँति स्पष्ट होती है।

बुद्ध की खडी मूर्तियो मे सभवतः एक प्राचीनतम मूर्ति इस समय सारनाथ में पायी जाती है, किन्तु यह मथुरा में बनाई गई थी। इसके नीचे की चौकी पर अकित लेख मे यह कहा गया है कि भिक्षु बल ने इसे कनिष्क के

तीसरे वर्ष (संमवतः ८१ ई० में) दान किया था। इस मूर्ति में शाक्यमुनि सीधा खड़े हुए हैं। उनका दायाँ हाथ अमय मुद्रा में उठा है, बायाँ हाथ कमर पर है और उसने धोती को संभाल रखा है। यह मूर्ति कमर तक नग्न है और धोती पहने है। इस मूर्ति का महाकाय प्रमाण हमें इसी प्रकार के भीमकाय यक्षों की प्रतिमाओं का स्मरण कराता है। इन दोनों की तुलना करने से यह प्रतीत होगा कि बुद्ध की यह मूर्ति यक्षों की बलशाली मासल मूर्तियों का अनुसरण करते हुए बनाई गई थीं। दोनों मूर्तियां सादे वेश में अमय मुद्रा मे और एक जैसा वेश धारण किये हुए हैं, अतः कुमार स्वामी का मत है कि मथुरा की खडी बोधिसत्व मूर्तियों का विकास पारखम के यक्ष जैसी महाप्राण मूर्तियों से हुआ।[1]

बुद्ध की बैठी मूर्तियो मे कटरा बोधिसत्व की मूर्ति प्राचीनतम प्रतीत होती है। इसमे बुद्ध पद्मासन की मुद्रा मे बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हैं। उनका दाँया हाथ अमय मुद्रा मे उठा हुआ है। हथेली और तलुओं पर धर्मचक्र और त्रिरत्न के चिन्ह बने हैं। उष्णीष केशो से ढका हुआ है, इस कारण यह कपर्द कहलाता है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण के समय अपने केश काटते हुए देवताओं के अनुरोध से एक लट शेष रहने दी थी। उसी का चित्रण इस कपर्द में है। मथुरा की मूर्ति में इसके अतिरिक्त सारा सिर मुंडा हुआ है। बीच में केवल उष्णीष पर कुछ लटें छुटी है। गांधार मूर्तिकला में बुद्ध का सिर इस प्रकार मुँडा हुआ नहीं होता है, किन्तु वह छोटे घुघराले बालों से ढका होता है। सिर के पीछे प्रभामंडल (Halo) बना हुआ है। कटरा की मूर्ति में यक्ष मूर्तियों की भाँति धोती का परिधान है, उपरला हिस्सा सघाटी से ढका है, दायाँ कंधा खुला है, बाये कधे और भुजा पर सघाटी की कुछ सलवटे दिखाई गई हैं। बुद्ध के दोनों ओर चंवर लिये दो सेवक तथा दोनो कोनो में आकाश में विचरण करने वाले दो देवता हैं, जो बुद्ध के ऊपर पुष्प-वृष्टि कर रहे है। इस मूर्ति की प्रभामण्डल की विशेषता को छोड कर बाकी सभी विशेषतायें भारतीय परंपरा में पहले से ही विद्यमान थीं और उनके आधार पर इस मूर्ति का निर्माण हुआ। इस प्रभामण्डल की विशेषता संभवतः ईरान से ली गई थी। यहाँ धार्मिक देवताओं के मस्तक के चारों ओर उनके दिव्य तेज को सूचित करने वाला प्रभामण्डल या तेजचक्र (Halo) बनाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध-मूर्ति के शिल्पी उन व्यक्तियों के घनिष्ठ संपर्क में थे जो कनिष्क की मुद्राओं पर ईरानी

---

१. कुमार स्वामी—हिस्टरी ग्राफ इंडियन एण्ड इंडोनीशियन ग्रार्ट पृ० ५६।

देवताओं का चित्रण कर रहे थे। कुषाणयुग से पहले की कला में यह प्रभामण्डल नहीं पाया जाता है। शनैः-शनैः इसे अधिकाधिक भारतीय रूप दिया जाने लगा। पहले इसमें बगड़ी के कटाव की गोट होती थी, बाद में इसे पद्मपत्र से तथा फूल-पत्तियो से अलंकृत किया जाने लगा। इस युग की बुद्ध की मूर्तियो में भारी-पन, बल और शक्ति का प्रभाव अधिक है, इनमें वह आध्यात्मिकता और अलौकिकता नहीं है जो गुप्त युग की मूर्तियों मे पाई जाती है।

मथुरा की बुद्ध मूर्ति की विशेषतायें—इस समय मथुरा मे बुद्ध की जिस प्रतिमा का विकास हुआ उसकी कुछ विशेषताएं उल्लेखनीय हैं--(१) डा० कुमार स्वामी के मतानुसार इसकी पहली विशेषता सीकरी या रूपवास नामक स्थानों से प्राप्त होने वाले सफेद चित्तियो वाले लाल बलुए पत्थर से इनका बनाया जाना है।[1] (२) इन मूर्तियों को चारों ओर से कोर कर बनाया गया है। इस प्रकार से ये मूर्तियाँ चतुर्दिक् दर्शन वाली (Round Relief) है। ऐसा न होने पर इनको बहुत अधिक गहराई मे (High Relief) कोरा गया है। (३) इनका सिर मुडा हुआ होता है। (४) इनके सिर पर किसी प्रकार के घुँघराले (Curly) बाल नही होते है. इनका उष्णीष सर्पिल (Spiral) अथवा क्रमशः ऊपर की ओर उटते हुए चक्र जैसे होता है। (५) इनमे कोई उर्णा (मस्तक पर बिन्दी) तथा चेहरे पर कोई मूँछ नहीं होती है। (६) इनका दायाँ हाथ अभय मुद्रा में ऊपर उठा रहता है तथा बाँये हाथ की मुट्ठी प्राय. बधी होती है। बैठी हुई मूर्तियो मे यह हाथ जांघ पर पड़ा रहता है और खड़ी मूर्तियो मे यह हाथ वस्त्रो की सलवटों को सम्भाले हुए दिखाया जाता है। (७) कोहनी सदैव शरीर से कुछ दूरी पर होती है। (८) वक्षःस्थल बहुत उन्नत होता है, किन्तु ऐसा होने पर भी यह पूर्ण रूप से पुरुष-मूर्ति के रूप मे दिखाया जाता है (९) वस्त्र प्रायः शरीर से बिलकुल सटे हुए, चुस्त और भीतर के मासल शरीर के अग प्रत्यग को प्रदर्शित करने वाले होते हैं। कलामर्मज्ञ इस प्रकार को आर्द्र वस्त्र (Wet Drapey) कहते हैं, क्योंकि बारीक वस्त्र भीग जाने पर शरीर के अगो से सट जाते हैं तथा भीतर के मांसल देह को प्रदर्शित करते है। इस प्रकार के आर्द्र वस्त्रो की विशेषता न केवल बुद्ध की मूर्तियो मे, अपितु मथुरा की अन्य मूर्तियों मे भी दिखाई देती है। वस्त्रों की सलवटों को एक विशेष ढंग में व्यवस्थित (Schematic fold) किया जाता है। (१०) बुद्ध को कभी भी कमल पर बैठे

---

१. डा० कुमार स्वामी–हिस्टरी आफ इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट पृ०५७।

हुए नहीं दिखाया जाता है, उन्हें सदैव सिंहासन पर बैठे हुए प्रदर्शित किया जाता है, इसमें चौकी के नीचे सिंह बने होते हैं। खड़ी मूर्तियो मे प्रायः पैरों के बीच में बैठा हुआ एक सिंह दिखाया जाता है, जिस प्रकार पशुओ में सिंह का स्थान सर्वश्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बुद्ध का स्थान सर्वोपरि है। इसकी प्रतीकात्मक व्यञ्जना सिंह की मूर्ति से की जाती है। (११) बुद्ध की प्रतिमा के नाक-नक्श और हावभाव निर्वाण की शांति और माधुर्य के स्थान पर असाधारण शक्ति के भाव को प्रकट करते हैं। (१२) इन मूर्तियो का प्रभामण्डल बिलकुल सादा और अनलंकृत होता है अथवा किनारे पर बहुत कम गहराई में अर्धवृत्ताकार आकृतियो से अंकित आधी चूड़ियाँ होती हैं। आगे (पृ० ५१२) यह बताया जायगा कि गन्धार मे इसी समय बनायी जाने वाली बुद्ध की मूर्ति मे ये विशेषताएं बहुत ही कम मात्रा में मिलती हैं।

मथुरा की कला पर विदेशी प्रभाव—मथुरा के कलाकारो ने यद्यपि पुरानी भारतीय परंपरा का अनुसरण करते हुए बुद्ध की मूर्ति का निर्माण किया, फिर भी उन्होंने गंधार प्रदेश से कई बातो को ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं किया। मथुरा मे गधार की कला के प्रभाव के कारण निम्नलिखित यूनानी अभिप्राय ग्रहण किये गये—अंगूर की बेल (Vine), मालाधारी देवो का अलंकरण जिसमे छोटे यक्ष (Erotes) मोटी माला को कंधो पर उठाये हुए हैं। नीमिया के सिंह से कुश्ती करता हुआ हिराक्लीज, मद्यपान के यूनानी देवता बैकस की मद्यपान गोष्ठियो के दृश्य (Bacchalian scene), स्तम्भो के ऊपर यूनान की कोरिन्थ शैली का शीर्षक जिसमें भटकटैया (Acanthus) की पत्तियों का अलंकरण बना होता है, यूनानी ज्यूस (Zeus) या बृहस्पति के गरुड़ द्वारा गैनीमीडी (Ganymede) के अपहरण का दृश्य यूनान की एक पौराणिक गाथा के अनुसार ट्राय का रहने वाला तरुण गैनीमीड इतना सुन्दर था कि ज्यूस ने अपने गरुड़ द्वारा उसका अपहरण करके उसे स्वर्गलोक मे मगवा लिया और अपना प्याला उठाने वाला सेवक बनाया। मथुरा की कुछ बुद्ध मूर्तियों में गधार शैली की मूर्तियों की कुछ विशेषतायें पाई जाती हैं, जैसे कुछ मूर्तियों के चेहरे पर मूछें हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार बुद्ध के चेहरे पर कभी मूँछें नहीं दिखाई जातीं हैं। कुछ मूर्तियों के पांवों में यूनानी ढंग की चप्पलें और छाती पर यज्ञोपवीत की तरह रक्षा-सूत्र या तावीजी मालायें हैं। किन्तु यूनानी दृश्यों को अंकित करने वाली मूर्तियाँ मथुरा में बहुत ही कम संख्या मे पाई जाती हैं।

गन्धार कला—जिस समय मथुरा में ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण हुआ, उसी समय गन्धार प्रदेश में एक विभिन्न प्रकार की मूर्तिकला का विकास हुआ। प्राचीन काल में सिन्धु नदी के पूर्वी और पश्चिमी तट पर पेशावर की घाटी, स्वात, बुनेर और बाजौर के प्रदेशों को गन्धार कहा जाता था। सिन्धु नदी के पूर्व में पूर्वी गन्धार की राजधानी तक्षशिला थी और पश्चिमी गन्धार की राजधानी पुष्कलावती (चारसद्दा)। यह प्रदेश भारत और पश्चिमी जगत के बीच मे बसा हुआ था। इस भौगोलिक स्थिति के कारण यह विभिन्न जातियो के आक्रमण का शिकार और विभिन्न देशो के व्यापारिक मार्गों का केन्द्र बना तथा यहाँ विविध जातियों की सस्कृतियो का संगम हुआ। यह प्रदेश सर्वप्रथम छठी और पाँचवी शताब्दी ई० पू० मे ईहखामनी (Achaemenid) साम्राज्य का अग बना। चौथी शताब्दी ई० पू० मे कुछ समय तक यह सिकन्दर की सेनाओं के अधिकार मे रहा। उसके बाद यहाँ चन्द्रगुप्त ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, किन्तु एक शताब्दी के मौर्य शासन के बाद दूसरी शताब्दी ई० पू० में यहाँ यूनानियो का शासन पुन स्थापित हुआ। पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व मे शको ने इन्हें जीत लिया, किन्तु लगभग एक शताब्दी बाद पहलवों और कुशाणों ने शको को हराया। तीसरी शताब्दी ई० मे इस प्रदेश पर पुनः ईरान के सासानी सम्राटो ने तथा चौथी शताब्दी मे किदार कुषाणो ने अपना शासन स्थापित किया। ४६५ ई० मे श्वेत हूणो ने यहाँ प्रबल विघ्वस और विनाश की ताण्डव-लीला करते हुए इस प्रदेश के प्राचीन स्मारकों को गहरा धक्का पहुँचाया। इस सक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गन्धार प्रदेश पर ईरानी, यूनानी, भारतीय, शक, पहलव और कुषाण जातियो के हमले होते रहे तथा इसने इन सब जातियो के प्रभावो को ग्रहण किया। इसके साथ ही प्राचीन काल मे भारत और चीन से पश्चिमी जगत को जाने वाले महत्वपूर्ण स्थलीय व्यापारिक मार्ग इसी प्रदेश से होकर गुजरते थे, अत यह प्रदेश उस समय व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ विभिन्न देशो की कलाओं के प्रभाव को ग्रहण कर रहा था। इन सबके समन्वय से जो कला यहाँ ईसा की पहली चार शताब्दियों मे विकसित हुई उसे गन्धारकला कहा जाता है। यह प्रधान रूप से यूनानी और भारतीय कला के सम्मिश्रण से बनी थी, इस पर ईरान और रोम का भी प्रभाव पड़ा था।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे लगभग १०० वर्ष पहले १८७० ई०में अपनी सम्यता और सस्कृति का मूल स्रोत यूनान को समझने वाले पश्चिमी जगत् को इस कला का परिचय लीटनर (Leitner) के लेखों से मिला तो पश्चिमी विद्वानों ने इस कला को अत्यधिक महत्व दिया, भारतीय कला पर इसका गहरा प्रभाव माना, इसको यूनानी बौद्ध कला (Graeco–Buddhist) का नाम दिया। किन्तु इस विषय मे हमे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि इस कला का उत्कर्ष उस समय हुआ जब भारत में यूनानी शासन समाप्त होकर अतीत की वस्तु बन चुका था। इस कला के प्रधान पोषक और सरक्षक यूनानी नहीं, अपितु मध्य एशिया से आने वाले शक और कुशाण थे, अत इसे यूनानी बौद्ध कला का नाम देना ठीक नही प्रतीत होता है। इसके आविर्भाव और विकास के प्रधान क्षेत्र के आधार पर इसे गाधार कला का नाम देना समीचीन प्रतीत होता है।

दो शैलियाँ:—इस कला को दो बड़ी शैलियो में बाँटा जाता है। पहली कला-शैली या सम्प्रदाय (Earlyg school) का विकास पहली-दूसरी शताब्दी ई० मे हुआ। इस कला का माध्यम एक विशेष प्रकार का भूरे काले रग का परतदार पत्थर (schist) था। इस शैली की सभी मूर्तियाँ इसी पत्थर की बनी होती है। दूसरी परवर्ती शैली (Later school) का समय पाँचवी शताब्दी ई० माना जाता है। इस समय इस कला का माध्यम परतदार पत्थर (schist) न होकर मिट्टी, चूना, पलस्तर, मसाला या गचकारी (Stucco) था। इन दोनों कला-शैलियो के हजारो उदाहरण प्राचीन गन्धारप्रदेश और अफगानिस्तान से मिले है। इनसे यह प्रतीत होता है कि इस कला के सात बडे केन्द्र थे— तक्षशिला, पुष्कलावती, नगरहार, स्वात नदी की घाटी (उद्यान या उड्डीयान), कापिशी (कपिश देश की राजधानी, आधुनिक बेग्राम), बामियाँ, बाल्हीक या बैक्ट्रिया। इन सब स्थानों से प्राप्त महत्वपूर्ण अवशेषो का विवरण निम्नलिखित है।

गन्धार कला के प्रमुख केन्द्र:—इस कला का पहला केन्द्र तक्षशिला पश्चिमी पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले मे पूर्वी गन्धार की राजधानी एवं व्यापार और कला का बडा केन्द्र था। सर जान मार्शल ने इस स्थान की खुदाई से यहाँ गन्धार-कला के कई महत्वपूर्ण अवशेष उपलब्ध किये थे। इनमें सबसे बड़ा अवशेष **धर्मराजिका या चीर स्तूप** है। इसको यह नाम इस स्तूप के शिरोभाग पर पड़ी एक दरार (चीर) के कारण दिया गया है। यह गोल आकृति में ऊंचे चबूतरे पर

बनाया गया था, इसका बाहरी खोल पत्थर की शिलाओं से ढका हुआ था। इनमें अनेक प्रकार के अलंकरण और बोधिसत्वों की पूजा के लिए आले बने हुए थे। इसके पास ही एक बड़ा चौकोर विहार मिला है। तक्षशिला के आस पास का पूरा पहाड़ी इलाका इस प्रकार के अवशेषो से भरा हुआ है। दूसरा केन्द्र पुष्कलावती पश्चिमी गन्धार की राजधानी थी। इसे हस्तनगर भी कहते है। यहाँ हारिति का एक बड़ा मदिर मिला है। इसके पास बालाहिसार में कुणाल का स्तूप है जहाँ अशोक के पुत्र कुणाल ने अपनी सुन्दर आँखो का दान किया था। इसके निकट पल्टूढेरी से दीपकर जातक की, महाभिनिष्क्रमण की एव बुद्ध और बोधिसत्व की अनेक मर्तियाँ मिली हैं। दीपकर जातक की कथा इस प्रदेश मे बहुत लोकप्रिय थी। इसमें सुमेध नामक युवक ने बुद्ध के पैरों को मलिन होने से बचाने के लिए कीचड पर अपने बालो को बिछाया था। उस समय बुद्ध का नाम दीपकर था। पुष्कलावती के उत्तर मे सकारा ढेरी मे हारिति का स्तूप मिला है और इससे कुछ पूर्व मे सहरीबहलोल के स्तूप मे कोरिन्थ शैली के छोटे स्तम्भो के चौखटो में बनी हुई बुद्ध एव बोधिसत्व की मूर्तियाँ और बुद्ध के जीवन के अनेक दृश्य पाये गये है, जैसे जन्म, धर्मचक्रप्रवर्तन, दीपकर जातक, नलगिरि हाथी पर विजय। सहरी-बहलोल के उत्तर मे तख्ते बाही के स्तूपो और विहारो मे बुद्ध एव बोधिसत्व की विशालकाय मूर्तियाँ, उनके जीवन के दृश्य तथा कुबेर एवं हारिति के भी शिलाफलक पाये गये है।

पेशावर के निकट शाह जी की ढेरी नामक स्थान पर कनिष्क द्वारा निर्मित महान स्तूप के अवशेष मिले हैं। चीनी यात्रियो ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इनके अनुसार इसका आधार पाँच खण्डो (१५० फी०) में था। इसके ऊपर लकड़ी का स्तूप तेरह मजिलों (४०० फीट) मे बना था। इस पर बिजली आदि से रक्षा के लिए एक लोहे का खम्भा था, इस पर १३ से २५ तक सोने का पानी चढे ताम्बे के छत्र (८८ फीट) थे। इस प्रकार इस स्तूप की कुल ऊंचाई ६३८ फी० थी। कुमारस्वामी (हि० इं० आ० पृ० ५३) ने इसे भारत के सामान्य स्तूप तथा बर्मा एव चीन के पगोडो का मध्यवर्गी रूप माना है। यह प्राचीन काल का सर्वोत्तम स्तूप था। फाहियान ने लिखा है कि "यात्रा में अनेक स्तूप और मदिर देखे, किन्तु ऐसा मनोहर, भव्य कोई दूसरा स्तूप नहीं दिखाई दिया। ऐसा कहा जाता है कि यह जम्बुद्वीप मे सर्वोत्तम स्तूप है।" इस समय केवल इसका आधार ही मिला है। इसका व्यास २८६ फीट है। यह सूचित करता

फलक–११ बोधिसत्व की खड़ी मूर्ति, गंधार शैली, पृ ५०६

फलक–१२ गधार शैली की बुद्ध की पद्मासनस्थ मूर्ति, तख्ते बाही, पृ० ५०६

फलक–१० बुद्ध का महापरिनिर्वाण, गंधार शैली, लोरिया तगई, पृ० ५०६

फलक–९ कनिष्क की धातुमंजूषा, ब्रह्मा और शुक्र के साथ प्रभामण्डलयुक्त बुद्ध, पेशावर, पहली श० ई०, पृ० ५०७

है कि यह उस समय का सबसे बड़ा स्तूप था। इसके समकालीन माणिक्याला के स्तूप का आधार १६० फी० से भी कम है। कनिष्क के स्तूप के भीतर सोने का पानी चढ़ाई हुई एक ताम्र मंजूषा प्राप्त हुई है। इसकी ऊंचाई ७३ इंच है। इसके ढक्कन पर हाथ जोड़े हुए दाईं ओर इन्द्र और बाईं ओर ब्रह्मा की मूर्तियों के बीच में पद्मासन में बैठे हुए बुद्ध की प्रभामण्डलयुक्त मूर्ति है। ढक्कन का ऊपरी भाग एक बड़े कमल की खिली हुई पंखड़ियों से भरा हुआ है। बुद्ध के दोनों कन्धों पर संघाटी हैं, ढक्कन के खड़े कगार पर उड़ते हुए हंसों की पंक्ति है, मन्जूषा के कगार पर मालाधारी देव या कन्धों पर माला उठाये छोटे यक्षों (Erotes) का अलंकरण है। बीच में बैठे हुए बुद्ध का एक हाथ अभय मुद्रा में है। उनके दाहिनी ओर सूर्य और बाईं ओर चन्द्र देवता अंकित हैं। सूर्य के बराबर कनिष्क की मूर्ति है। इसकी मंजूषा पर एक लेख है जिसमें कनिष्क और अगिशल नामक शिल्पी (नवकार्मिक) का उल्लेख है।

पेशावर से बैक्ट्रिया (बलख) जाने वाले मार्ग पर नगरहार (जलालाबाद) नामक एक महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ बीमरान नामक स्थान पर सेलखड़ी के पात्र मे रखी हुई सोने की मंजूषा मिली है। इसके निकट ही हड्डा नामक स्थान से गन्धार कला शैली की पत्थर की तथा गचकारी (stucco) की यूनानी शैली की अनेक मूर्तियाँ और एक स्तूप मिला है।

कापिशी :—अफगानिस्तान में गन्धार कला का एक महत्वपूर्ण केन्द्र कुषाण सम्राटों की गर्मियों की राजधानी कापिशी थी। फ्रेंच पुरातत्वज्ञों को इसके वर्तमान स्थान बेग्राम पर हाथीदान्त के बहुत से फलक मिले हैं जो किसी समय शृंगार-पेटियो या रत्न-मंजूषाओं पर जड़े हुए थे। इनमें हमें एक ओर विशुद्ध भारतीय प्रभाव और दूसरी ओर कुछ वस्तुओं पर रोमन कला का प्रभाव दिखाई देता है। भारतीय कला के उदाहरण प्रायः मथुरा की कला से बहुत सादृश्य रखते हैं। इनमें अशोक वृक्ष पर वामपाद से प्रहार करती हुई स्त्रियाँ हैं। इनके बालों के जूड़े को कई घेरों में एक दूसरे के ऊपर उठा कर निकलती हुई लट के साथ दिखाया गया है। इसे प्राचीन साहित्य में शुक्लांशुक अट्टाल कहा जाता था। इस केश-भूषा का चित्रण मथुरा में भी पाया जाता है। हाथीदाँत पर अंकित अन्य दृश्यों मे शृंगार का सामान ले जाने वाली प्रसाधिका, उड़ते हुए हंस, पूर्ण घट, हंस क्रीड़ा, प्रसाधन और नृत्य करने वाली स्त्रियाँ तथा वंशी बजाती हुई और लम्बे केशों से पानी निचोड़ती हुई

(केश निस्तोय कारिणी) स्त्रियाँ हैं। इन स्त्रियों के मांसल शरीरो की कामुक अनुभूति वैसी है जैसी मथुरा के वेदिका-स्तम्भो की नारियों मे पायी जाती है। कापिशी में पश्चिमी कला का प्रभाव सूचित करने वाले अनेक रगीन प्याले मिले हैं। यह स्थान उन दिनों पूर्व और पश्चिम के व्यापार का महान केन्द्र था और इन पात्रों को सम्भवत व्यापारी रोम से लाये थे। इन पात्रों पर अनेक यूनानी दृश्य अंकित हैं, जैसे एकली और हेरा के द्वन्द्व का दृश्य। एक तिकोने प्याले पर ज्यूस (Zeus) के गरुड द्वारा गेनीमेडी के अपहरण (ऊपर पृ० ५०३) के और एक वृषभ द्वारा यूरोप के अपहरण के दृश्य अंकित है। मसाले के बने गोल टिकरों पर रोम देश के सुन्दर स्त्री पुरुषो के और पान गोष्ठियो के दृश्यों अंकित हैं। इन कलावशेषो से यह सूचित होता है कि कापिशी के व्यापारिक और राजनीतिक केन्द्र को एक ओर मथुरा की तथा दूसरी ओर रोम की कला ने बहुत प्रभावित किया था। कलाशास्त्री ग्लोव्यू (Globeau) ने दृढतापूर्वक यह स्थापना की है कि कापिशी के हाथीदान्त के फलक अधिकाश रूप मे मथुरा की कला की देन है। काबुल से १२ मील उत्तर खैरखाना मे १९३६ में एक पुराने मदिर से सूर्य की मूर्ति मिली थी। इसमे सूर्य दोनो पैर लटकाये हुए ललितासन मे अपने सेवक— दण्ड और पिंगल के मध्य मे दो घोडो के रथ पर बैठे हुए है। सूर्य चौथी शताब्दी के सासानी राजाओ का वेश धारण किये हुए है।

अफगानिस्तान से बलख जाने वाले मार्ग पर बामियाँ का दर्रा बड़ा महत्व रखता है। इस दर्रे के निकट अनेक गुफाये है। इनमे अजन्ता जैसे भित्ति-चित्र है। इन चित्रो पर सासानी युग के ईरान की छाप है और मध्य एशिया की चित्रकला का प्रभाव है। उन दिनो बामियाँ चीन तथा मध्य एशिया से भारत आने वालो का प्रवेश-द्वार था। यहाँ श्रद्धालु, धर्मपिपासु बौद्ध चीन और मध्य एशिया से तथा व्यापारी ईरान और रोम से आते थे। श्रद्धालु तीर्थ यात्रियों को भारत के दिव्य रूप का दर्शन कराने के लिए न केवल यहाँ भित्तिचित्रो का निर्माण किया गया, अपितु बुद्ध की अतीव भीमकाय मूर्तियाँ बनाई गई थी। इस समय ऐसी दो मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमे से एक ११४ फी० ऊँची और दूसरी १७३ फुट ऊची है। बामियाँ के बाद उत्तर की ओर बढ़ते हुए बैक्ट्रिया के सुप्रसिद्ध यूनानी राज्य की राजधानी बैक्ट्रा (बलख) आती थी। यह उन दिनों न केवल व्यापार का, अपितु कला और संस्कृति का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ नव-

विहार नामक एक विहार के अवशेष मिले हैं। आमू (oxus) नदी के उत्तरी तट पर तिरमिज इस कला का एक बड़ा केन्द्र था। यहाँ पहली शताब्दी ई० के एक स्तूप में बोधिसत्व की प्रतिमाए मिली हैं। सोवियत संघ में ख्वारिज्म के कारा कालपाक (Kara Kalpak) गणराज्य के तोपरककाला नामक स्थान में एक राज-प्रासाद के अवशेषो मे मथुरा के माट ग्राम जैसी सम्राटो की मूर्तियो को सुरक्षित रखने का एक विशेष स्थान (देवकुल) पाया गया है। यह मथुरा के देवकुल से बहुत बड़ा था। यहाँ प्राचीन राजाओं की अधपकी मिट्टी की मूर्तियाँ, विजयालदेवी (Nike) की तथा आयुष लिये हुए वीरो की मूर्तियाँ मिली हैं। यहाँ की एक शीर्षहीन मूर्ति मथुरा की इस प्रकार की कनिष्क की मूर्ति से गहरा सादृश्य रखती है।

गन्धार कला के विकास की अवस्थायें तथा तिथिक्रम :—गन्धार कला का विकास और तिथिक्रम अत्यन्त विवादग्रस्त है। इसपर प्रकाश डालने वाली मूर्तियाँ कम है। केवल कुछ मूर्तियो पर ही वर्ष अंकित है, जैसे हस्तनगर की ३८४ वर्ष की मूर्ति तथा लौरियाँ तगई की ३१८ वर्ष की मूर्ति है। किन्तु अभी तक यह नही ज्ञात हो सका है कि ये वर्ष किस सवत् के अनुसार है। अतः गन्धार कला का तिथि-निर्धारण मूर्तियो की विकास-शैली के आधार पर किया गया है। किन्तु इस विषय मे विद्वानो मे विभिन्न मत है। सर्वप्रथम कनिघम ने गन्धार की मूर्ति-कला का स्वर्णयुग कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियो का समय माना था[1], किन्तु दुर्भाग्यवश कनिष्क की तिथि के सबध मे उग्र मतभेद है (देखिये चौथा अध्याय)। फर्गुसन ने इसका समय पहली शताब्दी ई० पू० से ५वी शताब्दी ई० मानते हुए इसका स्वर्ण युग ४०० ई० के आसपास माना (हि० इं० आ० पृ० १८१-१८२)। विन्सेन्ट स्मिथ ने (हि० फा० पृ० २३) इस पर रोमन प्रभाव मानते हुए इसके चरम उत्कर्ष का समय ५० से १५० अथवा २०० ई० निश्चित किया था। ग्रुइन वेडल और फूशे इसका आरम्भ पहली शताब्दी ई० पू० में मानते हैं। किन्तु इसके चरम विकास का काल पहले विद्वान के मतानुसार चौथी शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध है और दूसरे के मतानुसार पहली शताब्दी ई० पू० है। यह पहली शताब्दी मे ही इसका ह्रास मानता है। वोगल फूशे से सहमत है, किन्तु रोलैण्ड ने (पृ० ७५) रोम और गन्धार की कलाओ की तुलना करते हुए

१. आ० स० रि० खण्ड ३, पृ० ३९।

यह मत प्रकट किया है कि गन्धार कला का आविर्भाव पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसके चरम उत्कर्ष का समय पहली शताब्दी ई० के अन्त से चौथी शताब्दी ई० के आरम्भ तक था (पृ० ७५)। घिर्शमान (Ghirshman) ने इसका आरम्भ पहली शताब्दी ई० में, उत्कर्ष दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और इसका ह्रास तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में माना है। इस विषय मे दो नवीनतम मत हेरोल्ड इन्घोल्ट (Harold Ingholt) तथा मार्शल (Marshal) ने प्रकट किये हैं। इन्घोल्ट के मतानुसार शैली के आधार पर गन्धार की मूर्तियों को ४ वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग की मूर्तियों का समय १४४ ई० से २४० ई० है। उनके मतानुसार इसका आरम्भ कनिष्क के राज्यारोहण से तथा समाप्ति ईरान के सासानी सम्राट शापुर प्रथम की विजय के साथ होती है। दूसरे वर्ग का समय बहुत ही कम २४० से ३०० ई० तक का है। तीसरे वर्ग का समय ३०० से ४०० ई० का है। चौथे वर्ग की मूर्तियों का समय ४०० से ४६० ई० तक का है, जब श्वेत हूणों ने इस प्रदेश को जीत कर यहाँ बौद्ध विहारों और स्तूपो को गहरी क्षति पहूँचाई। इस प्रकार गन्धार कला का विकास चार अवस्थाओ या युगो मे हुआ। पहले युग में इस कला पर यूनानी प्रभाव के अतिरिक्त ईरान का प्रभाव भी पडने लगा था। दूसरे युग में ईरान के सासानी प्रभाव मे वृद्धि हुई। तीसरे युग मे मथुरा की कला का गहरा प्रभाव पड़ा और चौथे युग में इस कला पर ईरान का सासानी प्रभाव प्रबल होने लगा।[१] सर-जान मार्शल ने जीवन-पर्यन्त गन्धार कला का अध्ययन करने के बाद इसके क्रमिक विकास के सबंध मे यह निष्कर्ष निकाला है कि इसका आविर्भाव शक शासन के समय मे पहली शताब्दी ई० पू० मे हुआ।[२] पहलव शासकों से पहली शताब्दी ई० मे इसे प्रोत्साहन मिला। २५ से ६० ई० तक इसका शैशव-काल है। इसके बाद कुषाण सम्राटो के प्रोत्साहन से यह कला दूसरी शताब्दी ईसवी मे किशोरावस्था और यौवन दशा को प्राप्त हुई। इसके बाद तीसरी शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में सासानी आक्रमण से इसकी समाप्ति हो गई। कुषाण अपने मूल स्थान बैक्ट्रिया में चले गये। यहाँ सम्भवत. चौथी शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध मे इस कला-शैली के दूसरे अथवा पिछले सम्प्रदाय का जन्म हुआ। यह शैली ४६० ई० में श्वेत हूणों के आक्रमण तक बनी रही। इस प्रकार अधिकांश विद्वानों ने इस बात पर

१. इंघोल्ट--गन्धार आर्ट इन पाकिस्तान न्यूयार्क १९५७।
२. मार्शल-बुद्धिस्ट आर्ट आफ गन्धार पृष्ठ १७।

सहमति प्रकट की है कि कनिष्क के समय मे गन्धार कला को प्रबल प्रोत्साहन मिला। कनिष्क की तिथि विवादग्रस्त होने के कारण (पृ० १३६) गन्धार कला के तिथिक्रम में भी पर्याप्त मतभेद है।

बुद्ध की मूर्ति का विकास:—मथुरा के कलाकारों की भाँति गन्धार के शिल्पियों ने भी बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया था, किन्तु यह मूर्ति शैली की दृष्टि से मथुरा की मूर्ति से भिन्न है। मथुरा मे यक्षों और योगियो की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए तथागत की मूर्ति का निर्माण किया गया था, किन्तु गन्धार के शिल्पियों ने इस विषय में यूनानी कला का अनुसरण किया। प्राय: यह कहा जाता है कि यूनानियो ने अपने सूर्य देवता अपोलो (Apollo) की प्रतिकृति का अनुसरण करते हुए बुद्ध की प्रतिमा का निर्माण किया है। किन्तु इस विषय मे आनन्द-कुमार स्वामी का यह मत अधिक समीचीन जान पड़ता है कि गन्धार की मूर्ति-कला में अपोलो को बुद्ध नही बनाया गया, किन्तु बुद्ध को अपोलो बनाया गया है। इसका यह अभिप्राय है कि गन्धार के कलाकारो का उद्देश्य तो भारतीय आधार पर बुद्ध की मूर्ति को बनाना था, किन्तु उनका हाथ यूनानी कला मे सधा हुआ था, इसलिए उन्होंने बुद्ध को यूनानी आदर्शों के अनुसार गढ़ा। गन्धार की बुद्ध-मूर्ति मे निम्नलिखित विशेषताएं है—(१) बुद्ध का चेहरा यूनानी देवता अपोलो के अनुसार विशुद्ध अण्डाकार (Oval) और सौम्य भाव रखने वाला बनाया गया है। (२) रोम में अपोलो और एफ्रोडाइट (Aphrobite) की यूनानी मूर्तियों के सिर मे जूड़ा (Chignyon) बनाया जाता था। इसमे बाल सिर के ऊपर एक या दो जूड़ो (Buns) के रूप मे बँधे हुए होते थे। यूनानी सूर्य देवता के सिर पर बनाये गये ऐसे उभार को क्रोबीलोज (Krobylos) कहते थे। गन्धार के कलाकारो ने इसका अनुसरण करते हुए बुद्ध के सिर पर उष्णीष बनाया। (३) बुद्ध का वेश भी तत्कालीन रोम मे प्रचलित वेश के अनुसार है। उस समय रोम मे टोगा का वेश प्रचलित था। टोगा नागरिको द्वारा धारण किया जाने वाला तथा सारे शरीर को ढकने वाला चोगा या एक बड़ी चादर होता था। गन्धार कला में बुद्ध को ऐसा चोगा पहने दिखाया गया है।[1] रोलैण्ड के मतानुसार आगस्टस के युग में रोम की मूर्तियों की भाँति बुद्ध के वस्त्रो की सलवटो को गहरी लकीरों (Dee-pridged) के रूप में उकेरा गया है। इस प्रकार बुद्ध की प्रतिमा पर पहली

१. हैलेडे—गन्धार स्टाइल, पृष्ठ ६० ।

२. रोलैण्ड आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया पृ० ८०।

शताब्दी ई० की रोमन कला का स्पष्ट प्रभाव है। किन्तु इसके साथ ही गन्धार के कलाकारों ने बुद्ध को बनाते हुए अपने प्रधान उद्देश्य को विस्मृत नहीं किया और इसे बौद्ध धर्म के सिद्धान्तो के आधार पर बनाया। इन मूर्तियो के अर्धनिमीलित नेत्र भौतिक जगत् से अनासक्ति की भावना को प्रकट करते हैं। इनके मुखमण्डल पर माधुर्य प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की कामना को सूचित करता है। इन मूर्तियों के कान लम्बे हैं। ये सम्भवत: बुद्ध द्वारा सिद्धार्थ के रूप मे बड़े कण्डल धारण करने के कारण ऐसे हो गये हैं। कुछ मूर्तियो मे कुषाण-प्रभाव के कारण मूछे भी दिखाई गई हैं। गन्धार का प्रदेश शीतप्रधान था, अतः यहाँ बुद्ध के दोनो कन्धे ढके हुए दिखाये गये है और बुद्ध के वस्त्र भारी और मोटे है। उपरले वस्त्रों के भीतर से मथुरा की मूर्तियो की भाँति निचले वस्त्र नही दिखाई देते है। बुद्ध की कुछ बैठी मूर्तियों मे एक दाँया कन्धा नगा दिखाया गया है।

गन्धार तथा मथुरा की बुद्ध-मूर्तियो की तुलना:—गन्धार की बुद्ध-मूर्ति की तुलना यदि हम मथुरा की बुद्ध मूर्ति से करे तो हमे दोनो मे निम्नलिखित भेद दिखाई देते है—(१) पहला भेद मूर्ति के माध्यम या पत्थर का है। गन्धार की मूर्तियाँ भूरे रंग के परतदार पत्थर (Grey shist) मे या मसाले से बनी (Stucco) हुई हैं। मथुरा की मूर्तियां सफेद चित्तियो वाले लाल पत्थर (Red sandstone) से बनाई गई हैं। (२) गन्धार की मूर्तियों का सिर घुँघराले बालो से ढका है, मथुरा मे बुद्ध का सिर मुण्डा हुआ है। (३)। गन्धार में सिर पर उष्णीष और मस्तक पर ऊर्णा नामक बिन्दी पाई जाती है, किन्तु मथुरा की मूर्ति में ऊर्णा नही मिलती है। (४) गन्धार के बुद्ध मथुरा की भाँति सफाचट (Clean shaved) नही होते, अपितु उनके चेहरो पर कुषाण सम्राटो की मूर्तियो की भाँति मूछे पाई जाती है। (५) गन्धार की खड़ी मूर्तियों मे बुद्ध के दोनो कन्धे ढके दिखाये गये हैं, मथुरा मे दाँया कन्धा नगा होता है। (६) गन्धार के वस्त्र झीने और पारदर्शक नही होते, उनके भीतर से अन्दर के वस्त्र नही दिखाई देते। किन्तु मथुरा मे इन पारदर्शक वस्त्रो मे भीतर के अंग और वस्त्र स्पष्ट दिखाई देते है। बुद्ध की बहुत सुन्दर खड़ी मूर्तियाँ सहरी बहलोल तथा तख्तेबाही से मिली हैं। सहरी बहलोल की एक बड़ी मूर्ति (८ फीट ८ इंच) इस कला का बढ़िया नमूना है। यह अपने विशाल प्रमाण, सौम्य दर्शन और करुणामयी दृष्टि से दर्शको पर गहरा प्रभाव डालती है। इसमे ऊपर बताई गई सभी विशेषताए उष्णीष, लम्बे कान, मूछे, दोनो कन्धो का ढका होना, अभय मुद्रा में दायें हाथ का उठा होना दिखाई देता है। इसके माथे पर ऊर्णा के स्थान

पर छोटे गढ़े मे चमकीला नग जड़ा हुआ था। इसके हाथों में उंगलियों को मिलाने वाली त्वचा (जालागुलि) स्पष्ट दिखाई देती है। प्राचीन काल मे यह महापुरुषों का लक्षण माना जाता था। इसके मस्तक के पीछे एक बड़ा और सादा प्रभा-मण्डल बना हुआ है।

गन्धार के शिल्पियों ने तपस्या मे सलग्न बुद्ध की मूर्ति को बड़े सुन्दर रूप में उकेरा है। इसमे उग्र तपस्या के परिणामस्वरूप बुद्ध के अस्थि पंजर को बड़े प्रभावशाली रूप मे अकित किया गया है। बुद्ध के जीवन से संबद्ध घटनाओं का इस कला में बहुत अधिक अकन हुआ है—जैसे मायादेवी का स्वप्न, बुद्ध का जन्म, पाठशाला मे शिक्षा के लिए जाना, विवाह सस्कार, महाभिनिष्क्रमण, मारविजय, बुद्ध के विभिन्न चमत्कार, नन्द और सुन्दरी का कथानक, अगुलीमाल का स्वभाव-परिवर्तन, आम्रपाली द्वारा बुद्ध को आमत्रण देना, महापरिनिर्वाण, बुद्ध के जीवन से सबद्ध इतने अधिक दृश्यों का अंकन इस समय की किसी भी अन्य कला-शैली मे नही मिलता है। इन चित्रो मे मानवीय भावो को अतीव सजीव रूप मे दिखाया गया है। उदाहरणार्थ, कन्थक को विदा करने वाले दृश्यो मे इसको बुद्ध से अलग होते हुए अति विषादपूर्ण शोक-विह्वल मुद्रा मे प्रणाम करते हुए दिखाया गया है।

विदेशी प्रभाव:—गन्धार की मूर्तिकला मे अनेक विदेशी तत्व पाये जाते हैं। इनमे कुछ तत्व यूनानी कला से और कुछ भारतीय कला से ग्रहण किये गये है। यूनानी कला के तत्वो मे निम्नलिखित है—भारवाहक गुह्यक या किंकर (Atlas), किन्नर, मालाधारी वामन (Erotes), समुद्री देवता (Triton), एथिना (Athena) या रोमादेवी (Roma)। लाहौर सग्रहालय मे रोमा की एक भव्य मूर्ति सुरक्षित है। यह गन्धार कला की सर्वोत्तम मूर्तियो मे गिनी जाती है। यूनानी-रोमन कला के निम्नलिखित अभिप्राय (Motifs) भी यहाँ पाये जाते है—जैसे कोरिंथियन, आयोनियन और डोरिक शैली के स्तम्भ, कामपुत्र के यक्ष (क्यूपेड्स), मालाओ के फेस्टव गुह्यक, यक्ष (एटलाटिस), जलदेवता समृद्धि शृंग लिये हुए देवी दीमित्रा, हारीती, हापोक्रित, किन्नर, सेण्टार, सिलेनस्ल, सैटर)। गन्धार कला पर ईरानी प्रभाव को सूचित करने वाला जडियल का अग्नि-मदिर है। इसके अतिरिक्त हिंगुलाज की देवी मानी और अनाहिता देवी की मिट्टी की बहुत मूर्तियाँ मिली है। बिना पखों वाले पीठ से पीठ सटाये बैलो और हाथियो वाले स्तम्भ शीर्ष तथा काल्पनिक नर मस्तक वाले पशु भी ईरानी कला की देन थे। भारत का कुबेर यहाँ पचिक के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी और हारीती की मूर्तियाँ

यहाँ बहुत पायी जाती हैं। ये उस समय गृहस्थों की सब कामनाओं को पूरा करने वाले देवता माने जाते थे। यहाँ से मध्य एशिया मे भी इस पूजा का प्रसार हुआ।

उपसंहार—गन्धार कला यूनान और भारत की सर्वथा विभिन्न आदर्श रखने वाली कलाओ के समन्वय का एक प्रयास था। यूनानियो के लिए मनुष्य और मनुष्य की बुद्धि सभी कुछ थी, उन्होंने देवताओ को भी मानव रूप प्रदान किया, वे भारतीय देवताओ मे श्रद्धा रखते थे। उन्होने इन देवताओं को भी मानव बना दिया। यही कारण है कि यूनानी कला वास्तववादी (Realist) है, भारतीय कला आदर्शवादी (Idealist) है। पहली भौतिक है और दूसरी आध्यात्मिक। गन्धार कला मे इन दोनो का सम्मिश्रण किया गया। गन्धार कला की आत्मा भारतीय थी, किन्तु बाह्य शरीर यूनानी था। यह कला अपने व्यापक प्रभाव के कारण बड़ा महत्व रखती है क्योकि मध्य एशिया और चीन तक बौद्ध धर्म के साथ इस कला का प्रसार हुआ और चीन की सहस्र बुद्ध गुहाओ की मूर्तियो और चित्रों पर इसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है इसने तिब्बत, मध्य एशिया और अफगानिस्तान की कला पर भी प्रभाव डाला।[1] मूर्तियों के प्रचुर परिमाण और प्रभाव की व्यापकता की दृष्टि से इस कला का विशेष महत्व है।

---

१. हैलेडे-दि गन्धार स्टाइल पृ० १६५-६६, १७४।

पन्द्रहवाँ अध्याय

आर्थिक दशा

समृद्धि का युग—शुग सातवाहन युग आर्थिक दृष्टि से असाधारण महत्व रखता है। ईसा से पहले की और बाद की दो शताब्दियों मे विदेशो के साथ भारत के समुद्री व्यापार मे अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। इसके परिणामस्वरूप विदेशो में भारतीय माल की मांग बढ़ी। इसे पूरा करने के लिए विभिन्न उद्योग-धंधो की विलक्षण उन्नति हुई। कारीगरो और व्यापारियो के श्रेणी, निगम आदि विभिन्न संगठनो का विकास हुआ। उन दिनो रोमन साम्राज्य मे भारत के सुगंधित द्रव्यो, बहुमूल्य रत्नो, मलमल और मसालो की माग बढ़ जाने से भारत दूसरे देशो को अधिक माल भेजता था और बाहर से कम माल मगाता था। अतः यहाँ से निर्यात की जाने वाली वस्तुओ का मूल्य आयात की जाने वाली वस्तुओ से अधिक होता था। इस अधिक मूल्य को चुकाने के लिए रोमन साम्राज्य को तथा अन्य देशो को बहुत बड़ी मात्रा मे सोना तथा स्वर्ण मुद्रायें भारत भेजनी पड़ती थी। यह तथ्य इस बात से पुष्ट होता है कि दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानो से रोमन सम्राटो की स्वर्ण मुद्राए बहुत बड़ी सख्या मे उपलब्ध हुई है। दूसरे देशो का सोना भारत के अनुकूल व्यापार-सन्तुलन (Favourable Balance of Trade) के कारण भारत की ओर बहा चला आ रहा था। इससे भारत सोने की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध होने लगा। सभवत इसकी प्रचुरता और विदेशी व्यापार की आवश्यकताओ के कारण इस युग मे सर्वप्रथम कुषाण सम्राटो ने स्वर्ण मुद्राओ का प्रचलन आरम्भ किया। इससे पहले भारत मे चाँदी और ताँबे के सिक्को का ही अधिक प्रचलन था। परवर्ती युगो मे विदेशो मे भारत को सोने का चिड़िया कहलाने का जो गौरव प्राप्त हुआ, उसका श्रीगणेश शुग-सातवाहन युग की व्यापारिक उन्नति से आरम्भ होता है। इसने इस युग को अतीव समृद्धि का स्वर्णयुग बनाया।

मूलस्रोत:-इस युग की आर्थिक दशा पर प्रकाश डालने वाले मूलस्रोत तीन प्रकार के हैं:—(क) **साहित्यिक ग्रंथ**:—इस समय अपना वर्तमान स्वरूप धारण

करने वाले सुप्रसिद्ध महाकाव्य वाल्मीकि रामायण और महाभारत, बौद्ध पालिग्रंथ मिलिन्दपण्हो, महानिद्देस तथा संस्कृत भाषा मे लिखे बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान, महावस्तु, जातकमाला, अवदानशतक तथा ललित विस्तर है। जैन साहित्य के सूत्रों,भाष्यो और चूर्णियो का निश्चित समय निर्धारित करना बहुत कठिन है। फिर भी इनका बड़ा भाग छठी शती ई० के बाद का नही हो सकता। इसमे कुछ साहित्य कुषाण युग का है। बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह यद्यपि ईसा की पाँचवी, छठी शताब्दी का ग्रंथ है, किन्तु उसकी बहुत सी सामग्री का आधार ईसा की पहली शताब्दी में लिखी गई गुणाढ्य की बृहत्कथा है। संघदासकृत वसुदेवहिण्डी की भी यही स्थिति है। जैन ग्रंथो मे आर्थिक दशा पर प्रकाश डालने वाले कुछ निर्देश बृहत्कल्प सूत्र, आचाराग सूत्र, आवश्यक चूर्णि, ज्ञाताधर्म कथा, अन्तगडदसाओ मे मिलते है। इस समय का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत तामिल साहित्य है। संगम युग की सुप्रसिद्ध रचनाये सिद्ध शिलप्पदिकारम् और मणिमेखलै तत्कालीन आर्थिक दशा पर सुन्दर प्रकाश डालती है[1]।

(ख) **विदेशी विवरण**—इस समय रोम के साथ भारत का व्यापार अधिक होने के कारण अनेक लेखको ने भारत के साथ होने वाले व्यापार पर प्रकाश डाला है और व्यापारिक वस्तुओ के विवरण लिखे है। इनमे सब मे अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ पेरिप्लस ऑफ एरिथ्रियन सी (Periplus of Erythrean sea) है[2]। इसका शाब्दिक अर्थ है हिन्द महासागर की पथप्रदर्शक पुस्तक। लैटिन मे यद्यपि एरिथ्रा (Erythra) का अर्थ लाल होता है, किन्तु प्राचीन काल मे रक्तसागर का प्रयोग व्यापक अर्थ मे होता था, इसमे इसके अतिरिक्त अन्य समुद्र सम्मिलित थे। ईरान की खाड़ी सहित समूचे हिन्द महासागर के लिये यूनानी और रोमन भूगोलवेत्ता 'एरिथ्रियन सी' शब्द का प्रयोग करते थे। उन दिनो रोमन और यूनानी समुद्रयात्री नाविकों के मार्ग-प्रदर्शन के लिये जो पुस्तके लिखी जाती

१. इन सबके आधार पर इस युग की व्यापारिक दशा का सुन्दर और प्रामाणिक विवेचन डा० मोतीचन्द्र ने सार्थवाह (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना १९५३) पृ० १३०-१७३ मे किया है।

२. इसका सर्वोत्तम संस्करण फिलाडेल्फिया के व्यापारिक संग्रहालय के सचिव विलफ्रेड एच० शाफ द्वारा सम्पादित दी पेरिप्लस आफ एरिथ्रियन सी (लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कं०, न्यूयार्क १९१२) है। आगे इसका निर्देश पेरिप्लस (पेरि०) के नाम से होगा।

थी उनका सामान्य नाम 'पेरिप्लस' हुआ करता था। ऐसे अनेक पेरिप्लस विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गये। इस समय हमे जो पेरिप्लस मिलता है, उसके लेखक का नाम हमें ज्ञात नही है और इसकी तिथि के सम्बन्ध में तीन प्रकार के मत प्रचलित है। पहले मत के अनुसार इसकी रचना पहली शताब्दी ईसवी के मध्य मे हुई थी और इसने प्लिनी के कुछ समय पहले ही अपना ग्रथ लिखा था। दूसरे मत के अनुसार इसकी रचना प्लिनी के बाद पहली शताब्दी ई० के उत्तरार्ध मे ७५ ई० से १०५ ई० के बीच सभवत ८० ई० मे हुई थी। एक फ्रेंच विद्वान् पिरेन्ने ने यह सिद्ध किया है कि पेरिप्लस मे सासानी सम्राट अर्दशीर की विजयो से उत्पन्न परिस्थितियो का वर्णन है, अत इसका रचना काल तीसरी श० ई० के आरम्भ मे २२५ से २३० ई० तक है।[1] किन्तु अधिकाश विद्वान इसे पहली श० ई० के उत्तरार्ध मे ८० ई० की रचना मानते है। दूसरा लेखक प्लिनी है। इसने अपनी पुस्तक नेचरल हिस्टरी मे भारत से रोम आने वाली व्यापारिक वस्तुओ का विस्तृत वर्णन किया है। तीसरे लेखक टालमी ने १४० ई० मे लिखे अपने भूगोल विषयक ग्रथ मे भारत का परिचय देते हुए इसके विभिन्न बन्दरगाहो का वर्णन किया है। इस युग का एक अन्य लेखक स्ट्रैबो (५४–२४ ई० पू०) भी है।

(ग) **पुरातत्वीय सामग्री**—इस समय के अभिलेखो, मुद्राओं तथा पुरातत्वीय उत्खनन से प्राप्त सामग्री भी तत्कालीन आर्थिक जीवन पर बहुत प्रकाश डालती है। यहा इन सबके आधार पर इस युग की आर्थिक दशा का सक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

कृषि—अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश रहा है। सातवाहन युग मे भी ऐसी स्थिति थी। मिलिन्दप्रश्न (पृ० ३६०) में विभिन्न कृषि-कार्यो का विस्तृत उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि ये मुख्य रूप से भूमि से काँटो, पत्थरो और जगली घास को हटाना, भूमि को जोतना, बोना, सींचना खेती के चारो ओर मेडबन्दी करना, पक्षियो तथा पशुओ से फसल की रक्षा करना तथा इसकी कटाई तथा गहाई है। इस समय ग्रथो मे खेतो में बोये जाने वाले अनेक प्रकार के अनाजो—धान, जौ, सरसों, तिल, गेहूँ आदि का उल्लेख मिलता है (महाभारत १३।१११।७१)। इस समय के आयुर्वेद के ग्रथों मे विभिन्न प्रकार के धान्यो, फसलो तथा सब्जियो का विस्तृत वर्गीकरण मिलता है (चरक सूत्र स्थान २७।५।१०, सुश्रुत सूत्र स्थान ४६।५।५२)। विदेशी लेखको मे प्लिनी (१२। ४, १८।१०,१३) ने भारत की कृषिजन्य वस्तुओ मे धान, जौ, सरसो का उल्लेख

१. बुद्ध प्रकाश—इंडिया एण्ड दी वर्ल्ड पृ० २३७।

किया है और ऊन पैदा करने वाले पेड़ों तथा क्षौम अर्थात् अलसी के पौधों का तथा गन्ने का भी वर्णन किया है। उन दिनो धान या चावल की कई किस्में होती थी। इनमें बासमती चावल के कुछ बढ़िया प्रकार राजाओ के ही उपभोग की वस्तु समझे जाते थे (मिलिन्द प्रश्न पृ० २५२, २९२)।

कृषिजन्य वस्तुओ में सुगन्धित द्रव्यो, मसालो और ऐसे पौधो को उगाने की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था जिनकी विदेशो मे बडी माँग थी और जिनकी खेती से बहुत लाभ होता था। मिलिन्द प्रश्न (पृष्ठ ३८२) मे इस प्रकार के पदार्थों में कपूर, तगर, चन्दन और केसर की गणना की गई है। मौर्य युग मे कौटिल्य ने अपने ग्रंथ मे चन्दन के अनेक भेदो के उल्लेख किया है। रामायण (२।१।२४) और महाभारत (२।४२।३३) मे चन्दन का प्रधान उत्पत्ति-स्थान मलय पर्वत (कावेरी नदी के दक्षिण मे पश्चिमी घाट) माने गये है। मिलिन्द प्रश्न मे बनारस के चन्दन का भी उल्लेख किया गया है। महाभारत मे चन्दन का एक उत्पत्ति स्थान कामरूप को माना गया है और उत्तर-पूर्वी हिमालय मे कालेयक नामक एक सुगंधित काष्ठ का वर्णन किया गया है। दिव्यावदान (पृष्ठ ३०–३१) मे दी गई पूर्ण की कथा मे यह कहा गया है कि उन दिनो गोशीर्ष नामक चन्दन पश्चिमी भारत मे विदेशो से मगाया जाता था, और ज्वर की चिकित्सा मे इसे अत्यन्त उपयोगी माना जाता था। इसी कारण यह बहुत महगे दामो पर बिकता था।

पेरिप्लस और प्लिनी ने भारत की ऐसी अनेक बहुमूल्य वस्तुओं का उल्लेख किया है जिनकी रोम मे अत्यधिक माग थी। इस कारण भारत मे इनकी खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी। ऐसी वस्तुओ मे निम्न पदार्थ उल्लेखनीय थे--कुठ (Costus), दारुहरिद्रा (Lycium), जटामासी या बाल्छड (Spikenard)। ये तीनो वस्तुए हिमालय पर्वत के ऊचे भागो मे पैदा होती थी। इनका परिचय आगे दिया जायेगा। उत्तर पश्चिमी भारत के मैदानो मे गन्धतृण[1] (Nard)

---

१ यह एक प्रकार की सुगन्धित घास होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह सिम्बोपोगोन (Cymbopogon) नामक जाति की है और इसके अनेक प्रकार (Species) मिलते है। इसका एक सुप्रसिद्ध प्रकार गन्धतृण (Cymbopogon citratus) है। इसके पत्तो को मसलने से नींबू जैसी गन्ध आती है। इसका दूसरा प्रकार बुखार, जुकाम, खांसी में उपयोगी होने के कारण ज्वरकुश कहलाता है। इसका वैज्ञानिक नाम इसी आधार पर Cymbopogon Jwarancusa कहलाता है। इसकी जड़ में सुगन्धित तैल का अंश अधिक होता है। संभवतः इसी-

तथा गुग्गुल (Bdellium) पाये जाते थे। काली मिर्च कोट्टोनारा (कोट्टनाड़) अर्थात् केरल के क्विलोन तथा कोट्टायम के समीपवर्ती प्रदेश में पैदा की जाती थी। दालचीनी (Cinnamon) की खेती मलाबार तट के बन्दरगाहों के पृष्ठवर्ती प्रदेशों मे होती थी। पेरिप्लस के मतानुसार काठियावाड और उसके समीपवर्ती प्रदेश (Arıaca) मे गेहूँ, चावल, ईख और सरसो की खेती की जाती थी। इलायची मलाबार के प्रदेश मे बोई जाती थी। हिमालय पर्वत के निचले ढालों में और दक्षिणी भारत की पहाडियो पर संभवत कुटज[1] (Macir) के पेड़ उगाये जाते थे। प्लिनी (१२) ने भी भारत के बहुमूल्य पौधों मे काली मिर्च, कुठ इलायची, गुग्गुल, दारुहरिद्रा तथा कुटज का उल्लेख किया है।

कृषि मे सिचाई का बहुत महत्व था। मिलिन्द प्रश्न (पृ० ११४) के अनुसार उन दिनो भारत मे तीन बार नियमित रूप से वर्षा होती थी, किन्तु यह वर्षा पर्याप्त नही थी। अत सिचाई की विशेष व्यवस्था आवश्यक समझी जाती

लिये इसका भारत से निर्यात होता था। इसके अन्य प्रकार C schoenanthus तथा C nardus हैं। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कोश सेन्चुरी डिक्शनरी के मतानुसार अंग्रेजी शब्द नर्ड (Naid) का मूल संस्कृत का नलद शब्द है।

१. प्लिनी (१२।१६) के अनुसार मैकिर (Macır) नामक लाल छाल रोम मे भारत से मगायी जाती थी। इसका काढ़ा शहद के साथ मिला कर रक्तातिसार मे दिया जाता था। लैस्सेन के मतानुसार यह मैकर मलाबार में उगने वाले पेड़ की जड़ की छाल थी। किन्तु उसने इस पेड़ की कोई पहिचान नहीं दी है। शाफ ने इसे कुटज (Holarrhena antidysentrica) माना है। वाट ने यह बताया है कि यह पेड़ समूचे उत्तर भारत में तथा हिमालय में ३५०० फीट की ऊँचाई तक मिलता है और दक्षिणी भारत में भी इसी ऊँचाई तक मिलता है। इसकी छाल और बीज आयुर्वेद की महत्वपूर्ण औषधि है। पुर्तगालियों ने भी इसे रक्तातिसार में अतीव उपयोगी पाया। वे इसे मलाबार की जड़ी (Herbamalabarica) कहते थे। (शाफ-पेरिप्लस ८०-८१)। पेरिप्लस (पैरा ८) ने इसका उल्लेख मल्लव (सुमाली लैण्ड के बर्बरा नामक बन्दरगाह में भारत से आने वाले एक अन्य पदार्थ सफेद डामर (Indian copal) के साथ किया है। यह वेटेरिया इंडिका (Vateria Indica) नामक पेड़ की गोंद है। वाट के कथनानुसार यह कनारा से केरल तक पश्चिमी घाटों में पहाड़ोंपर ४००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसका प्रधान उपयोग वार्निश बनाने में होता है।

थी। महाभारत (२।५।७६–७८) में राजा का प्रधान कर्त्तव्य यह बताया गया है कि उसे अपने राज्य में थोड़ी-थोड़ी दूर पर तालाबों और जलाशयों का निर्माण करना चाहिए, ताकि सिंचाई का कार्य सुगमतापूर्वक किया जा सके। पहले यह बताया जा चुका है कि रुद्रदामा ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा गिरनार के निकट बनाये गए सुदर्शन नामक जलाशय का जीर्णोद्धार किया था। इस जलाशय के बाँध में प्रचंड वर्षा और तूफान के कारण दरारें पड़ गईं, उनसे सारा पानी बह गया, जब इससे सिंचाई की कोई आशा न रही तो प्रजा में हाहाकार मच गया। अतः लोक-कल्याण की दृष्टि से रुद्रदामा ने मंत्रियों के विरोध की परवाह न करते हुए अपनी ओर से भारी व्यय करके इस बाँध की मरम्मत करवाई। इस युग के अभिलेखों में कुएं, तालाब आदि बनवाने का उल्लेख पाया जाता है। राजा तथा प्रजा ऐसे कार्यों का करवाना बड़ा पुण्य प्रदान करने वाला समझते थे। राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह प्रजा की रक्षा और सिंचाई की व्यवस्था समुचित रूप से करे। ऐसा करने पर ही उसे खेती की उपज का छठा भाग लेने का अधिकार था।

उस समय भूमि को साफ करके कृषि-योग्य बनाने वाले किसान का उस पर स्वामित्व समझा जाता था (मनु० ८।३९)। यद्यपि मनुस्मृति ने यह कहा है कि राजा भूमि का अधिपति है, किन्तु इसका अभिप्राय स्वामी न होकर उसका पालन करने वाला ही है, क्योंकि राजा, चोर, डाकू आदि आन्तरिक उपद्रवों से और विदेशी शत्रुओं से भूमि की रक्षा करता था। इस पर स्वामित्व कृषक का ही होता था। इन दिनों जमींदारों जैसी कोई श्रेणी सम्भवतः नहीं थी। याज्ञवल्क्य (२।१५८) ने ठेके पर खेती कराने का संकेत किया है। शायद यह जमींदारी प्रथा का श्रीगणेश था। गाँवों के चारों ओर पशुओं के चरने के लिए सामूहिक चरागाह या परीहार छोड़ने की प्रथा थी (मनु० ८।१३७)। भूमि के विनिमय के लिये याज्ञवल्क्य के समय तक लेख की प्रथा आवश्यक हो गई थी। इस समय के अभिलेखों में दिये जाने वाले दानों की रजिस्ट्री करवाई जाती थी। गौतमीपुत्र सातकर्णि ने वैजयन्ती से भेजी हुई १८ वें वर्ष की अपनी एक आज्ञा में किसी खेत के लिये दान दिया है। इसके अंत में यह कहा गया है कि इसकी नियमपूर्वक रजिस्ट्री करवाई जानी चाहिये (ए० इ० रु० ८ पृ० ७१,७३)।

पशुपालन:—कृषि की भाँति यह कार्य उस समय वैश्य समाज का परम्परागत धंधा समझा जाता था। पेरिप्लस (पैरा० १४,४१) के वर्णन से यह प्रतीत

होता है कि पहली शताब्दी ई० पूर्व के उत्तरार्ध में काठियावाड़ (ऐरियाका) के आसपास के प्रदेशों में पशुपालन बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता था, इससे प्राप्त होने वाले पदार्थों का निर्यात प्रचुर मात्रा में पूर्वी अफ्रीका के प्रदेशों में किया जाता था। इस समय युद्धों में घोड़े अत्यंत उपयोगी थे। उत्तम नस्ल के घोड़ों को यद्यपि विदेशों से मंगाया जाता था, किन्तु पूर्वी भारत में घोड़ों की कुछ अच्छी नस्लें होती थी। महाभारत (३।५१।१५,३८) में यह बताया गया है कि प्राग् ज्योतिष के राजा ने तथा पूर्वी भारत के अन्य राजाओं ने राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर को विभिन्न प्रकार की बढ़िया नस्लों के घोड़े उपहार में प्रदान किये थे।

शिल्प तथा उद्योग-धंधे--(क) **श्रेणियाँ**--इस युग में मौर्यकाल की भाँति विभिन्न प्रकार के धन्धे और व्यवसाय करने वाले शिल्पियों की श्रेणियाँ विद्यमान थी और उनका संगठन पहले की अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं परिपक्व हुआ। व्यापार की आवश्यकताओं के कारण इस समय कुछ उद्योगों में बड़ी उन्नति हुई जातक-साहित्य में हमें १८ शिल्पों और श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। यह संख्या इस युग में भी इस प्रकार बनी रही, यद्यपि महावस्तु (खण्ड ३) में इनका स्वरूप जातकों में वर्णित श्रेणियों से कुछ भिन्न है। कुछ श्रेणियों का उल्लेख इस समय के अभिलेखों में भी पाया जाता है। महावस्तु (पृ० ११३, ४४२-३) में कपिलवस्तु की निम्नलिखित श्रेणियों का उल्लेख है--सौवर्णिक या हैरण्यिक (सुनार), प्रावारिक (चादर बेचने वाले), शांखिक (शंख का काम करने वाले), दन्तकार (हाथी-दांत के शिल्पी), मणिकार, (मनियारे), प्रास्तरिक (पत्थर का काम करने वाले), गन्धी, कौशाविक (रेशमी तथा ऊनी कपड़े वाले), घृतकुण्डिक (घी बेचने वाले), गुड़ विक्रेता (गौडिक), वारिक (पानी बेचने वाले) कार्पासिक (कपास बेचने वाले), दध्यिक (दही विक्रेता), पूपिक (पुए बेचने वाले), खण्डकार (खांड बेचने वाले), मोदकारक (लड्डू बेचने वाले), कण्डुक (हलवाई), समित कारक (आटा बनाने वाले), सत्तकारक (सत्तू बनाने वाले), फलवणिज (फलविक्रेता), चूर्णकुट्टतैलिक (सुगन्धित चूर्ण और तेल बेचने वाले), गुडपाचक (गुड़ बनाने वाले), सोंठ बेचने वाले, शर्करवणिज (शक्कर बेचने वाले), मूलवणिज (कन्द-मूल बेचने वाले), सीधुकारक (शराब बेचने वाले)। इन श्रेणियों के अतिरिक्त विभिन्न उद्योग धन्धे करने वाले कुछ वर्गों को उस समय शिल्पायतन कहा जाता था। इनमें लुहार, ताँबा पीटने वाले, ठठेरे, पीतल बनाने वाले, राँगे के कारीगर, शीशे का काम करने वाले तथा खराद चढ़ाने वाले मुख्य थे। अन्य शिल्पी कुम्हार, चर्मकार,

मालाकार, गद्दियों को भरने वाले (तुरिमकार), रंगरेज, सुईकार, तांती, चित्रकार, सोने चाँदी के गहने बनाने वाले, समुगें के कारीगर, पुताई करने वाले, नाई, स्थपति, सूत्रधार, कुएँ खोदने वाले, लकडी बास आदि का व्यापार करने वाले, नाविक, सर्वपधोवक (नदियो की बालू धोकर उसमे से सोना निकालने वाले या सोना साफ करने वाले) थे।

उन दिनो नगरो मे कुशल शिल्पियो का विशेष महत्व एव स्थान था। जो **सबसे** अच्छे कारीगर होते थे, उन्हें **महत्तर** कहा जाता था। (महावस्तु २।४६३–७७)। **सुवर्णकार–महत्तर** सोने के गहने बनाना था। वह गहनो की गढाई, बनवाई पालिश आदि के कामो मे बड़ा प्रवीण होता था। **मणिकार–महत्तर** मोती वैदूर्य, शंख, मूगा, यशब इत्यादि का पारखी होता था। **शंख-प्रलयकारमहत्तर** हाथीदाँत की खूटियाँ, अजनशलाका, पेटियाँ, सिगारदान, कडे चूडियाँ बनाता था। **यन्त्रकार-महत्तर** खराद पर चढाकर तरह-तरह के खिलौने, पखे, कुर्सियाँ, मूर्तियाँ बनाता था। **वार्धकि महत्तर** विभिन्न प्रकार की कुर्सियाँ, मंच, पीठ तथा अन्य फर्नीचर बनाने में चतुर होता था।

महावस्तु मे वर्णित उपर्युक्त श्रेणियो के अतिरिक्त अभिलेखो मे वर्णित कुछ अन्य श्रेणियाँ ये है—जुलाहे (कौलिकनिकाय), कुम्हार (कुलैरिक), पानी उठाने के यन्त्र बनाने वाले (औदयन्त्रिक), अनाज के व्यापारी (धन्यिक), बाँस का काम करने वाले (वसाकर), केमेरे (कसकार)। इन श्रेणियो का मुखिया श्रेष्ठि कहलाता था, इसके अधिकारो के संबध मे हमे कोई जानकारी नही है। किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि राजदरबार में इनका स्थान बडा महत्वपूर्ण होता था। महाभारत (३।२५०।१६) मे गन्धर्वों से हारने पर दुर्योधन ने कहा था कि अब मै श्रेणि-मुख्यों को कैसे मुंह दिखलाऊँगा। विनयपिटक (४।२०६) मे यह प्रतीत होता है कि एक ही पेशे (श्रेणी) के विभिन्न सदस्यो मे होने वाले झगडो मे पच का कार्य श्रेष्ठि किया करता था।

श्रेणियों के कार्य:—इन श्रेणियों का प्रधान कार्य अपने सदस्यो के हितों की सुरक्षा तथा अनुचित प्रतिद्वन्द्विता या होड को रोकना एव अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए आवश्यक कार्य करना था। इसके अतिरिक्त ये श्रेणियाँ बैकों का कार्य किया करती थी। इनके पास अक्षयनीवि अर्थात् कभी व्यय न किये जाने वाले मूलधन के रूप मे कुछ राशि जमा कर ली जाती थी, ताकि इसके सूद से कुछ कार्य किये जा सके। इस समय के अनेक अभिलेखो मे विभिन्न श्रेणियो

के पास विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति के लिए रुपये जमा करवाने का वर्णन मिलता है। नासिक की गुहा सं० १० में उत्कीर्ण एक लेख के अनुसार उषवदात ने यहाँ रहने वाले भिक्षुओं के वस्त्रादि के व्यय (चीवरक) तथा भोजन व्यय (कुशाणमूल) के लिये तीन हजार कार्षापण की स्थायी निधि (अक्षयनीवि के रूप मे गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियो के पास जमा किये, २००० कार्षापण की राशि जुलाहों (कौलिक निकाय) की एक श्रेणी के पास १२ प्रतिशत वार्षिक व्याज की दर पर तथा १००० कार्षापण ९ प्रतिशत व्याज की दर पर जमा किये। ये **अप्रतिवातव्य वृद्धि-योग्य** थे अर्थात् इन्हें कभी वापिस नही लिया जाता था, इनका व्याज ही लिया जाता था। दो हजार कार्षापण के वार्षिक व्याज से २० भिक्षुओ मे से प्रत्येक को बारह वस्त्र (चीवर) दिये जाने थे और १००० के व्याज से खाने-पीने की छोटी-मोटी वस्तुओ का व्यय। उषवदात के इस दान को निगम सभा मे सुनाया गया तथा लेखा रखने के दफ्तर मे तत्कालीन परम्परा और नियम (चरित्र) के अनुसार रजिस्टरी (निबद्ध) कराया गया। इस लेख से यह भी पता लगता है कि उस समय कार्षापण और सुवर्ण अर्थात् ताँबे और सोने के मूल्य का अनुपात ३५: १ था। यह लेख पहली श० ई० पू० का है। इस गुहा मे तीसरी श० ई० के आभीर राजा ईश्वरसेन के राज्यकाल के एक अभिलेख मे शक-उपासिका विष्णु-दत्ता द्वारा भिक्षु संघ को दवा-दारू (गिलानभेषज) के लिए कुम्हारो (कुलरिक) की श्रेणी के पास एक हजार कार्षापण की तथा पानी उटाने के यन्त्र बनाने वाली श्रेणी (ओदयन्त्रिक) के पास दो हजार कार्षापण जमा करवाने का वर्णन है। जुन्नर के तीन छोटे अभिलेखो मे बाँस का काम करने वालो (बसकर—बंश-

१ ए० इं० खं० ८, पृ० ८२; से० इं० पृ० १६४–६६, संस्कृत छायादत्ता चानेनाक्षयनीवि कार्षापण सहस्राणि त्रीणि३००० संघाय चार्तुदिशाय, या अस्मिन् लयने वसतां (भिक्षूणां) भविष्यति चैवरिकं (चीवरमूल्यं) कुशाणमूलं (कुशान्न-मूल्यं–अमुख्याहारम्)। कुशाणमूल के अर्थ के सम्बन्ध में डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर का मत यह था कि यहां कुशाण शब्द का अभिप्राय कुशाण सम्राटों के सिक्कों के आदर्श पर बनवाई गई नहपान की रजत मुद्राओं से है। किन्तु श्री दिनेश चन्द्र सरकार ने उषवदात के एक अन्य अभिलेख (से० इ० पृ० १६६) के आधार पर इसका अर्थ मुख्याहार से भिन्न नाश्ते आदि अल्पाहार का तथा अन्य छोटा-मोटा व्यय किया है। १००० कार्षापण के सूद से भिक्षुओं का यह व्यय पूरा किया जाता था।

कार), कसेरों (कामकार) तथा अनाज के व्यापारियों (धञ्जिकस्यक) की श्रेणियों के पास धन जमा करने का वर्णन है।

उपर्युक्त अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि श्रेणियों का कार्यक्षेत्र सातवाहन युग में पहले से बहुत अधिक बढ़ गया था। वे अपना धन्धा करने के अतिरिक्त वर्तमान बैंकों की भाँति लोगों का रुपया जमा करती थी और इस पर सूद देती थी। श्रेणियों की स्थिरता इतनी अधिक समझी जाती थी कि स्थायी रूप से जमा की जाने वाली धनराशियाँ अक्षयनीवि के रूप में इनके पास जमा की जाती थी, यहाँ तक कि राजा लोग भी अपने दान की ऐसी निधियाँ इनके पास जमा करवाते थे। उस समय की निगम सभायें अर्थात् नगरों की संस्थायें उनकी साख मानती थी, जिन धरोहरों की वे रजिस्ट्री करती थी, वे श्रेणियों में जमा की जा सकती थी। उस युग में श्रेणियों का प्रधान कार्य यद्यपि अपना व्यवसाय करना होता था, किन्तु इनकी साख और स्थिरता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि ये बैंकों का काम भी करने लगी थी। श्रेणियों ने यह कार्य इससे पहले किसी युग में नहीं किया था। इससे यह स्पष्ट है कि उनके इस कार्य का विकास सातवाहन युग में अभूतपूर्व समृद्धि और व्यापारिक उत्कर्ष का परिणाम था।

तत्कालीन स्मृतियों से और महाभारत से यह ज्ञात होता है कि इन श्रेणियों के अपने नियम हुआ करते थे। ये नियम **श्रेणी-धर्म** कहलाते थे (मनु० ८।४१)। एक श्रेणी के सदस्यों में विवाद उत्पन्न होने पर न्याय एवं निर्णय का कार्य श्रेणियाँ ही करती थी। मनुस्मृति (८।२१८–२२१) में उन लोगों के लिए दण्ड-विधान किया गया है, जो श्रेणी आदि सामूहिक संस्थाओं द्वारा किये गये समझौते का उल्लघन (समय-भेद या संविद् व्यतिक्रम) करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस प्रकार संविद् का उल्लघन करने वाले के लिए उसकी सारी जायदाद की जब्ती और देश निकाले के उग्र दंड का विधान किया गया है (२।१८७–९१)। अब इन श्रेणियों द्वारा किये जाने वाले प्रमुख उद्योगों में से कुछ महत्वपूर्ण व्यवसायों का यहां संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

वस्त्रोद्योग—यह भारत का एक पुराना और अतीव प्रसिद्ध उद्योग था। मौर्य युग में ही इस उद्योग में बड़ी उन्नति हो चुकी थी। इस युग में पिछले युगों की भांति रुई, अलसी, ऊन और रेशम के वस्त्र बनाये जाते थे। सूती वस्त्रों में इस समय बहुत बारीक मलमल और बढ़िया कपड़े बनते थे। दिव्यावदान (पृ० २७६) की एक कथा में कपड़ों के एक जोड़े का दाम एक हजार कार्षापण बताया गया है। उन

दिनों कुछ विशेष स्थानों पर वस्त्रोद्योग का अधिक विकास हुआ था। महाभारत (२।३०।२८), मिलिन्द प्रश्न (पृ० २, २२२), दिव्यावदान (पृ० ३१६) से यह ज्ञात होता है कि उन दिनों विभिन्न प्रकार के सूती वस्त्रों के लिए बगाल, काशी, अपरान्त और पाण्डय, तथा चोल राज्य प्रसिद्ध थे। पेरिप्लस ने सूती कपड़ो के कई प्रसिद्ध केन्द्रो का उल्लेख दिया है। उसके मतानुसार सबसे बढ़िया मलमल **गांगेय** (Gangetic) कहलाती थी, क्योंकि यह गगा की निचली घाटी मे विशेषतः बगाल प्रान्त मे तैयार की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि मध्य युग मे ढाका की मलमल को मिलने वाली ख्याति का श्रीगणेश इस युग मे हो चुका था। पेरिप्लस का वर्णन कौटिल्य के वर्णन से और परवर्ती इतिहास के वर्णनों से मेल खाता है। कौटिल्य ने लिखा है कि बग (पूर्वी बगाल) अपने सूती तथा अलसी के वस्त्रो के लिए प्रसिद्ध था और पुण्ड्र (उत्तरी बगाल) की प्रसिद्धि दुकूल और पत्रोर्णा के लिए थी। मध्य युग मे पूर्वी बगाल का ढाका अपनी मलमल के लिए विश्वविख्यात था। यहा अच्छी मलमल की कसौटी यह थी कि एक पूरे थान को अगूठी में से गुजारा जाए। यह मलमल इतनी बारीक, बढ़िया और हल्की होती थी कि इसे आबेरवा (बहता पानी) बाफ्तहवा (बुनी हुई हवा), ओस आदि के काव्यमय नाम दिये जाते थे। सातवाहन युग मे रोमन लोगो मे भी भारतीय मलमल बहुत लोकप्रिय हुई और वे इसे बुनी हवा का जाला (Ventus textilis nebula) कहते थे, रोमन सुन्दरियाँ इन वस्त्रों को धारण करने मे गौरव अनुभव करती थी। बगाल की मलमल के अतिरिक्त पेरिप्लस ने मलमल के कुछ अन्य प्रकारो और केन्द्रो का उल्लेख किया है। दक्षिण भारत मे चोल राज्य अपनी मलमल के लिए प्रसिद्ध था। उन दिनो त्रिचनापल्ली (उरैयूर) और तजौर वस्त्र व्यवसाय के सुप्रसिद्ध केन्द्र थे। शौफ (पृ० २४२) के मतानुसार इसमे कोई सन्देह नही था कि रोमन जगत् मे जो बढ़िया मलमल और वस्त्र पहुचते थे, उनका एक बड़ा केन्द्र चोल राज्य था। इसकी राजधानी उरैयूर को पेरिप्लस ने अरगुरु के नाम से लिखा है, इसीलिए यहाँ की मलमल अरगरिटिस (Argaritus) कहलाती थी। मलमल का तीसरा बड़ा केन्द्र आध्र प्रदेश था। यहा मसलिया (मछलीपट्टम्) का सुप्रसिद्ध बन्दरगाह था और इससे बहुत बडी मात्रा मे मलमल का निर्यात हुआ करता था। भृगुकच्छ या भडोच से रगीन कपडा (मैलोकलाथ) भी विदेशो मे भेजा जाता था। काठियावाड़ के आसपास के प्रदेश एरियाका (Ariaca) मे कपास की घटिया किस्म से बहुत बड़ी मात्रा में सादा सूती कपड़ा बनाया जाता था।

हाथी दांत का उद्योग—इसकी उन्नति महाभारत (२।५१।१६) और पेरिप्लस (पैं० ४७, ३२) के वर्णनों से सूचित होती है। राजसूय यज्ञ के समय प्राग्ज्योतिष के राजा ने युधिष्ठिर को हाथीदांत के मूठवाली सुन्दर तलवारें भेंट की थी। इस उद्योग का एक अन्य बड़ा केन्द्र मालवा था। साची के महास्तूप का एक तोरण विदिशा के दन्तकारों का दान था (ए०इ०२।२७८)। इस प्रदेश में बनी हाथीदांत की वस्तुओं का बेरिगाजा (भड़ोच) के बन्दरगाह से निर्यात होता था। उन दिनों हाथी दांत से तलवारों की मूठे, कंघियाँ, बालों के कांटे, आदि विभिन्न वस्तुएं बनाई जाती थी। तक्षशिला तथा रैढ़ की खुदाई मे हाथी दात के पासे और जूड़े के कांटे मिले हैं। इनसे संभवत. दर्पणों को पकड़ने के लिए हत्थे या मूठे भी बनाई जाती थी। इनका निर्यात रोम को होता था। ऐसा एक हत्था १९३८ मे पाम्पेई की खुदाई में मिला था।

धात्वीय उद्योग.—मौर्य युग के भारत के धात्वीय उद्योगो का विस्तृत ज्ञान हमे कौटिलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, किन्तु सातवाहन युग के उद्योगों तथा खनिज सपत्ति पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बहुत कम है। पेरिप्लस ने भारत के लौह उद्योग की प्रशसा की है। उसके मतानुसार भारत में लोहे और फौलाद की वस्तुए बड़ी अच्छी और उत्कृष्ट कोटि की होती थी और इतनी प्रचुर मात्रा मे बनाई जाती थी कि इनका निर्यात काठियावाड़ के प्रदेश या एरियाका (Ariaca) से पूर्वी अफ्रीका के देशों को किया जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय यहाँ लोहा पर्याप्त मात्रा मे मिलता था और लोह उद्योग विकसित दशा मे था। किन्तु लोहे के अतिरिक्त अन्य धातुओ का भारत मे अभाव था। प्लिनी ने यह लिखा है (२४। १७) कि भारत मे न तो कासा होता है और न ही सीसा। भारत इन धातुओं को अपनी बहुमूल्य मणियों और मोतियों के बदले विनिमय में विदेशो से प्राप्त करता है।

सोना:—उस समय भारत मे ताबे रागे, और सीसे के अतिरिक्त सोने की भी बड़ी कमी थी। उस युग मे सोने की प्राप्ति के दो प्रधान स्रोत थे—(क) पिपीलिका स्वर्ण (Ant gold), (ख) पूर्वी भारत का सोना। **पिपीलिका स्वर्ण** का बड़ा मनोरजक विवरण महाभारत के सभा पर्व (५२।२।४) मे दिया गया है। इसके बारे मे यह गप्प प्रसिद्ध थी कि इस सोने को चीटियाँ खानों से निकालती है। राजसूय यज्ञ के समय युधिष्ठिर को मेरु और मन्दार पर्वतो के बीच मे बहने वली शैलोदा नदी के तट पर रहने वाली खस जाति ने तथा अन्य जातियो ने उपहार के रूप मे पिपीलिका स्वर्ण भेंट किया था। मेगस्थनीज के विवरण के आधार पर

स्ट्रेबो ने इस प्रकार के सोने को दरद (Dardai) जाति के लोगों से पाने का वर्णन किया है। टार्न ने इस विषय में प्रचलित विभिन्न दन्तकथाओ पर विचार करने के बाद यह मत प्रकट किया है कि पिपीलिका-स्वर्ण का अभिप्राय चीटियो के समान छोटे-छोटे कणों मे नदियो की बालू मे मिलने वाला सोना था और महाभारत मे वर्णित यह सोना एशिया की कई जातियो द्वारा साइबेरिया की नदियों से लाया जाता था। इसे लाने वाले सोने की प्राप्ति का अपना स्रोत अन्य व्यापारियो से छिपा कर रखना चाहते थे। अत. उन्होंने इस विषय मे अनेक विचित्र प्रकार के कथानक गढ़ लिये थे।[1]

सोने का दूसरा स्रोत पूर्वी भारत के कुछ प्रदेश थे। महाभारत के सभापर्व (२।३०।२७) मे बगाल के म्लेच्छ राजाओ द्वारा युधिष्ठिर को सोने की भेंट देने का वर्णन है। पेरिप्लस (पैरा ६३) ने गगा नदी के निचले भाग में सोने की खानो का उल्लेख किया है। आसाम और उत्तरी बर्मा कुछ नदियो की बालू मे सोना पाया जाता था। यूनानी लोग पटना के निकट गगा नदी मे मिलने वाली सोन नदी को एरेन्नोबोअस (Erannoboas) कहते थे। इसकी व्युत्पत्ति हिरण्यवह अर्थात सोने को लाने वाली नदी के रूप मे की जाती है, सभवत: इसके किनारे की बालू मे पाये जाने वाले स्वर्ण कणो के कारण से इसे यह नाम दिया गया था। इसी कारण शाफ ने पेरिप्लस द्वारा वर्णित सोने की खानों का स्थान छोटा नागपुर के पठार मे गगा नदी के मुहाने के पश्चिम मे ७५ से १५० मील के बीच मे माना है। प्लिनी के कथनानुसार मलाबार के समुद्र तट पर भी सोना मिलता था। यह सभवत मैसूर मे कोलार की खानो से आने वाला सोना था, किन्तु इस विषय मे वाट ने यह सत्य ही लिखा है कि भारत मे सोने की उत्पत्ति बहुत कम होती थी और यह सदैव विदेशो से आने वाला एक महत्वपूर्ण पदार्थ रहा है (शाफ पृ० २५८-९)। इस युग मे पेरिप्लस के (पैरा ३६) मतानुसार यह ईरान की खाड़ी से पश्चिमी भारत मे मगाया जाता था।

सोने व चाँदी आदि विभिन्न धातुओं से बनाये जाने वाली वस्तुओं का इस युग के साहित्य मे पर्याप्त वर्णन मिलता है। चरक (सूत्रस्थान ५।७१) तथा सुश्रुत (सूत्रस्थान ८।२९) मे सोने, चाँदी, ताबे और कासे के अनेक उपकरण बनाने का उल्लेख है। इस समय के नगरो के वर्णनो मे प्राय. सोने, चादी का काम करने

१. टार्न : ग्रीक्स इन इण्डिया एण्ड बैक्ट्रिया, पृष्ठ १०६-८।

वाले स्वर्णकारों का उल्लेख मिलता है (रामा० २।८३।१२, मिलिन्द, पृ० ३३१) भीटा, रैढ़ तथा तक्षशिला की खुदाइयों से इस युग के विभिन्न स्वर्ण भूषण एव चादी के गहने मिले हैं। तक्षशिला में सिरकप से सोने की बनी कानों की बालियाँ और बुन्दे, चूड़ियाँ, चादी के पायजेब, प्लेटें और प्याले मिले है। भीर के टीले से प्राप्त स्वर्णाभूषणो की कारीगरी बहुत बढ़िया दर्जे की है।[1]

मुक्ता एवं रत्नोद्योग:—ईसा की पहली शताब्दियो मे रोमन साम्राज्य के वैभव-सम्पन्न नागरिकों मे मोतियो और मणियो के आभूषण धारण करने का फैशन बहुत बढ़ गया था। इसके परिणामस्वरूप वहां भारत से आने वाले मोतियो और रत्नो की माग निरन्तर बढ रही थी, अत. भारत मे इनके उत्पादन और निर्यात पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। पेरिप्लस के वर्णनानुसार (पैरा ४५, ४६) पहली शताब्दी ई० मे भारत मे मोतियो के उत्पादन के चार बडे प्रसिद्ध केन्द्र थे। पहला केन्द्र पाण्ड्य राज्य मे ताम्रपर्णी नदी के निकट कोरकै (Colchi) तथा दूसरा केन्द्र मनार की खाड़ी और तीसरा पाक जलडमरूमध्य मे था। इन क्षेत्रो पर राज्य का एकाधिपत्य था। मनार की खाड़ी के मोती अपराधियो द्वारा निकलवाये जाते थे और इन स्थानों की सारी उपज राजधानी मे लाई जाती थी। चौथे केन्द्र बगाल मे भी मोती निकाले जाते थे। मुक्ता-उत्पादन का एक अन्य केन्द्र प्लिनी ने पेरिमूल नामक स्थान बताया है। इसकी पहचान पश्चिमी समुद्र-तट पर बम्बई के निकट आधुनिक चोल-नामक स्थान से की गई है। इसका पुराना नाम सैमिल्ला था।

सातवाहन युग मे भारत अपने बहुमूल्य रत्नों और मणियो के लिए प्रसिद्ध था। प्लिनी (२७।७६) ने ऐसे रत्नो की लम्बी सूची देते हुए यह लिखा है कि भारत अतीव मूल्यवान रत्नो की महान जन्मभूमि है। उसका यह कथन हमे भारत के सबध मे खलीफा उमर को कही गई एक अरब व्यापारी की इस उक्ति का स्मरण कराता है कि भारत की नदियाँ मोती है, पर्वत लाल है और वृक्ष इत्र है। प्लिनी ने भारतभूमि को रत्नधात्री मानते हुए यहा के अनेक रत्नो का वर्णन किया है, इनमे ये उल्लेखनीय है: पन्ना (Beryl), उत्पल (Opal), गोमेद (Agate), ओनिक्स (Onyx), सार्डोनिक्स (Sardoyx), कार्बंकल (Carbuncle), कार्नेलियन (Carnelian), एमिथिस्ट (Amethyst), हिआसिन्थ (Hyacinth)। इनमे से कुछ के स्वरूप के सबध मे बड़ा मतभेद है। यहाँ कुछ महत्वपूर्ण एव प्रधान रत्नो का ही वर्णन किया जायगा।

१. मार्शल—गाइड टू टैक्सिला, तृतीय सस्करण, पृ० ५०, ६३–८, ६७,१४६।

टालमी के कथनानुसार उन दिनों हीरो का प्रधान उत्पत्ति-स्थान कोस नामक नगर, सबराई का प्रदेश और एडमास नदी का मुहाना था। इनकी पहचान क्रमशः वर्धा नदी वाले बरार के प्रदेश, सबलपुर के प्रदेश और वैतरणी नदी की सांक नामक शाखा से की गई है। मध्य युग मे हीरो की उत्पत्ति का प्रधान स्थान मध्य भारत की खाने थी। किन्तु रोमन साहित्य मे इसका कोई बडा उल्लेख नही मिलता। उम समय रोम मे भारतीय पन्ने की माग अधिक थी। टालमी ने पोन्नाटा नामक स्थान को इसका प्रधान उत्पत्ति-केन्द्र माना है। इसकी पहिचान कोयम्बटूर जिले के एक स्थान से की जाती है। वस्तुत उन दिनो इस जिले के पन्ने की मांग रोम में बहुत अधिक थी और मलाबार के बन्दरगाहो से इसका निर्यात हुआ करता था। प्लिनी (३७/-२०) ने लिखा है कि पन्ना भारत के अतिरिक्त अन्य स्थानो मे बहुत कम मिलता है। मणिकार इसे षट्कोण के रूप मे इस प्रकार काटते हैं कि विभिन्न कोणो से इसकी चमक बहुत बढ जाती है। यदि इन्हें किसी अन्य ढग से काटा जाय तो इनमे कोई भी चमक नही रह जाती हैं। सबसे अधिक मूल्यवान वे पन्ने समझे जाते है जिनका रग समुद्र के विशुद्ध हरे रग से मिलता है। भारत मे लोगों को लम्बाकार पन्ने धारण करने का शौक है और उनके मतानुसार केवल यही ऐसे रत्न है जिन्हें सोने के बिना भी धारण किया जा सकता है। पेरिप्लस ने गोमेद (Agate) और कार्नेलियन (Carnelian) के बारे मे यह लिखा है कि ये दक्षिण मे पाये जाते है और वहा से पश्चिमी देशो को भेजे जाते है। टालमी के मतानुसार भारत मे सार्डोनिक्स नामक पर्वत मे इसी नाम के रत्न पाये जाते है। इस पर्वत को पहिचान सतपुड़ा पहाड़ से की जाती है।

भारत मे पाये जाने वाले रत्नो के वैविध्य और विदेशो मे इनकी भारी मांग होने के कारण यहा रत्नोद्योग का अच्छा विकास हुआ था। उन दिनो भारत में सुशिक्षित एव सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह विभिन्न प्रकार के रत्नो की परीक्षा करने मे कुशल हो। दिव्यावदान (पृ०२६,१००) से यह ज्ञात होता है कि उन दिनो व्यापारियो के पुत्रो को इस कला की नियमित रूप से शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन (१।३।१६) ने अपनी चौसठ कलाओ (अंगविद्या) मे रूप्य रत्नपरीक्षा को भी सम्मिलित किया है। इस समय के जौहरियों की कुशलता का प्रमाण हमे कुषाण काल के प्राचीन स्थानो की खुदाई से मिले विभिन्न प्रकार की मणियो के नमूनो से मिलता है। तक्षशिला की खुदाई से निम्न प्रकार के रत्नो के नमूने मिले हैं—स्फटिक (Crystal), धारीदार गोमेद

(Banded agate), याकूत (Garnet), एमिथिस्ट (Amethist), **एक्वामेरीन** (Aquamarine), पीला स्फटिक (onyx) । ये सब तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप की खुदाई से मिले है ।[1] सगम युग के तामिल साहित्य से भी यह सूचित होता है कि उस समय रत्नो एव मणियो का उद्योग बड़े उत्कर्ष पर था ।

आन्तरिक व्यापार—व्यापारियो के दो वर्ग–(क) वणिक्-उद्योग-धन्धो की उन्नति के कारण इस समय देश के आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार को भी बड़ा प्रोत्साहन मिला । तत्कालीन साहित्य मे अनेक प्रकार के व्यवसायियो और व्यापारियो के वर्णन मिलते हैं । उस समय के व्यापारियो के दो बड़े वर्ग उल्लेखनीय हैं । पहले वर्ग के व्यापारी वणिक् कहलाते थे । ये एक स्थान या दुकान पर बैठ कर अपना माल बेचा करते थे । महाभाष्यकार ने लिखा है कि वणिक् का तराजू के साथ गहरा सबध था । उन दिनो ब्राह्मण लोग वणिक् व्यवसाय मे बहुत कम प्रवृत्त होते थे। पतजलि ने लिखा है कि उड़द के समान काले रगवाले आदमी को दुकान मे बैठा देखकर कोई यह नहीं समझेगा कि वह ब्राह्मण है ।[2] वणिक् लोग नाना प्रकार की वस्तुओ के क्रय-विक्रय से अपनी जीविका का निर्वाह करते थे। उस समय विशेषीकरण की प्रवृत्ति प्रबल थी । विशिष्ट वस्तुओ का व्यापार करने के आधार पर इन व्यापारियो के नाम पड जाते थे, जैसे घोड़ो का व्यापारी **अश्ववाणिज**, गौओ का व्यापारी **गोवाणिज**, बास का व्यापारी **वंशकठिनिक** । ये व्यापारी मद्र, कश्मीर आदि दूरवर्ती प्रदेशो से अपना माल मंगाने के कारण मद्रवाणिज, कश्मीर-वाणिज (काशिका ६।२।१३) कहलाते थे । खनिज द्रव्यो और पत्थरो का व्यापार करने वाला व्यवसायी प्रास्तारिक (का० ४।४।७२) कहलाता था । कपड़ा बेचने वाले उन दिनो वर्तमान समय की भाति बनारस का बढ़िया माल (काशिकावस्त्र) रखा करते थे ।[3]

(ख) **सार्थ**—व्यापारियो का दूसरा प्रधान वर्ग-सार्थ कहलाता था । उन दिनो

---

१ मार्शल-गाइड टू तक्षशिला । तृतीय संस्करण पृ० ४३ । भारतीय साहित्य में विभिन्न रत्नों की सूची के लिए देखिये–मिलिन्द प्रश्न पृ० ११८, २६७, कल्प-सूत्र लाइन्स ग्राफ जिनास पृ० ४५, ६०; ग्राचारांग सूत्र २।१५।१०; उत्तराध्ययन सूत्र ३६।७५ ।

२. महाभाष्य २।२।६—न ह्ययं कालं माषराशिवर्णम् ग्रापरणे आसीनमध्यवस्यत्यं बाह्मरणः इति ।

३. ललितविस्तर ग्रध्याय १५ ।

एक स्थान से दूसरे स्थान तक व्यापारिक माल ले जाने में चोर-डाकुओ, तथा जंगली जानवरो के कई प्रकार के खतरे होते थे, अत. व्यापारी अकेले यात्रा करना निरापद नही समझते थे । वे अपनी सुरक्षा के लिए बड़े-बड़े समूहो या काफिलो में यात्रा किया करते थे । इन समूहो को उससमय सार्थ कहा जाता था । सार्थ बना कर चलने वाले व्यापारी सार्थिक या सार्थवाह कहलाते थे । अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी (३।९।७८) ने इस सशब्द की सुन्दर व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो पूंजी द्वारा व्यापार करने वाले यात्रियो (पान्थो) का अगुआ हो वह सार्थवाह है। (सार्थान् सधनान् पान्थान् वहति इति सार्थवाहः) । वस्तुत सार्थ का अभिप्राय है समान अर्थ (पूजी) लगा कर चलने वाले व्यापारी । जो व्यक्ति बाहर मडियो के साथ व्यापार करने के लिए अपनी पूजी लगाकर एक साथ टाडा लाद कर चलते थे, वे सार्थ कहलाते थे । हिन्दी का साथ शब्द संस्कृत के इसी सार्थ से निकला है । उस समय जब कोई उत्साही और साहसी व्यापारी व्यापार के लिए सकल्प करता था तो उसके साथ अन्य अनेक व्यक्ति भी सम्मिलित हो जाते थे । ये सब मिल कर व्यापारियो के एक बड़े काफिले या सार्थ का निर्माण करते थे । ये सार्थ अपने एक बड़े नेता या अध्यक्ष (सार्थवाहजेठक या प्रमुख) के नेतृत्व मे मरुभूमियो और जगलो की लम्बी दूरियो को पार किया करते थे । उन दिनो यदि कोई व्यापारी कभी अकेला भी चल पड़ता था तो घना जंगल या कान्तार आने पर रुक जाता था और किसी सार्थ की प्रतीक्षा करता था । किसी सार्थ के वहा आने पर उसमे सम्मिलित हो जाता था और उस कान्तार से निकल जाने पर वह फिर उस सार्थ को छोड कर स्वतन्त्र रूप से चलने लगता था ।[1] उन दिनो चोर और बटमार इन जंगलो मे मार्गों के किनारे छिपकर बैठ जाते थे और अकेले दुकेले निकलने वाले वणिजो को लूट लेते थे । इस प्रकार के चोर को पारिपन्थिक या बटमार कहा जाता था (महाभाष्य ४।४। ३६) । घने जगलो या कान्तारो मे होने वाली लूटपाट से बचने के लिए व्यापारी सार्थों मे बड़े समूह बनाकर चला करते थे । निरन्तर एव सततरूप से इस प्रकार के साथ-साथ चलने वाले वणिजो को **अपरस्पर सार्थ** कहते थे (महाभाष्य ६। १।४४) । सार्थ का नेता बडा उत्तम मार्ग - प्रदर्शक (Carvan leader) होता था और उसके संबन्ध मे यह समझा जाता था कि उसे जगलो के विभिन्न

---

१ **महाभाष्य १।१।७४ , कश्चित्कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते । स यदा निष्कान्तारीभूतो भवति तदा सार्थं जहाति ।**

शास्त्रों का पूरा ज्ञाता, मेधावी और निपुण व्यक्ति होना चाहिये।[१]

मिलिन्द प्रश्न (पृ० १९५) में सार्थों के कुछ नियम दिये गये है। इनसे ज्ञात होता है कि इनमे व्यापारी अपनी ही जिम्मेवारी पर सम्मिलित हुआ करते थे और रास्ते मे बांसो के पुल आने पर अपना माल उतारने से पहले वे इन पुलों की मजबूती की परीक्षा कर लिया करते थे। इन सार्थो मे यात्रियो का सामान लाद कर चलने वाली बैलगाडियो की सख्या बहुत अधिक हुआ करती थी। (मिलिन्द प्रश्न (पृ० १७) मे पाटलिपुत्र जाने वाले एक व्यापारी के साथ पाच सौ बैलगाडियो के काफिले का उल्लेख है। इन दिनो व्यापारी लोग सार्थों मे देश के एक छोर से दूसरे छोर तक लम्बी यात्राए किया करते थे। इनके तक्षशिला से वाराणसी तक आने का वर्णन मिलता है।[२] अवदानशतक मे कहा गया है कि ये व्यापारी उत्तर से दक्षिण तक जाया करते थे।[३] डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इस समय के व्यापारियो और सार्थवाहों का वर्णन करते हुए लिखा है—"भारतीय व्यापारिक जगत् मे जो सोने की खेती हुई उसके फूल, पुष्प चुनने वाले व्यक्ति सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी सत्य मे निष्ठावान, साहस के भण्डार व्यावहारिक सूझबूझ मे पगे, हुए, उदार, दानी धर्म और संस्कृति मे रुचि रखने वाले, नई स्थिति का स्वागत करने वाले, देश विदेश की जानकारी के कोष, यवन, शक, पह्लव, रोमक, ऋषिक, हूण आदि विदेशियों के साथ कन्धा रगड़ने वाले, उनकी भाषा, रीति नीति के पारखी भारतीय सार्थवाह महोदधि (बगाल की खाड़ी) के तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से लेकर सीरिया की अन्ताखी नगरी (Antiochos) तक, यवद्वीप और कटाह द्वीप (जावा और केडा) से चोल मडल के सामुद्रिक पत्तनो तक और पश्चिम मे यवन एव बर्बर देशों तक के विशाल जल-थल पर छा गये थे।[४]

इनके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के व्यापारी समुद्री व्यापार किया करते थे। इनका परिचय हमे बौद्ध एवं जैन साहित्य मे वर्णित कोटिकर्ण, पूर्ण, ज्ञाताधर्म, सानुदास आदि व्यापारियो की कथाओं से होता है। समुद्र-यात्रा पर प्रस्थान करने से पूर्व प्राय. एक व्यापारी नगर में घन्टा बजाकर यह घोषणा करवाता था कि वह विदेश-यात्रा के लिए रवाना होने वाला है, अन्य जो व्यापारी उसके साथ जाना चाहते

१. सौन्दरनन्द १८।५०।
२. महावस्तु २, पृ० ६६।
३ अवदानशतक ८७ पृ० १०३ मध्यदेशाद्वाणिजो दक्षिणापथं गता.।
४. मोतीचन्द-सार्थवाह पृ० २।

हों वे भी उसके साथ चल सकते है। इस प्रकार प्रयास करने वाले भारतीय व्यापारी स्वदेश और विदेश के बन्दरगाहो मे बहुत दूर-दूर तक के स्थानों की यात्रा किया करते थे। मिलिन्द प्रश्न (पृ० ३५९) मे इस प्रकार के एक व्यापारी द्वारा समुद्रों मे अपना जहाज चलाते हुए वंग, तक्कोल, चीन, सौवीर, सुरठ, अलसन्द, कोलपट्टन, सुवर्ण भूमि तथा अन्य बन्दरगाहो का भ्रमण करने का उल्लेख है। महानिद्देस में यह कहा गया है कि एक व्यापारी अनेक कष्टों को सहते हुए गुम्ब, तक्कोल, तक्कसिला, कालमुख, मरणपार, वेमुग, वेरापथ, जव, तमली, बग, एलबद्धन, सुवण्णकूट, तम्बपण्णि, भरुकच्छ, गगण, परमगगण, योन, परमयोन, अलसन्द, मरुकन्तार, जवण्णुपथ, अजपथ, मेण्डपथ, सकुपथ, भूमिकपथ और वेत्ताधार मे घूमा, पर उसे कहीं शांति नहीं मिली। महानिद्देस के इन बन्दरगाहो का पूरी तरह से स्पष्टीकरण नही हो सका है, फिर भी यह प्रतीत होता है कि ये सुदूरपूर्व से आरम्भ होकर पश्चिम में समाप्त होते थे। इनमे जव (जावा), सुपार (सुपारा), भरुकच्छ (भड़ोच) सुरठ (सौराष्ट्र का कोई बन्दरगाह), योन (यूनानी जगत का बन्दरगाह), अलसन्द (सिकन्दरिया) उल्लेखनीय है।[1] वसुदेवहिण्डी मे चारुदत्त नामक एक ऐसे व्यापारी की कहानी है जिसने अपनी यात्रा पहले तो प्रियगुपट्टन (बंगाल के एक बन्दरगाह) से चीन तक की, वहा से वह लौटते हुए जावा, सिहल और सिंध के प्रसिद्ध बन्दरगाह बर्बर (बर्बरिकम्) पहुचा। यहा सिन्धु-सागर सगम से उसने सिन्ध नदी के साथ-साथ ऊपर की ओर चलते हुए वैताढ्य (नाशकुरगान), विजया नदी (सीर), इषुवेगा (वंक्षु) नदियों के प्रदेशों की यात्रा की। सानुदास की कथा भी सुवर्णद्वीप और मध्य एशिया के विभिन्न व्यापारिक स्थानो का वर्णन करती है। आर्यशूर की जातकमाला के सुपारग जातक मे **सुपारग** अर्थात् जहाजरानी की कला मे और समुद्र पार करने की यात्राओं मे कुशल व्यापारी की एक बड़ी साहसिक और चमत्कारपूर्ण कथा का वर्णन है। इसमे भीषण समुद्री तूफानो का सामना करते हुए यात्रियों द्वारा खुरमाल, दधिमाल, कुशमाल, नलमाल आदि समुद्रो को पार करने के बाद सोने चादी और विभिन्न रत्नो को लाने का वर्णन है। इन समुद्रो की पहिचान फारस की खाडी, लाल सागर और भूमध्यसागर के विभिन्न प्रदेशों से की गई है।[2] दिव्यावदान में कोटिकर्ण नामक व्यापारी की कथा में समुद्र-यात्रा मे आने वाले सकटों का सुन्दर वर्णन किया गया है।

---

१. सिलव्यां लेवी ने इन बन्दरगाहो की विस्तृत मीमांसा एतव ओसियातीक के भाग २ में पृ० ५५ तक की है।

२. डा० मोतीचन्द-सार्थवाह, पृ० १४८।

समुद्री यात्रा के लिए जब जहाज पर बहुत अधिक भीड एकत्र हो गई तब पूर्ण ने लोगों से कहा कि "समुद्र में अनेक अनजाने भय है, वहा तिमि और तिमिगल नाम के बड़े समुद्री जन्तु रहते हैं, बडे-बड़े कछुए दिखलाई देते हैं ऊची-ऊची लहरे उठती हैं। जहाज कभी-कभी पानी के नीचे छिपी चट्टानो से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं। यहां तूफानो (**कालिकावात**) का भी भय रहता है। समुद्री डाकू नीले कपड़े पहन कर जहाजों को लूटते रहते है।" जैन साहित्य मे भी बौद्ध सहित्य की भाँति भारत के समुद्री यात्रियों के अनेक सजीव वर्णन मिलते है। **आवश्यक चूर्णि** से यह ज्ञान होता है कि दक्षिण भारत के मदुरा नामक बन्दरगाह से सुराष्ट्र (काठियावाड) तक जहाज चला करते थे। ज्ञाताधर्म की एक कथा मे भारतीय व्यापारियो द्वारा सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप (संभवत जजीबार) की यात्राओ का वर्णन मिलता है। समुद्र-यात्रा के कुशलतापूर्वक सम्पन्न होने का प्रधान कारण अनुकूल वायु होती थी। समुद्री यात्रा (संयात्रा) करने वाले जहाजो के अध्यक्षो (नियामकों) के लिए १६ प्रकार की समुद्री हवाओं का ज्ञान आवश्यक समझा जाता था।[1] जैन साहित्य में समुद्री यात्रा की विभिन्न परिभाषाओं और विभिन्न प्रकार के बन्दरगाहो का भी उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ बृहत्कल्पसूत्र भाष्य के अनुसार **जलपट्टन** ऐसे समुद्री बन्दरगाह होते थे जहाँ विदेशी माल उतारा जाता था और देशी माल का चालान होता था। **स्थलपट्टन** ऐसे स्थानो को कहते थे जहा बैलगाडियो से माल उतरता था। द्रोणमुख ऐसे स्थान थे जहां जल और स्थल दोनो से माल आता था, जैसे ताम्रलिप्ति और भरुकच्छ। **निगम** व्यापारियो की ऐसी बस्ती को कहते थे जहा लेन-देन और व्याज-बट्टे का काम होता था। सार्थों की बस्तियो और पडावों को **निवेश** कहा जाता था। जिन स्थानों में बडी मात्रा मे थोक माल बड़ी बडी गाठों मे आता था और उसे छोटे व्यापारियो को बेचने के लिए माल की गाठें तोडी जाती थी उन स्थानो को **पुटभेदन** (एम्पोरियम, Emporium) कहा जाता था। शाकल की सुप्रसिद्ध नगर इसी प्रकार का पुटभेदन था। महावस्तु के अनुसार जिस स्थान से सुवर्ण द्वीप आदि जानेवाले जहाज गहरे समुद्रो मे प्रविष्ट होते थे उसे समुद्रपट्टन कहते थे।

बन्दरगाह—इस समय विदेशो के साथ व्यापार में वृद्धि होने पर भारत के पश्चिमी और पूर्वी समुद्र तटों पर अनेक बन्दरगाहो का विकास हुआ था। इनका परिचय हमें पेरिप्लस और टालमी के विवरणो से मिलता है। पेरिप्लस ने पहली शताब्दी ई० मे सिन्धु नदी के मुहाने से गंगा के डेल्टे तक २२ बन्दरगाहों का उल्लेख किया

१. डा० मोतीचन्द-सार्थवाह, पृ० १७२।

है, टालमी ने दूसरी श० ई० मे ४० पत्तनों का वर्णन किया है। यह तथ्य एक ही शताब्दी में तत्कालीन व्यापार के उत्कर्ष पर सुन्दर प्रकाश डालता है। पेरिप्लस के लेखक ने स्वयमेव भारत के पश्चिमी तट के बन्दरगाहों की यात्रा की थी। उसके विवरण से तत्कालीन व्यापारिक दशा पर सुन्दर प्रकाश पडता है। पश्चिमी तट से पूर्वी तट की ओर यात्रा करते हुए उस समय के प्रधान बन्दरगाह निम्नलिखित थे--पहला बन्दरगाह सिन्धु नदी के मुहाने के मध्य मे बार्बरिकोन था। इसका भारतीय नाम सभवत बर्बरक था, क्योंकि यहा से बर्बर या अफ्रीका के विभिन्न प्रदेशों की यात्रा के लिए व्यापारी रवाना होते थे। बार्बरिकोन सिन्धु देश का प्रधान बन्दरगाह था। विदेशो से आने वाला माल यहां जहाजो मे उतार कर किश्तियो में लादा जाता था और सिन्ध की राजधानी मीननगर (पातल) ले जाया जाता था। पेरिप्लस के समय यहां पहलव (Indo – Parthian) राजाओ का शासन था। इस बन्दरगाह से काश्मीर से आने वाला कुट (Costus) और चीन से आने वाले रेशम, नील, विभिन्न प्रकार के रत्नो, खालों का निर्यात होता था। यहां से बाहर जाने वाले अन्य पदार्थ गुग्गुल, दारुहरिद्रा (Lycium), गन्धतृण (Nard) तथा फिरोजा (Turquoise) और लाजवर्द (Lapis lazuli) थे। आयात की जाने वाली वस्तुओ मे भूमध्यसागर का मूगा, अरब का लोबान (Frankincense), एक प्रकार का सुगन्धित निर्यास स्टोरेक्स (Storax), शीशे के बर्तन, शराब, सोने-चादी की प्लेटे तथा पुखराज (Topaz) थे।

इसके बाद दूसरा बडा बन्दरगाह बेरीगाजा था। यह नर्मदा नदी के सागर मे मिलने वाले स्थान पर वर्तमान भडोच है। उन दिनो यहा नम्बेनस (Nambanus) नामक राजा का शासन था। इस राजा के लिए विदेशों से चादी, बहुमूल्य पात्र, गाने वाले लडके, अन्त पुर के लिए सुन्दर स्त्रिया, बारीक कपड़े और बढिया शराबें भेट के लिए लाई जाती थी। विदेशी शराबों मे इटली की, अरब की और सीरिया के लाओडिसिया (Laodicea) नामक स्थान की शराब बहुत पसन्द की जाती थी।[१] इसके अतिरिक्त यहा सोने और चादी की मुद्राए, तांबा, रांगा, सीसा, मूगा,

१ यह नगर सीरिया के समुद्री तट पर एण्टियोक से ६० मी० दक्षिण में आधुनिक लैटकिया (Lathia) नामक नगर है। स्ट्रैबो (१६।२।६) ने इसके बन्दरगाह की और शराब की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि इसके पीछे का समूचा पहाड़ अंगूर की लताओं से पूरी तरह ढँका हुआ है, अधिकांश शराब सिकन्दरिया भेजी जाती है।

कमरबन्द या रंगीन पेटियां, मन्सल (Realgar), सखिया, स्वीट क्लोवर (Sweet clover), चकमक के चूर्ण से बनाया जाने वाला विशुद्ध चमकीला शीशा (Flint glass) थे। यहाँ से निर्यात की प्रधान वस्तुएं बालछड या जटा-मांसी (Spikenard), गुग्गुल, कुठ, हाथीदात, गोमेद (Agate) कार्नेलियन और दारुहरिद्रा (Lycium), सब प्रकार का सूती कपडा, मलमल, रेशम, सूत और बड़ी पिप्पली था। इस बन्दरगाह मे जहाजों को उथले पानी (Shoals) के कारण बड़ी दिक्कत रहा करती थी। बेरीगाजा तक पहुचने वाली जलप्रणाली बहुत पतली थी, नर्मदा के मुहाने पर पानी मे छिपा लम्बा, पतला और पथरीला कगार था। पानी उथला होने से समुद्री धाराओं के प्रवाह मे सहसा परिवर्तन आ जाने से यहां नौचालन बड़ा कठिन कार्य था (पेरि० ४३)। इन सब कठिनाइयों से जल्पोतों की रक्षा करने के लिए त्राप्पग और कोटिम्बा नामक बडी-बडी नावों मे नाविक राज्य को ओर से नदी के मुहाने पर तैनात रहा करते थे। ये नाविक समुद्र मे उत्तर की ओर चलकर काठियावाड तक पहुँच जाते थे। यहा मे ये बेरीगाजा आने वाले जहाजों का पथ-प्रदर्शक बनते थे, इन्हें खाडी के मुहाने मे पानी मे छिपे कगार से बचाकर बन्दरगाह की गोदियों मे सुरक्षित रूप से पहुचा दिया करते थे। उन दिनों राजाओं को इस बन्दरगाह के समुद्री व्यापार मे बड़ी आमदनी होती थी। अतः वे यहाँ तक जहाजों के पथ-प्रदर्शन के लिए विशेष नाविक भेजा करते थे। बेरीगाजा के बाद अगले बडे बन्दरगाह सोपारा, कल्याण (Calliana) और सेमिल्ला (चोल) थे। ये सब दक्षिणापथ के बन्दरगाह कहलाते थे। यहा पेरिप्लस ने अन्य अनेक छोटे बन्दरगाहो और टापुओ का वर्णन किया है। ये सब उस समय के सात-वाहन साम्राज्य मे सम्मिलित थे और इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

इसके पश्चात् तामिल देश (Damirica) शुरू हो जाता था। इसका सबसे बडा बन्दरगाह मुजिरिस (Muziris) था। इसकी पहिचान आधुनिक क्रांगनोर से की जाती है। महाभारत (२।२७।४५) मे इसे मुचिरिपट्टन कहा गया है। यह कालीमिर्च के व्यापार का एक प्रधान केन्द्र था। प्राचीन तामिल कवियो ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि यहां यवनो के सुन्दर और बडे जहाज केरल की सीमा के भीतर फेनिल पेरियार नदी का पानी काटते हुए सोना लाते है और यहां से अपने जहाजों पर मिर्च लादकर ले जाते है। एक दूसरे कवि के शब्दों मे मुचिरी में धान और मछली की अदला-बदली होती है। यहा घरो से बाजारों में मिर्च के बोरे लाये जाते हैं। इसके बदले मे सोना जहाजो से डोंगियों पर लाद कर

लाया जाता है, यहां लहरों का संगीत कभी बन्द नही होता । मुजिरिस केरल राज्य का सबसे बड़ा बन्दरगाह था । यहां रोमन सम्राट आगस्टस की स्मृति में एक मदिर विद्यमान था ।

इसके बाद पाण्डय राज्य के प्रसिद्ध बन्दरगाह पश्चिमी तट पर नीलकण्ठ (नेल किण्डा) और बकरे (अलेप्पी के निकट पोरकड) थे । प्लिनी के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि कालीमिर्च के व्यापार पर अधिकार पाने के लिए केरल एवं पाण्डय राज्यो मे बडी तीव्र प्रतिस्पर्धा थी । मुजिरिम मे समुद्री डाकुओं का आतक बढ़ने के कारण व्यापारी नेलकिण्डा (सम्भवत कोट्टायम के निकट नीलकण्ठ) आना अधिक पसन्द करते थे । पहली शताब्दी ई० के मध्य मे ४५ ई० के लगभग मानसून हवाओं की सहायता से अरब के समुद्र-तट से जहाज ४१ दिन मे सीधा मुजिरिस और नेल्किण्डा के बन्दरगाहों पर आने लगे थे । इससे यहां के व्यापार मे बड़ी उन्नति हुई। इन बन्दरगाहो से निर्यात होने वाले पदार्थ ये थे——कोटोनारा (उत्तरी मलाबार) की मिर्च अच्छी किस्म के मोती हाथी दात, रेशमी कपडे, गंगा के प्रदेश का जटामासी तथा तमाल्पत्र (Malabatharum) अर्थात दालचीनी के पत्ते या तेजपात हीरे, नीलम तथा विभिन्न प्रकार के पारदर्शी रत्न, सुवर्णद्वीप (Chryse) से आने वाली तथा निकटवर्ती टापुओं से उपलब्ध होने वाली कछुए की खोपडिया (Tortoise shells)। पूर्वी तट पर पाण्डयों का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर कोरकै या कोलकोई (Colchoi) अथवा कोरके था। यह मोतियों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था, यहाँ मनार की खाडी से मोती निकाले जाते थे।

पूर्वी तट पर चोल राज्य की राजधानी अरगरु (त्रिचनापल्ली के निकट उरैयूर) अपने मोतियों और मलमल के लिए प्रसिद्ध थी। यहाँ का सबसे बड़ा बन्दरगाह कावेरी नदी की उत्तरी शाखा के मुहाने पर कावेरीपट्टनम् या पुहार (टालमी का कमर) था। प्राचीन तामिल काव्य शिलप्पदिकारम् में इसकी समृद्धि के गीत गाते हुए कहा गया है कि यहाँ के व्यापारियों के पास इतना धन था कि उसके लिए बड़े प्रतापशाली राजा ललचाया करते थे। सार्थ जल और स्थल मार्गो से वहाँ इतने प्रकार के माल लाते थे कि ऐसा प्रतीत होता था कि मानो यहाँ सारी दुनिया का माल इकट्ठा हो गया हो। जगह-जगह लोगों की आँखे अक्षय सम्पत्ति वाले यवनों (विदेशी व्यापारियों) के मकानों पर पड़ती थी। यहाँ की गलियो में

रेशमी कपडे, मूगे, चन्दन, बहुमूल्य गहनों, मोतियो और सोने की दुकाने थी।[१]

चोल राज्य के अन्य बन्दरगाह पोड्के (पाण्डिचेरी) तथा सोपात्मा थे। पाण्डिचेरी के पास अरिकमेड् की खुदाई से यह पता लगा है कि ईसा की पहली श० ई० मे यह एक समृद्धिशाली बन्दरगाह था और रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार का एक प्रधान केन्द्र था। सोपात्मा की शिनाख्त तामिल साहित्य के सोपट्टिनम् से और वर्तमान समय में मद्रास और पाडिचरी के मध्यवर्ती मरक्कणम् नामक स्थान से की जाती है[२]। चोल राज्य के उत्तर मे पेरिप्लस ने आध्र प्रदेश के मसलिया (Masalia) और कलिंग के दोसरेने (Dosarene) तथा गंगा के मुहाने पर विद्यमान गगेज (Ganges) नामक बन्दरगाहों का उल्लेख किया है। मसलिया से मलमल का, दोसरेने से हाथीदाँत का तथा गंगा के मुहाने मे तमालपत्र, जटामांसी, मोतियों तथा बढिया प्रकार की मलमल का निर्यात होता था। टालमी ने कृष्णा गोदावरी के प्रदेश मे कोण्ट कस्सिला (घण्टसल), पितिन्द्र (पिथुण्ड) तथा कलिंग मे पलौरा और गंगा के मुहाने मे विद्यमान गगे (Gange) तथा तमलित (ताम्रलिप्ति) के बन्दरगाहों का उल्लेख किया है।

प्राचीन जलपोत—पुराने सिक्कों से तथा पेरिप्लस के विवरण से इन बन्दरगाहों मे आने वाले जलपोतों के स्वरूप पर भी प्रकाश पडता है।[३] सातवाहन वंश के राजा यज्ञ श्री सातकर्णि के कुछ सिक्को पर दो मस्तूल वाले जहाज का चित्र बना हुआ है।[४] इनके नीचे शख और मछली समुद्र के प्रतीक है। इनकी तुलना मद्रास मे आज तक चलने वाली मसूला (Masula) नामक नावो से की जाती है। इनको पेंदी नारियल की जटा से सिले, तख्तो से बनी तथा अलकतरे से पुती और चपटी होती है। यह आकार मे अपने से बडे जहाजों की अपेक्षा लहरो के आघात अच्छी तरह से सह सकता है। बोरोबुडुर मे भी इस प्रकार के दो मस्तूल वाले जहाजो का चित्रण किया गया है। संभवत ऐसे जलपोतो पर बैठ कर ही भारतीय समुद्री व्यापारी सुवर्ण द्वीप के विभिन्न प्रदेशों मे जाया करते थे और वहाँ से बहुमूल्य सामग्री लाया करते थे। आन्ध्र

१ शिलप्पदिकारम्, वी० आर० रामचन्द्र दीक्षित द्वारा अनूदित, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित पृ० ६२, ११०–१, ११५।

२ नीलकण्ठ शास्त्री—दी चोलाज, खण्ड १ पृ० ३०।

३ जर्नल आफ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी आफ इण्डिया, खं० ३ पृ० ४२–५।

४. रैप्सन के कैटे० इं० का का० आन्ध्र वेस्टर्न क्षत्रप्स पृ० ८१–८२।

प्रदेश मे ऐसे व्यापार से समृद्ध होने वाले व्यापारियों के दानों से ही अमरावती, जगय्या पेट और नागार्जुनी कोंडा के भव्य स्तूपो का निर्माण हुआ था। दूसरे प्रकार के जलपोत **संगर** (Sangar) थे। ये तटीय व्यापार के लिए प्रयुक्त होते थे। इन्हें खोखले लट्ठों से बनी दो नावों को जोड़ कर बनाते थे। ये दोनो नावे एक ऐसे चबूतरे (Deck Platform) से जुडी होती थीं जिस पर एक केबिन बना होता था। इनकी एक बडी विशेषता यह थी कि इनके अगले और पिछले हिस्से एक जैसे बने होते थे। आवश्यकतानुसार पाल इनके अगले और पिछले किसी भी हिस्से के साथ बाँधा जा सकता था, अत हवा का रुख बदलने के लिए इन्हें घुमाने या मोडने की आवश्यकता नही होती थी। ये बहुत तग जल-प्रणालियो मे भी चल सकते थे। प्लिनी (६।२८) ने मानसून हवाओ के आविष्कार के बाद मलाबार और लका मे चलने वाले ४४ टन वाले ऐसे पोतो के बनने का वर्णन किया है। डा० टेलर के मतानुसार मलाबार के तट पर चलने वाली ऐसी नौकाओ को अब तक जगार कहते है। श्रेनफी ने इसकी व्युत्पत्ति व्यापार वाची संस्कृत शब्द सगर से की है।[1] तीसरे प्रकार के जहाज **कोलन्दिया** (Colandia) होते थे (पेरि० ४६)। ये पूर्वी समुद्र से दक्षिण-पूर्वी एशिया अथवा सुवर्ण भूमि के विभिन्न प्रदेशों को जाया करते थे। इन पर वर्गाकार पाल होते थे तथा विभिन्न व्यापारियो का सामान रखने के लिए अलग-अलग कमरे बने होते थे। कोलन्दिया संभवत मलाया की भाषा का शब्द है, किन्तु श्री राजेन्द्र लाल मित्र ने इसका मूल एक सस्कृत शब्द कोलान्तर पोत अर्थात् विदेशो को जाने वाला पोत माना है।[2] इनके अतिरिक्त पेरिप्लस (४४) ने **कोटिम्बा** (Cotymba) तथा **त्रप्पग** (Trappaga) नामक ऐसे पोतों का भी वर्णन किया है जो नर्मदा मे आने वाले विदेशी जहाजो का पथप्रदर्शन करने के लिए सुराष्ट्र तक जाया करते थे। ये मछलियाँ पकडने वाले छोटे जहाज होते थे। अंगविज्जा नामक जैन ग्रन्थ मे इन्हें कोट्टिब और तप्पक कहा गया है। ये मंझले आकार के जहाज होते थे। इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे सगर के लिए सघाई तथा कोलन्दिया के लिए कोल्ल शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

---

१ शाफ-पेरिप्लस, पृ० २४३, ऐसे पोतों के चित्र के लिए देखिये वही पृ० २१२।

२. राजेन्द्र लाल मित्र—एन्टीकिटीज आफ ओरिस्सा, खं० १ पृ० ११५।

३. मोतीचन्द्र—सार्थवाह, पृ० १०।

विदेशी वाणिज्य (क) पश्चिमी जगत्

सातवाहन युग में भारतवर्ष तत्कालीन सभ्य संसार के केन्द्र मे था। उसके पूर्व में चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया की सुवर्ण भूमि थी और पश्चिम में ईरान का पार्थव साम्राज्य और रोमन साम्राज्य। अपनी केन्द्रीय स्थिति के कारण वह तत्कालीन संसार के व्यापार एव वाणिज्य का केन्द्र था। यहाँ पहले पश्चिम के साथ तथा बाद मे सुवर्ण भूमि और चीन के साथ भारत के व्यापार का वर्णन किया जायगा।

इस युग मे पश्चिमी जगत् के साथ व्यापारिक सबधो के विकास को दो बडे युगो मे बाँटा जा सकता है। पहला युग सिकन्दर की मृत्यु के बाद मिश्र में शासन करने वाले टालमी राजाओ का शासनकाल है, इनकी राजधानी सिकन्दरिया थी। इन राजाओ ने ३२१ ई० पू० से ३० ई० पू० तक शासन किया। इनके समय में भारत के साथ समुद्री व्यापार का श्रीगणेश हुआ, किन्तु उस समय भारत के साथ पश्चिमी जगत् का सीधा सबन्ध बहुत कम था। पहली शताब्दी ई० पू० के अन्तिम भाग मे मिश्र रोमन साम्राज्य का अग बना। इस समय भारत का पश्चिमी जगत् से सीधा व्यापारिक सबध स्थापित हुआ। रोमन साम्राज्य के वैभव एव विलासितापूर्ण जीवन के कारण वहाँ भारत के मसालो, सुगन्धित द्रव्यों, बहुमूल्य रत्नो, मणियो, सूती व रेशमी वस्त्रो की माग बढने से तथा ४५ ई० के लगभग हिप्पलास द्वारा मानसून हवाओ की सहायता से अरब के प्रायद्वीप से मलाबार के समुद्री तट तक सीधी समुद्र-यात्रा करने की पद्धति के आविष्कार से इस व्यापार मे युगान्तर और अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। २९ ई० पू० मे सम्राट आगस्टस के राज्यारोहण के बाद एक शताब्दी तक यह व्यापार अपने चरम शिखर पर बना रहा, इसके बाद अगली शतियो मे इसमे क्षीणता आने लगी। इस समय समुद्री मार्ग के अतिरिक्त स्थलीय-मार्ग से भी पार्थिया (ईरान) के राज्य में से होकर पश्चिम एशिया के साथ भारत का वाणिज्य होता रहा। सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् पश्चिमी एशिया के बडे भाग पर उसके सेनापति सेल्यूकस ने तथा उसके वशजों ने (Seleukids) ने ३१२ ई० पू० से १५० ई० पू० तक शासन किया। इनकी राजधानी पूर्वी भूमध्य सागर के तट पर सीरिया मे अन्तियोक (Antioch) थी। महाभारत मे इसे अन्ताखी कहा गया है। मौर्य राजाओं के इनके साथ मैत्रीपूर्ण दौत्य सबध थे। चन्द्रगुप्त के

पुत्र बिन्दुसार ने सेल्यूकस से यूनानी शराब, किशमिश (Raisins) तथा एक यूनानी दार्शनिक मंगाया था।[1]

सेल्यूकस वशी राजाओ के समय दजला नदी के पश्चिमी तट पर बगदाद से २० मी० दक्षिण पूर्व मे बसा सिल्यूशिया (Seleucia) नगर भारत से अन्तिओक तक पश्चिमी एशिया जाने वाले वाणिज्य मार्गो पर एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। ईस्वी सन् के आरम्भ मे कैरेक्स निवासी इसीडोर (Isidore of Charax) ने अन्तिओक से भारत की पश्चिमी सीमा हेलमन्द नदी तक के व्यापारिक मार्गों का परिचय **पार्थिया के पड़ाव** (Parthian Stations) नामक अपनी पुस्तक मे दिया है और यह बताया कि ईरान की पार्थियन सरकार ने इन मार्गो पर बड़े काफिलो मे चलने वाले व्यापारियों के लिए किन सुविधाओ की व्यवस्था की थी। हेलमन्द नदी की घाटी के स्थल मार्ग से सीधा अन्तिओक जाने वाले एक मार्ग के अतिरिक्त, दूसरा मार्ग करमानिया और पर्सिस होता हुआ ईरान की खाड़ी पर पहुंचता था। यहाँ से माल को जहाजो मे लादा जाता था। ये जलपोत अरब प्रायद्वीप का चक्कर काटते हुए रक्त सागर के मार्ग से पूर्वी भूमध्यसागर मे सिकन्दरिया तथा सीरिया (Levant) के समुद्र-तट पर अन्तिओक पहुँचते थे।

रक्तसागर के समुद्री मार्ग का विकास:—सिकन्दरिया मे शासन करने वाले मिश्र के टाल्मी राजाओ ने रक्त सागर वाले मार्ग के विकास मे बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। ईसा से पहले की दो शताब्दियो मे इस मार्ग के विकसित और लोकप्रिय होने के बडे कारण सीरिया की अशान्त राजनीतिक स्थिति और पार्थिया का विरोधी साम्राज्य तथा बैक्ट्रिया पर शको के आक्रमण थे। इन कारणो से पश्चिमी एशिया से भारत जाने वाले स्थलीय मार्ग सकटपूर्ण समझे जाने लगे और सिकन्दरिया से रक्त सागर होकर भारत जाने वाले मार्ग को प्रधानता मिलने लगी। इस मार्ग के विकास मे एक बाधा स्वेज का स्थल-डमरूमध्य था। आजकल इसे स्वेज की नहर से पार किया जाता है, इसका निर्माण १८५९–६९ ई० मे इन्जीनियर फर्डिनेण्ड लैसेप्स ने कया था। किन्तु इसका विचार बहुत प्राचीन है। इस प्रकार का पहला प्रयत्न २०वी शती ई० पू० मे सेसोस्ट्रिस (Sesostris) ने किया। इसके बाद मिश्र के शासक फैरो नेको (Necho) ने तथा ईरानी सम्राट डेरियस महान् (५२१–४८५ ई० पूं०) ने इस प्रकार के प्रयत्न किये। किन्तु वे सफल नहीं हुए। अन्त मे टाल्मी राजा फिलाडेल्फस (२८५–

---

१. **रालिन्सन-इन्टरकोर्स बिटवीन इंडिया एण्ड दी वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ३६।**

२४६ ई० पू०) ने अशोक के समय में इस विचार को पुनरुज्जीवित किया। टालमी ने पहले तो वर्तमान स्वेज के स्थान पर अपनी पत्नी के नाम पर आर्सिनो नामक बड़ा बन्दरगाह बनवाया, वह यहाँ से रक्त सागर का समुद्री मार्ग विकसित करना चाहता था। किन्तु इसमे बड़ी कठिनाई यह थी कि इस बन्दरगाह के पास की खाड़ी बड़ी उथली एव बालू से भरी हुई थी। यहाँ की समुद्री धारायें और हवाएँ धोखा देने वाली थीं। अब उसे स्वेज के मार्ग को विकसित करने की योजना छोड़नी पड़ी। अब उसने मिश्र के प्रभुत्व मे विद्यमान रक्त सागर के पश्चिमी समुद्र-तट पर एक अन्य बन्दरगाह बनाने तथा उसे नील नदी के साथ एक मरु-स्थलपथ से जोड़ने की योजना बनाई। इस कार्य के लिए रक्त सागर के तट पर एक प्राकृतिक बन्दरगाह को चुना गया। इसका नाम टालमी की माता के नाम पर बेरेनिके (Berenike) रखा गया। यह स्थान नील नदी के सुप्रसिद्ध मोड की निकटवर्ती व्यापारिक मण्डी कोप्टोस (koptos) या कोफत से २५८ मील था। सिकन्दरिया से यहाँ तक माल नदी के मार्ग से लाया जाता था तथा कोफत से बेरेनिके तक ऊटों पर लाद कर रक्त सागर पर पहुँचाया जाता था। इस मार्ग को व्यापारियो के लिए सुविधाजनक बनाने के लिए आठ पडाव बनाये गये तथा इन पर पानी का प्रबन्ध किया गया, ताकि मरुस्थल वाले मार्ग को सुगमतापूर्वक पार किया जा सके। इस यात्रा मे सिकन्दरिया से बेरेनिके पहुँचने मे ११-१२ दिन लगते थे। २७४ ई० में इस यात्रा को छोटा, अधिक सुविधापूर्ण और सुरक्षित बनाने के लिए टालमी फिलाडेल्फस ने मिओस हारमोस (Myos Hormos) नामक दूसरा बन्दरगाह (२७° १२'उ०' ३३° ५५'पू०) बनवाया। यह बेरेनिके से १८० मी० उत्तर मे था। इससे मरुस्थल की यात्रा मे पाँच दिन की बचत हो गई। हारमोस बेरेनिके की अपेक्षा अधिक गहरा बन्दरगाह था और समुद्री तूफानो से अधिक सुरक्षित था। अतः उत्तम बन्दरगाह होने से यह शीघ्र ही भारत एव पूर्व के व्यापार का महान केन्द्र बन गया। यहाँ से जहाज जुलाई मे चलते थे, सितम्बर तक वे रक्त सागर होते हुए अदन पहुँच जाते थे। रक्त सागर के एक सिरे पर उन दिनो एक बड़ा महत्वपूर्ण बन्दरगाह एडुलिस (वर्तमान मसावा) था। यहाँ से व्यापारी अफ्रीका की बहुमूल्य उपज—हाथीदाँत और सुगंधित द्रव्य खरीदा करते थे। इस समय तक मिश्र के यूनानी व्यापारियों का भारत से सीधा सबंध नही था। वे अपना माल रक्त सागर के प्रवेशद्वार पर बाबल मन्दब जलडमरूमध्य पार करके अदन और मुजा के बन्दरगाहो मे अरब व्यापारियों

को सौंप देते थे और इनसे भारतीय माल खरीद लेते थे। अरब व्यापारी इनका माल भारत ले जाते थे।

आरम्भ में मिश्र में भारत की अजीबोगरीब वस्तुओं की तथा मसालों की माँग अधिक थी। एथेनियस (Athenaeus) ने टालमी फिलाडेल्फस (२८५–२४६ ई० पू०) की शोभायात्राओ मे भी भारत के शिकारी कुत्तो, गौओं तथा स्त्रियों का उल्लेख किया है। टालमी फिलोपेटर (२२१–२०४ ई० पू०) के संबंध में इसी लेखक ने यह सूचना दी है कि उसकी नौका भारत के पत्थरों से अलंकृत की गई थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० के अन्त मे भारत के व्यापार को अधिक महत्ता दी जाने लगी। अगथरचिडेस (Agatharchides) ने अपने शिष्य टालमी सोटर द्वितीय (११७–८० ई० पू०) के समय मिश्री राजाओ द्वारा व्यापार के प्रोत्साहन का तथा रक्त सागर के बन्दरगाहो में वृद्धि का उल्लेख किया है। इस समय तक मिश्री नाविक रक्त सागर से निकल कर हिन्द महासागर में आगे बढने का साहस करने लगे। उन्होंने सोकोतरा के टापू की खोज की। किन्तु टालमी राजाओं के समय मे इससे आगे जाने वाले यूनानी नाविक बहुत कम थे। स्ट्रैबो (२।५।१२) ने लिखा है कि टालमी राजाओं के समय मे बहुत ही कम व्यापारी भारत की समुद्री यात्रा करते थे और वहाँ से माल लाया करते थे।

किन्तु इस युग मे कई बार भारतीय व्यापारी सिकन्दरिया पहुँचते थे और कुछ यूनानी भारत आने का साहस करते थे। स्ट्रैबो (२।३।४) ने एक ऐसे साहसी यूनानी नाविक यूडाक्सस (Eudaxus) का संक्षिप्त परिचय दिया है। यह टर्की मे मारमारा सागर के तटवर्ती सिजिकस (Cyzicus) नामक नगर का रहने वाला था। इसने जब भूगोलवेत्ता तथा जातिशास्त्र विशारद (Echnologist) के रूप मे कुछ प्रसिद्धि प्राप्त की तो इसके नगरवासियो ने इसे नील नदी की खोज करने का काम सौंपा। जब यह इस कार्य के लिए मिश्र पहुँचा तो इसका ध्यान उस समय की एक सनसनीखेज घटना की ओर आकृष्ट हुआ। उन दिनों सिकन्दरिया मे एक भारतीय लाया गया, इसे मिश्री राजाओं की ओर से रक्त सागर के समुद्रतट की रक्षा करने वाले पहरेदारो ने पकड़ा था, यह भूख तथा प्यास से अधमरी, मूर्छित दशा में एक नाव मे बहता हुआ पाया गया था। कुछ समय बाद जब यह स्वस्थ हुआ तो इसने बताया कि यह भारत से एक जहाज मे रवाना हुआ था, रास्ते मे तूफान से रास्ता भटक गया, उसके सब साथी भूख से मरते चले गये, वह भी मरने

ही वाला था कि रक्त सागर के प्रवेश-द्वार पर उसे मिश्री राजा के पहरेदारो ने पकड़ लिया और मौत के मुह से बचा लिया। उसने मिश्री सरकार के आगे यह प्रस्ताव रखा कि यदि वह उसे एक जहाज दे तो वह उन्हें भारत का रास्ता बताने को तैयार है। मिश्र का राजा युएरगेटीस (Euergetes ,१४६-११७ ई० पू०) इसके लिए तैयार हो गया और उसने यूडाक्सस को उसके साथ एक जहाज देकर भारत भेजा। यह जहाज यथासमय उस भारतीय के पथ-प्रदर्शन मे यहाँ आया तथा बहुमूल्य मणियाँ और मसाले लेकर सिकन्दरिया वापिस लौटा। किन्तु यूएरगेटीस ने इसे इनाम देने के बदले लोलुपतावश उसका सारा माल जब्त कर लिया। ११७ ई० पू० मे इस राजा की मृत्यु हो गई। नये राजा टालमी सोटर द्वितीय (११७–८० ई० पू०) के सिहासनारूढ होने पर साहसी नाविक यूडाक्सस ने राजा से पुनः भारत के साथ व्यापार के लिए एक जहाज ले जाने की अनुमति प्राप्त की। भारत से वापिस लौटते हुए रक्त सागर के प्रवेश-द्वार पर उसका जहाज एक तूफान मे फस कर गरदफुई अन्तरीप के नीचे अफ्रीका के समुद्र-तट पर जा लगा। यहा उसने स्थानीय निवासियो को विभिन्न वस्तुओ के उपहार देकर प्रसन्न किया, उनसे पानी और पथ प्रदर्शक नाविक प्राप्त किये, इनकी सहायता से स्वदेश लौटा। अफ्रीका मे उसके लिये सबसे बड़ी आश्चर्यजनक घटना यह हुई कि उसे एक जहाज का अश्वाकार अग्रभाग या माथा (prow) मिला। वह इस अपने साथ सिकन्दरिया ले आया। दुर्भाग्यवश नये राजा सोटर ने भी यूडाक्सस के साथ पिछले राजा जैसा दुर्व्यवहार करते हुए उसका सारा माल इस आधार पर छीन लिया कि उसने जहाज के माल का गबन किया था। सिकन्दरिया के कुछ नाविको ने उसे यह बताया कि वह अपने साथ जो अश्वाकार माथा या गलही (prow) लाया है, वह भूमध्यसागर के पश्चिमी छोर से अफ्रीका के दक्षिण की ओर जाने वाले एक जहाज की है। इससे यूडाक्सस के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि जिस प्रकार इस जहाज ने अफ्रीका के महाद्वीप की परिक्रमा की थी उसी प्रकार वह भी इसका चक्कर काट कर भारत पहुंच सकता है। उसने इस मार्ग से भारत पहुँचने का निश्चय किया। अपनी सारी सम्पत्ति बेच कर उसने एक जहाज खरीदा, उसे इटली, मार्सलीज और केडिज ले गया। इन स्थानो से उसने अपने इस महान कार्य के लिए काफी धन सग्रह किया। इससे समुद्र-तट की खोज करने वाले दो छोटे तथा एक बड़ा जहाज खरीदा। इन पर खाने-पीने का आवश्यक सामान रखा, डाक्टर रखे और स्पेन की नर्तकियाँ मार्ग मे मिलने वाले राजाओ

को भेट करने के लिए अपने साथ लेकर जिब्राल्टर से भारत की यात्रा के लिए रवाना हुआ। वह अफ्रीका के तट के साथ-साथ दक्षिण की ओर चलता गया, किन्तु कुछ समय बाद खाद्य सामग्री समाप्त हो जाने के कारण उसे वापिस लौट जाना पड़ा। अब उसने निश्चय किया कि वह अपने साथ जहाज पर अनाजो के बीज और खेती के औजार भी ले जायगा और जहाँ खाद्य सामग्री की कमी होगी वही वह लंगर डालकर उपजाऊ प्रदेश के पास रुककर अनाज बोयेगा और उसकी फसल काटकर पुन. आगे बढ़ेगा। किन्तु इस साहसी व्यापारी का दूसरी बार अफ्रीका के मार्ग से भारत आते हुए किस प्रकार अन्त हो गया, इस विषय मे इतिहास सर्वथा मौन है। संभवत: उसका जहाज किसी तूफान में नष्ट हो गया। फिर भी यूडा-क्सस इस बात के लिए इतिहास मे अमर है कि उसने सर्व प्रथम सिकन्दरिया से दो बार रक्तसागर के मार्ग से भारत की यात्रा की और अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुँचने का दो बार विफल प्रयास किया। वह वास्कोडिगामा से १८०० वर्ष पहले ही उसकी योजना को पूरी करना चाहता था।

टालमी राजाओं के समय भारत और मिश्र के व्यापारिक सम्पर्क के प्रमाण बहुत ही कम है। प्राचीन बन्दरगाह बेरेनिके और एडफू नामक स्थान के बीच मे एक पुराने मन्दिर के ध्वसावशेषों मे एक विलक्षण अभिलेख पाया गया है।[1] इसमे सोफोन (Sophon) नामक भारतीय के वहाँ जाने का वर्णन है। इसे सस्कृत के शोमन का यूनानी रूपान्तर समझा जाता है और कहा जाता है कि कभी-कभी शोमन जैसे व्यापारी रक्त सागर के मार्ग से सिकन्दरिया पहुँचा करते थे। हुल्श को बगलौर के बाजार मे मिश्र के राजा टालमी सोटर का एक चाँदी का सिक्का मिला था।[2] यह भी भारत और मिश्र के थोड़े बहुत व्यापारिक सम्पर्क को सूचित करता है।

(ख) **रोमन साम्राज्य के साथ भारत का व्यापार**:—ईसा की आरम्भिक शताब्दियो मे जब उत्तर पश्चिमी भारत मे कुषाण साम्राज्य का विस्तार हो रहा था, उसी समय पश्चिम में रोम सिकन्दर के द्वारा जीते गये विभिन्न प्रदेशो की विजय करके अपने सुप्रसिद्ध साम्राज्य का निर्माण कर रहा था। ३० ई० पू० में मिश्र रोमन साम्राज्य का अंग बना। इससे पूर्व सीरिया का पतन हो चुका था। आगस्टस का समय (२९ ई० पू० से १४ ई०) रोमन साम्राज्य का स्वर्ण-

१. रालिन्सन—इन्टरकोर्स बिटवीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ० ६६।
२. ज० रा० ए० सो० १९०४ पृ० ४०३।

युग माना जाता है। एशिया, अफ्रीका और योरोप के विभिन्न प्रदेशों को जीतने से रोमन लोगों को अपार सम्पत्ति और अनन्त वैभव प्राप्त हुआ था। इसके परिणामस्वरूप रोमन राजा, जमीन्दार और कुलीन व्यक्ति बड़े ठाठ-बाठ से रहने लगे; वैभव एव विलासिता को प्रदर्शित करने वाले बहुमूल्य रत्नों, मणियों, सुगन्धित द्रव्यों, मसालों तथा बढिया वस्त्रों का प्रयोग करने लगे। इसलिए रोम में चीन के रेशम, भारत की मलमल, पन्ना (Beryl) और मोतियों की तथा काली मिर्च जैसे मसालो की माँग बहुत बढ़ गई। इस माँग को पूरा करने के लिए भारत के साथ रोम के व्यापार एव वाणिज्य में विलक्षण वृद्धि हुई। इसके प्रमाण हमे पेरिप्लस, प्लिनी एव स्ट्रैबो के विवरणो से मिलते हैं। संगम युग के तामिल साहित्य मे यवन व्यापारियों के अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। पाण्डिचेरी के निकट अरिकमेडू की खुदाई से यह ज्ञात हुआ है कि वहाँ रोमन लोगों का एक बड़ा व्यापारिक अड्डा था। पहली शताब्दी ई० मे भारत और रोम मे व्यापार की वृद्धि इस बात से भी सूचित होती है कि पश्चिमी भारत मे पहले पाँच रोमन सम्राटो की मुद्राए अधिक संख्या मे मिली हैं। नीरो (५४ से ६८ ई०) के विलासितापूर्ण युग में भारतीय वस्तुओं का व्यापार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। पहले पाच रोमन सम्राटो की ६१२ स्वर्ण एवं ११८७ रजत मुद्राए मिली है। इनमे अधिकांश मुद्राए आगस्टस (२९ ई० पू० से १४ई०) तथा टाइबेरियस (१४–३७ ई०) की है। इस समय रोम को भारत, चीन आदि पूर्वी देशो से रेशम, मलमल, मसाले आदि बहुमूल्य वस्तुएं प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ी धनराशि इन देशो को भेजनी पड़ती थी। ७७ ई० मे प्लिनी ने इस स्थिति पर आँसू बहाते हुए रोमन स्त्रियो की फैशन-प्रियता की बड़ी कड़ी निन्दा की थी।

हिप्पलास का आविष्कार तथा समुद्री मार्ग के विकास की चार दशायें :— रोम के साथ भारत के समुद्री व्यापार पर प्रभाव डालने वाली एक बड़ी घटना मानसून हवाओ की सहायता से हिन्द महासागर को सीधा पार करते हुए अरब के समुद्र-तट से भारत के पश्चिमी तट पर पहुँचना था। इससे रोम और भारत के मध्य सीधा व्यापारिक संबध स्थापित हो गया। इससे पहले यूनानी और रोमन व्यापारी रक्त सागर के प्रवेश-मार्ग—अदन तक ही आते थे, यहाँ से अरब व्यापारियो से भारतीय माल खरीद कर स्वदेश लौट जाते थे। अरब व्यापारी पश्चिमी जगत् का माल रोमन तथा यूनानी व्यापारियो से खरीद कर भारत

पहुँचाते थे और यहाँ का माल पश्चिमी देशों को ले जाते थे। इस प्रकार यह व्यापार अरबों के माध्यम से होता था, इस पर अरबों का एकाधिकार था। रोम में भारत के माल की माँग बढ़ जाने से रोमन व्यापारी भारत से सीधा व्यापार करने तथा कम समय में भारत पहुचने वाले छोटे और सुरक्षित मार्ग ढूंढ़ने लगे।[1] हिप्पलास (Hipplaus) नामक नाविक को यह श्रेय दिया जाता है कि उसने सर्वप्रथम सम्भवतः रोमन सम्राट क्लाडियस (४१-५४ ई०) के

---

१. श्री टार्न ने (पृ० ३७१-३) इस अवस्था के आरम्भ होने का समय पहली श० ई० पू० में ७० से ५० ई० पू० माना है। इसका आधार बम्बई के पृष्ठ भाग—नासिक, जुन्नर और कार्ले गुहाओं में नो यवनों द्वारा बौद्ध धर्म के लिए दिये गये विभिन्न दानों को सूचित करने वाले लेख हैं (टार्न पृ० २५५)। ये सभी धनी व्यापारी थे। इनमें से इन्द्राग्निदत्त नामक यवन का लेख बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे यह सूचित होता है कि वह उत्तर में डेमिट्रियास (Demetrias) नामक नगर से यहाँ आया था। प्लिनी ने लिखा है कि रोम के साथ पूर्वी देशों के व्यापार के विकास की तीसरी दशा में समुद्र-यात्रा अरब के तट से सीधा बेरीगाजा के दक्षिण में सिगेरस (Sigerus) तक होने लगी थी। इस स्थान की पहिचान निश्चित नहीं है। वार्मिंगटन ने इसे जयगढ़ माना है। सभी विद्वान यह मानते हैं कि यह स्थान बम्बई के आस-पास होना चाहिए। कार्लो गुहा के पाँच यूनानी तथा कुछ भारतीयों के दान-लेखों में धेनुकाक नामक बन्दरगाह का वर्णन किया गया है। यह भी बम्बई के आस-पास का कोई स्थान है। ५० ई० पू० के लगभग इन सब यूनानी व्यापारियों का बम्बई के आसपास आना और होना यह सूचित करता है कि यूनानी व्यापारी अदन से सिन्धु नदी के मुहाने पर आने के स्थान पर सीधा बम्बई के आसपास के बन्दरगाहों में आने लगे थे। इस मार्ग-परिवर्तन के कारण सिन्धु नदी के डेल्टे के पास बसे काली मिर्च के व्यापारियों के व्यापार पर भीषण संकट आ गया, क्योंकि अब विदेशी व्यापारी अपना माल लेने के लिये सिन्ध के मुहाने पर पहुँचने की जगह बम्बई के निकटवर्ती बन्दरगाहों में पहुँचने लगे थे। अतः इन्द्राग्निदत्त और उसके साथी यवनों को सिन्ध के डेमिट्रियास नगर को छोड़ कर कार्ले और जुन्नर के आसपास के बम्बई तट के बन्दरगाहों में आना पड़ा, ताकि व नवीन समुद्री मार्ग का पूरा लाभ उठा सकें। संभवतः कालीमिर्च तथा अन्य वस्तुओं के व्यापार से वे धनकुबेर बने और उन्होंने कार्ले आदि की गुहाओं में बौद्ध-संघ को अनेक दान दिये।

शासन-काल में ४५ ई० में मानसून अथवा मौसमी हवाओं की सहायता से भारत पहुँचने के छोटे मार्ग का पता लगाया। अरब एवं हिन्द महासागर से वर्षा लाने वाली हवाए गर्मियो में दक्षिण-पश्चिम दिशा से उत्तर-पश्चिम की ओर तथा सर्दियो में उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर नियमित रूप से चलती हैं। इन हवाओ को मानसून या मौसमी हवायें कहा जाता है। इनमें प्रचण्ड वेग होता है। इनकी सहायता से पाल वाले जहाज अपनी अभीष्ट अनुकूल दिशा में पतवार की सहायता से बड़ी तेजी से चलाये जा सकते हैं। इस प्रकार अनुकूल हवाओ का लाभ उठाते हुए जलपोत बड़ी जल्दी भारत पहुँचने लगे। रक्त-सागर के प्रवेश-द्वार के निकटवर्ती एक बन्दरगाह से मलाबार तट पर मुजिरिस का बन्दरगाह २००० मील की दूरी पर था। मानसून हवाओ की सहायता से यूनानी जहाज इसे ५० मी० प्रतिदिन की चाल से ४० दिन मे पूरा कर लेते थे। कई बार मानसून हवा की गति अधिक तेज होने से जहाज की चाल ८० मी० तक हो जाने पर यह दूरी और भी कम समय मे पूरी की जा सकती थी। इस कारण अब सिकन्दरिया से मलाबार तक पहुँचने मे दो महीने का समय लगने लगा, जब कि पहले यूनानी यात्री स्काईलेकस (Skylax) को स्वेज से सिन्धु नदी तक पहुचने मे ३० महोने का समय लगा था। रोमन व्यापारी गर्मियो में मानसून आरम्भ होने पर जून-जुलाई के महीनो मे भारत आने लगे और दिसम्बर में उत्तर-पूर्वी मानसून चलने पर स्वदेश वापिस लौटने लगे। हिप्पलास का आविष्कार इस युग की एक महान क्रान्तिकारी घटना थी। इसे इस युग का कोलम्बस कहा जा सकता है।

प्लिनी (२३–७९ ई०) के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि भारत के साथ समुद्री मार्ग का विकास चार दशाओ मे से होकर गुजरा और हिप्पलास का आविष्कार दीर्घकालीन समुद्री व्यापार के क्रमिक विकास का परिणाम था। (१) **पहली दशा** *समुद्र-तट के साथ-साथ यात्रा करने की थी,* इस समय जलपोत अरब प्रायद्वीप से ईरान की खाड़ी और बिलोचिस्तान के समुद्र-तट का पूरा चक्कर काटकर भारत पहुँचा करते थे। इसके बाद मानसून हवाओ का लाभ उठाते हुए वे खुले समुद्र मे शनै. शनै आगे बढ़ने लगे। (२) दूसरी दशा मे वे अरब प्रायद्वीप के सिअर्गस (Syargus) अन्तरीप (आधुनिक सफर्त) के पास समुद्र-तट को छोड़कर सिन्धु नदी के मुहाने पर पातल नामक बन्दरगाह तक आने लगे। यह १३३५ मील की दूरी थी। समे मानसून हवा सारे रास्ते में

जहाज के पालों को बिलकुल पीछे धकेलती थी। इस दशा का श्रीगणेश टार्न के मतानुसार १०० से ८० ई० पू० के बीच हुआ। (३) तीसरी दशा (८० ई० पू० से ४० ई०) में नाविक अरब तट से बम्बई के आस-पास सोपारा जैसे बन्दरगाहों तक आने लगे। (४) चौथी दशा में वे सीधा मलाबार के मुजिरिस आदि पोताश्रयों में पहुँचने लगे। यह दशा ४०–५० ई० में आरम्भ हुई। इसका श्रेय हिप्पलास को है। इस दशा में दिशा का यह परिवर्तन पतवार की सहायता से किया जाता था। पेरिप्लस के कथनानुसार पतवार मौसमी हवा के रुख से कुछ हट कर चलाई जाती थी जिससे जहाज सीधा न चल कर दक्षिण की ओर मुड जाय। पोत-सचालन की यह क्रिया कुछ तो पतवार के घुमाव-फिराव से और कुछ पाल के हटाने-बढाने से साध ली जाती थी।

हिप्पलास द्वारा भारत के साथ व्यापार करने के उपर्युक्त लघु मार्ग के आविष्कार के बडे क्रान्तिकारी प्रभाव पडे। रोमन जगत के साथ भारत का सीधा व्यापार ईसा की पहली शताब्दियों में अपने चरम शिखर पर पहुँच गया। भारत में आने वाले यवन, रोमन, समुद्री व्यापारियों की सख्या बढने लगी। उन्होंने भारतीय व्यापार पर अरबों के एकाधिकार को समाप्त किया। दक्षिणी भारत में उनकी कई बस्तियाँ बसने लगी। प्लिनी ने लिखा है कि यवन व्यापारी बड़ी सख्या में सिकन्दरिया और मिश्र से दो महीने में भारत के दक्षिणी तट पर पहुंचने लगे। पेरिप्लस के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि इस समय भारतीय व्यापारी भी इसमें भाग ले रहे थे और पश्चिमी भारत के बेरिगाजा (भडौंच) के बन्दरगाह से भारतीय जलपोत नियमित रूप से अरब प्रायद्वीप के दक्षिणी तट तक और अफ्रीका एवं रक्त सागर के समुद्री तट तक जाया करते थे। किन्तु अरब व्यापारी अपनी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण इस व्यापार पर एकाधिकार बनाये रखने की दृष्टि से भारतीयों को रक्त सागर के प्रवेश-मार्ग पर स्थित ओकेलिस (Ocelis) के बन्दरगाह से आगे नही बढने देते थे। पेरिप्लस हमें यह बताता है कि कुछ व्यापारी डायोस्कोर्डिया (Dioscordia) अथवा वर्तमान सोकोत्रा के टापू पर बसे हुए थे, वे बेरिगाजा तथा मलाबार के बन्दरगाहों से यहाँ आते थे और यहाँ से पूर्वी अफ्रीका के प्रदेशों में जाया करते थे। सभवत. यहाँ से कुछ जहाज सिकन्दरिया की ओर भी जाते थे। दूसरी शताब्दी ई० के बौद्ध ग्रन्थ महानिद्देस में योन और परमयोन के साथ अलसन्दा (सिकन्दरिया) और मरु-कान्तार नामक स्थानों में भारतीय व्यापारियों के जाने का वर्णन है। मिलिन्द

प्रश्न भी बंग, तक्कोल और चीन से अलसन्द तक के बन्दरगाहों का उल्लेख करता है। महाभारत में भारतीय राजदूतों के अन्ताखी, रोम और यवनपुर (सम्भवतः सिकन्दरिया) जाने का उल्लेख है।[1] वसुदेव-हिण्डी और सानुदास की कथाओं से यह स्पष्ट है कि भारतीय व्यापारी इस समय मध्य एशिया के विभिन्न स्थानों पर जाया करते थे।[2] १३० ई० में हमें आर्मीनिया के प्रदेश में एक भारतीय उपनिवेश का परिचय मिलता है जो सम्भवतः व्यापारियों द्वारा ही बसाया गया होगा। ३०० ई० में इस प्रदेश के भारतीयों को बलपूर्वक ईसाई बनाया गया था।

रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार के प्रधान पण्य

इन दिनों रोम एवं पश्चिमी जगत् के साथ वाणिज्य में जो वस्तुएँ भारत से बाहर भेजी जाती थी और जिन वस्तुओं को विदेशो से मगाया जाता था, इनकी विस्तृत सूचियाँ हमे पेरिप्लस के विवरण मे उपलब्ध होती है। इसके लेखक ने प्रत्येक बन्दरगाह के आयात और निर्यात पदार्थों का वर्णन किया है। इसमे दी गई सूचियों के आधार पर भारत से निर्यात होने वाले पण्यो मे प्रधान रूप से निम्नलिखित वस्तुएं थी :—

(क) **मसाले और सुगन्धित द्रव्य** :—पहली शताब्दी ई० में रोमन जगत् में इनकी माँग बहुत अधिक बढ़ गई थी, अतः कालीमिर्च, दालचीनी, इलायची, कुठ, जटामांसी, गुग्गुल, दारुहरिद्रा और नील का बडी मात्रा में निर्यात होता था। इनमें प्रधान स्थान कालीमिर्च का था। टार्न ने यह बताया है कि रोम के साथ कालीमिर्च का व्यापार १२० से ८८ ई० पू० के बीच में आरम्भ हुआ था।[3] रोमन और यूनानी कालीमिर्च को बहुत अधिक पसन्द करते थे। भारतीय साहित्य में इसीलिए इसका एक नाम यवनप्रिय अर्थात् यूनानियों को प्रिय लगने वाली वस्तु भी बताया गया है। पश्चिमी जगत् में इसकी लोकप्रियता इस बात से सूचित होती है कि जर्मन आक्रान्ता एलरिक (Alaric) ने ४१० ई० में रोम का घेरा उठाने की शर्तों

---

१. महाभारत २।२८।४९—अन्ताखीं चैव रोमाञ्च यवनानां पुरं तदा। दूतैरेवं वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥

२. मोतीचन्द्र—सार्थवाह, पृ० १३२–३३, १३६।

३. टार्न—ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इंडिया पृ० ३७१।

में जिन वस्तुओं की तुरन्त माँग की थी, उसमें ५००० पौण्ड सोने, ३०००० पौण्ड चाँदी और ४००० रेशमी पोशाकों के साथ-साथ ३००० पौण्ड कालीमिर्च भी थी।[1] रोमन जगत् में खाद्य पदार्थों एव स्वादिष्ट व्यजनो को तैयार करने के लिए इसे इतना अधिक महत्व दिया जाता था कि प्लिनी के कथनानुसार उन दिनों १ पौण्ड कालीमिर्च का दाम १५ दीनार अथवा ढाई डालर हुआ करता था। प्लिनी ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि कालीमिर्च में न तो कोई मिठास है और न ही कोई अन्य अच्छा गुण है, इसकी सबसे बडी विशेषता चरपरापन है और इसी के लिए हम इसे भारत से मंगाते हैं (१२।१४)। रोमन साम्राज्य मे कालीमिर्च के व्यापारियों को बहुत अधिक मुनाफा हुआ करता था। भारत और रोम के मध्य में व्यापार का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पण्य यही था। शॉफ के कथनानुसार रोमन जगत् को जाने वाले माल का तीन चौथाई भाग कालीमिर्च ही होता था (पेरिप्लस पृ० २१४)। पहले यह बताया जा चुका है कि सगम युग के तामिल ग्रन्थो के अनुसार उन दिनों यवन व्यापारी सोना देकर कालीमिर्च अपने बोरों मे भरा करते थे। काली मिर्च का निर्यात प्रधान रूप से मलाबार के बन्दरगाहो से हुआ करता था। इसके निर्यात के बड़े केन्द्र मुजिरिस, नेलकिण्डा और टिण्डिस के बन्दरगाह थे। कालीमिर्च के साथ-साथ पिप्पली (Long pepper) का भी निर्यात बेरीगाजा के बन्दरगाह से होता था (पेरिप्लस ४९)।

अन्य मसालो मे इलायची और दालचीनी उल्लेखनीय है। रोम में इलायची (Cardamom) का प्रयोग दवाई के तथा सुगंधित द्रव्य के रूप में किया जाता था। पेरिप्लस ने इसका उल्लेख नही किया है, किन्तु अन्य लेखक इसका पर्याप्त वर्णन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका समुद्री मार्ग की अपेक्षा स्थलीय मार्ग से अधिक निर्यात होता था। दालचीनी का प्रयोग रोमन लोग दवाई, धूप और मसाले के रूप में करते थे। यह रोम मे बहुत ही मंहगी, १५०० दीनार प्रति पौण्ड के हिसाब से बिकती थी। इसके पत्तों और तने की छाल का विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जाता था। इसके पत्तों को यूनानी लोग मैलाबाथ्रम (Malabathrum) कहते थे। इसे तमालपत्र का अपभ्रश समझा जाता है। इसका निर्यात प्रधान रूप से दक्षिण भारत के बन्दरगाहों से (पेरि० पैं० ५६) और गगा नदी के डेल्टे के प्रदेश से हुआ करता था। बंगाल से बाहर जाने वाले तमाल-पत्र का मूल-स्रोत हिमालय की पर्वतमाला थी, यहाँ अब भी यह पाया जाता है। इसका दूसरा स्रोत दक्षिणी भारत था। मध्य युग में श्रीलंका में इसकी खेती बड़े पैमाने पर की

१. गिबन—डिक्लाइन एण्ड फाल आफ रोमन एम्पायर, खण्ड ३, पृ० २७२।

जाती थी और यहाँ की दालचीनी (Cinnamom zeylanicum) हिमालय की दालचीनी (Cinnamomum tamala) से कुछ भिन्न थी। किन्तु ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में यह लंका के स्थान पर मलाबार से ही बाहर जाया करती थी। इसके संबंध में एक मनोरंजक तथ्य यह है कि इसका निर्यात प्रधान रूप से भारत से होता था, लेकिन रोम में इसके बहुत मंहगा बिकने के कारण व्यापारी यह कहा करते थे कि वे इसे पूर्वी अफ्रीका के सुमालीलैण्ड तथा अरब प्रायद्वीप से लाते हैं। पेरिप्लस और स्ट्रेबो ने इसके सुमालीलैण्ड में उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। प्लिनी के मतानुसार यह ईथियोपिया में होती थी। किन्तु नवीन अन्वेषणों से यह पता लगा है कि इन प्रदेशों में दालचीनी का कोई पेड़ नहीं होता है।[1] यहाँ की जलवायु और भूमि में ऐसे पेड का उगना सम्भव नहीं है। इस विषय में वस्तुस्थिति यह प्रतीत होती है कि दालचीनी भारत और सुदूर पूर्व के देशों से सुमालीलैण्ड के समुद्री तट पर लायी जाती थी। यहाँ इसमें कुछ मिलौनी करके इसे अरब और मिश्र भेजा जाता था। इसके सुदूरपूर्व से आने का एक बड़ा प्रमाण यह है कि दालचीनी वस्तुत: फारसी भाषा का शब्द है, इसका अर्थ है चीनी अर्थात् चीन में होने वाले पेड़ की छाल या लकडी (दारु, दार) है। तीसरी से छठी शताब्दी ई० में चीनी जहाजों में इसे चीन से ईरान तक बडी मात्रा में लाया जाता था। सम्भवत: इससे पहली शताब्दियों में भी यह सुगन्धित द्रव्य चीन से मलाबार होते हुए रोम पहुंचता था। वहाँ इसका प्रयोग दो रूपों में होता था। उस समय दालचीनी (Cinamom) का आशय इस पेड के फूलों और कोमल अंशों (Shoots) से होता था। इसका प्रयोग केवल सम्राट् और धनी व्यक्ति ही किया करते थे। इसका वितरण अत्यधिक महत्वपूर्ण अवसरों पर होता था और यह १५०० दीनार अथवा ३२५ डालर प्रति पौण्ड के हिसाब से बिका करती थी। इसका दूसरा रूप कैस्सिया (Cassia) कहलाता था। इसमें इस पेड़ की छाल, जड, और लकडी (Split wood) सम्मिलित होती थी। यह साधारण जनता के प्रयोग में आती थी और ५० दीनार प्रति पौण्ड के हिसाब से बिका करती थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इसका मूल स्रोत भारत और पूर्वी देश थे, किन्तु इसको मंहगा बेचने के लिए व्यापारी इसके मूल स्रोत को छिपाये रखना चाहते थे और वे इसे पूर्वी अफ्रीका से रोम में ले जाया करते थे।

कुट (Costus) भी रोम में बहुत लोकप्रिय द्रव्य था। इसका प्रयोग

१. शॉफ—पेरिप्लस पृ० ८२, ८४ तथा २१६—२१९।

सुगन्धित पदार्थ बनाने में और स्वादिष्ट व्यंजन पकाने मे किया जाता था। यह भारत में हिमालय की पर्वतमाला में आठ हजार से तेरह हजार फीट की ऊँचाई तक उगने वाली एक वनस्पति (Saussurealappa) है। इसकी खेती आजकल भी काश्मीर में बहुत की जाती है और इसके व्यापार पर राज्य का एकाधिकार है। काश्मीर मे शाल के व्यापारी इसका प्रयोग अपने शालों को कीडा लगने से बचाने के लिए करते हैं। उन दिनों इस वनस्पति की जड को खोद कर छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर जहाजो में भर कर बेरीगाजा और बर्बरिकोन बन्दरगाहों से रोम भेजा जाता था।[1] रोम में इसकी जड़ का प्रयोग होने से इसे मूल अथवा रेडिक्स (Radix) कहा जाता था।

जटामासी (Nardastachy jatamansi) या बालछड़ भी कुठ की भाँति हिमालय की पर्वतमाला में १७ हजार फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होने वाली एक वनस्पति है। रोमन लोग इसके तने और पत्तों का उपयोग किया करते थे और इससे एक लेपन द्रव्य (Ointment) बनाते थे। यह उन दिनों सर्वोत्तम लेपन माना जाता था। प्लिनी के कथनानुसार इसकी विभिन्न किस्में उन दिनों ४० दीनार से ७५ दीनार प्रति पौण्ड तक बिकती थीं। इन सबमें एक मनोमोहक सुगन्ध होती थी। यह सुगन्ध ताजे पत्तों में अधिक पायी जाती थी। इससे बनाये गए लेपन द्रव्य की एक शीशी (Albaster box) उन दिनों ३०० दीनार के मूल्य की होती थी। इसका निर्यात बेरीगाजा, बंगाल और मलाबार के समुद्र-तट से किया जाता था। मलाबार में यह बंगाल से मगाया जाता था। बेरीगाजा में यह चार प्रदेशों-काश्मीर (Caspapyra), हिन्दूकुश पर्वत (Paropamisus), काबुल (Cabolic country) तथा सीथिया (Scythia) से आया करती थी।

---

१. मध्य युग में १७२० ई० में हैमिल्टन ने सूरत से इसके निर्यात का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह बहुत बड़ी मात्रा में चीन को भेजा जाता है और यहां इसकी बहुत अच्छी कीमत मिलती है, क्योंकि यहाँ सभी मूर्ति-पूजक अपनी मूर्तियो के आगे इसका धूप जलाना पसन्द करते हैं। अतः इसकी जड़ कूट कर इसका बहुत सूक्ष्म चूर्ण बना लिया जाता है। दियासलाई की एक तीली दिखाने से यह बहुत देर तक जलता रहता है और इसके जलने से अतीव सुगन्धित धुंआ निकलता है। न्यू एकाउन्ट, (New Account) खण्ड १ पृ० १२८।

पेरिप्लस ने यह भी लिखा है कि यह पोक्लेस (Poclais) होते हुए बेरीगाजा पहुंचती थी।[१]

रोमन लोगों में गन्धतृण (Nard) नामक वनस्पति भी बड़ी लोकप्रिय थी। कई बार भ्रमवश इसे जटामांसी से अभिन्न समझा जाता है। वस्तुतः यह उससे सर्वथा भिन्न वनस्पति है। जटामासी हिमालय के ऊँचे पहाड़ों में होती है और गन्धतृण पश्चिमी पंजाब, भारत, बिलोचिस्तान और ईरान के मैदानों में पायी जाती है। शाफ ने इसका वैज्ञानिक नाम जिन्जर ग्रास (Cymbopogon schoenanthus) दिया है। यह एक प्रकार की सुगन्धित घास है। इस घास की जड़ से एक तेल निकाला जाता है। इसका प्रयोग चिकित्सा में ग्राही (Astringent) के रूप में, लेपन द्रव्यों में और सुगन्ध बनाने में किया जाता था। एरियन ने यह लिखा है कि सिकन्दर की सेना जब बिलोचिस्तान के प्रदेश से यूनान की ओर वापिस लौट रही थी तो उनके रास्ते मे पडने वाले मरुस्थल में यह घास इतनी अधिक मात्रा में उगी हुई थी कि सैनिकों द्वारा इसके कुचले जाने पर चारों ओर दूर-दूर तक का प्रदेश इसकी सुगन्ध से महक उठा। (शाफ पेरिप्लस पृ० २७०)। यह घास भारत में कई स्थानों पर होती थी।

गुग्गुल (Bdellium) उत्तर पश्चिमी भारत, बिलोचिस्तान, अरब और पूर्वी अफ्रीका में उगने वाली एक वनस्पति (balsamodendron mukul) का एक सुगन्धित निर्यास या गोंद थी। प्लिनी (१२, १९) ने लिखा है कि उत्कृष्ट प्रकार का गुग्गुल बैक्ट्रिया से आता था और घटिया दर्जे का भारत और अरब

---

१. पेरिप्लस पृ० ४२, ४५, ४७, ११८–६। जटामांसी की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि इसका तना जड़ की भांति भूमि के अन्दर फैला रहता है और उससे नई-नई शाखायें फूटती रहती हैं। इस तने की मोटाई उंगली के बराबर होती है और यह हल्के लाल भूरे रेशों या जटाओं का समूह होने के कारण ही जटामांसी कहलाता है। इसमें बड़ी सुगन्धि होती है और तिर्यक्पातन से इसका तेल निकाला जाता है। आयुर्वेद में पहले इसका उपयोग बालों को काला बनाने और झड़ने से बचाने के लिए किया जाता था, अब इसे शामक औषधि के रूप में तथा रक्तचाप के लिए उपयोगी माना जाने लगा है। प्राचीन काल में इसका व्यवहार विदेशों में सुगन्धित द्रव्य और तेल बनाने के लिए ही होता था। पार्थिया के राजाओं के लिए बनाये जाने वाले राजकीय सुगन्ध द्रव्य (Regal ointment) का एक महत्वपूर्ण तत्त्व जटामांसी था (पेरिप्लस पृष्ठ ११२)।

से। उसके मतानुसार यह निर्यास पारदर्शक, मोम के रंग का, सुगन्धित और स्वाद में कड़वा होता था। धार्मिक कार्यों में इसका प्रयोग इसे शराब में मिलाकर किया जाता था, इससे यह सुगन्धित हो जाती थी। रोम में इसका दाम ३ दीनार प्रति पौण्ड था। इसका निर्यात बर्बरिकोन और बेरीगाजा के बन्दरगाहों से किया जाता था।

उपर्युक्त सुगन्धित द्रव्यों के अतिरिक्त रोमन जगत् में चिकित्सा एवं रंग बनाने के उद्देश्य से भी भारत से कुछ वानस्पतिक द्रव्यों का निर्यात किया जाता था। इनमें एक सुप्रसिद्ध पदार्थ दारुहरिद्रा (Berberis Lycium) थी। यह हिमालय में ६ हजार से १० हजार फीट की ऊँचाई तक उगने वाली कुछ वनस्पतियों से प्राप्त की जाती थी। इसकी जड़ों और तनों से पीला रंग बनाया जाता था और इसकी छाल, फल और तने से एक दवाई तैयार की जाती थी। प्लिनी (२४-७७) ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि इसकी शाखायें और जड़ें अत्यन्त कड़वी होती हैं। इन्हें कूट कर तीन दिन तक ताँबे के बर्तन में उबाला जाता है। इसके बाद लकडी के हिस्सों को पृथक् करके इसका काढ़ा शहद की तरह गाढा बनाया जाता है। इस काढे की झाग को आँख की विभिन्न बीमारियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसमें अन्य औषधियों को मिलाकर इससे कई दवाइयाँ बनायी जाती हैं। इसे गले और मसूड़े की बीमारियों, खांसी तथा बहने वाले फोड़ों के लिए बड़ा उपयोगी समझा जाता था। पोम्पियाई के ध्वंसावशेषों मे ऐसे बहुत से बर्तन मिले हैं जिनमें दारुहरिद्रा की दवाई तैयार की जाती है। आजकल भी आयुर्वेद में रसौंत के रूप में नेत्र-रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है। हिमालय से यह लकड़ी सिन्धु नदी के मुहाने पर बर्बरिकम में लायी जाती थी और यहाँ से इसका निर्यात रोम को किया जाता था । इसी बन्दरगाह से नील तथा डामर या इण्डियन कोपल (Indian copal) नामक निर्यास (Resin) पश्चिमी जगत् को भेजा जाता था। रोमन लोग इस निर्यास का उपयोग प्रधान रूप से वार्निश बनाने के लिए करते थे। अतिसार के लिए रोमन लोग भारत से मंगायी जाने वाली मेकिर (Macir) नामक औषधि का प्रयोग करते थे। यह कुटज (Holarrhena antidysentria) नामक पेड़ की जड़ की छाल होती थी। यह पेड़ भारत और बर्मा में तथा हिमालय की पर्वतमाला में साढ़े तीन हजार फीट की ऊंचाई पर एवं दक्षिण भारत में भी इसी ऊंचाई तक की पहाड़ियों में मिलता है। रोमन लोग इसकी छाल के काढ़े को शहद के साथ मिलाकर

अतिसार रोकने के लिए दिया करते थे। डामर और कुटज दोनों बर्बरिकम से पहले अफ्रीका के तट पर सुमालीलैण्ड की मण्डियों में भेजे जाते थे और यहाँ से इनका निर्यात रोमन साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों को किया जाता था।

इस समय रोमन जगत मे भारतीय गन्धमुकुटों की भी बडी माँग थी। यहाँ विभिन्न क्रीड़ाओं में विजय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को सम्मानित करने के लिए पुष्पमालाएं और सिर पर विभिन्न प्रकार के मुकुट बाँधने का रिवाज प्रचलित था। इस प्रकार के मुकुटों को वहाँ विजयमुकुट (Chaplets) कहा जाता था। प्लिनी (२१।१–१०) ने इनके संबंध में अनेक रोचक तथ्यो का उल्लेख किया है। इनका उपयोग केवल सम्मानित विजेता ही कर सकते थे, अन्य व्यक्तियों के लिए ऐसे मुकुटों का धारण करना कानून द्वारा दण्डनीय अपराध था। इस प्रकार के मुकुट देवताओं और पितरो की समाधियों पर भी चढाये जाते थे। पहले ये मुकुट (Laurels) विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों की पत्तियो व फूलो से तैयार किये जाते थे। बाद मे इन्हें सोने चाँदी आदि की बारीक पत्तियो से और विभिन्न प्रकार की कढाई वाले वस्त्रो के टुकडों और रेशम से तैयार किया जाने लगा। बाद मे स्त्रियो ने अलकरण के रूप मे इनका विकास किया। रेशम आदि के बहु-मूल्य वस्त्रो पर फूल काट कर और उन्हें युक्तिपूर्वक इत्रो में सुवासित करके इनसे शेखरक या गन्धमुकुट बनाये जाते थे, जिससे ये, दीर्घकाल तक सुरक्षित रह सके। रोम और यूनान की स्त्रियाँ इन्हें बहुत पसन्द करती थी। महावस्तु (पृ० ४६३) मे इस तरह के शेखरकों को गन्धमुकुट का नाम दिया गया है। प्लिनी ने भारत से इनके आयात का वर्णन करते हुए कहा है कि "ये कई रंगों के रेशम के टुकड़ों को सुवासित द्रव्यों मे भिगो कर बनाये जाते थे। हमारी स्त्रियो की विलासिता अब इस हद तक पहुँच गई है।"

भारत के सूती वस्त्र भी रोम मे बहुत लोकप्रिय थे। पहले यह बताया जा चुका है कि उन दिनों बंगाल, आंध्र, चोल राज्यो मे बढिया मलमल तैयार होती थी और विदेशों में भेजी जाती थी। सगम साहित्य मे दक्षिण भारत में तैयार होने वाली बारीक मलमल की उपमा साँप की केंचुली से दी गई, क्योकि वह इसके समान हल्की, चमकीली तथा पारदर्शक थी। रोमन लेखक पेट्रानियस ने इसे बुनी हवा का जाला (Ventus Textilis) कहा था। बढ़िया कपड़े के अतिरिक्त मोटे सूती कपड़े (Sagmagtogenc) तथा मोलोकाइन (Molo-chine) नामक कपड़े की कई किस्मों की भी विदेशो मे बड़ी माँग थी।

बेरीगाजा के बन्दरगाह से ये कपड़े अरब, पूर्वी अफ्रीका और मिश्र भेजे जाते थे।

रेशम की भी पश्चिमी जगत में बड़ी माँग थी। पहले रोमन लोग रेशम के तागों को अलसी के रेशों तथा उनके तारों के साथ जोड़कर वस्त्र बनाया करते थे। किन्तु बाद में विशुद्ध रेशमी वस्त्रो का प्रयोग बढ़ गया। प्लिनी (३७।६७) ने रेशम की गणना रोम की अतीव बहुमूल्य वस्तुओ में की है। सम्राट औरेलियन (२७०–ई०) की घोषणा के अनुसार इसका मूल्य तोल में सोने के बराबर होता था, यह सोने के साथ तुलकर बिकता था। उन दिनो रेशम की उत्पत्ति का सबसे बड़ा स्रोत चीन था और चीन वाले रेशम बनाने के रहस्य को गुप्त रखते थे। मध्य एशिया के मार्ग से यह रेशम चीन से पश्चिमी देशो को और भारत को भेजा जाता था। इसलिए इन मार्गों को रेशमी रास्ते अथवा कौशेय पथ (Silk routes) कहा जाता था। अफगानिस्तान और बैक्ट्रिया से यह रेशम भारत आ जाता था। भारतीय व्यापारी इसे रोम तक पहुँचाने मे बिचौलिए (Intermediaries) का काम करते थे और सिन्धु नदी के मुहाने तथा खम्भात की खाड़ी के बन्दरगाहो से इस माल को पश्चिमी जगत मे भेजा करते थे।

मोती.––रोम मे मोतियों का प्रयोग प्लिनी के कथनानुसार सम्राट आगस्टस द्वारा सिकन्दरिया जीतने के बाद आरम्भ हुआ और शीघ्र ही इनके आभूषण रोमन स्त्रियो मे अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। इनका उपयोग न केवल कर्णाभरणो और मुद्रिकाओ मे ही किया जाता था, अपितु जूतियो को भी इनसे सजाया जाता था। प्लिनी (९।५४–८) ने मोती धारण करने वाली रोमन स्त्रियो के फैशन का वर्णन करते हुए कहा है कि "हमारी महिलाए इस बात मे गौरव का अनुभव करती हैं कि वे मोतियों को अपनी उगलियो तथा कानो मे धारण करे। वे परस्पर मिलते समय अपने मोतियों के आभूषणों के टकराने से उत्पन्न हुई मधुर ध्वनि से आनन्दित होती है। इस समय यह स्थिति है कि निर्धन वर्गों की स्त्रियाँ भी मोतियों के आभूषणो को सार्वजनिक रूप मे धारण करने मे अभिमान अनुभव करती है और इसे अपनी प्रतिष्ठा मे वृद्धि करने वाला समझती है। उन्हें शरीर पर मोती धारण करने से ही सतोष नही है, वे उन्हें पैरो पर भी धारण करती हैं, न केवल उनके जूतों के तस्मे ही, अपितु सारी जूतियाँ ही मोतियो से जड़ी होती हैं। उनके लिए मोतियों का धारण करना ही पर्याप्त नही, वे मोतियो के साथ और उनके ऊपर चलना पसन्द करती है। मैने एक बार सम्राट कैलिगुला (३७–४१ ई०) की रानी लोलियापालीना (Lollia Paulina) के दर्शन किये थे।

यह कोई सार्वजनिक महोत्सव अथवा महत्वपूर्ण धार्मिक संस्कार का अवसर नहीं था, किन्तु सगाई का सामान्य अवसर था। इस समय उसका सिर, केशपाश, कर्ण, कण्ठ, बाजू, कलाई और उंगलियाँ पन्नों और मोतियों की चमकीली लड़ियों से पूर्णतया आवृत थे। इन सबका मूल्य चार करोड़ सैस्टर्स था, जिन्हें वह रसीदें दिखाकर प्रमाणित भी कर सकती थी।" रोमन स्त्रियों के मुक्ताप्रेम के कारण रोम में मोतियों की माँग बहुत अधिक बढ़ गई थी और यह माँग पाण्डय और चोल राज्यों के समुद्रतटो से निकलने वाले मोतियो से पूरी की जाती थी। यूनानी व्यापारी इन मोतियो को मलाबार के बन्दरगाहो से ले जाया करते थे। मोती यद्यपि ईरान की खाड़ी से भी निकाले जाते थे, फिर भी भारतीय मोतियों की तुलना में ये मोती घटिया समझे जाते थे। अतः रोम में भारतीय मोतियों की माँग अधिक थी। दक्षिण भारत उन दिनो मोतियो के व्यापार से बड़ा समृद्ध हो रहा था।

मोतियों के अतिरिक्त निम्नलिखित रत्न और माणिक्य भी पश्चिमी जगत् को भेजे जाते थे—(क) पन्ना (Beryl) ।[१] प्लिनी (३७–२०) के मतानुसार पन्ने का उत्पत्ति-स्थान केवल भारत ही था। पहले यह बताया जा चुका है कि दक्षिणी भारत के तीन स्थानों मे इसकी खाने थी—(१) कोयम्बटूर नगर से चालीस मील पूर्व-दक्षिण मे पडियूर या पट्टियाली, (२) मैसूर के दक्षिण-पूर्व में कावेरी की एक सहायक नदी कव्वानी पर किट्टूर के निकट पुन्नाटा, (३) सलेम जिले के उत्तर-पूर्वी कोने मे वानियम बाड़ी। यह स्थान कोलार के स्वर्ण क्षेत्र के निकट है। इन जिलों मे रोम की स्वर्ण-मुद्राएं बहुत बड़ी संख्या मे पायी गई हैं। ये इस बात को सूचित करती है कि यहाँ से निकाले जाने वाले पन्ने मलाबार के बन्दरगाहो से पश्चिमी जगत् को भेजे जाते थे। इसी प्रदेश में नीलम (Sa-

१. श्री कुलकर्णी (रसरत्नसमुच्चय पृ० ७७) के मतानुसार (Beryl) को हिन्दी में पन्ना, पनुग्रा या साजा और संस्कृत में तार्क्ष्य मरकत, हरिन्मणि, गरुडोद्गार, गरुत्मत् और अंग्रेजी में Emerald कहते हैं। इसे यह नाम तभी दिया जाता है जब क्रोमिक ओक्साईड के कारण इसका रंग हरा होता है। कुछ मणियों का रंग समुद्र के जल जैसा हरापन लिए नीला होता है। इसे Aquamarine कहा जाता है, रालिन्सन (पृ० १०१) ने Beryl शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के वैडूर्य शब्द से मानी है, क्योंकि यह दक्षिण में पडियूर नामक स्थान की खानों से निकाला जाता था। कुलकर्णी ने वैडूर्य को लहसुनिया (Cat's eye) बताया है।

ppire) होता था। प्लिनी ने इसका उल्लेख हियासिन्थस (Hyacinthus) के नाम से किया है। यह श्वेत, हरा, पीला, आसमानी और नीले रंग का होता था। प्लिनी (३७।१५) ने भारतीय हीरे की बड़ी प्रशंसा की है। उसके मतानुसार न केवल बहुमूल्य रत्नों और मणियों में इसका स्थान सर्वोच्च था, अपितु मानव के अधिकार में विद्यमान सभी वस्तुओ मे इसका मूल्य सबसे अधिक था। भारत में हीरों की प्राप्ति के प्रधान स्रोत उत्तरी भारत मे पन्ना के निकट विन्ध्य पर्वत-माला की खानें, महानदी की घाटी, सम्बलपुर और चाँदा के जिले तथा दक्षिणी भारत मे कड़प्पा, बेलारी, कुरनूल, कृष्णा, गोदावरी के जिले हैं। उस समय हीरों का निर्यात पेरिप्लस के वर्णनानुसार चेर और पाण्डय राज्यो के बन्दरगाहो—मुज-रिस, नेलकिण्डा और बकरे से हुआ करता था। इसके साथ ही कुछ अन्य प्रकार के मणि-माणिक्य भी विदेश भेजे जाते थे। पेरिप्लस ने इनका सामान्य उल्लेख करते हुए कहा है कि यहाँ से हीरे और नीलम तथा बढ़िया मोतियो के अतिरिक्त सब प्रकार के पारदर्शक मणि-माणिक्य विदेश भेजे जाते थे। उसने इनका स्वरूप स्पष्ट नही किया। किन्तु बेरीगाजा के निर्यात पदार्थों मे गोमेद (Agate) और सुलेमानी (Onyx) थे। प्राचीन काल मे गुजरात इसके व्यापार का बड़ा केन्द्र था। इसका विशेष उपयोग प्याले बनाने मे तथा चाकू, तलवार आदि की मूठ और विभिन्न आभूषण बनाने मे किया जाता था। रोमन जगत् मे इसके प्यालों की काफी माँग थी। गुजरात के बन्दरगाह इसके निर्यात के प्रधान केन्द्र थे।

हाथी-दाँत :—यह रोम मे बड़ा लोकप्रिय था। रोमन जगत् के सम्भ्रान्त धनी परिवार हाथी-दाँत के पलंग तथा विभिन्न प्रकार के अन्य पदार्थ बनवाया करते थे। पेरिप्लस के समय मे हाथी दाँत का निर्यात बेरीगाजा, मुजरिस और नेल-किण्डा के बन्दरगाहो से होता था। हाथी दाँत से बने पलंगो को कछुओं की खापड़ियों (Tortoise shell) से सजाया जाता था। अतः इन खपड़ियो का भी भारत से निर्यात हुआ करता था। पेरिप्लस के वर्णनानुसार उन दिनो सर्वोत्तम प्रकार की खपड़ी सुवर्ण भूमि (Chryse) अथवा मलाया के प्रायद्वीप में होती थी। इसे वहाँ से और लंका से मलाबार के बन्दरगाहो मे लाकर पश्चिमी जगत् को भेजा जाता था। भारत की वन्य एवं पशु सम्पदा की अनेक वस्तुएं बाहर जाया करती थीं। बेरीगाजा से चन्दन, सागौन, शीशम और आबनूस की लकड़ी नियमित रूप से ईरान की खाड़ी के बन्दरगाहो को भेजी जाती थी। इन दिनो भारतीय पशु-पक्षियो का भी आकर्षण रोमन लोगों के लिए प्रबल था। जिस समय सम्राट आगस्टस

गद्दी पर बैठा उस समय कई भारतीय राज्यों के दूत उसे बधाई देने पहुँचे । इ
समय "भारत मे छः सौ राजाओं के अधिपति" एक भारतीय सम्राट के ृ
२५ ई० पू० में भरुकच्छ से रवाना होकर चार वर्ष में आगस्टस के पास रो
पहुँचे। उनकी यात्रा मे इतना अधिक समय लगने का कारण यह था कि वे अप
साथ सम्राट को जो उपहार भेंट देने के लिए ले गये थे उनको सुरक्षित रूप से ले जा
के लिए उन्हें बड़े लम्बे स्थल मार्ग से जाना पड़ा। उपहार की वस्तुओं में बाः
भारी-भारी कछुए, बाज के बराबर का एक कबूतर और पैर से तीर चलाने वाल
एक लूला लड़का था। भारतीय पशु - पक्षियों का निर्यात लेम्पोस्कस से मिल
एक चाँदी की थाली से भी होता है। प्रो० रोस्तोवोजेफ के मतानुसार यह दूसरं
या तीसरी शताब्दी ई० की है।[1] इसमे भारतमाता हाथीदाँत के पाँवो वाली एः
भारतीय कुर्सी पर बैठी है। उसका दायाँ हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में है और बाः
हाथ मे एक धनुष है। वह एक महीन मलमल की साड़ी पहने हुए है और उसवे
जूड़े से ईख के दो टुकड़े बाहर निकले हुए हैं। उसके चारों ओर तत्कालीन
रोमन जगत् मे लोकप्रिय भारतीय पशु-पक्षी-एक सुग्गा, एक मुनाल (Gui
nea fowl) दो कुत्ते (रोस्तोवोजेफ के अनुसार बन्दर) हैं, उसके पैर के नीचे
दो भारतीय पशु एक पालतू शेर और एक चीता पड़े हुए है। इस थाली से यह
स्पष्ट है कि रोमन लोगों को भारतीय पशु-पक्षियो से बड़ा प्रेम था। रोम में
शायद भारतीय शिकारी कुत्ते भी भेजे जाते थे। हिराडोटस ने लिखा है कि एक
ईरानी राजा ने अपने भारतीय कुत्तो के लिए चार गाँवों की उपज निश्चित
कर दी थी। तीसरी शताब्दी ई० पू० के एक पेपिरस से ज्ञात होता है कि जेनन
नाम के एक यूनानी ने अपने उस भारतीय कुत्ते की मृत्यु पर दो कविताए लिखी
थी जिसने अपने स्वामी के प्राणों की रक्षा एक जगली सुअर से की थी।[2]

निर्यात:—कुछ कृषि-जन्य और खनिज उत्पादनों का भी निर्यात किया
जाता था। चावल, गेहूँ, घी, तिल का तेल (Sesame oil) और खाण्ड, गुजरात,
काठियावाड़ (Ariaca) से भारतीय जलपोतों मे पूर्वी अफ्रीका की मण्डियो में
भेजी जाती थी। बेरीगाजा और मलाबार से व्यापारी अपने साथ चावल और गेहूँ
को सोकोत्रा के टापू मे बेचने के लिए ले जाया करते थे। खनिज पदार्थों मे भारतीय

१. दी इकोनोमिक हिस्टरी आफ दि रोमन एम्पायर, ओक्सफोर्ड १९२६
प्लेट १७ ।

२. मोतीचन्द—सार्थवाह, पृ० १२६ ।

लोहे और फौलाद की वस्तुओं का निर्यात गुजरात और काठियावाड़ से सुमाली-लैण्ड के प्रदेश को किया जाता था, यहाँ से इन्हें मिश्र भेजा जाता था। उन दिनों सिकन्दरिया के बन्दरगाह में जिन वस्तुओं पर चुगी लगती थी, उनकी सूची में भारत से जाने वाला फौलाद भी सम्मिलित था।

आयात:—(क) **सोना-चाँदी**:—भारत में आने वाली वस्तुओं मे सर्वोच्च स्थान बहुमूल्य धातुओं और सिक्कों का था। निर्यात-पदार्थों की तुलना मे भारत पश्चिमी जगत् से बहुत कम माल मगाता था, अतः रोम को अपने माल का मूल्य चुकाने के लिए सोने, चाँदी के सिक्के बहुत बड़ी मात्रा मे भारत भेजने पड़ते थे। २२ ई० में सम्राट टाइबेरियस ने रोम की सीनेट को लिखित रूप में इस बात की शिकायत की थी कि रोमन साम्राज्य विदेशों से दिखावटी और चटकीली वस्तुएँ मगाने के लिए अपना कोष रीता कर रहा है। पेरिप्लस ने यह बताया है कि उन दिनो बेरीगाजा तथा मलाबार के बन्दरगाहों मे भारतीय वस्तुओ का मूल्य चुकाने के लिए सोने और चाँदी के रोमन सिक्के बड़ी मात्रा में यहाँ आया करते थे। प्लिनी (४।२५) ने इस बात का रोना रोया है कि भारतीय वस्तुए रोम मे अपनी असली कीमत से सौ गुना अधिक मूल्य पर बिकती है, रोम भारत को बहुत कम माल बेचता है और उससे खरीदे जाने वाले माल के कारण उसे प्रति वर्ष बहुत बड़ी धनराशि भारत भेजनी पड़ती है। यह धनराशि यहाँ रोम की स्वर्ण मुद्राओ के रूप मे आती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में रोमन सिक्कों का मुद्राओं की भाँति प्रयोग होता था। किन्तु उत्तर भारत में पश्चिम से आने वाली मुद्राओं को गलाकर कुषाण राजाओ ने अपनी स्वर्ण मुद्राए प्रचलित की। सोने-चाँदी के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय आयात पदार्थों में सुन्दरियाँ, मणियाँ, शराब, सुगन्धित द्रव्य, कई प्रकार के खनिज एव धातुए थीं।

(ख) **दासियाँ**:—जैन साहित्य से हमे यह ज्ञात होता है कि इस देश में विदेशी दास-दासियों की खूब खपत थी। भगवतीसूत्र (९।६) से यह पता लगता है कि सुमालीलैण्ड, बैक्ट्रिया, यूनान, सिंहल, अरब, फर्गाना, भारत आदि देशो से भारत में दासियाँ मगाई जाती थीं।। ये अपने देश की वेश-भूषा मे रहा करती थीं और इस देश की भाषा न जानने के कारण इशारों से ही बाते किया करती थी। पेरिप्लस (४९) के मतानुसार उस समय ईरान की खाड़ी से बेरीगाजा में सुन्दर कन्याओं का आयात रखैल (Concubine) बनाने के लिए हुआ करता था। भारत में विदेशी लड़कियो की लोकप्रियता इससे भी सूचित

होती है कि यूडाक्सस ने जब अफ्रीका की परिक्रमा करते हुए भारत जाने वाले अपने जहाज के लिए माल भरा तो इसमे गाने वाली लडकियाँ और नर्तकियाँ भी सम्मिलित थी।[1] टार्न का यह कहना है कि उन दिनों भारतीय राजाओ के अन्तःपुरो के लिए विदेशी कन्याओ की बड़ी माँग थी, क्योकि पेरिप्लस ने बेरी-गाजा का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ राजाओं को उपहार में दी जाने वाली वस्तुओं में न केवल चाँदी के बहुमूल्य बर्तन, बढ़िया शराब, बढ़िया वस्त्र थे, अपितु उनके अन्तःपुर के लिए सुन्दर कन्याए और गाने वाले लड़के भी हुआ करते थे। भास के तथा उसके बाद के संस्कृत कवियो के नाटको मे राजाओ की यवन सेविकाओं के उल्लेख से भी विदेशी दासियो के आयात की बात पुष्ट होती है। इस सबध मे यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यदि भारत मे यवन दासियो की माँग थी तो टालमी (२८५–२४६ ई० पू०) द्वितीय के समय मिश्र मे भारतीय कुत्तों और पशुओ के साथ भारतीय लड़कियो का भी आयात होता था।[2] पहली शताब्दी ई० में मिश्र मे पूर्वी देशो से समुद्री मार्ग द्वारा वेश्यावृत्ति के लिए मंगायी जाने वाली लड़कियो पर बहुत अधिक चुगी ली जाती थी और यह इस व्यापार की लोकप्रियता का सूचक है। टार्न के मतानुसार ईसा पू० की आरम्भिक शताब्दियों मे भूमध्यसागर में विद्यमान डेलोस के टापू मे दासो के व्यापार में वृद्धि होने के साथ, सभवत. यूनानी कन्याओ के भारत भेजने के वाणिज्य का विकास हुआ था।

(ग) **मूंगा**:—पश्चिमी जगत् से भारत आने वाली वस्तुओ मे प्रवाल या मूगे का महत्वपूर्ण स्थान था। इसकी उत्पत्ति छिछले समुद्रो मे जल-जन्तुओ के द्वारा होती है। ये अपनी जीवन-यात्रा चलाने के लिए समुद्र के जल को पीते है। इससे उनके शरीर मे चूने की मात्रा बढने लगती है। इसके निश्चित मात्रा से अधिक बढ़ने पर ये जन्तु मर जाते हैं। इनके मृत शरीर ही प्रवाल होते है। प्रवाल सफेद, मटमैले, काले और लाल रग के होते हैं। काले रग का प्रवाल ईरान की खाड़ी मे और लाल रग का प्रवाल भूमध्यसागर मे मिलता है। भारत मे लाल रग के प्रवाल की ही गणना रत्नो मे की जाती है। प्राचीन काल से इसे बहुत पवित्र माना जाता है, इसकी मालाए बनाकर जाप करने से बड़ा पुण्य समझा जाता है। गुलाब-जल मे इसे घोट कर बनाई हुई पिष्टि तथा इसके

---

१. टार्न—दी ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, पृ० ३७४।
२. टार्न—पृ० ३७४–५।

पुटपाक से बनायी गई भस्म आयुर्वेद की एक महत्वपूर्ण औषधि है। लाल रंग का मूगा पिछले दो हजार वर्ष से भारत मे भूमध्यसागर के समीपवर्त्ती प्रदेशों से मँगाया जाता रहा है। प्लिनी (३१।७, ३२।२)के मतानुसार प्रवाल को भारत में असाधारण महत्व दिया जाता था। जिस प्रकार रोमन स्त्रियाँ भारतीय मोतियों के अलंकरण पहनने में गर्व का अनुभव करती थी, वैसे ही भारतीय पुरुष मूगे का धारण करना महत्वपूर्ण समझते थे। पहली शताब्दी ई० मे बर्बरिकम और बेरीगाजा के बन्दरगाहो से मूगे का आयात किया जाता था।

घटिया दर्जे के मोती ईरान की खाड़ी से मगाये जाते थे। यहाँ से बैंगनी रग भी भारत आता था। खाद्य पदार्थों में वर्तमान समय की भाँति खजूरे ईरान की खाड़ी से बहुत बड़ी मात्रा मे मगायी जाती थीं। विदेशी शराब भारत मे बहुत लोकप्रिय थी। इसके तीन प्रधान स्रोत इटली, लाओदिके (Laodicae) तथा अरब थे। ये शराबे बेरीगाजा और मलाबार के बन्दरगाहों में आया करती थी। इनमे इटली की शराब अधिक अच्छी समझी जाती थी। स्ट्रेबो (६,१३,१६, २, ९) हमे यह बताता है कि उन दिनो इटली मे सबसे बढ़िया शराब कम्पानिय मे बनायी जाती थी। सीरिया के समुद्र-तट पर एन्टियोक के निकट लाओदिके मे बनायी जाने वाली शराब (Laodican) सिकन्दरिया और मिश्र की आवश्यकताओं को पूरा करती थी। अरब देशो की शराब चमन के अंगूरो तथा ईरान की खाड़ी की खजूरों से तैयार की जाती थी। विदेशो से मंगाये जाने वाले सुगन्धित एव आयुर्वेदीय पदार्थों—लोबान (Frankincense) और स्टोरेक्स (Storax)—का आयात बर्बरिकम मे तथा स्वीट क्लोवर (Sweet clover) का आयात बेरीगाजा में होता था। यह कम्पनिया, क्रीट और यूनान से कई मध्यवर्ती व्यापारियो द्वारा मगाया जाता था। जैन कल्पसूत्र (पृ० ३२) में काली घृतकुमारी के एक तुर्क प्रकार का उल्लेख है और कुछ जातकों में तुरुष्क और यवन सुगन्धियो का उल्लेख है।[1] ये सम्भवतः विदेशों से आने वाले सुगन्धित द्रव्य थे।

खनिज द्रव्यों मे, आयात किये जाने वाले पदार्थों मे हड़ताल (Orpiment) और मनसिल (Realgar) उल्लेखनीय हैं। ये दोनों सखिया के समास हैं। हड़ताल पीले रंग का होता है। इसे दवाई के और रग बनाने के काम में लाया जाता है और मनसिल का रंग लाल होता है। ये दोनों ईरान की खाड़ी

---

१. जातक, खण्ड १, पृ० २६५; खण्ड ३, पृ० २९१; खण्ड ५, पृ० ७९।

से मलाबार के बन्दरगाहो और बेरीगाजा मे मंगाये जाते थे। प्लिनी ने (६, २६) मे लिखा है कि करमानिया में सखिया की खानें है। सुरमा संभवतः पूर्वी अरब और करमानिया से बेरीगाजा आया करता था। हड़ताल और मनसिल का उपयोग प्रधान रूप से वार्निश एव रगाई के काम में होता था। सुरमे का प्रयोग अंजन बनाने के लिए होता था। ताँबा, सीसा और राँगा भी बेरीगाजा और मलाबार के बंदरगाहों मे बाहर से मगाये जाते थे। ताँबे का मूल स्रोत सभवतः करमानिया था और राँगा स्पेन से मिश्र होता हुआ यहाँ आता था। बर्बरिकम में सोने, चाँदी के पतरे (Plates) मगाये जाते थे और बेरीगाजा में ईरान की खाड़ी से संभवतः पूर्वी अरब की खानो से सोना आया करता था। बहुमूल्य मणियो मे पुष्पराज अथवा पुखराज (Topaz) का आयात रक्त सागर के द्वीपो से बर्बरिकम में हुआ करता था और इसके टुकडे प्राय. चतुष्कोण होते थे। इनके अतिरिक्त भारत मे कई प्रकार का कपड़ा और शीशा मगाया जाता था।

पश्चिमी जगत् के साथ व्यापार भारत के लिए बड़ा लाभदायक था। भारत इन देशो को बहुत अधिक मूल्य का माल बेचता था और इनमे कम मूल्य का माल खरीदता था, अत यह व्यापार उसके लिए सदैव अनुकूल रहता था, क्योंकि रोम को भारत से मगाई गई वस्तुओं का अधिक मूल्य चुकाने के लिए अपनी स्वर्ण और रजत मुद्राए तथा अन्य देशों को सोना प्रचुर मात्रा में भेजना पड़ता था। प्लिनी (६।२५) के कथनानुसार "कोई भी वर्ष ऐसा नहीं बीतता था जब कि भारत हमारे देश से ५५ करोड़ सैस्टर्स की धन राशि न खींच लेता हो। इसके बदले मे वह हमे ऐसे माल भेजता है जो यहाँ सौ गुने दाम पर बिकते हैं।"

पचपन करोड़ सैस्टर्स का मूल्य शाफ के मतानुसार दो करोड़ बीस लाख डालर है। वर्तमान विनिमय दर (१डा०=साढ़े सात रुपये) के अनुसार यह राशि भारतीय मुद्रा मे साढे सोलह करोड रुपये बैठती है। प्रतिवर्ष इतनी अधिक धनराशि का अपने भोग-विलास की वस्तुओ पर व्यय करना रोमन साम्राज्य के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। इससे उसका स्वर्ण-कोष रीता होने लगा और रोमन मुद्राओं में सोने-चाँदी की मात्रा घटने लगी। रोम की समृद्धि का श्रीगणेश विभिन्न राज्यों को जीतने से प्राप्त लूट के माल से हुआ और उसकी क्षीणता का कारण इस सम्पत्ति को उत्पादन मे न लगा कर भोग-विलास की वस्तुओ पर भारी व्यय करना था। २७२ ई० पू० मे टारेन्टम की समृद्ध नगरी

को लूटने के बाद रोम ने ताँबे के स्थान पर चाँदी के सिक्के चलाये। १४६ ई० पू० में कार्थेज और कोरिन्थ जीतने के बाद रोम को बहुत बड़ी मात्रा में सोना मिला और स्वर्ण मुद्राओं का प्रयोग शुरू हुआ। जूलियस सीजर के युद्धों से रोमन साम्राज्य में सोना इतना अधिक हो गया कि सोने चाँदी के मूल्य का अनुपात १ और ८९ हो गया। आगस्टस (२७ ई० पू०–१४ ई०) के समय में यह अनुपात १ और ९.३ हो गया। क्लाडियस (४१–५४ ई०) के समय में भारत के साथ सीधा समुद्री व्यापार आरम्भ हुआ और नीरो (५४–६८ई०) के शासन-काल में रोम का आडम्बरपूर्ण अपव्यय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इसके परिणाम स्वरूप सोने चाँदी की कमी होने लगी और सिक्कों में बीस प्रतिशत ताँबे का खोट मिलाया जाने लगा। ट्राजन (९८–११७ ई०) के समय में चाँदी के दीनार में खोट की मात्रा ३० प्रतिशत और सेप्टिटमियस सेवरस् (२०९–२११ ई०) के समय ५० प्रतिशत हो गई। २१८ ई० में चाँदी का दीनार पूर्ण रूप से ताँबे का सिक्का बन गया। सोने के सिक्के औरियम (Aureus) में भी इसी प्रकार सोने की मात्रा घटती चली गई। आगस्टस के समय इसका भार एक पौण्ड था, डायोक्लेशियन (२८४–६) के समय १/६० और कान्स्टैण्टाइन (३२४–२७ ई०) के समय यह १/७२ ही रह गया। रोम में सोने-चाँदी की इस भारी कमी के कारण ही साम्राज्य की राजधानी को रोम से हटाकर अन्यत्र ले जाना पड़ा था।[१]

दक्षिण पूर्वी एशिया (सुवर्ण भूमि) के साथ व्यापार:—ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में भारत ने दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों के साथ भी व्यापार का विकास किया। उन दिनों भारतीय लोग बर्मा, मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा आदि के टापुओं को सामान्य रूप से सुवर्ण भूमि अथवा सुवर्ण द्वीप कहा करते थे। पहले यह बताया जा चुका है कि आंध्र प्रदेश से दो मस्तूलों वाले बड़े व्यापारिक जलपोतों में बैठकर व्यापारी लोग स्वर्ण भूमि की यात्रा किया करते थे। दूसरी शताब्दी ई० के मध्य में इन प्रदेशों का भूगोल लिखने वाले टालमी ने यह बताया है कि सुवर्ण भूमि जाने वाले जहाज अलोसिंज (Allosynge) नामक स्थान के उत्तर में एकत्र होते थे और वहाँ से सुवर्ण भूमि के लिए रवाना होते थे। इस स्थान की पहिचान आंध्र प्रदेश में आधुनिक चिकाकोल से की गई है। आंध्र प्रदेश के व्यापारियों ने सम्भवतः

१. शाफ—पेरिप्लस पृ० २१९–२०।

विदेशी वाणिज्य से जो सम्पत्ति कमाई थी, उसके दान से अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा के स्तूपों का निर्माण हुआ। सुवर्ण भूमि के लिए, प्रस्थान करने का दूसरा बड़ा केन्द्र बंगाल में गंगा के मुहाने पर अवस्थित ताम्रलिप्ति (Tamalitess) तथा गगेस (Ganges) नामक बन्दरगाह थे। पश्चिमी तट के भरुकच्छ (भड़ौंच) के बन्दरगाह से सुवर्ण भूमि की यात्रा करने की कई कथाएं जातक साहित्य में दूसरी शताब्दी ई० के अवदानशतक में तथा बृहत्कथामंजरी, बृहत्कथाश्लोक संग्रह तथा कथासरित्सागर में मिलती है। चीनी लेखकों ने भी भारतीय व्यापारियों के कम्बोडिया और मलाया प्रायद्वीप में तीसरी शताब्दी ई० में व्यापार करने का वर्णन किया है। महावस्तु (२।८९–९०) में वारवालि नामक स्थान में रहने वाले ब्राह्मण गुरु की एक रोचक कहानी दी गई है। इनके ५०० शिष्य थे और श्री नामक एक सुन्दरी कन्या थी। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि वे यज्ञ कराने के लिए अपने एक शिष्य को समुद्रपट्टन भेजना चाहते है, जो शिष्य वहाँ जायगा उसके साथ वे अपनी कन्या का विवाह कर देंगे। इस पर श्री से प्रेम करने वाला एक युवा शिष्य समुद्रपट्टन पहुँचा और उसने वहाँ यज्ञ कराके अपनी दक्षिणा प्राप्त की। डा० मोतीचन्द के मतानुसार वारवालि सम्भवत: काठियावाड का वेरावल बन्दरगाह था और समुद्रपट्टन सुमात्रा का टापू।[1] महानिद्देस के लेखक ने दक्षिणपूर्वी एशिया के कई बन्दरगाहों और प्रदेशों—तक्कोल, सुवर्णकूट, सुवर्णभूमि, जावा (जव), ताम्रलिंग (तमली), बंका[2] (बंग) का उल्लेख किया है। सुवर्णभूमि में इसी युग में फूनान और चम्पा में भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। इनसे भी संभवत: व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला होगा, किन्तु इस समय व्यापार में वृद्धि का एक बड़ा कारण रोमन जगत में भारतीय मसालों और सुगन्धित द्रव्यों की बढ़ती हुई माँग थी।

सुवर्ण भूमि के साथ होने वाले व्यापार की वस्तुओं में सर्वप्रथम सोने का उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है। वाल्मीकि रामायण और सद्धर्मस्मृत्युपस्थानसूत्र में यहाँ सुवर्ण रूप्यक द्वीप अर्थात् सोने और चाँदी के द्वीप का तथा सुवर्ण

---

१. मोतीचन्द—सार्थवाह।

२. संस्कृत में बंग का अर्थ रांगा होता है। प्राचीन काल में बंका टापू रांगे की खानों के लिये प्रसिद्ध था। बंका टापू मलाया और जावा के बीच में है। यहाँ से रांगा निकाला जाने के कारण संभवत: इस टापू के नाम पर संस्कृत में इस धातु को बंग का नाम दिया गया था।

कुड्यक (सोने की दीवार) का वर्णन किया गया है। टालमी (७,२,१७) ने गंगा-पार के भारत के प्रदेश मे सोने चाँदी की खानो वाले देशों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उसने जावा के टापू को भी सोना पैदा करने वाला बताया है और इसकी राजधानी को रजतनगरी (Argyre) कहा है। यूनानी लेखक मलाया के प्रायद्वीप को स्वर्ण भूमि (Golden Chersonese) कहते थे। इन सब सकेतो से यह प्रतीत होता है कि भारतीयो के इस प्रदेश में आने का प्रधान कारण यहाँ से सोना प्राप्त करना था। टालमी ने गंगा पार के भारत में खलकिटिस नामक ताँबे की खानो वाले एक देश का भी वर्णन किया है, किन्तु इस देश की सही पहिचान नही की जा सकी है। राँगे अथवा वंग का निर्यात इस प्रदेश के बंका टापू से होता था, इसलिए इसे सस्कृत में बंग कहा जाता है। कालीमिर्च का सस्कृत मे एक नाम धर्मपत्तन भी है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह धर्मपत्तन स्याम की खाडी मे स्थित नखोन धर्मराट (धर्मराजनगर) नामक बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह से कालीमिर्च के भारत मे आने के कारण ही इसे धर्मपत्तन भी कहा जाने लगा। उन दिनों कालीमिर्च मलाया प्राय द्वीप के पूर्वी तट पर धर्मपत्तन से लदकर भारत में ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर कोलक के बन्दरगाह पर उतरती थी और फिर उसका चालान भारतीय व्यापारियों द्वारा अरबो के हाथों रोमन साम्राज्य के लिए होता था। इसकी बहुत सुन्दर स्मृति काली मिर्च के दो पर्यायों—**कोल** और **धर्मपत्तन** में बच गई है।[1] सुवर्ण द्वीप का एक अन्य महत्वपूर्ण पण्य कछुए की खपड़ियाँ थी। पेरिप्लस के मतानुसार यहाँ की खपडियाँ सर्वोत्तम होती थीं। इनकी रोम में बडी माँग थी। अत: भारतीय व्यापारी इन्हें यहाँ से मलाबार ले जाते थे और वहाँ से इसका निर्यात पश्चिमी जगत को किया जाता था। कई प्रकार का चन्दन और अगर सुवर्णभूमि के विभिन्न प्रदेशों से आता था। सबसे अच्छा गोशीर्ष चन्दन मेकासर और तिमोर टापू का समझा जाता था। दिव्यावदान में दी गई पूर्ण के भाई की यात्रा के वर्णन से यह पता लगता है कि उसने भाई की सलाह न मान कर रक्त चन्दन की तलाश में समुद्र-यात्रा की। वह इसे पाने के लिए तिमोर टापू मे पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने चन्दन के बहुत से पेड़ काट डाले, जिससे क्रुद्ध होकर वहाँ के यक्ष ने एक तूफान (कालिकावात) खडा कर दिया। इसमें उसकी जान बड़ी मुश्किल से बची। बुद्ध का स्मरण करते ही तूफान रुक गया

१. मोतीचन्द—सार्थवाह पृ० ९, अमर कोश—कोलं धर्मपत्तनम्।

और वह अपने साथियों सहित सकुशल घर वापिस लौट आया।[1] उन दिनों मेकासिर अर्थात् सेलिबीज टापू में भी अच्छा चन्दन मिलता था। अगर चम्पा और अनाम से आता था।

चीन के साथ व्यापार

(क) **स्थलीय मार्गः**—इस युग मे स्थलीय एव समुद्री मार्गों से चीन के साथ व्यापार का विकास हुआ। मध्य एशिया मे कुषाण साम्राज्य स्थापित हो जाने से यहाँ के स्थलीय मार्गों से इस वाणिज्य को प्रोत्साहन मिला। यह पहले बताया जा चुका है कि मध्य एशिया के कौशेय पथों (Silk routes) द्वारा चीन से आने वाला रेशम सिन्धु नदी के मुहाने के बन्दरगाह-बर्बरिकम से पश्चिमी जगत को भेजा जाता था। किन्तु मध्य एशिया के मार्ग से भी अधिक पुराना स्थलीय मार्ग दक्षिणी–चीन से आसाम आने वाला था। चागकियेन जब १२८ ई० पू० में मध्य एशिया के मार्ग से पहली बार युइची लोगो के राज्य बैक्ट्रिया मे पहुँचा तो उसे वहाँ के बाजारों में चीन के रेशम को तथा बाँस की वस्तुओ को देखकर बडा आश्चर्य हुआ। जब उसने यह पूछा कि यह रेशम वहाँ किस मार्ग से पहुँचा है तब उसे यह उत्तर मिला कि यह भारत होकर आता है। भारत में इस रेशम के पहुँचने का मार्ग आसाम होकर था।

यह सभवत· चीन के साथ व्यापार का प्राचीनतम मार्ग था। उन दिनो दक्षिणी–चीन के प्रान्तो से चीनी माल युन्नान और उत्तरी-बर्मा होते हुए आसाम के रास्ते गंगा की घाटी में पहुँचता था और यहाँ से उत्तरी-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान होते हुए बैक्ट्रिया के बाजारो मे बिकता था। पहली शताब्दी ई० में चीन का रेशम और सूत इसी मार्ग से पहले आसाम से गंगा के डेल्टे मे आता था और यहाँ से विदेश भेजे जाने के लिए मलाबार के बन्दरगाहों को भेजा जाता था। कुषाण साम्राज्य स्थापित हो जाने के बाद मध्य एशिया के स्थलीय मार्गों का अधिक प्रयोग होने लगा।

(ख) **समुद्री मार्ग**·—ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में स्थलीय मार्गों के साथ-साथ समुद्री मार्ग का भी विकास हुआ। पेरिप्लस के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि उस समय चीन के साथ भारत का समुद्री व्यापार प्रचलित था। पहली शताब्दी ई० के एक चीनी ऐतिहासिक पान-कू के ग्रन्थ में टोनकिन की खाडी से आगे के ह्वांगची आदि कुछ ऐसे दूरवर्ती देशों का वर्णन है जहाँ चीनी व्यापारी

१. मोतीचन्द—सार्थवाह, पृष्ठ १४५।

मोती और बहुमूल्य मणि-माणिक्य खरीदने के लिए विदेशी जहाजों में बैठ कर जाया करते थे। वे इन वस्तुओं को रेशम और सोना देकर प्राप्त करते थे। चीनी ऐतिहासिक के कथनानुसार ये सब देश सम्राट वू (१४०–८६ ई० पू०) के समय से चीन को अपना कर भेजा करते थे। फ्रेंच विद्वान फेरान्द (Ferrand) के मतानुसार यदि ह्वांगची को काची मान लिया जावे तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दक्षिण भारत के साथ चीन का समुद्री व्यापार दूसरी शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हो गया था। इस समय दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना से इस व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

चीन से भारत आने वाले प्रधान द्रव्यः—ये रेशमी वस्त्र, रेशम का सूत तथा कच्चा रेशम, बाँस तथा इसका बना हुआ सामान और समूर थे। चीनी राजदूत चांग-किएन ने १२८ ई० पू. में बैक्ट्रिया के बाजारों में भारत होकर आने वाले रेशमी वस्त्रों और बाँस के सामान को बिकता हुआ देखा था। यह भारत में चीन के युन्नान और जेचुआन (Sze–Chuan) के प्रान्तो से आया करता था। गंगा नदी की घाटी में यह सामान इतना अधिक आता था कि वहाँ इन वस्तुओं के व्यापार को चलाने के लिए सम्भवतः कैल्टिस (Caltis) नामक सोने के सिक्के प्रचलित किये गये थे।[1] संस्कृत साहित्य में रेशम को चीन से आने के कारण चीनांशुक अर्थात् चीनी कपड़ा कहा जाता था। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल (प्रथम अंक श्लोक ३४) में इस शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुतः इस समय चीन का प्रधान निर्यात द्रव्य रेशम ही था। मध्य एशिया के स्थलीय मार्ग से इसका निर्यात होता था, यहाँ तकलामकान मरुभूमि के उत्तर एवं दक्षिण से पश्चिमी जगत् को जो मार्ग जाते थे उनसे प्रधान रूप से रेशम का निर्यात होने के कारण इन्हें उत्तरी (Northern) और दक्षिणी (Southern) कौशेयपथ (silk-routes) कहा जाता था। इनका विस्तृत वर्णन अन्तिम अध्याय में किया जायगा। रेशम के अतिरिक्त इस समय चीन से समूर अथवा जानवरों की रोंए-दार खालें (Seric skins) भी विदेशों को भेजी जाती थी। ये बलख और अफगानिस्तान के मार्ग से भारत आती थीं और यहाँ से बर्बरिकम के बन्दर-गाह से पश्चिमी जगत् को भेजी जाती थीं। रेशम भी इसी मार्ग से भारत पहुँचता था और बेरीगाजा से रोम भेजा जाता था। भारत के बन्दरगाहों से चीनी माल के विदेश भेजे जाने का कारण संभवतः ईरान के पार्थियन एवं रोमन

---

१. शॉफ—पेरिप्लस पृ० ४८।

साम्राज्यों का उग्र संघर्ष था। व्यापारी इससे बचने के लिए अपना माल बलख से सीधा दक्षिण की ओर भारतीय बन्दरगाहों को भेज देते थे।

उपसंहार :—मौर्योत्तर युग मे यद्यपि भारत पर अनेक विदेशी शक्तियों के आक्रमण हुए और भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गई, फिर भी इसका आर्थिक दशा पर कोई बुरा प्रभाव नही पडा। पहली शताब्दी ई० में मानसून हवाओ की सहायता से अल्प समय मे ही हिन्द महासागर पार करने के हिप्पलास के आविष्कार से तथा रोमन जगत् मे भारतीय वस्तुओ की माँग बढ जाने से इस समय न केवल पश्चिमी जगत् के साथ भारत के व्यापार मे अभूतपूर्व उन्नति हुई, अपितु रोमन साम्राज्य की माँग पूरी करने के लिए भारतीय व्यापारियों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा चीन के साथ भी अपने व्यापार को बढाया। इस समय की व्यापारिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए भारत में कृषि एवं विभिन्न उद्योग-धन्धो के उत्पादन मे विलक्षण वृद्धि हुई। इसका स्वाभाविक परिणाम भारत का अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन (Favourable Balance of Trade) था। इस कारण दूसरे देशो के सोने का प्रवाह भारत की ओर बहने लगा, इससे भारत मे अभूतपूर्व समृद्धि का श्रीगणेश हुआ[1]। इस

---

१. इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि शुंग सातवाहन युग से अनुकूल व्यापार द्वारा दूसरे देशों से सोने का जो प्रवाह भारत में आना शुरू हुआ वह १८ वीं शताब्दी तक निर्बाध एवं अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। यह प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत के अनन्त वैभव और अपार ऐश्वर्य का प्रधान कारण था। अपने मसालों, मलमल और मणियों के कारण तथा विदेशी हमलों से उत्तरी भारत की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होने से दक्षिणी भारत में यह समृद्धि अधिक बहुत थी। विदेशी प्रेक्षक और ऐतिहासिक इससे आश्चर्यचकित थे। यूल (मार्को पोलो खं० २ पृ० ३४८) ने इस विषय में कुछ सुन्दर प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। एक अरबी ग्रन्थ मसालक-अल् अबसार के मतानुसार ३००० वर्ष से भारत में दूसरे देशों से सोने का आयात हो रहा था, इसका यहाँ से कभी निर्यात नहीं हुआ। फरिश्ता ने लिखा है कि अलाउद्दीन के सेनानी मलिक काफूर ने जब दक्षिण जीता तो उसके प्रत्येक सैनिक को विजय से लूट के माल में से २५ पौण्ड सोना मिला। कुछ वर्ष बाद मुहम्मद तुगलक को दक्षिण में एक ही मन्दिर की लूट से २०० हाथियों तथा कई हजार बैलगाड़ियों पर लादी जाकर ले जाई जाने वाली विशाल धनराशि प्राप्त हुई। अरब लेखक वस्साफ ने १४वीं शताब्दी में माबर (नेल्लोर से कन्याकुमारी तक

समय भारत को व्यापार से वैसी ही समृद्धि प्राप्त हुई जैसी समृद्धि योरोपियन देशों को १६वी शताब्दी में पूर्वी देशों के साथ व्यापार से प्राप्त हुई थी। इस समय की समृद्धि का वर्णन हमें तत्कालीन सस्कृत, पालि और तामिल साहित्य में मिलता है। इनमें देश विदेश के पण्यों से भरे हुए बाजारों का उल्लेख उपलब्ध होता है, हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम, स्फटिक, पुखराज, गोमेद, मुक्ता, प्रवाल बेंचने वाले जौहरियों का और सूती, रेशमी, ऊनी कपड़ो से भरी हुई दुकानो का वर्णन मिलता है। इस युग के तक्षशिला आदि के पुरातत्वीय अवशेषो से इन वर्णनो की पुष्टि होती है।[1]

के चोल एवं पाण्डय राज्य) के अनेक राजाओं के वैभव का वर्णन करते हुए कहा कि ६९२ हिजरी (१२९३ ई०) में मरने वाले यहाँ के एक राजा के कोश से से उत्तराधिकारी को विशुद्ध सोना, चाँदी तथा बहुमूल्य धातु, बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हुई। यह धनराशि ७००० बैलों पर लादी गई। १३१० ई० में माबर के एक राजा कलेस देवर ने शहरमंडी (मदुरा) के अपने राजाकोश में चालीस वर्ष के शासन-काल में १२०० करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ एकत्र की थीं (यूल-मार्कोपोलो २।३३३)। उसके पास १२ अरब दीनार थे। इन सिक्कों से भूमण्डल को बार बार ढका जा सकता था (यूल २।३४८)।

१. शाकल (स्यालकोट) के वैभव का वर्णन मिलिन्द प्रश्न पृ० १, २ में है। वाल्मीकि रामायण में अयोध्या (१।६।५, २८।२।८३।१२–१८), मथुरा (७।८३। १०–१४), तक्षशिला तथा पुष्कलावती (७।१२४।१२–१५), महाभारत में मिथिला का ऐसावर्णन (३।२०६।६–६) है। दक्षिण में कावेरीपट्टनम (पुहार) के वर्णन के लिए देखिए नीलकण्ठ शास्त्री—दी चोलाज, खण्ड १ पृ० ९६। मदुरा का वर्णन सिलप्पदिकारम् पृ० २०७–८ में है। इस समय के प्राचीन अवशेषों का सर्वोत्तम उदाहरण तक्षशिला है। इसके लिए देखिए, मार्शल-गाइड टू टेक्सिला, तृतीय संस्करण पृ० ४, ६, ८०, ११३।

सोलहवां अध्याय

सामाजिक दशा

सामाजिक जीवन का महत्व और विशेषतायें :—मौर्योत्तर युग का सामाजिक जीवन कई दृष्टियों से असाधारण महत्व रखता है। मौर्य सम्राटों के बाद से गुप्त युग तक का पाँच सौ वर्ष का समय भारत के सामाजिक इतिहास में एक महान क्रान्ति, विक्षोभ एवं संकट का युग था। इस समय यवन, शक, पहलव, कुषाण आदि विदेशी जातियों द्वारा भारत पर आक्रमणों के कारण तथा बड़ी संख्या में यहाँ बस जाने से इनके सम्पर्क से प्राचीन परपरागत सामाजिक जीवन मे बड़ी हलचल का पैदा होना स्वाभाविक था। इससे तत्कालीन संस्कृति को एक बड़ा खतरा पैदा हो गया था। गार्गी संहिता[1] आदि कुछ ग्रथो मे तथा पुराणो मे हमें इस नवीन स्थिति के कारण बड़ी निराशापूर्ण भविष्यवाणियाँ मिलती है। इनमे यह कहा गया है कि यवनों ने भारत के समाज मे बडा क्रांतिकारी परिवर्तन किया है, इसके परिणामस्वरूप आर्य और अनार्य का तथा वर्णाश्रम धर्म का भेद लुप्त हो गया है, शीघ्र ही घोर कलियुग आने वाला है। विदेशी जातियो के संपर्क से प्राचीन सामाजिक संस्थाओ के विघटन का इतना भीषण भय उपस्थित हो गया कि महाभारत के कर्ण पर्व मे हिन्द-यूनानी राजाओं के शासन मे रहने वाले मद्र और वाहीक देश की घोर निंदा करते हुये यह कहा गया है कि दुनिया भर की सब बुराइयाँ और नीचतायें इस देश में हैं (८।४५।२३), यहाँ घोर अनाचार और अनैतिकता का साम्राज्य है, किसी भी आर्य को यहाँ दो दिन के लिये भी निवास नहीं करना चाहिये, (८।४५।४१)। फिर भी, अतीव भीषण प्रतीत होने वाले इस सामाजिक संकट के समय में ही हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ, इसने विदेशी आक्रमणों के सम्पर्क से उत्पन्न समस्याओ के सुन्दर समाधान का सफल प्रयास किया। इसका परिचय हमें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और महाभारत से मिलता है। इनमें विदेशी जातियों के सम्पर्क से प्रभावित होने वाली नवीन सामाजिक व्यवस्था के विस्तृत नियमों का प्रतिपादन मिलता है। इसी-

---

१. जर्नल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी १९२८, पृष्ठ ४०२–१४।

लिये इनमें विदेशी एवं संकर जातियों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इस समय के शास्त्रकारों ने और समाज के नेताओं ने विदेशी जातियों को जिस शीघ्रता और सरलता के साथ अपने समाज में पचाकर आत्मसात् कर लिया एवं विदेशियों को हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का उपासक बना लिया, वह वास्तव मे भारतीय इतिहास का एक अतीव आश्चर्यजनक तथ्य है।

इस युग की दूसरी विशेषता नागरिक जीवन का विकास था। व्यापार की वृद्धि के कारण इस समय नये नगरो का तथा बन्दरगाहों का विकास हुआ, व्यापारियो की एक नवीन समृद्ध श्रेणी का अभ्युदय हुआ। यह श्रेणी राजा-महाराजाओ की भाँति बड़े ठाठ बाठ और शान से अपना जीवन बिताती थी। इस समय के नागरिक जीवन का बड़ा मनोरम चित्रण वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र मे किया है। इस युग की तीसरी विशेषता सामाजिक जीवन के दृष्टिकोण में उल्लास और आमोद-प्रमोद का प्राचुर्य है। मथुरा, भारहुत और साँची के प्रस्तर शिल्प में हमें साधारण जनता के मनोविनोदों—सगीत, नृत्य एवं मधुपान गोष्ठियों का इतना अधिक चित्रण मिलता है कि कई बार इस बात पर आश्चर्य होने लगता है कि जब बौद्ध धर्म दुःखवाद पर बल दे रहा था, उस समय बौद्ध कला के ये स्मारक किस प्रकार इससे सर्वथा अप्रभावित रहते हुए तत्कालीन लोक जीवन के आमोदपूर्ण पहलू को बड़े सशक्त रूप से मूर्तिकला में अभिव्यक्त कर रहे थे। यह सभवतः इस युग की समृद्धि का परिणाम था। इस युग के सामाजिक जीवन की चौथी विशेषता जीवन के प्रति समन्वयावादी दृष्टिकोण था। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र (१।२।१-४) में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति को आवश्यक बताया है, उसके शब्दो मे १०० वर्ष की आयु वाले पुरुष को चाहिये कि वह बचपन में विद्या ग्रहण करे, यौवन मे काम का सेवन करे, बुढ़ापे में धर्म और मोक्ष प्राप्त करे। उस समय ऐहिक जीवन के प्रतीक अर्थ और काम को एव पारलौकिक जीवन के प्रतीक धर्म और मोक्ष को समान रूप से महत्व दिया जाता था। परवर्ती युगो मे आध्यात्मिक जीवन को जो प्राधान्य दिया गया, वह इस युग मे नही पाया जाता है।

इस युग के सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री दो बड़े वर्गों में बाँटी जा सकती है। पहला वर्ग धर्मशास्त्रों, महाभारत, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे ग्रन्थो का है। इनमें सामाजिक जीवन के आदर्शों पर अधिक बल दिया गया है। दूसरी ओर पतंजलि का महाभाष्य, पालि एवं संस्कृत

का बौद्ध साहित्य तथा जैन वाङ्मय इस युग के सामाजिक जीवन की वास्तविक स्थिति पर रोचक प्रकाश डालता है। यहाँ इन दोनों प्रकार की सामग्री के आधार पर सामाजिक जीवन के प्रमुख अंगों का निरूपण किया जायगा। भारतीय समाज को शास्त्रकारो ने चार प्रधान वर्णों में बाँटा है, अतः यहाँ सर्वप्रथम इनका वर्णन किया जायगा।

वर्ण-व्यवस्था

ब्राह्मण के कार्य एवं सामाजिक स्थिति:—प्राचीन काल से हिन्दू समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों मे बाँटा जाता था और इनके विशिष्ट कार्यों का प्रतिपादन किया जाता था। यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की आधारशिला मानी जाती थी तथा दैवी व्यवस्था के रूप मे स्वीकार की जाती थी। श्रीकृष्ण ने गीता (४।१३) मे कहा है कि गुण और कर्म के आधार पर मैंने चार वर्णों की सृष्टि की है। इस परपरा का अनुसरण इस युग के प्रधान स्मृतिकारो ने किया है। मनु (१।९६, १०।३) तथा याज्ञवल्क्य (१।१९८-९९) ब्राह्मणो को न केवल अन्य वर्णों से उत्कृष्ट, अपितु सृष्टि की समस्त वस्तुओ मे सर्वश्रेष्ठ बताते है। ब्राह्मणो के तीन प्रधान कार्य—वेदाध्ययन, यज्ञ करना और दान देना अन्य द्विजातियो—क्षत्रिय और वैश्यो—की भाँति थे। किंतु इनके विशिष्ट कार्य अथवा वृत्तियाँ वेदों का अध्यापन, यज्ञ कराना और दान स्वीकार करना था (मनु १०।७५-७६, या० १।११८)। मनुस्मृति (१०।७७-७८, ९५,९६) ब्राह्मणेतर जातियों को न केवल वेद के अध्यापन से, यज्ञ करने कराने और दान लेने से मना करती है, अपितु निम्न जातियो द्वारा इन कार्यों के किये जाने पर उनकी सारी सम्पत्ति छीनने की और उनको कारावास मे बन्द करने की भी व्यवस्था करती है। ब्राह्मणो का सबसे बड़ा कार्य वेदो का गभीर अध्ययन करना था (मनु ४।१४७-४९)। याज्ञवल्क्य (१।१९८) ने यह घोषणा की है कि ब्राह्मणो के लिये भगवान का यह आदेश है कि वे वेदो की रक्षा करे, देवों और पितरो को संतुष्ट रखे तथा धर्म का पालन करें। ब्राह्मण का यह कर्त्तव्य था कि वह दक्षिणा लिये बिना वेद का अध्यापन कराये (मनु ११।१०३)। ब्राह्मण को वेद की शिक्षा ब्राह्मण से ही लेनी चाहिये। वह आपत्तिकाल में अब्राह्मण से भी वेद का अध्ययन कर सकता है, किन्तु उसे स्थायी रूप से ऐसे गुरु के साथ अथवा वेद की व्याख्या करने में असमर्थ ब्राह्मण के साथ नहीं रहना चाहिये (मनु२।२४१-४२)।

आपत्तिकाल में ब्राह्मण किसी से भी दान ले सकता था, किन्तु निम्नजातियों से दान लेना अध्यापन और भोजन से भी अधिक निकृष्ट कार्य था। मनु ब्राह्मण के लिये यह आदर्श समझता है कि वह खेतो मे दाने बीन कर (शिलोञ्छ वृत्ति से) त्यागपूर्वक रहता हुआ अपना निर्वाह करे, किन्तु कभी भी जघन्य वृत्तियो का अवलंबन उदरपूर्ति के लिये न करे। वस्तुतः राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह ब्राह्मणो और विशेषतः वेद का अध्ययन करने वाले श्रोत्रिय विप्रों का पालन करे; जो ब्राह्मण अधार्मिक वृत्तियो से अथवा हीन राजाओ से दान प्राप्त करता है, उसे प्रायश्चित करना चाहिये (मनु० ४।८४–९१, याज्ञ० १।१४०–४१)।

मनु ने ब्राह्मण द्वारा तथा त्यागी तपस्वी जीवन बिताने और धन के लोभ से मुक्त रहने के आदर्श पर बल दिया है। उसका यह कहना है कि ब्राह्मण को अधिक धन नही देना चाहिये, क्योंकि इससे उसकी अलौकिक दिव्य ज्योति समाप्त हो जाती है (४।१८६)। धन के लोभ से जो ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिये शूद्र से दक्षिणा लेता है, उसकी मनु (११।४२–४३) तथा याज्ञवल्क्य (१।१२७) ने घोर निंदा की है। ब्राह्मण सामान्य रूप से अपनी जीविका के लिये ऐसे व्यवसाय ही कर सकता था, जिन से दूसरे प्राणियो को कम से कम कष्ट हो। उसे खेतो में दाने बटोर कर (शिलोञ्छ वृत्ति) से अथवा बिना माँगे दिये गये द्रव्य से, कृषि से अथवा व्यवसाय से अपना पेट भरना चाहिये, किन्तु कुत्ते जैसी वृत्ति रखने वाली नौकरी का निकृष्ट कार्य कभी नहीं करना चाहिये। वह केवल उतना ही अन्न इकट्ठा करे जो उसके अन्न भंडार (कुसूल) या अनाज के घड़े (कुम्भी) को भरने के लिये पर्याप्त हो अथवा जो उसके तीन दिन अथवा एक दिन के भोजन के लिये पर्याप्त हो (म० ४।१।९, या० १।१२८)।

किंतु ब्राह्मण इस उच्च आदर्श का सदा पालन करते हों और अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन के अतिरिक्त अन्य कार्य और पेशे न करते हों, ऐसी स्थिति नही थी। वस्तुतः मनुस्मृति से यह सूचित होता है कि उस समय ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के पेशे और कार्य किया करते थे। यह उसकी उन ब्राह्मणो की सूची से विदित होता है, जिनको उसने श्राद्ध मे बुलाने का निषेध किया है। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में इनका विस्तार से वर्णन है (३।१५०–१७८)। वह इन निंदित कार्य करने वाले ब्राह्मणो को अपाक्तेय अर्थात् विशुद्ध ब्राह्मणों की पंक्ति मे न बैठने योग्य समझता है। इनमें न केवल चोर, पतित और नास्तिक वृत्ति के व्यक्ति है, अपितु निम्नलिखित कार्य या पेशे करने वाले भी हैं—

ब्रह्मचारी की तरह जटा धारण करके भी न पढ़ने वाले, जुआरी, चिकित्सक, मंदिरों में पूजा कराने वाले, मास बेचने वाले, बुरे वाणिज्य से जीविका कमाने वाले, राजा के नौकर (प्रेष्य), अग्निहोत्र न करने वाले, सूदखोर, नट, गायक या चारण, भृति लेकर पढ़ाने वाले, शूद्र से पढ़ने या उसे पढ़ाने वाले, शराबी, धनुषबाण बेचने वाले, ज्योतिष से जीविका कमाने वाले (नक्षत्र जीवी), घर बनाने वाले (गृहसंवेशक), खिलाड़ी, कुत्ते या बाज पालने वाले, गणों के पुरोहित, भिखारी, कृषिजीवी, भेड़ों और भैंस का रोजगार करने वाले। मनु इन सबको **अपांक्तेय ब्राह्मण** मानता हुआ यह कहता है कि ये द्विज श्राद्ध मे जो खाते हैं, वह राक्षसों का खाया हुआ समझना चाहिए। मनु के इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण उन दिनो पढ़ने पढ़ाने व यज्ञ कराने के अतिरिक्त चिकित्सा, ज्योतिष से लेकर कुत्ते और बाज पालने, माँस बेचने और मुर्दा ढोने के सभी गर्हित व्यवसाय करते थे। मनु ने ऐसे पतित ब्राह्मणों को शूद्रों के समकक्ष माना है (मनु २।१६८, ८।१०२)। उसके मतानुसार जब ब्राह्मण तपस्या और वेदाध्ययन नही करता और फिर भी दान दक्षिणा स्वीकार करता है तो वह न केवल स्वयमेव नरकगामी होता है, अपितु दान देने वाले को भी अपने साथ नरक मे ले जाता है। (मनु०४।१९०, या० १।२०२)।

ब्राह्मणों की महत्ता और विशेष अधिकार:—मनुस्मृति मे ब्राह्मणों की महिमा का बहुत बखान किया गया है। ब्राह्मण भले ही वेद न पढ़ा हुआ हो, फिर भी वह अग्नि की भाँति एक पूज्य देवता है। जिस प्रकार श्मशान की अग्नि पवित्र होती है उसी प्रकार निदित व्यवसायो को भी करने वाले ब्राह्मण का सम्मान किया जाना चाहिये (मनु०९।३१७–१९)। ब्राह्मणो को मनु ने कुछ विशेष अधिकार और उन्मुक्तियाँ या छूटे (Immunities) भी प्रदान की हैं। ये मनु से पहले के धर्मशास्त्रो में भी पाई जाती हैं। गौतम (८।१२–१३) ने लिखा है कि राजा को चाहिये कि वह ब्राह्मणो को छः प्रकार के दण्डो से मुक्त रखे। १—उन्हें पीटा न जाय। २—उन्हें हथकड़ी-बेड़ी न लगायी जाय। ३—उन्हें जुर्माना या अर्थदण्ड न दिया जाय। ४—उन्हें ग्राम या देश से न निकाला जाय। ५—उनकी भर्त्सना या निन्दा न की जाय। ६—उन्हें त्यागा न जाय।[1]

---

१. हरदत्त गौ० ध० सू०(८।१२–१३)–यत्तु षड्भिः परिहार्यो राज्ञाऽवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति तदपि स एष बहुश्रुतो भवति-विनीत इति (गौ० ८।४।११)। मिता० याज्ञ० २।४, प्रतिपादितबहुश्रुतविषयं न ब्राह्मण-मात्रविषयम्।

इस व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण अवध्य, अबन्ध्य अदण्ड्य, अबहिष्कार्य, अपरिवाद्य और अपरिहार्य माना जाता है। किन्तु ये छूटें ब्राह्मणों के लिये ही थीं (मिता० याज्ञ० १।४)। हरदत्त ने यहाँ तक लिखा है कि केवल वही विद्वान ब्राह्मण दण्डो से छुटकारा पा सकते थे जो अनजाने में कोई अपराध करते थे। गौतम (१२।४३) ब्राह्मण को कोई भी शारीरिक दण्ड न देने की व्यवस्था करता है (न शारीरो ब्राह्मणदण्डः)। किन्तु बौधायन (१।१०।१८–१९) ने ब्राह्मण को सामान्य रूप से अवध्य मानते हुए भी ब्रह्महत्या, व्यभिचार अर्थात् मातृगमन, स्वसृगमन, दुहितृगमन, सुरापान, सोने की चोरी का महापातक करने वाले ब्राह्मणों के लिये ललाट पर जलते हुए लोहे के चिन्ह से दाग देने की तथा देशनिकाले की व्यवस्था की है।

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने इस विषय मे पुरानी व्यवस्थाओ का अनुसरण किया है। उनके मतानुसार ब्राह्मणो के विशेषाधिकार निम्नलिखित थे। ब्राह्मणो का **पहला** विशेषाधिकार उन्हें भीड़ मे या रास्ता रुका होने पर अन्य व्यक्तियो की अपेक्षा पहले मार्ग देना था। मनु के (२।१३८–९ मिला० गौघसू० ६।२१–२२) मतानुसार राजा तक को वेदाध्ययन के बाद समावर्तन सस्कार-सपन्न स्नातक को रास्ता देना पड़ता था। **दूसरा** विशेषाधिकार यह था कि ब्राह्मण को कभी मृत्युदण्ड नही दिया जाना चाहिये। उसके लिये सब से बड़ा दण्ड उसकी संपत्ति की जब्ती, उसका सिर मुड़वाना, उसे दागना या जुर्माना करना था (मनु ८।१२३, ३७८–८१, ३८३–८५, या० २।२७०)। **तीसरा** विशेषाधिकार यह था था कि ब्राह्मणो के विरुद्ध किये गये अपराधो के लिये अन्य वर्णों के व्यक्तियो के विरुद्ध किये गये ऐसे अपराधों की अपेक्षा अधिक कठोर दण्ड दिया जाता था। पुराने शास्त्रकारो की व्यवस्था का अनुसरण करते हुए मनु ब्रह्महत्या को पाँच महापातकों में सर्वोच्च स्थान देता है (मनु ९।२३७, ११।५५, १०२ या० ३।२२७, २५७)। मनु के मतानुसार ब्रह्महत्या करने वाले को दूसरे जन्म मे भी दण्ड भोगना पड़ता है। उसके कथनानुसार ब्राह्मण को किसी प्रकार की क्षति नही पहुँचानी चाहिये (मनु ४।१६२, ११।९०)। उसने ब्रह्महत्या की अनुमति केवल आत्मरक्षा के लिये उसके आततायी होने पर ही दी है। ब्राह्मण का **चौथा** विशेषाधिकार यह था कि उसकी सपत्ति को जब्त नही किया जा सकता था। ब्राह्मण का सोना चुराने के अपराध को महापातक माना गया है (मनु ८।३८०, ११।५५)। यदि कोई ब्राह्मण निःसंतान मर जाय, उसकी संपत्ति प्राप्त

करने वाला कोई वैध उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सपत्ति राजा ले सकता था। यद्यपि क्षत्रिय आदि अन्य वर्णों के व्यक्तियो के नि सतान मरने पर उनकी संपत्ति पर राजा का स्वामित्व माना जाता था (९।१८८–८९), तथापि ब्राह्मण की संपत्ति भगवान् की संपत्ति मानी जाती थी, यदि कोई इसे छीनता था तो उसे अगले जन्म मे भयकर दण्ड मिलता था (मनु ९।२६)। **पाँचवाँ विशेषाधिकार** यह था कि ब्राह्मण न केवल कर देने से मुक्त था (मनु ७।१३३, मि० आप० गौध सू० २।१०।२६।१०, वसिष्ठ १९।२३, कौटिल्य २।१), अपितु राजा का यह कर्त्तव्य था कि ब्राह्मण के कुल, विद्या और चरित्र की परीक्षा करके उसका भरण-पोषण करे (मनु ७।१३३, या० ३।४४)। श्रोत्रिय ब्राह्मण को राजा की अनुपस्थिति मे न्याय करने का भी पूरा अधिकार था। **छठा** विशेषाधिकार अनायास पाये गये धन के विषय मे था, इसमे ब्राह्मणो को अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक छूट दी गई थी। यदि किसी विद्वान् ब्राह्मण को धरती मे गडा हुआ कोई खजाना मिलता था तो वह उसे अपने पास रख सकता था। अन्य वर्णों के लोगों द्वारा पाये गये गुप्त धन को राजा छीन लेता था, यदि गुप्त धन पाने वाला सचाई के साथ राजा को सम्पत्ति का पता बता देता था तो उसे छठा भाग मिल जाता था। यदि राजा को स्वय गुप्त धन प्राप्त होता था तो वह आधा ब्राह्मणो मे बाँट देता था (मनु ८।३७–३८, या० २।३४–३५, मि० गौधसू० १०।४३–४५, वसिष्ठ ३।१३–१४)।

समानता के वर्तमान युग मे ब्राह्मणों के उपर्युक्त विशेषाधिकारो पर आपत्ति होना स्वाभाविक है। किन्तु इस विषय मे तत्कालीन परिस्थितियो का तथा अन्य कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिये। ब्राह्मणो को यह प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार आरम्भ मे उनके कठोर तपोमय जीवन के कारण मिले थे, वे अपना सारा जीवन वैदिक साहित्य के सरक्षण, वृद्धि और विकास मे लगा रहे थे, अत उन्हें विशेष सम्मान और अधिकार दिये गये। यह बात सत्य है कि सभी ब्राह्मण त्यागी, तपस्वी एवं वेदाध्ययन मे रत रहने वाले नही थे, अतः अनेक धर्मशास्त्री उपर्युक्त विशेषाधिकार सब ब्राह्मणों के लिये नही, अपितु वेदादि विभिन्न विद्याओ के पारगत विद्वानो के लिये ही समझते थे। इस विषय मे पहले हरदत्त और विज्ञानेश्वर (या० २।४) का यह मत दिया जा चुका है कि ब्राह्मणो को दण्डों से जो छूट दी गई है, वह सब ब्राह्मणों के लिये नही, किन्तु विद्वान् और बहुश्रुत ब्राह्मणों के लिये ही है। मृच्छकटिक (नवम अंक) से यह प्रतीत होता

है कि राजा धर्मशास्त्रों के इस नियम का सदा पालन नहीं करते थे। इसमें राजा पालक ने ब्राह्मण चारुदत्त को प्राणदण्ड दिया है। महाभारत (१२। ७६।२–३,५,९) के मतानुसार केवल उन्ही ब्राह्मणों को करो से मुक्ति प्राप्त थी जो ब्राह्मण ब्रह्मसम अर्थात् शास्त्रज्ञ तथा सब को समान दृष्टि से देखने वाले तथा देवसम (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता) तथा अपने कर्तव्यों पर अडिग रहने वाले थे। धार्मिक राजा को चाहिये कि वह वेद न पढ़े हुए (अश्रोत्रिय) तथा यज्ञ न करने वाले (अनाहिताग्नि) ब्राह्मणो को कर से मुक्त न करे।[1]

ब्राह्मणो की उपर्युक्त स्थिति की बौद्ध साहित्य के वर्णन से तुलना बडी रोचक है। यह तत्कालीन ब्राह्मणो की यथार्थ स्थिति पर प्रकाश डालती है। दिव्यावदान (पृष्ठ ४८६) मे एक ब्राह्मण ने यह कहा है कि सभी ब्राह्मण वेदो में पारगत नहीं होते हैं (न सर्वे ब्राह्मणा. वेदपारगा भवन्ति)। इस युग में बौद्ध साहित्य की पुरानी परपरा का अनुसरण करते हुये ब्राह्मणो को क्षत्रियो से हीन बनाया गया है, जब कि धर्मशास्त्रो मे उन्हें अन्य वर्णों से ऊचा माना गया है। बुद्ध क्षत्रिय जाति मे उत्पन्न हुये थे, अतः बौद्धो के लिये उनके वर्ण को श्रेष्ठ मानना स्वाभाविक था। इसी लिये निदान कथा (१।४९) और ललित-विस्तर (१।२०) मे क्षत्रियो को ब्राह्मणो से ऊचा स्थान दिया गया है।

---

१. महाभारत १२।५, अश्रोत्रिया. सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः। तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत्। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१२।२३) ने ब्राह्मण की करमुक्ति का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह वैदिक ज्ञान को समृद्ध बनाता है, अपनी तपस्या से राजा को विपत्तियों से बचाता है, अतः उससे कर नहीं लिया जाना चाहिये (ब्राह्मणो वेदमाढ्यं करोति, ब्राह्मण आपद उद्धरति तस्माद् ब्राह्मणो नाद्यः)। मनु (६।१३५, ८।३०५) ने इससे अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा है कि राजा द्वारा रक्षित श्रोत्रिय जब धार्मिक गुण प्राप्त करता है तो राजा का जीवन, सम्पत्ति एवं राज्य बढ़ता है। कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तल (२।१३) में कहता है कि तपस्वी अपने तप का छठा भाग राजा को देते हैं और यह अक्षय कोष है। ब्राह्मण अपनी तपस्या के फल का छठा हिस्सा राजा को कर रूप में देते थे, अतः ऐसे ब्राह्मण से कर लेना ठीक नहीं समझा जाता था। किन्तु जो ब्राह्मण तपस्या और वेदाध्ययन न करके कृषि करते थे, उन्हें कर देना पड़ता था। देखिये मनु ८।३९३, बृहत्पराशर अध्याय ३, वसिष्ठ १९।२३।

मिलिंदप्रश्न में नागसेन के आरंभिक जीवन के संबध में दिये गये विवरण से यह ज्ञात होता है कि सातवें वर्ष में वेद का अध्ययन आरम्भ करना उसके वंश में आवश्यक था, इसके लिये उसे ब्राह्मण आचार्य के पास ले जाया गया, उसने तीनों वेद पढ़ाने के लिये उससे काफी बड़ी फीस ली। इससे यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति आदि में प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार छोटी आयु में ही ब्राह्मण ब्रह्मचारी बन कर गुरु के पास जाकर विद्या का अध्ययन किया करता था। ब्राह्मणों द्वारा अध्ययन किये जाने वाले विषयों पर भी मिलिंद प्रश्न (पृष्ठ १७८) सुंदर प्रकाश डालता है। इसमें न केवल स्मृतियों में प्रतिपादित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, कर्मकांड, व्याकरण आदि के अध्ययन का वर्णन किया गया है, अपितु गणित-ज्योतिष, फलित ज्योतिष, स्वप्न विज्ञान, शकुन विज्ञान, सूर्य एवं चंद्रग्रहणों का, ग्रहों और नक्षत्रों की गतियों के मानव-जीवन पर प्रभाव के और भूकम्प के विषयों के अध्ययन का भी उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय ब्राह्मण वैदिक साहित्य के अतिरिक्त अनेक ऐसी व्यावहारिक और लोकोपयोगी विद्याओं का अध्ययन करते थे जो जीविका के उपार्जन में सहायक हो सकती थीं। इनमें कुत्तों और हिरनों को देखकर तरह-तरह के शकुनों की और भावी घटनाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करना और पक्षियों की विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का अध्ययन भी सम्मिलित था। ब्राह्मणों द्वारा शास्त्रप्रतिपादित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के भी कई उल्लेख हमें इस युग के साहित्य और इतिहास में मिलते है। इस समय ब्राह्मण राजाओं के दरबारों में उच्च पदों पर राजकीय सेवा के विभिन्न कार्य किया करते थे। यद्यपि मनु (४।६) ने नौकरी की निन्दा श्ववृत्ति (कुत्ते का काम) कहकर की है, फिर भी अनेक ब्राह्मण सरकारी नौकरी करते थे। पुष्यमित्र अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ के सेनापति थे। कण्व वंश का संस्थापक वासुदेव नामक ब्राह्मण अन्तिम शुंग राजा का अमात्य था। महाक्षत्रप शोडास का कोशाध्यक्ष एक ब्राह्मण था। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण अपने परम्परागत कार्य यज्ञ को छोड़ कर पुष्यमित्र की भाँति क्षत्रियों के शासन का कार्य किया करते थे। वासुदेव ने इसी प्रकार यज्ञ की स्रुवा का परित्याग करके तलवार हाथ में ली थी और कण्व वंश की स्थापना की थी। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय पेशे की दृष्टि से ब्राह्मणों में बड़ा लचकीलापन

था और वे सभी प्रकार के अच्छे-बुरे व्यवसाय किया करते थे।[1]

महाभाष्य ने भी ब्राह्मणों की स्थिति पर सुंदर प्रकाश डाला है। उसने जिस क्रम से चारों वर्णों का उल्लेख किया है, उससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण उस युग में समाज में सबसे ऊँचे, मूर्धन्य और प्रतिष्ठा के पात्र समझे आते थे (२।२।३४)। पतंजलि के मतानुसार उन दिनों जन्म, विद्या और कर्म की तीन बातों से वर्ण का निर्धारण होता था।[2] ब्राह्मण के लिये न केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेना और कुछ शारीरिक विशेषतायें रखना आवश्यक था, अपितु उसके लिये यह भी जरूरी था कि वह ब्राह्मण के लिये आवश्यक विद्या और कर्म से भी संपन्न हो। ब्राह्मणों के जातिगत बाह्य लक्षण इनका गौर वर्ण होना, शुद्ध आचरण वाला, पिंगल आँख वाला और कपिल केश वाला होना था। इन विशेषताओं वाले पुरुष को देखते ही कल्पना की जाती थी कि यह ब्राह्मण है, किसी काले कलूटे व्यक्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता था कि वह ब्राह्मण है।[3] बाह्य शारीरिक गुणों के अतिरिक्त विद्या अर्थात् शास्त्रों का अभ्यास

---

१. ब्राह्मण इस युग से पहले भी शस्त्र धारण करते थे। पाणिनि (५।२।७१) के मतानुसार ब्राह्मणक शब्द का प्रयोग उस देश के लिये होता था, जहाँ ब्राह्मण आयुधों की अर्थात् अस्त्रशस्त्रों की वृत्ति करते थे। कौटिल्य (९।२) ने ब्राह्मणों की सेना का वर्णन किया है और यह भी कहा है कि शत्रु ब्राह्मण के पैरों में गिर कर उसे अपनी ओर मिला सकता है। बौधायन (२।२।८०) ने कहा था कि गो–ब्राह्मण की रक्षा के लिये, वर्णों का संकर या मिश्रण रोकने के लिये ब्राह्मण और वैश्य शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं (मि० वसिष्ठ ३।२४)। मनु (८।३४८–९) उपर्युक्त व्यवस्थाओं का अनुसरण करते हुए कहता है कि जब वर्णाश्रम धर्म पर आततायियों का आक्रमण हो, युद्धकाल हो तो आपत्काल में गायों, नारियों, ब्राह्मणों की रक्षा के लिये ब्राह्मणों को शस्त्र धारण करना चाहिये। शल्यपर्व (६५।४२) के अनुसार राजा की आज्ञा से ब्राह्मण को युद्ध करना चाहिये। शान्तिपर्व (७८।१८) यह व्यवस्था करता है कि जब समाज के विधान टूट जायें, दस्यु, चोर, डाकू बढ़ जायें तो सभी वर्णों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिये।

२. महाभाष्य ४।१।४८—त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवं विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्।

३. महाभाष्य २।२।६—गौरः शुच्याचारः पिंगलः कपिलकेशः इत्येतानभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति। समुदाये ब्राह्मणशब्दः प्रवृत्तो वा येऽप्यवयवे वर्तते जाति-

तथा कर्म अथवा श्रेष्ठ आचरण, त्याग और तपस्या भी किसी व्यक्ति को ब्राह्मण बनाते थे। पतंजलि का यह कहना है कि जिस प्रकार किसी समुदाय के लिये प्रयुक्त होने वाला शब्द उसके अवयवों के लिये भी प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार उपर्युक्त तीनों गुणों से युक्त व्यक्ति को ब्राह्मण कहते थे और इनमें से एक या दो गुणों से हीन व्यक्तियों को भी ब्राह्मण कहा जाता था, जैसे बैठ कर मल त्याग करना, भोजन करना ये अब्राह्मण के गुण थे। किंतु यदि कोई ब्राह्मण खड़े-खड़े मूत्र-त्याग करता था या चलते-चलते खाता था तो भी ऐसे अब्राह्मण आचरण वाले व्यक्ति को अन्य विशेषतायें होने पर ब्राह्मण कहा जाता था।[1]

महाभाष्य से ब्राह्मणों के विषय में कई बातें प्रकट होती हैं:-- (१) उसके मतानुसार ब्राह्मणों का वर्ण गौर था, शायद ही कोई काले रंग का ब्राह्मण हो। (२) ब्राह्मण होने के लिये जन्म के अतिरिक्त विद्या और कर्म की विशेषतायें आवश्यक समझी जाती थीं। वस्तुतः ब्राह्मण की शुचिता और शुद्ध आचरण उसकी प्रतिष्ठा का प्रधान कारण था। पतंजलि ने ब्राह्मणों में शिष्ट ब्राह्मणों को ऊंचा पद दिया है। ये वे ब्राह्मण थे जो केवल एक दो दिन के खाने भर से अधिक अन्न का संचय नहीं करते थे, धन के लोभी नहीं थे, इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होते थे और किसी एक विद्या में पारंगत अवश्य होते थे।[2] (३) उस समय जाति और वर्ण दो पृथक् वस्तुयें समझी जाती थीं। जाति जन्म से प्राप्त होती थी और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। किन्तु वर्ण जाति से उच्च कोटि की वस्तु थी और वह जाति की भाँति अनायास नहीं प्राप्त होती थी। उसके लिये समुचित गुण, कर्म और स्वभाव का होना आवश्यक था। ब्राह्मण वर्ण तभी प्राप्त हो सकता था जब किसी व्यक्ति में इस वर्ण के लिये आवश्यक विद्या और उत्कृष्ट आचरण की योग्यतायें हों। उस समय वर्ण और जाति परवर्ती युग की भाँति अभिन्न और समानार्थक न होकर पृथक्-पृथक माने जाते थे। यह बात महाभाष्य के जाति-ब्राह्मण शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है। ब्राह्मण जाति में जन्म लेने वाला

हीने गुणहीने च। न ह्ययं कालं माषराशिवर्णमापण आसीनं दृष्ट्वाध्यवस्यति ब्राह्मणो ऽयमिति।

१. महाभाष्य २।२।६--अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अब्राह्मणोऽयं यो गच्छन् भक्षयति।

२. महाभाष्य ६।३।१०६--एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः।

किन्तु ब्राह्मण वर्ण के विद्या और कर्म के गुण न रखने वाला व्यक्ति जाति-ब्राह्मण कहलाता था (२।२।६)। यह ब्राह्मण से हीन कोटि का समझा जाता था। उस समय वेद की रक्षा का दायित्व ब्राह्मणों को सौंपा गया था, अतः ब्राह्मणों का सम्मान समाज में सब से अधिक था। लोग बालक ब्राह्मण का भी उठ कर अभिनंदन करते थे (६।१।८४), वह अवध्य था (१।२।६४)। गलती से भी ब्राह्मण को मारने वाला पतित माना जाता था। ब्रह्महा और भ्रूणहा दो महापातकी माने जाते थे (८।२।२)। किन्तु कर्तव्यहीन ब्राह्मण कुब्राह्मण कहलाते थे (५।१।१०५)। (४) महाभाष्य के समय दूसरी शताब्दी ई० पू० में ब्राह्मणों का अधःपतन शुरू हो गया था। इससे पहले जातिब्राह्मण और वर्णब्राह्मण में कोई अन्तर नहीं था, क्योंकि सभी ब्राह्मण स्वाध्याय एवं वेदाध्ययन को अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे, किन्तु पतंजलि के समय वेद का गंभीर अध्ययन करने वाले तथा व्याकरण का अनुशीलन करने वाले ब्राह्मणों की संख्या घट रही थी। ब्रह्मबन्धु (कुत्सित ब्राह्मण) पुरुषों व स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हो रही थी (१।२।४५, १।१।४८)। दान देने की अपेक्षा दान लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। ब्राह्मण दूसरों के घर पर भोजन के लिये निमंत्रण पाने की प्रतीक्षा करते रहते थे, भोजन तैयार होते ही यजमान के घर पहुँच जाते थे (२।३।६४)।

क्षत्रिय:—क्षत्रिय के लिये वेदाध्ययन, यज्ञ करना और दान देना ब्राह्मण और वैश्य की भाँति आवश्यक कर्तव्य था। इनके अतिरिक्त उसका विशेष कार्य सब प्रजाजनों की रक्षा करना और युद्ध करना था। मनु और याज्ञवल्क्य ने आपत्तिकाल में क्षत्रियों को वैश्यों के कार्य करने की भी अनुमति दी है (मनु १।८९.१०।७७–८९, या० १।११९)। महाभारत (१२।६०।१३) से भी क्षत्रिय के इन कार्यों की पुष्टि होती है। क्षत्रिय के लिये सबसे बड़ा कार्य युद्ध करना माना जाता था, अतः उसके लिये रोगी होकर अपने घर में चारपाई पर मरना महापाप समझा जाता था, रणक्षेत्र में प्राण त्याग करना उसके लिये बड़े पुण्य का कार्य था। महाभारत में क्षत्रियों के लिये तीन बातों पर बल दिया गया है—अतिथि का सत्कार करना, कृतज्ञता और शरणागत की रक्षा। रामायण और महाभारत से यह विदित होता है कि क्षत्रिय बालकों को प्रधान रूप से धनुर्वेद की तथा युद्धकला की शिक्षा दी जाती थी। मिलिंदप्रश्न (पृष्ठ १७८) से यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय युवक अश्व विद्या, हस्ति विद्या, रथ विद्या, लेखन कला तथा हिसाब का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। उनके लिये ब्राह्मणों की भाँति वेदों

का अध्ययन आवश्यक नहीं समझा जाता था। इस ग्रंथ (पृष्ठ ३५७–५८) से यह भी ज्ञात होता है कि निम्न जाति का जो व्यक्ति अपने को क्षत्रिय बताता था, उसे अग-भंग आदि का दण्ड दिया जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियो की स्थिति उस समय समाज मे ऊची मानी जाती थी। यदि निम्न जाति वाले व्यक्ति इनकी प्रतिष्ठा पाने के लिये क्षत्रिय होने का ढोग करते थे तो उन्हें दडित किया जाता था।

महाभाष्यकार के मतानुसार ब्राह्मणो के बाद समाज मे क्षत्रियो का स्थान था। राजगद्दी के लिये अभिषिक्त व्यक्ति राजन्य कहलाते थे। क्षत्रियो का आचार-व्यवहार प्राय ब्राह्मणो से मिलता जुलता था, अत उन्हें **ब्राह्मणसदृश** कहा जाता था। भाष्यकार के मतानुसार क्षत्रिय नाम के अन्त मे वर्मा शब्द का और वैश्य के अत मे पालित शब्द का प्रयोग होता था (८।२।८३), जैसे इन्द्रवर्मा क्षत्रिय का तथा इन्द्रपालित वैश्य का नाम होता था, ब्राह्मण का नाम इन्द्रदत्त होता था।

वैश्य—क्षत्रिय के बाद समाज मे वैश्य का स्थान था। मनु (१।९०) और याज्ञवल्क्य (१।११९) ने वेदाध्ययन, यजन और दान के अतिरिक्त इनके विशेष कार्य खेती, पशुपालन, रुपया सूद पर देना (कुसीद) और व्यापार करना माना है। महाभारत (१२।६०।२१) मे भी इनके कार्यों का वर्णन करते हुये पशुपालन पर विशेष बल दिया गया है। महाभारतकार (१२।१६५।३३) ने आपत्ति-काल में आत्मरक्षा तथा गो-ब्राह्मणो की रक्षा के लिये और वर्णसकरता को रोकने के लिये इन्हें शस्त्र ग्रहण करने का भी अधिकार दिया है। महाभारत मे कई स्थानो पर वैश्यों को शूद्रों के समकक्ष सामाजिक स्थिति प्रदान करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है (१।१२६।१३–१४३।८।१५)। मिलिंदप्रश्न (पृष्ठ १७८) मे स्मृतियो की भाँति वैश्य का कार्य कृषि और व्यापार बताया गया है।

बौद्ध एवं जैन साहित्य मे एव तत्कालीन अभिलेखो मे वैश्यों का उल्लेख **गृहपतियों** (पालि गहपति, जैन गाहावइ) के नाम से भी मिलता है। उवासगदसाओ नामक जैन ग्रथ मे इस धर्म मे अत्यत श्रद्धा रखने वाले जिन दस व्यक्तियो की कथाएं दी गई हैं, उनमे नौ व्यक्ति गृहपति है। इसके वर्णनानुसार गृहपतियो के पास उन दिनो अपार संपत्ति होती थी, ये सूदखोरी का काम करते थे, इनकी बडी-बडी जमीन्दारियाँ और पशुओं के रेवड हुआ करते थे। राजा और व्यापारी सब मामलों में इनसे सहायता लिया करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ये उस समय के

ऐसे समृद्ध पूंजीपतियों की श्रेणी थी जिनके पास विशाल भूसंपत्ति और पशुसंपत्ति थी। इन्हें समाज में सामान्य कारीगरों की निर्धन श्रेणी की अपेक्षा अधिक सम्मान दिया जाता था। ईसा से पहले की और बाद की शताब्दियों के अनेक दानपरक अभिलेखो मे गृहपतियो का उल्लेख मिलता है। ये व्यापारी, कृषक, कोषाध्यक्ष और सार्थवाह अथवा काफिलो के नेताओ का महत्वपूर्ण कार्य किया करते थे। गृहपतियों के अतिरिक्त इस समय अनेक अभिलेखो मे कुटुम्बिको का भी वर्णन मिलता है। ये कुटुम्बिक गृहपतियों की भाँति विशाल सम्पत्ति रखने वाले कुटुम्बो के या परिवारों के अध्यक्ष हुआ करते थे। इस युग के अभिलेखो मे सेट्ठी नामक एक वर्ग का वर्णन मिलता है। जातक साहित्य मे इसका उल्लेख प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। मिलिंदप्रश्न (पृष्ठ ७०) मे नागसेन के आरंभिक जीवन का वर्णन करते हुये पाटलिपुत्र के ऐसे सेट्ठी की कथा दी गई है, जिसने अपने सार्थ के साथ उत्तर-पश्चिमी भारत से अपने नगर की यात्रा की थी। इस युग के अभिलेखों में सेट्ठियो तथा उनके संबंधियो द्वारा दान दिये जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इनसे यह स्पष्ट होता है कि सेट्ठी उस समय के व्यापारियो मे अतीव समृद्ध और प्रभावशाली व्यक्ति होते थे, समाज मे इन्हें बड़ी प्रतिष्ठा दी जाती थी।

शूद्र:—धर्मशास्त्रों की प्राचीन परंपरा का अनुसरण करते हुए मनु और याज्ञवल्क्य ने शूद्रो का विशेष कार्य द्विजातियो की सेवा करना एव उनसे भरण पोषण प्राप्त करना माना है (मनु १।९१,१०।१२३–२५, या० १।१२०)। समाज में शूद्रो की स्थिति सबसे हीन थी। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों की सेवा करते थे और इसके बदले मे उनसे भोजन और वस्त्र प्राप्त करते थे। मनु के कथनानुसार शूद्र अपने स्वामी द्वारा छोड़े गये पुराने वस्त्र, छाता, चप्पल, चटाई आदि को प्रयोग में लाता था और स्वामी द्वारा छोड़ा गया उच्छिष्ट भोजन करता था, बुढापे मे उसका पालन-पोषण उसका स्वामी ही करता था। शूद्रों के लिये क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों की और वैश्यों की अपेक्षा क्षत्रियों की सेवा अधिक श्रेयस्कर मानी जाती थी। आपत्ति-काल मे जब शूद्र उच्चवर्णों की सेवा से अपनी या अपने कुटुम्ब की जीविका नही चला पाता था तो उसे बढईगिरी, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंगसाजी आदि के विभिन्न व्यवसायो से अपना निर्वाह करने की अनुमति दी गई थी (मनु १०।९९-१००, १२९)। मनु (८।४१३–१४, ४१६–१७) के मतानुसार शूद्र के क्रीत होने या न होने की

दशा में भी ब्राह्मण शूद्र से सेवा कराने के लिये उसे बाधित कर सकता है, उसकी संपत्ति का अपने लिये उपभोग कर सकता है, क्योंकि मुक्ति पाने के बाद भी शूद्र अपनी स्वाभाविक दासता से मुक्त नहीं हो सकता है और उसकी अपनी कोई संपत्ति नहीं होती है। मनु (८।४१८) ने यह भी कहा है कि राजा शूद्र को अपनी सेवा करने के लिये बाधित कर सकता है। इन सब वचनो से यह प्रतीत होता है कि उस समय शूद्र को संपत्ति रखने का कोई अधिकार नही था, और वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की सेवा करने के लिये बाधित किया जा सकता था।

किंतु शूद्रों की यह स्थिति सार्वभौम नही थी। समवतः यह मनु के आदर्श को और शूद्रो के विषय में उसके विचारो को सूचित करती थी, क्योंकि स्वयं मनु ने कुछ ऐसी अन्य व्यवस्थाये की है जिनमे यह स्पष्ट रूप से सूचित होता है कि शूद्रों को संपत्ति रखने का पूरा अधिकार था। मनु (९।१५७) और महाभारत (१३।४७।५६) के एक सुप्रसिद्ध श्लोक के अनुसार शूद्र को यह अधिकार था कि वह अपने पुत्रों में संपत्ति का बटवारा समान रूप से करे। एक अन्य श्लोक (मनु ९।१७९, या० २।१३३) में उसने दासी से उत्पन्न शूद्र के पुत्र का भी विरासत में अधिकार स्वीकृत किया है। मनु अन्यत्र (११।४२-४३, मि० या० १।१२७) यह व्यवस्था करता है कि शूद्रो को यह अधिकार नहीं है कि वे ब्राह्मण को दान देने का अधिकार रखते है। मनु ने (८।१४२, या० २।३८) यह भी व्यवस्था की है कि शूद्र द्वारा दिये जाने वाले ब्याज की कानूनी दर क्या होनी चाहिये। इन सब उद्धरणो से यह स्पष्ट होता है कि उस समय शूद्र संपत्ति रखने का अधिकार रखते थे। किंतु इसमे कोई संदेह नही है कि अन्य द्विजातियों की तुलना मे शूद्रो के धार्मिक और सामाजिक अधिकार कम थे और उनके बारे मे प्रकार कई की अयोग्यताये और अनर्हताये मानी जाती थी।

शूद्रों की पहली अनर्हता यह थी कि उन्हें वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित रखा जाता था। मनु से पहले गौतम धर्मसूत्र[१] (१२।४) ने यह व्यवस्था की थी कि यदि शूद्र जानबूझ कर स्मरण करने के लिये वेदपाठ सुने तो उसके कर्णकुहरो को सीसे और लाख से भर देना चाहिये, यदि वह अपनी वाणी से वेदों के उद्धरण दे तो उसकी जीभ काट डालनी चाहिये, यदि उसने वेद का अच्छी

१. गौधसू० १२।४, अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। मिलाइये मृच्छकटिक ९।२१, वेदार्थान्प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता।

तरह से स्मरण कर लिया हो तो उसके शरीर का छेदन करना चाहिये। शूद्रों का वेदाध्ययन वर्जित होने पर भी उन्हें इतिहास अर्थात् महाभारत एवं पुराण सुनने का अधिकार था। महाभारत में लिखा है कि चारों वर्ण किसी ब्राह्मण पाठक से महाभारत सुन सकते हैं।[1]

शूद्रों की दूसरी अनर्हता यह थी कि वे वैदिक यज्ञ नहीं कर सकते थे। मनु (१०।१२७) के अनुसार उनके सारे संस्कार वैदिक मंत्रों के बिना होते थे। वे वैवाहिक अग्नि नहीं रख सकते थे (मनु ३।६७, या० १।९७)। वे प्रतिदिन पंचमहायज्ञ साधारण अग्नि में कर सकते थे, श्राद्ध भी कर सकते थे, देवताओं की स्तुति 'नमः' शब्द से कर सकते थे, किन्तु 'अग्नये स्वाहा' नहीं कर सकते थे। यज्ञ का अधिकार न रखने पर भी, उन्हें पूर्त अर्थात् बावडी, कुंआ, तालाब बनवा कर देवमन्दिरों का निर्माण करा के पुण्य प्राप्त करने का अधिकार था।

कुछ अपराधों में शूद्रों को अधिक कडा दण्ड दिया जाता था। मनु (८।३६६) की व्यवस्था के अनुसार यदि शूद्र किसी ब्राह्मण नारी के साथ उसकी इच्छा के अनुसार या उसके विरुद्ध सम्भोग करे तो उसे प्राणदण्ड मिलना चाहिये। किन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करे तो उस पर एक सहस्र कार्षापण का दण्ड और व्यभिचार करने की दशा में पाँच सौ कार्षापण का दण्ड मिलता था (मनु ८।३७८)। यदि कोई ब्राह्मण किसी अरक्षित क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नारी से सम्भोग करे तो उसे पाँच सौ कार्षापण का दण्ड दिया जाता था (८।३८५)। इसी प्रकार किसी ब्राह्मण की भर्त्सना या गाली गलौच करने पर शूद्र को शारीरिक दण्ड दिया जाता था या उसकी जीभ काट ली जाती थी (मनु ८।२७०)। किन्तु इसी अपराध में क्षत्रिय या वैश्य को १०० अथवा १५० कार्षापण का दण्ड दिया जाता था। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को कुवचन कहे तो उस पर केवल १२ कार्षापण का अथवा कुछ भी दण्ड नहीं लगता था। शूद्र न तो न्यायाधीश हो सकता था और न ही धर्म की उद्‌घोषणा कर सकता था (मनु ८।९, २०, याज्ञ० १।३)

शूद्र का जीवन क्षुद्र एवं नगण्य समझा जाता था। पहले बताया जा चुका है कि ब्राह्मण की हत्या महापातक था, किन्तु मनु (११।६६) तथा याज्ञवल्क्य

---

१. महाभारत १२।३२८।४८, १।६२।२२, १।६४।८७ मिलाइये भागवत पुराण १।४।२५, स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा। इति भारतमाख्यानं मुनिना कृपया कृतम्।

(३।२३६) ने स्त्री, शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रिय को मारना उपपातक माना है। इसके लिये प्रायश्चित और दान की जो व्यवस्था की गई है, उससे स्पष्ट है कि शूद्र का जीवन नगण्य समझा जाता था। क्षत्रिय को मारने का प्रायश्चित था ६ वर्ष का ब्रह्मचर्य, एक हजार गौओ तथा एक बैल का दान, वैश्य को मारने पर ३ वर्ष का ब्रह्मचर्य, १०० गायों का और १ बैल का दान करना पड़ता था। किन्तु शूद्र को मारने का प्रायश्चित केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य, १० गायो का तथा एक बैल का दान था।

खानपान के सम्बन्ध मे यह नियम था कि ब्राह्मण कुछ शूद्र समझी जाने वाली जातियों के यहाँ भोजन कर सकते थे। मनु (४।२५३) याज्ञवल्क्य (१।१६६, मि० गौतम १६।६, विष्णु ५७।१६) के अनुसार ब्राह्मण उसी शूद्र के यहाँ भोजन कर सकता था, जो उसका पशुपालक, हलवाहा या वंशानुक्रम से मित्र हो या अपना नाई अथवा दास हो। यह व्यवस्था मनु से पहले गौतम (१६।६) ने भी की थी, किन्तु यह सर्वमान्य व्यवस्था नही थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१।५।१६।२२) के अनुसार अपवित्र शूद्र द्वारा लाया गया भोजन ब्राह्मण के लिये वर्जित है। किन्तु इसके साथ ही उसने तीन उच्च वर्णों के संरक्षण मे शूद्रों को द्विजातियों का भोजन बनाने के लिये अनुमति दी है। इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण न केवल शूद्रो का, अपितु शूद्रो के हाथ का बना हुआ भोजन ग्रहण करते थे। इस विषय मे आपस्तम्ब ने इतनी ही शर्त लगाई है कि शूद्र रसोइये के नाखून, केश आदि स्वच्छ होने चाहिये। इस विषय मे मनु की व्यवस्था (४।२११) ध्यान देने योग्य है। परवर्ती युगो मे शखस्मृति (१।३४) ने शूद्रो के भोजन पर पलते ब्राह्मणो को पक्तिदूषक माना और पराशर (११।१३) ने यह व्यवस्था की थी कि ब्राह्मण किसी शूद्र से केवल घी, तेल, दूध, गुड या इनसे बनी हुई वस्तुये ग्रहण कर सकता है, किन्तु इन्हें वह नदी किनारे ही खाये, शूद्र के घर मे नही। इससे यह स्पष्ट है कि शुंग सातवाहन युग मे शूद्रो का भोजन ब्राह्मणो के लिये पूर्ण रूप से वर्जित नही हुआ था। वह ब्राह्मणो के घर मे रसोइया हो सकता था और ब्राह्मण उसका पकाया हुआ भोजन कर सकता था।

किन्तु इस युग मे शूद्रों को अस्पृश्य या अछूत समझने की प्रवृत्ति का श्रीगणेश हो गया था। अनुशासन पर्व (५९।३३) मे यह कहा गया है कि शूद्र ब्राह्मण की सेवा जलती हुई अग्नि के समान दूर से करे, किन्तु क्षत्रिय एव वैश्य स्पर्श करके उससे सेवा करा सकते हैं। छुआछूत का बन्धन पहले बहुत

कठोर नहीं था। हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र (१।१२।१८-२०) तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।६।९-१०) के अनुसार मधुपर्क देते समय अतिथि के पैर को, भले ही वह स्नातक ब्राह्मण क्यों न हो, शूद्र पुरुष या नारी धो सकते थे।[१]

शूद्र चारो आश्रमों में केवल गृहस्थाश्रम ही ग्रहण कर सकता था। उसके लिये वेदाध्ययन वर्जित था (महाभा० १३।१६५।१०), अतः उसके लिये ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास के आश्रम वर्जित थे। शान्ति पर्व (६३।१२-१४) के अनुसार जिस शूद्र ने उच्च वर्णों की सेवा करते हुये अपने धर्म का पालन किया है, जिसका जीवन थोड़ा ही रह गया है, या जो ९० वर्ष से ऊपर की अवस्था का हो गया है, वह चौथे आश्रम को छोड़ कर सभी आश्रमो का फल प्राप्त कर सकता है।

पतञ्जलि के महाभाष्य से भी इस युग मे शूद्रो के सम्बन्ध मे बहुमूल्य जानकारी मिलती है। उसके मतानुसार शूद्र दो प्रकार के व्यक्ति कहलाते थे--(क) **कर्मशूद्र**--जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने शास्त्र विहित कर्तव्यो का पालन न करते हुए शूद्रवत् जीवन व्यतीत करते थे, वे कर्मशूद्र थे। अशिक्षित, वेदाध्ययन न करने वाले, सन्ध्या, अग्निहोत्ररहित, असंयमी ब्राह्मण भी शूद्र माने जाते थे। (ख) **जन्मशूद्र**--ये शूद्र माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति थे। शूद्रो की अनेक जातिया थी। भाष्यकार ने आभीरो को शूद्र माना है (१।२।७२), धीवर भी शूद्रो मे गिने जाते थे (४।१।१४)। शूद्रो मे सब से ऊंचा स्थान रथ-

---

१ प्राचीन काल में अस्पृश्यता की भावना मध्य एवं वर्तमान युग की भांति उग्र नहीं थी। धर्मसूत्रों में केवल चाण्डाल (ब्राह्मणी से शूद्रों में उत्पन्न सन्तान) को ही अस्पृश्य माना गया है (गौतम ४.१५, २३ आ० २।१।२।८-९)। मनु (१०।३६,५१) अन्ध्र, मेद, चण्डाल एवं श्वपच को गांव से बाहर रहने को कहता है, इससे स्पष्ट है कि अन्य जातियां गांव के भीतर रह सकती थीं और अछूत नहीं मानी जाती थीं। मनु के मतानुसार केवल चाण्डाल ही अस्पृश्य हैं, किन्तु विष्णु धर्मसूत्र ने इनके साथ कुछ विदेशी जातियों--म्लेच्छों और पारसीकों को भी अस्पृश्यो की श्रेणी में रखा है। २०वीं शताब्दी के आरम्भ में दक्षिण भारत में शूद्रों की छाया भी दूषित करने वाली मानी जाती थी, किन्तु मनु और याज्ञवल्क्य ऐसा नहीं मानते हैं कि चाण्डाल की छाया अपवित्र है। मनु ने (४।१३०) में चाण्डाल की छाया का कोई उल्लेख नहीं किया है। याज्ञवल्क्य (१।१९४) ने लिखा है कि यदि सड़क पर चाण्डाल चले तो भी वह चन्द्र तथा सूर्य की किरणों से और वायु से पवित्र हो जाती है।

कारों का था। ये त्रिवर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से कुछ ही नीचे थे। जुलाहा (तन्तुवाय), कुम्हार (कुम्भकार), नाई, लुहार (कर्मार, अयस्कार) धोबी और चमार (चर्मकार) सब शूद्रो के अन्तर्गत थे। शूद्रो मे आर्यावर्त से बाहर की भी अनेक जातियाँ सम्मिलित थी, जैसे, शक, यवन, क्रौन्च, किस्किन्धगन्धिक। बस्तियो से बाहर रहने वाले चाण्डाल और मृतप भी शूद्र थे खानपान की दृष्टि से पतंजलि ने शूद्रो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया है—निरवसित और अनिरवसित। बढ़ई (तक्षा), लुहार, धोबी और जुलाहा अनिरवसित थे और चाण्डाल, मृतप आदि निरवसित। अनिरवसित लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के पात्र छू सकते थे, किन्तु निरवसित नही छू सकते थे। वस्तुतः निरवसित निम्नतम कोटि के शूद्र थे। ये यदि त्रिवर्ण के पात्र मे खा पी लेते थे तो त्रिवर्ण इस पात्र को संस्कार द्वारा शुद्ध करके भी अपने प्रयोग मे नही ला सकते थे। यद्यपि कुछ अन्य प्रकार के शूद्रो द्वारा व्यवहृत त्रिवर्णो के बरतन आग आदि से शुद्ध करके व्यवहार में ले लिए जाते थे। निरवसित शूद्र गाँवो के बाहर त्रिवर्णो के घरो से दूर रहते थे। इनके घर प्रायः गाँवो के छोरो पर होते थे। ये बड़े-बड़े नगरो के बीच में भी रहते थे (२।४।१०)।

संकर जातियाँ:—चार वर्णो के अतिरिक्त तत्कालीन भारतीय समाज मे ऐसे बहुत से समुदाय और विदेशो से आने वाली नई जातियाँ थी, जिनको चारो वर्णो मे से किसी मे भी नही गिना जा सकता था। ऐसी जातियो को सकर जातियाँ कहा गया है। इनके लिये यह कल्पना की गई कि ये जातियाँ अनुलोम (ऊचे वर्ण के पुरुष से नीचे वर्ण की नारी से विवाह) तथा प्रतिलोम (निम्न वर्ण के पुरुष से ऊचे वर्ण की नारी मे) विवाहो का परिणाम थी। मनु (१०।८–२३) ने इस प्रकार की जातियो का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'ब्राह्मण से वैश्य कन्या मे अम्बष्ठ पैदा होता है, वैश्य से क्षत्रिय स्त्री मे मागध और ब्राह्मण स्त्री में वैदेह, ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में आभीर। व्रात्य ब्राह्मण से (व्रात्य ब्राह्मणी मे) भूर्जकण्टक, आवन्त्य, पैदा होते हैं, व्रात्य क्षत्रिय से झल्ल, मल्ल, निच्छिवि (लिच्छिवि), खस और द्राविड़, वैश्य व्रात्य से कारूष सात्वत।" मनु द्वारा वर्णित संकर जातियो की अन्य धर्मग्रन्थो की संकर जातियो के साथ तुलना करने से प्रतीत होता है कि पुराने धर्मसूत्रों में बहुत कम संकर जातियो का उल्लेख हुआ था। मनु ने छः अनुलोम, छः प्रतिलोम एव बीस मिश्रित जातियो के साथ तेईस व्यवसायों की चर्चा की है। याज्ञवल्क्य ने चार वर्णों के अतिरिक्त

१३ अन्य जातियो का उल्लेख किया है। मनु के अनुलोमो मे अम्बष्ठ, निषाद और उग्र तथा प्रतिलोमो मे सूत, वैदेहक, चाण्डाल, मागध, क्षत्ता और आयोगव उल्लेखनीय हैं। याज्ञवल्क्य (१।९५) ने भी मनु की भाँति विभिन्न संकर जातियों की चर्चा की है। इन सकर जातियो का विवेचन बड़ा जटिल था। विष्णु धर्मसूत्र (१६।७) ने लिखा था कि भारतीय समाज मे सकर जातियाँ असख्य हैं। मिताक्षरा (या० १।९५) ने भी इनकी गणना करना छोड़ दिया था। यहाँ इनकी कुछ प्रमुख बातो का ही निर्देश किया जायगा।

इन जातियो की कल्पना से हिन्दू समाज मे विदेशी जातियो को खपाना आसान हो गया, क्योंकि इस समय यह कल्पना की जाने लगी कि शक, यवन, पहलव आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय थी, किन्तु शनैः शनैः वैदिक कर्मकाड के न करने से इनका पतन हो गया। मनु (१०।४३–४) के शब्दो में "पौड्रक, ओड्र द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद (पह्लव), चीन, किरात, दरद और खश जातियाँ आरम मे क्षत्रिय थी, किन्तु धार्मिक क्रियाओ के लोप से और ब्राह्मणो के अदर्शन से धीरे-धीरे वृषल बन गई।" इनमे से कुछ जातियो का इतिहास बड़ा मनोरजक है। पहले (आठवे अध्याय मे) यह बताया जा चुका है कि आभीर भारत पर आक्रमण करने वाली एक विदेशी जाति थी। सभा पर्व (५१।१२) मे इनका पारदो के साथ वर्णन है। इन्हें दस्यु और म्लेच्छ कहा गया है। इन्होंने महाभारत के युद्ध के बाद अर्जुन पर आक्रमण किया था और वृष्णियो की स्त्रियो को हर कर ले गये थे। अश्वमेधिक पर्व (२९।१५–१६) के अनुसार ब्राह्मणों से संबध न रहने पर आभीर शूद्र हो गये। पहले यह बताया जा चुका है कि शनैः शनैः यह विदेशी जाति हिन्दू समाज मे अपना ली गई। रुद्रभूति नामक आभीर सेनापति ने १८१–८२ ई० में रुद्रसिह के शासन-काल मे एक कुआ बनवाया (ए० इं० खड १६, पृष्ठ २३५)। इसी प्रकार ईरान से आने वाले पहलवो को मनु ने शूद्रो की स्थिति मे आया हुआ क्षत्रिय माना है। महाभारत मे पह्लवो का उल्लेख पारदो तथा अन्य अनार्य लोगो के साथ किया गया है (सभापर्व ३२।१६।१७)। यवन अथवा यूनानी गौतम के मतानुसार शूद्र पुरुष एव क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम जाति है। महाभारत मे यवनो का उल्लेख शको तथा अन्य अनार्य जातियों के साथ किया गया है। इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि विदेशो से आने पर भी इन जातियो को शासक होने के कारण क्षत्रिय का दर्जा दिया गया, किन्तु उनमे वैदिक कर्मकांड आदि का प्रचलन न होने से उन्हें शूद्रो की श्रेणी मे पतित क्षत्रिय माना गया।

मनु की उपर्युक्त सूची से यह स्पष्ट है कि न केवल विदेशी जातियों को संकर की व्यवस्था से भारतीय समाज में ग्रहण किया गया, अपितु भारत के विभिन्न प्रान्तों में निवास करने वाली अनेक आदिवासी जातियों को भी इसी प्रकार भारतीय समाज का अग बनाया गया। मनु मे इस प्रकार की आदिवासी जातियाँ पौड्रक, चोल, द्रविड़, काम्बोज और किरात प्रतीत होती हैं। महाभारत में ऐसी जातियो की दो अन्य सूचियाँ है। पहली सूची (महाभारत १३।३३।२२–२३) के अनुसार ये जातियाँ काम्बोज, द्रविड़, कलिंग, पुलिंद, और उशीनर थी, दूसरी सूची (१३।३३।१७–१८) के अनुसार ये मेकल, द्रविड़, त्याढ, पौड्, दरद और किरात थी। इन सब जातियो के बारे में यही बात कही गई है कि वे पहले क्षत्रिय थीं, किन्तु बाद में पवित्र धार्मिक कार्य न करने और ब्राह्मणों के साथ सपर्क न रखने से शूद्र हो गई। महाभारत (१२।६५।१३–२२) में इनके कर्त्तव्यों का विस्तृत वर्णन है।

मनु द्वारा प्रतिपादित सकर जातियो मे सब से हीन स्थिति चाडाल जाति की बतायी गयी है। मनु (१०।१२) इसे शूद्र द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न प्रतिलोम संतान एवं निम्नतम श्रेणी का मनुष्य मानता है। वह इसे कुत्तो और कौओं की श्रेणी में रखता है (३।९२, २३९।१०।२६)। मनु (१०।५१–५६) इनके बारे मे यह भी कहता है कि चाडालो को और श्वपचो को गॉव के बाहर रहना चाहिए, उनके बर्तन अग्नि में तपाने पर भी प्रयोग मे नही लाने चाहिए। उनकी सपत्ति कुत्ते और गधे है, शवो पर लगाये गये कपड़े ही उनका ही परिधान है। उन्हें टूट-फूटे बर्तन मे ही भोजन करना चाहिए। उनके आभूषण लोहे के होने चाहियें। रात में वे नगर या गॉव के भीतर नही आ सकते, राजाज्ञा से जल्लाद का काम करते है। वे प्राणदड पाने वाले व्यक्तियो के वस्त्र, गहने और शय्या ले सकते है। ललितविस्तर (१।२०) मे भी चाण्डालो का और पुक्कसो (पुल्कसों) का निम्नतम जातियों के रूप मे वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र (१३।१८–१९) में चाण्डालों से सादृश्य रखने वाली श्वपाक जाति के बारे मे यह कहा गया है कि यह सब से नीची जाति है, सब लोग इससे घृणा करते हैं। मनु (१०।३८) ने श्वपच को चाण्डाल पुरुष और पुक्कस नारी की संतान माना है, यह जल्लाद का काम किया करता था।

जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष:—जाति प्रथा को सामान्य रूप से जन्म मूलक समझा जाता है, इसलियें इसमे किसी जाति की स्थिति मे कोई परिवर्त्तन सभव

नहीं है। किन्तु शुंग युग की जाति-प्रथा में कुछ लचकीलापन था, वर्णसंकर जातियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हो सकता था। इसमें किसी संकर जाति को उसका मूल वर्ण भी प्राप्त हो सकता था और उसका अधःपतन भी संभव था। इसके लिये स्मृतिकारों ने जात्युत्कर्ष (जाति में उत्थान) और जात्यपकर्ष (जाति की स्थिति में पतन) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। मनु (१०।६४) और याज्ञवल्क्य (१।९६) इसका वर्णन करते हैं। मनु के मतानुसार जब कोई ब्राह्मण शूद्रा स्त्री से विवाह करता है तो इस सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली कन्या पारशव होती है। यदि पारशव लड़की ब्राह्मण से विवाह करती है और इस सम्मिलन से उत्पन्न कन्या का पुनः किसी ब्राह्मण से विवाह होता है और यह क्रम सातवीं पीढ़ी तक चलता रहता है तो ७वीं पीढ़ी ब्राह्मण हो जाती है। इस प्रकार आरम्भ में शूद्रा समझी जाने वाली इस पीढ़ी का ब्राह्मण के रूप में उत्कर्ष हो जाता है। इसके सर्वथा विपरीत यदि कोई ब्राह्मण शूद्र स्त्री से विवाह करता है, तो उनसे उत्पन्न होने वाला लड़का पारशव कहलायेगा। यदि यह लड़का पुनः एक शूद्र कन्या से विवाह करता है और इसी प्रकार का क्रम सातवीं पीढ़ी तक चलता रहता है तो ७वीं पीढ़ी ब्राह्मण के उच्च धरातल से पतित होकर शूद्र बन जायगी। मनु (१०।६५) ने क्षत्रिय स्त्री के वैश्य की कन्या से तथा वैश्य पुरुष के साथ शूद्र स्त्री के विवाह से उत्पन्न सन्तान के बारे में भी यही सिद्धान्त लागू किया है। याज्ञवल्क्य (१।९६) ने जात्युत्कर्ष और जात्यपकर्ष दो प्रकार के बताये हैं। एक तो विवाह से और दूसरा व्यवसाय या पेशे से। यह जात्युत्कर्ष क्रमशः ७वीं और ५वीं पीढ़ी में होता है। मनु से पहले गौतम (४।१८–१९) ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, किन्तु वह जात्यपकर्ष के लिये पाँच पीढ़ियां ही पर्याप्त मानता है।

इस सिद्धान्त से जन्ममूलक जाति-व्यवस्था की कठोरता कुछ अंशों में कम हो जाती है। किन्तु हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि इन नियमों का पालन व्यावहारिक रूप में कहाँ तक होता था। श्री देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर का यह मत था कि इन नियमों का वस्तुतः पालन हुआ करता था,[1] ये नियम विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित रीतिरिवाजों को सूचित करते हैं। किंतु श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने इनके वास्तविक जीवन में क्रियान्वित होने में संदेह प्रगट करते हुये लिखा है[2] कि पाँच या सात पीढ़ियों तक वंशपरंपरा को

१. इंडियन एन्टिक्वेरी १९११ पृ० ११।
२. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास हिन्दी अनुवाद खं० १।

स्मरण रखना हंसी खेल नही है। इसके अतिरिक्त इस विषय में स्वयं स्मृतिकारों में विभिन्न प्रकार के मत प्रचलित थे। अतः यह कहा जा सकता है कि ऐसे विधान केवल आदर्श रूप मे ही रहे होगे। मनु और याज्ञवल्क्य की उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हमें साहित्य मे, धर्मशास्त्रो तथा अभिलेखों मे इसका एक भी उदाहरण नही मिलता है।

आश्रम धर्म.—उत्तर वैदिक काल मे भारतीय समाज में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के चार आश्रमो का विकास हो चुका था। मनु (अध्याय ३) और याज्ञवल्क्य (प्रथम अध्याय) ने चारों आश्रमों का विस्तार ,से वर्णन किया है। इनके अनुसार सौ वर्ष के मनुष्य-जीवन को २५–२५ वर्ष के चार भागो मे बाँटा गया था। पहले २५ वर्ष तक व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम मे अपने भावी जीवन के लिये आवश्यक शिक्षा प्राप्त करता था। इसके बाद २५ वर्ष तक गृहस्थ आश्रम मे रहता हुआ सासारिक जीवन बिताता था, पुत्र–पौत्र हो जाने पर वह अपने गृहस्थ जीवन का परित्याग करके वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करता था। अतिम आश्रम संन्यास का था। मनु से पहले गौतम (३।१,५) और बौधायन धर्मसूत्र (२।६।२९।४२–४३) ने यह मत प्रकट किया था कि वास्तव मे केवल एक ही गृहस्थ आश्रम है, ब्रह्मचर्य इसकी तैयारी मात्र है, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम गृहस्थ धर्म का मृत्युपर्यन्त पालन करने का निर्देश करने वाले अनेक वैदिक वचनो का विरोधी होने के कारण अमान्य हैं। मनु और याज्ञ० ने यद्यपि पिछले दोनो आश्रमो को अस्वीकार नही किया, किन्तु वे गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा के गीत गाते नहीं थकते हैं। मनु के मतानुसार जैसे सब जन्तु वायु के सहारे जीते है, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ आश्रम से जीवन धारण करते हैं (३।७७), जैसे सब नदी-नद समुद्र मे जाकर स्थित होते है वैसे ही तीनों आश्रम गृहस्थ में ही स्थिति प्राप्त करते है (६।९०)। अन्य आश्रमो का भरण-पोषण करने के कारण यह श्रेष्ठ आश्रम है।

महाभारत में गृहस्थ आश्रम का गौरव-गान (१२।२७०।६–७) बहुत अधिक किया गया है। शांति पर्व के अनुसार जैसे सब प्राणी माता के आधार से जीते है, वैसे ही अन्य आश्रमो की स्थिति गृहस्थ के आधार पर है। गृहस्थ के लिये मोक्ष सभव न मानने वालो की निंदा की गई है (२७०।१०–११)। बौद्ध और जैन धर्मों के कारण कुछ समय तक भारतीय समाज में वैराग्यवाद की प्रवृत्ति प्रबल

हुई और बड़े पैमाने पर व्यक्ति भिक्षु और भिक्षुणियाँ बनने लगे। बुद्ध ने स्वय-मेव इसके अनिष्ट परिणामों की आशंका प्रकट की थी। समाज में इस प्रवृत्ति को रोकने के लिये महाभारत में गृहस्थ आश्रम के गौरव का गान किया गया। इस विषय में इसके कुछ प्रकरण बड़े रोचक हैं। शांति पर्व के १८वें अध्याय में विदेह-राज जनक के अपनी भार्या के साथ संन्यास ग्रहण के समय हुये वार्तालाप में अपने कर्त्त-व्यों को पूरा न करके संन्यास ग्रहण करने वालों की घोर निंदा की गई है। जनक-पत्नी ने ऐसे व्यक्तियों की उपमा पराये अन्न की आशा में इधर-उधर देखने वाले कुत्तों से दी है। महाभारत के मत में शिष्य, मठ, संपत्ति आदि की लालसा से काषायवस्त्र धारण करने वाले मूर्ख हैं। संन्यास की निंदा करने वाला महा-भारत का यह सारा प्रकरण भगवान बुद्ध जैसे अपनी पत्नी तथा घर छोड़ कर सन्यासी होने वालों पर एक प्रबल आक्षेप है। बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण हमारे देश में नौजवानों में तथा बहुत छोटी आयु के व्यक्तियों में संन्यास ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। ऐसे अजातश्मश्रु (बगैर दाढ़ी मूछ के) भिक्षुओं की एक कथा शांति पर्व में है। इन्द्र के समझाने से इन सब ने संन्यास धर्म को निष्फल समझ कर गृहस्थ का अवलंबन किया (१२।११।२७)। शांतिपर्व में युद्ध के बाद युधिष्ठिर का अनुशोचन और निर्वेद दिखाकर उसके मुह से भिक्षु होने का प्रस्ताव करा के सन्यास की जोरदार शब्दो में खिल्ली उड़ाई गई है। इस प्रस्ताव को सुन कर अर्जुन इसे **पापिष्ठा कापाली वृत्ति** कहता है (१२।८।७)। भीमसेन के मतानुसार अकेला आदमी पुत्र, पौत्र, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों का भरण न करता हुआ जगल में पशुओं की भाँति सुख से जी सकता है, पर न तो ये मृग स्वर्ग को पाते हैं, न सूअर और न पक्षी। यदि संन्यास से कोई राजा सिद्धि पा सके तो पहाड़ और पेड़ तुरंत ही सिद्धि पा लें, क्योंकि ये नित्य निरूपद्रव और निरंतर ब्रह्मचारी देखे जाते है (१२।१०।२२-२५)। इन शास्त्रकारों के मतानुसार मनुष्य को अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये और तीन ऋण चुकाने के लिये गृहस्थ धर्म का पालन करना आवश्यक था।

इस समय बौद्ध और जैन भिक्षुओं ने धर्म-प्रचार और साहित्य-सृजन का अद्भुत कार्य किया, किन्तु दुर्भाग्यवश इन भिक्षुओं और भिक्षुणियों में पर्याप्त अनै-तिकता और भ्रष्टाचार था। कौटिलीय अर्थशास्त्र (१।११) में संन्यासियों से गुप्त-चरों का काम लेने की बात कही गई है। वात्स्यायन से पहले के (कामसूत्र ५।४, ६२) गोणिकापुत्रादि के कामशास्त्र विषयक ग्रंथों से यह प्रतीत होता है कि उन दिनों

बौद्ध, जैन और ब्राह्मण भिक्षुणियाँ प्रेमियों के बीच में दूतियों का कार्य किया करती थीं। तत्कालीन समाज में इन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता था। यह बात दो उदाहरणों से स्पष्ट है। स्त्रीसंग्रहण अर्थात् व्यभिचार की विभिन्न किस्मों के लिये स्मृतिकारों ने बड़े कड़े दण्डों की व्यवस्था की है। विवाहिता स्त्री के साथ व्यभिचारपूर्ण वार्तालाप करने वाले के लिये भारी जुर्माने का विधान किया गया है। किंतु एक प्रव्रजिता के साथ गुप्त वार्तालाप के लिये मनु कुछ थोड़े से जुर्माने की व्यवस्था करता है (८३६३)। याज्ञ० भी इस अपराध को तुच्छ मानता है (३।२८५,२९३)। वात्स्यायन (४।१।९) ने नागरक को यह चेतावनी दी है कि उसकी पत्नी का संपर्क ब्राह्मण, बौद्ध और जैन परिव्राजिकाओं से नहीं होना चाहिये।

दास प्रथा.—यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित थी। बौद्ध साहित्य में विभिन्न प्रकार के दासों के वर्णन मिलते है। कौटिल्य (३।१३) ने संभवतः पहली बार प्राचीन भारत में दासों की स्थिति के संबंध में अनेक नियमों का प्रतिपादन किया था। मनु (८।४१५) ने इस पुरानी परंपरा के आधार पर दासों को सात श्रेणियों मे विभक्त किया है—युद्ध मे पकड़े गये, जीविका अथवा भोजन प्राप्त करने के लिये दासता स्वीकार करने वाले, अपने स्वामी के घरों में उत्पन्न होने वाले, द्रव्य देकर खरीदे गये, दान में प्राप्त, पुरखों से विरासत में प्राप्त, दण्ड भोगने के लिये दास बनाये गये व्यक्ति। उन दिनों दासों की प्राप्ति का एक बड़ा स्रोत युद्ध था। युद्ध में हारे हुये व्यक्तियों को दास बना लिया जाता था। महाभारत (३।२७२।११, ३।३३।५०) में यह कहा गया है कि युद्ध के नियमों के अनुसार लड़ाई में हारने वाला व्यक्ति अपने जीवन की रक्षा इसी प्रकार कर सकता है कि वह सार्वजनिक रूप से यह घोषणा करे कि वह विजेता का दास बनना स्वीकार करता है, किन्तु एक वर्ष बाद इसे उसका पुत्र समझ कर मुक्त कर दिया जाता था। महाभारत में दासों के दान का भी उल्लेख मिलता है (२।५२।११,५७।८)। अन्यत्र यह बताया गया है कि अग देश में स्त्रियों और बच्चों के बेचने की कुप्रथा थी (महाभा० ८।४५।४०)। मिलिंदप्रश्न (पृ०२७९) से यह ज्ञात होता है कि एक ऋणग्रस्त पिता ने जीविका का कोई अन्य साधन न होने पर अपने पुत्र को दास के रूप मे बेचा था। इससे यह पता लगता है कि उस समय दासों का क्रय-विक्रय होता था। युद्ध से इनकी संख्या में वृद्धि होती थी और ऋण चुकाने के लिये व्यक्ति स्वयमेव दास बनते थे या अपने पुत्रों को बेचा करते थे। व्यभिचारिणी स्त्री को भी दासी बनने का दण्ड दिया जाता था (मिलिंदप्रश्न पृष्ठ १५८)।

मनु के एक सुप्रसिद्ध श्लोक (८।४१६, मि० महाभारत १।८२।२८, ५।३३।६८) के अनुसार दास को संपत्ति रखने का कोई अधिकार नहीं था। किन्तु इस नियम का सर्वत्र पालन नहीं होता था, क्योंकि मनु (९।१७९) तथा याज्ञवल्क्य (२।१३६) यह व्यवस्था करते हैं कि एक शूद्र द्वारा दासी से उत्पन्न पुत्र अपने पिता की मृत्यु के बाद पिता की संपत्ति ग्रहण कर सकता है। कौटिल्य ने दासों को कुछ दशाओं में संपत्ति विरासत में पाने और देने के अधिकार दिये थे, किन्तु मनु इस विषय में मौन है। दासत्व से मुक्ति पाने के विषय में याज्ञवल्क्य ने कई व्यवस्थायें की है (२।१८५)। जबर्दस्ती बनाये गये दास का दासत्व उसी प्रकार वैध नहीं था, जैसे चोरो द्वारा बेचे गये किसी माल को वैध नही माना जाता है। जो दास अपने स्वामी के जीवन को बचाता था, उसे इसके पुरस्कार रूप में मुक्त कर दिया जाता था। ऋण न देने की दशा मे बनाया गया दास कर्जा चुका देने के बाद दासत्व से मुक्त हो जाता था। दिव्यावदान (पृष्ठ २५) से यह विदित होता है कि यदि कोई दासी अपने स्वामी के घर में सन्तानवती होती थी तो उसे अपनी सन्तान के साथ ही मुक्त कर दिया जाता था। इस समय के स्मृतिकारों ने दासों के साथ मानवीय व्यवहार करने पर बहुत बल दिया है (मनु ४।१८४-८५, महाभारत १२।२४२।२०-२१)।

विदेशियों का भारतीयकरण :—शुग-सातवाहन युग की एक बड़ी विशेषता यह थी कि इस समय आक्रान्ताओ के रूप मे अनेक विदेशी जातियाँ भारत आईं और वे शीघ्र ही भारतीय परम्पराओ, धर्म, भाषा, रीति-रिवाज को ग्रहण करके भारतीय बन गईं। इनमे पहली जाति यवन अथवा यूनानी थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय से यूनानी भारत मे आकर बसने लगे थे। ये प्रधान रूप से उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त मे, कम्बोज और गन्धार के प्रदेशों में काफी संख्या मे बस गये थे। अशोक के शिलालेखों में इनका वर्णन मिलता है। उसके समय में भारत मे बसे यूनानियों ने अनेक उच्च राजकीय पद भी प्राप्त किये थे। अशोक ने तुषास्फ नामक यवन को काठियावाड़ का प्रान्तीय शासक बनाया था। मौर्य युग की समाप्ति पर बैक्ट्रिया के यूनानी राजाओं के आक्रमणों के परिणामस्वरूप भारत में यूनानी लोगो की बस्तियों की संख्या बढ़ने लगी। इनके बाद शक एक भीषण बाढ़ के रूप में बहुत बड़ी संख्या में भारत आये। इनसे यहाँ के सामाजिक जीवन में एक बड़ी हलचल मच गई। ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में समूचा उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब का प्रदेश विदेशी जातियों द्वारा पादाक्रान्त होता रहा। इससे भारत के सामाजिक जीवन को जो भीषण भय

उत्पन्न हुआ, उसकी गूंज हमें गार्गी संहिता के युग पुराण में सुनाई देती है।[१] इसमें पौराणिक शैली की भविष्यवाणी के रूप में बैक्ट्रिया के यूनानियों के हमले का वर्णन करते हुये यह कहा गया है कि इससे आर्य अनार्य का, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का भेद लुप्त हो जायगा। वर्णाश्रम धर्म की परिपाटी समाप्त हो जायगी। शूद्र भिक्षु ब्राह्मणों का रूप धारण करेंगे, शूद्र ब्राह्मणों के सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का अपहरण कर लेंगे। विदेशी आक्रमणों के कारण परिवार व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी। युद्धों में मनुष्यों के अधिक संख्या में मारे जाने के कारण पुरुषों की कमी हो जायगी। १०–२० स्त्रियाँ एक पुरुष से विवाह करेंगी। नारियाँ खेतों में, व्यापारिक संस्थानों में तथा सिपाहियों के रूप में काम करेंगी। १२ वर्ष का भीषण अकाल पड़ेगा। कलियुग की सब बुराइयाँ प्रकट होंगी। महाभारत (३। १८८।३०–६४, १९०।१२–८८) में भी कलियुग के आगमन के समय इसी प्रकार की बुराइयों और भीषण विपत्तियों का चित्रण किया गया है। इसमें अनार्य बर्बर जातियों के शासन के कारण समूची समाज व्यवस्था के उलट-पलट हो जाने का वर्णन है। भारतवर्ष का जो प्रदेश इन जातियों ने जीत लिया था, उसकी घोर निन्दा करते हुए यह कहा गया है कि वहाँ किसी आर्य व्यक्ति को नहीं रहना चाहिये। महाभारत (८।४०।२०–४०, ४४।६–४४, ४५।५–३८) में संभवतः इसी कारण मद्र और वाहीक देशों के स्त्री पुरुषों की कर्ण ने बड़ी निन्दा की है। पश्चिमी भारत पर विदेशी शकों का चिरकाल तक शासन रहा था। सम्भवतः इसीलिये वात्स्यायन (कामसूत्र २।५।२५) ने सौराष्ट्र-वासियों के शिथिल आचार का वर्णन किया है। महाभारत में विदेशी यवनों, काम्बोजों और गन्धारों को कुत्ते के मांस को पका कर खाने वाले श्वपाकों और गिद्धों जैसा स्वभाव रखने वाला बताया गया है (म० भा० १२।२०७।४३–४५)। इसी प्रकार आभीरों की विदेशी जाति को पापी, लोभी और दस्यु बताया गया है (म० भा० १६।७। ४७–४९)।

यद्यपि भारतीय ग्रन्थों में यूनानियों तथा अन्य विदेशी जातियों की घोर निन्दा करते हुये उन्हें वर्णाश्रम व्यवस्था को भंग करने वाला और नैतिकता को नष्ट करने वाला बताया गया है, फिर भी ये जातियाँ शीघ्र ही भारतीय धर्म और सामाजिक व्यवस्थाओं को स्वीकार करके भारतीय समाज का अंग बन गईं। जिस प्रकार रोम

---

१ जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १९२८ पृ० ४०२, ४०८, ४१०, ४१३–४, इसके संशोधित पाठ के लिये देखिये इसी पत्रिका का १९३० का अंक पृ० १८।

यूनान का विजेता होकर उसकी संस्कृति से विजित हुआ था, उसी प्रकार यूनानी, शक, पहलव और कुषाण भारतीय प्रदेशों को जीतने के बाद उसकी संस्कृति से पराजित हुए और भारतीय बन गये। यूनानियों में भारतीयकरण की प्रक्रिया दूसरी शताब्दी ई० पूर्व के उत्तरार्ध में उस समय आरम्भ हुई जब हिन्द-यूनानी राजा डिमेट्रियस ने यवन राजाओं की पुरानी परम्परा का परित्याग करते हुए अपनी मुद्राओं पर यूनानी भाषा के साथ-साथ खरोष्ट्री लिपि में लिखी जाने वाली भारतीय प्राकृत को स्थान देने की नई पद्धति आरम्भ की। इसके बाद प्रायः सभी यूनानी राजाओं ने इसका अनुसरण किया। कुछ यूनानी राजाओं ने न केवल भारतीय भाषा को, अपितु भारतीय देवी-देवताओं को भी अपनी मुद्राओं पर स्थान दिया। यह उनके भारतीय धर्म से प्रभावित और आकर्षित होने का सुन्दर प्रमाण है। श्री जितेन्द्रनाथ बैनर्जी के मतानुसार हिन्द यूनानी राजा यूक्रेटाइडीज और एण्टियाल्किडस की मुद्राओं पर इन्द्र की तथा एगेथोक्लीज और पेन्टेलियोन के सिक्कों पर लक्ष्मी की मूर्ति का चित्रण मिलता है।[1] यूनानियों में भारतीय धर्मों की लोकप्रियता हेलियोडोरस और मिनाण्डर के उदाहरणों से स्पष्ट है। पहले (द्वितीय अध्याय में) यह बताया जा चुका है कि विदिशा में राजा भागभद्र के दरबार में आये हुये यूनानी राजदूत हेल्यिोडोरस ने देवताओं के देवता वासुदेव की प्रतिष्ठा में एक गरुड़ध्वज स्थापित किया था। वह इस लेख में अपने को वैष्णव धर्म का अनुयायी भागवत कहलाने में गौरव का अनुभव करता है। उसने अपने लेख के अन्त में महाभारत के कुछ वचनों को उद्धृत किया है। इनसे यह सूचित होता है कि वह सम्भवतः महाभारत का भी पारायण करता था। मिनाण्डर द्वारा बौद्ध धर्म के स्वीकार करने का पहले वर्णन किया जा चुका है। पश्चिमी भारत में कार्ले, नासिक और जुन्नर की गुफाओं में हमें अनेक यूनानियों द्वारा बौद्धसंघ को दिये गये दानों का उल्लेख मिलता है, जैसे नासिक की गुहा संख्या १७ में ओतराह (उत्तरापथ के) दातामितियिक (देमित्र) द्वारा स्थापित की हुई दातामित्री नगरी के निवासी योनक धर्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का दान[2], कार्ले में धेनुकाकट नामक स्थान के निवासी यवन सिहधय (सिहध्वज) का धं (धर्म) का तथा उसवदत्त (उषवदात) के बेटे मितदेवणक का दान और जुन्नर की गुफा में गतों (Goths) के यवन हरिल का तथा चिट का दान। देवदत्त

---

१. जे० एन० बनर्जी—दी डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी पृ० १२३ १६३।

२. ए० इं० ८।९०।

रामकृष्ण भण्डारकर को बेसनगर (विदिशा) से एक मिट्टी की मुहर १९१४ में मिली थी, उनके मतानुसार इसमें यह उल्लेख है कि डिमेट्रियस नामक एक यूनानी ने वैदिक यज्ञ कराया और वह उसमें यजमान बना था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यूनानियों ने पहले सम्भवतः शासन सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण अपनी मुद्राओं पर भारतीय भाषाओं को स्थान दिया, इसके बाद वे वैष्णव, बौद्ध आदि भारतीय धर्मों के उपासक बने तथा भारतीय समाज में घुलमिल गये। पहली शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध में कनिष्क ने अपने सिक्कों से यूनानी गुम्फाक्षर (Monograms) हटाये तो यह सम्भवतः इस बात का प्रतीक था कि इस समय तक यूनानी भारतीय समाज में विलीन हो चुके थे और उनके पार्थक्य को सूचित करने वाली यूनानी भाषा का प्रचलन लगभग समाप्त हो चला था। यूनानी अपनी संस्कृति पर गर्व करते हुए विदेशी जातियों को बर्बर कहते थे और उन्हें हीन दृष्टि से देखते थे। ऐसे यूनानियों का भारतीयकरण होना कम आश्चर्य की बात नहीं थी। उनके भारतीयकरण की प्रक्रिया पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है (पृ० ८६)।

यूनानियों के बाद भारत पर शकों, पहलवों और कुषाणों के आक्रमण हुए। इनमें भारतीयकरण की प्रक्रिया अधिक तीव्र थी। इन्होंने यूनानियों की अपेक्षा अधिक तेजी से भारतीय सभ्यता और संस्कृति को स्वीकार किया। यह बात नामों के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। यूनानियों ने भारतीय भाषा में अपने नामों को लिखते हुए उनमें उतना ही परिवर्तन किया जो खरोष्ट्री या ब्राह्मी में उनके लिखे जाने के लिये आवश्यक था। किन्तु शकों और आभीरों ने आरम्भ से ही विशुद्ध भारतीय नाम ग्रहण किये। इनके कुछ उदाहरण वीर्यकमित्र, विजयमित्र (ए० इ० ख० २४, पृ० ७) का पुत्र इन्द्रवर्मा और उसका भतीजा अश्ववर्मा तथा पश्चिमी भारत के क्षत्रपवंश के जयदामा, रुद्रदामा आदि नाम हैं। इसी प्रकार के अन्य नाम विष्णुदत्ता, शकानीका, आभीरवंशी शिवदत्त का पुत्र माढरिपुत्र ईश्वरसेन है। शक, पहलव और कुषाण राजाओं ने आरम्भ से ही अपनी मुद्राओं पर यूनानी एवं भारतीय भाषाओं से लेख लिखवाये। चष्टन के उत्तराधिकारी शक क्षत्रपों ने अपनी मुद्राओं पर यूनानी लेखों को अलंकरण के रूप में परिवर्तित किया और खरोष्ट्री लिपि में प्राकृत के स्थान पर ब्राह्मी लिपि में संस्कृत से प्रभावित प्राकृत का प्रयोग किया। यह इन पर बढ़ते हुए भारतीय प्रभाव का सूचक है। शकों की एक और

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट १९१४-१५, पृ० ७-८।

विशेषता भी ध्यान देने योग्य है। इन्होंने अपने अभिलेखों में शनैः शनैः यूनानी वर्ष के महीनों के स्थान पर भारतीय पंचांग के अनुसार पक्षों और महीनों का प्रयोग किया। शक, कुषाण राजाओं की मुद्राओं पर पाये जाने वाले भारतीय देवी देवताओं का पहले उल्लेख हो चुका है। कदफिसस द्वितीय शैव मतानुयायी था। वासुदेव भी प्रधान रूप से शिव का उपासक प्रतीत होता है, किन्तु कनिष्क और हुविष्क ने अपनी मुद्राओं पर जरथुस्त्री और भारतीय धर्मों के विभिन्न देवी देवताओं को स्थान दिया है। पश्चिमी भारत की कार्ले गुफा से अबुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के बेटे हरफरण का बौद्ध संघ के लिये नौ कोठरियों वाले मण्डप के दान का अभिलेख मिला है। अबुलामा सम्भवत सिन्धुतट की अम्बूलियम (Ambulium) नामक बस्ती प्रतीत होती है। सेतफरण और हरफरण स्पष्ट रूप से पहलव नाम प्रतीत होते हैं। पहले पश्चिमी भारत के शक शासक उषवदात के दानों का उल्लेख किया जा चुका है, उसने ब्राह्मणों और बौद्ध भिक्षुओं को प्रचुर मात्रा मे दान दिये थे। उसके लेखों से यह स्पष्ट होता है कि वह पूर्ण रूप से भारतीय संस्कृति के रंग में रंगा जा चुका था।

विदेशी जातियों ने यहाँ बस कर भारतीय भाषा, धर्म और संस्कृति को आत्मसात् करके शनैः शनैः अपने को भारतीय बना लिया। इनके वैवाहिक संबंध सुप्रतिष्ठित भारतीय राजकुलों में होने लगे। तीसरी शताब्दी ई० में पश्चिमी भारत के क्षत्रप राजाओं की कन्याओ का विवाह सातवाहन और इक्ष्वाकु राजवंशों में होने लगा था। इसका सर्वोत्तम उदाहरण वासिष्ठिपुत्र शातकर्णि की रानी थी। इक्ष्वाकु राजवंश के राजा वीर पुरुषदत्त की पटरानी रुद्रभट्टारिका उज्जयिनी के शक राजा की कन्या थी (ए० इं० खं० २०, पृ०४४)।

स्त्रियों की स्थिति

नारियों की स्थिति में पिछले युगों की अपेक्षा कुछ परिवर्तन आने लगा था। वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी, उन्हें पति के साथ समानता की स्थिति प्राप्त थी। इस समय पति-पत्नी एक दूसरे के साथी या मित्र (सखा) थे। उनके स्वत्वों और सामान्य कार्यों में कोई बड़ी विषमता या भेद नहीं था। उनका सामूहिक नाम दंपती अर्थात् घर का स्वामी था। इससे सूचित होता है कि दोनों का घर पर समान रूप से स्वत्व था। मैकडानल और कीथ ने लिखा है—"यह शब्द (दंपती) ऋग्वेद के समय में स्त्रियों की उच्च स्थिति का बोधक है।"

यह स्थिति ६०० ई० पू० तक बनी रही।[1] इसके बाद वैदिक युग के अन्त में स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित किया गया। इसके प्रधान कारण सम्भवत: कर्मकाण्ड की जटिलता एवं पवित्रता में वृद्धि, स्त्रियों का मासिक धर्म, अन्तर्जातीय विवाह तथा उपनयन संस्कार के अभाव मे स्त्रियों का शूद्र समझा जाना था।[2] वैदिक युग में पत्नी पति के साथ बैठकर यज्ञ करती थी, उसके बिना पति का यज्ञ पूरा नहीं हो सकता था। किन्तु २०० ई० पू० में उसका इतना अध:पतन हुआ कि वह शूद्र बना दी गई। इसका एक बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि छठी श० ई० पू० से हिन्दू समाज में बाल विवाह का प्रचार होने से स्त्रियो के उपनयन की प्रथा अप्रचलित होने लगी थी। नियत अवधि तक उपनयन संस्कार न होने से गृह्य सूत्रो के समय से व्यक्ति को शूद्र समझा जाता था। स्त्रियो के उपनयन की प्रथा न रहने के कारण उनसे यज्ञ और मंत्रोच्चारण का अधिकार छिनना स्वाभाविक था। मनु (११।३७) इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि यज्ञ करने वाला होता वेद का पारंगत विद्वान तथा यज्ञक्रिया में निष्णात होना चाहिये। उपनयन न होने से स्त्रियाँ वेद की विदुषी नहीं होती थी, अत. उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नही दिया गया। मनु ने यह कहा कि पत्नी को मंत्रो के बिना ही यज्ञ में आहुति देनी चाहिये (३।१२१)। उसकी यह भी व्यवस्था है कि स्त्रियो के सब संस्कार मत्रों के बिना किये जाने चाहिये।

स्त्रियों की स्थिति हीन होने पर इनके **आजीवन संरक्षण का विचार** विकसित हुआ। धर्मसूत्रो के समय से प्रायः प्रत्येक शास्त्राकार ने इस बात की घोषणा की है कि स्त्री को कही भी स्वतन्त्रता प्राप्त नही है। मनु के कथनानुसार स्त्री की रक्षा बचपन में पिता, यौवन में पति और बुढ़ापे में पुत्र करते हैं, अतः स्त्री स्वतन्त्र नहीं है।[3] एक आधुनिक लेखिका रमाबाई ने इस पर कटु व्यग्य करते हुए लिखा है कि हिन्दू स्त्री केवल एक ही स्थान---नरक---मे स्वाधीन रह सकती है। किन्तु स्त्रियो की परतन्त्रता का सिद्धान्त सर्वमान्य होते हुए भी इस युग में नारियो को कुछ क्षेत्रों में महत्वपूर्ण अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त थी। यद्यपि मनु (८।४१६, महाभा० ५।३३।६४) के अनुसार स्त्रियों को संपत्ति रखने का अधिकार

---

१. हरिदत्त वेदालंकार-हिन्दू परिवार मीमांसा द्वितीय संस्करण पृ० ७४।

२ वही पृ० १०६ से ११३।

३. मनु ९।१४६, याज्ञवल्क्य १।८५, गौतम धर्मसूत्र १८।१, वसिष्ठ ५।१-३।

नहीं समझा जाता था, फिर भी मनु ने स्वयमेव स्त्रीधन पर पत्नी को पूर्ण अधिकार दिया है, वह इस बात की व्यवस्था करता है कि राजा को चाहिए कि वह पत्नियों की, साध्वी विधवाओं की, बाँझ और रोगग्रस्त स्त्रियों की सम्पत्ति की विशेष रूप से रक्षा करे। यदि संबंधी इस संपत्ति को हथियाने का प्रयत्न करें तो वह उन्हें चोरों की भाँति दण्डित करे। भाइयो को अपनी अविवाहित बहिन को संपत्ति में से कुछ हिस्सा बाधित रूप से देना पड़ता था (मनु ९।११०)। मनु ने माता को (९।२१७) और याज्ञवल्क्य (२।१३५) ने पहली बार पुत्रों के न होने की दशा में पत्नी को पति की संपत्ति का उत्तराधिकारी बनाया है। इन व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि यद्यपि नारी को सामान्य रूप से संपत्ति रखने का अधिकार नही था, फिर भी कुछ विशेष दशाओं में तथा स्त्रीधन पर उसे पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इस दृष्टि से इस युग में भारतीय नारी की स्थिति अन्य देशो की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक उन्नत थी।[1]

स्त्रियो के सापत्तिक और धार्मिक अधिकार कम होते हुये भी इस युग मे स्त्रियों को स्मृतिकारो ने अत्यधिक सम्मान दिया है। महाभारत (५।३८।१०, मिलाइये मनु ९।२६) के अनुसार स्त्रियां पूजा के योग्य, महाभाग्यवती और पुण्य-शीला हैं, वे घर की शोभा हैं। भीष्म द्वारा इस विषय में पुरुषों को दी गई शिक्षा उल्लेखनीय है—"स्त्रियां मान योग्य हैं, हे मनुष्यो, उनका मान करो। स्त्री से धर्म और रति का कार्य पूरा होता है। तुम्हारी परिचर्या और सेवा उनके अधीन है। संतान का उत्पादन, उत्पन्न संतान का परिपालन और सांसारिक जीवन में प्रीति पत्नी के कारण होती है, अतः इनका सम्मान करना चाहिये। इससे तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे (१३।४६।९१२), हे राजन्, स्त्रियों का सदा लालन और पूजन करना चाहिये। जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं, वहीं देवता रमण करते हैं। जहाँ इनकी पूजा नहीं होती है, वहाँ धार्मिक क्रियाये निष्फल होती हैं (महाभारत १३। ४६।५-६। मि० मनु ३।५६-५७)। महाभारत के मत में स्त्रियाँ लक्ष्मी है

१. इस सम्बन्ध में सर हेनरी मेन का यह कथन उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में विवाहित स्त्रियों की वह सुरक्षित संपत्ति जिसका पति अपहार नहीं कर सकता, स्त्रीधन के नाम से प्रसिद्ध है। यह तथ्य निश्चित रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में रोमन लोगों की अपेक्षा इस संस्था का विकास बहुत पहले हो गया था, अर्ली हिस्टरी आफ इंस्टीट्यूशन्स पृ० ३२१-३२४, हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दूपरिवार मीमांसा, द्वितीय संस्करण पृ० ४४१-४२।

(१३।४६।१५), स्त्रियों के निरादर से लक्ष्मी रूठ जाती है अतः ऐश्वर्य की आकांक्षा रखने वालों को स्त्रियों की पूजा उत्तमोत्तम आभूषणों और भोजन से करनी चाहिये (मनु ३।५९)। जो पति, पिता और भाई बहुत कल्याण चाहते हैं, उन्हें स्त्री को अलंकारों से भूषित करना चाहिये (मनु ३।५५)। मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि स्त्री इस प्रकार भूषित, पूजित और सम्मानित होने पर शोभायमान होती है, उसके ऐसा होने पर सारा कुल चमक उठता है। यदि वह इस प्रकार शोभायमान नहीं होती तो कुल भी नहीं चमकता है (मनु ३।६२)। इन सब वचनों से यह स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को समाज में ऊंचा समझा जाता था। मनु (३।५५-६२) तथा या० (१।८२) ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि स्त्रियों को परिवार में पूरी प्रतिष्ठा और सम्मान दिया जाना चाहिए।

स्त्रियों की सम्मानित स्थिति शास्त्रकारों की अनेक व्यवस्थाओं से भी स्पष्ट होती है। पुरानी व्यवस्था का अनुसरण करते हुये मनु (२।१३८) तथा या० (१।११७) ने स्त्रियों को राजा और स्नातक के साथ सड़क पर भीड़ होने की दशा में अन्य व्यक्तियों से पहले मार्ग देने का अधिकार दिया है। नवविवाहित और गर्भवती स्त्रियों को अतिथियों से भी पहले भोजन कराने की व्यवस्था मनु (३।११४-१६) और या० (१।११७) करते हैं। मनु पत्नी की हत्या को ब्रह्महत्या के समान महापातक मानता है (११।८८)। किन्तु व्यभिचारिणी स्त्री के लिये नाम मात्र के दण्ड की व्यवस्था करता है। शास्त्रकारों ने व्यभिचारिणी पत्नी के साथ भी उदारता का व्यवहार किया है। कुल्टा होने पर उसके लिए अन्य समाजों की अपेक्षा कम कड़े दण्ड विधान की व्यवस्था की है।[1] स्त्रियों को महाभारत ने न केवल अवध्य बताया है, अपितु यह भी कहा है कि इनको किसी प्रकार का दुर्वचन नहीं कहना चाहिये और कोई क्लेश नहीं देना चाहिये।[2] महाभारत में स्त्री संबंधियों में माता को जितनी महत्ता दी गई है उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रंथ में दी गई हो (१२।१०८।१६-१८, १३।१०५। ११६, १।१९६।१६)। पत्नी के रूप में महाभारत में द्रौपदी, दमयंती और सावित्री का जिस रूप में चित्रण हुआ है, उससे यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। इस बात की पुष्टि इस युग के ऐतिहासिक

---

१. हरिदत्त वेदालंकार- हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १४१-४३।

२. महाभारत कुंभघोणम संस्करण १३.५६।९, नैता वाध्या न वै वध्या न क्लेश्याः शुभमिच्छता।

अभिलेखों से भी होती है। सातवाहन राजवश में नागनिका और बालश्री ने अपने नाबालिग पुत्रों की अभिभाविका के रूप मे बड़ी योग्यतापूर्वक शासन के सब कार्यों का संचालन किया था। इस समय के अभिलेखों में हमें स्त्रियो द्वारा धार्मिक कार्यों के लिये अनेक दान देने के उल्लेख मिलते हैं।

पत्नी की स्थिति:—मनु (५।१५०) तथा याज्ञवल्क्य (१।८३–८७) ने पत्नी के कार्यों का विशद प्रतिपादन किया है। मनु के कथनानुसार पत्नी में चार बाते होनी चाहिये—वह सदैव हंसमुख रहे, गृहकार्यों मे दक्ष हो, घर की सब चीजे साफ-सुथरी रखे और अपव्ययी न हो। याज्ञवल्क्य ने इनके अतिरिक्त पति का प्रिय कार्य करना, सास ससुर की चरण वंदना, उत्तम आचरण और संयम पत्नी के प्रधान गुण बताये है। महाभारत (३।२३३) में द्रौपदी द्वारा सत्यभामा को तथा १३। १२३ में शांडिलि द्वारा सुमना को पत्नी के धर्मों का विस्तार से उपदेश है। कामसूत्र (४।१।३२) के मत में पत्नी को वार्षिक आय के अनुसार व्यय करना चाहिये। द्रौपदी ने महाभारत मे यह कहा है कि उसे पाण्डवो की पूरी सम्पत्ति के आय-व्यय का ज्ञान है।

इस समय के शास्त्रकार स्त्री का प्रधान कर्त्तव्य पति-सेवा और पातिव्रत्य धर्म का पालन करना बताते है। मनु ने इस पर बल देते हुये यह कहा है कि साध्वी पत्नी दुःशील, स्वच्छदगामी, गुणशून्य पति की भी देवता की तरह सेवा करे, इसी से स्त्रियां स्वर्ग मे पूजित होती हैं, क्योकि स्त्रियो के लिये पृथक् से कोई यज्ञ, व्रत या उपवास नही है (५।१५४–५५)। याज्ञवल्क्य की सम्मति मे पत्नी का परम धर्म यही है कि वह पति के वचन का पालन करे। महाभारत मे पाण्डु ने कहा है कि वेदवेत्ता यह जानते हैं कि पति पत्नी को धर्मानुकूल या धर्मविरुद्ध जो बात कहे उसके अनुसार उसे कार्य करना चाहिये (१।१२२।२७–२८)। मनु आदि इस युग के शास्त्रकारो ने पातिव्रत्य की गरिमा और सतीत्व की महिमा के बहुत गीत गाये है। मनुस्मृति (५।१६५–६६), याज्ञवल्क्य स्मृति (१।८७) और महाभारत (१५।२०।४) इसे सब से ऊंचे स्वर्ग-लोक मे पहुँचाने वाला मानते है जिसे केवल ब्रह्मा, पवित्र ऋषि, पूज्य आत्मा और ब्राह्मण ही प्राप्त करते है (महा० १३।७३।२, ९।५।४१–४७)। महाभारत में अनेक सतियों और पतिव्रताओं की कथाये दी गई हैं। गाधारी को जब यह पता लगा कि उसका विवाह प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र के साथ होना है तो उसने अपनी आँखों पर कई तहो वाली पट्टी बाँध ली ताकि उसके चित्त में पति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न

उत्पन्न हो (महा० १।११०।१४)। द्रौपदी ने वन में पतियो के साथ घोर कष्ट सहे, किंतु पातिव्रत्य की मर्यादा नहीं छोड़ी। वाल्मीकि रामायण में आदर्श पतिव्रता के रूप में सीता का जो उज्ज्वल चित्रण हुआ है, वह आज तक भारतीय समाज में आदर्श बना हुआ है। सीता न केवल वन मे अपने पति के साथ गई, अपितु पंचवटी में रावण ने जब उसे अपनी पटरानी बनना स्वीकार करने पर त्रिलोकी के ऐश्वर्य का प्रलोभन दिया तो पतिव्रता सीता ने रावण को धिक्कारते हुये पातिव्रत्य के जिस आदर्श का प्रतिपादन किया है, वह अनुपम है (अरण्यकांड ४७। २५–४७)। रावण द्वारा अपहृत होने पर लंका में घोर कष्ट और प्रलोभन दिये जाने पर भी सीता मे पातिव्रत्य की भावना बनी रही। पातिव्रत्य की महिमा का वर्णन करते हुये इस युग के स्मृतिकारो ने अनेक चमत्कारपूर्ण बातें कही है। सावित्री ने इसी के प्रभाव से अपने पति सत्यवान् को यमराज के चंगुल से बचाया था (महाभारत ३।२९६)। सीता ने इसी कारण हनुमान की पूछ को आग लगाने पर भी उसकी जलने से रक्षा की थी। सतियों के तेज के सम्मुख तपस्वी ब्राह्मणो की शाप देने की शक्ति को नतमस्तक होना पड़ता था, यह कौशिक ब्राह्मण के आख्यान से स्पष्ट है (महा० ३।२०६)। कौशिक ने अपने ऊपर बीठ करने वाले सारस को दृटिमात्र से दग्ध कर दिया था, परन्तु पतिसेवा मे सलग्न स्त्री के घर पर भिक्षा पाने मे विलम्ब होने पर वह उसका कुछ नहीं बिगाड़ सका, उसने अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से ब्राह्मण द्वारा सारस को कोपदृष्टि से जलाने की बात जान ली थी।

सतीत्व का उपर्युक्त आदर्श इस युग से हिन्दू समाज मे प्रबल होने लगा था। मनु ने यद्यपि स्त्री-पुरुष का यह परम धर्म बताया है कि वे मृत्युपर्यत एक दूसरे के प्रति सच्चे बने रहें (९।१०१), किन्तु अन्यत्र उसने पत्नी के मरने पर पुरुष को पुनर्विवाह का आदेश दिया, किन्तु पति के मरने पर पत्नी के पुनर्विवाह का निषेध किया (५।१५७–६१)। याज्ञवल्क्य (१।८९) भी पति को पत्नी के मरने पर अविलंब दूसरे विवाह का आदेश देता है। मनु और याज्ञवल्क्य द्वारा विधुरो को यह अधिकार यज्ञ कार्य करने की दृष्टि से दिया गया, क्योंकि पत्नी यज्ञ के लिये आवश्यक थी और पति को प्रतिदिन यज्ञ करना पड़ता था। किन्तु इसके साथ ही मनु ने यह भी व्यवस्था की थी कि पति पत्नी को अप्रियवादिनी होने पर फौरन छोड़ सकता था (मनु ९।८१, या० १।६३), किन्तु पत्नी पति को कभी नही छोड़ सकती थी। वही स्त्री आदर्श सती थी, जो पति

के दोषों की परवाह न करती हुई जीवन पर्यन्त उसकी आराधना करे। इस प्रकार का सतीत्व स्त्री पुरुष के लिये नैतिकता का दोहरा मानदंड स्थापित करता है। स्त्रियों से आदर्श पातिव्रत्य की अपेक्षा रखी जाती थी, किन्तु पुरुषों के लिये एकपत्नीव्रत होना आवश्यक नही था, सतीत्व का यह एकांगी आदर्श इस युग मे हिन्दू समाज मे लोकप्रिय हुआ।[1]

विधवा की स्थिति :—इस युग के शास्त्रकारों ने विधवा के पुर्नविवाह का विरोध किया। मनु (४।१६२) के मतानुसार "सदाचारिणी नारियों के लिये दूसरे पति का विधान कहीं नही किया गया है।" इसी बात को उन्होने बार-बार कई प्रकार से कहा है। ९।६५ के अनुसार विवाह की विधि में विधवा के पुर्नविवाह का कहीं वर्णन नही है, कन्या एक बार ही दी जाती है (सकृत्कन्या प्रदीयते ९।४७)। पाणिग्रहण के मन्त्र कन्याओ के लिये ही हैं। इसके अतिरिक्त मनु ने विधवा का सर्वोत्तम धर्म ब्रह्मचारिणी रहते हुए संयमपूर्वक जीवन विताना माना है (मनु ५।१५६–६१, मि० याज्ञ १।७५)। फिर भी उस समय विधवाओ के पुर्नविवाह का निषेध समाज मे सर्वमान्य नही हुआ था। कुछ दशाओ मे विधवा का पुर्नविवाह हुआ करता था। ऐसी स्त्री को पुनर्भू कहते थे। मनु (९।१७५, १८४) तथा याज्ञवल्क्य (२।१३०-१३२) पुरानी व्यवस्था के अनुसार पुर्नविवाह करने वाली स्त्री (पुनर्भू) के पुत्रों का सापत्तिक अधिकार कुछ विशेष दशाओं मे स्वीकार करते है। इससे यह स्पष्ट है कि मनु द्वारा विधवा के पुर्नविवाह का निषेध होने पर भी उस समय समाज में यह परिपाटी प्रचलित थी। मनु ने पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए अक्षतयोनि विधवा को पुर्नविवाह का अधिकार प्रदान किया है। पति के विदेश जाने और लापता होने की दशा मे पत्नी के पुर्नविवाह के अधिकार के संबन्ध में मनु की व्यवस्था स्पष्ट नहीं है। उसका यह कहना है कि यदि पुरुष धार्मिक कर्त्तव्य की दृष्टि से विदेश गया हो तो पत्नी को आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए, यदि ज्ञान या यश की प्राप्ति के लिये गया है तो ६ वर्ष तक, यदि प्रेम वशीभूत होकर गया हो तो तीन वर्ष तक पति की बाट जोहनी चाहिए (९।७६)। किन्तु मनु ने यह नही बताया कि उपर्युक्त अवधियों की समाप्ति पर भी पति के घर वापिस न लौटने की दशा में पत्नी को क्या करना चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए नारद (स्त्रीपुंस ९८–१०१) ने यह व्यवस्था की है कि यदि पति विदेश गया हो तो

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, पृष्ठ १३३–१४०।

ब्राह्मण पत्नी को आठ वर्ष तक और यदि सतान न हुई हो तो चार वर्ष तक ही प्रतीक्षा करनी चाहिये। उसके बाद वह दूसरा विवाह कर सकती है। नारद की व्यवस्था मनु की अपेक्षा स्त्रियो के पुनर्विवाह के विषय में अधिक स्पष्ट है। उसके मतानुसार पाँच प्रकार की विपत्तियो मे स्त्री दूसरा पति कर सकती है—जब पति लापता हो जाय, मर जाय, सन्यासी हो जाय, नपुसक हो या जाति से पतित हो।[1] किन्तु शनैः शनैः इस विषय मे नारद की अपेक्षा मनु की स्त्रियो के लिये ब्रह्मचर्यपूर्वक आमरण वैधव्य का जीवन बिताने की व्यवस्था सर्वमान्य होने लगी। इस कारण समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। याज्ञवल्क्य पहला स्मृतिकार है जिसने स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम विधवाओ को पुत्रों के अभाव मे पति की सपत्ति का स्वामी बनाया है (१।१३५–३६)।[2]

इस युग मे सती प्रथा व्यापक रूप से समाज में प्रचलित नहीं हुई थी। महाभारत मे इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण पाण्डु के साथ माद्री का सती होना है (१।९५।६५, १। १२५।२९)। इसके अतिरिक्त विराट पर्व मे सैरन्ध्री को कीचक के साथ जल जाने के लिये आज्ञा दी गई है (२३।८)। मौसलपर्व (७।१८) मे वसुदेव की चार पत्नियो के सती होने का उल्लेख है। रामायण मे भी इस प्रथा के कुछ उल्लेख मिलते है (५।२६।२४–२५, ६।१५।२७)। किन्तु ये सभी उदाहरण क्षत्रिय कुलो की स्त्रियों के है। श्री काणे के मतानुसार सती प्रथा आरम्भ मे राजकुलो एवं भद्र लोगो तक ही सीमित थी, क्योंकि प्राचीन काल मे युद्ध में हारने वाले राजाओं एव क्षत्रियो की पत्नियों की स्थिति बड़ी दयनीय हो जाती थी। विजेता विजित लोगों की पत्नियो से बदला चुकाते थे, उन्हें बन्दी बना कर ले जाते थे तथा उनके साथ दासियों जैसा व्यवहार करते थे। मनु (७।९६) ने सैनिकों को युद्ध मे प्राप्त अन्य वस्तुओं के साथ स्त्रियो को भी पकड़ लेने की आज्ञा दी है। अतः इस प्रथा का आरम्भ

---

१ नारद स्त्रीपुंस प्रकरण ९७—नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। यह श्लोक पराशर स्मृति (४।३०) और अग्निपुराण (१५४।५, ६) में भी मिलता है।

२ इस विषय के विस्तृत प्रतिपादन के लिये देखिये हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा पृ० ४७६।

क्षत्रिय कुलों से ही प्रतीत होता है।[1] पति के बाद जीवित रहने वाली पत्नी की स्थिति इस समय परिवार में अत्यन्त असहाय, दयनीय और कष्टपूर्ण होती थी। महाभारत (१।१५८।१२, १२।१४८।२) में इसका बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है। विधवा को समाज में अमंगलकारिणी और अपशकुन-सूचक वस्तुओं में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है (मिलिन्द प्रश्न पृ०२८८)। संगम साहित्य से भी दक्षिण भारत के संबन्ध में यही स्थिति प्रतीत होती है। यहाँ विधवाएं कठोर संयम का जीवन बिताती थीं और विधवा का सती होना एक अतीव स्पृहणीय और उच्च आदर्श समझा जाता था।[2]

पर्दा:—इस समय रानियाँ और राजकन्यायें अन्तःपुरों में इस प्रकार रहा करती थीं कि सामान्य जनता इन्हें न देख सके। रामायण (२।३३।८) और महाभारत (२।६९।६, ९।७१) में इनके बड़े काव्यमय वर्णन मिलते हैं। इनमें यह कहा गया है कि ये स्त्रियाँ असूर्यम्पश्या थी अर्थात् सूर्य भी इनके दर्शन नहीं कर पाता था, आकाश में उड़ने वाले पक्षी इन्हें नहीं देख पाते थे, वायु भी इनका स्पर्श नहीं कर सकती थी। जब रानियाँ राजदरबार में आती थी तो भी वे पर्दे में ही रहती थी। जैन कल्पसूत्र (४।६२-३) में यह बताया गया है कि सिद्धार्थ ने जब रानी के स्वप्न का फल पूछने के लिये मन्त्रियों और दरबारियों को बुलाया तो रानी इसे सुनने के लिये पर्दे के पीछे बैठी। ललितविस्तर (पृ०१५७) में यह बताया गया है कि नवविवाहिता वधू सास, ससुर और बड़े बूढ़े लोगों लोगों की उपस्थिति में पर्दा किया करती थीं।

गणिका:—बौद्ध साहित्य से यह प्रतीत होता है कि उस समय कुछ गणराज्यों में सुन्दर स्त्रियों को अविवाहित रहना पड़ता था, क्योंकि उनको पत्नी के रूप में प्राप्त करने के लिये उस गणराज्य के युवकों में उग्र संघर्ष होने की सम्भावना बनी रहती थी। बुद्ध के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक की माता ऐसी ही एक गणिका थी। गण अथवा व्यक्तियों के समूह द्वारा उपभोग्य होने के कारण इन्हें गणिका का नाम दिया जाता था। आम्रपाली के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि उन दिनों गणिकायें नृत्य आदि की विभिन्न कलाओं में प्रवीण

१. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास खण्ड १, पृ० ३७५। इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिये देखिये, हरिदत्त वेदालंकार-हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास अध्याय ११।

२. विधवा के लिये देखिये हरिदत्त वेदालंकार-हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ० ३२६-४२।

होती थी और समाज मे उनका एक विशिष्ट स्थान था। किन्तु शुंग-सातवाहन युग में मनु ने इनकी उग्र निन्दा की है (९।२५९–६२)। मनु (४।२०९, २१९) तथा याज्ञवल्क्य (१।१६१) ने गणिकाओ को उन व्यक्तियों मे गिना है जिनके यहाँ भोजन करने का निषेध किया गया है। वात्स्यायन के काम-सूत्र के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उन दिनो गणिकाओं की स्थिति समाज में काफी अच्छी समझी जाती थी। किन्तु यह स्थिति उसी स्त्री को प्रदान की जाती थी जिसमे रूप के साथ-साथ बौद्धिक गुण हों तथा जो शास्त्र में कुशल होने के साथ-साथ नाना प्रकार की कलाओ मे भी प्रवीण हो। ऐसी वेश्या को गणिका कहा जाता था। यह राजाओं से और गुणवान् व्यक्तियों से पूजित होती थी। वात्स्यायन के कथनानुसार उसका ६४ कलाओं में पारगत होना और शीलगुण सपन्न होना आवश्यक था।[1] ललितविस्तर मे राजा शुद्धोदन ने यह इच्छा प्रकट की है कि सिद्धार्थ की वहू शास्त्रो मे और कलाओ मे गणिका के समान कुशल हो (शास्त्रे विधिज्ञा कुशला गणिका यथैव)। इस युग में लिखे गये भरत के नाट्यशास्त्र (२४।१०९–११३)मे भी गणिका को विभिन्न प्रकार के शास्त्रो मे, ६४ कलाओ मे, नृत्य और संगीत मे पटु, मधुर व्यवहार और स्वभाव रखने वाली, कामकाज मे चतुर तथा सदैव स्फूर्तिसपन्न बताया गया है। वह बड़ी विदुषी और नाटक मे संस्कृत भाषा बोलने वाली होती थी। वह अपने द्रव्य का सदुपयोग देव-मन्दिर, वापी, कूप, तड़ाग, उद्यान, पुल बनाने, यज्ञ आदि धार्मिक कार्य करने मे लगाया करती थी।

तत्कालीन समाज में गणिका की प्रतिष्ठित स्थिति का प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि ये स्त्रियाँ अपने गुणो और कलाकुशलता के कारण समाज मे सम्मान पाती थी। सभी कलाप्रेमी इनकी कलाकुशलता, सुरुचिसम्पन्नता, साहित्यिक प्रतिभा पर मुग्ध होते थे। इन्हें विवाहित होने वाली स्त्रियो की अपेक्षा कलाओ के तथा शास्त्रों के अध्ययन का अधिक अवसर मिलता था। पहले यह बताया जा चुका है कि बाल-विवाह की पद्धति प्रचलित होने के कारण स्त्रियो का अध्ययन बन्द हो गया था। छोटी आयु मे विवाह हो जाने

---

१ कामसूत्र—आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या शीलरूपगुणान्विता ।
लभते गणिका शब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥
पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च संस्तुता ।
प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते ॥

के कारण वे किसी भी विद्या या कला को ग्रहण करने के अवसर से वंचित हो गयी। विवाह होने के बाद घरेलू काम-धन्धों मे फँस जाने के कारण उन्हें विभिन्न कलाओं और विद्याओं के अभ्यास का कोई अवसर नहीं मिल पाता था। तत्कालीन समाज में वे अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति से इन कलाओं की शिक्षा भी नही प्राप्त कर सकती थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह था कि उस समय की गणिकायें विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक शिक्षित, सुसंस्कृत, विभिन्न कलाओ में अधिक प्रवीण होती थीं। अतः उस समय के नागरिक अपनी पतिव्रता पत्नियो के होते हुए भी गणिकाओं के कला-कौशल और बुद्धि-वैभव से इनकी ओर आकृष्ट हुआ करते थे। भास के चारुदत्त और शूद्रक के मृच्छकटिक से यह प्रकट होता है कि चारुदत्त की पत्नी बड़ी सती साध्वी थी, वह उसका अत्यधिक मान करता था। फिर भी उसने गणिका वसंतसेना से प्रणय और विवाह किया। इस उदाहरण से यह सूचित होता है कि उन दिनों के नागरिक अपने घरेलू असन्तोष के कारण नही, अपितु गणिकाओ के गुणो के कारण इनकी ओर आकृष्ट हुआ करते थे। उस समय भारत मे वसंतसेना जैसी गणिकाओ की लगभग वही स्थिति थी जो पैरीक्लीज के युग में यूनान में नाना कलाओ से सपन्न हितीरा (Hetaera) नामक गणिकाओं की थी, जिनके सपर्क मे आना सुकरात जैसे दार्शनिक बुरा नही समझते थे।

विवाह के नियम:—पुरानी स्मृतियों का अनुसरण करते हुए इस युग मनु (३।२७–३४) और याज्ञवल्क्य (१।५८–६१) ने ब्राह्म, आर्ष, प्राजापत्य, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच नामक आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। इनमे से पहले चार प्रकार के विवाहो को प्रशस्त माना गया और पिछले चार प्रकारों की निन्दा की गई है (मनु ३।३६–४२, या० १।३९–४१)। पहले चार प्रकार के विवाहो में सूक्ष्म अन्तर थे। किन्तु इनका सामान्य तत्व यह था कि इनमें कन्या का पिता या अन्य कोई अभिभावक विवाह में कन्या का दान किया करता था, जबकि पिछले चार प्रकारों मे कन्यादान नही होता था। गान्धर्व विवाह का तात्पर्य वर-वधू का स्वयमेव अपनी इच्छा से विवाह कर लेना था। तत्कालीन समाज में इसका प्रचलन पर्याप्त मात्रा में था, क्योंकि वात्स्यायन ने कामसूत्र मे इस प्रकार के विवाह का और वधू के अनुरंजन (Courtship) का बड़े विस्तार से वर्णन किया

है। आसुर विवाह में लड़के का पिता कन्या प्राप्त करने के लिए उसके पिता को धनराशि दिया करता था। वर्तमान समय में कन्या का पिता लड़का पाने के लिए बड़ी मात्रा में दहेज देता है। आसुर विवाह इससे बिल्कुल विलोम स्थिति है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण माद्री का विवाह है, जिसमें भीष्म ने पाण्डु के लिए इसे प्राप्त करने के उद्देश्य से माद्री के पिता को बहुत बड़ी धनराशि दी थी। राक्षस विवाह में कन्याका बलपूर्वक अपहरण किया जाता था, जैसे अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया था। पैशाच विवाह में भी सोयी हुई अथवा शराब पिला कर बेहोश की हुई लड़की का अपहरण किया जाता था। विवाह के लिए कुछ नियमों का ध्यान रखा जाता था। (मनु ३।५) तथा याज्ञवल्क्य (१।५३) के अनुसार वर वधू असपिण्ड और असगोत्र होने चाहिये। असपिण्डता का तात्पर्य पितृपक्ष और मातृपक्ष से निकट का सम्बन्ध न होना था। पिता की ओर से सातवीं और माता की ओर से पाँचवीं पीढ़ी तक के सम्बन्धियों में विवाह वर्जित था। मनु ने बुआ, मौसी, मामा की लड़की से विवाह की घोर निन्दा की है (११।१७२–७३)। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय कुछ स्थानों पर ऐसे विवाह हुआ करते थे। बौधायन (१।१।२–३) ने मातुलकन्या-परिणय को दक्षिण भारत की विशेष परिपाटी बताया था और महाभारत में मामा की लड़की के साथ विवाह के उदाहरण अर्जुन औरसु भद्रा का, प्रद्युम्न और रुक्मी की कन्या का तथा अनिरुद्ध और रोचना का विवाह हैं।[1] असगोत्रता का आशय वर-वधू का समान गोत्र का न होना था। इसी प्रकार का तीसरा नियम सवर्णता अर्थात् वरवधू का एक ही वर्ण का होना था। इसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने हीं वर्णों मे विवाह करना अच्छा समझते थे।

किन्तु इस समय तक सवर्ण विवाह ने वर्तमान काल के सजातीय विवाहो के नियम के कठोर रूप को धारण नहीं किया था, इसमें बड़ा लचकीलापन था। सवर्ण विवाह के नियम को तोड़कर उस समय समाज में अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह होते थे। अनुलोम या उच्च वर्ण के पुरुष के साथ निम्नवर्ण की स्त्री का तथा प्रतिलोम अर्थात् निम्न वर्ण के पुरुष का उच्च वर्ण की पत्नी के साथ विवाह प्रचलित था। अनुलोम विवाह में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने से निम्न वर्णों की स्त्रियों के साथ विवाह कर सकते थे (मनु २।१३ और या० १।५७)। किन्तु ब्राह्मणों द्वारा शूद्रा स्त्रियों के साथ अनुलोम विवाह की मनु ने घोर निन्दा की है। फिर भी उस समय ऐसे विवाह समाज में प्रचलित थे, क्योंकि मनु (३।४३–४४) तथा याज्ञ-

१. हरिदत्त वेदालंकार-हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, तीसरा अध्याय।

वल्क्य (१।६२) ने अनुलोम विवाहों की विधियों का वर्णन किया है। उत्तराधिकार के प्रकरण में ब्राह्मण की चार वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न संतानों के हिस्सों का विवेचन मिलता है (मनु ९। १४९–५४)।

विवाह की आयु के बारे में भी इस समय पर्याप्त वैविध्य था। सामान्य रूप से स्त्रियों के लिए छोटी आयु में विवाह उत्तम समझा जाने लगा था (मनु ९।८८)। मनु अपने वर्ण का उत्तम वर मिलने की दशा में रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या के विवाह का परामर्श देता है। याज्ञवल्क्य इससे भी आगे बढ़कर यह कहता है (१।६५) कि रजोदर्शन के बाद कन्या जितने समय तक अविवाहित रहती है, उतने समय तक उसके अभिभावक को भ्रूणहत्या का पाप लगता है। लड़कों के विवाह की आयु सामान्य रूप से उपनयन संस्कार के १२ वर्ष बाद, विद्याध्ययन करने के उपरान्त ही उपयुक्त समझी जाती थी। इस कारण इस समय स्त्रियों और पुरुषों की विवाह की आयु में बहुत बड़ा अन्तर होता था। मनु के मतानुसार (९।९४) ३० वर्ष के लड़के को १२ वर्ष की लड़की से तथा २४ वर्ष के लड़के को ८ वर्ष की लड़की से विवाह करना चाहिये। किन्तु वात्स्यायन (३।१–२) ने यह सलाह दी है कि वर को अपने से ३ वर्ष या इससे कुछ अधिक छोटी कन्या से विवाह करना चाहिये। इन दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं से यह सूचित होता है कि उस समय बाल-विवाह के साथ-साथ परिपक्व आयु में भी विवाह की परिपाटी प्रचलित थी।

नागरक का जीवन

इस युग में व्यापार एवं वाणिज्य में असाधारण वृद्धि होने से नगरों का और इनमें रहने वाली एक संपन्न कुलीन श्रेणी का विकास हुआ था। यह वर्तमान युग के धनी रईसों की भाँति बड़े ठाठ-बाठ और शानशौकत से रहती थी और विभिन्न कलाओं को प्रोत्साहन देती थी। ऐसे व्यक्ति को उस समय **नागरक** कहा जाता था। नगर में रहने वाला व्यक्ति सामान्यतः नागर कहा जाता था, किन्तु पाणिनि के एक सूत्र के अनुसार जो व्यक्ति विभिन्न कलाओं में प्रवीण होता था उसे नागरक कहा जाता था।[1] ऐसे नागरक राजपरिवारों के व्यक्ति तथा उच्च अधिकारियों के और व्यापारियों तथा गृहपतियों के पुत्र-पुत्रियाँ होती थीं। इनके जीवन पर वात्स्यायन के कामसूत्र से बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। उसने नागरक वृत्ति (अध्याय ४) में ऐसे व्यक्तियों के रहन-सहन और दिनचर्या पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है।

---

१. पाणिनि ६।२।१२८ पर काशिका वृत्ति-नगरात्कुत्सनप्रावीण्ययो।······ प्रवीणा हि नागरका भवन्ति।

इससे हमें उस समय समाज में आदर्श (Elite) समझे जाने वाले नागरक के सामाजिक जीवन की बड़ी सुन्दर झलक मिलती है।

कामसूत्र प्रणेता के मतानुसार विद्या प्राप्त करने के बाद व्यक्ति को गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके दान, विजय, क्रय, उत्तराधिकार, आदि विभिन्न उपायों से प्राप्त संपत्ति के साथ नगर में रहना चाहिये और नागरक के जीवन का आचरण करना चाहिये। यदि किसी कारणवश उसे गाँव मे ही रहना पड़े तो भी उसे नगर का जीवन आदर्श समझना चाहिए। गाँव-वासियों को नागरक के जीवन के वर्णन सुनाने चाहिये और इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि गाँव में भी नागरक के जीवन का अनुसरण किया जाय। नागरक का जीवन बिताने के लिये धनी होना आवश्यक था, किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपनी सपत्ति गवा चुका है तो भी उसे नागरको की गोष्ठियो मे अपनी कलाओं का प्रदर्शन करके आजीविका का उपार्जन करना चाहिये। ऐसा व्यक्ति **विट** कहलाता था। निर्धन होने पर भी कलाओं मे निपुणता प्राप्त करके वह नागरको की गोष्ठियो मे और गणिकाओं के आवास स्थानो मे विभिन्न कलाओ की शिक्षा देकर अपना निर्वाह करता था। ऐसे व्यक्ति की एक विशेषता यह भी थी कि वह बहुत कम सामान होने पर भी अपने पास साबुन रखता था (फेनककषायमात्रपरिच्छदः) और उससे अपने को स्वच्छ रखने का प्रयत्न करता था। वर्तमान समय की भाँति स्वच्छता और साबुन का उपयोग उस समय सभ्यता का एक मानदण्ड था।

नागरक अपने निवास के लिए एक ऐसा भव्य भवन बनवाता था, जिसमे वह अपनी विभिन्न कलाओ की उपासना निर्बाध रूप से कर सके। पानी के निकट बना हुआ बाग बगीचेवाला उसका आलीशान मकान दो भागो मे बटा होता था। इसका आभ्यतर भाग स्त्रियों के लिए सुरक्षित अंतःपुर होता था, बाह्य प्रकोष्ठ मे वह अपना सांसारिक कार्य करता था। इसमें विभिन्न प्रयोजनो के लिए अलग-अलग कमरे होते थे। इस घर के साथ वृक्षवाटिका का होना आवश्यक था। इसमें न केवल सुन्दर फूल और फलवाले पेड़ लगाये जाते थे, अपितु सब्जियाँ भी पैदा की जाती थी। इस उद्यान के बीच में एक कुआँ या बावड़ी अवश्य बनाई जाती थी। यह उद्यान अन्तःपुर का अंग होता था। इसकी देखभाल गृहिणी करती थी। वात्स्यायन के मतानुसार गृहिणी को इसमे मूली, आलू, बैंगन, कुम्हड़ा, लहसुन, प्याज आदि सब प्रकार की सब्जियाँ और विभिन्न जड़ी-बूटियाँ प्रत्येक ऋतु में लगानी चाहिये (पृ० २२७, २२८)। वह यहाँ गन्ना, तिल, सरसों, जीरा आदि विभिन्न वस्तुयें पैदा करती थी।

उसे यह ध्यान रखना पड़ता था कि वह न केवल सुन्दर गंध देने वाले नवमल्लिका आदि फूलों को, अपितु नेत्ररंजक वर्ण वाले जपा और कुरटक जैसे फूलों को और खस (उशीर) जैसी सुगन्धित जड़ों को भी पैदा करे। इन उद्यानों में लताकुंज और अंगूर की बेलों के निकुंज होते थे, जहाँ विश्राम और मनोविनोद के प्रयोजन से बैठने के चबूतरे (स्थण्डिल) बनाये जाते थे। यहाँ विभिन्न प्रकार के सुगंधित फूलों के आस्तरण बिछाये जाते थे और छायादार स्थानों में झूले (प्रेखादोला) लगाये जाते। गृहिणी का यह कर्त्तव्य था कि वह बगीचे और घर की देखभाल रखे और उसे साफ-सुथरा बनाये रखे। इस प्रकार के भव्य भवन उन दिनों हर्म्य और प्रासाद कहे जाते थे। इनमें कई बार समुद्रगृहों अर्थात् गर्मियों में ठंडे बने रहने वाले और चारों ओर पानी से घिरे हुए कमरों की भी व्यवस्था की जाती थी। ऐसे समुद्रगृहों का वर्णन भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक में और कालिदास के ग्रंथों में भी मिलता है।

नागरक के प्रासाद के बाह्य भाग का वह प्रकोष्ठ बहुत ही शानदार होता था जिसमें नागरक स्वयं रहा करता था। इसमें एक मुलायम शय्या पर दोनों सिरों पर दो तकिये (उभयोपधान) तथा एक सफेद चादर (शुक्लोत्तरच्छदशयनीय) बिछी होती थी। यह बहुत ही नर्म और बीच में झुकी होती थी। इसके पास ही इससे कुछ नीची दूसरी सेज (प्रतिशय्यिका) बिछी होती थी। शय्या के सिरहाने कूर्च-स्थान पर नागरक के इष्टदेवता की कलापूर्ण मूर्ति रखी होती थी। इसके पास ही वेदिका पर मालायें, चन्दन तथा उपलेपन रखे होते थे। इसी पर मोमबत्ती की पिटारी (सिक्थ-करण्डक) और इत्रदान अथवा पसीना हटाने के लिए सुगंधित चूर्ण का डिब्बा (सौगन्धिक-पुटिका) रखा रहता था। पान के बीड़े और मातुलुंग की छाल रखने की भी यही जगह थी। नीचे फर्श पर पीकदान (पतद्ग्रह) रखा होता था। ऊपर हाथीदाँत की बनी खूंटियों (नागदन्त) पर पर्दे में ढकी (निचोला-वगुण्ठिता) वीणा रखी रहती थी। पास में ही तस्वीरें बनाने के लिये चित्रफलक, तूलिका और रंग के डिब्बे (वर्तिका समुद्गक) और पुस्तकें रखी होती थीं, पुस्तकें सजी रहती थीं। बहुत देर तक ताजा रहने वाली कुरण्टक पुष्पों की माला लटकी रहती थी। कुछ दूरी पर एक दरी (आस्तरण) बिछी रहती थी, जिसपर द्यूत का सामान और शतरंज खेलने की गोटियाँ रखी रहती थीं। वात्स्यायन के इस वर्णन की पुष्टि मृच्छकटिक से होती है। इसमें शर्विलक नामक चोर जब चारुदत्त के घर में घुसा तो उसने बड़े आश्चर्य के साथ देखा कि उस रसिक नागरक के घर में कहीं

मृदंग, कहीं पणव, कहीं वंशी और कहीं पुस्तकें पड़ी हुई थीं। इससे उसने अनुमान किया था कि ये सब वस्तुयें दो ही स्थानों पर संभव हैं—धनी नागरक के बैठकखाने में या नाट्याचार्य के घर में। इस सामग्री से यह स्पष्ट है कि उस समय का नागरक चित्र और संगीत की कलाओं का प्रेमी, द्यूत का व्यसनी और छैल छबीला जीवन बिताने वाला होता था। बैठकखाने से बाहर नागरक की पक्षिशाला होती थी। यहाँ शुक सारिका आदि पक्षियों के बड़े-बड़े पिंजरे टंगे होते थे। उन दिनों सभी बड़े घर वालों को पक्षियों को पालने का शौक था। बुद्धचरित (३।१५) में यह लिखा है कि जब युवराज सिद्धार्थ कपिलवस्तु में भ्रमण के लिए सड़क पर निकले तो उनका दर्शन पाने की लालसा से स्त्रियाँ तेजी से अपने घरों के झरोखों की ओर दौड़ी और इससे घर में पाले गये पक्षी डर गये। घर से कुछ दूरी पर नागरक की एक शिल्पशाला (लक्षणस्थान) होती थी जहाँ वह खराद और छेनी से अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुयें बनाया करता था।

नागरक की दिनचर्या का वर्णन करते हुये वात्स्यायन ने यह बताया है कि प्रातःकाल उठकर आवश्यक मुखप्रक्षालन आदि से निवृत्त होकर वह सबसे पहले दातुन से दाँत साफ करता था, किन्तु उसकी दातुन पेड़ से तोड़ी हुई सामान्य नहीं होती थी; अपितु ओषधियों तथा सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित होती थी। दातुन के बाद वह अपना शारीरिक शृंगार लेपन से आरम्भ करता था। बढ़िया और बारीक चंदन से अथवा कस्तूरी, अगर, केसर आदि के साथ दूध की मलाई के मिश्रण से ऐसा उपलेपन तैयार किया जाता था जिसकी सुगंध देर तक बनी रहती थी और जो शरीर की चमड़ी को कोमल और स्निग्ध बनाता था। इसे उचित मात्रा में शरीर पर लगाना एक सुकुमार कला समझी जाती थी। इसको जैसे तैसे पोत लेना अच्छी रुचि न होने (अनागरक) का परिचायक था। अनुलेपन के बाद धूप के सुगन्धित धूम से बालों को धूपित किया जाता था। स्त्रियों में यह क्रिया अधिक प्रचलित थी, किन्तु विलासी नागरक भी अपने केशों को काला बनाये रखने के लिये उन्हें सुगंधित बनाते थे। इसके बाद वह गले में माला धारण करता था, विभिन्न वस्तुओं से तैयार किये अंजन (सुरमे) को आँख में लगाता था और पान से पहले ही रंगे अपने होठों को लाख से बनाये गये लाल रंग से रँगता था। जिस प्रकार आजकल स्त्रियाँ लिपस्टिक से होठ रंगती हैं, उसी प्रकार उन दिनों नागरक अपने होठों को अलक्तक से मोम (सिक्थक) की सहायता से रंगता था, ताकि यह रंग अधिक गहरा आ सके। इसके बाद वह शीशे में अपना

मुंह देखता था, पान तथा मुख को सुवासित करने वाले द्रव्य लेकर अपना कार्य आरम्भ करता था। वह उंगली में बहुमूल्य अंगूठी धारण करता था। नागरक सामान्य रूप से दो वस्त्र धारण किया करता था। शरीर के उपरले भाग को उत्तरीय से ढांपा जाता था और निचले भाग में अधोवस्त्र या धोती धारण की जाती थी। उन दिनों उत्तरीय को बहुमूल्य गंधों और फूलों से सुवासित किया जाना नागरक के लिये आवश्यक समझा जाता था। भास ने चारुदत्त नाटक में यह बताया है कि वसंतसेना ने चारुदत्त के उत्तरीय की गंध से ही यह जान लिया था कि वह यौवनोचित बातों का पूरा ध्यान रखता है। वस्त्रों को सुवासित करने का वर्णन हमें ललितविस्तर (पृ० २८२) तथा सौन्दरनन्द (४।२६) में भी मिलता है। उस समय का नागरक सुगन्धित द्रव्यों का अत्यधिक शौकीन था और वह फूलों से तथा अन्य नाना प्रकार के सुरभित द्रव्यों से तैयार किये गये सुगन्धित द्रव्यों को सदैव अपने पास एक सौगन्धिकपुटिका में रखा करता था। ताम्बूल से और सुरभित मसालों से अपने मुख को सुवासित करता था। सुगन्धित धूप से वह अपने बालों, वस्त्रों और कमरों को सुरभित बनाता था और अनेक सुरभित द्रव्यों का अनुलेपन करता था। अनेक प्रकार के सुगन्धित जलों, तेलों और चूर्णों का उपयोग करता था। इस प्रकार उसका समूचा जीवन सुरभि से ओतप्रोत था।

प्रातःकालीन कार्यों के करने के बाद वह मध्याह्न से कुछ पूर्व स्नान करता था। वात्स्यायन के मतानुसार यह उसका दैनिक कार्य होता था। एक दिन छोड़ कर वह मालिश (उत्सादन) करवाता था और प्रति तीसरे दिन झाग देने वाले साबुन जैसे किसी द्रव्य (फेनक) से अपने शरीर को शुद्ध करता था। यह इसे अन्य व्यक्तियों से विशिष्ट बनाता था। साधारणतः संगमरमर की बनी चौकी पर बहुमूल्य धातुओं के पात्र में रखे सुगन्धित जल से स्नान करते समय उसका परिचारक या परिचारिका उसके केशों में सुगन्धित आंवले का पिसा कल्क धीरे-धीरे मलते थे और शरीर पर सुवासित तेल का मर्दन करते थे। सिर पर सुगन्धित वारिधारा पड़ने के साथ स्नान समाप्त होता था। इसके बाद वह केंचुल (सर्पनिर्मोक) के समान महीन, हल्की, सफेद और चमकीली धोती पहनता था। धोती का अर्थ है धौत अथवा धुला हुआ वस्त्र। ऐसा प्रतीत होता है कि नागरक के वस्त्रों में सिर्फ धोती ही प्रतिदिन धोई जाती थी, बाकी वस्त्र कई दिन तक अधौत रह सकते थे। इसका कारण स्पष्ट है, नागरक का उत्तरीय या चादर मामूली वस्त्र नहीं था। उसे बड़े प्रयास से दीर्घकाल तक टिकने वाली सुगन्धियों से सुवासित किया जाता था। इसके अतिरिक्त वह अपने

नाखूनों की सफाई पर भी बहुत ध्यान देता था। नाखून त्रिकोण, चन्द्राकार, दन्तुल तथा अन्य अनेक प्रकार की आकृतियों मे काटे जाते थे। विभिन्न प्रान्तों में नाखूनों के अलग-अलग प्रकार के फैशन थे। गौड (बगाल के लोग) बड़े-बड़े नखों को पसन्द करते थे। दाक्षिणात्य छोटे नखों को और उत्तरापथ के रसिक नागरक मंझले आकार के नखों को अच्छा समझते थे। नखों का विशेष महत्व उस समय के प्रणय व्यापार मे होता था। नागरक इनसे अपनी प्रियाओं को प्रसन्न करने के लिये आठ प्रकार के रूपों वाले—अर्धचन्द्र, मण्डलाकार, व्याघ्र के नख जैसे, मोर के पाँव जैसे (मयूर-पदक), कमलपत्र और खरगोश की कूदफाद जैसे नखक्षत बनाया करता था। रति-कर्म मे दाँतों और नखों के क्षतो को वात्स्यायन ने प्रेम बढाने के लिये बडा उपयोगी माना है और इनका विस्तृत वर्णन कामसूत्र के अध्याय ९ और २० मे किया है। अत. उस समय का नागरक दाँतो और नखों की सफाई पर बहुत अधिक ध्यान देता था।

स्नान के बाद पूजा आदि कृत्य समाप्त होने पर नागरक भोजन करने बैठता था। वह पूर्वाह्न और अपरान्ह में दो बार भोजन करता था। चारायण नामक आचार्य सायंकाल के समय दूसरा भोजन अच्छा समझते थे। नागरक के भोजन मे भक्ष्य, भोज्य और पेय आदि सभी प्रकार के पदार्थ होते थे। उसके भोजन के प्रधान पदार्थ ये थे—चावल, गेहूँ, जौ, दाले, दूध, घी तथा मिष्टान्न वस्तुएं—गुड़, शर्करा और मिठाई (खण्डखाद्य)। नागरक जल और दूध के अतिरिक्त अनेक प्रकार के पेय पदार्थ (पानक), आम, नींबू आदि से तैयार किये गये शर्बत तथा सुरा, मधु, मैरेय और आसव आदि विभिन्न प्रकार की मदिराओ का लकड़ी अथवा धातु के प्याले मे सेवन किया करता था (पृ० १७४, पृ० ५२)। आगे इस युग की पानगोष्ठियों का वर्णन किया जावेगा। भोजन समाप्त करने के बाद नागरक कुछ देर सोने से पहले लेटे-लेटे अपने कुछ मनोविनोद करता था। शुकसारिका (तोता मैना) को पढाना, तीतर-बटेरों की लड़ाई और भेड़ों की भिड़न्त उसके प्रिय मनोविनोद थे (कामसूत्र पृ० ४७)। उसके घर मे हंस, कारण्डव, चक्रवाक, मोर, कोयल आदि पक्षी तथा व्याघ्र, सिंह आदि जन्तु भी पाले और रखे जाते थे (कामसूत्र पृ० २८६)।[1] पक्षियो से मनोविनोद के अतिरिक्त इस समय वह अपने सहचर—पीठ-

१. कामसूत्र पृ० ४७, भोजनानन्तरं शुकसारिका प्रलापनव्यापाराः लावक-कुक्कुटमेषयुद्धानि।

तास्ताश्च कलाक्रीडाः पीठमर्दविटविदूषकायत्ताव्यापारा, दिवाशय्या च।

मर्द, विट, विदूषक आदि से भी वार्तालाप करके कुछ समय के लिये सो जाता था। सोकर उठने के बाद वह गोष्ठियों में सम्मिलित होने के लिए अपना प्रसाधन करता था। आगे यह बताया जायगा कि ये इस समय की लोकप्रिय सामाजिक सभाएं थीं जिनमें अनेक प्रकार के बौद्धिक कार्य हुआ करते थे। गोष्ठियों से लौटने के बाद वह सन्ध्याकालीन कृत्यों से निवृत्त होता था और अनेक प्रकार की संगीत-गोष्ठियों का आयोजन करता था। इनमें नाच, गान, अभिनय हुआ करते थे। इनकी समाप्ति पर वह अपने सजाये हुए तथा धूप आदि से सुरभित शयनकक्ष में प्रविष्ट होता था। इस प्रकार प्रातःकाल से रात्रिपर्यन्त वह एक कलापूर्ण विलासिता के वातावरण में निवास करता था। उसके सब दैनिक व्यापारों से विभिन्न प्रकार की कलाओं को प्रोत्साहन मिलता था।

आमोद-प्रमोद—अपने उपर्युक्त दैनिक जीवन के साथ-साथ नागरक विभिन्न प्रकार के मनोविनोदों में भी आनन्द लेता था। वात्स्यायन ने इनका विस्तृत परिचय दिया है। उसके मतानुसार उस समय के प्रधान मनोविनोद–समाज, गोष्ठी, आपानक, उद्यानयात्रा, समस्याक्रीडा थे। समाज एक प्रकार का सामाजिक महोत्सव था। इसका स्वरूप अशोककालीन समाज से सर्वथा भिन्न था। हर पखवाड़े में एक निश्चित दिवस पर नागरक विद्या और कलाओं की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के मन्दिर में एकत्र हुआ करते थे। इसमें अनेक संगीतज्ञ, नृत्यकला विशारद तथा अन्य कलाकार आया करते थे और अपनी कलाओं का प्रदर्शन करते थे। कई बार जब नगर में बाहर के नर्तक और अभिनेता आते थे तो उन्हें भी इस उत्सव में अपनी कला प्रदर्शन के लिये निमंत्रित किया जाता था। बाहर से आने वाले कलाकारों के दलों द्वारा प्रदर्शन की और उनको समुचित पारिश्रमिक और सम्मान देने की व्यवस्था सामूहिक रूप से सारे समाज (गण) की ओर से की जाती थी, अतः इसे गणधर्म कहा जाता था। इसी प्रकार के महोत्सव विभिन्न देवताओं की पूजा के उद्देश्य से किए जाते थे। इन अवसरों पर बड़े ठाठ-बाठ से देव-मूर्तियों के जुलूस निकाले जाते थे। इनमें सभी वर्गों के नर-नारी सम्मिलित हुआ करते थे, इन अवसरों पर बड़ी भीड़ (घटा) हो जाती थी, अतः वात्स्यायन ने इन उत्सवों को घटा का नाम दिया है।[1]

मेषकुक्कटलावकशारिकापरभृतमयूरवानरमृगाणामवेक्षणम्। क्रीड़ामृगान् यन्त्राणि शकुनान् व्याघ्रसिंहपंजरादीनि च।

१. कामसूत्र अध्याय ४, पृ० ५१, जयमंगला, देवानामुद्दिश्य यात्रा घटा। नागरकाणां तत्र संहन्यमानत्वात्।

उसके मतानुसार इन उत्सवों में नायक को नायिका से मिलने में सुविधा होती थी (पृ० २७४)।

नागरकों के मनोविनोद का दूसरा साधन गोष्ठी थी। यह एक प्रकार की सभा थी जिसकी बैठक नागरक के घर पर अथवा किसी गणिका के घर पर हुआ करती थी। इन गोष्ठियों में चुने हुए लोग निमन्त्रित किए जाते थे। अपनी विद्या, कला और रसिकता के कारण सम्मानित दृष्टि से देखी जानेवाली गणिकायें भी इन गोष्ठियों में निमंत्रित होती थीं। ये न केवल नृत्य तथा गीत से अपितु अपनी विभिन्न कलाओं से नागरकों का मनोविनोद करती थी। इनमें प्रायः नागरक अपनी विभिन्न बौद्धिक और साहित्यिक कलाओं का प्रदर्शन किया करते थे। कामसूत्र के कथनानुसार इनमें निम्नलिखित कलाओं का प्रदर्शन होता था—किसी विषय पर तत्काल कविता बनाना और समस्यापूर्ति करना, पुस्तक का ठीक ढंग से शुद्ध उच्चारण करते हुए पाठ करना, अनेक कठोर और क्लिष्ट उच्चारण वाले शब्दों से युक्त संदर्भों को पढ़ना (दुर्वाचकयोग), गूढ अथवा कूट लिपि में कुछ संदर्भों को लिखना और इनकी व्याख्या करना (म्लेच्छितविकल्प), विभिन्न विदेशी और स्थानीय भाषाओं का, कोषों का और छन्दों का ज्ञान तथा अन्त्याक्षरी (प्रतिमाला) की प्रतियोगिताएं। इन साहित्यिक सभाओं के अतिरिक्त इन गोष्ठियों में गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य की भी प्रतियोगिताए होती थीं और उस समय के नागरक इनमें अपनी मालाये गूंथने की तथा जूड़ा बनाने की कलाओं में भी पटुता प्रदर्शित किया करते थे। इन गोष्ठियों में नागरकों को अपनी चौंसठ कलाओं की योग्यता प्रदर्शित करने का स्वर्ण अवसर मिलता था। इन गोष्ठियों के बारे में वात्स्यायन ने यह कहा है कि इनमें अपनी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए न तो बहुत अधिक संस्कृत बोलनी चाहिए और न ही लोकभाषा में अधिक बातचीत करनी चाहिये, क्योंकि इसमें गंवार समझे जाने का भय था, अतः नागरक इनमें सम्मान पाने के लिये मध्यम मार्ग का अनुसरण करता था। उससे यह आशा रखी जाती थी कि वह अपने घर पर गोष्ठियों का आयोजन करने में उदारतापूर्वक धनराशि व्यय करेगा। स्त्रियाँ भी इन गोष्ठियों में भाग लेती थीं। अविवाहित स्त्रियों के लिये गोष्ठी का शौकीन होना गुण समझा जाता था, क्योंकि वे इनमें अनेक कलाओं को सीखने का अवसर पाती थीं। भास के अविमारक नाटक (अंक ५) से इन गोष्ठियों की लोकप्रियता सूचित होती है। कई बार इन गोष्ठियों का आयोजन दूसरों को हानि पहुंचाने के लिये भी किया जाता था। वात्स्यायन (पृ० ५८) ने ऐसी गोष्ठियों की कड़ी निन्दा की है।

गोष्ठियों के अतिरिक्त उस समय नागरक एक दूसरे के घरों पर पानगोष्ठियों (आपानकों) का भी आयोजन करते थे। इनमें वे अनेक प्रकार की मदिराएं पिया करते थे। मथुरा की मूर्तिकला में घरों में मदिरापान के दृश्यों का अंकन बड़ी मात्रा में मिलता है। यहाँ इसका संबंध धन के देवता वैश्रवण कुबेर के साथ जोड़ा गया है। मथुरा से दो मील की दूरी पर महोली नामक गाँव से तथा नरोली और पालीखेड़ा से पानगोष्ठियों की सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं, जो वात्स्यायन के आपानकों की लोकप्रियता को पुष्ट करती हैं। डा० अग्रवाल के मतानुसार महोली का नाम ही मधुर्पल्ली था अर्थात् वह स्थान जहाँ मधुपान के देवता का केन्द्र हो।[1]

उद्यान-यात्रा :—नागरक का यह बड़ा प्रिय मनोविनोद था। उन दिनों प्रत्येक बड़े नगर के चारों ओर विशाल उद्यान हुआ करते थे। यहाँ नगर की भीड़-भाड़ से भरे, धूलिधूसरित और व्यस्त जीवन से परेशान नागरिकों को बड़ी शान्ति मिलती थी। ललितविस्तर के कथनानुसार (पृष्ठ ९५) सिद्धार्थ के मनोविनोद के लिए कपिलवस्तु के चारों ओर ५०० उद्यान थे। कामसूत्र के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उद्यान नगर से बाहर होते थे, इनमे विहार के लिये नागरक प्रातःकाल सजधज कर घोड़ों पर सवार होकर निकलते थे। अपने अनुचरों और गणिकाओं के साथ इन उद्यानों में आकर सारा दिन व्यतीत किया करते थे।[1] (अध्याय ४, पृष्ठ ५४)।[2] यहाँ कुछ समय वे तीतर-बटेरों, मेढ़ों की लड़ाई देखने मे तथा जुआ खेलने में बिताते थे। दिन भर यहाँ मनोविनोद करने के बाद वे सायंकाल अपनी इस यात्रा की स्मृति को सुरक्षित रखने वाली कोई वस्तु उद्यान के पेड़ की टहनी या फलों का गुच्छा लेकर घर लौट जाते थे।

उद्यान-यात्राओ में कभी-कभी कुमारियाँ और विवाहित महिलाये पुरुषो के साथ या स्वतन्त्र रूप से सम्मिलित होती थीं, किन्तु इन यात्राओं में लड़कियो का जाना सदा खतरे से खाली नहीं होता था। दुर्जन पुरुष प्रायः इन यात्राओं में जाने वाली बालिकाओं का अपहरण कर लिया करते थे। इन यात्राओं में जब दो प्रतिद्वन्द्वी नागरकों के मेष या तीतर-बटेर जूझते थे, तब बाजी लगाई जाती थी, इससे दोनों पक्षो मे बड़ी उत्तेजना का संचार हो जाता था। उन दिनों मेंढ़ों और तीतर-बटेरों की लड़ाई ६४ कलाओं में गिनी जाती थी। इनमें प्रवीणता पाना नागरक के लिए

१. वासुदेवशरण अग्रवाल—भारतीय कला पृष्ठ ३०२।
२. कामसूत्र अध्याय ४, पृ० ५४।

आवश्यक माना जाता था।[1]

उद्यान यात्राओं जैसे आयोजन जलक्रीड़ाओं के लिये भी किए जाते थे। ये प्रायः ऐसे तालाबों में किए जाते थे जहाँ से हानि पहुंचाने वाले जानवरों को पहले

१. चौंसठ कलाओं की सूची कामसूत्र के तीसरे अध्याय में दी गई है। इनको कई वर्गों में बांटा जा सकता है। पहले वर्ग में साहित्यिक और बौद्धिक कलायें आती हैं, जैसे अन्त्याक्षरी (प्रतिमाला), पहेली, पुस्तक पढ़ना, नाटक, कहानियों का ज्ञान, समस्या-पूर्ति, गुप्त भाषाओं का ज्ञान (म्लेच्छितविकल्प), विभिन्न देशी भाषाओं का ज्ञान, विनय सिखाने वाली विजय दिलाने वाली विद्यायें, काव्य बनाना (काव्यक्रिया), कोश छन्द आदि का ज्ञान, किसी के पढ़े श्लोकों को ज्यों का त्यों दुहरा देना (सम्पाठ्य), स्मरण रखने का विज्ञान (धारणमातृका), संक्षिप्त अक्षरों में पूरा अर्थ जान लेना जैसे मे० से मेष तथा वृ० से वृषभ राशि (अक्षरमुष्टिकाकथनम्)। दूसरे वर्ग में उप-योगी कलायें आती हैं, जैसे गृहनिर्माण कला (वास्तुविद्या), मणियों और रत्नों की परीक्षा (रूप्यरत्न परीक्षा), धातुओं का शुद्ध करना, मिलाना (धातुवाद), वृक्षों की चिकित्सा, उन्हें इच्छानुसार छोटा बड़ा करना, वस्त्रों को रंगना, बढ़ईगीरी (तक्षण) सोने चाँदी के गहनो, बर्तनों पर काम करना, शरीर और सिर में मालिश करना, शकुन-ज्ञान, इन्द्रजाल या जादू दिखाना, मेढ़ा, तीतर बटेर लड़ाना, सीना-पिरोना, जाली बुनना, सूचीवान कर्म, बहुरूपियापन (छलिययोग), जुआ, पासा खेलना। तीसरे वर्ग में नायक नायिकाओं की विलास क्रीड़ायें और प्रणय व्यापार में सहायक कलायें आती थीं, जैसे गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी, प्रिया के कपोल और ललाट की शोभा बढ़ा सकने वाले भोजपत्र के काटे हुए पत्रों की रचना करना (विशेषकच्छेद्य), फर्श पर विविध रंगों के पुष्पों और रंगे हुए चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना (तण्डुल–कुसुम–बलिविकार), घर या कमरे को फूलों से सजाना, गच में मणि बैठाना, शय्या की रचना, पानी को इस प्रकार से बजाना कि उससे मुरज नामक बाजे की आवाज निकले (उदकवाद्यम्), जलक्रीड़ा में प्रेमियो का आपस में जल की छींटें मारना (उदकघात), विभिन्न प्रकार से फूल गूंथना (माल्यग्रन्थन–विकल्प), सिर पर पहने जाने वाले शेखरक, आपीडक नामक माल्य-अलंकार धारण करना (शेखरकापीडकयोजन), हाथी दांत से कान के गहने बनाना (कर्णपत्रभंग), सुगन्धित द्रव्य बनाना (गंधयुक्ति), सागभाजी बनाने का तथा विभिन्न प्रकार के शरबत, मद्य तैयार करने का कौशल (विचित्र—शाकयूषभक्ष्य–विकारक्रियापानक–रागासवयोजन), वीणा, डमरू तथा

ही निकाल दिया जाता था। ऐसी क्रीड़ाओ का आयोजन ग्रीष्म ऋतु में विशेष रूप से किया जाता था। वात्स्यायन की उद्यान-यात्रा का वर्णन मृच्छकटिक के वर्णन से बहुत मिलता है। इन दोनों में अंतर केवल इस बात का ही है कि चारुदत्त उद्यान में घोड़े पर नही, अपितु बैलगाड़ी पर सवार होकर गया था। उन दिनों नागरक इन उद्यान यात्राओ और नाटकों के आयोजन पर मुक्तहस्त होकर उदारतापूर्वक व्यय किया करते थे। वात्स्यायन ने राजा को यह सलाह दी है कि उसे अपनी अनेक स्त्रियों को इस प्रकार की उद्यान-यात्राये कराके प्रसन्न रखना चाहिये (पृष्ठ २४५)। स्त्रियाँ भी इन यात्राओ में सम्मिलित होती थीं। वात्स्यायन इन्हें इस दृष्टि से भी उपयोगी मानता है कि इनमे नायक नायिका को परस्पर मिलने और प्रणय करने के अवसर मिलते थे।

पर्व और क्रीडायें:—इसमे वात्स्यायन ने उस समय के कुछ ऐसे पर्वों और महोत्सवो का वर्णन किया है जिनमें नागरक बड़े उत्साह से भाग लिया करते थे। उसका यह कहना है कि प्रत्येक देश के और प्रान्त के अपने अलग-अलग पर्व होते है। फिर भी उसने उस समय अत्यधिक प्रचलित तीन पर्वों का नाम लिया है—यक्षरात्रि, कौमुदीजागर और सुवसन्तक। **यक्षरात्रि** धन के देवता यक्षों के साथ सबद्ध थी, इस रात को जुआ खेला जाता था, अत. यह दीपावली का पर्व प्रतीत होता है। दूसरा पर्व **कौमुदीजागर** आश्विन पूर्णिमा की वह रात्रि थी जिसमें लोग रातभर जागते हुए विभिन्न प्रकार के मनोविनोद किया करते थे। तीसरा **सुवसन्तक** होली का पर्व प्रतीत होता है। इस पर्व मे समूचे समाज में आनन्द की रसधारा प्रवाहित होती थी, धनी-निर्धन, छोटे-बड़े, राजा-रक का भेद मिट जाता था। सब लोग इन पर्वों को बड़े उत्साह से मनाते थे। इसीलिये वात्स्यायन (पृष्ठ ५४) न यह लिखा है कि इस समय स्त्रियाँ राजा के अन्तःपुर मे प्रविष्ट होकर रानियो के साथ क्रीड़ायें करती थीं। इनके अतिरिक्त वात्स्यायन ने विभिन्न प्रदेशो में प्रचलित निम्नलिखित स्थानीय मनोविनोदो और क्रीड़ाओ का उल्लेख किया है—सहकारभजिका (आम तोड़ कर खाना), अभ्यूषखादिका (होले आग मे भून कर खाना),

---

अन्य बाजे बजाना। इन सब कलाओं का ज्ञान उन दिनों सभ्य एवं सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिये आवश्यक समझा जाता था। इनमें कुशलता पाने पर व्यक्ति कामसूत्र के अनुसार अपरिचित होता हुआ भी स्त्रियों के चित्त को जल्दी जीत लेता था (असंस्तुतोऽपि नारीणां चित्तमाशु च विन्दति)। इनसे उसे सौभाग्य तथा सब प्रकार का उत्कर्ष प्राप्त होता था।

बिसखादिका (सरोवरों से बिसों को उखाड़ कर खाना), उदकक्ष्वेडिका (क्ष्वेडा या बाँस की पिचकारी से रंग पानी में घोल कर खेलना), एकशाल्मली (फूलों से भरे सेमल के पेड़ से विभिन्न प्रकार पुष्पाभरण बनाना), कदम्ब युद्ध (दो दलों में बंट कर कदम्ब के फूलों से लड़ाई करना, कामसूत्र अ० ४, पृ० ५६)।

कन्याओं के मनोविनोद—उपर्युक्त मनोविनोद प्रधान रूप से पुरुषों के थे। इनके अतिरिक्त कामसूत्र मे कन्याओं के कुछ आमोद-प्रमोदों और क्रीड़ाओं का भी उल्लेख है। उन दिनों लड़कियां मालाएं गूंथने, मिट्टी के घरोंदे बनाने, गुड़ियाओं के साथ खेलने में आनन्द लेती थीं। वे मुट्ठी बन्द करके समविषम का तथा मध्यमा उगली को पाँचों उंगलियों में से ढूंढ निकालने का खेल खेलती थीं। इस समय लुका-छुपी आदि के वर्तमान समय के भी कई खेल प्रचलित थे। इनके अतिरिक्त वात्स्यायन ने कामसूत्र में इस समय कई देशी खेलों का उल्लेख किया है। प्रचलित कुछ अन्य खेल ये थे—अशोकोत्तंसिका (अशोक के फूलो को कान या केशो में पहनना), पुष्पावचायिका, चूतलतिका, दमन भंजिका (दौने मरुवा के पुष्प चुनना), इक्षुभंजिका आदि। मथुरा की मूर्तियो से भी स्त्रियों के खेलों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इनमें स्त्रियों को अनेक क्रीड़ाओ की विभिन्न मुद्राओं मे दिखाया गया है। उस समय की लोकप्रचलित मान्यता के अनुसार नन्दन वन में इन्द्र जिस प्रकार अपनी अप्सराओं के साथ क्रीड़ा-विहार करता था, उसी प्रकार की क्रीड़ाये इस भूतल पर स्त्रियो के लिये आदर्श समझी जाती थीं। इनमें कुछ प्रधान क्रीड़ायें निम्नलिखित थी :—

उद्यान क्रीड़ा (बगीचों में घूमना-फिरना), उदक क्रीड़ा (जलविहार), गात्र-मण्डन (शरीर को वस्त्र, आभूषण और विलेपन से सजाना)। इसमें ललाट, गाल और दाढ़ी पर विभिन्न प्रकार की फूल पत्तियाँ और अन्य आकृतियाँ बनाना सम्मिलित था। इसे प्राचीन साहित्य मे विशेषक-पत्ररचना तथा **पत्रभंग** कहा गया है। वंशी, वीणा, मृदग के साथ सगीत का आयोजन—और नृत्य स्त्रियों के प्रिय मनोविनोद थे। मथुरा के वेदिका स्तम्भों से यह प्रतीत होता है कि उस समय **शालभंजिका** और **अशोक-पुष्प-प्रचायिका** क्रीड़ायें बड़ी लोकप्रिय थीं। शालभंजिका शाल वृक्ष के नीचे स्त्रियों की एक विशेष प्रकार की उद्यान-क्रीड़ा थी। पूर्वी भारत की नारियां उद्यानो में भीनी भीनी गंध वाले पुष्पित शाल वृक्ष की शाखाओ को तोड़ कर एक दूसरे पर प्रहार करती थीं। अवदान शतक मे श्रावस्ती मे लाखों व्यक्तियों द्वारा पुष्पित शाल वृक्ष की डालियाँ लेकर खेलने

का वर्णन है। निदान कथा में इसी प्रकार लुम्बिनी वन में होने वाले शाल-भंजिका समारोह में बुद्ध की माता मायादेवी के भाग लेने का वर्णन है। इसके अनुसार जब रानी शालवृक्ष के नीचे आई और उसने एक पुष्पित शाखा को पकड़ा तो वह लता की भाँति नीचे झुक गई। मथुरा की मूर्तिकला में इस मुद्रा में पेड़ की डाल को थामे हुये स्त्रियों की मूर्तियों को **शालभंजिका** कहा जाता है। स्त्रियों की एक अन्य क्रीड़ा **अशोक-पुष्प-प्रचायिका** है। इनमें स्त्रियाँ अशोक के फूलों को चुना करती थीं। उस समय अशोक के पेड़ का बड़ा महत्व था और यह अनुश्रुति प्रसिद्ध थी कि जब तक इसे युवती स्त्री के बाँये पैर का आघात न मिले तब तक यह वृक्ष पुष्पित नहीं होता है। इसे **अशोकदोहद** कहा जाता था। यह क्रीड़ा उस समय बड़ी लोकप्रिय थी, क्योंकि मथुरा की मूर्तियों में इसका काफी चित्रण मिलता है। स्त्रियों का एक अन्य प्रिय खेल कन्दुकक्रीड़ा भी था, मथुरा में कन्दुक क्रीड़ा करती हुई युवतियों का सुकुमार अंकन हुआ है।

प्रसाधन-प्रियता:—इस समय के नागरको की शृंगारप्रियता न केवल वात्स्यायन से स्पष्ट होती है, अपितु मिलिन्दप्रश्न (पृष्ठ ११) तथा अन्य ग्रन्थ भी इस पर सुन्दर प्रकाश डालते है। इनसे यह प्रतीत होता है कि पुरुष अपने बालो और दाढ़ी की सेवा बड़ी सावधानी से करते थे, इन पर अनेक प्रकार के तेल और अन्य द्रव्य लगाये जाते थे। स्त्रियाँ अपने शरीरों को अनेक प्रकार की सुन्दर आकृतियो से अलकृत किया करती थीं, इन्हें **विशेषक** कहा जाता था। अश्वघोष ने अपने काव्य सौन्दरनन्द (४।१३–१६) मे इसका बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है। उस समय के नागरिक शृंगार की विशेषता चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो का और मालाओं का प्रचुर मात्रा में प्रयोग था (मिलिन्द-प्रश्न पृ० २४३, ३३८, २४८)। इस समय गन्ध द्रव्यों का इतना अधिक फैशन था कि बच्चों को भी माता-पिता इन्ही द्रव्यो से नहलाते-धुलाते थे (मिलिन्द प्रश्न पृ० २४१)। वस्त्रो को सुवासित करने का अन्यत्र उल्लेख किया गया है। इस समय यवन तथा तुरुष्क देशों से मंगाये गये कई सुरभित द्रव्यों को केसर आदि से मिला कर बहुत बढ़िया सुगन्ध तैयार किये जाते थे (मिलिन्दप्रश्न पृ० २६७)।

इस समय नागरक अपने शरीर का शृंगार जिन प्रसाधन द्रव्यों से करता था उनका उल्लेख इस समय के साहित्य मे प्रचुर मात्रा मे मिलता है। रामायण (४।९१।५१) मे भरद्वाज मुनि के आश्रम में भरत की सेना पहुँचने पर मुनि ने भरत के लिये जिस प्रसाधन सामग्री को प्रस्तुत किया था उसमें चन्दन तथा

विभिन्न प्रकार के सुगन्धित द्रव्य, शीशे कंघियाँ ब्रुश, सुरमेदानियाँ, सम्मिलित थीं। जैन ग्रन्थ सूत्रकृतांग (१।४।२) में तथा उवासगदसाओ (१।२२-४२) में स्त्रियों और पुरुषों की शृंगार सामग्री के प्रसाधनो का विस्तृत उल्लेख है। तक्षशिला आदि प्राचीन स्थानों की खुदाइयो से भी ऐसी सामग्री प्रचुर मात्रा मे मिली है।

वेश-भूषा और अलंकरण:—इस युग की वेश-भूषा और विभिन्न प्रकार के अलंकरणों पर तत्कालीन मूर्तियों और साहित्य से बड़ा प्रकाश पड़ता है। शुंग युग में सर्वप्रथम भारहुत की मूर्तियो से यह प्रतीत होता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में पुरुष शरीर के मध्य भाग में धोती बाँधते थे, जिसका एक छोर कमर में लपेट लिया जाता था और लांग पीछे खोस ली जाती थी। धोती के साथ लोग दुपट्टे, कमरबन्द, पटके और पगड़ियाँ भी पहनते थे। पगड़ियों का वैविध्य इस समय वस्तुतः आश्चर्यजनक है।[१] भारहुत के चित्रो मे स्त्रियाँ पुरुषों की तरह धोती अथवा साड़ी पहने दिखाई गई है। आजकल साड़ी एड़ी तक पहुँचती है, किन्तु भारहुत की मूर्तियों में यह वर्तमान मिनी साड़ी की भाँति शायद ही कभी घुटनों के नीचे तक पहुँचती थी, इसमें चुनना भी होती थी। साड़ी भारी भरकम, करधनी और कमरबन्द से बँधी होती थी, इस कमरबन्द के फुन्दनेदार किनारे एक ओर लटकते रहते थे। कमरबन्द से खुँसे दोनो पैरों के बीच में लटकते पटके पहनने की भी प्रथा थी। पटका प्रायः लहरियादार होता था। भारी पटका मनके पिरोकर भी बनता था। भारहुत मे स्त्रियों के शरीर का ऊपरी भाग प्रायः खुला दिखलाया गया है, इनके सिर कामदार ओढ़नी से ढके होते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी पगड़ी पहन लेती थीं। इस समय की सम्भ्रान्त नारियों की वेश-भूषा पर यक्षिणी चन्दा की मूर्ति से प्रकाश पड़ता है। इसकी धोती कमर तक पहुँचती है। इस पर खरबूजिया मनकों, चौखूंटी तख्तियो से बनी एक सतलड़ी करधनी है। कमरबन्द फूलों और पंजकों से सजा है। इसके किनारो पर दानेदार बेल बनी है। पटका लहरियादार है, इसके शरीर का ऊपरी भाग अनावृत है, किन्तु दायें स्तन के नीचे की रेखायें पतली चादर की द्योतक हैं। बांयें कन्धे से यज्ञोपवीत की भाँति मोती की बढी छाती पर पड़ी है। गले में छलड़ी तौक है जिसकी पहली लड़ में पत्र, अंकुश और श्रीवत्स के आकार

१. कनिंघम—भारहुत प्लेट स० ३३।३, ४।, २४,२१,४७ तथा डा० मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेश-भूषा—पृ० ६६। आगे इस पुस्तक का निर्देश मोवे० के संकेत से किया गया है।

के टिकरे हैं। दूसरी लड़ गोल मनकों की है, गले में स्तनों के बीच लटकती हुई टिकरेदार मोहनमाला है, कानों में वक्र कुण्डल शोभायमान हैं तथा सिर पर एक झीनी ओढ़नी है जिसके दोनों पल्ले एक दूसरे को पार करते हैं। इस ओढ़नी के चौड़े किनारों पर चौफुलियाँ बेलें बनी हैं। हाथों में कड़े और चूड़ियाँ हैं। चोटी बेलदार फीते से गुथी है (मोवे० ६२)। एक अन्य यक्षिणी (कनिंघम, मरहुत, प्लेट ५२) की कमर में एक पतली साड़ी है जिस पर गुद्धीदार कमरबन्द और करधनी है। कमरबन्द फुल्लों और पंजकों से सजा है और उसके किनारे बुंदकीदार हैं। चार लड़ीवाली करधनी (मेखला) की प्रत्येक लड़ी भिन्न प्रकार की है। एक चौखूटी तख्तियों से बनी है, दूसरी मौलसरी के फूल के आकार वाले दानों से, तीसरी खरबूजेदार मनकों से और चौथी गोल मनकों से। कमर पर सुन्दरता के लिये एक बंटा हुआ तिरछा दुपट्टा बाँध लिया गया है। पैरो में छल्ले पड़े हुए हैं। दाँए कन्धे से यज्ञोपवीत की भाँति एक बद्धी की लड़ियाँ छाती के आरपार जाती है। यह खड़े और पड़े मनकों से बनी मालूम पड़ती है। गले में चौलड़ा कण्ठा है। एक अन्य लम्बी माला की लटकन मणियो और रत्नों से बनी है। कानो में तख्तीदार दोहरे कुण्डल हैं। हाथों में कंगन और उँगलियों मे अंगूठियाँ है। मस्तक पर फुल्ले के आकार की टिकुली है। गालों पर पत्रभग बना है। चोटी मौलसिरी के फूलो के अलंकारों से सुसज्जित पतले फीते से गुंथी है। इसी स्तूप की यक्षी चूलकोका की साड़ी घुटने तक और करधनी गोल तख्तियों से बनी है, सिर ओढ़नी से ढका है (कनिंघम प्लेट २३)। इस समय के साधु चादर और कौपीन पहनते थे। इस युग की स्त्रियाँ चादर, साड़ी और एक शिरोवस्त्र धारण करती थीं।

पहली शताब्दी ई० पू० में सातवाहन युग की वेशभूषा यद्यपि दूसरी शता० ई० पू० के मध्य के भारहुत स्तूप में चित्रित वेशभूषा से बहुत कुछ मिलती है, फिर भी इसमें कुछ अन्तर आ जाता है। पुरुष यद्यपि घुटने तक की धोती पहनते हैं, किन्तु उनके पहनावे मे भारी भरकम कमरबदो का अभाव सा है। इस युग में पगड़ियाँ भी सादी होती चली गईं, किन्तु दक्षिण भारत की वेशभूषा बड़ी टीमटामदार होती थी, पगड़ियाँ भारी भरकम और आभूषणों से सजी होती थीं। इस समय की वेशभूषा की प्रचुर सामग्री साँची और भाजा की मूर्तियों से तथा अजंता की ९-१० नंबर की गुहाओं के भित्ति-चित्रों से मिलती है। इस समय प्रायः सभी पुरुष पगड़ी पहनते थे। पगड़ी बाँधने की अनेक विधियाँ थीं जिनसे

पगड़ियों की अनेक आकृतियाँ बन जाती थीं। साधारणतः इनमें पगड़ी के आगे एक लट्टू होता था। पगड़ी के एक छोर से वह ढक जाता था और तीन चार लपेटों के बाद पगड़ी बंध कर तैयार हो जाती थी (मोचे० पृष्ठ ७७)। सांची में पगड़ी का एक प्रकार शखाकार है। यहाँ इसके कई भेद पाये जाते हैं (मोतीचन्द्र पृष्ठ ७८)। शकों के सम्पर्क से टोपियों का भी प्रसार होने लगा था। स्तूप पूजा के एक दृश्य में हमें कुलाहनुमा टोपी दिखाई देती है। शकों ने इस समय ऊंची नुकीली टोपियों को यहाँ लोकप्रिय बनाया। साँची में स्त्रियाँ बिना लांग की और वर्तमान समय में महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में प्रचलित लांगदार साड़ियाँ पहनती थी। इस समय सिले वस्त्रों का भी रिवाज बढ़ रहा था। साँची में सारथि, सिपाही, राजा के अगरक्षक ध्वजवाहक, और स्तूप पूजा करते हुये विदेशी कंचुक पहने दिखाये गये है।

गंधार और मथुरा की मूर्तिकला से इन प्रदेशों की वेशभूषा का परिचय मिलता है। गंधार की वेषभूषा पर विदेशी प्रभाव था। यहाँ धोती, दुपट्टा, चादर और पगड़ी जैसे विशुद्ध भारतीय पहरावे के साथ-साथ अंगरखा, लम्बा कोट या कचुक और कुलाह का प्रयोग भी दिखाई देता है। गधार में राजा और सामंत एड़ियों तक लटकती सिलवटदार धोती और कधों को ढकती और बाँई भुजा पर होते हुये पीछे की ओर टिकी हुई चादर पहनते थे। इनकी पगड़ियाँ सिर पर टोपी की तरह से पहनी जाती थी। उच्च वर्ण के लोग चट्टियाँ और खड़ाऊँ पहनते थे। स्त्रियो की वेशभूषा मे आस्तीन वाले कंचुक, सारे शरीर को ढकने वाली साड़ी और कधो को ढकने वाले दुपट्टे का प्रयोग होता था। पूरी बाँहो वाले, कमर के कुछ नीचे तक पहुँचने वाले खुले कोटों का भी रिवाज था। गधार की स्त्रियाँ महाराष्ट्र की आधुनिक नारियों की भाँति सकच्छ साड़ी पहनती थी और अपने बालो को जूड़े (शेखरक) से सजाती थी। कई बार वे भारी काम के मुकुट भी पहनती थी, उन दिनों भारतीय राजाओ के अतःपुरो मे यवन स्त्रियाँ अंगरक्षिका का काम करती थी। ये प्रायः अपनी यूनानी पोशाक-घुटनों के कुछ ऊपर तक पहुँचता हुआ कंचुक तथा कमरबन्दयुक्त चुन्नटदार घाघरा पहनती हैं। कंधों पर पड़े दुपट्टे के दोनों सिरे कंचुक से लगी कड़ियों से निकलते हैं और स्तनों को ढांपते हुये कमरबन्द में खुस जाते हैं। वे भी कुलाहदार टोपिया पहनती हैं। (मोचे० पृ० ११४, आकृति--१७५)।

कुषाण युग की मथुरा की मूर्तियों से भारतीयों और विदेशियों की

वेशभूषा का परिचय मिलता है। भारतीय प्रायः सकच्छ धोती पहनते थे, जिसका अधिक हिस्सा कमर में लिपटा होता था। इसके साथ उनका दूसरा वस्त्र उत्तरीय कंधों पर होता हुआ कोहनियों पर गिरता रहता था। वे नाभि के पास खुसा और घुटनों के बीच लटकता पटका भी पहनते थे। सिर पर प्रायः पगड़ी पहनी जाती थी। रईस लोगों की कामदार पगड़ी पर सोने के वृत्ताकार शीर्षपट्ट लगे होते थे (मोवे० आकृति १७७–१८६)। विदेशी शक राजा और सिपाही कंचुक, सलवार, टोपी और पूरे पैर के जूते पहनते थे। इनकी वेशभूषा का सर्वोत्तम परिचय मथुरा के निकट माट गाँव से मिली कनिष्क की बिना सिर वाली मूर्ति से मिलता है। इसमें घुटने से नीचे तक पहुँचने वाला लम्बा चोगा या कंचुक एक कमरपेटी से बँधा है, जिसके दो चौकोर टिकरे सामने दिखाई देते हैं। पैरों में भारी तस्मेदार बूट है। ऐसे जूतों को बृहतकल्पसूत्र भाष्य में कफुस कहा गया है जो ईरानी कफस का अपभ्रंश है (मोवे० आकृति १९०)। मथुरा की अन्य मूर्त्तियों में घुटनों तक पहुँचने वाले कई अन्य प्रकार के लम्बे कोट मिलते हैं। शक प्रायः ऊंची और नुकीली टोपियाँ पहना करते थे। ऐसी टोपियों के अनेक नमूने मथुरा की मूर्तियों में पाये जाते है (पृष्ठ १२१)। इस युग में स्त्रियाँ एड़ी तक पहुँचने वाली साड़ियाँ पहनती थीं जिनके ऊपर इन्हें स्थानच्युत होने से बचाने के लिये अनेक लड़ो वाली करधनियाँ बाँधी जाती थी। ये शरीर के उपरले हिस्से में दोनों कन्धों को ढकते हुये नीचे लटकने वाले दुपट्टे धारण करती थीं। कई बार ये दुपट्टे भी नहीं पहने जाते थे। अधिकांश मूर्तियों में इनकी चोली नहीं दिखाई गई है, किंतु मद्यपान के दृश्यों में स्त्रियाँ सिले वस्त्र पहने दिखाई गई हैं। इनमें कमर तक कसा, चुनमदार घेरवाला कंचुक अधिक दिखाया गया है (मोवे० आकृति २१४–१५)।

इस युग के साहित्य में वर्णित वेशभूषा मूर्त्तियों से सूचित होने वाली उपर्युक्त पोशाक से मिलती है। इस समय उत्तर भारत के लोग धोती और उत्तरीय (दुपट्टा) पहनते थे। काशी के बने धोती-दुपट्टे सारे भारत में प्रसिद्ध थे (दिव्यावदान पृ० २९)। धोती, दुपट्टे की जोड़ी (यमनी) की कीमत कभी-कभी १ लाख कार्षापण तक पहुँच जाती थी (दिव्या० २३६)। राजा महाराजा कुटी किये हुये चौड़े किनारे वाले नये वस्त्र (आहतानि वासांसि नवानि दीर्घ दसादि) पहनते थे (दिव्या० पृष्ठ ३९८)। राजमहल के अंगरक्षक और पहरेदार तथा योद्धा कंचुक पहनते थे (ललितविस्तर—पृष्ठ ४७) और उनकी

छाती और भुजायें कवच से ढके रहते थे (ललितविस्तर पृष्ठ १७०, १८९)। इस ग्रन्थ के अनुसार सुंदर रंगों से कपड़े रंगने की कला और सिलाई की कला सीखना इस युग में शिक्षा का आवश्यक अंग माना जाता था।

सत्रहवाँ अध्याय

विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार

मौर्योत्तर युग की एक बड़ी विशेषता बृहत्तर भारत के निर्माण का श्रीगणेश था। प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति और सभ्यता भारत से बाहर मध्य एशिया, पूर्वी एशिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक भागों में फैली थी। इन क्षेत्रों में बसी हुई बर्बर जातियों को भारतीयों ने सभ्यता और संस्कृति के प्रधान मूल तत्व—धर्म, वर्णमाला, साहित्य, कला, राजनीतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परम्परायें और अनुश्रुतियाँ प्रदान की थीं तथा अनेक प्रदेशों में भारतीय उपनिवेश और राज्य बसाये थे। पूर्वी दिशा में बर्मा, स्याम, चम्पा (वियतनाम), कम्बुज (कम्बोडिया,), मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो तक के भूखण्ड भारतीय आवासकों ने आबाद किये। प्राचीन काल में दक्षिण पूर्वी एशिया का भू-भाग भारत का ही अंग समझा जाता था। उस समय यूनानी इसे गंगा पार का हिन्द (Transgangetic India) कहते थे। आज भी यह परला हिन्द (Further India) कहा जाता है। इसी प्रकार उत्तर दिशा में सम्पूर्ण मध्य एशिया और अफगानिस्तान में जहाँ आजकल मुख्य रूप से इस्लाम का प्रसार है, वहाँ भगवान बुद्ध की उपासना होती थी। मध्य एशिया से भारतीय सभ्यता के अवशेष इतने अधिक मिले हैं कि आधुनिक विद्वान इसे भारत के उत्तर में बसा हुआ एक दूसरा भारत अथवा उपरला हिन्द कहते हैं।

परले हिन्द और उपरले हिन्द में भारतीय बस्तियों के उपनिवेशन की और सांस्कृतिक प्रसार की प्रक्रिया कुषाण युग में कई कारणों से अधिक प्रबल हुई। मौर्य युग में हिन्दूकुश पर्वत माला तक का अफगानिस्तान का प्रदेश भारत का अंग बन गया था। शुंग सातवाहन युग में मध्य एशिया और अफगानिस्तान तथा उत्तर-पश्चिमी भारत एवं पंजाब पर शासन करने वाले यूनानियों, शक, पहलवों तथा कुषाणों के अनेक राज्य स्थापित हुए। इनके माध्यम से भारतीय संस्कृति हिन्दूकुश की पर्वतमालाओं को पार करके बाल्हीक (बलख) और मध्य एशिया के प्रदेश में फैली। बाद में यहाँ से इसका प्रसार चीन, कोरिया और जापान में

हुआ। इस काल में इस प्रकार का पहला राज्य बैक्ट्रिया के यूनानियों का था और दूसरा कुषाणों का (देखिए ऊपर अध्याय २,३)। कुषाणों ने भारतीय संस्कृति को मध्य एशिया और चीन तक पहुँचाने में बड़ा भाग लिया। इन्हीं के दूत २ ई० पू० में चीनी सम्राट् के लिए बौद्ध धर्म की पोथियाँ ले गये थे। कुषाण राजा बौद्ध धर्म के प्रबल समर्थक और पोषक थे। उनके समय में बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय वाले जिस रूप का विकास हुआ, उसी का प्रसार पहले मध्य एशिया तथा चीन में तथा परवर्ती युगों में कोरिया, जापान, मंगोलिया, मंचूरिया और साइबेरिया मे हुआ।

इसी प्रकार दक्षिण पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार का एक बड़ा कारण इस समय पश्चिमी जगत मे भारतीय वस्तुओं और मसालों की बढ़ती हुई माँग की आर्थिक परिस्थितियाँ थीं। इस माँग को पूरा करने के लिए भारतीय व्यापारी ईसा की पहली शताब्दियों से दक्षिणी-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में अधिक मात्रा मे जाने लगे। इनके कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनेक भारतीय बस्तियाँ बसने लगीं, शनै: शनैः यहाँ भारत का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि इस प्रदेश को परले हिन्द के नाम से कहा जाने लगा। भौगोलिक दृष्टि से यह चीन और भारत के मध्य मे होने से हिन्द-चीन का प्रायद्वीप कहलाता है, किन्तु चीनियों ने कई कारणों से इस प्रदेश में कोई दिलचस्पी नहीं ली।[1] भारतीय संस्कृति यहाँ इस युग में बड़ी तेजी से फैलने लगी। इस प्रदेश में हमे जो भारतीय अवशेष मिलते हैं, उनसे यह सूचित होता है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में यह प्रदेश भारतीय प्रभाव से पूर्ण रूप से आप्लावित हो चुका था। अब यहाँ इस युग मे विभिन्न प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

मध्य एशिया

यह अपनी केन्द्रीय स्थिति तथा प्राचीन काल में चीन और पश्चिमी देशों के मध्य में प्रधान व्यापारिक राजपथ पर अवस्थित होने के कारण अनेक जातियों, धर्मों और संस्कृतियों का प्रयागराज था। त्रिवेणी के संगम में गंगा, यमुना और सरस्वती ही मिलती हैं, परन्तु मध्य एशिया के तीर्थराज में तीन से बहुत अधिक सांस्कृतिक धाराओं का संगम हुआ। यह ईरानी भारतीय, हियंगनू, शक, ऋषिक (युइचि),

1. जौन केडी—सौथ ईस्ट एशिया।

तुखार, हूण, तुर्क, चीनी, तिब्बती, मंगोल जातियों के सम्मिलन का केन्द्र था। पारसी, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम, मानी तथा चीनी धर्मों का एवं ईरानी, यूनानी, भारतीय और चीनी संस्कृतियो की धाराओं का हम यहाँ संगम देखते हैं। इनकी विभिन्नता का कुछ अंदाज इसी एक तथ्य से लग सकता है कि यहाँ से सुग्धी, पहलवी, तुर्की, तंगुत, चीनी, सीरियाई, यूनानी, तिब्बती, मगोल, चीनी, संस्कृत, प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त तुखारी (कूचीय) भाषाओं के तथा कराशहरी और खोतन देशी नामक दो नई भाषाओं के तथा श्वेत हूणों की अब तक न पढ़ी गई भाषा के एवं चौबीस प्रकार की विभिन्न लिपियों में लिखे ग्रन्थ मिले हैं। इतना अधिक वैविध्य अन्यत्र बहुत कम दिखाई देता है। किन्तु, इस वैविध्य के बावजूद ८वीं शताब्दी तक यहाँ भारतीय संस्कृति की प्रधानता थी। यहाँ प्राप्त हुए भारतीय संस्कृति के सैकड़ों अवशेषों के कारण इसको **उपरला हिन्द** कहा जा सकता है। उपरले हिन्द के प्रदेश से ही भारतीय संस्कृति का चीन, जापान, मंगोलिया, साइबेरिया, कोरिया में प्रसार हुआ। पूर्वी देशों में आर्यावर्तीय संस्कृति और बौद्ध धर्म का फैलाव मानव जाति के विकास में भारत की एक बहुत बड़ी देन है। भारतीय संस्कृति के विश्वव्यापी प्रसार में मध्य एशिया की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण है।

भौगोलिक स्थिति और मार्ग:—मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार को भली भाँति समझने के लिए इसका कुछ भौगोलिक परिचय तथा इसको भारत से जाने वाले मार्गों का ज्ञान आवश्यक है। आजकल साइबेरिया के दक्षिण में, तिब्बत, भारत और अफगानिस्तान के उत्तर में, कैस्पियन सागर के पूर्व में तथा पूर्वी मंगोलिया और गोबी मरुस्थल के पश्चिम में अवस्थित मध्य एशिया के विशाल भू-खण्ड को तुर्किस्तान का नाम दिया जाता है। राजनीतिक दृष्टि से इसके तीन बड़े भाग हैं:—

(१) **पूर्वी तुर्किस्तान**—यह चीन के अधिकार में होने के कारण चीनी तुर्किस्तान कहलाता है। चीनी इसे सिंकियांग (नया प्रांत) कहते हैं।

(२) **पश्चिमी तुर्किस्तान**:—रूस के प्रभुत्व में होने के कारण इसे रूसी तुर्किस्तान कहा जाता है और यहाँ सोवियत संघ के अनेक गणराज्य—तुर्कमेन, उजबेक, ताजिक, कराकल्पक, किरगिजिया के साम्यवादी गणराज्य हैं।

(३) **अफगान-तुर्किस्तान**:—यह अफगानिस्तान के राजनीतिक प्रभुत्व में है। पिछले दोनों तुर्किस्तान मुस्लिम सेनाओं द्वारा पादाक्रांत हो चुके हैं।

इनके अधिकांश प्राचीन अवशेष नष्ट हो चुके हैं। पूर्वी तुर्किस्तान से ही प्राचीन भारतीय साहित्य एवं पुरातत्व की सामग्री प्रचुर मात्रा में मिली है। अतः यहाँ इसका वर्णन किया जायेगा।

पूर्वी तुर्किस्तान एशिया के मध्य में तीन दिशाओं में ऊंचे पर्वतों से घिरी हुई तारिम नदी की रेतीली घाटी है। इसका अधिकांश भाग तकला मकान, लोपनोर, गोबी, और कुम्ताग के मरुस्थलों के कारण बिल्कुल सूखा, उजाड़ और बियाबान है। इसके उत्तर में थियानशान (चीनी-देवताओं का पर्वत) पर्वतमाला और पश्चिम में पामीर की पर्वतमाला है। दक्षिण में क्यूनलुन पर्वतमाला इसे तिब्बत के पठार से पृथक् करती है। पूर्व में नानशान पर्वतमाला है। लोबनोर की दलदल और गोबी का मरुस्थल इसे चीन से पृथक् करता है। यद्यपि इस प्रदेश की पूर्व से पश्चिम मे अधिकतम लम्बाई ९०० मी० और उत्तर मे दक्षिण में अधिकतम चौड़ाई ३३० मी० है, फिर भी इसका बडा भाग मरुस्थल और पहाड़ी होने के कारण मनुष्यों के निवास योग्य नहीं है। इसमे मानवीय बस्तियाँ केवल उन्हीं स्थानों पर पाई जाती हैं, जहाँ पहाड़ों से आने वाली नदियों ने भूमि को शस्यश्यामल बनाया है। दक्षिण में क्यूनलुन पर्वत से खोतन, केरिया, निया, चर-चन की नदियाँ निकली हैं, इनके तटों पर खोतन, केरिया, निया और चरचन की बस्तियाँ बसी हुई हैं। पश्चिम में पामीर की पर्वतमाला का पानी लाने वाली यारकंद और काशगर की नदियाँ हैं। इनके किनारे यारकन्द और काशगर बसे हुए हैं। उत्तर में थियानशान के पहाडों से अक्सू नदी आती है। खोतन, यारकन्द और अक्सू नदियाँ मिलकर तारिम नदी का निर्माण करती हैं। किन्तु यह नदी तकला मकान की विशाल मरुभूमि को उर्वर बनाने में समर्थ नहीं हुई है। दक्षिण की भाँति उत्तर मे भी पहाड़ों की छाया में तुर्फान, कूचा और अक्सू की बस्तियाँ बसी हुई हैं।

कौशेय पथ (Silk Routes):—चीन तथा पश्चिमी जगत के मध्य में अव-स्थित होने के कारण प्राचीन काल मे इस प्रदेश में से अनेक महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग गुजरा करते थे। उन दिनों चीन के रेशम की पश्चिमी जगत में बड़ी माँग थी और यह रेशम इस प्रदेश में से होकर गुजरने वाले रास्तों से योरोप पहुँचा करता था। अतः मध्य एशिया के मार्गों को **कौशेय पथ अथवा रेशम के मार्ग** (Silk-Routes) कहा जाता था। ये महामार्ग मरुस्थलों से बचते हुए उत्तरी और दक्षिणी पहाड़ों की छाया में बसी हुई बस्तियों से होकर गुजरते थे

और पहाड़ों की ऊंचाइयों को यथासंभव कम से कम ऊंचाई के दर्रों से पार किया करते थे। यह अन्त में दिये गये चित्र से स्पष्ट हो जाएगी। इसमें १२ हजार फीट से अधिक ऊंचे पहाड़ी प्रदेश को काले रंग से दिखाया गया है। इसमें प्रदर्शित किये हुए मार्गों से यह स्पष्ट है कि कौशेय पथ रेगिस्तानों और ऊंचे पहाड़ों से बचते हुये चलते थे। इन रास्तों से ही भारतीय संस्कृति मध्य एशिया और चीन पहुँची। अतः इनका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

चीन की पुरानी राजधानी सिंगान-फू अथवा चांगान से प्राचीन कौशेय पथ आरम्भ होता था, वेई नदी की घाटी में ऊपर की ओर चलते हुए यह कान्सू प्रान्त की ओर पश्चिम में चला जाता था। यहाँ आन्हसी पहुँच कर यह मार्ग दो हिस्सों में विभक्त हो जाता है। पहला मार्ग उत्तर-पश्चिम की ओर चला जाता है और दूसरा मार्ग सीधा पश्चिम दिशा में बढ़ता है। पहले मार्ग को उत्तरी कौशेय पथ (Northern Silk Route) कहा जाता है। यह चीनी भाषा में पेईलू कहलाता है। यह गोबी के मरुस्थल को पार करके हामी और तुरफान पहुँचता है, यहाँ से यह मार्ग थियानशान पर्वत के उत्तर में उरुमची होता हुआ ताशकन्द, समरकन्द और बलख पहुंचता है। तुरफान से इस मार्ग की एक शाखा थियानशान पर्वत के दक्षिण में बसे हुए प्रदेशों—कराशहर, कूचा और अक्सू तथा काशगर पहुँचती है और काशगर से इर्केशतम् के निकट तुआनमुरुन (Tuan Murun) के दर्रे से सीर नदी की घाटी में उतर कर खोकन्द होते हुए उत्तरी पथ में मिल जाती है। इसे मध्यपथ (Middle Route) कहा जाता है। तीसरा मार्ग तकलामकान मरुभूमि के दक्षिण में तुनह्वांग और चर्चन (चलमदन), निया,, केरिया, खोतन और यारकन्द होते हुए काशगर चला जाता है। यह दक्षिणी मार्ग (Southern Route, चीनी नान-लू) कहलाता है। इस मार्ग की एक अन्य शाखा यारकन्द से अथवा तेरक (Terek) के दर्रे से पश्चिम में पामीर पर्वतमाला को पार करने के लिये ताशकुरगान और तागदुम्बाश होती हुई अफगानिस्तान के बल्ख प्रान्त में पहुँचती थी। इसके निकट महान पामीर पर्वतमाला की विक्टोरिया झील से आमू (वक्षु) नदी निकलती है। इसके साथ आबेपंजा की एक दूसरी धारा आकर मिलती है। यहाँ पामीर के प्रदेश में न केवल चीन, भारत और रूस की सीमाएं मिलती हैं, अपितु एशिया की विभिन्न पर्वतमालाओं—हिन्दुकुश, हिमालय, कराकुरम और थियान शान का केन्द्रीय स्थल होने से यह स्थान आमू, सिन्धु और तारिम नदियों की उपरली धाराओं का महान जल-विभाजक है। इस कारण यहाँ भारत, मध्य-एशिया और

पश्चिम की ओर जाने वाले मार्ग मिलते हैं। पश्चिम की ओर जाने वाले मार्गों में आमू नदी की घाटी के साथ-साथ सबसे छोटा मार्ग काश्मीर होकर है। यह कवगिर, मिन्तक एवं किलक दर्रों से तथा बरोगिल और दरकोट दर्रों से यासीन और गिलगित होता हुआ काश्मीर की राजधानी श्रीनगर पहुँचता था। इसे मध्य एशिया से जोड़ने वाला एक अन्य मार्ग लेह से कराकुर्रम दर्रे को पार करता हुआ खोतन पहुँचता था। तीसरा मार्ग चितराल और स्वात की घाटी के प्राचीन उद्यान प्रदेश में से होता हुआ गन्धार और तक्षशिला को जाता था, चौथा मार्ग बलख से बामियाँ दर्रे को पार करता हुआ गंधार की ओर आता था। चीनी यात्री युआन-च्वांग इसी रास्ते से चीन से मध्य एशिया होते हुए भारत आया था।

मध्य एशिया की जनजातियाँ:—आजकल मध्य एशिया का प्रदेश तुर्किस्तान कहलाता है, क्योंकि इसमें तुर्क बसे हुए हैं। किन्तु ये तुर्क इस प्रदेश में बहुत बाद में आये हैं। ये वस्तुत. प्राचीन काल के हियंगनू या हूणों के वंशज हैं जो पहले मध्य एशिया के उत्तर-पूर्व में मंगोलिया के प्रदेश में रहा करते थे। ईसा की आरंभिक शताब्दियों में यहाँ जो जातियाँ बसी हुई थीं, वे वर्तमान जातियों से सर्वथा भिन्न थी। पुराने ईरानी अभिलेखो से यह प्रतीत होता है कि उन दिनों आमू और सीर नदियों के दोआब में ईरानी लोग बसे हुए थे। इनके अतिरिक्त पामीर के प्रदेश से चीन की सीमा तक विभिन्न प्रकार की आर्य भाषा-भाषी जातियाँ रहा करती थीं, इनमें शक और युइचि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पहले (पृ० ९३) यह बताया जा चुका है कि शक जाति की तीन बड़ी शाखाएं थीं। एक शाखा शका होम वर्का (Saka Houm-varka) के नाम से प्रसिद्ध थी। यह फरगाना के क्षेत्र में तथा काशगर के आस-पास बसी हुई थी। दूसरी शाखा नुकीली टोपी धारण करने वाले शक (सका तिग्र-वौदा) थे, जो अराल सागर के आसपास और जक्सर्टीज (सीर नदी की निचली घाटी) में रहते थे। शको की तीसरी शाखा कैस्पियन समुद्र के पार दक्षिणी रूस में रहने वाली थी। ये समुद्रतटवर्ती शका तरदरिया के नाम से प्रसिद्ध थी। शकों की भाषा, धर्म और सामाजिक संगठन आर्यों से मेल खाता था। प्राचीन आर्योंकी भाँति ये मूर्तिपूजक नहीं थे, अपितु प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे। मध्य एशिया मे बसी तीसरी जाति युइचि थी। मध्य एशिया के उत्तरी भाग—तारिम नदी की घाटी कूचा, कराशहर और चीन के कान्सू प्रान्त तक एक अन्य चौथी आर्य जाति बसी हुई थी जिसका संबंध युइचि जाति से था। इनकी भाषा ईरानी भाषा से सर्वथा भिन्न है और आधुनिक विद्वानों ने इसे प्राचीन तुखारी भाषा का नाम

दिया है। चौथी जाति चीनी विवरणों के अनुसार वू-सुन थी। यह भी युइचि जाति से संबद्ध थी और इली (Ili) नदी की घाटी मे बालकाश झील के क्षेत्र में रहती थी। यह संभवतः किसी शक जाति की शाखा थी। पाँचवी जाति काशगर यारकन्द-खोतन-निया लौलान की बस्तियों में तुनह्वाग तक बसी हुई थी। यह संभवतः शक जाति की एक शाखा थी और पूर्वी ईरानी भाषा की बोली बोला करती थी। इस प्रकार जो प्रदेश आजकल तुर्क भाषाभाषी तुर्कों के कारण तुर्किस्तान कहलाता है, वहाँ दूसरी शता० ई० पू० में विभिन्न प्रकार की आर्य भाषाभाषी जातियाँ निवास करती थी। पामीर पर्वतमाला से चीन के कान्सू प्रान्त में लियाँगचौ तक का प्रदेश युइचि लोगो द्वारा आवासित होने के कारण आर्य भाषाभाषी और आर्य जाति का प्रदेश था।

दूसरी शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में मध्य एशिया में जातियों की महान हलचल आरम्भ हुई। चौथे अध्याय में इसका वर्णन हो चुका है। इस समय चीन के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कान्सू मे युइचि लोग बसे हुए थे। ये दो शाखाओं में विभक्त थे—सिआओ अथवा लघु युइचि (Siao Yue-che) और ता अथवा महान युइचि (Ta Yue-che) । इन्हें यह नाम संभवतः अल्प संख्या और बहुसंख्या के आधार पर दिया गया था। १७६ ई० पू० मे हियंगनू जाति ने युइचियों पर हमला किया और इन्हें अपनी मातृभूमि छोड़ कर अन्यत्र जाने के लिए विवश किया। लघु युइचि कान्सू से दक्षिण-पश्चिम की ओर तिब्बत की दिशा मे आगे बढ़े, किन्तु महान युइचि उत्तर पश्चिमी कौशेय-पथ से अल्ताई पर्वतमाला की ओर इली नदी की घाटी में उस प्रदेश मे बसे, जहाँ उनसे पहले वू-सुन लोग बसे हुए थे। ये पहले तो वू-सुन लोगों को हराकर उनके प्रदेश में बस गए, किन्तु कुछ समय बाद वूसुन जाति ने हियगनू जाति के सहयोग से इन्हें अपने देश से बाहर भगा दिया और पश्चिम की ओर जाने को विवश किया। ये लोग फरगाना (ता युआन) के प्रदेश में आ गए। उन दिनों फरगाना, ताशकंद और काशगर में शक लोग बसे हुए थे, बैक्ट्रिया में यूनानियो का राज्य था। युइचि लोगो ने आमू और सीर नदियों के प्रदेश से शकों को हटा दिया। वे पहले सुग्ध (Sogdiana) के स्वामी बने। शकों ने युइचियों के दबाव के कारण अपनी मातृभूमि से निकल कर दक्षिण की ओर बढ़ते हुए बैक्ट्रिया के हिन्द-यूनानी राज्य को जीत लिया, किन्तु युइचि इनका पीछा करते हुए यहाँ भी आये और उन्होंने बैक्ट्रिया का प्रदेश शकों से छीन लिया। बैक्ट्रिया के प्रदेश को चीनी ताहिया कहते

थे। इसी का एक अन्य नाम तुखारिस्तान भी है। युइचि कान्सू से १७६ ई० में भगाए गए थे और १२८ ई० तक वे बैक्ट्रिया के प्रदेश में अच्छी तरह बस गये थे। युइचि लोगों ने वहाँ से आगे भारत की ओर बढ़ते हुये अपना एक विशाल कुषाण साम्राज्य स्थापित किया जो तीसरी शताब्दी ई० तक इस प्रदेश में शासन करता रहा। कुषाणों के बाद चौथी शताब्दी ई० के आरम्भ मे यहाँ येता या हेफ्था नामक श्वेत हूणों (Ephthalite Huns) की जाति प्रबल हुई। ये पहले अल्ताई पर्वतमाला के प्रदेश मे रहा करते थे। ४४० ई० तक इन्होंने सुग्ध और तुखारिस्तान जीत लिए। बाद में इन्होंने भारत पर भी गुप्तवंश के समय मे आक्रमण किए। इनके बाद छठी शताब्दी ई० से यहाँ तुर्क लोगों की विभिन्न शाखाए आने लगी। मध्य एशिया की जनजातियों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यहाँ ईसा की आरम्भिक शताब्दियों मे आर्य भाषाओं को बोलने वाले शको की युइचि जाति की विभिन्न शाखाये कान्सू के प्रदेश तक निवास करती थीं। चीनी तुर्किस्तान की संस्कृति का प्रधान मूल स्रोत १०वी शताब्दी ई० तक प्रधान रूप से भारत और ईरान था। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इस प्रदेश को हिन्द योरोपीय शाद्वल (Indo-Europeon Oasis) कहा है। इस देश की संस्कृति के निर्माण में चीन और भारत ने बड़ा भाग लिया है। अतः आरेल स्टाइन ने इसके लिये पुराने यूनानियों द्वारा दिया गया चीन-भारत या सरइंडिया (Ser India) का नाम अधिक पसद किया है। किन्तु यहाँ भारतीय सभ्यता के प्राचीन अवशेष इतने अधिक मात्रा में मिले हैं कि इसे हमारी दृष्टि से भारत के उत्तर मे बसा हुआ **उपरला हिन्द** कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

तुखारिस्तान द्वारा मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार में योगदानः— मध्य एशिया मे भारतीय संस्कृति प्रधान रूप से अफगानिस्तान और तुखारिस्तान के मार्ग से गई। उन दिनों अफगानिस्तान भारत का ही भाग समझा जाता था। तुखार जाति ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता को इस युग में विदेशों में फैलाने में प्रधान भाग लिया, अतः यहाँ पहले इस प्रदेश का परिचय दिया जायेगा।

मध्ययुग में तुखारिस्तान से बदख्शाँ और बलख के प्रदेश समझे जाते थे। किन्तु प्राचीन काल में यह एक अधिक बड़ा प्रदेश था, इसमें आमू (वंक्षु) नदी के दोनों ओर के देश सम्मिलित थे। युआन च्वांग ने इसकी सीमाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि उत्तर में इसकी सीमा लौह द्वार (बदख्शां के निकट दरबंत), दक्षिण में बरफ के पहाड़ अथवा हिन्दूकुश पर्वत, पश्चिम में ईरान और पूर्व

में सुंगलिंग अथवा पामीर के पर्वत थे। युआन च्वांग ने इस देश का नाम तुहुलो लिखा है, किन्तु दूसरी शता० ई० के प्राचीन चीनी ग्रन्थों में इसे ताहिया कहा गया है। रामायण, महाभारत, सद्धर्मस्मृत्युपस्थान, महामायूरी नामक ग्रन्थों में तुखार या तुषार नामक जाति का वर्णन किया गया है। यूनानी और लैटिन लेखक भी इन लोगों को तोखारी (Tokhari) के नाम से पुकारते हैं। तुखारों का निवासस्थान होने के कारण ही यह प्रदेश मध्य काल में तुखारिस्तान कहलाता था।

चीनी विवरणों के अनुसार यहाँ शक (सई) लोग बसे हुये थे। ये ईरानी लोगों की एक शाखा थे और उत्तरी ईरानी बोली का प्रयोग करते थे। तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य में यहाँ सिकन्दर के आक्रमणों के बाद बैक्ट्रिया का यूनानी साम्राज्य स्थापित हुआ। किन्तु दूसरी शताब्दी ई० पू० में हियगनू लोगों के आक्रमणों से विवश होकर महान युइची लोग यहाँ आए और उन्होंने यह प्रदेश शकों से जीत लिया, उस समय से यह ताहिया या तुखारों का देश कहलाने लगा। महान युइचियों ने ताहिया जीतने के बाद अपने राज्य को पाँच छोटे राज्यों में विभक्त कर लिया। १०० वर्ष बाद इस जाति में कुषाण वंश प्रबल हुआ। पाँचवी शताब्दी ई० के मध्य तक यहाँ इनका शासन बना रहा।

दूसरी शताब्दी ई० पू० से आठवी शताब्दी ईस्वी तक बौद्ध धर्म तुखारिस्तान का प्रधान धर्म था। युआन च्वांग ने इस प्रदेश में बौद्ध धर्म के आरंभिक विस्तार का वर्णन करते हुए यह बताया है कि बुद्ध के पहले गृहस्थ शिष्य त्रपुस और मल्लिक थे। ये दोनों व्यापारी बाह्लीक (बलख) प्रदेश के रहने वाले थे। व्यापार के लिए भारत आने पर वे जब बुद्ध गया पहुँचे उस समय गौतम ने अभी-अभी बोधिज्ञान प्राप्त किया था। इन व्यापारियों ने भगवान बुद्ध को मधु तथा खाद्य पदार्थ भेंट किए, ये उनके पहले शिष्य बने। बुद्ध ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने बाल और नाखून दिये, उन्होंने स्वदेश वापिस लौट कर तथागत के पवित्र अवशेषों पर स्तूपों का निर्माण किया और यहाँ बुद्ध के उपदेशों का प्रचार किया। युआन च्वांग ने बलख के निकट इन व्यापारियों द्वारा बनवाये गये कुछ स्तूपों का वर्णन किया है। अशोक के अभिलेखों में गंधार, कम्बोज और योन देशों में बौद्ध धर्म के प्रचारक भेजने का वर्णन है। गंधार स्पष्ट रूप से उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त का प्रदेश था। योन बैक्ट्रिया का यूनानी राज्य और कम्बोज पामीर का प्रदेश था। कुषाणों के आविर्भाव के समय तक यह प्रदेश बौद्ध धर्म का प्रबल गढ़ बन चुका था। चीन को बौद्ध धर्म का पहला सन्देश तुखारिस्तान से ही प्राप्त हुआ था।

२ ई० पू० में कुषाण सम्राट की ओर से चीनी सम्राट को बौद्ध ग्रन्थ भेंट किये गये थे।

कुषाणों के समय में तुखारिस्तान के दो बौद्ध विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के प्रसार में बड़ा भाग लिया। इनमें एक विद्वान घोषक था। उसने कनिष्क द्वारा बुलाई गई चौथी महासभा में सर्वास्तिवाद संप्रदाय के अभिधम्मपिटक पर लिखी गई सुप्रसिद्ध टीका के निर्माण में और इस परिषद् में होने वाली चर्चाओं में महत्वपूर्ण भाग लिया। इसके अतिरिक्त उसने अभिधर्मामृत नामक एक मौलिक ग्रन्थ लिखा। तीसरी शताब्दी ई० में इसका चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। यह ग्रन्थ अभिधर्म विषयक गूढ़ और गम्भीर सिद्धान्तों की बड़े सरल शब्दों में व्याख्या करता है। श्री बाग्ची के मतानुसार घोषक बौद्धों के सुप्रसिद्ध वैभाषिक संप्रदाय का एक महान् आचार्य था।[1] यह तुखार था और संभवतः बलख या बाल्हीक से भी कुछ सम्बन्ध रखता था। तुखार देश के वैभाषिक संप्रदाय का महत्व तुखारी भाषा में मिले साहित्य से भी सूचित होता है। आर्यचन्द्र नामक वैभाषिक सप्रदाय के एक विद्वान द्वारा **मैत्रेयसमिति** नामक ग्रन्थ का तुखारी भाषा में किया गया तथा तुखारी से उइगुर तुर्की भाषा में प्रज्ञारक्षित द्वारा किया गया एक अनुवाद मध्य एशिया से उपलब्ध हुआ है।[1] तुखार देश का एक दूसरा सुप्रसिद्ध वैभाषिक आचार्य धर्ममित्र था। इसके द्वारा लिखे गये **विनय-सूत्र टीका** नामक ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद मिलता है। इस ग्रन्थ की पुष्पिका में यह कहा गया है कि धर्ममित्र वक्षु (आमू) नदी तटवर्ती तरमित (तिरमिज) नामक स्थान का निवासी था।

चीनी साहित्य से हमें यह ज्ञात होता है कि अनेक युइचि बौद्ध भिक्षु तुखारिस्तान से चीन में बौद्ध सस्कृति का प्रचार करने के लिये जाते रहते थे। चीनी साहित्य में इस प्रदेश से आने वाले भिक्षुओं के नाम के आगे युइचि के अन्तिम पद चि को लगाया जाता है।[2] ६८ ई० में चीन को सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का सन्देश देने वाले दो धर्मदूत-कश्यप मातंग और धर्मरत्न चीनियों के युइचि लोगों के प्रदेश में मिले थे। लोकक्षेम नामक अद्भुत प्रतिभाशाली बौद्ध भिक्षु ने चीन में १४७ से १८८ ई० तक अनेक बौद्धग्रन्थों का अनुवाद किया। इसके एक तुखारी शिष्य चेकियेन ने तीसरी शताब्दी ई० के मध्य तक नानकिंग में सौ से अधिक

---

१ प्रबोधचन्द्र बाग्ची—इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया पृ० २६।
२. वही।

बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया, इनमें से ४९ ग्रन्थ अभी तक मिलते हैं। इस प्रकार का तीसरा भिक्षु **धर्मरक्ष (फाहू)** था। तुखार कुलोत्पन्न यह भिक्षु तीसरी शताब्दी ई० के मध्य में तुनहुवांग में बसे हुए एक भारतीय परिवार में उत्पन्न हुआ था। इसने मध्य एशिया में दूर-दूर तक भ्रमण करके ३६ भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। यह २८४ ई० में चीन गया। वहाँ ३१३ ई० तक उसने लगभग दो सौ बौद्ध ग्रन्थो का चीनी अनुवाद किया। इसी प्रकार ३७३ ई० में चीन जाने वाला एक अन्य भिक्षु शेलुन था।

मध्य एशिया में भारत के सांस्कृतिक प्रसार मे भाग लेने वाला तीसरा देश सुग्ध था। यह आमू और सीर नदियों का शस्य श्यामल और उर्वर दोआब तुखारिस्तान के उत्तर में अवस्थित है। इसका प्रधान नगर मध्य युग मे समरकन्द था। प्राचीन काल में यूनानी इस प्रदेश को सोगडियाना (Sogdiana) कहते थे। अवस्ता में इसे सुग्ध कहा गया है। यहाँ के निवासी शक थे और ये ईरानी से मिलती जुलती भाषा का प्रयोग करते थे। यहाँ के निवासी बड़े प्रसिद्ध व्यापारी थे। व्यापार के सिलसिले मे मध्य एशिया के विभिन्न प्रदेशो में इन्होंने अपनी बस्तियाँ बसाई थी। ये बस्तियाँ समरकन्द से चीन की दीवार तक फैली हुई थी। सुग्धी लोगों ने तुखारी भिक्षुओ से बौद्ध धर्म का पाठ पढ़ा और उनकी भाँति चीन में इसका प्रसार किया। चीनी साहित्य मे सुग्ध का पुराना नाम कागकिउ था, अत. इस प्रदेश के भिक्षुओं के नाम के आगे काग का उपसर्ग जोड़ा जाता है। सुग्धी भिक्षुओं मे सबसे अधिक उल्लेखनीय **सेंगहुइ** (सघमति) था। यह तीसरी शताब्दी ई० मे चीन पहुँचा और दक्षिणी चीन में बौद्ध धर्म के सर्वप्रथम प्रसार का श्रेय इसे दिया जाता है। इसी प्रकार के एक अन्य भिक्षु कोहे कियन (Cohekian) ने नानकिंग मे बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। पहले बताये गए ईरानी भिक्षु लोकोत्तम के अनेक सहयोगी सुग्धी भिक्षु थे। इनमें बुद्धदेव (येन-फो-तिआओ) को समूचा प्रतिमोक्ष कण्ठाग्र था, इसीलिए उसे आचार्य की उपाधि और बुद्धदेव का संस्कृत नाम दिया गया था।

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार का श्रीगणेश:—चीनी इतिहासों मे भारत का पहला उल्लेख ताहिया देश मे भेजे गए चीनी राजदूत चागकियेन के यात्रा-विवरण (१३८–१२६ ई० पू०) में मिलता है। पहले (पाँचवे अध्याय मे) यह बताया जा चुका है कि चीनी सम्राट ने इसे हियगनू जाति के विरुद्ध युइचि लोगो की सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा था। उसने सम्राट को अपनी जो रिपोर्ट प्रस्तुत

की, उसमे युइचि देश के दक्षिण-पूर्व मे शेनतू अर्थात् भारतवर्ष का उल्लेख किया गया था। चीनी राजदूत को ताहिया के बाजारों मे जब चीन का रेशम और अन्य वस्तुये बिकती हुई दिखाई दी तो उसने यह पूछा कि ये वस्तुये यहाँ चीन से किस मार्ग से होकर आती हैं, क्योकि मध्य एशिया के मार्ग से ताहिया पहुचने वाला वह पहला व्यक्ति था और उस दिशा से इन वस्तुओं का आना सभव नही था। उसे यह बताया गया कि ये वस्तुये दक्षिण-पश्चिमी चीन अर्थात् युन्नान के मार्ग से आसाम और उत्तरी भारत आती हैं और वहाँ से अफगानिस्तान होकर ताहिया अथवा बैक्ट्रिया के प्रदेश मे पहुचती हैं। इससे यह सूचित होता है कि भारत का चीन के साथ मध्य एशिया के मार्ग से व्यापारिक सबध होने से पहले ही उसके दक्षिण-पूर्वी प्रदेश के साथ व्यापारिक सम्पर्क था। इसके बाद १२२ ई० पू० मे दिवगत होने वाले ताओवादी चीनी दार्शनिक लिऊ-नान ने अपने ग्रन्थो मे भूमण्डल का जो वर्णन किया है वह भारतीय परम्परा से गहरा सादृश्य रखता है और दोनो के सम्पर्क को सूचित करता है। उसने पुराणो और बौद्ध ग्रन्थो मे वर्णित भूगोल का अनुसरण करते हुए इस पृथ्वी पर नौ द्वीपों (चौ) का उल्लेख किया है और इसके केन्द्र मे क्यूनलुन पर्वत को बताया है। यह बौद्ध ग्रन्थो मे वर्णित हिमवत पर्वत के उत्तर मे विद्यमान केन्द्रीय पर्वत मेरु के वर्णन से मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध मे दोनो देशो मे पारस्परिक सबध शुरू हो गये थे।

दूसरी शताब्दी ई० पू० से मध्य एशिया और भारत के सम्पर्क मे कई कारणो से विशेष वृद्धि हुई। इस समय तक आमू नदी की घाटी मे युइचि लोगो का साम्राज्य स्थापित हो चुका था, चीनी सम्राट अपनी सेनाओ द्वारा मध्य एशिया मे हियगनू लोगो का दमन कर चुके थे। चागकियेन की उपर्युक्त यात्रा के बाद चीनी और युइचि राज्यो मे मैत्रीपूर्ण सबंध स्थापित हुए। युइचि लोगो का भारत से संबंध था। ये बौद्ध धर्म को स्वीकार कर चुके थे। चीनी साहित्य मे यह वर्णन मिलता है कि २ ई० पू० मे युइचि जाति के राजा ने चीनी सम्राट को बौद्ध पुस्तको और पवित्र धार्मिक अवशेषो की भेंट भेजी थी। इस भेट को लेकर जाने वाले कुछ बौद्ध भिक्षु अवश्य रहे होंगे। इस प्रकार मध्य एशिया में युइचि लोगो के द्वारा भारतीय संस्कृति का प्रसार होने लगा और मध्य एशिया से यह धर्म चीन मे भी फैलने लगा।

मध्य एशिया में इसके प्रबल प्रसार का श्रेय कुषाणो को है। पहले यह बताया जा चुका है कि कुषाण युइचि जाति की एक शाखा थे। कनिष्क के समय

में इस साम्राज्य का अधिकतम विकास हुआ, बलख से बिहार तक का विशाल भूखण्ड कुषाणो की प्रभुता मे आ गया। उस समय संभवतः मध्य एशिया के खोतन और काशगर के प्रदेश भी कनिष्क के साम्राज्य में सम्मिलित थे। कनिष्क बौद्ध धर्म का प्रबल पोषक था। उसने अशोक का अनुसरण करते हुए श्रीनगर मे चौथी बौद्ध महासभा बुलाई तथा अपनी राजधानी पुरुषपुर मे एक ऐसा भव्य बौद्ध स्तूप बनाया जो मध्य एशिया और चीन के बौद्ध वास्तुकारो को चिरकाल तक प्रेरणा प्रदान करता रहा और उनके समक्ष एक आदर्श बना रहा। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार "कनिष्क ने बुद्ध की शिक्षाओ को प्रबल राजसंरक्षण प्रदान किया, भारत, काशगर (शूलेई), कूचा (कूलेई तस्सेऊ), नैपाल (निदालेई), चीन (चेन-तन), युन्नान (ताली), सिहिया और अन्य देशो मे इसका प्रसार किया।" कुषाणो के राज्यकाल में ही पूर्वी तुर्किस्तान का दक्षिणी भाग भारतीय संस्कृति का एक प्रबल केन्द्र बना, उन दिनों यहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। इनमे शूलेई (काशगर), खोतन, चेमोतन (चलमदन), चरचग उल्लेखनीय है। यहाँ भारतीय और युइचि लोग बसे हुए थे। इन राज्यों के शासक भारतीय होने का दावा करते थे। यहाँ उत्तर-पश्चिमी भारत मे प्रचलित खरोष्ट्री लिपि का और प्राकृत भाषा का सर्वत्र प्रयोग होता था। खोतन के पूर्व मे निया के निकटवर्ती स्थानों से प्राप्त अनेक खरोष्ट्री लेख इस बात का प्रमाण है। बौद्ध धर्म उस समय इस प्रदेश मे सर्वत्र स्वीकार किया जाता था।

उन दिनों यहाँ बौद्ध धर्म का न केवल प्रसार हुआ, अपितु यहाँ बौद्ध धर्म के अनेक ग्रन्थ भी लिखे गए। **सूर्यगर्भसूत्र** नामक एक ग्रन्थ मे इस बात का वर्णन है कि बुद्ध के मुखमण्डल से अनेक किरणें निकली हैं, इनसे भूमण्डल के सब प्रदेश आलोकित हुए और सर्वत्र लाखों बुद्धो का आविर्भाव हुआ। बनारस (पोलोजाई) से चेनतन (चीन) तक ५८ देशों मे बुद्ध के अवतारों का वर्णन करते हुए जिन देशो का उल्लेख किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—सिन्धु-पामीर, पेशावर, उद्यान, उर्शा, दरद, ईरान, काशगर, बैक्ट्रा, खश, खोतन, कूचा, मरुक (अक्सू)। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि इस ग्रन्थ मे बुद्ध के आविर्भाव से सबद्ध तीर्थों की गणना करते हुए भारत की अपेक्षा मध्य एशिया के स्थानों को प्रधानता दी गई है। बनारस मे ६० बार बुद्ध के अवतरित होने का वर्णन है जबकि काशगर मे ९८ बार, कूचा मे ९९ बार, खोतन में १८० बार तथा चीन मे २५५ बार। इससे यह स्पष्ट होता है कि मध्य एशिया में लिखे गए ग्रन्थों मे चीन और मध्य एशिया मे बुद्ध के अवतार ग्रहण करने को भारत में अवतार लेने से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। मध्य एशिया

में उस समय बौद्ध धर्म और संस्कृति के प्रधान केन्द्र निम्नलिखित थे :—

खोतन :—यह मध्य एशिया में सम्भवतः भारतीयों की सबसे पुरानी बस्ती थी। चीनी यात्री युआनच्वाग तथा तिब्बती अनुश्रुतियाँ यह बताती हैं कि इसकी स्थापना अशोक के समय मे हुई थी। युआन के वर्णनानुसार खोतन का उपनिवेशन कुणाल की मर्मस्पर्शी करुणकथा से संबद्ध है। यह अशोक का अत्यन्त प्रिय, सुन्दर और सुकुमार पुत्र था। उसकी आँखें हिमालय में पाये जाने वाले कुणाल पक्षी की भाँति सुन्दर थी, अतः उसे यह नाम दिया गया था। तरुण होने पर उसका विवाह कांचनमाला के साथ हुआ। अशोक ने बुढ़ापे में पहली पत्नी मरने पर तिष्यरक्षिता से विवाह किया। वह कुणाल की कांत काया तथा चमकीली आँखों पर मुग्ध थी। उसने कुणाल से प्रणय की याचना की, किन्तु जब उसने इस अधर्मपूर्ण कार्य को उसे छोड़ने को कहा तो तिष्यरक्षिता उसकी जानी दुश्मन बन गई। इसके बाद कुणाल को तक्षशिला का शासक बना कर भेज दिया गया। इस बीच में अशोक बीमार पड़ा। उसकी चिकित्सा तिष्यरक्षिता के हाथ मे थी। उसे वैरनिर्यातन का स्वर्ण अवसर मिला। उसने तक्षशिला के पौर जानपदों के पास अशोक की एक झूठी आज्ञा भिजवाई कि कुणाल की आँखें निकलवा दी जाय। तक्षशिला के पौर जानपद कुणाल से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने इस आज्ञा का पालन करना उचित नहीं समझा, किन्तु जब कुणाल को यह ज्ञात हुआ तो उसने उफ़ किये बिना अपनी आँखे निकलवा दी और कांचनमाला के साथ पाटलिपुत्र लौटा। जब अशोक को इस घटना का पता लगा तब उसने तिष्यरक्षिता को जीता जलवा दिया और जो लोग इस षड्यत्र मे सम्मिलित थे, उन्हें मरवाया या निर्वासित किया। राज्य से निकाले जाने वाले व्यक्ति खोतन मे जाकर बस गए। युआन की जीवनी के वर्णनानुसार कुणाल स्वय खोतन जा बसा था। कुछ अन्य तिब्बती अनुश्रुतियों मे खोतन राज्य की स्थापना का श्रेय माता द्वारा परित्यक्त अशोक के एक पुत्र को तथा एक निर्वासित मत्री यश को दिया गया है। माता के अभाव में परित्यक्त पुत्र का पोषण पृथ्वी (कु) से निकले एक स्तन से होता रहा, अतः उसका नाम कुस्तन पड़ा। उससे बसाई गई बस्ती उसी के नाम पर कुस्तन या खोतन कहलाने लगी। इस राज्य की स्थापना यहाँ की एक अन्य प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर २४० ई० पू० मे हुई थी और यहाँ विजित नामधारी राजाओ का एक वश शासन करता रहा। इस वश के प्रसिद्ध राजा विजितसमव, विजितसिंह और विजितकीर्ति हैं। विजितकीर्ति के बारे मे यह कहा जाता है कि उसने भारत पर आक्रमण किया, कनिक और गुआन राजाओ के साथ साकेत (अयोध्या) के राजा को

हराया। वुआन समवतः कुषाण थे।[1]

दूसरी शताब्दी ई० के मध्य तक खोतन बौद्ध धर्म के अध्ययन का इतना बडा केन्द्र बन चुका था कि चीन से अनेक धर्मपिपासु बौद्ध भिक्षु यहाँ अध्ययन के लिए आया करते थे। इस प्रकार का एक चोनी बौद्ध भिक्षु प्यूशेहिग लोयंग से यहाँ आया। उसने यहाँ रहने वाले भारतीय गुरुओं के चरणों मे बैठ कर शिक्षा प्राप्त की और अनेक बौद्ध ग्रन्थों का संग्रह किया। वह अपनी मृत्युपर्यन्त खोतन में ही रहा। उसके बाद ४ थी शताब्दी ई० की समाप्ति पर फाहियान यहाँ आया था। उसका खोतन का वर्णन यह सूचित करता है कि उस समय यह बौद्ध धर्म का प्रबल केन्द्र था। यहाँ अनेक बौद्ध विहार थे। इनमे सबसे बड़े गोमतीमहाविहार मे महायान सम्प्रदाय के भिक्षु रहा करते थे। इसके अतिरिक्त यहाँ राजा का एक अन्य विहार भी था जिसका निर्माण तीन राजाओ के शासन-काल मे ८० वर्ष में पूरा हुआ था। उस समय खोतन से लोबनोर तक सभी दक्षिणी बस्तियों मे प्राकृत भाषा का और खरोष्ट्री लिपि का प्रचार था। खोतन के अतिरिक्त तारिम घाटी के दक्षिणी भाग मे पीमोनेजग और नीजग की बस्तियाँ तथा नाफोपो (लौलान) का राज्य था। इस शताब्दी के आरम्भ में भारत सरकार की सहायता से सर आरेल स्टाइन ने खोतन, योतकन, ददान उइलिक, नीया, एंदेर, रावक, लौलान, तुनह्वांग आदि स्थानों के पुरातत्वीय अन्वेषण और उत्खनन से पुरानी पोथियो, लेखो, भित्तिचित्रो के महत्वपूर्ण अवशेष प्राप्त किए थे। इन अवशेषो से यह ज्ञात होता है कि ईसा की आरम्भिक शताब्दियो में यह प्रदेश भारतीय संस्कृति के रग मे पूरी तरह रँगा जा चुका था। स्टाइन द्वारा लाये गए अवशेष ब्रिटिश म्यूजियम मे तथा नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[2]

कूचा---यह उत्तरी तुर्किस्तान की एक महत्वपूर्ण बस्ती थी। चीनी इतिहासों में इसका वर्णन हानवंशी राजाओं के समय से मिलता है। पहली शताब्दी ई० में इसे प्राप्त करने के लिये चीनी सम्राट और हियंगनू जाति मे तीव्र संघर्ष चल रहा था। इस शताब्दी के मध्य में कूचावासियों ने चीनी सम्राट द्वारा उनपर शासन करने के लिए नियुक्त किए गए राजा को भगा दिया। इसके बाद हियंगनू लोगों ने वहाँ के एक कुलीन व्यक्ति शेनतूको (इन्दुक) को राजा बनाया और इसे वहाँ की जनता ने स्वीकार कर लिया। नाम से यह व्यक्ति भारतीय प्रतीत होता है। कूचा

१. स्टेन कोनो---ज० रा० ए० सो० (१९१४) पृ० ३४४।
२. स्टाइन-एशेण्ट खोतन-पृष्ठ १५६-६०।

शीघ्र ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता का प्रबल केन्द्र बन गया। इस समय के चीनी इतिहासों में यह कहा गया है कि उस समय यहाँ १० लाख से अधिक बौद्ध स्तूप और मन्दिर थे। इसी समय से कूचा के बौद्ध भिक्षु चीन मे जाकर बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करने लगे। इनमे पहला व्यक्ति पोयेन २५६ से २६० तक चीन मे रहा। कूचा पर भारतीय प्रभाव इस बात से भी सूचित होता है कि यहाँ के पुराने राजा सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव, सुवर्णदेव जैसे नाम रखा करते थे। कूचा मे उपलब्ध प्राचीन साहित्य से इस बात पर रोचक प्रकाश पड़ता है कि यहाँ के मठों और संघारामों मे भिक्षुओं को संस्कृत का अध्यापन किस पद्धति से कराया जाता था। विद्यार्थियों को सर्वप्रथम इसकी वर्णमाला सिखाई जाती थी। छात्रो को इसका ज्ञान कराने वाली अनेक पुरानी वर्णमाला-पट्टिकायें मिली हैं। संस्कृत का व्याकरण सिखाने के लिये यहाँ पाणिनि की अष्टाध्यायी की अपेक्षा शर्ववर्मा का कातन्त्र सुगम होने के कारण अधिक लोकप्रिय था। व्यकरण की शिक्षा देने के बाद विद्यार्थियो से संस्कृत के सन्दर्भों का कूची भाषा मे अनुवाद कराया जाता था। इसके लिये उदानवर्ग के अतिरिक्त, ज्योतिष और आयुर्वेद के ग्रन्थों का उपयोग किया जाता था। इससे यह प्रकट होता है कि उन दिनों वहाँ भारतीय धर्म के साथ-साथ भारतीय आयुर्वेद और ज्योतिषशास्त्र भी बड़ा लोकप्रिय हुआ था। कूचा की भाषा मे पर्याप्त साहित्य का निर्माण हुआ था, किन्तु इसका आधार संस्कृत वाङ्मय ही था। कूचा के पश्चिम मे मिंगओई नामक स्थान से दूसरी श० ई० की ब्राह्मी लिपि मे संस्कृत ग्रंथों के खण्डित अंश पाये गये हैं। चौथी शताब्दी ई० के उत्तरार्ध मे कूचा में सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान कुमारजीव हुए, उन्होंने अपने प्रामाणिक अनुवादो द्वारा चीन मे बौद्ध धर्म का प्रबल प्रसार किया।

कूचा के अतिरिक्त कराशहर भी मध्य एशिया में एक महत्वपूर्ण भारतीय उपनिवेश था। इसका पुराना नाम **अग्निदेश** था, इसके राजा इन्द्रार्जुन, चन्द्रार्जुन आदि भारतीय नाम धारण करते थे। कूचा की भाँति इस बस्ती ने भी चीन में भारतीय संस्कृति के प्रसार में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। इसी प्रकार का एक अन्य केन्द्र **बजकलिक** था। यहाँ बौद्ध मन्दिर बहुत बड़ी सख्या में मिले हैं। इनमें भारतीय, चीनी और तिब्बती बौद्ध भिक्षुओं के चित्र बने हुए हैं, भारतीय भिक्षुओं ने पीताम्बर धारण किए हुए है, अन्य देशों के भिक्षुओ से इनका भेद सूचित करने के लिये इन भिक्षुओं के नाम ब्राह्मी लिपि मे लिखे हुए हैं।

भारत का सांस्कृतिक प्रसार:—खोतन में तथा अन्य स्थानों पर की गई खुदाइयों से स्टाइन को प्राप्त खरोष्ठी के ७४० लेख प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी

भाषा प्राकृत है और विषय सरकारी आदेश, विवादास्पद प्रश्नों के अदालती निर्णय या वादी प्रतिवादी के समझौते हैं। सरकारी लेख प्रायः महनुवः महारायः लिहति (महानुभाव. महाराजा लिखति) से प्रारम्भ होते हैं। इन पत्रों के लिखने का ढंग भारतीय है। इनमें भारतीय शब्दों का तथा वाक्य.वली का प्रचुर प्रयोग है, राजा के लिए महाराज देवपुत्र आदि का व्यवहार किया गया है। इसे प्रियदर्शन-देवमनुष्य-संपूजित, प्रिय-देवमनुष्य के विशेषण दिये गये हैं। अन्य भारतीय शब्दों में राजद्वार, दिविर, लेखक, लेखहारक उल्लेखनीय हैं। निया से मिले लेखों का समय तीसरी शताब्दी ई० माना जाता है। यहाँ कागज पर कोई लेख नहीं मिला है। किन्तु लौलान मे कागज पर लिखे खरोष्ट्री लेख मिले हैं। कागज का आविष्कार तथा प्रयोग देर में शुरू हुआ, अत लौलान के लेखों का समय चौथी शताब्दी ई० समझा जाता है। यह लोबनोर के उत्तर में चीन की सीमा पर है और इस बात को सूचित करता है कि ४थी श० ई० तक भारतीय लिपि और भाषा का प्रभाव यहाँ तक फैला हुआ था। फाहियान के वर्णन से भी यही स्थिति प्रतीत होती है। उन दिनों यहाँ की राजलिपि खरोष्ट्री और राजभाषा प्राकृत थी।

मध्य एशिया के उपनिवेशक.—इस प्रदेश मे गधार प्रान्त की लिपि तथा भाषा के प्रसार से यह सूचित होता है कि मध्य एशिया का उपनिवेशन करने वाले भारतीय उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासी थे। कुणाल की तक्षशिला वाली अनुश्रुति से भी यही सूचित होता है। किन्तु उत्तर पश्चिमी भारत के साथ-साथ इस कार्य में भाग लेने वाला दूसरा महत्वपूर्ण भारतीय प्रदेश काश्मीर था। चीनी विवरणों के अनुसार खोतन में बौद्ध धर्म का प्रवेश २८० ई० पू० में कश्मीर निवासी वैरोचन नामक भिक्षु द्वारा हुआ। वैरोचन के कहने से राजा ने खोतन मे पहला संघाराम बनवाकर धर्म और पुण्य का संचय किया। तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार वैरोचन ने नागराज हुलोर द्वारा काश्मीर से एक चैत्य भी मंगवाया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्य एशिया में भारतीय सस्कृति उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और काश्मीर से पहुची। मार्कोपोलो ने अपने यात्रा-विवरण में यह लिखा है कि सब देशों में बुतपरस्ती (बुद्ध की मूर्ति की पूजा) कश्मीर से फैली है।[1]

मध्य एशिया जाने के मार्ग:—इस प्रसंग में यह जान लेना भी उपयोगी है कि भारतीय संस्कृति के प्रचारक कश्मीर और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त एवं अफगानिस्तान से किन मार्गों द्वारा मध्य एशिया जाया करते थे। काश्मीर से मध्य

१. यूल—मार्कोपोलो खण्ड १, पृष्ठ १६६।

एशिया जाने के दो प्रधान मार्ग हैं। पहला मार्ग कराकुर्रम दर्रे का है। यह श्रीनगर से शुरू होकर जोजीला दर्रे पर हिमालय की पर्वतमाला को पार करता है और लेह होता हुआ सिन्धु नदी एवं उसकी सहायक नदियों के साथ-साथ कराकुर्रम दर्रे से इस पर्वतमाला को पार करके खोतन जाने वाली कराकाश, युरगकाश नदियों की उपरली द्रूनों में उतर कर खोतन पहुंच जाता है। दूसरा मार्ग श्रीनगर और वुलर झील के उत्तर की ओर गिलगित, यासीन होता हुआ दरकोट और बरोगिल के दर्रो को पार करके आमू नदी की एक उपरली धारा आबेपंजा की घाटी में पहुंचता है और इस नदी के साथ ऊपर बढ़ते हुए यह बखजिर दर्रे को पार करके तागदबाश पामीर में पहुंचता है। यह आमू और मध्य एशिया की यारकद आदि नदियों का जल-विभाजक है, यहाँ चीनी, रूसी और भारतीय राज्यों की सीमायें मिलती है। यहाँ से यह मार्ग उत्तर की ओर ताशकुर्गानि होते हुए यारकद और काशगर को चला जाता है। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से मध्य एशिया जाने वाले मार्गो का पहले (पृ० ६३६) वर्णन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त एक मार्ग चितराल का भी था। पेशावर के उत्तर में स्वात नदी की घाटी में हिन्दूकुश पर्वत तक का प्रदेश प्राचीन काल में उद्यान कहलाता था। यह उन दिनों काश्मीर की भाँति बौद्ध धर्म का एक बडा केन्द्र था। यहाँ से लाहौरी दर्रे को पार करके चितराल पहुचा जाता था। इसके बाद डोरा और नुकसान दर्रों से आमू नदी की घाटी में उतरा जाता था, फिर इस नदी की उपरली धाराओं के साथ तागदुम्बाश पामीर में यह रास्ता पहले रास्ते से मिल जाता था। इन रास्तो से प्राचीन काल में भारतीय संस्कृति के प्रसारक मध्य एशिया पहुचे थे।

मध्य एशिया का भारतीय साहित्य:—मध्य एशिया में खोतन आदि स्थानो से जो ग्रन्थ मिले है, उनमे खोतन से १३ मी० की दूरी पर उपलब्ध धम्मपद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह पहली-दूसरी शता० ई० की खरोष्ट्री लिपि मे लिखा हुआ है, इसमे पालि धम्मपद एक ऐसी प्राकृत भाषा मे लिखा हुआ है जो अब तक किसी अन्य बौद्ध ग्रन्थ मे नही मिली है। डा० बुहलर का मत है कि यह ग्रन्थ भारत मे लिखा गया और एक बौद्ध भिक्षु द्वारा खोतन ले जाया गया, किन्तु स्टेन कोनो का यह मत है कि इसकी रचना उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रचलित एक प्राकृत मे की गई और इसे खोतन मे ही लिखा गया था। मध्य एशिया से कुछ ऐसे संस्कृत ग्रन्थ भी मिले हैं, जो अपने मूल रूप मे भारत मे नष्ट हो चुके हैं। इस प्रकार का एक ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का उदानवर्ग है, जो इस प्रदेश में धम्मपद

जैसा लोकप्रिय था। अब तक इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद ही मिले थे, किन्तु अब तुनह्वांग से कुषाण युग की लिपि में इसके कुछ अश संस्कृत भाषा में भी प्राप्त हुए है। इसी युग की एक अन्य रचना तुर्फान से मिली है। यह अश्वघोष द्वारा बनाए गए नाटक **शारिपुत्रप्रकरण** का अन्तिम अंश है, इसमे दो अन्य नाटको के अंश भी मिले है। ये अब तक ज्ञात संस्कृत के सबसे पुराने नाटक है और इस बात को सूचित करते हैं कि पहली शताब्दी ई० तक न केवल भारतीय नाट्य कला का विकास हो चुका था, अपितु वह बौद्ध धर्म के साथ मध्य एशिया में भी पहुच चुकी थी। इसी प्रकार भारतीय मूर्ति और चित्रकला का भी मध्य एशिया मे प्रसार हुआ। मध्य एशिया मे गधार कला के अनेक नमूने पाए गए है। यहाँ न केवल बौद्ध मूर्तियाँ मिली है, अपितु पौराणिक देवी-देवताओ की मूर्तियाँ भी पाई गई है। निया से कुबेर और त्रिमुख की और एन्देर से गणेश की मूर्ति मिली है।

टोनकिन

चीन मे भारतीय संस्कृति और धर्म प्रधान रूप से मध्य एशिया के मार्ग से पहुचा था। इसका पहले वर्णन हो चुका है। इसके अतिरिक्त दक्षिण दिशा से भी चीन मे बौद्ध संस्कृति पहुच रही थी और इसका प्रधान केन्द्र टोनकिन अथवा उत्तरी वियतनाम का उत्तरी भाग था। यहां अनेक भारतीय भिक्षु दूसरी-तीसरी शताब्दी ई० मे स्थल और जल-मार्ग से पहुचे और यहाँ से चीन जाते रहे। यह उन दिनो भारत और चीन के समुद्री मार्ग के मध्य मे बहुत महत्वपूर्ण अड्डा था। कुछ प्राचीन अनुश्रुतियो के अनुसार जिस समय चीन मे बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ, उसी समय टोनकिन मे भी बौद्ध धर्म के प्रचारक पहुँचे थे। इनमे सबसे पहला चीनी प्रचारक मौत्सेऊ (Mou-tseu) था। १८९ ई० मे लिगती की मृत्यु के बाद जब चीन मे गृहयुद्ध आरम्भ हुआ तो केवल टोनकिन के प्रान्त मे ही शान्ति बनी रही, अतः अनेक प्रसिद्ध चीनी उन दिनो यहाँ आये। इनमे मौत्सेऊ भी था। आरम्भ मे यह ताओ मत का अनुयायी था, बाद मे इसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया। १९४–९५ ई० मे इसका अनुसरण करते हुए कई अन्य व्यक्ति बौद्ध बने। तीसरी शताब्दी ई० के मध्य में सेंगहुई ने टोनकिन से ही बौद्ध धर्म का प्रचार आरम्भ किया। इसने चीन मे वूवश के राजा को बौद्ध बनाया। आगे यह बताया जायगा कि इसने चीनी भाषा मे अनेक बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद किया था।

टोनकिन का एक अन्य बौद्ध प्रचारक मारजीवक या जीवक था। यह भारत में उत्पन्न हुआ था, एक व्यापारी जहाज मे बैठ कर दक्षिणी कम्बोडिया के फूनान

राज्य में आया था। यहाँ से वह टोनकिन और कैन्टन गया। उसने सर्वत्र बौद्ध धर्म का प्रचार किया। वह त्सिन वंश (२९०–३०६ ई०) के सम्राट् होएइ के शासन-काल के अन्तिम भाग मे लोयंग आया और चीन मे राजनीतिक क्रान्ति होने पर भारत लौट गया। टोनकिन का एक अन्य बौद्ध प्रचारक भारतीय शक (Indo-Scythian) कल्याणरुचि अथवा कालरुचि नामक व्यक्ति था। इसने २५५ से २५७ ई० के बीच में अनेक बौद्धग्रन्थो का अनुवाद किया।

उपर्युक्त बौद्ध प्रचारकों तथा अन्य अनेक व्यक्तियों के पुरुषार्थ के परिणाम-स्वरूप टोनकिन तीसरी शताब्दी ई० के अन्त तक बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध गढ और प्रबल केन्द्र बन गया था। उन दिनो यहाँ लीलियू नामक जिले मे २० चैत्य और ५०० बौद्ध भिक्षु थे। चौथी शताब्दी ई० के चीनी ग्रन्थो के अनुसार यहाँ के प्रान्तीय शासक की सेवा मे भारतीय बडी संख्या में रहा करते थे। एक अनामी ग्रन्थ मे पश्चिमी भारत के निवासी एक ब्राह्मण परिवार मे उत्पन्न और जादू-टोने की कला मे कुशल भारतीय खौदाला का उल्लेख किया गया है। यह सभवत जीवक के साथ ही टोनकिन गया। वह यहाँ गुफाओ मे और पेड़ो के नीचे रहा करता था और कालाचार्य (कालाचाला) या जादूगर के नाम से प्रसिद्ध था।

चीन

चीन मे भारतीय सस्कृति का प्रसार कई दृष्टियो से विशेष महत्व रखता है। मध्य एशिया की जिन जातियो मे भारतीय धर्म लोकप्रिय हुआ था उनकी अपनी उच्चकोटि की सभ्यता और सस्कृति नही थी; किन्तु चीन एक अत्यन्त प्राचीन, सभ्य और सुसस्कृत देश था। ऐसे प्राचीन सभ्यतासम्पन्न देश मे भारतीय संस्कृति का प्रसार एक विलक्षण घटना थी। चीन ने हमारी सस्कृति को विश्वव्यापी बनाने मे बड़ी सहायता की, क्योकि चीन जनसंख्या की दृष्टि से भूमण्डल का सबसे बड़ा देश है, क्षेत्रफल की दृष्टि से उसका स्थान रूस के बाद है। जापान, कोरिया, मचूरिया, मगोलिया, साइबेरिया तक के प्रदेशो मे बौद्धधर्म का प्रसार चीन के माध्यम से ही हुआ।

चीन मे भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म का आरम्भिक प्रसार दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(क) उषाकाल—तीसरी शताब्दी ई० पू० से पहली शताब्दी ई० तक। (ख) बौद्धधर्म का बीजारोपण तथा शैशवकाल—पहली शताब्दी ई० से ३६५ ई० तक।

उषाकाल—चीन और भारत का आरम्भिक संपर्क :—इस समय का इतिहास अत्यन्त अस्पष्ट है। इस पर गहरे अन्धकार का आवरण पड़ा हुआ है। इस पर प्रकाश डालने वाली और दोनों देशों के आरम्भिक सम्पर्क को सूचित करने वाली कई अनुश्रुतियाँ हैं। इनमें **पहली** अनुश्रुति यह है कि २१७ ई० पू० में चीन के सम्राट शीह्वांगती के समय में अशोक द्वारा भेजे गये कुछ प्रचारक चीन गये। सम्राट की आज्ञा से इन्हें जेल में डाल दिया गया। किन्तु कई चमत्कार दिखाने के बाद ये कारागार से मुक्त हुए। दूसरी अनुश्रुति यह है कि १२१ ई० पू० में मध्य एशिया में सैनिक आक्रमण करने वाला एक चीनी सेनापति स्वदेश लौटते हुए अपने साथ बुद्ध की एक स्वर्णमयी प्रतिमा लाया, इस प्रकार चीन में बौद्धधर्म का प्रसार हुआ। आधुनिक ऐतिहासिक इन दोनो अनुश्रुतियों को प्रामाणिक नहीं मानते है। तीसरी अनुश्रुति यह है कि आमू नदी की घाटी में शासन करने वाले युइचि जाति के एक शासक ने २ ई० पू० में बौद्धधर्म के कुछ ग्रन्थ चीनी सम्राट के दरबार में भेजे।

किन्तु इस विषय में चौथी अनुश्रुति को अधिक ऐतिहासिक और सत्य माना जाता है। इसके अनुसार चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश ६५ ई० में हुआ। कहा जाता है कि हान सम्राट मिंगती ने स्वप्न में एक सुनहला पुरुष देखा। उसने जब अपने दरबारियों से इस स्वप्न के विषय में बात की तो उन्होंने यह बताया कि सपने में दिखाई देने वाला स्वर्णिम पुरुष बुद्ध (फोतो) है। राजा को इस विषय में बड़ी जिज्ञासा हुई। उसने इसकी खोज के लिये १८ व्यक्ति चीन से भारत की ओर भजे और उन्हें बुद्ध की मूर्तियाँ, ग्रन्थ और पुरोहित लाने का आदेश दिया। कुछ समय बाद वे ६५ ई० में धर्मरत्न और कश्यपमातंग नामक दो बौद्ध भिक्षुओं के साथ स्वदेश लौटे। ये भिक्षु एक सफेद घोड़े पर सवार होकर आये थे, अपने साथ अनेक बौद्ध मूर्तियाँ और धर्मग्रन्थ लाये थे। राजा ने इनके निवास के लिये अपनी राजधानी लोयग के निकट एक विहार बनवाया और इन्हें लाने वाले सफेद घोड़े के नाम पर इसका नाम **श्वेताश्व विहार** (पोमासी) रखा गया। दोनों भिक्षुओं ने अपना शेष जीवन बौद्धग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगाया और यह विहार चीन में बौद्धधर्म का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया।

इस प्रकार चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। पहली दो शताब्दियों में चीन में बौद्ध प्रचारकों का सबसे बड़ा कार्य बौद्धग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद था। इससे चीन में इस धर्म के प्रसार का मार्ग प्रशस्त हुआ। अनुवाद कार्य का श्रीगणेश तो कश्यपमातंग ने किया था, किन्तु इसे आगे बढ़ाने वाले प्रधानरूप से मध्य एशिया,

पार्थिया और सुग्ध के रहने वाले व्यक्ति थे। पहले इनका निर्देश किया जा चुका है। कश्यप के बाद दूसरा प्रसिद्ध अनुवादक लोकक्षेम नामक मध्य एशिया निवासी युइचि भिक्षु था। इसने १४८ से १८८ ई० तक महायान सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। तीसरा प्रसिद्ध अनुवादक लोकोत्तम (शीकाओ) था। यह पहले पार्थिया का राजकुमार था, किन्तु अपनी वैराग्यवृत्ति के कारण राजपाट छोड़कर छोटी आयु में बौद्धभिक्षु बन गया। यह पार्थिया और सुग्ध के अनेक भिक्षुओं के साथ श्वेताश्व विहार में आकर बस गया। ये सभी भिक्षु दूसरी शताब्दी ई० में चीन में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद और प्रचार-कार्य करते रहे। इस प्रकार का चौथा भिक्षु संघभद्र (सेंगहुई) था। इसका जन्म कई पीढ़ियों से भारत में बसे हुए एक सुग्धी परिवार में तीसरी शताब्दी ई० के आरम्भ में हुआ था। संघभद्र का पिता व्यापार के लिये टोनकिन गया और वहीं बस गया। अपने पिता की मृत्यु के बाद संघभद्र भिक्षु बना। उसने दक्षिणी चीन में इस धर्म का प्रचार किया और नानकिंग के वू वंशी चीनी सम्राट को बुद्ध का उपासक बनाया। २४७ ई० में उसने नानकिंग में एक बौद्ध मठ तथा बौद्ध सम्प्रदाय का शिक्षणालय स्थापित किया। उसके प्रयत्नों से वहाँ बौद्धधर्म फैलने लगा। पाँचवाँ प्रचारक धर्मरक्ष (फाहू) था। यह युइचि जाति में तुनह्वाग नामक स्थान में उत्पन्न हुआ था। इसने यहाँ भारतीय गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की थी। यह इनके साथ समूचे मध्य एशिया में घूमा, भारत के कई सीमावर्ती राज्यों में भी गया। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह ३६ भाषाओं का ज्ञाता था, संस्कृत और चीनी भाषाओं का प्रकाण्ड पण्डित था। तीसरी शताब्दी ई० के मध्य में वह चीन की राजधानी में जाकर बस गया। उसने अपना जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार तथा संस्कृत ग्रन्थों के चीनी अनुवाद में व्यतीत किया। २१४ ई० तक चीन में ३५० भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद हुए थे। यह स्मरण रखना चाहिये कि इन अनुवादकों में एक भी चीनी नहीं था। आधे अनुवादक भारतीय थे और आधे मध्य एशिया के विभिन्न प्रदेशों से आने वाले युइचि तथा सुग्ध (बुखारा और समरकन्द) एवं ईरान के रहने वाले थे। चीन के आरम्भिक बौद्ध धर्म का प्रधान मूलस्रोत मध्य-एशिया था।

उपर्युक्त बौद्ध भिक्षुओं के प्रयास से बौद्ध धर्म शनै शनैः चीनी विद्वानों में एवं उच्चवर्ग के कुलीन व्यक्तियों में लोकप्रिय होने लगा। दूसरी शताब्दी ई० के एक महान चीनी विद्वान मौत्सेऊ ने न केवल बौद्ध धर्म का प्रबल समर्थन किया, अपितु उसने इसके सिद्धान्तों को चीन के पुराने सुप्रसिद्ध महापुरुष कन्फ्यूशियस के सिद्धान्तों

की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ बताया। इस समय २२१ ई० से २६५ ई० तक चीन जिन तीन राज्यों में बंटा हुआ था, वे सभी बौद्धधर्म के उपासक और प्रबल प्रचारक थे। उत्तर में वेई राज्य की राजधानी लोयंग थी। यहाँ श्वेताश्व विहार में अनुवाद कार्य चल रहा था, इस समय यहाँ पाँच बड़े अनुवादक हुए और बौद्ध-भिक्षुओं के नियमो का प्रतिपादन करने वाले प्रतिमोक्ष का चीनी अनुवाद किया गया। इस युग मे दक्षिणी चीन मे बौद्ध धर्म का सदेश ले जाने वाले दो भिक्षु युइचिजातीय तचकियेन और सुग्धवासी सेंगहो थे। तचकियेन लोकक्षेम का शिष्य था, किन्तु यह राजनीतिक परिस्थिति के कारण उत्तरी चीन छोड़कर नानकिंग में आ गया और यहाँ इसने २२५ से २५३ ई० तक ३९ बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद किया। इनमे अब नौ ग्रन्थ ही मिलते है। इनमें विमलकीर्तिनिदेश नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तचकियेन को यह गौरव प्राप्त है कि उसने अपने अनुवादो द्वारा दक्षिणी चीन को सर्वप्रथम बौद्धधर्म का सदेश दिया। इस समय यहाँ दूसरा प्रचारक संघभद्र (सेंगहुई) था। इसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसने यहाँ सर्वप्रथम चीनियों को बौद्ध-भिक्षु बनाना शुरू किया था। इसके प्रयत्न मे बौद्ध धर्म बढ़ने लगा। इस समय नानकिंग में बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद करने वालो मे एक व्यक्ति युवराज का गुरु भी था। इससे यह सूचित होता है कि राजकुल में भी बौद्धधर्म का प्रभाव बढ़ रहा था।

हानवंश का शासन समाप्त होने पर उत्तरी चीन में वेई वंश ने २२० से २६५ ई० तक शासन किया। इस वंश की राजधानी लोयंग में बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य पहले की भांति चलता रहा। इस समय का सर्वश्रेष्ठ अनुवादक धर्मकाल (थानमोचियालो) था। मध्य भारत का रहने वाला यह श्रमण २२२ ई० में चीन पहुँचा। उस समय तक चीनियो को बौद्ध भिक्षुओं के नियमो (विनय) का कुछ भी ज्ञान न था। इसने सर्वप्रथम महासांघिक संप्रदाय के विनय का चीनी में अनुवाद किया। इस काल के तीन अन्य भिक्षु पार्थियावासी धर्मसत्य, धर्मभद्र और सुग्धदेशीय काग सेंग काइ थे। इस समय चीन मे अमिताभ के स्वर्ग का मनोहारी चित्रण करने वाले और यहाँ बौद्धधर्म को लोकप्रिय बनाने वाले सुखावती-व्यूह का चीनी अनुवाद हुआ। वहाँ आजतक इस ग्रन्थ का पाठ होता है। इस समय न केवल भारत से बौद्ध भिक्षु चीन जाते रहे, अपितु चीनी बौद्ध-भिक्षु भी बौद्ध-धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये खोतन और भारत की ओर आने लगे। चू-शे-हिंग नामक बौद्ध-भिक्षु २६० ई० मे मध्य एशिया के सुप्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र खोतन में आया। इसने यहाँ आकर छः लाख शब्दोंवाली प्रज्ञापारमिता नामक संस्कृत ग्रन्थ के ९०

खण्डों की प्रतिलिपि की और इसे २८२ ई० मे लोयंग भेजा। यह मृत्युपर्यन्त यहीं रहा। इसके बाद फाहियान, युआनच्वांग आदि श्रद्धालु चीनियो ने इसका अनुसरण करते हुए प्रामाणिक बौद्ध ग्रन्थ प्राप्त करने के लिये और बौद्ध तीर्थो के दर्शन के लिये पाँचवीं और सातवी शताब्दी मे भारत की यात्रा की।

दक्षिणी चीन मे वू वंश के (२१२–२८० ई०) ५८ वर्ष के लघु शासनकाल मे १८९ ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। इनमे इस समय केवल ५६ ग्रन्थ ही मिलते हैं। इस समय का प्रसिद्ध अनुवादक तचे चिहचियेन (२२५–२५३ई०) है, इसने १३ वर्ष की अल्प आयु मे सस्कृत के अतिरिक्त अन्य ६ भाषाओ का ज्ञान भी प्राप्त किया था। इसके द्वारा अनूदित १२९ ग्रन्थो मे इस समय ४९ ग्रन्थ ही मिलते हैं। अन्य अनुवादक विघ्न और काग सेगहुई थे। विघ्न ने धम्मपद का पहला चीनी अनुवाद किया। काग सेग हुई ने वू वंश के राजा को बौद्ध धर्म का उपासक बनाया। इसके बाद इसके सभी उत्तराधिकारी बौद्ध धर्म के कट्टर अनुयायी बने रहे। काग और चिहचियेन मध्य एशियावासी होते हुए भी चीन मे बस गये थे, अतः इन्होंने अपने अनुवादों में विशुद्ध-रूप मे चीनी शब्दो और परिभाषाओ का प्रयोग किया था।

दक्षिण–पूर्वी एशिया

सुवर्ण भूमि :—प्राचीन-काल मे हिन्दचीन के प्रायद्वीप और हिन्देशिया के द्वीप-समूह का एक सामान्य नाम सुवर्णभूमि और सुवर्णद्वीप था। इस प्रदेश मे सोना, चादी आदि विभिन्न प्रकार के खनिज तथा बहुमूल्य धातुए एव गरम मसाले प्रभूत मात्रा मे पाये जाते थे। इनके साथ भारत का सपर्क सोने के आकर्षण और व्यापारिक वस्तुओ से धन कमाने की लालसा से आरम्भ हुआ। उत्तरी बर्मा मे इरावदी और उसकी सहायक नदियो की बालुका से अब तक सोना निकाला जाता है। मलाया के पहाग राज्य मे सोने की खाने हैं। पुराने समय मे यहाँ बहुत सोना पाया जाता था। इसलिये भारतीय इरावदी और सालवीन को सुवर्ण नदी और इस सारे प्रदेश को सुवर्णभूमि कहते थे। इस प्रदेश के साथ अधिक परिचय होने पर इसके सुवर्ण-भूमि और सुवर्णद्वीप नामक दो स्पष्ट विभाग किये जाने लगे। सुवर्णभूमि का अभिप्राय बर्मा, स्याम, भूतपूर्व फ्रेंच हिन्दचीन के प्रदेश (वियतनाम, कम्बोडिया) से था। सुवर्णद्वीप मे मलाया प्रायद्वीप और हिन्देशिया के सुमात्रा, जावा, बालि, बोर्नियो आदि विभिन्न टापुओ का समावेश होता था। प्राचीन रोमन भी इस प्रदेश को क्रिसी (Chryse) का नाम देते थे। इसका शब्दार्थ भी सुवर्णद्वीप है।

सुवर्णभूमि अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ भारत का संबंध अत्यन्त प्राचीन काल से था। बौद्ध जातकों में हमे व्यापार के लिये सुवर्णभूमि जाने वाले अनेक साहसी व्यापारियों की कथाए मिलती हैं। इस प्रकार की कुछ कथाएं कथा-सरित्सागर, बृहत्कथा मंजरी, बृहत्कथालोक सग्रह नामक ग्रथो में भी पाई जाती है। ये सब ग्रन्थ इस समय उपलब्ध न होने वाली प्राकृत भाषा मे लिखी गई गुणाढ्य की बृहत्कथा नामक कृति पर आधारित हैं। बौद्ध ग्रन्थो मे यह वर्णन मिलता है कि सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये शोण और उत्तर नामक दो व्यक्तियो को तीसरी बौद्ध महासभा समाप्त होने के बाद सुवर्णभूमि भेजा था। पहली शताब्दी ई० मे लिखे गये पेरिप्लस के विवरण मे सुवर्णभूमि का गंगापार के प्रदेश में उल्लेख मिलता है। दूसरी शताब्दी मे प्लिनी ने भी इसका उल्लेख किया है।

रामायण के वर्तमान रूप को दूसरी शताब्दी ई० पूर्व का समझा जाता है। इसमे दक्षिण-पूर्वी एशिया के कुछ देशो का—विशेषत: जावा (यवद्वीप) का स्पष्ट उल्लेख है। इस समय तक भारतीय व्यापारियों के इस प्रदेश में जाने से इस क्षेत्र का ज्ञान अधिक होने लगा था। इसका परिचय हमे दूसरी शताब्दी ई० के बौद्ध-ग्रन्थ महानिद्देस और टालमी के भूगोल से मिलता है। इनमे इस प्रदेश के अनेक प्रमुख बन्दरगाहो का वर्णन है। महानिद्देस मे चीन से भारत की समुद्र यात्रा करते हुए इन बन्दरगाहो के नाम दिये गये है—गुम्बा, तक्कोल, तक्कसिला, कालमुख, मरणपार, वेसुग, वेत्रपथ, जव, तमाली, वग, एलवड्ढन, सुवन्नकुट, सुवन्नभूमि, तम्बपण्णि, सुफर, मरुकच्छ। दूसरी शताब्दी ई० मे टालमी ने इनमे से कई बन्दर-गाहो का उल्लेख किया है, जैसे तेपल, बेसिन्जा, तक्कोल, इयावदिउ। फ्रेंच विद्वान लेवी ने इन विवरणो के आधार पर यह परिणाम निकाला है कि दूसरी शताब्दी ई० मे चीन तक के समुद्री मार्ग का भारतीयो को बहुत अच्छा परिचय हो गया था, क्योंकि पहली शताब्दी ई० के पेरिप्लस के लेखक ने और प्लिनी ने इन प्रदेशों के बन्दरगाहो का उतना विस्तृत विवरण नही दिया, जितना दूसरी शताब्दी ई० का टालमी देता है। चीनी ग्रन्थों से भी यही स्थिति सूचित होती है। श्री बागची ने इसके आधार पर यह परिणाम निकाला है कि ईसा की पहली दो शताब्दियों में चीन के साथ भारत का समुद्री व्यापार आरम्भ हो गया था, और गंगा की घाटी से टोनकिन तक नियमित रूप से जहाज चला करते थे।

उपनिवेशन के कारण:—इन प्रदेशो मे उपनिवेशन के प्रधान कारण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति और व्यापारिक सम्बन्ध थे। यह राजनीतिक स्थिति

कुषाणो के उत्तरी भारत पर आक्रमण से उत्पन्न हुई थी। कुषाणों ने अपने से पहले के शासक—शकों पर हमला करके उन्हें अन्य प्रदेशों में जाने के लिये विवश किया, अतः शकों ने पश्चिमी और दक्षिणी भारत में नवीन राज्यो की स्थापना की। इनकी मुण्ड नामधारी एक शाखा पूर्वी भारत चली आई, उसने मगध के प्रदेश मे एक राज्य की स्थापना की। ये साहसी शक राजकुमार हिन्दू सभ्यता के प्रबल पोषक थे। सम्भवत. इन्होंने सर्वप्रथम दक्षिण पूर्वी एशिया में हिन्दू राज्यों की स्थापना की। जावा की प्राचीन अनुश्रुतियो मे यह कहा गया है कि इस द्वीप का पहला हिन्दू राजा अजिशक था। वह और उसके उत्तराधिकारी गुजरात से आये थे। उसने यहाँ आकर सुदृढ़ शासन स्थापित किया और लोगो को धर्म, सभ्यता और संस्कृति का पहला पाठ पढाया। चीनी ऐतिहासिकों के विवरणो के अनुसार अजिशक जावा मे ५६ ई० मे आया था। यह नाम न केवल शको जैसा है, अपितु उपर्युक्त तिथि भी उस समय को सूचित करती है जब उत्तरी-पश्चिमी भारत मे कुषाणो के आक्रमणो के कारण बडी अशान्त राजनीतिक परिस्थिति थी। इस समय अनेक साहसी हिन्दू राजाओ ने हिन्द चीन और हिन्देशिया के विभिन्न प्रदेशो मे अपने स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना की।

सुवर्णभूमि के मार्ग:—दूसरी शताब्दी ई० तक भारतीयो को दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा चीन जाने वाले मार्गों का इतना अच्छा परिचय हो चुका था कि वे समुद्र-तट के साथ-साथ यात्रा करने के स्थान पर खुले समुद्रो मे मानसून हवाओ की सहायता से पाल वाले जहाजो मे यात्रा करने लगे थे। फाहियान के यात्रा-विवरण के आधार पर तथा पुरातत्वीय खोजों के आधार पर इन मार्गों के सम्बन्ध मे कुछ परिणाम निकाले गये है। इनके अनुसार उस समय के समुद्री यात्री निम्न प्रकार के पथो का अनुसरण करते थे —

(१) उत्तरी भारत के व्यक्ति गंगा नदी के मुहाने मे ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह से समुद्री यात्रा आरम्भ करते थे। यहाँ से सुवर्णभूमि की यात्रा के लिये दक्षिण की ओर जाने वाली अनुकूल मानसून हवाये शीतऋतु मे मिलती थी, इनकी सहायता से ये अण्डेमान द्वीप के पूर्व से होते हुए अथवा अण्डेमान तथा निकोबार टापुओ के बीच से १०° अक्षांश रेखा के मार्ग से क्रा जलडमरूमध्य के आसपास की तग स्थलीय पट्टी के विभिन्न बन्दरगाहो मे पहुँचते थे।

(२) कलिंग के दन्तपुर[1], आन्ध्र (कृष्णा-गोदावरी नदियों के दोआब) के विन्नगजाम तथा कावेरीपट्टनम् के बन्दरगाहों से चलने वाले जहाज गर्मियों में चलने वाली मानसून हवाओं का लाभ उठाते हुए बंगाल की खाड़ी को सीधा पार करते थे। ये प्रधान रूप से दो मार्गों का अनुसरण करते थे—या तो ये दस अक्षांश रेखा वाले मार्ग से अण्डेमान और निकोबार के बीच में से होते हुए जाते थे अथवा निकोबार और सुमात्रा के ऊपरी किनारे के बीच में से होते हुए जाते थे।

(३) श्रीलंका अथवा सिंहल द्वीप परले हिन्द के साथ व्यापारिक सम्पर्क का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। फाहियान यहां से चीन वापिस लौटा था। इसके पूर्वी तट से अक्टूबर में जहाज परले हिन्द के लिये चलते थे और मानसून हवाओं की सहायता से सुमात्रा के दक्षिण-पश्चिम में तथा सुमात्रा और जावा के टापुओं के बीच में सुन्दा जलडमरूमध्य में पहुँच जाते थे। यहां से वे उत्तर की ओर बहने वाली हवाओं का लाभ उठाते हुए मलाया के समुद्रतट के साथ उत्तर की ओर पत्नी, लिगार आदि के बन्दरगाहों से स्याम की खाड़ी में मीकाग नदी के मुहाने के निकट फूनान के बन्दरगाह गा ओक इओ (Go oc eo) तथा अन्य बन्दरगाहों में पहुँचते थे। यहाँ से चम्पा के समुद्रतट के साथ-साथ वियतनाम के बन्दरगाह सिआओ-ची में अथवा दक्षिणी चीन के सुप्रसिद्ध पोताश्रय कैण्टन में पहुँच जाते थे। कुछ जहाज बोर्नियो के पश्चिमी तट पर येहपोती पर पहुँच कर यहाँ से सीधा उत्तर में चीन की ओर चले जाते थे।

उपर्युक्त सभी मार्गों की एक बड़ी विशेषता यह थी कि ये मलक्का के जलडमरूमध्य वाले छोटे मार्ग की अपेक्षा सुमात्रा का चक्कर काटने वाले लम्बे मार्ग का अनुसरण करते थे। इससे वे दो सकटों से बच जाते थे। पहला तो यह कि मलक्का के सकरे मार्ग पर जलदस्यु प्रायः जहाजों को लूटा करते थे, दूसरा यह

१. इसकी सही पहिचान के बारे में ऐतिहासिकों में मतभेद है। कुछ इसे कलिंग का एक बन्दरगाह मानते हैं, इसकी स्थिति पुरी के निकट बताते हैं, क्योंकि जातकों में इसे कलिंग की राजधानी बताया गया है। किन्तु अन्य ऐतिहासिक इसे आन्ध्र प्रदेश में गोदावरी नदी पर राजमहेन्द्री अथवा चिकाकोल के निकट टालमी द्वारा वर्णित पलोरा का बन्दरगाह बताते है। यह उन दिनों सुवर्णभूमि के लिये प्रस्थान करने वाले समुद्री यात्रियों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। (बी० सी० ला०—हिस्टारिकल ज्योग्रफी आफ एशेण्ट इंडिया, पृ० १४६।

कि यहाँ का समुद्र गर्मियो मे अत्यन्त विक्षुब्ध और तूफानी होता था। सुमात्रा का चक्कर काटने वाले मार्ग मे ये दोनो सकट नही थे। किन्तु उसमे दो अन्य सकट थे। खुले समुद्र की यात्रा बडी खतरनाक थी तथा उसमे मलक्का की खाड़ी वाले मार्ग की भाँति अनेक बन्दरगाहो की सुविधा नही थी। इन दोनो मार्गों के सकट-पूर्ण होने के कारण उस समय सभवत इस जलडमरूमध्य मे परिवहन पथो (Portage routes) का अधिक प्रयोग होता था।

परिवहन-पथ (Portage routes) —दक्षिण पूर्वी-एशिया के फूनान चम्पा आदि प्रदेशो तथा चीन जाने के लिये ईसा की आरम्भिक शताब्दियों में उप, युंक्त सकटपूर्ण लम्बे समुद्री मार्ग की अपेक्षा यह अधिक अच्छा सुविधापूर्ण समझा जाता था कि ताम्रलिप्ति, आन्ध्रप्रदेश और दक्षिणी भारत से फूनान और चीन जाने वाले जलपोत क्रा के स्थलडमरूमध्य के आसपास बगाल की खाडी के समुद्रतट पर विद्यमान विभिन्न बन्दरगाहो पर पहुँचे, यहाँ इन पोतो का माल उतार कर स्थल-मार्ग से पूर्वी समुद्रतट पर स्याम की खाड़ी के बन्दरहगाह पर पहुँचा दिया जाय, यहाँ से फूनान, चम्पा और चीन की समद्री यात्रा की जाय। इस प्रकार इनमें स्थलीय मार्ग मे माल की ढुलाई या परिवहन किये जाने के कारण इन्हें परिवहन-पथ (Portage routes) कहा जाता है। ऐसे तीन प्रसिद्ध मार्ग बन्दोन की खाडी पर तकुआपा और चैया के मध्य, मे त्राग और लिगोर के बीच मे तथा केदा और पटनी (लकासुक) के मध्य मे थे। इनके अतिरिक्त तुनसुन (द्वारवती) के मोन राज्य से टेवाय या मर्तबान तक का मार्ग भी चलता था। दक्षिणी बर्मा और तनासरिम के बन्दरगाहो से स्याम और कम्बोडिया जाने के लिए चार मार्गों का प्रयोग होता था। पहला उत्तरी मार्ग मीनम नदी की उपरली घाटी मे मुन और मीकाग नदी की घाटी मे होता हुआ बस्सक मे आया करता था। यह एक प्राचीन कम्बुज राज्य-चेनला-के ख्मेर की राजनीतिक शक्ति का एक बडा केन्द्र था। दूसरा मार्ग मौलमीन से तीन पगोडो के दर्रे से होता हुआ दक्षिण-पूर्व मे मीकाग नदी की घाटी मे तथा द्वारवती (तुनसुन) के प्रदेश मे चला जाता था। अन्य दो मार्ग टेवाय और मरगुई से स्याम की खाडी मे उतरते थे। सलग्न मानचित्र मे इन सब मार्गों को प्रदर्शित किया गया है।

तीन प्रकार के उपनिवेश—इस प्रदेश मे भारतीय उपनिवेशो की स्थापना मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्यक्तियो ने की। ये व्यापारी, राजकुमार और ऋषि-मुनि तथा धर्मप्रचारक थे। इस प्रदेश का पुराना नाम सुवर्णभूमि था। इसके विभिन्न भागो को सुवर्णद्वीप, सुवर्णकूट, सुवर्णकुडय, हेमकूट आदि नाम दिये गये थे। य सब

नाम इस प्रदेश मे सोने की सत्ता को सूचित करते है। इसी प्रकार कुछ अन्य नाम रूप्यकद्वीप, ताम्रद्वीप, यवद्वीप, शखद्वीप, कर्पूरद्वीप, नारिकेलद्वीप आदि नाम यहाँ होने वाले चाँदी, ताँबा आदि खनिज पदार्थों और व्यापारिक वस्तुओ को सूचित करते है। इस प्रदेश मे गरम मसाले भी पाये जाते थे। जिस प्रकार मध्ययुग में योरोप के कोलम्बस, वास्कोडिगामा आदि साहसी यात्रियो ने मसालो की प्राप्ति और व्यापार के लिए पूर्वी देशो के साथ व्यापार आरम्भ किया था, उसी प्रकार ईसा की आरम्भिक शताब्दियो में रोमन साम्राज्य मे मसालो तथा पूर्वी देशो की वस्तुओं की माँग बढ़ जाने के कारण इस प्रदेश के साथ भारत के व्यापार को प्रबल प्रोत्साहन मिला और व्यापारी भीषण कष्ट उठाते हुए इन प्रदेशो की यात्रा करने इनके लगे। साथ ही यहाँ भारतीय संस्कृति पहुंचने लगी।

यहाँ राज्य स्थापित करने वाला दूसरा वर्ग भारत के क्षत्रिय राजकुमारो का है। इस प्रदेश के अनेक राज्यो के प्राचीन इतिहासो मे ऐसी अनुश्रुतियो का उल्लेख है जिनके अनुसार भारतीय राजाओ ने यहाँ अनेक राज्य स्थापित किये थे। बर्मी इतिहासो के अनुसार कपिलवस्तु का शाक्यवशी राजकुमार अभिराज अपनी एक सेना के साथ उत्तरी बर्मा मे आया था, उसने इरावदी की उपरली घाटी मे सकिस्सा (तगौग) के नगर की स्थापना की, इसके आसपास के प्रदेश पर अपना शासन स्थापित किया। उसके बड़े बेटे ने अराकान मे अपने राज्य की स्थापना की और छोटा भाई सकिस्सा मे ही शासन करता रहा। इसके ३१ पीढी बाद बुद्ध के समय मे गगा नदी के प्रदेश से यहाँ क्षत्रियों का दूसरा समूह आया। सोलह पीढी तक शासन करने के बाद इसने उत्तरी-बर्मा मे प्रोम के निकट श्रीक्षेत्र को राजधानी बनाया। दक्षिणी बर्मा के समुद्रतटीय प्रदेशो में बसे हुए मोन अथवा तलैंग लोगो मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि अत्यन्त प्राचीनकाल मे भारतीय उपनिवेशक कृष्णा और गोदावरी नदियों के निचले प्रदेशो से समुद्र पार करके यहाँ आये थे और इरावदी नदी के मुहाने मे बस गये थे। युन्नान (दक्षिणी चीन) की स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार यहाँ शासन करने वाले राजवश का मूल पुरुष अशोक था। अराकान की दतकथाओ के अनुसार इस देश का पहला राजा वाराणसी के राजा का पुत्र था। मलाया प्रायद्वीप में लिगोर के राज्य की स्थापना का श्रेय अशोक के एक वशज को दिया जाता है। कम्बोडिया के पुराने इतिहासों के अनुसार इन्द्रप्रस्थ का राजा आदित्यवश अपने पुत्र से रुष्ट हो गया, उसने उसे अपने राज्य से निकाल दिया। इस निर्वासित राजपुत्र ने कम्बोडिया जीता और यह वहाँ का पहला राजा बना। जावा मे प्रचलित अनुश्रुति के

अनुसार इस टापू को बसाने वाला अजिशक गुजरात से आया था। भारत में बड़े लड़के के गद्दी पर बैठने के नियम के कारण अनेक साहसी राजकुमार अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना करना चाहते थे। उन्हें इस क्षेत्र में अपने शौर्य के प्रदर्शन करने का स्वर्ण अवसर मिलता था। ऐसे राजकुमारों और क्षत्रियों ने यहाँ अनेक राज्यों की स्थापना की।

तीसरे प्रकार के उपनिवेशक ऋषि-मुनि होते थे। चम्पा के एक पुराने अभिलेख में यह बताया गया है कि शिव ने स्वर्गलोक से उरोज नामक ऋषि को चम्पा का राजा बनाकर भेजा। कम्बोडिया के बारे में कौण्डिन्य की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। यह कहा जाता है कि उसके आगमन से पहले फूनान (कम्बोडिया) के नर-नारी नंगे घूमा करते थे। उसने यहाँ राज्य की स्थापना की और इन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में उपनिवेशन का मार्ग सर्वप्रथम व्यापारियों ने खोला, वे अपनी व्यापारिक वस्तुओं के साथ इन देशों में भारत के धर्म, भाषा और संस्कृति को ले गये। उसके बाद अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर भारत के साहसी राजकुमारों और क्षत्रियों ने यहाँ अनेक राज्य स्थापित किए और ऋषि-मुनियों तथा-धर्म प्रचारकों ने यहाँ अपने धर्म और संस्कृति का विस्तार किया। आगे बताई जाने वाली कौण्डिन्य की कथा से यह स्पष्ट होगा कि भारतीय व्यापारी और उपनिवेशक यहाँ बस जाते थे, यहाँ की स्त्रियों से विवाह कर लेते थे और उनके माध्यम से यहाँ हिन्दू धर्म का प्रभाव सुदृढ़ हो जाता था।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में भारतीयों ने सर्वप्रथम फूनान और चम्पा के राज्य स्थापित किए। अब इनका संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

फूनान

यह वर्तमान कम्बोडिया राज्य में कोचीन-चीन नामक प्रान्त में मीकाग नदी की निचली घाटी और इसके डेल्टा के प्रदेश में था। अपने अधिकतम गौरवपूर्ण काल में इसमें दक्षिणी वियतनाम, मीकाग नदी की घाटी का मध्यवर्ती भाग, मीनम की घाटी का बड़ा भाग और मलाया प्रायद्वीप सम्मिलित था। उस समय इसकी राजधानी संभवतः व्याधपुर थी, यह इसके चीनी नाम तो-मू (ख्मेर दमका या दलम्बक) शब्द का अनुवाद है। यह कम्बोडिया के प्रेइवेंग प्रान्त में बनम नामक गाँव के निकट अवस्थित थी। यहाँ प्राचीन काल में ख्मेर जाति बसी हुई थी। इनकी भाषा में बनम अथवा आधुनिक फनोम का अर्थ पर्वत होता है।

कौण्डिन्य द्वारा राज्य की स्थापना—फूनान की स्थापना के सम्बन्ध में चीन, चम्पा और कम्बोडिया के इतिहासों में चार प्रकार के वर्णन मिलते हैं। पहला वर्णन इस देश में तीसरी शताब्दी ई० के मध्य में आने वाले दो चीनी राजदूतों कागताई और चू यिंग ने किया है। इनके अनुसार इस देश का पहला राजा हुएन-तियेन (कौण्डिन्य) था। यह सम्भवत भारत अथवा मलाया के प्रायद्वीप से यहाँ आया था। ऐसा कहा जाता है कि स्वप्न में इसे देवता ने यह आदेश दिया कि वह धनुष लेकर एक वणिक्पोत पर सवार हो तथा समुद्र-यात्रा करे। प्रातःकाल मन्दिर में जाकर उसने एक धनुष प्राप्त किया और जहाज पर सवार हो गया। देवता ने वायु का मार्ग इस प्रकार बदल दिया कि उसका जहाज फूनान के तट पर आ लगा। उस समय यहाँ लीउ-ये नामक रानी का शासन था। उसने जहाज को लूटने का प्रयत्न किया, किन्तु कौण्डिन्य के दिव्य धनुष के कारण उसे शीघ्र ही पराजित होना पड़ा। उसने हुएन-तियेन से हार मान ली, वह उसकी रानी बन गई। दूसरी अनुश्रुति चम्पा देश में मिलती है। यहाँ के ६५७ ई० के एक अभिलेख में यह कहा गया है कि कम्बुज देश की राजधानी भवपुर की स्थापना कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण ने की थी। उसने द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त शूल को यहाँ स्थापित किया। उस समय यहाँ नागराज की सोमा नामक कन्या थी। उसने इसके प्रति-प्रेम के कारण नारी का रूप धारण किया और द्विजपुंगव कौण्डिन्य ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार किया।

इस राज्य की स्थापना के विषय में दो अन्य अनुश्रुतियाँ कम्बोडिया के इतिहास में पाई जाती हैं। इनमें से पहली अनुश्रुति के अनुसार इन्द्रप्रस्थ का राजा आदित्यवंश अपने पुत्र से रुष्ट हो गया। उसने उसे अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। यह वहाँ से कोकलोक नामक राज्य में चला आया और वहाँ के राजा को हराकर उस प्रदेश का स्वामी बना। एक बार सध्या-काल में समुद्रतट पर घूमते हुए उसे वहाँ रात्रि बितानी पड़ी। रात के समय वहाँ एक अनुपम सुन्दरी नाग-कन्या आई, राजा ने उसके रूप से मुग्ध होकर उसके साथ विवाह करने का निश्चय किया। कन्या के पिता नागराज ने समुद्र के जल का पान करके अपने भावी दामाद के राज्य का विस्तार किया। यही प्रदेश बाद में कम्बोज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार इस देश का उपनिवेशन कम्बु नामक व्यक्ति ने किया। उन दिनों यह प्रदेश बड़ा बियाबान, उजाड़ मरुस्थल था। कम्बु को यहाँ आने पर एक महान सर्प दिखाई दिया। जब उसे मारने के लिये कम्बु ने म्यान से तलवार

निकाली तो उसने मनुष्य की वाणी में उसका निवासस्थान पूछा। कम्बु की बात सुनकर उसने यह कहा कि "मैं नागराज हूँ, शिव मेरा स्वामी है। तुम मेरे साथ यहाँ रहकर दुःख दूर करो।" कुछ समय बाद नागराज की कन्या से कम्बु का विवाह हो गया। उसने अपनी मन्त्र-शक्तिके प्रभाव से उस उजाड बियाबान मरुस्थल को हरा भरा प्रदेश बना दिया। कम्बु उस देश का शासक बना और उसके नाम से इस देश को कम्बुज कहा जाने लगा।

उपर्युक्त अनुश्रुतियों से यह प्रतीत होता है कि फूनान के राज्य का संस्थापक भारत से आने वाला कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण था। उसने यहाँ के प्रदेश में बस कर यहाँ के मूल निवासियों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया। चीनी इतिहासों के अनुसार कौण्डिन्य के आने से पहले यहाँ के निवासी बर्बर दशा में नंगे घूमा करते थे, उसने उन्हें सभ्यता का पाठ पढाया और वस्त्रों का धारण करना सिखाया। कौण्डिन्य के आगमन की घटना पहली शताब्दी ई० की समझी जाती है।

कौण्डिन्य के उत्तराधिकारी—चीनी इतिहासों में कौण्डिन्य के वंश में होने वाले अनेक राजाओं का वर्णन दिया गया है। कौण्डिन्य का एक उत्तराधिकारी हुएन पान-हुआंग (Huen P'an-Huang) था। इसकी मृत्यु ९० वर्ष की परिपक्व आयु में हुई। इसका उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र पानपान था। उसने अपने राज्य का समूचा शासनकार्य अपने महान सेनापति फन-शे-मन (Fan She-man) को सौंप दिया। तीन वर्ष तक शासन करने के बाद पानपान की मृत्यु हुई तो वहाँ की जनता ने फन-शे-मन को अपना राजा चुना (लगभग २०० ई०)।

नया राजा बड़ा साहसी और योग्य शासक था। उसने शक्तिशाली नौसेना एकत्र की, अपने पड़ोसी राज्यों को जीत कर 'फूनान के महान राजा' की उपाधि धारण की, बड़े-बड़े जलपोतों का निर्माण कराया और १० से अधिक देशों पर आक्रमण किया। चीनी इतिहासों के अनुसार जब उसने किन-लिन अर्थात् सुवर्ण के सीमान्त नामक देश पर चढ़ाई की तब इसमें उसकी मृत्यु हो गई। इस देश को पालि ग्रन्थों का सुवर्णभूमि अथवा संस्कृत ग्रन्थों का सुवर्णकुड्य नामक देश समझा जाता है। यह संभवतः दक्षिणी बर्मा अथवा मलाया का प्रायद्वीप था। फन-शे-मन के समय में लगभग सारा स्याम, लाओस के कुछ भाग और मलाया प्रायद्वीप फूनान की प्रभुता स्वीकार करने लगे थे। यह हिन्दचीन प्रायद्वीप में पहला शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य था। इस राज्य के राजाओं के साथ चीनी फन शब्द जोड़ते है, यह संस्कृत के वर्मा शब्द का चीनी रूप माना जाता है।

फन-शे-मन की मृत्यु के बाद फन-चन ने उसके वैध उत्तराधिकारी किन-शेग को मारकर राजगद्दी प्राप्त की। यह पिछले राजा का भतीजा था। लगभग २० वर्ष बाद फन-शे-मन के एक पुत्र चाग ने पिता की हत्या कर दी, किन्तु चाग भी अधिक दिनो तक गद्दी पर नही बैठ सका। उसके सेनापति फन-सिअन ने उसकी हत्या करके अपने राजा होने की घोषणा की। ये घटनाए २२५ से २५० ई० के बीच मे हुईं।

इस समय की एक अन्य उल्लेखनीय घटना फूनान और भारत के राजाओ मे राजदूतो का आदान-प्रदान था। चीनी विवरणो के अनुसार इस समय पश्चिमी भारत के एक राज्य तान-यग से कियामियागली नामक एक भारतीय फूनान आया था। उसने फन-चन को भारत के बारे मे अनेक आश्चर्यजनक बाते बताई और यह कहा कि भारत आने-जाने मे तीन चार वर्ष का समय लगता है। सम्भवत इसके परामर्श से फूनान के राजा ने अपने एक सम्बन्धी सू-वू को अपना राजदूत बनाकर भारत भेजा। तेऊ-किऊ-ली (Teu-kiu-li) या तक्कोल के बन्दरगाह से सू-वू जहाज पर सवार हुआ, लम्बी समुद्र-यात्रा के बाद एक बडी नदी (सम्भवत. गगा) के मुहाने पर पहुचा, यहाँ से वह नदी के ऊपर की ओर चल कर मेऊ लुएन (Meu-luen) या मुरुण्ड जाति के राजा की राजधानी मे पहुँचा। इस राजा ने उसका स्वागत किया, उसे अपने राज्य मे भ्रमण की सुविधा प्रदान की और स्वदेश लौटते समय इसे उत्तर इन्डोसीथिया (सम्भवत. सिन्धु प्रदेश) के चार घोडो की भेट दी। सू-वू चार वर्ष बाद फूनान लौटा। फन-चन ने २४३ ई० मे अपना एक दूत-मण्डल अपने देश की बहुमूल्य वस्तुओ और संगीतज्ञो के साथ चीनी सम्राट की सेवा मे भेजा। इसी समय २४५ से २५० के बीच मे चीनी सम्राट के दो दूत काग-ताई और चू-यिग फूनान आये। उन्होने मुरुण्ड राजा के दरबार से लौटे दूत से भेट की तथा उपर्युक्त घटनाओ का वर्णन किया। काग-ताई ने यह भी लिखा है कि फूनान के लोग नगे घूमा करते थे। किन्तु वहाँ के राजा ने उन्हें सभ्यता का पाठ पढाया और वस्त्र पहनना सिखाया। फनचन के बाद फनसिउन फूनान की गद्दी पर बैठा। उस राजा ने बड़े लम्बे समय तक शासन किया, सन् २६८, २८५, २८६ तथा २८७ ई० के वर्षो में उसने अपने दूत-मण्डल चीन भेजे।

फूनान मे इस समय भारतीय संस्कृति के प्रसार का परिचय वहाँ के प्राचीन अभिलेखो से और चीनी इतिहासो से मिलता है। इनसे यह प्रतीत होता है कि वहाँ पौराणिक हिन्दू-धर्म का तथा बौद्ध-धर्म का प्रचार हो चुका था। यहाँ के दो प्राचीन

अभिलेखों में विष्णु की स्तुति और उसकी मूर्ति का उल्लेख है और तीसरे लेख में बौद्ध-विहार के लिए दिए गए दान का वर्णन है। पहले दो अभिलेख यह सूचित करते हैं कि उस समय यहाँ वैष्णव-धर्म का प्रसार हो चुका था। भक्ति और कर्म के सिद्धान्त प्रचलित थे, क्योंकि एक लेख में यह बताया गया है कि विष्णु का भक्त एक बार यदि मन्दिर में प्रविष्ट हो जायें तो वह सब पापों से मुक्त हो जाता है और विष्णुपद को प्राप्त होता है।[1] यहाँ के प्राचीन लेखों में प्रयुक्त की जाने वाली संस्कृत भाषा और इनकी काव्यात्मक शैली यह सूचित करती है कि यहाँ संस्कृत के अध्ययन की परिपाटी प्रचलित थी और यहाँ के निवासी पौराणिक और बौद्धधर्मों के अनुयायी थे।

चम्पा

हिन्दचीन के प्रायद्वीप में दूसरा भारतीय उपनिवेश चम्पा था। यह वर्तमान अन्नाम या वियतनाम के प्रदेश में समुद्रतट के साथ-साथ अवस्थित था। इसकी राजधानी चम्पानगरी अथवा चम्पापुर थी। इसके अवशेष क्वागनाम के दक्षिण में त्राक्यु नामक स्थान में मिले है। चम्पा के प्राचीन निवासी चम कहलाते थे। इस प्रदेश का पहला राजा हिन्दू राजा वोचन्ह के अभिलेख के अनुसार श्रीमार था। दूसरी शताब्दी ई० के अन्त में इसने यहाँ अपने राज्य की स्थापना की थी। चीनी इतिहासों के अनुसार यह राज्य १९२ ई० में स्थापित किया गया था। इसके अनुसार चीनी सम्राटों की निर्बलता का लाभ उठाते हुए जेनान (टांनकिन) के प्रान्त में किउलियेन नामक व्यक्ति ने अपना राज्य स्थापित किया। उसने सियांगलिन (आधुनिक थुआथियेन) के दक्षिणी प्रदेश में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। चीनी इस राज्य को सियागल्लिनयी (सियागल्लिन की राजधानी) अथवा **लिनयी** का राज्य कहते है।

इस राज्य का चम्पा नाम हमें सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी के अभिलेखों में मिलता है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह नाम बहुत पुराना है। विभिन्न अभिलेखों से यह प्रतीत होता है कि चम्पा के प्रमुख राजनीतिक विभाग और केन्द्र निम्नलिखित थे—(१) उत्तर में अमरावती (क्वागनाम), इसके प्रधान नगर चम्पा (त्राक्यू) तथा इन्द्रपुर (दोंगदुओंग) थे। (२) मध्य भाग में विजय (बिन्ह दिन्ह) का प्रान्त था, इसके प्रधान नगर का नाम भी विजय था। (३) दक्षिण में पाण्डु-

१. रमेशचन्द्र मजूमदार इन्सक्रिप्शन्स ऑफ कम्बुज पृ० ५।
तद्भक्तोऽधिवसेत विशेदपि च वा तुष्टान्तरात्मा जन.।
मुक्तो दुष्कृतकर्मण: स परम गच्छेत् पद वैष्णवम्॥

रंग (फनरग या बिन्हथुआन) का प्रदेश था। इसका एक भाग कौठार (कन्हहोआ) कई बार स्वतन्त्र हो चुका था।

२२० ई० मे चीन मे हान वश का पतन हुआ। इससे चम्पा के हिन्दू राजाओ को अपने राज्य को फैलाने और सुदृढ करने का स्वर्ण अवसर मिला। २२० और २३० ई० के बीच मे चीनी इतिहासो के अनुसार लिनयी (चम्पा) के राजा ने किआओचे (टोनकिन) के राज्यपाल की सेवा मे अपने दूत भेजे। इस प्रसंग मे हमे पहली बार लिनयी और फूनान के नामो का उल्लेख मिलता है। चीनियो ने इनके राज्यविस्तार को रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु चम राजा इन्हें विफल करते रहे। २४८ ई० में चम्पा के राजाओ ने चीनियो के एक समुद्री बेड़े को हरा दिया और इसके बाद हुई सधि मे चम्पा को किउसू (थुआथियेन) का प्रदेश मिला।

चम्पा के हिन्दू राजाओ का आरम्भिक इतिहास हमे फूनान की भाँति चीनी विवरणो से ज्ञात होता है। ये यहाँ फन (वर्मा) नामधारी राजाओ का वर्णन करते है। २७०-२८० के बीच मे चम्पा की गद्दी पर फन-हिओग नामक राजा गद्दी पर बैठा। यह श्रीमार (किउलिएन) की लडकी का पोता था। इसने फून के राजा के साथ मिलकर उत्तर में चीनियो पर हमला करते हुए अपने राज्य के विस्तार की पुरानी नीति जारी रखी। यह टोनकिन पर हमले करता रहा। १० वर्ष तक यह सघर्ष चलता रहा, अन्त मे चीनियो को सधि करने के लिए विवश होना पड़ा।

फन-हिओग के बाद उसका पुत्र फन-यी गद्दी पर बैठा। इसने ५० वर्ष के सुदीर्घ काल तक शान्तिपूर्ण रीति से शासन किया, अपने राज्य की सैनिक शक्ति बढाने का पूरा प्रयास किया। २८४ ई० मे इसने पहली बार चीन के सम्राट के पास अपना दूत-मण्डल भेजा। चम्पा में ३१५ ई० के बाद आकर बसने वाले वेन नामक चीनी को इस राजा ने अपना परामर्शदाता बनाया। यह बाद मे इसका सेनापति बन गया और ३३६ ई० मे फन-यी की मृत्यु के बाद इसने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया।

यवद्वीप:--जावा के हिन्दू राज्य का आरम्भिक इतिहास अज्ञात है। अधिकांश विद्वान् रामायण मे वर्णित यवद्वीप को जावा का टापू समझते है और टालमी द्वारा दूसरी शताब्दी ई० मे वर्णित इआबदिउ (Iabadiu) को इससे अभिन्न मानते हैं। इन दोनों निर्देशो से यह ज्ञात होता हैं कि ईसा की पहली दो शताब्दियो में

यहाँ एक हिन्दू राज्य स्थापित हो चुका था। यहाँ की स्थानीय अनुश्रुतियो के अनुसार यहाँ का पहला राजा अजिसक था, और यह गुजरात से आया था।[1]

हानवश के चीनी इतिहासो मे १३२ ई० मे ये-तिआओ के राजा तिआओ-पियेन (देववर्मा) द्वारा सम्राट के पास एक दूतमण्डल भेजने का वर्णन है। विद्वानो ने ये-तिआओ की पहचान यवद्वीप से की है। कागताई ने फूनान का वर्णन करते हुए उसके पूर्व मे चू-पो तथा मा-वू (माली) नामक दो टापुओ का वर्णन किया है। इनकी पहचान जावा और बालि से की जाती है। पाँचवी शताब्दी ई० मे फाहियान ने भी इस टापू का उल्लेख यू पो के नाम से किया है। तीसरी शताब्दी ई० तक इस टापू के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बहुत कम है।

---

१. रमेशचन्द्र मजूमदार सुवर्णद्वीप खण्ड १ पृ० ६४।

प्रसिद्ध घटनाओं का तिथिक्रम तथा वंशावलीतालिकायें

घटनाओ का क्रम सुबोध और स्पष्ट करने के लिए यहाँ शुग युग से पहले की तथा भारत के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले ईरान, रोम, चीन आदि अन्य देशों की कुछ समसामयिक घटनाओ तथा राजाओ के शासन काल का भी उल्लेख किया गया है।

ईस्वी पूर्व	
३२७	भारत पर सिकन्दर का आक्रमण ।
३२५	सिकन्दर का भारत से वापिस लौटना ।
३२५–२३	चन्द्रगुप्त का स्वतन्त्रता सग्राम, मगध की विजय तथा सिकन्दर की मृत्यु
३१२	सेल्यूकस निकेटर का सीरिया का सम्राट बनना, नया संवत् चलाना ।
३०४	सेल्यूकस का भारत पर आक्रमण, चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ सन्धि, मेगस्थनीज का चन्द्रगुप्त के दरबार मे दूत बन कर आना।
२९९	चन्द्रगुप्त का दक्षिण जाना।
२९९–७४ या ७२	बिन्दुसार का राज्यकाल।
२७४ या २७२	अशोक का राज्यारोहण।
२६४–६३	कलिग युद्ध ।
२५१	पाटलिपुत्र की तीसरी बौद्ध महासभा ।
२५०	बैक्ट्रिया के राजा डियोडोटस का स्वतन्त्र होना।
२३६–३०	अशोक की मृत्यु, सातवाहन वश की स्थापना, सिमुक का राज्यारोहण।
२२३–१८७	एण्टिओकस तृतीय अथवा महान का राज्यकाल।
२२१–२०९	चीन का पहला त्सिनवश ।
२१७	चीनी अनुश्रुति के अनुसार बौद्ध धर्म के प्रचारको का भारत से चीन जाना

ईस्वी पूर्व	
२०८	एण्टिओकस तृतीय की बैक्ट्रिया पर चढाई।
२०६	डिमेट्रियस का एण्टिओकस तृतीय से सन्धि करना।
२१२–१९५	सातवाहनवशी कन्ह (कृष्ण) का शासन।
२००	शालिशुक का शासन।
१९६–१८०	कलिगराज खारवेल।
१९४–१८५	श्री सातकर्णी।
१९४–१९२	खारवेल की पश्चिमी प्रदेशो पर चढाई
१९०	नील नदी और रक्त सागर को जोडने वाली नहर का बनाया जाना। यूथिडीमस की मृत्यु, डिमेट्रियस का बैक्ट्रिया का
१९०–१८०	राजा बनना। डिमेट्रियस का भारत पर आक्रमण, पजाब औरसिन्ध के प्रान्तो की विजय।
१८३–१४८	पुष्यमित्र शुग का राज्यकाल।
१८४–१६७	सतिसिरी (शक्तिकुमार) नामक सातवाहन वशी राजा का शासन।
१६५	हियगनू जाति द्वारा युइचि जाति को हराना और चीनी तुर्किस्तान से भगाना।
१८६–१११	सातकर्णी द्वितीय।
१६०–१५६	डिमेट्रियस और यूक्रेटाइडीज का युद्ध।
१५५	मिनान्डर का भारत पर आक्रमण।
१५०	शको का दक्षिण की ओर प्रवास, एरियन द्वारा इडिका का लिखा जाना।
१४८–१४०	अग्निमित्र का शासन।
१४५	मिनान्डर की मृत्यु।
१३८–१२८	पार्थियन राजा फ्रातेस द्वितीय।
१२८–१२३	पार्थिया का राजा अर्त्तबानस प्रथम।
१२५	चीनी राजदूत चागकियेन का युइचि लोगो की राजधानी में आना। युइचि लोगो का आमू नदी के उत्तर मे शासन करना।
१२५–१००	एण्टियल्किडस का शासन।

१२३-८८ पार्थिया का राजा मिथ्रदात द्वितीय।

१२१ एक चीनी सेनापति द्वारा मध्य एशिया में चढ़ाई और बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा चीन लाना।

११४-८२ शुंगवंशी राजा भागवत का शासन।

१००-५० शकों द्वारा काठियावाड़ और मालवा की विजय।

८२-७२ शुंगवंश का अन्तिम राजा देवभूति।

७५-५० मोअ (मोग)

७२-६३ वासुदेव कण्व।

६९-६० वोनोनीज।

६३-४९ भूमित्र।

६३-२५ लियक कुसूलक।

५०-४० स्पलिहोरिस तथा स्पलगदनेश।

५० अय प्रथम (एजेस प्रथम)

५० अन्तिम हिन्द यूनानी राजा हर्मीज।

४९-३७ नारायण

५८-२८ स्ट्रैबो

२७ ई० पू०-६८ ई० आगस्टस से नीरो तक शासन करने वाले रोमन सम्राट।

३७-२७ सुशर्मा

२५-१ महाक्षत्रप पतिक।

२ ई० पू० आमू नदी के युइचि शासक द्वारा चीनी दरबार में बौद्ध धर्म ईस्वी सन् की पोथियों की भेंट भेजना।

१ १-६ चीनी सम्राट द्वारा हुआग-ची (कांची) के राजा को उपहार भेजना।

१०-४० पार्थिया का राजा अर्तबानस तृतीय।

१४-३७ रोम का सम्राट टाइबेरियस।

१५ मथुरा का महाक्षत्रप शोडास।

१९-४६ गोण्डोफर्नीज।

२०-२४ सातवाहनवंशी राजा हाल

२५-६४ कुषाण राजा कुजुल कदफिसस।

२५-४६ आनसी (ईरान) के प्रदेश की कुषाणों द्वारा विजय

ईस्वी सन्	
२५–७१	सातवाहनवंशी सुन्दर सातकर्णी, चकोर सातकर्णी, शिवस्वाती
३५–९०	क्षत्रपो द्वारा सातवाहन प्रदेश पर चढ़ाई।
४१–५४	रोमन सम्राट क्लाडियस।
४३–४४	टियाना के अपोलोनियस का तक्षशिला आना।
४५	हिप्पलास द्वारा मानसून हवाओ की खोज।
४६–५६	अब्दगसिस।
६४–७८	विम कदफिसस का शासनकाल।
६५	विमकदफिसस द्वारा तक्षशिला और पजाब की विजय।
७०–८०	मिश्रनिवासी एक यूनानी नाविक द्वारा पेरिप्ल सआफ एरिथ्रियन सी नामक ग्रन्थ का लिखा जाना।
७२–९५	गौतमीपुत्र श्री सातकर्णी (ए० इ० यू० १०६–१३० ई०)
७७	प्लिनी द्वारा नेचुरल हिस्टरी नामक ग्रन्थ का पूरा करना।
७८	शक सवत् का प्रवर्तन।
७८–१०१	कनिष्क का राज्यकाल।
८०–८८	सारनाथ की विजय।
८९	जेदा अभिलेख, चौथी बौद्ध महासभा का बुलाया जाना।
९८–११७	रोम का सम्राट ट्राजन।
१०१	कनिष्क की उत्तरी प्रदेशो पर चढ़ाई और मृत्यु।
१०१–१०६	वासिष्क।
१०६–१३८	हुविष्क।
११९	कनिष्क द्वितीय।
१२०–१४९	श्रीसातकर्णी।
१३०	चष्टन तथा रुद्रदामा।
१३०–१५०	रुद्रदामा द्वारा पश्चिमी भारत के प्रदेशो की विजय।
१४०	टालमी द्वारा भूगोल (ज्योग्रफी) नामक ग्रन्थ का लिखा जाना।
१४०–१५०	रुद्रदामा का महाक्षत्रप बनना।
१५०	रुद्रदामा का जूनागढ़ अभिलेख।
१५०–१५६	शिव श्री पुलुमायि।
१५२–१७६–७	वासुदेव प्रथम।
१५९–१६५	कौशाम्बी का राजा कौशकीपुत्र भद्रमग।

ईस्वी सन्	
१६०–१८९	यज्ञ श्रीसातकर्णी ।
१६४–१६६	कौत्सीपुत्र प्रौष्ठश्री नामक मघ राजा।
१७८	महाक्षत्रप जीवदामा।
१८०–२१०	कनिष्क तृतीय।
१८०–२५०	फिलोस्ट्रेटस।
१८१–१८९	महाक्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम
१८३–२२५	माठरीपुत्र स्वामी शकसेन, विजय, श्रीचण्ड सातकर्णी, पुलुमायी चतुर्थ।
१८५	कौशाम्बी का महाराज वैश्रवण।
१८८–१९०	ईश्वरदत्त की मुद्राओ की तिथि भंडारकर के मतानुसार।
२००	बोधि वंश की स्थापना।
२१०–२३०	वासुदेव द्वितीय।
२२६–२४१	सासानी राजवंश के सम्थापक अर्दशीर प्रथम का शासन।
२३०	युइचि राजा पोतिआओ द्वारा चीन के सम्राट के पास राजदूत भेजना।
२२५–२५०	इक्ष्वाकु राजा शान्तमूल प्रथम।
२३७–२४०	रैप्सन के मतानुमार ईश्वरदत्त की मुद्राओ का समय।
२४८–२४९	ईश्वरसेन द्वारा कलचुरी अथवा चेदि सवत का चलाना।
२४७	सेगहुई (सघभद्र) द्वारा नानकिग मे बौद्ध मठ की स्थापना करना।
२५०	सातवाहनो के सामन्तो द्वारा कुन्तल प्रदेश मे राज्य करना।
२५०–२७५	इक्ष्वाकुराजा वीर पुरुषदत्त।
२५५–२५७	मारजीवक द्वारा बौद्ध ग्रन्थो का अनुवाद
२५५–२७५	वाकाटक राजा विन्ध्यशक्ति प्रथम।
३००	बृहत्फलायन वश का राजा जयवर्मा, सिंहवर्मा पल्लव, पल्लवों द्वारा आन्ध्र प्रदेश की विजय और इक्ष्वाकु राजवश की समाप्ति।

वंशावली

यहाँ पुराणों के अनुसार विभिन्न वंशावलियों की तालिकाएं दी जा रही हैं। राजाओं के सामने कोष्ठो मे उनके राज्य काल के वर्षों का उल्लेख है।

शुग वंश

१—पुष्यमित्र (३६)
२—अग्निमित्र (८)
३—सुज्येष्ठ अथवा वसुज्येष्ठ (७)
४—वसुमित्र (१०)
५—अन्धक (भद्रक, अर्द्रक, अन्तक) (२)
६—पुलिन्दक (३)
७—घोष (अथवा घोष वसु) (३)
८—वज्र मित्र (९)
९—भागवत (३२)
१०—देवभूति (१०)

काण्व वंश

१—वसुदेव (९)
२—भूमिमित्र (१४)
३—नारायण (१२)
४—सुशर्मा (१०)

सातवाहन राजाओ की तथा पश्चिमी क्षत्रप राजाओ की वशावलिया दी गई है।

शक राजा

१—मोअ
२—अजेस (अय प्रथम)
३—अजीलिसेस
४—अजेस (अय द्वितीय)

कुषाण राजा

१—कुजुल कदफिसस प्रथम
२—विम कदफिसस द्वितीय
३—कनिष्क प्रथम
४—वासिष्क प्रथम

५—हुविष्क
६—कनिष्क द्वितीय
७—वासुदेव प्रथम
८—कनिष्क तृतीय
९—वासुदेव द्वितीय

सहायक ग्रन्थ सूची

सामान्य ग्रन्थ

(क) प्राचीन भारत के इतिहास

(अ) **अंग्रेजी भाषा में लिखे ग्रन्थ—**

बारनेट, एल० डी०—एण्टीक्विटीज आफ इण्डिया लन्दन १९१३

मेस्सोन, ओरसैल तथा अन्य—एशेण्ट इण्डिया, लन्दन १९३४

रैप्सन, ई० जे०—कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया, खण्ड १

रैप्सन, ई० जे०—एशेण्ट इण्डिया, कैम्ब्रिज १९२२।

रायचौधरी, एच० सी०—पोलिटिकल हिस्टरी आफ इण्डिया, चतुर्थ सम्करण, कलकत्ता १९३८।

नीलकंठ शास्त्री, के० ए०—हिस्टरी आफ इण्डिया, खण्ड १, एशेण्ट इण्डिया मद्रास १९५०

स्मिथ, वी० ए०—अर्ली हिस्टरी आफ इण्डिया, चतुर्थ सशोधित संस्करण १९२४।

स्मिथ—हिस्टरी आफ इण्डिया, तृतीय सस्करण १९५८।

मजूमदार तथा पुसल्कर—दी वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

" " " दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५३।

नीलकंठ शास्त्री—ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी आफ इण्डिया, खण्ड २, दि मौर्याज एण्ड सातवाहनाज, ओरियन्ट लागमैन्स दिसम्बर १९५७।

एलन, हेग, डाडवेल—दी कैम्ब्रिज शार्टर हिस्टरी आफ इण्डिया, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३४।

सुधाकर चट्टोपाध्याय—अर्ली हिस्टरी आफ नार्थ इण्डिया। (लगभग २०० ई० पू० से ६५०) ई०। —एकेडेमिक पब्लिशर्स कलकत्ता, द्वि० स० १९३८।

(आ) **हिन्दी भाषा के ग्रन्थ:—**

रमेशचन्द्र मजूमदार—प्राचीन भारत, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२

जयचन्द्र विद्यालकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द १-२, हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद १९४२।

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल—पतजलिकालीन भारत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना, १९६३।

चन्द्रभान पाण्डेय—आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग-हाउस दिल्ली १९६३।

विमल चन्द्र पाण्डेय—प्राचीन भारत का राजनैनिक तथा सास्कृतिक इतिहास, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद।

मोतीचन्द्र—सार्थवाह, प्राचीन भारत की पथ पद्धति, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, १९५३।

मिराशी, डा० वासुदेव विष्णु—वाकाटक राजवश का इतिहास तथा अभिलेख, तारा पब्लिकेशन्स वाराणसी १९६४।

राजबली पाण्डेय—प्राचीन भारत, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी १९६२।

वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन भारत, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, वाराणसी स० २०१२ वि०।

मोतीचन्द्र—प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, भारती भण्डार प्रयाग, स० २००७।

प्रशान्त कुमार जायसवाल—शककालीन भारत, साधना सदन लूकर गंज इलाहाबाद, फरवरी १९६३।

राधाकुमुद मुकर्जी—प्राचीन भारत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६२।

राजबली पाण्डेय—विक्रमादित्य, चौखम्मा विद्याभवन, वाराणसी १९६०।

हरिदत्त वेदालकार—भारत का सास्कृतिक इतिहास, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली १९६२।

ए० एल० बाशम—अद्भुत भारत—शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, १९६७।

जयचन्द्र विद्यालकार—भारतीय इतिहास की मीमासा, हिन्दी भवन, जालन्धर और इलाहाबाद १९६०।

नगेन्द्रनाथ घोष एम० ए०—भारत का प्राचीन इतिहास—इडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग १९५१।

जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास प्रवेश, हिन्दी भवन जालन्धर और इलाहाबाद, १९५६-५७।

हजारी प्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, सितम्बर १९५२।

रायकृष्णदास—भारतीय मूर्ति कला, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, स० २००९।

आजकल, वार्षिक अक—बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष, पब्लिकेशन्स डिवीजन, दिल्ली १९५६।

(ख) विभिन्न अध्यायो की सहायक ग्रन्थ-सूची

प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय—अवतरणिका शुग वश तथा यवनो के आक्रमण।

मूल ग्रन्थ (१) संस्कृत तथा पालि ग्रन्थ—

अर्थशास्त्र—सम्पादक शाम शास्त्री, मैसूर १९०९, गणपति शास्त्री, ३ खड, त्रिवेन्द्रम १९२४–२५।

दिव्यावदान—रोमन लिपि मे, सम्पादक कावेल तथा नील, कैम्ब्रिज १८८६

दिव्यावदान—देवनागरी लिपि मे, पी० एल० वैद्य, दरभगा सस्कृत विश्वविद्यालय।

हर्षचरित—बाणकृत, जीवानन्द विद्यासागर तथा निर्णयसागर के सस्करण।

जैनसूत्र—अग्रेजी अनुवाद। एस० ए० याकोबी, सेक्रेड बुक्स आफ ईस्ट सीरीज, खण्ड २२, ४५ आक्सफोर्ड १८८४—९५।

जैन पट्टावलीज—इण्डियन एन्टीक्वेरी खण्ड ११, १९, २०, २१, २३

महाभारत—स्वाध्याय मण्डल पार्डी, गीताप्रेस गोरखपुर तथा भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के सस्करण

महाभाष्य—सम्पादक कीलहार्न, ३ खण्ड, बम्बई १८८०–८५

मालविकाग्निमित्र—निर्णय सागर बम्बई

मिलिन्द पन्हो मूल पालिग्रन्थ—सम्पादक व० ग्रेकनर तथा चामर्स लन्दन १८८०, अग्रेजी अनुवाद टी० डब्ल् रीस डेविस कृत। सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज, सख्या ३५–३६ आक्सफोर्ड १८९०–९४। हिन्दी अनुवाद जगदीश काश्यप कृत सारनाथ वाराणसी।

पुराण टैक्स्टस आफ दी डाइनेस्टीज आफ दी कलि एज, एफ० ई० पार्जिटर, आक्सफोर्ड १९१३।

राजतरगिणी—सम्पादक एम० ए० स्टाइन, बम्बई १८९२, अग्रेजी अनुवाद स्टाइन कृत वैस्टमिनिस्टर, पुनर्मुद्रण मुन्शीराम मनोहर लाल दिल्ली

अंग्रेजी अनुवाद आर० एस० पण्डित, १९३५, हिन्दी अनुवाद वाराणसी।

युग पुराण—सम्पादक डी० आर० मानकर, वल्लभ विद्यानगर १९५१।

जायसवाल—ज० वि० ओ० रि० सो० खण्ड १४।

अभिलेख

धनदेव का अयोध्या प्रस्तर अभिलेख, ए० इ० ख० २०, पृ० ५७।

मिनान्डर के राज्यकाल का बाजौर मन्जूषा लेख, ए० इ० स० २४–२६।

बेस नगर का गरुड स्तम्भ लेख आ० स० इ० रि०, १९०८–९, से० इ० पृ० ९६।

मोरा लेख—ज० रा० ए० सो०, १९१२, पृ० १३८

पभोसा गुहा लेख—ए० इ० २ पृ० २४२, से० इ० पृ० ९७–९८

घोसुण्डी प्रस्तर लेख से० इ० पृ० ९१–९२

मेरीडार्क थियोडोरोस का स्वात अभिलेख, का० इं० इ० खं० २—
भाग १ पृ० ४, से० इं० पृ० १०९।

खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख—ए० इ० ख० २० पृ० ७२, इ० हि० का० खण्ड १४,
पृ० २६१, इ० ए०, १०१९।

बुद्ध गया अभिलेख—इ० हि० क्वा० ख० ६, पृ० १।

मुद्राएँ

एलन, जे०—ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलाग आफ दी कायन्स आफ एशेण्ट इण्डिया, लन्दन
१९३६।

कनिघम, ए०—कायन्स आफ एशेण्ट इंडिया, लन्दन १८९१।

गार्डनर पी०—ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलोग आफ कायन्स आफ दी ग्रीक एण्ड सीथिक
किंग्स आफ बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, लन्दन १८८६।

रैप्सन—इण्डियन कायन्स, स्ट्रासबर्ग, १८९८।

ह्वाइटहैड, आर० बी०—कैटेलाग आफ दी कायन्स इन दी पंजाब म्यूजियम, आक्स-
फोर्ड १९१४।

स्मिथ वी० ए०—कैटेलाग आफ कायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता खं०
१, आक्सफोर्ड १९०६।

अमरेन्द्रनाथ लाहिडी—कार्पस आफ इण्डो ग्रीक कायन्स, पोद्दार पब्लिकेशन्स,
कलकत्ता १९६५

यूनानी और लैटिन ग्रन्थ

एरियन, एनेबेसिस एण्ड इण्डिका, अंग्रेजी अनुवाद, ई० जे० चिन्नाक, लन्दन १८९३
मिक्रिण्डल—एशेण्ट इण्डिया एज डिस्काइब्ड बाई टौलमी, सम्पादक एस० एम० मजूमदार, कलकत्ता १९२७।
मिक्रिण्डल—दि इन्वेजन आफ इण्डिया बाई एलक्जेण्डर दी ग्रेट एज डिस्काइब्ड बाई एरियन, कर्टियस, डियोडोरस, प्लूटार्क एण्ड जस्टिन, वैस्टमिंस्टर १८९६, पैरिप्लस मेरिस एरिथ्रेई, अंग्रेजी, अनुवाद डब्लू० एच० शाफ, लन्दन १९१२।
स्ट्रैबो—ज्योग्राफिका, अंग्रेजी अनुवाद एच० सी० हैमिल्टन तथा डब्ल्यू फाकनर, लन्दन १८७९–९०

तिब्बती ग्रन्थ

तारानाथ का बौद्ध धर्म का इतिहास, जर्मन अनुवाद एफ० ए० वान शीफनर सैन्ट पीटर्सबर्ग, अंग्रेजी अनुवाद, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली ख० ३, १९७२।

आधुनिक ग्रन्थ

बैनर्जी—डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आईकोनोग्राफी, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४१।
बरुआ बेनीमाधव—गया एण्ड बुद्ध गया, कलकत्ता १९३४
बरुआ बेनीमाधव—भारहुत कलकत्ता १९३४
घोष, नगेन्द्रनाथ—अर्ली हिस्टरी आफ कौशाम्बी, इलाहाबाद—१९३५।
गोपालाचारी, के०—अर्ली हिस्टरी आफ दि आंध्र कन्ट्री, मद्रास १९४१
दुब्रे उइल—एशेण्ट हिस्टरी आफ दी दक्खन, पाण्डिचेरी, १९२०।
अवधकिशोर नारायण—दी इण्डोग्रीक्स, आक्सफोर्ड—यूनिवर्सिटी प्रेस १९६२।
टार्न, डब्ल्यू०, डब्ल्यू०—दी ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज यू० प्रे० १९३८।

चौथा पाँचवाँ, छठा अध्याय

शक पहलव और पश्चिमी भारत के क्षत्रप—

(क) **चीनी ग्रन्थ**:—शू मा शियेन का शी की, अध्याय १२३, डा० हर्थ कृत अंग्रेजी अनुवाद, दी जर्नल आफ दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी खण्ड ३७, १९१७, पृ० ८९

पानकू कृत:—तिसयेन हान शू अर्थात् पहले हान वंश का इतिहास, इसके अंग्रेजी अनुवाद के लिये देखिये चायना रिव्यू खण्ड २० पृ० १ तथा १०९, खण्ड २१ पृ० १०० तथा १२९।

विली—जर्नल आफ एन्थ्रोपोलोजिकल इन्स्टीट्यूट, १८८१ पृ० २० तथा ८३०।

फन-ये कृत—हौ हान शू अर्थात् पिछले हान वश का इतिहास, इसका अनुवाद फ्रेंच विद्वान शावन्नीस ने ताग पाओ खण्ड ८, १९०७ पृ० १४९–२३४ में किया है।

(ख) **यूनानी तथा लैटिन ग्रन्थ**—पहले तीन अध्यायों की ग्रन्थ-सूची में वर्णित स्रोतों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थ उल्लेखनीय है:—

जस्टिन का ऐथिटोमा हिस्टोरिकेरम फिलिप्पीकेरम पाम्पेई ट्रो गी (अंग्रेजी अनुवाद) जे० एस० वाटसन कृत, बोन्न क्लासिकल लाइब्रेरी।

इसीडोर्स का पार्थियन स्टेशन्स, डब्ल्यू, एच०—शौफ कृत अंग्रेजी अनुवाद फिलाडेल्फिया १९१४

भारतीय तथा तिब्बती स्रोतों के लिये पहले ३ अध्यायों की ग्रन्थ-सूची देखिये।

अभिलेख

इस युग के १९२८ ई० तक उपलब्ध सभी महत्वपूर्ण खरोष्ठी अभिलेखों का सम्पादन स्टैन कोनो ने अपने ग्रन्थ कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम (भारतीय अभिलेख समुच्चय) खण्ड २ भाग १ में (कलकत्ता १९२८) में किया है। इस युग के कुछ महत्वपूर्ण अभिलेखों की सूची निम्नलिखित है।

(क) तक्षशिला के शक

दमिजड़ का शाहढौर अभिलेख—का० इ० इ० खण्ड २ भाग १ पृ० १४–१६

सवत् ६८ का मानसेरा अभिलेख—ए० इ०, खण्ड २१, पृ० २५७।

संवत् ७८ का पतिक का तक्षशिला ताम्रपत्र अभिलेख—ए० इ०, खण्ड ४, पृ० ५५, का इ० इं०, खण्ड २, पृ० २८०।

(ख) मथुरा के शक क्षत्रप

रज्जुबल और शोडास के समय का मथुरा सिंह शीर्षलेख। ए० इ०, खण्ड ९, पृ० १४१, का० इं० इं० खण्ड २, पृ० ४८।

सवत् ७२ का शोडास के समय का मथुरा का लेख,—ए० इं० खं० २, पृ० १९९, ख० ९, पृ० २४३—२४४।

शोडास के समय का मथुरा प्रस्तर लेख; ए० इं० खं० ९, पृ० २४७।

संवत् १०३ का तख्तेवाही प्रस्तर लेख—का० इं० इ० ख० २, पृ० ६२, ए० इं० ख० १८ पृ० २८२।

(ग) आरम्भिक कुषाण राजा

सम्वत् १२२ का एक कुषाण राजा का पंजतर प्रस्तर लेख—एं० इ० ख० १४, पृ० १३४, का० इं० इं० ख० २ पृ० ७०।

सवत् १३४ का कलवाँ ताम्र पत्र लेख—ए० इ० ख० २१ पृ० २५९।

सम्वत् १३६ का तक्षशिला रजतपत्री अभिलेख। का० इ० इं० ख० २ पृ० ७७। ए० इं० ख० १४ पृ० २९५।

(घ) कनिष्क वंशी राजा—कनिष्क प्रथम

सवत् २ का कौसम अभिलेख, ए० इ० ख० २४।

संवत् ३ का सारनाथ की बुद्ध मूर्ति का अभिलेख, ए० इं० ख० ७, पृ० १७३।

सवत् १० का ब्रिटिश म्यूजियम का प्रस्तर लेख, ए० इ० ख० ९, पृ० २९०।

सवत् ११ का सुई विहार ताम्रपत्र लेख, का० इ० इं० खं० २, पृ० ४१।

सवत् ११ का जैदा अभिलेख, ए० इं० ख० १९ पृ० १, का० इ० इ० भाग २ पृ० १४५।

सवत् १८ का माणिक्याला प्रस्तर लेख, का० इ० इ० भाग २ पृ० १४९।

सहेट महेट से प्राप्त दो अभिलेख, ए० इ० ख० ८ पृ० १८०, ख० ९, पृ० २९१

कुर्रम ताम्र मन्जूषा अभिलेख, का० इ० इ० ख० २ पृ० १५५, ए० इ० ख० १८, पृ० १५।

वासिष्क :—

साँची बुद्ध मूर्ति अभिलेख—संवत् २८, ए० इं०, खं० २ पृ० ३६९—७०

ईसापुर अभिलेख ल्यूडर्स की सूची सं० १३९ ए।

हुविष्क :—

मथुरा प्रस्तर लेख—संवत् १२८, ए० इं०, खं० २१ पृ० ७

मथुरा बुद्ध मूर्ति अभिलेख संवत् ३३, ए० इं० ख० ८, पृ० १८१।

मथुरा जैन मूर्ति अभिलेख—सम्वत ४४। ए० इं० खं० १, पृ० ३८७, खं० १० पृ० ११४।

लखनऊ म्यूजियम अभिलेख—सवत् ४८। ए० इं०, खं० १० पृ० ११२।

मथुरा बुद्ध मूर्ति अभिलेख—संवत् ५१। ए० इ० ख० १० पृ० ११३।

वर्दक कास्य पात्र अभिलेख—सवत् ५१। का० इ० इ० भाग २, पृ० १७०।

कनिष्क द्वितीय

आरा प्रस्तर अभिलेख—सवत् ४१। का० इ० इ० ख० २ पृ० १६५, ए० इ० खं० १४ पृ० ४३।

वासुदेव

मथुरा अभिलेख—सवत् ८०। ए० इं० ख० १ पृ० ९२ सख्या २४ ख० १० पृ० ११६ सख्या १०।

मथुरा मूर्ति अभिलेख—सवत् ६४ अथवा ६७। ए० इ० ख० ३० भाग ५, पृ० १८१।

(ङ) पश्चिमी भारत के शक

नहपान के समय के छ: नासिक गुहा अभिलेख। ए० इ० ख० ८।

नहपान के समय के कार्ले गुहा अभिलेख। आ० स० वै० इ०, ख० ४, पृ० १०१।

नहपान के समय का जुन्नर गुहा अभिलेख—सवत् ४६। आ० स० वै० इं०, ख० ४, पृ० १०३।

चष्टन तथा रुद्रदामा प्रथम के समय का अन्दौ प्रस्तर अभिलेख—सवत् ५२, ए० इं० ख० १२, पृ० २३।

रुद्रदामा प्रथम का जूनागढ़ शिलालेख—शक सम्वत् ७२। ए० इं० खं० ८, पृ० ४२।

मुद्राएं

एलन, जे०—कैटेलाग आफ दी कायन्स आफ एशेण्ट इण्डिया इन दी ब्रिटिश म्यूजियम १९३९।

कनिंघम, कायन्स आफ इण्डोसीथियन्स एण्ड कुषाणाज। लन्दन १८९२–९४।

गार्डनर, पी०—ब्रिटिश म्यूजियम कैटेलाग आफ कायन्स आफ दी ग्रीक एण्ड सीथिक किंग्स आफ बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया। लन्दन १८८६।

रैप्सन, ई० जे०—कैटेलाग आफ दि कायन्स आफ आन्ध्र डाइनैस्टी, दी वैस्टर्न क्षत्रपाज, दी त्रैकूटक डायनैस्टी एण्ड दी बोधि डायनैस्टी, लन्दन १९०८।

स्मिथ—कैटेलाग आफ कायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता ख० १ आक्सफोर्ड, १९०६।

ह्वाइटहैड, आर० वी०—कैटेलाग आफ कायन्स इन दी पंजाब म्यूजियम ख० १, आक्सफोर्ड १९१४।

आधुनिक ग्रन्थ

सुधाकर चट्टोपाध्याय—दी शकाज इन इण्डिया १९५५।

सत्यश्रवा—दी शकाज इन इण्डिया लाहौर १९४७

घिर्शमान, आर०—रिसर्चेज आर्किओलोजिक्स एव हिस्टोरिकल्स सर लेसकोशान्स (कैरो १९४६)

ली उन वान लोहुइजैन—दी सीथियन पीरियड, लीडन १९४९

रैप्सन, ई० जे०—दी सीथियन एण्ड पार्थियन इन्वेडर्स कैं० हि० इ०, ख०१, अध्याय २४।

नीलकंठ शास्त्री—ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया, अध्याय ७–९ कलकत्ता १९५७।

सुधाकर चट्टोपाध्याय—अर्ली हिस्टरी आफ नार्थ इण्डिया अ० ३–४–५, कलकत्ता १९६८।

भास्कर चट्टोपाध्याय—दि एज आफ कुषाणाज—ए न्यूमिसमैटिक स्टडी, पुन्थी पुस्तक कलकत्ता सन् १९६७।

छठा अध्याय-कुषाणोत्तर भारत

मूल ग्रन्थ

(क) संस्कृत ग्रन्थ :—

बृहत् संहिता—सम्पादक—कर्न, कलकत्ता १८६५

पुराण टैक्टस आफ डायनैस्टीज आफ दी कलि ऐज (सम्पादक) एफ० ई० पार्जीटर, आक्सफोर्ड १९१३।

मालव तथा यौधेय

अभिलेख :—

२८२ वि० का नन्दसा यूप अभिलेख ए० इं० ख० २४
४२८ वि० का विजय गढ यूप अभिलेख

बड़वा के मौखरी

२९५ वि० का बडवा यूप अभिलेख। ए० इ० ख० २३, पृ० ४२।
बडवा यूप अभिलेख। ए० इ० ख० २४, पृ० २५१।

मघराजा

स० ५२ का गिन्जा अभिलेख। ए० इ० ख० ३ पृ० ३०६।
स० ८१ का कोसम प्रस्तर लेख। ए० इ०, ख० २४, पृ० २५३।
स० ८६ का कोसम प्रस्तर लेख। ए० इं०, ख०, १८ पृ० १०७।
म० ८७ का इलाहाबाद म्यूजियम अभिलेख। ए० इ० ख० २३, पृ० २४५।
स० १०७ का कोसम प्रस्तर अभिलेख। ए० इ० ख० २४, पृ० २४६।

सासानी राजा

हर्जफैल्ड, इ०—पाईकुली इन्स्क्रिप्शन्स आफ दी अर्ली हिस्टरी आफ दी सासानियन एम्पायर, २ खं०, बर्लिन, १९२४

मुद्रायें

एलन—कैटेलाग आफ दी कायन्स आफ एशेण्ट इण्डिया इन दि ब्रिटिश म्यूजियम।
कनिंघम—कायन्स आफ इण्डोसीथियन्स एण्ड कुषाणाज, लन्दन १८९३-९४
हर्जफैल्ड—कुषाणो—सासानियन कायन्स। कलकत्ता १९३०।
पर्रूक, एफ० जे०—सासानियन कायन्स। बम्बई १९२४।
रैप्सन, ई० जे०—कैटलाग आफ दी कायन्स आफ दी आध्र डायनैस्टी, दि वैस्टर्न क्षत्रपाज इन दी ब्रिटिश म्यूजियम।

आधुनिक ग्रन्थ

घोष, नगेन्द्रनाथ—अर्ली हिस्टरी आफ कौशाम्बी, इलाहाबाद १९३५।
जायसवाल, काशी प्रसाद—हिस्टरी आफ इण्डिया १५० ई० ३५० ई० (लाहौर, १९३३)
मजूमदार, रमेशचन्द्र तथा अल्तेकर अनन्त सदाशिव—न्यू हिस्टरी आफ दी इण्डियन पीपुल,। लाहौर १९४६ तथा मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली द्वारा प्रकाशित इसका हिन्दी अनुवाद।

नीलकंठ शास्त्री, के० ए०—ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया खं० २, अध्याय ७, ८; कल० १९५७

रैप्सन, ई० जे०—कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ् इडिया, ख० १, अध्याय ३१।

मजूमदार, रमेशचन्द्र—दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी (बम्बई)।

सातवाँ अध्याय

पश्चिमी भारत के शक क्षत्रप

मूल ग्रन्थ

(क) प्राचीन अभिलेख

जीवदामा प्रथम का जूनागढ अभिलेख ए० इ० ख० १८, पृ० ३३९।

स० १०३ का रुद्रसिह प्रथम का गुण्ड,भिलेख, ए० इ० ख० १६, पृ० २३३।

रुद्रसिह प्रथम का जूनागढ अभिलेख, ए० इ० ख० १६ पृ० २३९।

सवत् १२२ का मुलवासर ताल्लाब अभिलेख। भावनगर इन्सक्रिपशन्स पृ० २।

म० २२८ का रुद्रसिह द्वितीय का वाटसन म्यूजियम अभिलेख।

महादेवी प्रभुदामा की बसाढ से प्राप्त मिट्टी की मुहर। आ० स० इ० रि०, सन् १९१३–१४, पृ० १३६।

आधुनिक ग्रन्थ

रमेशचन्द्र मजूमदार तथा अनन्त सदाशिव अल्तेकर—वाकाटक गुप्त एज, अध्याय ३, पृ० ४७–६३

आठवाँ अध्याय तथा नवा अध्याय

सातवाहन साम्राज्य तथा सातवाहनों के बाद का दक्षिण।

मूल स्रोत

(क) मूल ग्रन्थ—आवश्यक सूत्र—ज० बि० ओ०, रि० सो० ख० १६, पृ० २९०।

कामसूत्र—बनारस १९१२।

मालविकाग्निमित्र—बम्बई १९०७

मत्स्यपुराण—आनन्दाश्रम स० सीरीज संख्या ५४।

वायुपुराण—आ० स० सी० सख्या ४।

अभिलेख—कुछ महत्वपूर्ण अभिलेखो के मूल पाठ के लिये देखिये :—
चन्द्रभान पाण्डेय—आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास पृष्ठ २४०–२४७

वाकाटक राजवश के समस्त अभिलेख डा० वासुदेव विष्णु मिराशी की पुस्तक **वाकाटक राजवश का इतिहास और अभिलेख** में दिये गये हैं। इस वश के अभिलेखों की सूची कॉ० हि० इ० पृ० ८२०–२१ तथा ए० इ० यू० पृ० ६७२ में दी गई है। मुद्राओ का विवरण रैप्सन की पूर्व वर्णित पुस्तक कैटेलाग आफ दी आन्ध्र डाइनैस्टी एण्ड दी वैस्टर्न क्षत्रपाज (लन्दन १९०८) में है।

आधुनिक ग्रन्थ

आयगर—बिगिनिग्ज आफ साउथ इण्डियन हिस्टरी, मद्रास १९१९।
कृष्णराव—अर्ली डायनेस्टीज आफ दी आन्ध्र देश, मद्रास १९४२।
काशीप्रसाद जायसवाल—हिस्टरी आफ इंडिया १५० ई०—३१० ई०, लाहौर १९३३।

गोपालाचारी—दी अर्ली हिस्टरी आफ दी आन्ध्र कन्ट्री, मद्रास १९४२।
पाण्डेय चन्द्रभान—आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास। दिल्ली १९५३।
मिराशी वासुदेव विष्णु—वाकाटक राजवश का इतिहास व अभिलेख वाराणसी १९६४।

पार्जिटर—डाइनैस्टीज आफ दी कलि एज, तथा एंशेण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन्स।

भण्डारकर—दि अर्ली हिस्टरी आफ दक्कन, बम्बई ८९५।
नीलकण्ठ शास्त्री—फौरेन नोटिसिज आफ साउथ इण्डिया, मद्रास १९३९

रैप्सन—कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १
सरकार—सक्सेसर्स आफ दि सातवाहनाज। कलकत्ता १९३९।
स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया। चतु० स० आक्सफोर्ड १९२४।
राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्टरी आफ एशेण्ट इण्डिया, कल० १९३०।
राजबली पाण्डेय—विक्रमादित्य

मजूमदार, रमेशचन्द्र—एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, अध्याय १३ तथा अ० १४।
नीलकंठ शास्त्री—ए कार्म्प्रिहैन्सिव हिस्टरी आफ इण्डिया, अध्याय १०–११
सुब्रह्मणियन—के० आर०—बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आन्ध्र एण्ड दी हिस्टरी आफ आन्ध्र, मद्रास १९३२।

दसवां अध्याय

दक्षिण भारत

मूल ग्रन्थो के लिये देखिये नीलकठ शास्त्री—ए काम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ८२८।

आधुनिक ग्रन्थ

आयगर एस० के०—बिगनिंग्स आफ साउथ इण्डियन हिस्ट्री
बारनेट, एल० डी०—दी अर्ली हिस्ट्री आफ साउथ इण्डिया
कैं० हि० इ० खं० १—अध्याय २४।
कनकसवै पिल्ले वी०—दी तामिल्स १८०० यीअर्स एगो, मद्रास १९०४।
श्रीनिवास आयगर, पी० टी०—हिस्टरी आफ दी तामिल्स। मद्रास १९२९।
नीलकंठ शास्त्री—ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्टरी आफ इण्डिया अ० १६–१७।
मजूमदार—एज आफ इम्पीरियल यूनिटी अ० १५

अध्याय ११

साहित्य का विकास

क–सस्कृत साहित्य

बेलवल्कर, एस० के०—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पूना १९१५।
भण्डारकर, रामकृष्ण गोपाल—कलैक्टिड वर्क्स, ख० १, पूना १९३३।
दे, एस० के०—स्टडीज आफ सस्कृत पोइटिक्स, २ ख०, लन्दन १९२५।
जागीरदार, आर० वी०—ड्रामा एण्ड संस्कृत लिटरेचर—बम्बई १९४७।
काणे, पी० वी०—हिस्टरी आफ अलकार लिटरेचर, बम्बई १९३२।
कीथ, ए० वी०—हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर। आक्सफोर्ड १९२८।
डा० मगलदेव कृत—इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद द्वितीय सस्करण, दिल्ली १९६७।

पुसलकर, ए० डी०-भास—ए स्टडी, द्वितीय संस्करण, दिल्ली १९६८
विन्टरनिट्ज—हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर, द्वितीय खण्ड, कलकत्ता १९३३
कीथ, ए० बी०—दी सस्कृत ड्रामा, आक्सफोर्ड १९२४।
काणे, पी० वी०—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र, प्रथम खण्ड, पूना १९३०।
हिन्दी अनुवाद ,अर्जुन चौबे कृत, हिन्दी समिति, लखनऊ।
विद्याभूषण एस० सी०—दी हिस्टरी आफ इण्डियन लाजिक, कलकत्ता १९२१।
के०, जी० आर०—इण्डियन मैथेमैटिक्स, कलकत्ता १९१५।
दासगुप्ता, एम० एन०—हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी, ख० १, कैम्ब्रिज १९२२।
ला, बी० सी०—अश्वघोष, कलकत्ता १९४६।
नरीमन० जी० के०—लिटरेरी हिस्टरी आफ सस्कृत बुद्धिज्म, बम्बई १९२३।
राधाकृष्णन—इण्डियन फिलासफी खण्ड १–, २

१२वा अध्याय

शासन पद्धति और राजनीतिक सिद्धान्त—
आयगर, एस० के०—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स इन साउथ इण्डिया मद्रास १९३१।
दीक्षितार, वी० आर० आर०—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, मद्रास १९३२।
जायसवाल, काशीप्रसाद—हिन्दू पोलिटी कलकत्ता १९२४।
जायसवाल काशीप्रसाद—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता।
अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, द्वितीय संस्करण—भारती भण्डार, इलाहाबाद।
सत्यकेतु विद्यालकार—प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र दिल्ली १९६८।

१३वां अध्याय

धर्म तथा दर्शन

(क) सामान्य ग्रन्थ

मण्डारकर, रामकृष्ण गोपाल—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स।

सर चार्ल्स इलियट—हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, ३ खण्ड। लन्दन १९२१।

फर्कुहार, जे० एन०—आउटलाइन्स आफ दी रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया, आक्सफोर्ड १९२०।

(ख) बौद्ध धर्म

कुमारस्वामी, ए० के०—बुद्ध एण्ड दी गास्पैल आफ बुद्धिज्म १९२८।

दत्त, नलिनाक्ष—ऐसपैक्टस आफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इट्स रिलेशन आफ हीनयान, लन्दन १९२०।

रीज डेविड्स, मिसेज सी० ए० एफ०—दि मिलिन्द क्वेश्चन्स। लन्दन १९३०।

एडवर्ड कोन्जे—बुद्धिज्म, लन्दन

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय—बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति लखनऊ १९६३

(ग) जैन धर्म

वारोदिया, यू० डी०—हिस्टरी एण्ड लिटरेचर आफ जैनिज्म। बम्बई १९१२।

चारपेन्टियर जे०—दी हिस्टरी आफ दी जैनाज, कैं० हि० इ० ख० १, पृ० १५०—७०

बुहलर, जे०—दि इण्डियन सैक्ट आफ दी जैनाज, लन्दन १९०३।

कापड़िया, एच० आर०—हिस्टरी आफ दी कैनानिकल लिटरेचर आफ दी जैनाज, बम्बई—१९४१।

स्टीवन्सन, मिसेज एस०—दि हार्ट आफ जैनिज्म, आक्सफोर्ड १९१५।

(घ) वैष्णव, शैव तथा अन्य सम्प्रदाय

रायचौधरी, एच० सी०—मैटीरियल फार दि स्टडी आफ दी अर्ली हिस्टरी आफ दी वैष्णव सैक्ट, द्वितीय सस्करण, कलकत्ता १९३६

आयगर, एस० कृष्णस्वामी—कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इण्डिया टू इण्डियन कलचर, कलकत्ता १९२३।
अय्यर, सी० वी० नारायण—दी ओरीजिन एण्ड अर्ली हिस्टरी आफ शैविज्म इन साउथ इण्डिया, मद्रास १९३६।
बरुआ, बी० एम०—आजीविकास कलकत्ता १९२०।
बाशम, ए० एल०—दि डाक्ट्रिन आफ दी आजीविकास।
फर्गुसन, जे०—ट्री एण्ड सर्पेण्ट वर्शिप, द्वितीय संस्करण, लन्दन १८७३।
पेन, इ० ए०—दी शाक्ताज, कलकत्ता १९३३।
वोगल—इण्डियन सर्पेण्ट लोर।
वोगल—दी नागाज इन हिन्दू रिलीजन एण्ड आर्ट, लन्दन १९२६।
बैनर्जी, जे० एन०—डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, कलकत्ता १९४१।
भट्टाचार्य, वी०—इण्डियन बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी, आक्सफोर्ड १९२४।
गोपीनाथ राव, टी० ए० ए०—एलीमेन्टस आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी मद्रास १९१४।
सुवीरा जायसवाल—ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेण्ट आफ वैष्णविज्म, दिल्ली १९६७।

चौदहवा अध्याय

कला

आनन्दकुमार स्वामी—हिस्टरी आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट लन्दन १९२७, डोवर पब्लिकेशन्स न्यूयार्क १९६५।
बेखोफर, एल०—अर्ली इण्डियन स्कल्पचर, २ ख०, पेरिस १९२९।
ब्राउन, पर्सी—इण्डियन आर्किटेक्चर, बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू, तारापोरवाला, द्वितीय संस्करण, बम्बई।
फर्ग्युसन, जे० तथा बर्जेस—केव टेम्पल्स आफ इण्डिया, लन्दन १८८०।
फर्ग्युसन—हिस्टरी आफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, लन्दन १९१०।
फूशे, ए०—बिगनिंगस आफ बुद्धिस्ट आर्ट एण्ड अदर ऐस्सेज, एल० ए० थामस तथा एफ० डब्ल्यू थामस द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद, पेरिस १९१७।

गोपीनाथ राव, टी० ए०--हिन्दू आइकोनोग्राफी, मद्रास १९१४।
गांगुलि, अर्धेन्दुकुमार--इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता १९३९।
गांगुलि, अर्धेन्दुकुमार--इण्डियन आर्किटेक्चर, बम्बई १९४२।
ग्रिफिथ, जे०--पेण्टिंग्स इन दी बुद्धिस्ट केव्ज आफ अजन्ता, २ खं० लन्दन १८९६-९७।
ग्रूनवेडल--बुद्धिस्ट आर्ट इन इण्डिया, अनु० बर्गेस।
नीहार रंजन रे--मौर्य एण्ड शुंग आर्ट, कलकत्ता १९४५।
वोगल--बुद्धिस्ट आर्ट इन इंडिया, सीलोन एण्ड जावा, आक्सफोर्ड १९३६।
बैनर्जी, जि० ना०--डेवेलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, द्वि० सं०।
मार्शल, सर जान--मोनुमेण्ट्स आफ साँची, कलकत्ता।
मुकर्जी राधाकुमुद--ट्रीटमेण्ट आफ यक्षाज आन भरहुत स्कल्पचर्स, ज० यू० पी० हि० सो० भाग २।
स्मिथ, विन्सेण्ट--जैन स्तूपाज एण्ड अदर एण्टिक्विटीज फ्राम मथुरा, इलाहाबाद १९०१।
स्मिथ, विन्सेण्ट--हिस्टरी आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, आक्सफोर्ड १९३०।
मार्शल, सर जान--दी बुद्धिस्ट आर्ट आफ गन्धार, कैम्ब्रिज यू० प्रे० १९६०।
हैलेडे, मैडेलीन--दी गन्धार स्टाईल एण्ड दी इवोल्यूशन आफ बुद्धिस्ट आर्ट, टेम्ज हडसन, लन्दन १९६८,
हैवेल, ई० बी०--दी आर्ट हैरीटेज आफ इण्डिया, तारापोरवाला बम्बई १९६४।
कामरिश--इण्डियन स्कल्पचर, आक्सफोर्ड १९३३।
सुब्रह्मण्यन, के० आर०--बुद्धिस्ट रिमेन्स इन आन्ध्र एण्ड आन्ध्र हिस्टरी, मद्रास १९३२।
गोएत्सज, हरमान--इण्डिया--आर्ट आफ दी वर्ल्ड सीरीज, लन्दन १९५९।
सरस्वती, एस० के०--ए सर्वे आफ इण्डियन स्कल्पचर, कलकत्ता १९५७।
रोलैण्ड, बैन्जमिन--दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, पैल्किन हिस्टरी आफ आर्ट, द्वि० संशो० संस्करण।
अय्यर, के० वी०--इण्डियन आर्ट--ए शार्ट इन्ट्रोडक्शन १९५८।
अग्रवाल, वासुदेवशरण--इण्डियन आर्ट, वाराणसी, १९६५।

अग्रवाल वासुदेवशरण—भारतीय कला, वाराणसी।
कनिंघम—दी स्तूप आफ भरहुत, लन्दन १८७९।
कनिंघम—भिल्सा टौप्स, लन्दन १८५४।
बरुआ—भरहुत, ३ भाग, कलकत्ता १९३७।
काला, सतीशचन्द्र—भरहुत वेदिका, इलाहाबाद १९५१।
इन्साइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट, मैकग्राहिल कम्पनी, खण्ड १, ६, ७, ८।

पन्द्रहवां तथा सोलहवां अध्याय

आर्थिक और सामाजिक दशा

(क) मूल ग्रन्थ

आचारांग सूत्र—रतलाम १९४१।
अवदान शतक—स्पेयर का तथा पी० एल० वैद्य का सस्करण।
बृहत्कल्प सूत्र—भावनगर १९३३–३८
बुद्धचरित—अश्वघोष कृत।
चरकसहिता।
दिव्यावदान—सम्पादक कावेल तथा नील, कैम्ब्रिज १८८६। पी० एल० वैद्य का संस्करण, दरभगा।
गाथासप्तशती—निर्णय सागर, बम्बई।
कल्पसूत्र—बम्बई १९३९।
वात्स्यायन कामसूत्र—बनारस १९१२।
ललितविस्तर—दो खण्ड, हाल द्वारा सम्पादित तथा पी० एल० वैद्य का सस्करण।
महाभारत—गीता प्रेस गोरखपुर।
महाभाष्य—कीलहार्न का सस्करण, बम्बई १८८०–८५।
मनुस्मृति—निर्णय सागर बम्बई।
मिलिन्दप्रश्न—हिन्दी अनुवाद जगदीश काश्यप कृत, वाराणसी।
पार्थियन स्टेशन्स—केरेक्स निवासी इसीडोर की पुस्तक का शाफकृत अंग्रेजी अनुवाद, फिलाडैल्फिया १९१४।
पेरिप्लस आफ दी एरिथ्रियन सी—शाफ कृत अंग्रेजी अनुवाद न्यूयार्क १९१२।

प्लिनी—नेचुरल हिस्टरी—मिक्रिण्डल कृत अंग्रेजी अनुवाद।
टालमी—मिक्रिण्डल कृत अंग्रेजी अनुवाद।
वाल्मीकि रामायण—निर्णय सागर का सस्करण
सौन्दरनन्द—अश्वघोष, कलकत्ता १९३९।
शिलप्पदिकारम—तामिल से अंग्रेजी अनुवाद, वी० आर० आर० दीक्षितार कृत, आक्सफोर्ड १९४१।
सूत्रकृतांग—याकोबी कृत अंग्रेजी अनुवाद, सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट सीरीज स० ४५।
उतराध्ययन सूत्र—उपर्युक्त ग्रन्थमाला में याकोबी कृत अंग्रेजी अनुवाद।
याज्ञवल्क्य स्मृति—निर्णय सागर बम्बई।

(ख) आधुनिक ग्रन्थ

बोस, अतीन्द्र नाथ—सोशल एण्ड रूरल इकानमी इन नार्थ ईस्ट इण्डिया, २ ख०, कलकत्ता १९४२-४७।
चकलदर, हाराणचन्द्र—सोशल लाइफ इन एंशेण्ट इण्डिया—स्टडीज इन वात्स्यायन कामसूत्र—कलकत्ता १९२९।
काणे, पाण्डुरंग वामन—हिस्टरी आफ दी धर्मशास्त्र खण्ड २, भाग १।
रोस्टोवजेफ—सोशल एण्ड इकनामिक हिस्टरी आफ दी हैलेनेस्टिक वर्ल्ड, ३ ख०, आक्सफोर्ड १९४१
वार्मिंगटन, ई० एच०—दी कामर्स बिटवीन दी रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया, कैम्ब्रिज १९३८।
काणे, पाण्डुरग वामन—धर्मशास्त्र का इतिहास—अर्जुन चौबे काश्यप कृत हिन्दी अनुवाद, हिन्दी समिति, लखनऊ, प्रथम भाग।
हरिदत्त वेदालकार—हिन्दू परिवार मीमासा, द्वितीय सस्करण, दिल्ली १९६३।
हरिदत वेदालकार—हिन्दू विवाह का सक्षिप्त इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ १९७०।

१७वां अध्याय

विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार

बागची, प्रबोधचन्द्र—इण्डिया एण्ड चाइना, कलकत्ता १९४४।
उपेन्द्रनाथ घोषाल—एंशेण्ट इण्डियन कलचर इन अफगानिस्तान।

निरजन प्रसाद चक्रवर्ती---इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया।
स्टाइन, एन० ए०---एशेण्ट खोतान।
स्टाइन, एन० ए०---आन एशेण्ट सेन्ट्रल---एशियन ट्रैक्स, लन्दन, १९३३।
रमेशचन्द्र मजूमदार---एशेण्ट इण्डियन कालोनीज इन दि फार ईस्ट, खण्ड १, चम्पा ख० २ सुवर्ण द्वीप, २ भाग।
रमेशचन्द्र मजूमदार---कम्बुज देश---मद्रास।
हरिदत्त वेदालंकार---भारतस्य सांस्कृतिको दिग्विजय, वाराणसी १९६७।
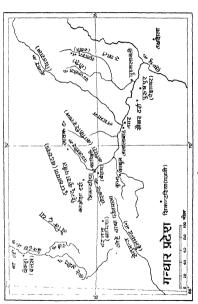
मानचित्र १—गधार प्रदेश
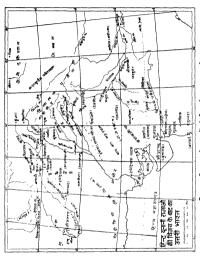
मानचित्र २—हिन्द-यूनानी राजाओं की विजय के बाद का उत्तरी भारत

मानचित्र ३—यवनों, शको, पहलवो और युइचि जातियो के भारत पर आक्रमण एव प्रवेश के मार्ग।
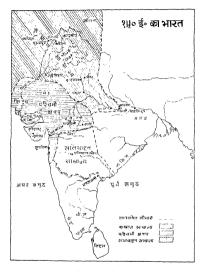
मानचित्र ४—१५० ई० का भारत

मानचित्र ५–शुंग सातवाहन युग के विदेशी राज्य

मानचित्र ६—आन्ध्रो तथा पश्चिमी क्षत्रपो के प्रदेश

मानचित्र ७-दक्षिणी भारत

मानचित्र ८—आन्ध्र प्रदेश की भौगोलिक स्थिति और मार्ग

भारत
और पश्चिमी जगत के
प्राचीन व्यापार-मार्ग
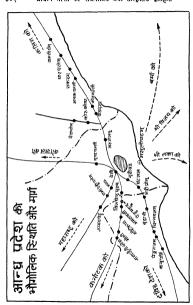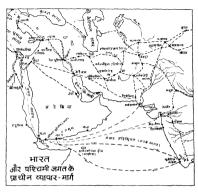
मानचित्र ९—भारत और पश्चिमी जगत् के प्राचीन व्यापार-मार्ग

मानचित्र १०—मध्य एशिया के प्राचीन व्यापारपथ

पश्चिमी एशिया

मानचित्र ११—पश्चिमी एशिया

अनुक्रमणिका